THE

KASHI SANSKRIT SERIES

12

****

THE

VYAKTIVIVEKA

OF

RĀJĀNAKA S'RĪ MAHIMABHAṬṬA

EDITED WITH

A Sanskrit Commentary of Rājānak Ruyyaka and Hindi commentary and notes

BY

Prof. Rewāprasāda Dwivedī, M. A.

Sāhityāchārya

Govt. Sanskrit College, RAIPUR (M. P.)

समर्पण

राष्ट्रभाषा की सेवा में प्रथम बार प्रस्तुत व्यक्तिविवेक का यह
रूपान्तर बस्तर के भू० पू० शासक,

तत्रभवान् महाराज श्री प्रवीणचन्द्र जी भंजदेव

CHECKED 1994

सादर अर्पित है,

जिनका व्यक्तित्व ठीक उसी व्यक्तिविवेक के समान है तथा जिनमें
काकतीय वंश की इतिहास प्रसिद्ध संस्कृत-निष्ठा आज भी
उसी प्रकार रक्षित है जिस प्रकार हमारी मातृभूमि
की चिर-संचित आदिमतम तथा अमूल्य
वनश्री बस्तर में—

रेवाप्रसाद द्विवेदी

भूमिका

ग्रन्थकार—

व्यक्तिविवेक मूलतः संस्कृतभाषा में लिखा हुआ एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसके रचयिता राजानक महिमाचार्य हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से ईसवी सन् १००० से १०५० अथवा ११०० के बीच का माना जाता है। ऊपरी सीमा १००० इसलिए निर्धारित होती है कि व्यक्तिविवेक में अभिनवगुप्त के लोचन का एक अंश अक्षरशः उद्धृत मिलता है [द्र० पृष्ठ ९६]। अभिनवगुप्त के अन्य ग्रन्थों का रचनाकाल उनके स्वयं के उल्लेखों के अनुसार ९९०-१ से लेकर १०१४-५ ई० तक निर्धारित है। लोचन भी इसी बीच या इसके आसपास लिखा गया होगा। व्यक्तिविवेक की रचना निश्चित ही लोचन के लगभग २५ वर्ष बाद हुई होगी, क्योंकि लोचन में भट्टनायक के दर्पण के उद्धरण हैं और व्यक्तिविवेककार को दर्पण प्राप्त नहीं हुआ था जैसा कि उनके स्वयं के **'अदृष्टदर्पणा मम धीः'** (१।४ मंगलपद्य) कथन से स्पष्ट है। दर्पण के न मिलने का कारण उसकी प्रतिलिपियों की कमी हो सकती है अथवा उसका लुप्त हो जाना। अभिनवगुप्त महामाहेश्वर थे इस लिए कदाचित् उन्होंने शिष्यसाहस्री द्वारा एक आध प्रति पा ली होगी। लोचन में ध्वन्यालोक की टीका चन्द्रिका का भी उल्लेख है। महिमभट्ट को वह भी नहीं मिली थी (१।५ मंगलपद्य)। व्यक्तिविवेक की रचना उसके रचयिता ने अपने प्रौढ़ नातियों के लिए की है और उनके खण्डन वाक्यों की भाषा में असहिष्णुता तथा खीझ दिखलाई देती है, इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिविवेक की रचना के समय वे ६० वर्ष से ऊपर के रहे होंगे। अभिनवगुप्त को उन्होंने **'केचिद् विद्वन्मानिनः, आक्षिप्तचित्त०'** ऐसे शब्दों से झकझोरा है और उनका नाम नहीं लिया, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि महिमभट्ट के समय अभिनवगुप्त जीवित थे। वय में अधिक होने के कारण अथवा काश्मीरी-दर्शन के गुरुपीठ पर महामाहेश्वर के रूप में अभिषिक्त होने के कारण उन्हें महिमभट्ट आदर देते थे। यह तथ्य इससे भी स्पष्ट है कि द्वितीय विमर्श में अभिनवगुप्त के समकालीन अथवा कुछ पुराने कुन्तक का उन्होंने **'काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन०'** (पृ० २८५) इसप्रकार नामोल्लेख भी किया है और इसमें कुन्तक के प्रति वे कोई आदर भी व्यक्त नहीं करते। इस प्रकार यदि महिमभट्ट अभिनवगुप्त के समकालीन भी हों तो उनका व्यक्तिविवेक लोचन के बाद की ही रचना है फलतः उसके रचनाकाल की ऊपरी सीमा १००० ई० से अधिक नहीं हो सकती।

निचली सीमा ११०० ई० से १०५० ई० तक के निर्धारण के अनेक प्रमाण हैं। ११४३ ई० के हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ विवृति में व्यक्तिविवेक को पंक्तिशः और

अक्षरशः उद्धृत किया है। श्रीहर्ष ने अपने खण्डनखण्डखाद्य में वैयात्य को अनौचित्य से अभिन्न मानते हुए उसे दोष ठहराने के लिए व्यक्तिविवेक का सादर उल्लेख किया है—

'दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने।
काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमाऽऽदत॥'

(खण्डन० विद्यासागरी : चौखम्बा प्रकाशन, पृष्ठ १३२७)

श्रीहर्ष कान्यकुब्जाधिपति जयचन्द्र के सभापण्डित थे और जयचन्द्र का शासनकाल ११६९-९५ ई० माना जाता है, अतः व्यक्तिविवेक निश्चित ही खण्डनखण्डखाद्य के ६०-७० वर्ष पूर्व ११०० ई० में ही बना होगा। व्यक्तिविवेक की जो संस्कृतव्याख्या इस संस्करण में दी गई है उसके रचयिता, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाने वाला है, रुय्यक या मंख माने जाते हैं। मंख काश्मीराधिप जयसिंह के सान्धिविग्रहिक थे ऐसा राजतरंगिणी के—

'सान्धिविग्रहिको मंखकाख्योऽलङ्कारसोदरः।
स मठस्याभवत् प्रष्ठः श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठया॥' (८।३३५४)

इस पद्य से स्पष्ट है। जयसिंह का समय ११२८-४९ ई० माना गया है। मंख ने व्यक्तिविवेक के पाठान्तरों की चर्चा अनेक स्थलों पर की है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि मंख के ११२८ ई० तक व्यक्तिविवेक का पुष्कल प्रचार हो चुका था। इसमें निश्चित ही २५, ५० वर्षों का समय लगा होगा। यदि इस व्याख्या के रचयिता रुय्यक हैं तो कुछ समय और लगा होगा, क्योंकि रुय्यक मंख के गुरु हैं। मंख ने अपने श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के अन्तिम सर्ग में उन्हें स्पष्ट रूप से गुरु कहा है—

'तं श्रीरुय्यकमालोक्य स प्रियं गुरुमग्रहीत्।
सौहार्दप्रश्रयरसस्रोतःसंभेदमज्जनम्॥' (२५।३०)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महिमभट्ट ने अपना व्यक्तिविवेक अपने नातियों के लिए बनाया अतः उनका वय उस समय ६०-७० से कम का न होगा—उसके अनुसार व्यक्तिविवेक के प्रचार के ५० वर्ष और जोड़ दिए जाएँ तो महिमभट्ट का स्थितिकाल १००८ या १०१८ से १०७८ या ११०३ ई० के बीच सिद्ध होता है। इस समय अभिनवगुप्त जीवित थे ही।

इन निश्चित प्रमाणों के अतिरिक्त एक प्रच्छन्न प्रमाण उक्त सीमा को और भी संकुचित कर देता है। वह है काव्यप्रकाश में व्यक्तिविवेक की छाया। काव्यप्रकाश में पञ्चम उल्लास का उपसंहार अनुमितिवाद के खण्डन से हुआ है। इस अंश में अनुमितिवादी आचार्य का नाम अन्य मतों के आचार्यों के ही समान नहीं दिया गया है। टीकाकारों तथा अध्येताओं की परंपरा इसे व्यक्तिविवेककार का खण्डन मानती है। काश्मीरी टीकाकार भट्टगोपाल और पण्डितराज जगन्नाथ ने तो स्पष्ट रूप से व्यक्तिविवेककार को ही उक्त खण्डन का पूर्वपक्षी कहा है—

(संप्रदायविमर्शिनी तथा रसगंगाधर-उत्तमोत्तमकाव्य)। परम्परा पर विश्वास काव्यप्रकाश तथा व्यक्तिविवेक की पदावली की तुलना से भी होता है। काव्यप्रकाशकार ने वस्तुध्वनि के रूप में ध्वनिकार द्वारा प्रस्तुत प्रसिद्ध गाथा **'भ्रम धार्मिक०'** को नहीं अपनाया। उन्होंने निषेध से विधि की प्रतीति या व्यक्ति के लिए भी **'निश्शेषच्युतचन्दनम्०'** पद्य स्वीकार किया जिसके लिए ध्वनिकार ने **'अत्ता एत्थ०'** गाथा प्रस्तुत की थी। उन्होंने इसे तो पञ्चमोल्लास में प्रसंगान्तर से अपना भी लिया है किन्तु **'भ्रम धार्मिक'** को सर्वथा छोड़ दिया है। किन्तु जहाँ वे अनुमितिवादी का मत उपस्थित करते हैं वहाँ वस्तुध्वनि के उदाहरण के रूप में न तो अपना उदाहरण प्रस्तुत करते और न कोई अन्य श्लोक ही। वे **'भ्रम धार्मिक'** पद्य को ही प्रस्तुत करते हैं। अनुमितिवाद का समर्थक ग्रन्थ संपूर्ण काव्यशास्त्र में केवल व्यक्तिविवेक ही है और इसमें ध्वनिपद्यों को अनुमितिपद्य बतलाने के लिए तृतीय विमर्श का आरम्भ इसी पद्य से किया गया है। निश्चित ही मम्मट ने अनुमितिवाद का मूलरूप व्यक्तिविवेक से ही उपस्थित किया है। पदावली भी इसमें प्रमाण है। व्यक्तिविवेक में अनुमिति की उपस्थापना इन शब्दों में की गई है—

'न च वाच्यादर्थान्तरप्रतीतिरविनाभावसंबन्धस्मरणमन्तरेणैव संभवति सर्वस्यापि तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् [पृ० ८३] प्रेक्षावत्प्रवृत्तिरनर्थसंशयाभावनिश्चयेन व्याप्ता, तद्विरुद्धश्च अनर्थसंशयोऽस्मात् [भ्रम धार्मिक०] विधिर्वाक्यात् णिजर्थपर्यालोचनयाऽवसीयते, इति व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या०००' (पृ० ४६५–६६)।

काव्यप्रकाश की निम्निलिखित पंक्तियों पर निश्चय ही व्यक्तिविवेक के इन अंशों की प्रतिच्छाया है—

'ननु वाच्यादसंबद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसंगात्, एवं च संबन्धाद्‌व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवति:००, भ्रम धार्मिक० अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति, यद् यद् भीरुभ्रमणं तद् तद् भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः' (काव्यप्रकाश पञ्चमोल्लासान्त)।

दोषप्रकरण में मम्मट ने प्रायः वे ही उदाहरण दिए हैं जो महिमभट्ट ने द्वितीय विमर्श में दिए थे। न केवल इतना ही, उन्होंने उन पद्यों के सुधारे रूप भी अधिकतर ज्यों-के-त्यों अपना लिए हैं। प्रक्रमभेद में प्रकृतिप्रक्रमभेद का उदाहरण व्यक्तिविवेककार ने **'नाथे निशायाः०'** दिया है और उसमें **'निशापि याता'** का रूपान्तर **'गता निशापि'** किया है। मम्मट ने इसे ज्यों-का-त्यों अपना लिया है (द्र० सप्तम० भग्नप्रक्रमत्व)। इसी प्रकार **'यशोऽधिगन्तुं०'** पद्य में **'सुखमीहितुम्', 'महीभृतः पुत्रवतः'** पद्य में **'अपत्यवतः', 'काचित् कीर्णा०'** पद्य में

'**काश्चिद्० अनुविदधुः**' तथा '**कम्पमापुः**' ये रूपान्तर मम्मट ने व्यक्तिविवेक से ज्यों-के-त्यों अपना लिए हैं। अन्य उदाहरणों में भी मम्मट ने व्यक्तिविवेक के निर्देशों पर अपनी बुद्धि चलाई है। उदाहरणार्थ व्यक्तिविवेककार ने '**ते हिमालयमामन्त्र्य०**' पद्य में '**सिद्धं चास्मै**' के '**इदं पद**' की जोड़ में '**तद्विसृष्टाः**' पद में भी '**इदं पद**' का प्रयोग आवश्यक बतलाया था, किन्तु छन्दोयोजना में उसके न जमने से कोई रूपान्तर नहीं दिया था—**भगवन्तं शूलिनम् 'इदमा' परामृश्य तेनैव तत्परामर्शः कर्तुं युक्तः, न 'तदा'** (पृ० २९२)। मम्मट ने पाठान्तर में '**अनेन विसृष्टाः**' ऐसा प्रयोग दिखलाया। निश्चित ही उन्होंने महिमभट्ट के मौन को मुखर करने की उदारता बरती किंतु वे उस मौन का कारण दूर न कर सके। '**गाहन्तां महिषा०**' पद्य में महिमभट्ट ने '**विस्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः**' को '**कुर्वन्त्वस्तभियो वराहततयो मुस्ताक्षतिं**' इस प्रकार बदला था। मम्मट ने उसे '**विस्रब्धं रचयन्तु शूकरवरा मुस्ताक्षतिं**' इसप्रकार बदला। निश्चित ही उन्हें महिमभट्ट के रूपान्तर में विस्रब्ध-पद का अभाव खटका जिसके लिए उन्होंने '**अस्तभियः**' पद दे दिया था। किन्तु वे अपने पाठ में सूकरों की पाँतों को न ला सके जिसे '**स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि**' में कवि भुला न सका था। कदाचित् मम्मट को तति के साथ आए बहुवचन में व्यर्थता या पुनरुक्ति प्रतीत हुई, जिससे 'सूकरवराः' पाठ करने पर भी वे न छूट सके, क्योंकि 'वर' शब्द वहाँ भी अनावश्यक ही है, मुस्ताक्षति तो प्रत्येक सूकर करता है। इसके अतिरिक्त 'क्रियतां' की प्रकृति को वे रक्षित न रख सके और उन्हें 'रच्' धातु का प्रयोग करना पड़ा, जिससे ऐसा कुछ कृत्रिम अर्थ निकलता है कि जैसे मुस्ताक्षति कोई ताने-बाने में फैला सूत है जिसका वस्त्र बुनना है। फिर यदि चतुराई दिखलानी थी तो आत्मनेपद के प्रक्रम के निर्वाह में दिखलानी थी जो महिमभट्ट के ही समान मम्मट के पाठ में भी टूटा ही हुआ है, वे '**गाहन्ताम्, अभ्यस्यताम्, रचयन्तु या कुर्वन्तु, लभताम्**'—इसप्रकार आत्मनेपद के उपक्रम और उपसंहार में मम्मट भी महिमभट्ट के ही समान अपना पाठ जमा नहीं सके।

दोषों के विवेचन में मम्मट के काव्यप्रकाश और व्यक्तिविवेक की एकरूपता सर्वनामविधेयाविमर्श आदि से भी बहुत स्पष्ट है। महिमभट्ट ने अपने दोषविवेचन की स्वोपज्ञता का संकेत दिया है (१८४ पृ० स्वकृतिषु० तथा 'अन्तिम श्लोक)। वे अपने आप को कवि भी स्वीकार करते हैं। मम्मट में दोनों ही बातें नहीं मिलतीं। उनका पहला '**नियतिकृत०**' पद्य भी '**अपूर्वं यद् वस्तु०**' इस लोचन के मंगल पर निर्भर है अतः काव्यप्रकाशकार का व्यक्तिविवेककार पर प्रभाव मानना संभव नहीं है।

विषय और भाषा का इतना अधिक साम्य मिलने पर मम्मट के काव्यप्रकाश से महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक को पूर्ववर्ती न मानना तर्क को भले ही रुचे हृदय को तो नहीं रुचता। मम्मट का समय भोज और हेमचन्द्र के बीच का है क्योंकि उदात्तालङ्कार में उन्होंने भोज पर निर्मित

'यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्यागलीलायितम्' यह पद्य उद्धृत किया है और हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन की विवृति में व्यक्तिविवेक के ही समान काव्यप्रकाश को भी पंक्तिशः अपना लिया है। भोज का १०७८ वि० सं० का अभिलेख उपलब्ध है। अतः हेमचन्द्र के ११४३ ई० और भोज के १०२१-२ ई० समय के बीच मम्मट का होना निश्चित है। काव्यप्रकाश की उपलब्ध टीकाओं में माणिक्यचन्द्र की टीका 'संकेत' सबसे पुरानी है। इसका निर्माण ११५८ ई० में हुआ था। संकेत में भी प्राचीन टीकाओं के निर्देश हैं अतः काव्यप्रकाश ११०० ई० से पहले की ही रचना सिद्ध होता है। इस प्रकार यदि मम्मट को ११०० ई० का भी मान लिया और उक्त संदर्भों के आधार पर महिमभट्ट को उनसे प्राचीन माना जाय तो महिमभट्ट १०५० ई० से नीचे के सिद्ध नहीं होते।

इस प्रकार महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक का रचनाकाल १००० से १०५० अथवा ११०० ई० तक सिद्ध होता है।

व्यक्तिविवेक की अन्तपुष्पिका से स्पष्ट है कि उनके पिता का नाम धौर्य था और गुरु का श्यामलिक। श्यामलिक को उन्होंने महाकवि कहा है, किन्तु ऐसे किसी महाकाव्य की अभी तक हमें सूचना नहीं है जिसके रचयिता का नाम श्यामलिक हो। पादताडितक नामक भाण के रचयिता अवश्य ही श्यामलिक हैं, किंतु उन्हें नाटककार और कवि कहा जा सकता है, महाकवि नहीं। फिर पादताडितक गुप्तयुग के मध्य या उत्तर काल की रचना है। डॉ० बरो के अनुसार डॉ० मोतीचन्द्र ने स्वसंपादित चतुर्भाणी की भूमिका में पादताडितक को ई० ४१०–१५ के बीच की कृति माना है। घटनाएँ, उल्लेख, चित्रण और सामाजिक स्तर के अतिरिक्त भाषा के आधार पर हमें भी पादताडितक बाणभट्ट के पहले और कालिदास के बाद की रचना प्रतीत होती है। गुप्तयुग का सौन्दर्यकाल जब जनमानस को आन्दोलित कर ढल गया तब नागर जीवन में जिस इन्द्रिय-परायणता ने घर कर लिया था वह हर्षयुगीन कादम्बरी के जरद्द्रविड धार्मिक और शूद्रक के मृच्छकटिक से स्पष्ट है। पादताडितक में तो हम उसका और भी बीभत्स रूप पाते हैं। यह न तो सौन्दर्यसमृद्धि के समय में सम्भव है जिसमें रूप को पापवृत्ति नहीं माना जाता और न आठवीं शती के बाद के अकर्मण्यता के समय में, जब भारतीय जनमानस विकेन्द्रित अधिक था। संस्कृत के तत्कालीन माघ, हरविजय आदि प्रतिनिधि काव्यों से यह तथ्य स्पष्ट है। यह युग रूढियों के अनुवाद का युग था, सौन्दर्य के साक्षात् दर्शन का नहीं। इसीलिए इस समय शब्दों की नक्काशी अधिक दिखाई देती है, अर्थनिर्भरता और रसपिच्छलता कम। युग के बिम्बविधान का तो उनमें प्रायः अभाव ही है। यह संभव नहीं कि पादताडितक ऐसे युग की रचना हो। क्षेमेन्द्र तक तो उसके सामने टिक नहीं पाते। ऐसी स्थिति में पादताडितक के श्यामलिक को महिमभट्ट के समय १०००–११०० ई० तक खींचना संभव नहीं है। पादताडितक को अभिनवगुप्त ने अपनी

अभिनवभारती में उद्धृत किया है। निश्चित ही उसके रचयिता श्यामलिक उनसे भी अधिक प्राचीन हैं। फलतः महिमभट्ट के गुरु श्यामलिक कोई और ही कवि हैं।

महिमभट्ट ने अपने तीन नातियों का उल्लेख किया हैं (१) क्षेम, (२) योग और (३) भोज। प्राचीन संस्करणों में **'भोज'** की जगह **'भाज'** छपा है। हमने उसे कल्पना से ही भोज मान लिया है। महिमभट्ट ने इन्हें विद्वानों के बीच न्यायशास्त्र के लिए प्रसिद्ध बतलाया है। इन तीनों के पिता का नाम भीम है, जिन्हें अमितगुण कहा गया है। भीम महिमाचार्य के पुत्र भी हो सकते हैं और जामाता भी। हमारी दृष्टि में इनको पुत्र ही होना चाहिए। मातृकुल में दौहित्र को उसके पिता के नाम के साथ न पुकार कर उसकी माता के नाम के साथ पुकारा जाता है और यही स्वाभाविक भी है। धैर्य, महिमा, भीम, क्षेम, योग, भोज, ये नामपद भी ऐसे हैं जो एक ही घर में संभव हैं। जामाता का नाम श्वशुर जैसा ही हो यह निश्चित नहीं है। डॉ० काणे ने **'पौत्राणां'** न कहकर **'नप्तृणां'** कहने पर भीम और महिमभट्ट के बीच ससुरजमाई के नाते पर जोर दिया है। पौत्र कहने पर सचमुच तथ्य का स्पष्टीकरण अधिक हो जाता है किन्तु नप्ता कहने पर पौत्रत्व जितना अस्पष्ट है उतना ही दौहित्रत्व भी। ससुर-जमाई का संबन्ध ही बतलाना था तो महिमभट्ट **'दौहित्रक्षेमयोगभोजानाम्'** लिख सकते थे। यहाँ 'दौहित्रत्व' में कोई विधेयता विवक्षित नहीं है जिससे उन्हें समास करने में विधेयाविमर्श का भय होता। सबसे बड़ी बात तो यह है कि लोक में नाती शब्द अधिक प्रचलित है, पोता या धोटा (<धोता<दौहित्र) शब्द कम।

महिमभट्ट का निवासक्षेत्र कश्मीर है यह उनके परावाणी को किए प्रणाम तथा राजानक उपाधि से स्पष्ट है।

महिमभट्ट ने **'तत्त्वोक्तिकोश'** नामक अन्य भी कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा था यह उनके द्वितीय विमर्श में किए स्वभावोक्तिनिरूपण से स्पष्ट है (पृ० ४५२-३)। प्रतिभातत्त्व का जो निरूपण उस ग्रन्थ से महिमभट्ट ने यहाँ प्रस्तुत किया है वह संपूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्र में अनूठा है। ऐसी सूक्ष्म और तत्त्वस्पर्शिनी प्रज्ञा काव्य के उस अंश में, जिसे निगूढ और पिहित माना जाता है, विशदता के साथ और कितनी दूर तक न गई होगी? दुःख है कि यह ग्रन्थ अभीतक प्राप्त नहीं है।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य

भारतीय काव्यचिंतन काव्य की असाधारण विशेषताओं की खोज में अलंकार और गुण तत्त्व के बाद—

> **'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।**
> **वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥'**

इसप्रकार ज्यों ही पहली बार 'प्रतीयमान अर्थ' तक पहुँचा वह सचमुच परिपूर्ण हो गया। इसे सभी चिंतकों ने एकस्वर से स्वीकार कर लिया। कहा गया कि यह अर्थ नारी अङ्ग में आभूषणों से

अलग प्रतीत हो रहे लावण्य [ध्वनिकारिका-प्रतीयमानं०] के समान है, या इसके सौभाग्य [वक्रोक्तिजीवित०] के समान है, इसे भी मान लिया गया। और आगे बढ़ कर कहा गया कि वस्तुतः यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है—**'काव्यस्यात्मा स एवार्थः'** तो उसे भी बहुतों ने मान लिया। (महिमभट्ट ने भी **'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः'**—कह कर उसे काव्यात्मा स्वीकार किया ही है) इसप्रकार काव्यार्थ के दो भाग और दोनों में द्वितीय = प्रतीयमान की सर्वाधिक महत्ता तक भारतीय काव्यशास्त्र के प्रायः सभी चिन्तकों की मति संवादमयी रही, उनमें ऐकमत्य रहा। किन्तु इस प्रतीयमान की प्रतीति में ज्यों-ही कारण की मीमांसा शुरू हुई, विसंवाद खड़ा हो गया, जिसका अन्त अभीतक नहीं हो पाया है। कारण की मीमांसा में दो प्रमुख दल खड़े हुए जिनमें एक व्याकरण-मतानुयायी है और दूसरा न्यायानुगामी। दोनों में प्रथम दल के प्रथम समर्थक प्रतीयमान अर्थ की स्थापना करने वाले स्वयं ध्वनिकार हैं। व्याकरण शास्त्र में अनित्य वैखरी से अर्थज्ञान मानना असंभव देख एक नित्यवाणी की कल्पना की गई है। नित्यवाणी आकाश या समुद्री जल के समान सामान्यात्मिका है। किन्तु अनित्यवाणी उसे अपने रूप में व्यक्त करती है। एक प्रकार से अनित्यवाणी टार्च के समान है और नित्यवाणी दीवाल के समान। टार्च का आकार जैसा होता है उससे वैसी ही प्रकाशकिरणें निकलती हैं और उसी आकार में भित्तिअंश व्यक्त होता है। इसप्रकार व्याकरण-शास्त्र ने अनित्य और नित्यवाणी या शब्दों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव स्वीकार किया था। सर्वविदित है कि उन्होंने जहाँ वैखरी वाणी का निर्वचन किया वहाँ उसे नाद या गड़गड़ाहट के पर्याय ध्वनि शब्द से पुकारा है। ध्वनिकार को शब्द अर्थ और प्रतीयमान अर्थ में व्याकरण की उक्त कल्पना का बहुत कुछ साम्य दिखाई दिया। प्रतीयमान अर्थ जैसे अव्यक्त होता है वैसे ही व्याकरण का नित्यशब्द। नित्यशब्द की प्रतीति में जैसे कारण माना जाता है अनित्य शब्द, काव्य में वैसे ही प्रतीयमान की प्रतीति में कारण होता है वाच्य और उसके साथ उसका वाचक इतने साम्य पर ध्वनिकार ने यह समझा कि व्याकरण में नित्यानित्य शब्दों के बीच जो व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध स्वीकार किया गया है वही काव्य के वाच्य प्रतीयमान में भी स्वीकार कर लिया जाय। और उन्होंने उसे स्वीकार कर भी लिया। उन्होंने प्रतीयमानार्थ की प्रमुखता वाले काव्य को ऐसा नाम दिया जिससे व्यञ्जना की सिद्धि के लिए उन्हें व्याकरण की ढाल मिल जाय। वह नाम है 'ध्वनि'। अर्थ यह कि कोई भी विचारक वाच्य और प्रतीयमान के सम्बन्ध को व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूप सिद्ध करने का प्रश्न काव्यशास्त्री से न करे, ध्वनि सुनते ही वह व्याकरण की ओर मुड़ जाय। काव्यशास्त्री ध्वनिकारों का कहना है—विद्वानों में सिरमौर हैं व्याकरणशास्त्री, क्योंकि व्याकरण ही सब शास्त्रों की जड़ है, अतः उनका बतलाया रास्ता सही है या गलत, उन्हीं से पूछा जाय, हम तो उनके अनुयायी हैं—

'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् ते हि श्रूयमाणेषु

वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति, तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसंमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।'
(ध्वन्यालोक १)

जब न्यायानुगामियों ने कहा कि प्रतीयमान के प्रति वाच्य को हेतु मान लिया जाय और दोनों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव की जगह गम्यगमकभाव ही मान लिया जाय तो अपनी व्याकरण-भक्ति से प्रेरित हो उन्होंने उसमें वैषम्य दिखला दिया। अनुमान एक प्रमाण है। उसमें वही हेतु हेतु होता है जो अव्यभिचारी और निश्चित हो। वाच्य का प्रतीयमान के साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं होता। तात्पर्यवृत्ति वालों को उन्होंने चुप करने के लिए कह दिया कि तात्पर्यार्थ तो उसी अर्थ को माना जाता है जो अर्थ वहीं शब्दतः कथित हो, हर किसी को नहीं। अन्यथा पूर्व कहने का तात्पर्य पश्चिम में माना जाने लगेगा और पश्चिम कहने का पूर्व में। अधिक क्षोदक्षेम करने पर 'बोद्धृ, स्वरूप, संख्या, प्रतीतिकाल, आश्रय, विषय' आदि में भेद दिखलाकर इतर चिंतकों का मुँह बन्द करना चाहा।

इन व्याकरणानुगामी काव्यमार्गियों ने व्यञ्जना को शब्द की अभिधा जैसी ही भिन्न शक्ति स्वीकार कर लिया। इन्होंने कहा **'सुरभिमांसं भुङ्क्ते'** आदि में सुरभि आदि शब्द प्रकरणादि के अनुसार यदि 'सुगन्ध' रूपी अर्थ बतलाते हैं तो दूसरे 'गाय' आदि अर्थ भी बतलाते ही हैं। पहला अर्थ अभिधा से प्रतीत हो जाएगा, दूसरे के लिए अभिधा कारगर नहीं होगी क्योंकि उसे प्रकरण आदि बाधित कर देंगे, अतः दूसरे के लिए व्यञ्जना माननी होगी, क्योंकि मुख्यार्थबाधादि के अभाव से यहाँ लक्षणा भी नहीं होगी। इसी प्रकार **'गङ्गायां घोषः'** आदि में शैत्यपावनत्व की प्रतीति में न अभिधा कारण होगी और न लक्षणा, क्योंकि शैत्यपावनत्व में न तो गंगा शब्द का संकेत है और न मुख्यार्थबाधादि। अतः व्यञ्जना को ही वहाँ भी कारण माना। इसप्रकार शब्द और अर्थ दोनों में व्यञ्जना का अस्तित्व स्वीकार किया गया। इन्होंने और भी आगे बढ़कर व्यञ्जना को ध्वनि नाम दिया तथा उसकी उत्थानभूमि शब्द और अर्थ, उसके गन्तव्य या लक्ष्य प्रतीयमान तथा इन सब की समष्टि काव्य को भी ध्वनि नाम दे दिया—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥'

इसप्रकार प्रतीयमान अर्थ की उद्भावना से संस्कृत काव्यशास्त्र को समृद्ध करने के ही साथ इन व्याकरणानुयायी आचार्यों ने काव्य को ध्वनिमय बना डाला।

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने ध्वनि के इस महाप्रपञ्च को चुनौती दी। यूँ तो चुनौती मनोहर कवि ने भी दी थी जैसा कि ध्वन्यालोक में उद्धृत **'यस्मिन्नास्ति न वस्तु०'** इत्यादि पद्य से स्पष्ट है। भट्टनायक ने भी भाव्यभावकभाव तथा भोज्यभोजकभाव नामक व्यापारों की कल्पना

कर व्यञ्जना को अमान्य ठहराया था, वक्रोक्तिजीवितकार ने भी प्रकारान्तर से ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया था, किन्तु महिमभट्ट ने न्यायवादी पक्ष से उसका विरोध किया। न्यायवाद को आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में ही उद्धृत कर दिया था अतः महिमभट्ट को उसका प्रवर्तक तो नहीं माना जा सकता, अथापि इस मत को संरम्भपूर्वक प्रस्तुत करने का श्रेय प्रथम और अन्तिम बार उन्हीं को है। इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में अनुमिति की कारणता तथा ध्वनि की अनुमितिरूपता ही व्यक्तिविवेक का प्रतिपाद्य है।

महिमभट्ट ने काव्य की अर्थबोधप्रक्रिया की तात्त्विक मीमांसा कर शब्द और अर्थ के विषय में दो निष्कर्ष निकाले हैं। शब्द के विषय में उनका कहना है कि उसमें केवल एक शक्ति का होना संभव है जो अभिधा से अतिरिक्त नहीं हो सकती, एकाधिक शक्तियों का शब्द में रहना कथमपि संभव नहीं। इस पर उनका तर्क यह है कि एकाश्रित अनेक शक्तियों में परस्पर निरपेक्षता दिखलाई देती है, जैसे अग्नि की दाहकता, पाचकता, प्रकाशकता आदि शक्तियों में। शब्द की तथाकथित व्यञ्जना अथवा लक्षणा इसके विपरीत अभिधाश्रित हैं।

दूसरा तर्क यह भी दिया जा सकता है कि शब्द कर्म और ज्ञान के ही समान तृतीयक्षणनिष्ठ-ध्वंसप्रतियोगी है, अर्थात् उसका अस्तित्व केवल दो ही क्षणों तक रहता है—प्रथम क्षण वह जिसमें उसका उच्चारण या ज्ञान होता है और दूसरा क्षण वह जिसमें उससे अर्थज्ञान होता है, तीसरे क्षण में अर्थज्ञान के बाद वह समाप्त हो जाता है। यह सर्वमान्य और अनुभवसिद्ध है। ऐसी स्थिति में अभिधा द्वारा अर्थज्ञान कराने के बाद शब्द का अस्तित्व ही नहीं रहेगा अतः उससे अपरार्थ के ज्ञान तथा उसके लिए लक्षणा या व्यञ्जना नामक अपर शक्तियों की कल्पना निर्मूल है। शब्द का संस्कार शब्दात्मक नहीं होता, न तो उससे प्रतीत अर्थ का ही। ये दोनों ज्ञानात्मक होते हैं। ज्ञान एक भिन्न गुण है। वह शब्द रूप नहीं है। उनसे हुई अपरार्थ की प्रतीति में वे ही कारण माने जाएँगे, शब्द नहीं। मम्मट ने लक्षणा को वस्तुतः अर्थगत व्यापार ही माना भी है। **'लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया'**—द्वारा उसे शब्द का वास्तविक नहीं आरोपित व्यापार स्वीकार किया है। सच भी है। 'गङ्गाजी पर घर' कहने पर आधाराधेयभाव के न बनने से जब गंगाजी का अर्थ गंगातट किया जाने लगता है तब गंगा शब्द नहीं उससे अभिहित प्रवाहरूपी गंगाअर्थ प्रस्तुत रहता है। उससे तट तक पहुँचा जाता है। दूसरे शब्दों में गंगा शब्द श्रोता के मस्तिष्क को प्रवाह के पास पहुँचा देता है, फिर प्रवाह पर से वह तट के पास पहुँचता है। स्पष्ट ही मस्तिष्क को तट के पास पहुँचाने का व्यापार प्रवाह में रहता है। यह प्रवाह काव्य में शब्द से ही विदित होता है अतः उस व्यापार को शब्दनिष्ठ भी मान लिया जाता है। जो न्याय करण और कारण का भेद करता है, और जो ध्वनिवादी अभिनवगुप्त मीमांसक को प्रपौत्र के प्रति जनक कहकर उसकी बात इसी भेद को स्वीकार करके काटते हैं वे लक्षणा को शब्दाश्रित मान कैसे लेते हैं ? ठीक यही तर्क व्यञ्जना के लिए है। **'भ्रम धार्मिक०'** में या **'निश्शेषच्युतचन्दनं'** आदि में जहाँ अभिधेय से विरुद्ध प्रतीयमान अर्थ

भासित होता है वहाँ द्वितीय विरुद्धार्थ की प्रतीति तक शब्द का रहना संभव ही कैसे ? जहाँ अभिधा यदि जाति आदि विशेषण का ज्ञान कराकर व्यक्ति आदि विशेष्य के ज्ञान तक टिक नहीं पाती, वहाँ अभिधा के ही समान तृतीयक्षणप्रध्वंसी शब्द अभिधेयार्थ के आगे अपरार्थज्ञान तक कैसे टिक सकता है ? अनेकार्थक शब्दप्रयोग स्थल में **'भद्रात्मनो दुरधिरोह०'**– आदि पद्यों के अनेकार्थक पदों से दोनों अर्थ पहले ही अभिधा द्वारा विदित हो जाते हैं, एकार्थ में अभिधा का संकोच बाद में होता है, और दोनों अर्थों के उपमानोपमेय भाव आदि संबन्ध की प्रतीति तक उन शब्दों का अस्तित्व मानना संभव नहीं है।

अपरार्थ की प्रतीति के लिए शब्द की आवृत्ति मानना इसलिए संभव नहीं कि आवृत्ति उस शब्द के अर्थ ज्ञान के आधार पर ही संभव होगी, तब सीधे अर्थज्ञान से ही अपरार्थ का ज्ञान मान लेना सुकर होगा। एक यह तर्क भी किया जा सकेगा कि यदि शब्द की आवृत्ति मानी जाती है तो उसकी अभिधा की भी आवृत्ति मान ली जाय और उसी द्वितीय अभिधा द्वारा अपरार्थ का ज्ञान मान लिया जाय। योगरूढस्थल में रूढि द्वारा योगार्थ के अपहरण की बात इसलिए अमान्य है कि दूसरे रूढ शब्द के प्रयोग से अथवा कविप्रतिभासंरम्भ के प्रत्यय से योगरूढ शब्द की रूढि अवश्य ही शिथिल हो जाया करती है। रूढि यदि अपरार्थप्रतीति में अभिधा का निरोध करती है तो व्यञ्जना का क्यों नहीं करती ? व्यञ्जना उसके निरोध से ही पैदा होती है ऐसा कहने से शब्द में रूढि के रहने पर भी अपरार्थप्रत्यायकता की सिद्धि हो जाती है। इस आधार पर रूढि के नियंत्रण में शैथिल्य की कल्पना फलबलात् अवश्य ही मानी जा सकती है। जब रूढि के शैथिल्य का एक कारण माना जा सकता है तो दूसरे को मानना भी असंगत नहीं।

वस्तुतः शब्द एक जड़ और तटस्थ पदार्थ है, उसमें एक ही शक्ति संभव है—एक स्थान से दूसरे स्थान तक संक्रान्त होना, जो बाण या वायु आदि में देखी जाती है, जिसे अर्थवाचकता कहते हैं वह शक्ति हमारे मानस में रहने वाले शब्दज्ञान में रहती है। हमारे मानस में एक ओर शब्दज्ञान रहता है दूसरी ओर अर्थज्ञान। हम व्यवहारार्थ दोनों ज्ञानों का संबन्ध मान लेते हैं। यह संबन्ध संस्कारात्मक होता है। जब शब्दज्ञान, अर्थज्ञान और दोनों के मध्यवर्ती संबन्धात्मक ज्ञान की तीनलड़ी शृंखला का कोई एक पार्श्व जागता है तो अन्य पार्श्व भी जाग उठता है, इसी को व्याकरणशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ का दाम्पत्य, अभेद, ऐक्य मान लिया है। वस्तुतः शब्द में कोई शक्ति नहीं रहती।

अर्थ का जहाँ तक संबन्ध है महिमभट्ट का कहना है कि अर्थ की शक्ति शब्दशक्ति नहीं मानी जा सकती। अतः उसे अनुमान आदि के समान काव्येतर तत्त्व ही मानना होगा। नहीं तो अनुमान को भी काव्यांग मानना होगा जिससे काव्याकाव्यत्व का विवेक असंभव हो जाएगा।

अर्थ की शक्ति का निर्वचन करने के लिए महिमभट्ट ने अर्थगत संबन्धों का विश्लेषण किया है उसमें उन्होंने अनेक उदाहरण देकर सर्वत्र साध्यसाधनभाव का अस्तित्व जतलाया है।

वाक्यार्थ में विध्यनुवादभाव रहता ही है। उसमें विधेय साध्य होता है क्योंकि वह असिद्ध रहता है। फलतः शेषार्थ उसके साधक होते हैं। **'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपयुज्यते'**—सिद्धान्त चलता भी है। यह साध्यसाधनभाव लोक, शास्त्र और अनुभव से सिद्ध रहता है। इसके उदाहरण पृष्ठ ५३ से ५६ तक इसी ग्रन्थ में दे दिए गए हैं। यही साध्यसाधनभाव वाच्य तथा प्रतीयमान के बीच भी रहता है। 'शूर पंडित और सेवापटु के लिए पृथिवी सोना फूलती है।'—इससे जो यह अर्थ निकलता है कि 'शूर आदि को संपत्ति सुलभ होती है' इसमें पूर्वोक्त अर्थ कारण ही तो है?

व्यङ्ग्यव्यञ्जकता उन्हीं पदार्थों में रहती है जो एक साथ रहते या जिनकी प्रतीति में क्रम नहीं रहता। घट और प्रकाश दोनों पूर्वसिद्ध रहते हैं, प्रकाश और घटज्ञान होने में कोई क्रम भी नहीं दीखता, अतः वहाँ व्यंग्यव्यंजकभाव माना जाता है। काव्यार्थों में वाच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ की प्रतीति सर्वत्र क्रमिक होती है। कहीं क्रम लक्ष्य होता और कहीं अलक्ष्य। अतः इनमें कार्य-कारणभाव ही मानना उचित है। कार्यकारणभाव संबन्ध मानने पर अनुमिति का माना जाना भी उचित है।

महिमभट्ट के इन तर्कों पर व्यञ्जनावादी व्याकरणभक्तों का यह कथन अमान्य है कि अनुमान एक प्रमाण है, उसमें वही हेतु हेतु होता है जो निश्चित और प्रामाणिक होता है क्योंकि महिमभट्ट ने यह कहीं भी नहीं कहा कि प्रतीयमान की प्रतीति में प्रमाणात्मक अनुमान कारण हैं। हेत्वाभास से जो अनुमिति होती है वह किसी भी दार्शनिक को व्यञ्जना रूप से मान्य नहीं है। उसे सभी अनुमिति ही मानते हैं, केवल प्रमात्मक नहीं मानते। व्यवहार में यह अनुमिति प्रतिपद काम में आती है। आज इसी अनुमिति ने पुरातत्त्वेतिहास जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों को प्रस्तुत किया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि काव्य में प्रमाणाप्रमाणत्व की अपेक्षा भी नहीं है। आस्वाद लाभ के लिए यहाँ अप्रामाण्य या आहार्यता ही अधिक महत्त्व रखती है। रूपक उत्प्रेक्षा अपह्नुति, अतिशयोक्ति इसीलिए चमत्कारी हैं। रस में इस अप्रामाण्य का सहयोग है ही। शंकुक का चित्रतुरगन्याय अभिनवगुप्त को भी अमान्य नहीं है। इसीलिए तो आलंकारिक आचार्यों ने बौद्धों के—

'मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥'

इस वाक्य को वेदवाक्य के समान स्वीकार कर दुहराया है।

सब कुछ के बाद देखना तो यह है कि जो ध्वनिवादी इसप्रकार दूसरे सिद्धान्तों का साहित्य में सांगोपांग समन्वय देखना चाहता है और उसके अभाव में उन्हें अमान्य ठहराता है इसका अपना स्वयं का ध्वनिमत अपने मूल से काव्य में कितना सांगोपांग समन्वित हो पाया है। व्याकरणवादी ध्वनि को केवल शब्द और वह भी अनित्य शब्द तक सीमित मानते हैं। इसे न तो शक्ति रूप मानते न नित्यशब्दरूप और न उनके शास्त्रवाक्यों से अभिन्न ही। किन्तु ध्वनिवादी काव्यशास्त्री

वाचक, वाच्य, व्यञ्जना, प्रतीयमान और काव्य सबको ध्वनि कह देते हैं। व्याकरणशास्त्री का प्रतीयमान अर्थ भी शब्दात्मक ही है, काव्यशास्त्रियों का प्रतीयमानार्थ केवल अर्थात्मक है। शब्दात्मक कदापि नहीं। शब्द प्रतीयमान केवल तन्त्रशास्त्र में होता है जहाँ बीजमन्त्रों की लिपि संकेतों द्वारा द्योतित की जाती है जो उच्चारणात्मक नहीं होती, स्वरूपमात्र से प्रस्फुटित होती है। यथा—

'वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्।
अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम्॥'

अथवा नैषध का—**'अवामावामार्धे सकलमुभयाकारघटनाम्'**—पद्य। इसे प्रहेलिका तो माना जा सकता है काव्य नहीं। काव्य में **'रुचिं कुरु'** आदि में जो अश्लीलार्थद्योतक पद निकलता माना जाता है वह भी उच्चारणात्मक है अतः उसे द्योतित नहीं माना जा सकता **'निमीलिताक्षीव भियामरावती'** में नागेश ने जो 'मरावती' की प्रतीति के कारण सन्धि को अश्लील कहा है वहाँ अश्लीलता विना पद के तो प्रतीत नहीं हो सकती और पद का वहाँ उच्चारण हो ही रहा है। अतः काव्य में प्रतीयमान हो सकता है केवल अर्थ। जब कि व्याकरण में प्रतीयमान है केवल शब्द। दूसरा वैषम्य यह है कि नित्यशब्दरूपी प्रतीयमान का व्यञ्जक व्याकरण में केवल अनित्यशब्द माना जाता है, वह भी व्यञ्जक माना जाता है स्वरूपतः। उससे अर्थप्रतीति नहीं मानी जाती। अर्थप्रतीति मानी जाती है प्रतीत हुए नित्यशब्द से। अतः अर्थप्रत्यायक व्यापार जिसे वहाँ केवल अभिधा रूप माना गया है इस व्यञ्जक शब्द में नहीं रहता। इस प्रकार व्याकरण के व्यञ्जक की व्यञ्जना में अभिधानिरपेक्षता है और इसलिए वह टार्च या दीपक आदि के समान ही है। उनमें अभिधा नहीं रहती। काव्य के व्यञ्जक में अभिधा रहती ही है। निपात या पदैकदेश पूर्ण पद से निकलने वाली व्यञ्जना को अभिधा के माध्यम से बढ़ाते हैं, अतः उनमें भी अभिधानिरपेक्षता नहीं है। जो लोक निपातों को वाचक नहीं मानते उन्हें तो अभिनवगुप्त के शब्दों में यह उत्तर दिया जा सकता है कि किसी ने खड्ग का लक्षण किया कि खड्ग एक ऐसी वस्तु है जिसे ओढ़ा जा सकता है, लपेटा जा सकता है, और विरोधियों द्वारा यह कहने पर कि ओढ़ने और लपेटने योग्य वस्तु तो वस्त्र कहलाती है खड्ग नहीं, लक्षणकर्ता ने उत्तर दिया—हम ओढ़ने-लपेटने योग्य वस्तु को ही खड्ग कहते हैं—यह ऐसा ही है। भाषाशास्त्र से सिद्ध है कि प्रत्येक शब्द स्वतन्त्ररूप से वाचक है। पाणिनिव्याकरण के कुछ नियम कटने लगते हैं अतः उन्हें वाचक न मानना वैज्ञानिक नहीं है। इसप्रकार व्याकरण का ध्वनिशब्द मेघ की गड़गड़ाहट के ही समान अवाचक या अभिधाशून्य है। संगीत के नाद से जैसे चेतना पर प्रभाव पड़ता है और उसमें विकास, विस्तार या क्षोभ का स्फार होता है कदाचित् वैसा ही कोई प्रभाव व्याकरण के ध्वनि शब्द से भी उनके तथाकथित स्फोटनामक नित्यशब्द पर पड़ता है। फिर व्याकरण ने शब्द को 'प्रतीतपदार्थक ध्वनि' कहा, और साहित्य ने भी उसे उसी रूप में स्वीकार कर लिया तो—

'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा०', 'अलमलमालि मृणालैः' आदि ध्वनिग्रामों में गुणों का आनुभविक अस्तित्व भी क्यों स्वीकार नहीं करते ? ओजस्विता और कोमलता अनुप्रास से व्यक्त होने वाले अलग धर्म हैं। यदि वे सहृदय के हृदय में माने जाते हैं तो उन्हें काव्यगुण कैसे माना जाता है। यदि अभिव्यञ्जकत्व सम्बन्ध से, तो यह अभिव्यञ्जकत्व अन्य पद ग्रामों में क्यों नहीं रहता, उन्हीं में क्यों रहता है। कोई व्यावर्त्तक तत्त्व स्वीकार करने पर उसे ही गुण कह दिया जाएगा। केवल अनुप्रास व्यावर्त्तक होता तो 'अकुण्ठोत्कण्ठया तूर्णमाकण्ठं०' पद्य में भी वह माना जाता। फिर गीतगोविन्द या गीतगौरीश की पदावली में केवल अनुप्रास ही है, माधुर्य नहीं ?

इसलिए एक तो काव्यशब्दों को ध्वनि कहना ही नहीं था और यदि कहा तो केवल व्यञ्जनात्मकता तक ही उसे सीमित नहीं रखना था और वहाँ तक सीमित रखना था तो फिर उससे गुणों के सर्वाभिमत अस्तित्व को नहीं हटाना था।

स्पष्ट है कि ध्वनिवादी भी व्याकरण के 'ध्वनिसिद्धान्त' को सर्वात्मना जैसा का तैसा स्वीकार नहीं कर सका। उसे उसको अपने अनुरूप ढालना पड़ा। किन्तु आश्चर्य यह है कि अनुमितिवादी, तात्पर्यवादी और अन्य वादियों से दूसरे दर्शनों के सिद्धान्तों के काव्य में अक्षरशः निर्वाह का वह आग्रह करता है।

अनुमिति और ध्वनि के विषय में अन्यतर के निर्वाचन के लिए यदि दार्शनिकों की मतगणना हो तो अनुमिति को ९९% मत मिल जाते हैं। ध्वनि को केवल व्याकरण ही मानता है। शब्द से अर्थ के ज्ञान में अन्य दार्शनिक पूर्व-पूर्व वर्ण संस्कार से युक्त अन्तिम वर्ण के अनुभव को कारण मानते हैं। संस्कार के उद्बोध में विपर्यय न होना शाब्दबोधस्थल में प्रकृतिसिद्ध है, अतः संस्कार से शाब्दबोध मानने पर वैयाकरण की 'नदी' की जगह 'दीन' के ज्ञान की सम्भावना का तर्क अमान्य है। स्फोटनामक नित्यशब्द की कल्पना व्याकरण के अतिरिक्त कोई करता ही नहीं। वे यदि शब्द को नित्य मानते भी हैं तो किसी अनित्य शब्द की कल्पना नहीं करते। अनित्यता केवल कण्ठताल्वादिसंयोग में मानते हैं। अतः तब भी उनके यहाँ शब्दों के दो रूप नहीं रहते। और इसीलिए उन्हें व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं पड़ती। व्याकरण जिसे अनित्य मानता है ये अन्य दार्शनिक उसी में अभिधा स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार ध्वनिवादी जिस आधार पर अपना सिद्धान्त बना रहा था स्फोट नामक वह आधार ही विवादास्पद है। इसके विरुद्ध अनुमिति चार्वाक को छोड़ सब को स्वीकार है। जहाँ तक उसके प्रामाण्य का प्रश्न है कहा जा चुका है कि काव्य में उसकी अपेक्षा ही नहीं रहती। अप्रामाणिक अथवा हेत्वाभासजनित अनुमिति को व्यञ्जना इसलिए नहीं माना जा सकता कि व्यञ्जना प्रकरणादिनिरपेक्ष होती है, दीपक घट की अभिव्यक्ति में न प्रकरण को देखता न देश, काल को। वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसंनिधि की वहाँ कोई गुंजाइश ही नहीं। 'अप्रामाणिक' अनुमिति में इन सब

की आवश्यकता होती है। गुप्तचर व्यक्तियों की चेष्टाओं से, उनके रहन सहन, समय, स्थान आदि के ही आधार पर तो किसी तथ्य को ताड़ते हैं, उनका यह ताड़ना शिथिलानुमान ही तो होता है। उसे व्यञ्जक कौन कहेगा? काव्य में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में प्रकरणादि भी सहायक माने गए हैं, परन्तु उतने पर भी ऐसे काव्य में व्यञ्जना स्वीकार कर ली गई, जब कि व्यञ्जना में प्रकरण आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यह केवल व्याकरण की अतिशय भक्ति का दुर्विपाक है। वस्तुतः यह भी वृक्ष के लक्षण को खड्ग पर थोपने जैसी बात है। जहाँ व्यञ्जना मानी जाती है वहाँ भी अनुमान का अस्तित्व स्वीकार किया ही गया है। मम्मट ने अभिनवगुप्त की रसप्रक्रिया का आरम्भ ही अनुमान से किया है **'स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववताम्'**। शंकुक के 'चित्रतुरगन्याय' को वे मानते ही हैं। तो क्या प्रमदादि से स्थायी का अनुमान प्रामाणिक अनुमान है? शकुन्तला का **'आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्'** आदि द्वारा जो अनुभाव वर्णित है क्या दुष्यन्तविषयक अनुराग के साथ उसका सम्बन्ध असंदिग्ध और प्रामाणिक माना जा सकता है। यह तो स्वयं दुष्यन्त भी नहीं मानता। वह भी उसमें **'कामी स्वतां पश्यति'** कह कर सन्देह व्यक्त करता है। लौकिक स्थिति में यह भी अनुमान ही तो है। यदि कोई मनचला युवक किसी साध्वी सुन्दरी पर कटाक्ष कर दे और वह सुन्दरी मुकदमा दायर कर दे तो क्या उसे दण्ड दिया जा सकता है? कदापि नहीं। किन्तु जनमानस उसका सुनिश्चित अर्थ निकाल ही लेता है और युवक अपनी चेष्टा में सफल ही रहता है। कितनी समृद्ध है यह संदिग्धानुमिति?

अनुमिति का नाम सुनते ही लोग चौंकते इसलिये हैं कि वह तर्क के साथ रहती है और तर्क कर्कश होता है अतः उससे चमत्कारानुभूति या आनंदसंप्लव में व्याघात की संभावना रहती है। किंतु यह अनुमिति अदालत की तो अनुमिति है नहीं और न बौद्धिक अखाड़ेबाजों की ही अनुमिति है, यह अनुमिति तो जीवन को पदे-पदे व्याप्त तथा बुद्धि के दीपक में स्नेह के समान हमारी अनुभूतियों के मार्ग प्रशस्त करने वाली अनुमिति है, यह काव्यानंद के कृष्णाभिसार में विदग्ध दूती का काम करने वाली विद्युत् है। यदि इसी बौद्धिकतन्तुसन्तान को व्यञ्जना कहा जा रहा हो तो विवाद केवल नाममात्र का है, तत्त्वतः तो दोनों एक हैं। न्याय की दृष्टि से उसे काव्यानुमिति कहा जा सकता है और व्याकरण की दृष्टि से व्यञ्जना। इतना अवश्य है कि व्यञ्जना की सत्ता भावकता पर निर्भर है, युक्ति और तर्क पर नहीं। भावकता काव्य में आवश्यक है किंतु काव्यशास्त्र में नहीं। शास्त्र तो तत्त्वजिज्ञासा और तथ्यनिर्णय के लिए ही प्रवृत्त होता है, चित्त में मिश्री घोलने के लिए नहीं। उसमें तर्क और अनुभूति के नग्न रूप को ही महत्त्व दिया जाना चाहिए। अनुमिति के मानने और व्यञ्जना के खण्डन से काव्य का कुछ बिगड़ता भी नहीं है। ये तो काव्य की आत्मा अटारी के नीचे की सीढ़ियाँ हैं अनुमितिवादी ने स्वयं कहा भी है—

[illegible] प्रतीतिः साऽनुमान एव अन्तर्भावमर्हति। विभावानु-

भावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते। ते हि रत्यादीनां भावानां कारण-कार्यसहकारिभूतास्तानुमापयन्त एव रसादीन् निष्पादयन्ति। त एव हि प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते।' (पृष्ठ ४७७)

व्यञ्जनावादी भी बार-बार यही कहता है कि विभावानुभावव्यभिचारी या इनकी प्रतीति ही रस नहीं है अपितु वे रसके निष्पादक हैं—**"न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः अपितु रसस्तैः।"** परवर्ती ध्वनिमार्गियों ने विभावानुभावव्यभिचारी के समूहालम्बनात्मकज्ञान से व्यंजना का आविर्भाव माना है और उससे रत्यादिविषयक आत्मचैतन्यनिष्ठ मायिक आवरण का भङ्ग स्वीकार किया है (रसगंगाधर रससूत्र) इस प्रकार उनके मत में भी व्यंजना रस के नीचे ही रहती है। रसगंगाधरकार ने **'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः'**—इस काव्यप्रकाश की पंक्ति के 'व्यक्त' शब्द का अर्थ किया है **'व्यक्तिविषयीकृतः'** (स्थायी) और 'व्यक्ति' का अर्थ किया है **'भग्नावरणा चित्'** ऐसा मानने पर व्यक्ति व्यापार रूप नहीं रह जाती। जब कि व्यञ्जना का वह पर्याय है और व्यंजना को व्यापार माना जाता है। निश्चित ही पंडितराज की उक्त उक्ति व्यञ्जना-व्यापार को रस रूप सिद्ध नहीं कर सकती और न उन्हें वैसा सिद्ध करना अभीष्ट ही है। उन्होंने तो मम्मट की पंक्ति की शाब्दी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।

समूहालम्बनात्मकज्ञान में अवश्य ही व्यञ्जना मानी जा सकती है, क्योंकि उससे आत्मावरण का भङ्ग होता है, किन्तु यह व्यञ्जना शब्दवृत्तिरूप तो नहीं हो सकती। आगे बढ़ कर कहा जाय तो इस आवरणभङ्ग में भी सहृदयता या भावकतामात्र को कारण मानने से भी काम चल सकता है। पंडितराज ने प्रमाता या सहृदय के साधारणीकरण में भावना के साथ सहृदयता को भी सहकारी माना है।

इस प्रकार व्यञ्जना न व्याकरण में ही सिद्ध होती है और न साहित्य में ही। व्याकरण का स्फोट विवादास्पद वस्तु है इसलिए उसके लिए कल्पित व्यञ्जना की अपेक्षा अपने सर्वमान्य और सत्य प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए काव्यशास्त्रियों को वैसी ही सर्वमान्य और सर्वानुभवसिद्ध शिथिलानुमिति को कारण मानने में विचिकित्सा नहीं करनी चाहिये। चाहने पर व्यञ्जना के समान अनुमिति का भी वे उतना ही समर्थन कर सकते हैं। व्यञ्जना एक भौतिक वस्तु है, प्राकृतिक और जड़ उपादान है, अनुमिति बौद्धिक और चेतनाश्रित तत्त्व है। काव्य का असली रूप ज्ञानात्मक ही है अतः उसमें अनुमिति ही संभव है व्यञ्जना नहीं।

इसी प्रकार महिमभट्ट लक्षणा भी नहीं मानते। जैसा कि पहले बतलाया गया है बोद्धा की बुद्धि गंगा-शब्द से पहले प्रवाह के पास पहुँचती है फिर प्रवाह से तट के पास, तब 'गंगाजी पर घर' इस वाक्य का अर्थबोध होता है। इस क्रम से स्पष्ट है कि यहाँ गंगा शब्द यदि मस्तिष्क को कहीं पहुँचाता है तो केवल प्रवाह के पास। तट के पास उसे पहुँचाने वाला गंगा शब्द नहीं, प्रवाहरूपी

अर्थ का ज्ञान है। अतः तटज्ञापक व्यापाररूपी लक्षणा का आश्रय गंगा शब्द नहीं प्रवाहरूपी अर्थ का ज्ञान है, फलतः लक्षणा अर्थव्यापार माना जा सकता है जैसा कि मम्मट ने भी माना है। और इसलिए वह अनुमान रूप है। **'गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते'**— गौणी में साम्य का अनुमान होता है अर्थात् अनुमान द्वारा साम्य की प्रतीति होती है। अभिप्राय यह कि प्रयोजनवती में प्रयोजन और निरूढा में साम्यमात्र अनुमान से प्रतीत होंगे। निरूढा अभिधारूप भी मानी जा सकती है।

इसी संदर्भ में महिमभट्ट ने तात्पर्यवृत्ति (पृ० १३७-१४१) तथा वक्रोक्ति (पृ० १४२) आदि का खण्डन भी ठीक वैसे ही किया है जैसे अभिनवगुप्त ने ध्वनिसिद्धि में।

इस प्रकार व्यक्तिविवेक की प्रमुख स्थापना शब्द में अमुख्य शक्तियों का अभाव तथा अर्थ में केवल अनुमिति का सद्भाव है। अपनी इस स्थापना की पुष्टि में उन्होंने ध्वनिकार का खण्डन करने के लिए उनके सिद्धान्तों की समीक्षा के साथ ही उनके शब्दों और भाषा की भी समीक्षा की। यह समीक्षा समीक्षा नहीं ध्वनिकार की भाषा की शल्यचिकित्सा है। उन्होंने ध्वनिलक्षण **'यत्रार्थः शब्दो वा'** में दस प्रमुख दोष दिखलाए हैं (पृ०-११०)। इतने से उन्हें संतोष नहीं हुआ तो वे **'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'**० पद्य पर टूटे और उसके लिए ग्रन्थ के आधे भाग से बड़े द्वितीय विमर्श में शब्दानौचित्यों का विचार किया, जो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जा सकता है।

व्यक्तिविवेक के इस विमर्श का एक स्वतन्त्र महत्त्व है और इस दृष्टि से अर्थ की पूर्ण और स्पष्टतम अभिव्यक्ति के लिए नपी-तुली भाषा के प्रयोग पर विश्व भर में लिखे गए ग्रन्थों में व्यक्तिविवेक का स्थान भी मूर्धन्य है। इस प्रकार की तीव्र, तीक्ष्ण और तेजस्वी संदर्भमीमांसा का लाभ संस्कृत वाङ्मय को कदाचित् यह अवश्य मिला कि परवर्ती दार्शनिकों में नव्यन्याय की प्रवृत्ति जागी और उपाधि, तद्विशिष्ट तथा दोनों के संबन्धों तक को अभिधावृत्ति द्वारा ही कहने योग्य भाषा का अनुसंधान हुआ, मानों शब्द प्रयोग में शास्त्र व्यवहाराधिकरण बन गए। नहीं तो स्थिति यह थी कि विवक्षा कुछ रहती थी और लिखा कुछ जाता था। अभिनवगुप्त, आनंदवर्धन के ग्रन्थ ऐसे ही हैं। भामह में तो यह वैषम्य इतना उदग्र है कि उससे कौटल्य के अर्थशास्त्र का स्मरण हो आता है। स्वयं महिमभट्ट भी इस उपालंभ से मुक्त नहीं हैं। भाषा को लेकर जैसी छीछालेदर उन्होंने ध्वनिकार की की है वैसी ही इनकी भी की जा सकती है और व्याख्यानकार ने उन्हें आड़े हाथों लिया भी है। कहीं-कहीं हम भी यह अविनय कर बैठे हैं। जहाँ तक सिद्धान्तों को झकझोरने का संबन्ध है यदि महिमभट्ट ने उसमें संरम्भ दिखलाया है और स्वमत बहुत थोड़ी मात्रा में प्रस्तुत किया है तो कोई अनुचित नहीं। स्वमत बिलकुल भी न दिया होता तो कोई हानि न होती, विवेक में और होता ही क्या है? परिपवन, तितउ, चालनी या छन्ने किंवा सूर्प जब वस्तुविवेक करने लगते हैं तो कोई नई वस्तु थोड़े ही प्रस्तुत करते हैं!

महिमभट्ट की अन्य उद्भावनाओं में काव्य से संबन्ध रखने वाली उद्भावनाओं में पद्यकाव्यगत छन्दों की शब्दालंकारता अत्यन्त मौलिक और अतिनवीन है। द्वितीय विमर्श के आरंभ में ही (पृ० १८१) उन्होंने यह निरूपण कर दिया है। मम्मट उनकी इस स्थापना को अपना तक नहीं सके। विधेयाविमर्श आदि छह शब्दानौचित्यों को जिस रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है उसी रूप में उन्हें प्रायः सभी आचार्यों ने मान्य माना है। इस संदर्भ में शब्दश्लेष पर महाकवि रत्नाकर के हरविजय महाकाव्य से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए जो प्रकाश डाला गया है वह अपनी सूक्ष्मता और श्लक्ष्णता के लिए संस्कृतसाहित्यशास्त्र में अद्यावधि बेजोड़ है। मम्मट ने न जाने उसे क्यों छोड़ दिया। शायद दशम उल्लास में वे अन्त में शब्दालंकार के दोषों के बीच इस प्रकरण को देना चाहते रहे होंगे जिसके पहले ही वे चल बसे। अल्लट को उनका ध्यान नहीं रहा। शब्दों की इन विशेषताओं के साथ ही अर्थ की विशेषताओं पर भी महिमभट्ट ने कुछ नई बातें कही हैं। इनमें गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनि नाम से अभिहित काव्यों में भेद न मानना (पृ० १४) प्रमुख है। उन्होंने यहाँ उलटी गंगा बहाई है। दीपक में उपमा को प्रधान बतलाया है। प्रत्येक प्रतीयमान को उन्होंने काव्य का प्रतिपाद्य या तात्पर्यभूत अर्थ माना है। कवि का संरम्भ वाच्य में भी रहता है ऐसा प्रतीयमानस्थल में वे स्वीकार नहीं करते। सहृदयता की बात ठहरी। उनसे कुछ कहा नहीं जा सकता। उन्हें कदाचित् वैसा ही अनुभव होता रहा होगा। वस्तुध्वनि पर उनको अनास्था है। अन्तरित, अन्तरितान्तरित आदि प्रतीयमान वस्तु को वे प्रहेलिकाप्राय और चमत्कारशून्य मानते हैं। उनकी यह सूक्ष्म और दाक्षिण्यशून्य मति कहीं-कहीं पिटे-पिटाए पथ पर चल पड़ी है। कुन्तक ने अलंकारों को अभिधात्मक माना था। उसे उन्होंने जैसा का तैसा स्वीकार कर लिया है। संभवतः वह कुछ उलट भी गई है क्योंकि उन्होंने अभिधात्मकता के अभिधा शब्द का अर्थ शब्दसंकेत मान लिया है, जिस पर व्याख्यानकार को सफाई करनी पड़ी है, काव्येतर विषयों के विषय में महिमभट्ट ने कुछ मौलिक मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें 'क्रिया की शब्दप्रवृत्तिनिमित्तता' (पृ० ३०) और 'अपशब्दों का निर्णय' (पृ० ४८४) प्रमुख हैं। शाकटायन के व्युत्पत्तिनिमित्तवाद से इसे पृथक् सिद्ध कर उन्होंने इस मौलिकता की ओर संकेत किया है। निपातसंबन्धी विवेचन पर भी वे काफी दूर तक स्वतन्त्रता बरतते हैं।

तृतीय विमर्श में उन्होंने ध्वनिपद्यों में अनुमिति की सामग्री का स्पष्टीकरण किया है। उसके आधार पर कुछ पद्यों में अनुमितिप्रकार कुछ ऐसे हो सकते हैं—

१—भ्रमधार्मिक—

गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणयोग्यम्, दृप्तसिंहवत्त्वात्, यन्नैवं यन्नैवं यथा प्रमदोद्यानम्।

२—अत्था एत्थ०—

इयं प्रोषितपतिका पथिककर्तृकस्वशयनीयोद्देशाधिकरणकनिभृतोपस्थानाभिप्रायवती,

अविदितस्वरूपपथिकविषयकाकस्मिकनिशान्धतोपक्षेपकर्तृत्वे सति तादृशपथिकोद्देश्यकस्वशयनीयोद्देशदर्शनकर्तृत्वात्, या नैवं सा नैवं यथा पतिव्रता।

३—वच्च महव्विअ०—

प्रकृतो नायकः अन्यानुरागातिशयवान् नायिकाकर्तृकनायिकान्तराधिकरणोद्देश्यकप्रस्थानानुमतिविषयत्वात् यो नैवं स नैवं यथा अहम्।

४—देआ पसिअ०

प्रकृतनायिकावदनं कान्त्यतिरेकविशिष्टम्, स्वानुयोगिकाभेदविशिष्टशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहत्वेन वर्ण्यमानत्वात्।

५—कस्य वा न०—

प्रकृतनायिका परपुरुषपरिभोगरहिता सभ्रमराम्भोजाघ्राणशीलत्वेन भ्रमरदृष्टाधरपल्लवत्वात्।

६—सुवर्णपुष्पाम्०

शूरादयस्त्रयः सर्वत्र सुलभविभवाः, सुवर्णपुष्पपृथिवीचयनकर्तृत्वेनोपादीयमानत्वात्

७—शिखरिणि०

त्वदधरपल्लवपरिचुम्बनाऽमृतं नाल्पपुण्यपुरुषावाप्यम्, लोकोत्तरपरिणामशालित्वेन समारोप्यमाणशुकशावकखण्ड्यमानतत्सादृश्यावलम्बिफलसादृश्यप्रतियोगित्वात्।

८—अत्रान्तरे कुसुमसमय०—

(क) प्रकृतं महाकालपदं महाकालदेवताविशेषप्रतिपादनपरम्, युगसंहाराट्टहासबोधकपदसमभिव्याहृतत्वात्,

(ख) महाकालो नाम देवविशेषः अत्रत्यमहाकालपदप्रतिपाद्यः, युगसंहाराट्टहाससम्बन्धित्वात्।

सामान्य अनुमिति से इन अनुमितियों में अन्तर यह है कि इनके प्रतिपादक काव्यपदों में साध्य और दृष्टान्त शब्दतः कथित नहीं होते अतः ये अनुमितियाँ भी अनुमितिसाध्य हैं। साध्य और दृष्टान्त के अभाव पर महिमभट्ट ने उत्तर दिया है—

'तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः॥' (पृ० ६९)

अभिप्राय यह कि वे लोकानुभव से सिद्ध हैं। उनके शब्दोपादान से अनुमिति में प्रामाण्यमात्र का निष्पादन होता है जो काव्य में अनावश्यक है।

इस प्रकार महिमभट्ट का चिंतन संप्रदायश्रद्धा से जड़ नहीं है, उन्होंने अन्वयव्यतिरेक द्वारा प्रमेय के निश्चय की जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया शास्त्रपथ में चलती है उसे कुंठित नहीं होने

दिया है, और इस प्रकार संस्कृतकाव्यशास्त्र में व्यक्तिविवेक का स्थान प्राचीन के नीरक्षीरी विवेक तथा नवीन की विशद स्थापना दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'—कहकर प्राचीन आचार्यों ने काव्यक्षेत्र में जिसे अमुख्यवीथी का संकेत किया था केवल उसी को अपना कर जिस प्रकार ध्वनिकार ने स्वतंत्र ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' का निर्माण किया और प्रतीयमान अर्थ की स्थापना की उसी प्रकार प्रतीयमान को अपना कर महिमभट्ट ने उसकी प्रमाणमीमांसा पर 'व्यक्तिविवेक' का निर्माण किया तथा अनुमिति की स्थापना की। इस प्रकार उन्होंने काव्यविश्व के प्रतीयमानरूपी परार्ध के एक-एक अंग पर स्वतन्त्र विचार का उपक्रम किया, जिसमें पूर्ववर्ती अभिनवगुप्त और परवर्ती अन्य आचार्य पिछड़े दिखाई देते हैं। प्रतीयमान के एकदेश रसध्वनि को अभिनवगुप्त ने ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। वे चाहते तो स्थायी भाव को लोकभूमिका से रस की लोकोत्तर भूमिका तक पहुँचाने वाले अनुमान, विभावनादि व्यापार, साधारणीकरण, विकासादिरूप भोग या व्यक्ति इत्यादि तत्त्वों में से एक-एक तत्त्व का सर्वांगीण विवेचन कर कोई 'रसालोक' नामक ग्रन्थ भी 'तन्त्रालोक' के ही समान लिख सकते थे, किन्तु मंदिर की देहली पर ही लोचन और अभिनवभारती के केवल दो ही पुष्प चढ़ा कर उन्होंने संतोषानुभव कर लिया, साहित्यदेवता की साक्षात् पूजा की कोई उत्सुकता उनमें न जागी। प्रसन्नता का विषय है कि न्यायशास्त्र ने अनुमिति के एक-एक अंग—पक्षता आदि पर स्वतंत्र ग्रन्थों का निर्माण किया है और इस कार्य में अलंकारों पर साहित्य भी चूका नहीं है। निश्चित ही महिमभट्ट ने काव्यशास्त्र की आवश्यकता पहचानी थी।

व्यक्तिविवेक कई दृष्टियों से सदोष भी है। सबसे पहले तो उसकी भाषा ही अस्त-व्यस्त है। यद्यपि कुन्तक के समान व्यक्तिविवेककार ने भी भाषा को काव्यात्मक बनाने का प्रयत्न किया है किंतु उन्होंने सुदूर पूर्व के विषयों का परामर्श बहुत आगे बढ़कर सहसा सर्वनामपद से जगह-जगह किया है। काफी ऊहापोह के पश्चात् उसकी पहचान हो पाती है। भाषा की प्रवृत्ति अनेक स्थलों पर संदिग्ध है। उसका निश्चित अर्थ निर्धारित करना कठिन है। प्रथम विमर्श में ऐसे स्थल अधिकमात्रा में प्राप्त हैं, द्वितीय विमर्श के अन्त में—**'ता एता दोषजातयो महाकवीनामपि दुर्लक्षा इत्यवसीयन्ते'** (पृ० ४५५) पंक्ति के पश्चात् ११ पंक्तियों में उदाहरणविवेचन कर, बाद में **'यतो वस्तुमात्रोपनिबद्धप्रायेऽपि पदसमुदाये दृश्यन्त एव ते अन्येषां यथा'**—यह पंक्ति लिखी गई है। निश्चित ही 'यतः' मध्यवर्ती ११ पंक्तियों के पहले की **'ता एता······सीयन्ते'** पंक्ति पर निर्भर सम्बन्ध का द्योतक अव्यय है। इस अंश की योजना वस्तुतः ऐसी होनी चाहिए थी—**ता एता दोषजातयो वस्तुमात्रोपनिबद्धप्राये पदसमुदायेऽपि दृश्यन्त एव** यथा **'काव्यस्यात्मा०००' यावन्महाकवीनामपि दुर्लक्षा इत्यवसीयन्ते** यथा–**'उमावृषांकौ०००'**। पंक्तियों का क्रम वैसा ही रखना हो तो 'यतः' के स्थान पर 'एवमेव' और 'अपि' को पदसमुदाये के अनन्तर रख देना था।

व्यक्तिविवेक में विषयों का प्रतिपादन अनावश्यक विस्तार लिए हुए है। प्रथम विमर्श में 'क्त्वा' की पूर्वकालिकता का प्रपंच इसका जीता-जागता उदाहरण है।

महिमभट्ट आलोचना करते हैं किन्तु आलोच्य के साथ पक्षपात करते हुए। कालिदास के **'तां जानीयाः०'** पद्य (पृ० ४८५) में द्वितीयान्त पदों को लेखकभ्रम कह कर प्रथमान्त पाठ को ही कविविवक्षित बतलाते हैं और इसीप्रकार **'चंद्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली'** को **'चंद्रं प्रवृद्धो जलधिर्निशीव'** बना देते हैं। व्यक्तिविवेक में उद्धृत पद्यों में भी पर्याप्त पाठान्तर है। कुछ पद्य तो ऐसे हैं जिनके पूर्वार्ध-उत्तरार्ध में विपर्यास हो गया है। व्याख्यानकार ने उन्हें सुधारा नहीं है यद्यपि ग्रन्थकार को **'प्रौढवादरचनाविचक्षण'** कहने में वे नहीं चूके हैं। ऐसे अन्य दोषों के रहते हुए भी 'व्यक्तिविवेक' संस्कृतकाव्यशास्त्र का पूरक और अनिवार्य, महत्त्वपूर्ण और आदरणीय ग्रन्थ है। काव्य के निर्माण और अनुशीलन में यह ग्रन्थ आनन्दवर्धन और मम्मट के ग्रन्थों से अधिक व्युत्पादक है। दुःख की बात है कि इसकी गुरुशिष्य परम्परा नहीं चली और इसपर अच्छी टीकाएँ नहीं बनीं। कोई ऐसा पण्डित अभी भी नहीं है जिसने काव्यप्रकाश के समान व्यक्तिविवेक पर दस-बीस वर्ष विशेषाध्ययन कर इसके एक-एक अंश को स्पष्ट कर लिया हो। यह ग्रन्थ केवल संदर्भग्रन्थ के रूप में देखा जाता रहा। मल्लिनाथ, हेमाद्रि आदि टीकाकार व्यक्तिविवेक को उद्धृत करते हैं। मल्लिनाथ ने एकावली पर टीका लिखी, किन्तु व्यक्तिविवेक पर नहीं। सब कुछ के बाद इस ग्रन्थ का महत्त्व इसी से विदित है कि प्रबल विरोध के बाद भी यह मृच्छकटिक के समान जीवित है, हृदयदर्पण के समान लुप्त नहीं हो गया।

राष्ट्रभाषा हिन्दी में हमें एक शुभ लक्षण दिखाई दे रहा है कि यह विचारक्षेत्र में पूर्वग्रह से जकड़ी नहीं है, जिसमें पड़ने से संस्कृत का उत्तरकाल विवेक और न्याय से उज्ज्वल कम, श्रद्धाभक्ति से अन्धकारपूर्ण अधिक है। हमें आशा है कि हिन्दी अन्य पौरुषेय पदार्थ चिन्तन के ही समान व्यक्तिविवेक द्वारा प्रस्तुत काव्यार्थ चिंतन में भी धधकती यज्ञाग्नि सिद्ध होगी।

टीकाकार—

व्यक्तिविवेक की जो संस्कृत टीका यहाँ दी जा रही है उसमें उसके रचयिता का नाम नहीं मिलता, किन्तु इसमें 'साहित्यमीमांसा' तथा 'हर्षचरितवार्तिक' को टीकाकार ने अपनी अन्य कृति बतलाया है—

'अस्य च विधेयविमर्शस्य०००अस्माभिः साहित्यमीमांसायां०प्रपञ्चः प्रदर्शितः इति ग्रन्थविस्तरभयादेत एवोपरम्यते' (पृ० २८६) **एतच्चास्माभिः हर्षचरितवार्त्तिके निर्णीतमिति ततः एवावगन्तव्यम्** ' (पृ० २९३)

इन दोनों ग्रन्थों को अलंकारसर्वस्वकार ने भी स्वकृति कहा है—

'एषापि समस्तोपमाप्रतिपादकविषयेऽपि हर्षचरितवार्तिके साहित्यमीमांसायां च००० उदाहृता, इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रपञ्चिता' (निर्णयसागर सं०–२, पृ० ७७; उत्प्रेक्षा-प्रकरण)

अलंकारसर्वस्व के टीकाकार जयरथ भी 'साहित्यमीमांसा' को अलङ्कारसर्वस्वकार की अपरकृति मानते हैं—

'ग्रन्थकृतापि साहित्यमीमांसायामेतच्छ्लोकविवृतौ पद्यद्वयमेवोक्तम्' (विमर्शिनी, अ० स० पृष्ठ–१६० संस्करण वही)

साथ ही व्यक्तिविवेक व्याख्यान को भी उन्होंने ग्रन्थकार की अपर रचना कहा है—

'वाच्यस्य प्रतीयमानेन तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादि नेह प्रतन्यते व्यक्तिविवेकविचारे हि मयैतद् वितत्य निर्णीतमिति भावः' (वही पृ० १६)

जो साहित्यमीमांसा त्रिवेन्द्रम् से छपी है उसमें दोषप्रकरण खण्डित है अतः विधेयाविमर्श तो बिलकुल ही नहीं है, किन्तु उत्प्रेक्षा की वह सामग्री उसमें अवश्य प्राप्त है जिसे सर्वस्वकार ने सर्वस्व में छोड़ दिया है और वहीं से समझ लेना पर्याप्त बतलाया है। यह सामग्री **'मन्ये शंके०'** आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों की है। जयरथ ने विभावना प्रकरण में जिस **'अनंगलेखा०'** इत्यादि पद्य पर प्रदर्शित तीन मतों में से तृतीय मत को प्रक्षिप्त माना है वह साहित्यमीमांसा में नहीं है, यद्यपि अन्य दो के भी संकेत ही मिलते हैं (पृ० ४७ सी० मी०)। अतः इस छपी साहित्यमीमांसा को ही अलङ्कारसर्वस्वकारकृत माना जा सकता है। हर्षचरितवार्तिक अभी तक प्राप्त नहीं है, किन्तु साहित्यमीमांसा के साथ समान रूप से उसका दोनों ग्रन्थों में उद्धरण उसकी अभिन्नकर्तृकता प्रमाणित कर ही देता है।

जहाँ तक अलङ्कारसर्वस्व के रचयिता का सम्बन्ध है उसके नाम में भी विवाद है। अलङ्कार-सर्वस्व की छपी प्रतियों में से निर्णयसागरीय प्रति में उसके रचयिता का उल्लेख नहीं है और त्रिवेन्द्रम् से समुद्रबन्ध की टीका के साथ छपी प्रति में उसके रचयिता के लिए यह अनुष्टुप् दिया हुआ है—

'इति मंखुको वितेने काश्मीरक्षितिपसांधिविग्रहिकः।
सुकविमुखालङ्कारं तदिदमलङ्कारसर्वस्वम् ॥'

निर्णयसागरीय प्रति में **'निजालङ्कारसूत्राणाम्'** यह जो प्रथम पद्य है, उसके स्थान पर इन दक्षिणी प्रतियों में **'गुर्वलङ्कारसूत्राणाम्'**—पाठ है। समुद्रबन्ध ने भी वृत्ति का रचयिता मंख को माना है। राजतरंगिणी के ८।३३५४ पूर्वोद्धृत पद्य में मंख को सांधिविग्रहिक कहा भी गया है। मंख ने अपने श्रीकण्ठचरित के प्रागुक्त संदर्भ में रुय्यक को अपना गुरु और अनेक शास्त्रों पर सूत्रों का निर्माता बतलाया है। इसके अतिरिक्त अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति में श्रीकण्ठचरित के

अनेक पद्य उद्धृत भी हैं यद्यपि उनमें सम्बन्ध सूचना के लिए **'यथा मम श्रीकण्ठचरिते'** इत्यादि कुछ भी निर्देश नहीं है। गुरु के पद्यों को उद्धृत करना तो प्रसिद्ध है किन्तु शिष्य के पद्यों को उद्धृत करने का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। निश्चित ही मंख ने अपने पद्यों के साथ सम्बन्ध-सूचक शब्द केवल विनयभाव के कारण नहीं दिये। इस प्रकार सूत्रों के रचयिता रुय्यक और वृत्ति के मंख ही विदित होते हैं।

निर्णयसागर की प्रति में उसके संपादक श्रीगिरिजाप्रसाद द्विवेदी ने वृत्ति का रचयिता भी रुय्यक को ही माना है। मंख के विषय में प्राप्त उद्धृत प्रमाण को वे प्रसिद्धि के आधार पर प्रतिलिपिक द्वारा अपनी ओर से जोड़ा हुआ और अप्रामाणिक मानते हैं। उनका कथन है कि मंख सांधिविग्रहिक नहीं थे, उनके बड़े भाई अलङ्कार सान्धिविग्रहिक थे अतः उक्त पुष्पिका पद्य अप्रामाणिक है। कदाचित् उन्होंने राजतरंगिणी का ८।३३५४ वां—

'सांधिविग्रहिको मंखकाख्योऽलङ्कारसोदरः।
स मठस्याभवत् प्रष्ठः श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठया॥'

यह पद्य नहीं देखा था। उन्होंने जिन प्रतियों के आधार पर अलङ्कारसर्वस्व का सम्पादन किया है वे अवश्य ही अपूर्ण थीं। यह इसी से सिद्ध है कि उनमें प्रारम्भ में मंगल पद्य है किन्तु अन्त में पुष्पिका नहीं। उनके अन्य तर्क उक्त प्रमाण से अपने आप कट जाते हैं। **'गुर्वलंकारसूत्राणाम्'** में आए गुरु पद को वे गम्भीरता के अर्थ में जमा देना चाहते हैं। किन्तु वह सदोष है। क्योंकि उस अर्थ में गुरु शब्द की आवश्यकता ही नहीं रहती। सूत्र शब्द अपने-आप में गाम्भीर्य का द्योतक होता है।

इस प्रकार जब 'अलङ्कारसर्वस्व' की वृत्ति के रचयिता मङ्ख सिद्ध होते हैं तो व्यक्तिविवेक-व्याख्यान का रचयिता भी उन्हें ही मानना पड़ता है। उनका समय ई० ११२८ का विचार पहले ही किया जा चुका है।

इस व्याख्यान की विशेषता यह है कि इसमें जहाँ एक ओर व्यक्ति-विवेक के मर्मस्थानों का स्पष्टीकरण किया गया है वहाँ दूसरी ओर ध्वनि के समर्थन में इस पर आक्षेप भी किए गए हैं। व्याख्याकार ने मूलकार को 'साहित्यविचारदुर्निरूपक' तो कहा ही है (पृ० ४, श्लोक ३ की व्याख्या) निरंकुश भी कहना चाहा है (पृ० ३३८)। महिमभट्ट ने श्लोकरचना में दोष दिखलाए हैं अतः उनके स्वयं के श्लोकों पर उन्हीं की दृष्टि से कटाक्ष करने की पूरी छूट व्याख्याकार ने बरती है। ध्वनिकार के मत का खण्डन कर जहाँ महिमभट्ट ने संग्रहकारिका द्वारा उसका उपसंहार किया है वहाँ ध्वनिकार का समर्थन कर व्याख्याकार ने कारिका द्वारा ही प्रत्युत्तर दिया है। ग्रन्थकार की प्रशंसा भी की है किन्तु दबे स्वर में। इतना होने पर भी इस टीका का शास्त्रीय महत्त्व उतना ही है जितना ध्वन्यालोक के लोचन का। भाषा की सफाई में तो हम इसे लोचन से भी

समृद्ध मानते हैं। विधेयाविमर्श में जहाँ सर्वनाम का विवेचन किया गया है वहाँ व्याख्यान मूलग्रन्थ से आगे बढ़ा दिखाई देता है। विशेषण की प्रौढ़ि-अप्रौढि पर जो सूक्ष्म, विस्तृत तथा सोदाहरण विवेचन किया है वह मम्मट के भी दोषविवेचन का पूरक है।

व्याकरण और बौद्धसाहित्य तो व्याख्यानकार के खिलौने हैं। धर्मकीर्ति की—**'नैमित्तिक्याः श्रुतेरर्थम्'** (पृष्ठ ३३९) इस कारिका को लेकर जहां मनोरथनन्दी और प्रज्ञाकरगुप्त में परस्पर विवाद है वहां यह उसे सहज भाव से उद्धृत कर देता है। मनोरथनन्दी उक्त कारिका का चतुर्थ चरण—**'अबाधनार्हो हि वर्णितः'** मानते हैं और प्रज्ञाकरगुप्त **'न बाध्यस्तेन वर्णितः।'** मनोरथनन्दी श्रुति शब्द को सामान्यशब्दपरक मानते हैं और प्रज्ञाकरगुप्त वेदपरक। व्याख्यानकार पाठ मानते हैं प्रज्ञाकरगुप्त का और अर्थ में अनुकरण करते हैं मनोरथनन्दी का। मनोरथ के अनुसार उक्त कारिका का अर्थ यह है—

'नैमित्तिक्याः वस्तुभूतगुणादिनिमित्तवत्याः श्रुतेः अर्थं गुणादिकं पारमार्थिकमर्थं गुणिगुणादिसंबन्धं शब्दानां गुणादिवाचिनां प्रतिसन्धानोऽबाधनार्हो बाधां नार्हतीत्युक्तो भवति।'

शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त गुण, क्रिया, जाति, यदृच्छा हैं। किन्तु वस्तुतः इनके अर्थ गुणादि न होकर उनके संबंध हैं जो (सिरफिरा) इन संबन्धादि का विरोध करता है (वह विरोध करता रहे) उससे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। प्रज्ञाकरगुप्त के भाष्य का अभिप्राय ऐसा कुछ है—श्रुति अर्थात् वेद मन्त्रों के निर्माण का प्रयोजन है कोई प्रलोभन, अन्य शब्दों की प्रवृत्ति होती है संकेत से ऐसा नहीं मानना चाहता उसे सताने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिविवेकव्याख्यान में यहां निमित्त बल से शब्द की प्रवृत्ति होने पर निमित्त के अभाव में शब्द प्रयोग अनुपपन्न बतलाया गया-दरसाया गया है और तब यह कारिका प्रमाण रूप से उद्धृत की गई है। अतः यहां उसका वही अर्थ मान्य है जो मनोरथनन्दी ने स्पष्ट किया है। प्रथम दोनों संस्करणों में उक्त कारिका अशुद्ध छपी थी और उसके साथ '?' यह प्रश्न चिह्न लगा हुआ था। इसी प्रकार और भी ऐसे स्थल इस व्याख्यान में हैं जो स्पष्ट नहीं हो पाये थे। उनमें से कुछ अभी भी स्पष्ट नहीं हैं। इस टीका के अतिरिक्त व्यक्तिविवेक की दो टीकाएँ और हैं एक अकालजलद कहे जाने वाले चामुण्डसिंह की प्रेरणा से लिखित तिलक नामक और दूसरी पं० मधुसूदनजी मिश्र की मधुसूदनीविवृति। पहली टीका अभीतक प्रकाशित नहीं है उसकी प्रति पूना भण्डारकर प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान में है। दूसरी चौखम्बा से बहुत पहले छप चुकी है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा में यह ग्रन्थ पहली बार प्रस्तुत हो रहा है। कदाचित् विश्वभर में व्यक्तिविवेक का यह पहला भाषान्तर है। इसमें हमने हिन्दी में मूल और टीका दोनों का अनुवाद कर उनमें अपेक्षित टिप्पणियां भी दे दी हैं। यथासम्भव विषय भी स्पष्ट कर दिया है। शीघ्रतावश इसमें श्लोकों के सन्दर्भ ढूँढ़े नहीं जा सके, पुस्तक छपने पर

हमें रत्नाकर का हरविजय मिला तो उसमें अनेक पद्यों के पाठ कुछ और ही दिखाई दिये—**'उषसि विगलितान्धकार'** (पृ० ४१४) की जगह हरविजय में टीकाकार ने **'विगलितविततान्धकार'** पाठ माना है (२८।८२ ह० वि)। इसी प्रकार **स्फुटदलनमनाभ्र** (पृ० ४१५) की जगह हरविजय में **'स्फुटदलनघनाभ्र'** (२८।९५) पाठ है, **'सरसमन्थरतामरसोदर०'** (पृ० ४१५) की जगह **'सरसमन्थरतामरसादर०'** (३।१५) पाठ है, **'संग्रामनाटक०'** (पृ० ४१८) पद्य के **'उत्थापनेन'** के स्थान पर हरविजय में **'उत्थापकेन'** (४०।३८) पाठ है। इन कारणों से जो-जो कठिनाइयां यहां रह गई हैं उनका परिहार विज्ञ पाठक स्वयं कर लेंगे। इन अंशों पर व्याख्यान लब्ध नहीं है। राजानक अलक ने उत्थापकेन का अर्थ **'उत्कृष्टः स्थापकः सूत्रधारप्रायः, उक्तं च स्थापकः प्रविशेदन्यः सूत्रधारसमाकृतिः इति०', 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इति सकारस्य थकारः, उत्थापको वा सात्वतीवृत्तिभेदः, उक्तं च** (खण्डित)।' उन्होंने 'उत्थापनेन' पाठ पर भी विचार किया है और लिखा है—क्वचित् **'उत्थापनेन'** इति पाठः, **तत्रोत्थापनम्, उत्प्लावनम् 'यस्मादुत्थापयन्त्यत्र प्रयोगं नान्दिपाठकाः, पूर्वमेव तु रङ्गेऽस्मिंस्तस्मादुत्थापनं स्मृतम्' इति पूर्वरङ्गाङ्गं च।** नान्दी नगाड़े का भी नाम है। मालविकाग्निमित्र में गणदास जहां प्रयोग का आरम्भ करते हैं वहां उसके आरम्भ की सूचना नगाड़ा बजाकर ही देते हैं—

जीमूतस्तनितविशंकिभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥

पद्य द्वारा वहां वाद्यध्वनि के उत्थापन का उल्लेख भी किया गया है अतः यहां कदाचित् उत्थापन का नान्दी निनाद अर्थ ही विवक्षित है। उसे सुनते ही सहृदयजन प्रयोगारम्भ की सूचना से प्रसन्न हो उठते हैं। हमारा अर्थ इस अर्थ के पास तक पहुंचा हुआ है।

व्यक्तिविवेक का प्रथमानन मैंने काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के भूतपूर्व साहित्यविभागाध्यक्ष तथा संस्कृतमहाविद्यालय-प्राचार्य पं० महादेवजी शास्त्री संप्रति ऊर्ध्वाम्नायकाशीपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित शंकराचार्य श्रीमन्महेश्वरानन्दजी सरस्वती से तथा शेषांश का० हि० वि० विद्यालय के भूतपूर्व तथा वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय के वर्तमान साहित्यविभागाध्यक्ष पं० रामकुबेरजी मालवीय से पढ़ा है। इन दोनों आचार्यों ने चौखम्बा तथा त्रिवेन्द्रम् की प्रतियों का अपने सुदीर्घ अध्यापनकाल में जो संशोधन किया था मैंने उसका पूर्ण लाभ लिया है, यद्यपि मैंने स्वयं भी, जहां-तहां संशोधन किये हैं, उनका मैंने स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया है। औपचारिक कृतज्ञता प्रकाशित कर मैं अपने इन गुरुजनों और अपने बीच तटस्थता नहीं लाना चाहता, क्षमा अवश्य चाहता हूँ, यदि इस ज्ञानरिक्थ को सम्हालने में मुझसे क्वचित् स्खलन हुआ हो या मैं उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप कार्य न कर पाया होऊँ।

मेरे प्रेरणागुरु डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल जिन्हें मैं 'सारस्वतदधीचि' कहूँ तो सरस्वती को प्रसन्नता होगी, कलकत्ता के काव्यशास्त्रविनोदी और कलामर्मज्ञ श्रीमान् गोपीकृष्ण जी कानोडिया, सहज सनातनी श्रीमान् गौरीशङ्कर जी गोयनका तथा उसी नगरी के 'समृद्ध चारुदत्त' श्रीयुत सेठ हनुमानप्रसाद जी पोद्दार का मैं हृदय से अनुग्रह मानता हूँ जिनके आधार पर मैं काशी में रह सका अतः जिनकी स्मृति मेरे प्रत्येक ज्ञानकण के साथ सदा संलग्न रहेगी।

इस ग्रन्थ का अधिकांश मैंने काशी के आदरणीय श्री श्रीनन्दनजी शाह के दुर्गाकुण्डस्थ आवास में रहकर निष्पन्न किया है। मुझे दुःख है कि इस प्रकाशन के समय आज वे इस संसार में नहीं हैं।

वाराणसी के विश्वविख्यात प्रकाशन-संस्थान चौखम्बासंस्कृतसीरीज तथा चौखम्बाविद्याभवन के संचालक श्रीयुत मोहनदास जी गुप्त तथा श्रीयुत विट्ठलदास जी गुप्त ने इस भाष्य के निर्माण में आवश्यक ग्रन्थादि देकर सक्रिय सहयोग दिया तथा इसके प्रकाशन का भार स्वयं लेकर इसे यथासमय प्रकाशित भी कर दिया, एतदर्थ मैं उनकी वृद्धि-कामना करता हूँ।

राष्ट्रभाषा की सेवा में पहली वार प्रस्तुत हो रहे मेरे इस आरम्भिक प्रयास का विद्वानों में यदि कोई आदर हुआ और छात्रों ने इससे लाभ उठाया तो मैं इसे सफल समझूंगा—

६।१।६४
शासकीय संस्कृतमहाविद्यालय
रायपुर

रेवाप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

प्रथम विमर्श

विषय	पृष्ठ
उपस्थापना	१
ध्वनिकारिका	७
अर्थोपादानखण्डन	९
शब्दोपादानखण्डन	१६
अभिधोपादानसंभावना	२२
अलंकारों की अभिधात्मकता	२२
अलंकारों की अभिधात्मकता का व्याख्यानकारद्वारा खण्डन	२३
व्यञ्जनाखण्डन	२६
शब्दचतुष्टयवाद	२८
क्रिया का शब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्व	३०
अर्थ निरूपण	४७
अनुमेयार्थ की वस्तुरसालंकारता	४७
अनुमेयार्थप्रतीति में विध्यनुवादभाव और साध्यसाधनभाव का सहयोग	४९
लोक, वेद और अध्यात्मप्रमाण	५२
शाब्द और आर्थसाध्यसाधनभाव	५४
वाच्यार्थविषयक साध्यसाधनभाव	५५
अनुमेयार्थविषयक साध्यसाधनभाव	५७
स्फोट-खण्डन	६१
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव और गम्यगमकभाव का व्याख्यानकारद्वारा स्पष्टीकरण	६२
रसप्रतीति में क्रमिकता की सिद्धि	६७
रसानुमिति निरूपण	७०
कारणादि से विभावादि का अन्तर तथा विभावादि के लक्षण	७१
काव्य की प्रतीतिमात्र तक सीमितता तथा मणिप्रदीपप्रभा के दृष्टान्त-द्वारा उसकी सिद्धि	७६
मुख्यरूप से अर्थ के दो ही प्रकार वाच्य और अनुमेय उपचार द्वारा तीसरा व्यङ्ग्य भी	७८

विषय	पृष्ठ
व्यञ्जना के तीन मौलिक रूप और उनका अनुमान में अन्तर्भाव	८०
प्रकाशक अर्थ की द्विविधता	८४
अन्तरित वस्तुव्यञ्जना चमत्कारशून्य	८९
ध्वनिलक्षण में आए 'वा' शब्द पर विचार	९४
ध्वनिलक्षण के द्विवचन का खण्डन	९५
द्विवचन के अभिनवगुप्त द्वारा किए गए समर्थन का खण्डन	९६
सःकाव्यविशेषः—में 'सः' का खण्डन	९७
उसी के 'काव्यविशेष' पद के विशेष शब्दोपादान पर आपत्ति	९८
विशेषपद पर व्याख्यानकार द्वारा व्यक्तिवाद-का स्पष्टीकरण	१०८
'सूरिभिः कथितः', में सूरिभिः की व्यर्थता	१०९
ध्वनिलक्षण में संभव दश दोषों का कारिकाद्वारा संग्रह	११०
ध्वनिकारिका का शुद्धरूप	१११
शब्द में अनेक शक्तियों का असंभव	११३
लक्षणा के शब्दशक्तित्व का खण्डन	११४
लक्ष्यार्थ की अनुमेयता	१२१
'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का खण्डन	१३३
दीर्घदीर्घव्यापार का खण्डन	१४०
वक्रोक्तिखण्डन	१४२
शब्दवृत्ति के रूप में व्यञ्जना अभिधारूप	१४६
निपातोपसर्गों की वाचकता का विचार	१५०
गुणीभूतव्यङ्ग्य और ध्वनि में भेदाभाव	१६०
अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपर वाच्य का खण्डन	१७१
अर्थान्तरसंक्रमितत्व का खण्डन	१७४
अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का खण्डन	१७८
शब्दशक्तिमूलानुरणन व्यंग्य का खण्डन	१७८

द्वितीय विमर्श

विषय	पृष्ठ
पाँच शब्ददोषों का नामोल्लेख	१७९
दोषसामान्य का लक्षण	१८२
(१) विधेयाविमर्श	१८४
(i) संरम्भः करिकीट	१८५
पर्युदास और प्रसज्यप्रतिषेध	१८५
(ii) योऽसौ–में तत्पदानुपादान-दोष	१९६
यत्तद् का विवेचन	१९६
यत्तद् पर व्याख्यानकार का विवेचन	२११
(iii) अम्बिकाकेसरी–में षष्ठी-समासगतदोष	२२८
समास में विधेयताहानि का विवेचन	२२८
(२) प्रक्रमभेद	२८७
प्रकृतिप्रक्रमभेद	२८८
सर्वनामप्रक्रमभेद	२९२
प्रत्ययप्रक्रमभेद	२९३
पर्यायप्रक्रमभेद	२९५
विभक्तिप्रक्रमभेद	२९७
उपसर्गप्रक्रमभेद	२९९
वचनप्रक्रमभेद	२९९
तिङन्तप्रक्रमभेद	३००
कालप्रक्रमभेद	३०१
कारकशक्तिप्रक्रमभेद	३०४
शाब्दप्रक्रमभेद	३०५
आर्थप्रक्रमभेद	३०८
क्रमप्रक्रमभेद	३०९
वस्तुप्रक्रमभेद	३१७
कर्तृप्रक्रमभेद की गुणरूपता	३२०
(३) क्रमभेद	३२३
(४) पौनरुक्त्य	३३३
योग्यता विचार	३३६
योग्यता पर व्याख्यानकार का विरोध	३३८
प्रकृतिपौनरुक्त्य	३४१
प्रत्ययपौनरुक्त्य	३४२
उभयविषयक पौनरुक्त्य	३४४
पदपौनरुक्त्य	३४४
कारकपौनरुक्त्य	३५७
अलंकारपुनरुक्ति	३५८
पुनरुक्ति के अन्य उदाहरण संग्रहकारिकाएँ	३८१
(५) वाच्यावचन	३८७
सर्वनामपरामृश्य का सर्वनाम से अवचन	३८७
योगार्थप्रतीतिकृत हेतु का अवचन	३८८
अन्य अलंकार के स्थान पर अन्य अलंकार	३९१
समासोक्ति के स्थान पर श्लेष	३९१
श्लेषस्थल में उपमा	३९३
रूपकस्थल में उपमा	३९४
सौन्दर्य के लिए काव्यक्रिया	३९७
श्लेष का द्वैविध्य	३९९
शब्दश्लेष का लक्षण	३९९
शब्दश्लेषदोष	४०१
तन्त्र-लक्षण	४०४
अर्थश्लेष में हेत्ववचन	४२५
उभय श्लेष में हेत्ववचन	४२५
अन्य विचार	४२६
(६) अवाच्यवचन	४३६
स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का समर्थन	४५२
द्वितीय विमर्श का उपसंहार	४५५
ध्वन्यालोक के 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' पद्य पर दोषों की बौछार	४५६

तृतीय विमर्श

ध्वनिकार द्वारा उदाहृत ध्वनिपद्यों में अनुमानसिद्धि ४६३–५१२

श्लोकानुक्रमणी ५१३–५२२

॥ श्रीः ॥

व्यक्तिविवेकः

संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेतः

प्रथमो विमर्शः

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥ १ ॥

श्रद्धां मन्ये मातरं लोकमार्गे सा वै सर्वा ओषधीः संप्रसूते ।
आन्वीक्षिक्यां किंतु मे भावबन्धः सा ता एता निस्तुषाः संविधत्ते ॥
आद्यं गुरुं पितरमेव पुरा नतोऽहमाद्यां च लेखजननीं जननीमपि स्वाम् ।
एकं तयोस्तदनु विग्रहमद्वितीयं काश्यां महेश्वरयतीन्द्रकविं श्रितोऽस्मि ॥
यन्नाम तत्त्वगुरुभिर्गुरुभिर्गरीयो ज्योतिर्मयि प्रतिनवं प्रकटीकृतं तत् ।
कल्याणकोषमुपजीव्य मनाङ्मदीयः शास्त्राब्धिमज्जनविधावयमस्ति यत्नः ॥

अनुवाद—सभी प्रकार की ध्वनियों का अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाने के लिए महिमा (नामक आचार्य) परा वाणी को प्रणाम कर व्यक्तिविवेक रचता है ॥ १ ॥

व्यक्तिविवेक-व्याख्यानम्—

ग्रन्थारम्भे **ग्रन्थकारः शिष्टाचारमनुस्मरन्नुचितदेवताप्रणामपुरस्सरं स्वप्रवृत्तिप्रयोजनमाचष्टे**—अनुमानेऽन्तर्भावमित्यादिना । **तत्र वाचो विचार्यत्वेन प्रस्तुतत्वात् प्रणामसमुचितत्वम् । व्यक्तिर्व्यञ्जनं तद्विवेकस्य करणं स्वप्रवृत्तिः । तस्याः प्रयोजनं ध्वनेरनुमानान्तर्भावप्रकाशनम् । सर्वग्रहणेन निरवशेषतामाह अन्यथा काव्यानुमानस्याव्याप्तिः स्यात् ।** महिमेति **नामपदं कीर्त्यर्थम् ॥ १ ॥**

व्याख्यानुवाद—ग्रन्थकार ग्रन्थ के आरम्भ में शिष्ट जनों के आचरण का स्मरण करते हुए प्रकरण के अनुरूप देवता को प्रणाम करते हैं और 'अनुमानेऽन्तर्भावम्०' यह कहकर अपनी इस ओर हुई प्रवृत्ति का प्रयोजन बतलाते हैं । यहाँ वाणी पर ही विचार करना है, अतः उसी को प्रणाम करना उचित है। व्यक्ति = व्यञ्जना, उसका विवेक = यथार्थ निरूपण करना । यही ग्रन्थकार की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का प्रयोजन ध्वनिका अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाना है। सर्व शब्द का प्रयोग कर ध्वनि के किसी भी भेद का अनुमान से अलग न होना बतलाया गया । नहीं तो 'काव्यानुमा' वाद में अव्याप्ति होती । वह काव्य का सर्वाङ्गीण तत्त्व न बनता । 'महिमा'पद ग्रन्थकारका नामवाचक पद है । वह कीर्तिकामना से श्लोक में अपनाया गया है ॥ १ ॥

विमर्श : अनुमान—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—इन पाँच अवयवों से युक्त वाक्य द्वारा होनेवाला परार्थ अनुमान साथ ही अनुमाननामक हेतु, अनुमानव्यापार-रूप परामर्श तथा अनुमितिरूप प्रमा। इनमें क्रमशः व्यञ्जक, व्यञ्जना और व्यंग्य का अन्तर्भाव दिखलाया जाएगा।

सर्वस्यैव ध्वनेः—ध्वनि-संप्रदाय में ध्वनि के भेदों की गणना चौंतीस करोड़, छः लाख, तेईस हजार, नौ सौ तक की जा चुकी है। इसके आगे परार्ध तक कल्पना की जाती है। आनंद-वर्धनाचार्य ने ध्वनिलक्षण में केवल पाँच अर्थों में ध्वनि शब्द का उपयोग किया है, शब्द, अर्थ, व्यञ्जना, व्यंग्य और उनसे युक्त काव्य। इसका स्पष्टीकरण आगे होगा। यहाँ 'सभी प्रकार की ध्वनियों' इसमें आए सर्व शब्द का अभिप्राय इन्हीं भेदों से है। इन्हीं में सभी ध्वनिभेदों का अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रकाशयितुम्—प्रकाश करने के लिए। प्रकाश पहले से सिद्ध वस्तु का ही होता है। ध्वनि भी तत्त्वतः अनुमानरूप है। यहाँ उसका अनावरण करना है। वह भी इसलिए कि आनन्द-वर्धनाचार्य ने उसे अनुमान से पृथक् सिद्ध करना चाहा है।

व्यक्तिविवेकम्—व्यक्ति = व्यञ्जना, उसका विवेक = सजातीय (समान) तत्त्वों से पार्थक्य। ऐसा करने पर व्यञ्जना अनुमान से अलग नहीं हो पाती।

परां वाचम्—काश्मीरी विद्वान् शैवागम के प्रकाश में ही शास्त्र-चर्चा चलाते रहे। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि, अभिनवगुप्त आदि शैवागम के सिद्धान्तों पर ही अपने व्याकरण और साहित्य के सिद्धान्त स्थिर करते हैं। शैवागम के अनुसार परमशिव विश्व का मूल तत्त्व है। उसके दो रूप हैं अक्षर = मन्त्र और प्रपञ्च। अक्षर और संसार-प्रपञ्च की अभिव्यक्ति जिस शक्ति से होती है वही पराशक्ति कहलाती है। वह भी परमशिव का ही एक रूप है। अक्षर रूप होने पर वह परा वाणी कहलाती है। अक्षर रूप में इसके तीन विवर्त्त होते हैं—पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वाक्यपदीयकार इन्हीं तीन विवर्त्तों को वाणी कहते हैं। परा को वे शिवरूप ही मान लेते हैं। इन विवर्त्तों को दो भागों में बाँटा जाता है स्थूल और सूक्ष्म। वाणी के स्थूलविवर्त्त सुनाई पड़ते हैं। वे गले से हृदय तक फैले रहते हैं। उनसे अर्थ भिन्न होता है। क्योंकि स्थूल स्थिति में वे शब्दरूप होते हैं। इन्हें वैखरी और मध्यमा कहा जाता है। वैखरी कण्ठ-तालु से उत्पन्न ध्वनि को कहते हैं, और मध्यमा हृदयस्थ शब्द को। सूक्ष्म वाणी नाभि से मूलाधार तक सोई रहती है। उससे अर्थ भिन्न नहीं होते। क्योंकि वह नादात्मिका (संगीतरूप) होती है। उसे पश्यन्ती और परा कहा जाता है। पण्डितप्रवर रामेश्वरजी झा ने शैवागम के वाणीसम्बन्धी सिद्धान्तों का इस प्रकार निरूपण किया है—'अहमात्मा परामर्शः परा वागुच्यते बुधैः।' पश्यन्ती-का निर्वचन वे इस प्रकार करते हैं—'अन्तारूपं त्यजन्तीव जिघृक्षन्तीव बाह्यताम्। परोल्लि-लसिषा युक्ता पश्यन्ती प्रोच्यते बुधैः॥ तत्रोल्लिलसिषावत्यां वाच्यवाचकयोः क्रमः। नोदितो न च भेदस्य स्फुटतैव विभासिता॥ किन्तु चिज्ज्योतिषस्तत्र प्राधान्याद् द्रष्टृरूपता। इत्यन्वर्थतयैवेयं पश्यन्ती परिभण्यते॥ यत्रासूत्रितविभागो वाच्यवाचकयोः क्रमः। स्फुटास्फुटात्मरूपत्वाद् गृह्यते बुद्धिमात्रतः। दर्शनस्यैव प्राधान्याद् मध्यभूर्द्रष्टृदृश्ययोः। मध्यान्म इत्यनुसृत्य मध्यमा सा बुधैः स्मृता। सूक्ष्मं तस्याः स्वरूपं तु वैखर्याः स्थूलमस्त्यतः। सैव वाक् स्थानकरणप्रयत्नादिवलात् पुनः॥ गृहीतवर्णरूपेयं विभागस्य स्फुटत्वतः। प्रधानत्वाच्च दृश्यस्य ग्राह्यत्वादिन्द्रियेण च॥ विखराख्ये शरीरे च भवत्वाद् वैखरी मता।'

रुय्यक ने अपने अलंकारसर्वस्व में—'नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम् ।' इस प्रकार मंगल किया। जयरथ ने उसकी टीका विमर्शिनी में उक्त रीति से ही इसका अर्थ स्पष्ट किया है। उन्होंने प्रत्येक वाणी के लक्षण दिए हैं—'येयं विमर्शरूपैव परमार्थचमत्कृतिः । सैव सारं पदार्थानां परा वागभिधीयते ।' जब यही परा वाक् बाहर उन्मिषित होने चलती है तो इसका प्रथम विवर्त पश्यन्ती कहलाता है—अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा । स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ।' इसका अर्थ जयरथ ने इस प्रकार किया है—'पश्यन्ती में वैखरी-सुलभ तालु आदि स्थान करणप्रयत्नजनित वर्णभेद नहीं होता अतः उसमें क्रम भी नहीं रहता। वह आत्मा की आभ्यन्तर ज्योति होती है। वही सम्पूर्ण वर्णचक्र को पैदा करती है अतः बीज रूप से भीतर स्थित रहती है। वही कुछ परिणामयुक्त होकर परा और मध्यमा की स्थिति को तटस्थ होकर देखती रहती है। अतः पश्यन्ती = देख रही कहलाती है।'

मध्यमा के लिए उन्होंने लक्षण दिया है—'अन्तःसंकल्परूपा या क्रमरूपानुपातिनी । प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्त्तते ॥' अर्थात्—मध्यमा में—'मैं यह कह रहा हूँ' ऐसा विमर्श भीतर ही भीतर अनुभव में आता है। वह कानों से सुनने योग्य शब्दोच्चारण से दूर रहती है। उसमें वर्णों का क्रम पैदा हो जाता है किन्तु वह एकमात्र मानस रहता है। यह पश्यन्ती और वैखरी के बीच रहने से मध्यमा कहलाती है। वस्तुतः मध्यमा का अर्थ मँझली होना चाहिए। मँझली कन्या वह होती है जो एक छोटी और एक बड़ी बहिन के बीच की होती है। आरम्भ या अन्त में दो व्यक्ति के रहने पर कोई वस्तु मँझली नहीं कहलाती। अर्जुन और भीम दोनों को मध्यम पाण्डव कहा जाता है। अर्जुन को इसलिए कि वे युधिष्ठिर और भीम से छोटे थे और नकुल और सहदेव से बड़े। भीम को इसलिए कि तीन सगे भाइयों में वे अर्जुन से बड़े और युधिष्ठिर से छोटे थे। इसी प्रकार हृदयस्थवाणी को मध्यमा कहने का अभिप्राय ही यह है कि वस्तुतः परा वाणी वाणी नहीं है। वह तो वाग्ब्रह्म ही है। वाक्यपदीयकार ने शब्दब्रह्म को संसार-चक्र की प्रक्रिया का कारण बतलाया है। (ब्र० का० १) उसी कारिका को जयरथ ने परा वाणी के लिए उद्धृत किया है। वह है—'अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।' अतः तीन ही वाणी मानने पर हृदयस्थ वाणी को मध्यमा कहना चाहिये।

वैखरी का लक्षण जयरथ ने इस प्रकार उद्धृत किया है—'स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा । वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ।' अर्थात् वैखरी तालु आदि स्थान करण और प्रयत्नों से क्रमशः अभिव्यक्त होती है। वीणा आदि के शब्द के समान कान से सुनाई देती है। उसमें गकार आदि वर्णों का समुच्चय पद और वाक्यरूप से स्पष्ट होता है। यह शब्द ब्रह्म का तृतीय विवर्त्त है। वैखरी शब्द की व्युत्पत्ति जयरथ ने दो प्रकार से की है—(१) वि = विशिष्ट 'ख' आकाश, अर्थात् मुखरूपी आकाश। उसको राति=ग्रहण करके व्यक्त होने वाली = **विखर** प्राणवायु के संचार अभिन्न वर्णोच्चारण। उस रूप में अभिव्यक्त वाणी वैखरी। (२) विखर=शरीर में होने वाली। यही उद्धृत कारिका में झा जी ने किया है।

प्रपञ्च रूप में वाणी के ये रूप ब्रह्म के ईश्वर, प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ और विराट् से मिलाए जा सकते हैं। काशी की विभूति पंडितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड = परा को ईश्वरस्थानीय बतलाते हैं, पश्यन्ती को प्राज्ञस्थानीय, मध्यमा को हिरण्यगर्भस्थानीय और वैखरी को विराट् स्थानीय। इसी प्रकार परा को साक्षी, पश्यन्ती को निर्विकल्पक ज्ञानविषयीभूत शब्द, मध्यमा को सविकल्पज्ञानविषयीभूत शब्द और वैखरी को अर्थक्रियाकारी शब्द मान सकते हैं। परा तुरीय अवस्था है पश्यन्ती सुषुप्ति, मध्यमा स्वप्न और वैखरी-जाग्रत्। वाणी का और भी अच्छा तुलनात्मक

विवेचन डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवाल ने अपने 'मेघदूत : एक अध्ययन में' (पृ० २७, २८) किया है। पंचकोषों में परा आनन्दमय कोष, पश्यन्ती विज्ञानमय, मध्यमा मनोमय और वैखरी प्राणमय कोष कही जा सकती है। शैव सम्प्रदाय में इसे स्वातन्त्र्य, ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्ति से अभिन्न माना जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में परावाक् का अर्थ उत्तम काव्य है। अभिनवगुप्त उसे भी शिवरूप मानते हैं। कालिदास और साहित्यमीमांसाकार वाणी और अर्थ को शिव तथा शक्ति तथा उनके साहित्य को उनका दाम्पत्य मानते हैं—'निदानं जगतां वन्दे वस्तुनी वाच्य-वाचके। ययोः साहित्यवैचित्र्यात् सतां रसविभूतयः।'

युक्तोऽयमात्मसदृशान् प्रति मे प्रयत्नो नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत्।
केचिज्ज्वलन्ति विकसन्त्यपरे निमीलन्त्यन्ये यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥२॥

जो मेरे जैसे हैं वे ही इस ग्रन्थ के अधिकारी हैं। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सबका मन आकृष्ट करे। जो जगत् का प्रदीप (सूर्य) है उसके भी उदयोन्मुख होने पर कुछ (सूर्यकान्तमणि आदि) जलते हैं, कुछ (कमल आदि) खिलते हैं और कुछ (उल्लू, कुमुद आदि) ओझल हो जाते हैं ॥ २ ॥

युक्तोऽयमित्या**दिनाऽधिकारिनिरूपणम्**। केचिदि**ति। श्लेषहेतूपन्यासः**। ज्वलनं **क्रोधः सूर्यकान्तसम्बन्ध्यग्न्युत्थानं च**। विकासः **प्रमोदानुभवः पद्मगतं प्रफुल्लत्वं च**। निमीलन**मसूयाकृतोऽनुत्साहः कुमुदगतः सङ्कोचश्च**। अभ्युदयो **महोत्सवः अभिमुखमुद्गमश्च**। जगत्प्रदीपो **विद्यादिना विश्वप्रकाशको रविश्च। एतच्च गुणगर्वाध्मातमात्मानमुद्दिश्य भङ्ग्या कथितम् ॥ २ ॥**

इससे इसके अधिकारी का निरूपण किया। **केचित्**—यहाँ से श्लिष्ट हेतु दिए गए हैं। **ज्वलन**—क्रोध, सूर्यकान्तमणि में आग सुलगना। विकास = प्रमोद का अनुभव और पद्म का खिलना। **निमीलन**—असूया = गुणों में दोष देखने से हुआ अनुत्साह और कुमुद आदि रात्रि-पुष्पों का संकोच। **अभ्युदय**—महोत्सव और आगे जा पहुँचना। **जगत्प्रदीप**—विद्या आदि से विश्व को प्रकाश देने वाला तथा सूर्य। यह सब ग्रन्थकार ने पाण्डित्य के गर्व में चूर निज को लक्ष्य कर पेंच के साथ कहा ॥ २ ॥

इह सम्प्रतिपत्तितोऽन्यथा वा ध्वनिकारस्य वचोविवेचनं नः।
नियतं यशसे प्रपत्स्यते यन्महतां संस्तव एव गौरवाय ॥ ३ ॥

हमारे द्वारा किया गया ध्वनिकार की वाणी का विवेचन संसार में सब प्रकार से यशस्कर ही होगा, भले ही वह संप्रतिपत्ति से हुआ हो या उसके विरुद्ध। क्योंकि जो महान् होते हैं उनसे किसी भी प्रकार जान-पहचान होना गौरवप्रद ही होता है ॥ ३ ॥

अनुमानान्तर्भावनरूपस्य स्वप्रवृत्तिप्रयोजनस्य ध्वनिकृद्वचनविवेचनाख्यस्य यशः-प्रवृत्तिलक्षणं प्रयोजनमाह—इहेत्या**दिना**। अन्यथा वेति। **यदि** सम्प्रतिपत्त्या **सौजन्यमूलया परीक्षया न बुध्यते तद्विप्रतिपत्तिमाश्रयाम इत्यर्थः। (विप्रतिपत्तिः) विप्रतिपत्त्या कथनम्। निश्चितयशःप्रपत्तिसमर्थनं** यन्महतामि**ति**। संस्तवः **परिचयः। अत्र च 'ध्वनिकृद्वाक्यविवेचनं तदेतद्' इति पठनीयम्। यथास्थितपाठे तु ध्वनिकारस्येति वचश्शब्दान्वितमिष्यमाणं प्राधान्याद्विवेचनशब्दान्वितं प्रतीयते। एतच्चास्य साहित्यविचारदुर्निरूपकस्य प्रमुख एव स्खलितमिति महान् प्रमादः ॥ ३ ॥**

इस ग्रन्थ को लिखने की (ग्रन्थकार की) अपनी प्रवृत्ति का प्रयोजन है ध्वनिकार के वचनों का विवेचन और अनुमान में ध्वनि का अन्तर्भाव करना। इस समस्त प्रयत्न का भी प्रयोजन है यश बटोरना। इसे 'इह सम्०' इत्यादि पद्य से स्पष्ट करते हैं—**अन्यथा वा**—यदि संप्रतिपत्ति = सौजन्यमूलक विवेचन से (तथ्य) स्पष्ट नहीं होता तो हम (उससे उलटी) विप्रतिपत्ति (खण्डनात्मक प्रक्रिया) का आश्रय लेते रहे हैं। **विप्रतिपत्त्या** = विरुद्ध प्रतिपत्ति ज्ञान, धारणा, उसे लेकर विवेचन करना। यश की निश्चित प्राप्ति का समर्थन करते हैं—यन्महतान्—इससे। **संस्तवः**—परिचय। यहाँ (ध्वनिकारस्य वचो विवेचनं नः = की जगह) 'ध्वनिकृद्वाक्य-विवेचनं तदेतद्' यह पाठ होना चाहिए। जैसा का तैसा पाठ रखने पर 'ध्वनिकारस्य' इसका अन्वय विवेचन के साथ होता है, जब कि 'वचः' के साथ होना अभीष्ट है। यह साहित्यसम्बन्धी संप्रदायों के कठोर समीक्षक इस ग्रन्थकार की समीक्षारम्भ में ही त्रुटि हो गई। इसलिए पूरे ग्रन्थ में उसकी महान् अनवधानता संभव है ॥ ३ ॥

विमर्श : ध्वनिकार—आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त। व्यक्तिविवेक में अभिनवगुप्त का भी खण्डन है।

सम्प्रतिपत्ति—प्रतिपत्ति = ज्ञान, समझ, प्रवृत्ति। सम्प्रतिपत्ति = अनुकूल = ज्ञान, समझ, प्रवृत्ति।

अन्यथा—उससे उलटे = विप्रतिपत्ति। आशय यह कि कहीं समझ कर, पूर्वापरसंगति लगाकर और अनुभूति से मिलाकर संशोधनात्मक प्रक्रिया से ध्वनिकार के सिद्धान्तों का विवेचन किया है और कहीं उसके विरुद्ध खण्डनात्मक प्रक्रिया से। ध्वनिकार का सिद्धान्त सचमुच गम्भीर और तत्त्वस्पर्शी है। अतः उसकी कैसी भी समीक्षा विद्वद्-ग्राह्य बनेगी।

सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यतादृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम् ॥ ४ ॥

मेरी बुद्धि ने दर्पण नहीं देखा और एकाएक यश के लिए अभिसार करने उद्यत हो गई। वह अपने अलङ्कार की साज-सज्जा में दोष कैसे जान सकती है? ॥ ४ ॥

यदि परमत्र विवेचने स्खलितं सम्भाव्यते। तच्च यशोर्जनसम्भ्रमप्रवृत्तत्वादनुरूप-ग्रन्थान्तरापरिशीलनाच्च बुद्धिर्न चेतयत इत्युक्तं—सहसेति। अभिसर्तुम् **आभिमुख्येन गन्तुम् अभिसारिकात्वेन च प्राप्तुम्।** दर्पणो **हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि।** स्वालङ्कारो **व्यक्तिविवेचनाख्यस्तत्र। यद्वा ध्वनिकारं प्रति** विकल्पप्रकल्पनं **तत्र च, स्वस्य च यदलङ्करणं हारकटकादीनां प्रकल्पनं यथास्थानविरचनं तत्र।** अवद्यं दोषम्। **विशेषण-साम्याद्धियोऽभिसारिकाव्यवहारप्रतीतिः ॥ ४ ॥**

किन्तु इस विवेचन में त्रुटियाँ संभव हैं। उन्हें बुद्धि इसलिए नहीं समझ पायेगी क्योंकि एक तो वह यश लूटने की हबश से आगे बढ़ी है और अपने अनुरूप (समर्थक) दूसरे ग्रन्थों का उसने परिशीलन नहीं किया है। यही बात कही—सहसा०। **अभिसर्तुम्** = अभिमुख रूप से जाना (जिधर यश है) उधर ही जाना और अभिसारिका रूप से (जिधर प्रिय है) उधर जाना। **दर्पण**—हृदयदर्पण नामक ध्वनिखण्डन का ग्रन्थ। **स्वालङ्कार**—व्यक्तिविवेचन नाम का अपना अलङ्कारशास्त्र। अथवा अपना जो ध्वनिकृत् आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा रचित अलङ्कार ध्वन्यालोक पर विकल्पप्रकल्प = क्षोदक्षेम उसमें। (अभिसारिका पक्ष में) अपना जो हार, कटक आदि का यथास्थान विनिवेश उसमें। **अवद्य**—दोष। विशेषण साम्य से अभिसारिका-व्यवहार की प्रतीति होती है ॥ ४ ॥

विमर्श : दर्पण—भट्टनायक का हृदयदर्पण या सहृदयदर्पण। ग्रन्थकार को दुःख है कि उसे दर्पण नहीं मिला। वह यशस्वी ग्रन्थ साहित्यदेवता के दुर्भाग्य से उसके पूर्व ही लुप्त हो चुका था। प्रस्तुत पद्य में समासोक्ति अलङ्कार है। बुद्धि अभिसारिका स्त्री है वह अपना वेष दर्पण में विना देखे एकाएक अभिसार करती है। यही अर्थ बुद्धि के स्त्रीत्व और अभिसरण तथा दर्पण शब्द के सहयोग से निकलता है।

अलङ्कार—'काव्यालङ्कार' शब्द भामह, रुद्रट, उद्भट, वामन और पण्डितराज जगन्नाथ ने अलङ्कार ग्रन्थ के लिए अपनाया। यहाँ अलङ्कार उसी अर्थ में है।

ध्वनिवर्त्मन्यतिगहने स्खलितं वाण्याः पदे पदे सुलभम्।
रभसेन यत् प्रवृत्ता प्रकाशकं चन्द्रिकाद्यदृष्ट्वैव॥ ५॥
किन्तु तदवधीर्यैर्गुणलेशे सततमवहितैर्भाव्यम्।
परिपवनवदथवा ते जात्यैव न शिक्षितास्तुषग्रहणम्॥ ६॥

ध्वनि-पथ अत्यधिक गहन है। उसमें पद-पद पर वाणी का स्खलन सहज है। चन्द्रिका आदि प्रकाशक तत्त्वों को विना देखे जो वह आगे बढ़ी है। किन्तु सत्पुरुषवृंद उसको छोड़ आरम्भ से अन्त तक इसके थोड़े बहुत गुणों पर ही चित्त दें। या वे तो स्वयं ही चलनी के समान भूसा अपनाना नहीं सीखे रहते॥ ५-६॥

नन्वसम्भवत एव स्खलितस्य कथं सम्भावनं क्रियत इति ध्वनिवर्त्मनीत्या**दिना स्खलितस्य सम्भवमाह।** अतिगहनं **प्रमेयाकुलं सन्तमसावृतं च।** स्खलितं **पदभङ्गोऽपि।** रभसमावेगो(शो)**वेगश्च।** चन्द्रिका **ज्योत्स्ना ध्वनिविचारणग्रन्थोऽपि॥ ५॥**

स्खलितमत्र सुलभम्। कथं तर्ह्यारभ्यत इत्याह—किन्त्विति। तत् **स्खलितम्।** परिपवनमिति **तितउः तुषं दोषोऽपि। वैधर्म्यदृष्टान्तमूलो व्यतिरेकः॥ ६॥**

शंका-स्खलन (त्रुटि) सम्भव ही नहीं। फिर उसकी संभावना क्यों की जाय। पर ध्वनिवर्त्म० इत्यादि द्वारा स्खलन का संभव होना सिद्ध करते हैं। **अतिगहनम्** = प्रमेय (सिद्धान्तित तत्त्व) से संकीर्ण और घने अन्धकार से घिरा। **स्खलितम्** = पैर का फिसलना भी। **रभसम्** = आवेग और तीव्रगति (वेग)। **चन्द्रिका**—चाँदनी तथा ध्वनि सिद्धान्त पर विचार करने वाला कोई ग्रन्थ॥ ५॥

इसमें यदि स्खलन सहज है तो यह काम ही क्यों आरम्भ करते हैं ? इस पर कहते हैं—किन्तु०। **तत्** = वह स्खलित। **परिपवन**—तितउ, चालनी। **तुष** = (भूसा) दोष भी। यहाँ वैधर्म्य दृष्टान्त पर आधारित व्यतिरेक अलङ्कार है॥ ६॥

विमर्श : ध्वनिपथ को अतिगहन कह ग्रन्थकार ने यह भी संकेत किया कि इस संप्रदाय में सिद्धान्तित तत्त्व अभी तक खरादे नहीं गए हैं।

चन्द्रिका—इस नाम की ध्वन्यालोक पर कोई टीका थी। अभिनवगुप्त लोचन में उसका वार-बार उल्लेख करते हैं।

वैधर्म्यदृष्टान्तमूलक व्यतिरेक—दृष्टान्तालङ्कार सादृश्यमूलक अलङ्कार है। इसमें सादृश्य बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से बतलाया जाता है अथवा विरुद्ध वाक्यार्थ से। विरुद्ध वाक्यार्थमूलक दृष्टान्त वैधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है। इसमें वैधर्म्य उलट कर साधर्म्य का आक्षेप करता है। तब पदार्थों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। उससे वाक्यार्थगत सादृश्य की प्रतीति होती है। इसका उदाहरण है—'आपके तलवार पर हाथ पहुँचाने की इच्छा करते ही (आप के) शत्रु योद्धा तितर-बितर हो गए।

धूलि के कण निर्वात प्रदेश में ही स्थिर रहते हैं।' (काव्यप्रकाश)। यहाँ 'धूलिकण वातयुक्त प्रदेश में नहीं ठहरते ऐसा आक्षेप होता है। फिर धूलिकण तथा शत्रु-भट, वात तथा प्रधान राजा, न ठहरना तथा तितर बितर होना—इनमें बिम्बप्रतिबिम्ब भाव बनता है। तब सादृश्य का ज्ञान होने से चमत्कार होता है। व्यतिरेकालङ्कार में उपमान की अपेक्षा उपमेय में अतिरेक अर्थात् गुणाधिक्य बतलाया जाता है। प्रस्तुत पद्य में परिपवन और आर्यजनों को सादृश्य बतलाया जा रहा है। दोनों में वाक्यार्थ का सादृश्य है। वह इस प्रकार है—'जिस प्रकार परिपवन भूसा अपनाने में स्वभावतः अभ्यस्त रहता है उस प्रकार दोष अपनाने में सज्जन नहीं।' इस कथन में परिपवन की जगह शूर्प का उपादान करने से यही उदाहरण साधर्म्यमूलक दृष्टान्तालङ्कार का बन जाता है। जिस प्रकार शूर्प सारग्राही होता है वैसे ही सज्जन भी गुणग्राही होते हैं। वैधर्म्य-मूलक दृष्टान्त से आर्यों में यह विशेषता झलकती है कि 'यद्यपि दोष और गुण दोनों को परिपवन तथा आर्य दोनों ही अलग करते हैं किन्तु परिपवन अलग कर दोष का ग्रहण करता है और सज्जन गुणों का। वस्तुतः यहाँ उपमालङ्कार है। परिपवन यदि तितउ अर्थात् चलनी ही मानी जाय तो एक ऐसी भी चलनी होती है जो अनाज को अपने भीतर रखती है। कचरा-कूड़ा अलग करती है। किसानों के खलिहानों में यही काम में लाई जाती है। इसे बुन्देलखण्डी में छन्ना कहते हैं। इसे ही यहाँ उपमान मानना चाहिए। तब अर्थ होता है जैसे छन्ना भूसा अलग कर सारभूत धान्य बटोरता है वैसे ही सत्पुरुष भी दोष अलग कर सारभूत गुण अपनाते हैं।

तत्र ध्वनेरेव तावल्लक्षणं वक्तव्यम्। कोऽयं ध्वनिर्नामेति। तच्च ध्वनि-कारेणैवोक्तम्। तद्यथा—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥' इति।

यहाँ पहले ध्वनि का ही लक्षण बतलाना चाहिए। (खण्डन के पहले) यह जानने के लिए कि यह (खण्डनीय) ध्वनि है क्या? और वह (लक्षण भी वही बतलाया जाना चाहिए जो उसके प्रवर्तक स्वयं) ध्वनिकार ने ही बतलाया हो। वह इस प्रकार है—

'जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अर्थ को अप्रधान कर उस (प्रतीयमान) अर्थ को (व्यञ्जना द्वारा) व्यक्त करते हैं (आलङ्कारिक विद्वानों द्वारा) वह काव्यभेद (व्याकरणशास्त्रियों द्वारा समादृत) 'ध्वनि' ऐसा कहा जाता है।'

तत्रेति **व्यक्तिविवेके प्रस्तुते सति** तावद्ग्रहणं **विवेकक्रमद्योतनार्थम्। लक्षणं वक्तव्यं कुत इत्याह**—कोऽयं ध्वनिर्नामे**ति। यत इत्थंविधस्य प्रश्नस्यावतार इत्यर्थः। तथाहीति लक्षण-पददूषणक्रमेण ध्वन्यन्तर्भावं सपीठिकाबन्धं दर्शयति। तद्व्यभिचारस्योपसर्जनीकृतात्मत्व-व्यभिचारस्याभावात्।**

तत्र–उसमें। अर्थात् प्रस्तुत व्यक्तिसंबन्धी विवेचन में। **तावत्**—यह शब्द विवेचन में क्रम का बोध कराने के लिए अपनाया गया है। लक्षण बतलाना चाहिए। क्यों? इसी बात को कहते हैं—'कोऽयं ध्वनिः'। जिससे इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित हुआ।

विमर्श: शास्त्र के अर्थविचार में पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष की शैली अपनाई जाती है। व्यक्तिविवेक रूपी विचार प्रस्तुत होने पर उसमें पूर्वपक्षरूप से 'ध्वनि' संबन्धी शास्त्र अपनाया गया। उत्तरपक्ष स्थापन के पूर्व पूर्वपक्ष की मान्यता का ज्यों का त्यों कथन (अनुवाद) कर खण्डन किया जाता है। इससे पाठक को सरलता होती है। वह तब तक खण्डन नहीं समझ सकता जब

तक खण्डनीय विषय का उसे ज्ञान न हो। पूर्वपक्ष के अनुवाद से पाठक को उसका ज्ञान हो जाता है। 'तच्च' ध्वनिकारेणैवोक्तम्, में पूर्व पंक्तिस्थ 'वक्तव्यम्' का अध्याहार किया जाना चाहिए। 'तच्च ध्वनिलक्षणं तदेव वक्तव्यं यत् स्वयं ध्वनिकारेणोक्तम्'। इस आशय से ग्रंथकार ने 'तच्च ध्वनिकारेण' इत्यादि पंक्ति दी है।

उपसर्जनीकृतस्वार्थौ—इस पद में कर्मधारयघटित द्वन्द्व है। यथा—स्वं च अर्थश्चेति स्वार्थौ। उपसर्जनीकृतौ च तौ स्वार्थौ उपसर्जनीकृतस्वार्थौ। सिद्धान्त-शिरोमणि श्री विश्वेश्वर जी ने इसका समास इस प्रकार बताया है—'स्वश्च अर्थश्च तौ स्वार्थौ। तौ गुणीकृतौ याभ्यां यथासंख्येन सः अर्थो गुणीकृतात्मा, शब्दश्च गुणीकृताभिधेयः।' यहाँ बहुव्रीहि अनावश्यक है। बहुव्रीहि मानने पर भी भाषा ऐसी होनी चाहिए—स्वं च अर्थश्च तौ स्वार्थौ, तौ उपसर्जनीकृतौ यथासंख्यं यथासंख्येन वा याभ्यां तौ उपसर्जनीकृतस्वार्थौ, तत्र अर्थ उपसर्जनीकृतस्वः, शब्द उपसर्जनीकृतार्थः।' यही 'उपसर्जनीकृतस्वार्थ' पद अर्थ और शब्द दोनों में खण्डशः समन्वित होता है। उसका एक खण्ड है। उपसर्जनीकृतस्वः और दूसरा खण्ड है उपसर्जनीकृतार्थः। पहला अर्थ का विशेषण है, और दूसरा शब्द का। अर्थ पक्ष में उसका अभिप्राय होगा—जिसने अपने आप को उपसर्जन या अप्रधान बना लिया है, और शब्द पक्ष में जिसने अपने अर्थ को उपसर्जन या अप्रधान।

तमर्थ—अर्थात् 'उस अर्थ को' का अभिप्राय-प्रतीयमान अर्थ है। आनन्दवर्धन ने पहले वाच्य के अतिरिक्त 'प्रतीयमान नामक' एक अतिरिक्त अर्थ की स्थापना की है। उनकी कारिका है—'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।' इस कारिका द्वारा जो प्रतीयमान अर्थ स्थिर किया गया है उसी को 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' कह कर काव्य की आत्मा माना। उसी को शब्द और अर्थ द्वारा व्यक्त करते रहने से महाकवित्व की प्रसवभूमि कहा = 'सोऽर्थः तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन। यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।' और अन्त में इस ध्वनि-लक्षण में तमर्थम् = द्वारा उसी प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जना को ध्वनि काव्य का असाधारण धर्म बतलाया है।

व्यङ्क्तः—शब्द ध्वनि लक्षण की इस कारिका का रहस्य शब्द है। मम्मट ने रस का निरूपण करते हुए इसी प्रकार 'व्यक्त' शब्द का प्रयोग किया है। 'व्यङ्क्तः' और 'व्यक्त' दोनों शब्दों के मूल में जो अभिप्राय है उसे पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट किया है—व्यक्तः = व्यक्तिविषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्। चैतन्यरूप इस व्यक्ति की शक्ति भी व्यक्ति शब्द से कही जाती है। रुय्यक ने व्यक्ति-विवेक का अर्थ करते हुए व्यक्ति को व्यञ्जना कहा है। यही व्यञ्जना उस व्यक्ति चेतना या आत्मा की शक्ति है। ऊँचे स्तर पर यही शक्ति ब्रह्म की माया, सांख्य के पुरुष की प्रकृति अथवा प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के परम शिव की प्रतिभा है। वैयाकरणों की परा वाणी भी यही है। प्रस्तुत कारिका में 'व्यङ्क्तः' का विधेय व्यञ्जना वृत्ति है। आनन्दवर्धन ने इसके पहले प्रतीयमान अर्थ की ही स्थापना की थी—किन्तु उसका बोधक व्यापार कौन सा है—यह स्पष्ट नहीं किया था। ध्वनि-लक्षण की इस कारिका द्वारा पहली बार ध्वनिकार ने इस व्यापार का स्पष्टीकरण अथवा एक प्रकार से नामोल्लेख किया है। व्यक्तिविवेककार को इसी व्यञ्जनावृत्तिका खण्डन करना है। व्यञ्जना के ही विभूतिमय रूप का नाम ध्वनि है। ध्वनि शब्द व्यञ्जना के पूरे परिवार का भी एक समष्टिवाचक शब्द है। अभिनवगुप्त ने इस कारिका के 'सः' शब्द की व्याख्या में व्यञ्जना के पूर्ण परिवार का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनका भाष्य है—'स इति = अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननम् इति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया

ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।' कारिका में कहा गया—'वह ध्वनि है'। प्रश्न उठा वह कौन? अभिनव गुप्त कहते हैं वह अर्थ भी हो सकता शब्द भी और व्यापार भी। अर्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य और व्यङ्ग्य—इस लिए वाच्य भी ध्वनि हो सकता है और व्यङ्ग्य भी। अर्थ में वाच्यत्व शब्द के विना सम्भव नहीं, अतः शब्द भी ध्वनि हो सकता है। शब्द और दोनों प्रकार का अर्थ तीनों ही विना किसी व्यापार के प्रतीयमान अर्थ को नहीं बतला सकते अतः व्यापार भी 'ध्वनन' अर्थ में ध्वनि हो सकता है और सबके अन्त में जिस काव्य-भूमिका पर इन चारों का समन्वय होता उसे भी ध्वनि कहा जा सकता है।' वैयाकरण इस नीमांसा को व्युत्पत्ति द्वारा सिद्ध भी कर सकते हैं। कर्तृव्युत्पत्ति से 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस भङ्गी द्वारा शब्दार्थ और वाच्य अर्थ 'ध्वन्यत इति' इस भाव-व्युत्पत्ति से व्यङ्ग्यार्थ, 'ध्वन्यतेऽनेन इति' इस करण व्युत्पत्ति द्वारा व्यापार और 'ध्वन्यतेऽस्मिन्' व्युत्पत्ति द्वारा काव्य, सब में अकेला एक ध्वनि शब्द अन्वर्थ सिद्ध होता है। अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्—इस प्रतिज्ञा कारिका में महिमभट्ट ने 'सब प्रकार' शब्द से ध्वनि के इन्हीं पाँच प्रकारों का निर्देश किया है।

इस ध्वनि-लक्षण के विरोध में महिमभट्ट सबसे पहले अपनी मूल-मान्यता या 'प्रतिज्ञा' उपस्थित करते हैं—

एतच्च विविच्यमानमनुमानस्यैव सङ्गच्छते, नान्यस्य।

'किन्तु यह (लक्षण) विवेचना करने पर अनुमान में ही सङ्गत प्रतीत होता है और किसी में नहीं।'

विमर्श : 'ध्वनि' नाम से यह जो लक्षण किया गया है वस्तुतः वह प्रसिद्ध प्रमाणों की दृष्टि से देखा जाय तो अनुमान में अन्वित हो जाता है। अनुमान के अतिरिक्त कोई पदार्थ या प्रमाण मानकर उसमें इस लक्षण का अन्वय किया जाय यह आवश्यक नहीं।

आगे इस प्रतिज्ञा का समर्थन और अपने सिद्धान्त का उपपादन किया है। उपपादनार्थ महिमभट्ट ने जो भूमिका स्थिर की है उसमें (ध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाने में) विषय प्रतिपादन के अनेक प्रकार अपनाए गये हैं। पहला प्रकार ध्वनिलक्षण वाक्य के शब्दों में दोष दिखलाना है। वे इसी प्रकार की पृष्ठभूमि बनाते हुए आरम्भ करते हैं—

तथा हि–अर्थस्य तावदुपसर्जनीकृतात्मत्वमनुपादेयमेव। तस्यार्थान्तर-प्रतीत्यर्थमुपात्तस्य तद्व्यभिचाराभावात्। न ह्यग्न्यादिसिद्धौ धूमादिरुपादीय-मानो गुणतामतिवर्तते। तस्य तन्मात्रलक्षणत्वात्।

इस प्रकार पहले तो अर्थ का 'उपसर्जनीकृतात्मत्व' (विशेषण) ही (कारिका में) शब्दतः नहीं कहा जाना चाहिए। कारण कि वह (अर्थ) दूसरे (प्रतीयमान) अर्थ की प्रतीति के लिए गृहीत रहता है (अतः उसमें) उस (दूसरे अर्थ के प्रति) उपसर्जनीकृतात्मता का कभी भी अभाव नहीं रहता। कभी भी अग्नि आदि की सिद्धि के लिए अपनाए गए धूम आदि (अर्थ) गुणता (उपसर्जनीकृतात्मता, अप्रधानता) नहीं छोड़ते। क्योंकि उस (गुण स्वरूप) धूमादि की असाधारण विशेषता ही वह है।

तथा हि। **सम्भवव्यभिचाराभ्यां विशेषणविशेष्यभावो भवति, न केवलेन सम्भवेन उष्णोऽग्निरितिवत्, न केवलेन व्यभिचारेण शीतोऽग्निरितिवत्। नीलोत्पलादौ तु स्वरूपे सम्भवाद्रक्तोत्पलादि(ष्व)भावाच्च सम्भवव्यभिचारौ विद्येते इति भवत्येव विशेष-णविशेष्यभावः। अर्थस्य पुनरर्थान्तरप्रकाशनं प्रत्युपसर्जनीकृतात्मत्वव्यभिचारो नास्ति**

ततो न तस्य विशेषणत्वं घटते। नहीत्यादिनार्थान्तरप्रतीत्यर्थोपात्तस्यार्थस्य कृतात्मत्वव्यभिचाराभावं निदर्शयति। गुणताम् **उपसर्जनत्वम्।** तस्येति **गुणस्य** णत्वादि**ति। अन्यसिद्ध्यर्थमुपादीयमानत्वं गुणस्य लक्षणमित्यर्थः।**

'तथाहि' यहाँ से ध्वनि लक्षण के पदों में दोष दिखलाते हैं। इस क्रम से कर ध्वनि का अन्तर्भाव दिखलाना शुरू करते हैं। **तद्व्यभिचारस्य**=उप के व्यभिचार के अभाव से। वह अभाव इस प्रकार है—'संभव' और 'व ही हों तो (वाक्य में विशेषण देकर) विशेषणविशेष्यभाव बनाया जाता है। हो तो भी नहीं जैसे—'अग्नि उष्ण है' उसमें और केवल व्यभिचार हो तो भी न शीत है' इसमें। 'नील उत्पल (कमल) आदि में स्वयं (उत्पल) में (नीलगु होने से तथा रक्त उत्पल आदि में उसका अभाव होने से संभव और व्यभिचार विशेषणविशेष्यभाव होता है। जहाँ तक 'अर्थ' का संबंध है अर्थान्तर के द्योतन उपसर्जनीकृतात्मता का व्यभिचार (अभाव) नहीं है। इसलिए उसका विशेषणत्व :

'नहि अग्न्यादि०' इस वाक्य से अर्थान्तर की प्रतीति के लिए अपनाए गए अर्थ कृतात्मत्व के व्यभिचार के अभाव पर दृष्टान्त देते हैं। **गुणताम्**=उपसर्जनभाव-उ **तस्य**—गुण का। **तन्मात्रलक्षणत्वात्**=गुण (अप्रधान) का लक्षण है दूसरे के अपनाया जाना।

विमर्श: संस्कृत आचार्यों ने विशेषणवाचक शब्द का प्रयोग वहीं ठीक उसके बिना विशेषणीभूत अर्थ का ज्ञान सम्भव न हो। ऐसा अर्थ वह होता है ि यह ज्ञान रहता है कि वह किसी दूसरे अर्थ में नियमतः नहीं रहता। उदाहरणार्थ— या नीलेतर गुण। कमल में कौनसा रंग है ? यह नील, पीत आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा नहीं बतलाया जा सकता। जो अर्थ किसी दूसरे अर्थ में नियमतः रहता नहीं रहता—उसका विशेषण भाव शब्द द्वारा नहीं बतलाया जाता। उदाहरणा में नियमतः रहती है। अतः 'अग्नि उष्ण है' ऐसा कह कर उष्ण शब्द से उसका ज्ञ जाता। इसी प्रकार शीतता अग्नि में कभी भी नहीं रहती अतः उसका वाचक शीत विशेषण नहीं बन सकता। अतः 'आग शीत है' ऐसा भी नहीं कहा जा सकर उदाहरणों में अग्नि को उष्ण कहना व्यर्थ है, और शीत कहना विरुद्ध इस लिए दो कहने योग्य नहीं हैं। इसी प्रकार काव्य का वाच्यार्थ प्रतीयमान अर्थ के लि जाता है, इस लिए प्रतीयमान अर्थ नियमतः प्रधान होता है और वाच्यार्थ निय वाच्यार्थ में अप्रधानता का अभाव कभी नहीं रहता। इस लिए उसे अप्रधान-वाचक द्वारा कहना अनावश्यक है। वाच्यार्थ कैसे सदा अप्रधान रहता है यह आगे बतलायेंगे।

यहाँ 'अनुपादेयमेव' इस अंश में विधेयाविमर्श और क्रमभेद दोष हैं। उपादे विवक्षित है न कि अनुपादयेता का विधान। एतदर्थ उपादेय नहीं है—ऐसा कहना प्रकार 'एव' शब्द को अनुपादेय के पहले पढ़ना चाहिये।

व्यक्तिविवेककार ने शास्त्रीय भाषा का आदर्श उपस्थित किया है किन्तु स्वयं नहीं किया। उन्होंने सर्वनाम का अत्यधिक अव्यवस्थित प्रयोग किया है। यह सर्वत्र आती रहेगी। यहाँ 'तस्य तन्मात्रलक्षणत्वात्' में 'तस्य' का अर्थ उसके पहले पकार प्रधान रूप से कथित धूम होता है और तन्मात्र के 'तत्' का अर्थ 'अग्न्यादि

कथित अग्नि। किन्तु धूम का लक्षण उपसर्जनीकृतात्मत्व नहीं है। यह लक्षण है—'गुण' या 'अप्रधान पदार्थ' का धूम भी गुण है अतः धूम का गुणभाव अपनाकर उसी के लिए ग्रन्थकार ने 'तस्य' शब्द का प्रयोग किया। सर्वनाम बुद्धिस्थ वस्तु को बतलाते हैं। कभी-कभी वह साफ कह दी जाती है और कभी लपेट कर। प्रसंगानुरूप उसकी योजना कर लेनी चाहिए। सांख्यकारिका में 'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ' में 'तद्' का प्रयोग दुःखत्रय के लिए किया गया है। वह अभिघात में दबा हुआ है फिर भी बुद्धि विषय है, अतः उसको 'तत्' का परामर्श-विषय मान लिया जाता है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने ध्वनि-लक्षण में दोष दिखलाया। लक्षण में जब दोष आता है तो वह लक्षण नहीं माना जाता। निर्दोष लक्षण ही लक्षण होता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि के अतिरिक्त एक गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक भेद भी माना है। उसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण रहता है। अर्थात् वाच्यार्थ ही प्रधान रहता है। ध्वनि में वाच्यार्थ अप्रधान ही रहता है। प्रधानता केवल व्यङ्ग्यार्थ में रहती है। इसलिए गुणीभूत व्यङ्ग्य की व्यावृत्ति के लिए अर्थ के लिए ध्वनि-लक्षण में उपसर्जनीकृतात्मत्व यह विशेषण अपनाया गया। व्यक्तिविवेककार गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक भेद को बिलकुल नहीं मानते उसका उन्होंने आगे खण्डन किया है। उसी धारणा से वे यहाँ इस विशेषण की अनुपादेयता दरसाते हैं। आगे भी इसी का खण्डन करते हुए लिखते हैं–

यत् पुनरस्य क्वचित् समासोक्त्यादौ प्राधान्यमुच्यते तत् प्राकरणिकत्वापेक्षयैव। न प्रतीयमानापेक्षया। यथा—

'उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥

अत्र हि प्रतीयमानेनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् इति।

तदपेक्षया च तस्य लिङ्गत्वादुपसर्जनीभावाव्यभिचार एव।

और कहीं समासोक्ति आदि में जो इस (वाच्यार्थ) की प्रधानता बतलाई गई है वह उसकी प्राकरणिकता को लेकर, न कि प्रतीयमान अर्थ को लेकर। जैसे—

'रागभरे चन्द्र ने निशा के चञ्चलतारायुक्त मुख को इस प्रकार अपनाया कि राग के कारण सामने ही गिरे अन्धकार के पूरे वस्त्र को उस (निशा) ने भी न देखा।'

यहाँ प्रतीयमान अर्थ (वाच्यार्थ के) पीछे चलता है और वाच्यार्थ ही प्रधानरूप से प्रतीत होता है। कारण कि यहाँ वाक्य से निशा और शशी ही मुख्यरूप से प्रतीत होते हैं, नायक और नायिका के व्यवहारों का उनपर केवल समारोप रहता है।

विमर्श : यहाँ की पंक्तियाँ वस्तुतः ऐसी होनी चाहिए—'००० प्राधान्यमुच्यते यथा—उपोढरागे ००००० इति; तत् प्राकरणिकत्वापेक्षयैव, न प्रतीयमानापेक्षया। तदपेक्षया ००० एव।' व्याख्यान के अनुरोध से हमने ऊपर का अनुवाद किया है।

तत्प्राकरणिकत्वेति। **इह द्विविधं प्राधान्यं प्राकरणिकत्वस्वरूपं प्राधान्यं प्रतीयमानत्वस्वरूपं चेति। तत्र प्राकरणिकत्वस्वरूपं प्राधान्यं प्रतीयमानार्थप्रतीत्यर्थमुपात्तस्यार्थस्य समासोक्त्यादौ कामं विद्यते। नतु तदिह लक्षण उपयुज्यते। प्रत्याय्यप्रत्यायकभावजी-**

वितं हि ध्वनिलक्षणम्। तत्र प्रत्याय्यस्योपेयत्वात् प्राधान्यं, प्रत्यायकस्य पुनरुपायत्वाद्-प्राधान्यम्। एवञ्च प्राकरणिकत्वसमुत्थापितं भवदपि तस्य प्राधान्यं ध्वनिलक्षणे नोपयुज्यत इति नोपसर्जनीकृतात्मत्वस्य तद्व्यावर्त्यं भवतीति न तद् विशेषणमुपादेयम्। अत्र च वाच्यस्यैव प्राकरणिकत्वादन्यस्य च प्राकरणिकमपेक्ष्येत्यर्थो व्याख्येयः। एवं प्रतीयमानापेक्षयेति न प्रतियोग्यन्तरमपेक्षणीयम्, अपि तु पूर्ववत् स्वापेक्षया व्याख्येयम्। भावप्रत्ययपाठः पुनरत्रानार्षः। अत्र हीत्यादिना वाक्यार्थत्वादित्यन्तेन प्राकरणिकत्वनिमित्तं प्राधान्यं समर्थयते।

तदपेक्षयेत्यादिना तु प्रतीयमाननिमित्तम्। समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोरिति ध्वनिकारं प्रति सोल्लासं कथितम्। नायिकानायकव्यवहारयोरिति ध्वनिकारपाठ एकशेषाभावसमर्थनकल्पना स्यात्।

प्रधानत्व दो प्रकार का होता है एक प्राकरणिकत्वस्वरूप (प्राधान्य) और दूसरा प्रतीयमानत्वस्वरूप (प्राधान्य)। इनमें जो प्राकरणिकत्वरूप प्राधान्य है वह प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए अपनाए गए (वाच्य) अर्थ में समासोक्ति आदि स्थलों में भलेही हो, किन्तु वह यहाँ (ध्वनि) लक्षण में उपयोगी नहीं है। प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव की प्रधानता ध्वनि का लक्षण है। प्रत्याय्य और प्रत्यायक में जो प्रत्याय्य है वह प्रधान है कारण कि वह उपेय (साध्य) है और जो प्रत्यायक है वह अप्रधान, कारण कि वह उपाय (साधन) है। इस प्रकार प्राकरणिकत्वजनित प्राधान्य -उस (वाच्य) में रहते हुए भी ध्वनिलक्षण में उपयोगी नहीं। इसलिए उपसर्जनीकृतात्मत्व से उस प्राधान्य का व्यावर्तन संगत नहीं। इसलिए वह (उपसर्जनीकृतात्मत्व) विशेषण नहीं कहा जाना चाहिये। यहाँ (ध्वनिलक्षण में) प्राकरणिकत्व-जनित प्रधानता केवल वाच्य में है कारण कि केवल वही प्राकरणिक है। दूसरे (प्रतीयमान) में जो प्रधानता है वह (अप्रधान) प्राकरणिक अर्थ की अपेक्षा। इस प्रकार 'प्रतीयमान की अपेक्षा (प्राधान्य नहीं है) ऐसा जो कहा गया है उसमें प्रतियोगी (जिस अप्रधान की अपेक्षा कोई अर्थ प्रधान होता है) रूप में (प्रतीयमानत्व आदि) किसी दूसरे अर्थ को अपनाना आवश्यक नहीं। स्वयं प्रतीयमान अर्थ ही उसका प्रतियोगी होता है। यहाँ (प्रतीयमानत्वापेक्षया) इस प्रकार भावप्रत्यय वाला पाठ मिलता है। वह ठीक नहीं है। **'अत्र हि'** यहाँ शुरू कर 'वाक्यार्थत्वात्' यहाँ तक प्राकरणिकत्वजनित प्रधानता का स्पष्टीकरण करते हैं 'तदपेक्षया' यहाँ से प्रतीयमानत्व-जनित प्रधानता का स्पष्टीकरण करेंगे। **समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोः**—यह ध्वनिकार के प्रति फबती कसते हुए कहा गया। 'नायिकानायकव्यवहारयोः' इस ध्वनिकार के पाठ में एकशेष के अभाव के समर्थन की कल्पना करनी होगी।

विमर्शः समासोक्ति-'उपोढरागेण०' में समासोक्ति अलंकार है। समासोक्ति वहाँ होती है जहाँ विशेष्य एकार्थक ही हों और केवल प्राकरणिक हों। विशेषण द्व्यर्थक हों अतः 'अप्राकरणिक अर्थ का भी ज्ञान कराते हों। 'उपोढरागेण' में निशा और शशी दोनों शब्द केवल एक-एक अर्थ के वाचक हैं। वे दोनों प्राकरणिक भी हैं। उनके विशेषण–राग, तारक, मुख, तिमिरांशुक द्व्यर्थक हैं। ये निशा के स्त्रीलिङ्ग तथा शशी के पुंलिङ्ग की सहायता से स्त्री और पुरुष के अनुराग आँख की पुतली चेहरा तथा तिमिर के समान अंशुक अर्थ का ज्ञान कराते हैं। उससे स्त्री और पुरुष का व्यवहार भी झलक उठता है। यहाँ सोचना है कि निशा और शशी का व्यवहार प्रधान है या स्त्री या पुरुष का। इसके पूर्व प्रधानत्व-अप्रधानत्व के निर्णय की कसौटी बनानी होगी।

प्राधान्य-अप्राधान्य—इस विषय में ध्वनिकार और व्यक्तिविवेककार में मतभेद है। दोनों ही प्राधान्य-अप्राधान्य का मापदण्ड चमत्कारातिशय को मानते हैं। जहाँ प्रतीयमान अर्थ में चमत्कार की अधिकता हो वहाँ प्रतीयमान अर्थ प्रधान होता है। इसके विरुद्ध जहाँ वाच्यार्थ में चमत्कार की अधिकता हो वहाँ वाच्य प्रधान माना जाता है। वाच्य में चमत्कार की अधिकता नहीं यदि प्रतीयमानार्थजनित चमत्कार की बराबरी भी हो तो उसे ध्वनिकार प्रधान मान लेते हैं। ध्वनिकार ने चमत्कारगत उत्कर्षापकर्ष का निर्णायक सहृदय को माना है और सहृदयता को प्रकरण आदि के अधीन। अर्थात् वे प्रकरणादि द्वारा सहृदय को जिस अर्थ में अधिक चमत्कार अनुभव हो वही अर्थ प्रधान मानते हैं। व्यक्तिविवेककार इस कसौटी को नहीं मानते। वे एकमात्र साध्यसाधक भाव को प्राधान्याप्राधान्य का निर्णायक मानते हैं। उनके मत में साध्य प्रधान है, साधक अप्रधान। एतदर्थ उन्होंने अग्नि और धुएँ का उदाहरण दिया है। अग्नि साध्य है अतः वह प्रधान है। धुआँ साधन है अतः अप्रधान काव्य में चमत्कार को भी वे इसी कसौटी पर घटा-बढ़ा मानते हैं। प्रतीयमान साध्य होता है अतः वह सदैव प्रधान रहता है। वाच्य साधन रहता है अतः सदैव अप्रधान। चमत्कार केवल प्रतीयमान से ही होता है। वाच्य बिना प्रतीयमान के काव्यार्थ नहीं बनता।

इस प्रकार 'उपोढरागेण' पद्य में ध्वनिकार प्रकरण के अनुसार निशा और शशी को प्रधान मानते हैं। स्त्री और पुरुष का प्रतीयमान व्यवहार उन्हीं के पीछे लगा प्रतीत होता है।

व्यक्तिविवेककार साध्य होने से स्त्री-पुरुष व्यवहार को प्रधान मानते हैं। और साधन होने से निशा-शशी के व्यवहार को अप्रधान। प्राकरणिक होने से जो प्रधानता आती है व्यक्तिविवेककार उसे काव्योपयोगी नहीं मानते। क्योंकि प्राकरणिकता से चमत्कार में उत्कर्ष नहीं आता। उसमें उत्कर्ष प्रतीयमान होने से आता है। और चमत्कार ही काव्य का प्राण है। इस प्रकार जब गुणीभूतव्यङ्ग्य स्थल में भी वाच्यार्थ अप्रधान ही रहा तब ध्वनिलक्षण में उसके लिए उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण देना आवश्यक नहीं।

यहाँ नायिका-नायक में एकशेष द्वारा 'नायक' मात्र प्रयुक्त होना चाहिए। किन्तु ध्वनिकार ने वैसा प्रयोग नहीं किया, उन्होंने लिखा है—'इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते, समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात्'। व्यक्तिविवेककार ने यह पंक्ति ऐसी ही उद्धृत की है केवल व्यङ्ग्य को बदल कर प्रतीयमान कर दिया है। वह उन्हें मान्य नहीं है। आगे भी वे ऐसा ही करते चले हैं। लोचनकार ने एकशेष न करने का अभिप्राय इस प्रकार व्यक्त किया है—'नायिकायाः नायके यो व्यवहारः स निशायां समारोपितः, नायिकायां नायकस्य यो व्यवहारः स शशिनि समारोपित इति व्याख्याने नैकशेषप्रसङ्गः' अर्थात् नायिका का जो व्यवहार नायक के साथ हुआ उसका आरोप निशा पर, और नायक का जो व्यवहार नायिका के साथ हुआ उसका आरोप शशी के ऊपर–ऐसी व्याख्या करने पर एकशेष की आवश्यकता नहीं रहती।

व्यक्तिविवेक-व्याख्यान से ज्ञात होता है कि उसके निर्माणकाल तक व्यक्तिविवेक में कई पाठभेद हो चुके थे। मूल पुस्तक में 'प्रतीयमानापेक्षया' की जगह कहीं 'प्रतीयमानत्वापेक्षया' पाठ था। उसका व्याख्यान में खंडन है। उसमें 'प्रतीयमानापेक्षया' यही पाठ ठीक समझते हैं। वहाँ की पंक्तियाँ दुरूह हैं।

व्यभिचारेऽपि वैफल्यादनुपादेयमेवैतद्, गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपि काव्ये चारुत्वप्रकर्षदर्शनादिति वक्ष्यते।

उक्तं गुणीकृतात्मत्वं यदर्थस्य विशेषणम्।
गमकत्वान्न तत् तस्य युक्तमव्यभिचारतः॥ ७॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

और उस (प्रतीयमान अर्थ) को लेकर तो उस (वाच्यार्थ) में उपसर्जनीभाव का व्यभिचार (अयोग) ही नहीं है कारण कि वाच्यार्थ प्रतीयमानार्थ का ज्ञापक हेतु है। व्यभिचार हो तो भी वह (उपसर्जनत्व) शब्दतः कथनीय नहीं है। उसका कोई फल नहीं। कारण कि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में भी चारुत्व का प्रकर्ष देखा जाता है। यह आगे कहा जायगा। इस प्रकार—

ध्वनिलक्षण में अर्थ का जो 'गुणीकृतात्मत्व' यह विशेषण कहा गया है, वह ठीक नहीं है। वह प्रतीयमानार्थ का ज्ञापक है अतः उसमें उस (गुणीभाव) का व्यभिचार नहीं रहता॥ ७॥

व्यभिचारेऽपीति। **वाच्यस्य प्रतीयमानापेक्षया चारुत्वनिमित्तं प्राधान्यं व्यभिचारः। तत्र सत्यपि तस्य व्यावृत्त्यर्थं विशेषणमयुक्तं निष्फलत्वाद्, यतो यत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वं तदिह व्यावर्तनीयम्। नच तत्र वाच्यस्यैव चारुत्वमिति नियमः व्यङ्ग्यस्यापि प्रकृष्टचारुत्वदर्शनात्।** एतदिति **उपसर्जनीकृतात्मत्वम्।** वक्ष्यत **इति। काव्यवैशिष्ट्यनिराकरणप्रस्तावे। गमकत्वेनोपायत्वादुपसर्जनीकृतात्मत्वव्यभिचाराभावः। तदेवमव्यभिचाराभावः। तदेवमव्यभिचारादर्थस्य विशेषणमनुपपन्नम्॥**

अत्र व्यक्तिवादिनोऽयमभिप्रायः—यदेतदर्थस्य गुणीकृतात्मत्वं तदर्थान्तरप्रत्यायकत्वेनोपायत्वादप्राधान्यं, प्रयीयमानापेक्षया अचारुत्वं, विश्रान्तत्वेनार्थान्तरानुपकार्यत्वं चेति त्रयः पक्षाः सम्भवन्ति। तत्राद्यं पक्षद्वयमनूद्य कामं दूषितम्। तथा हि। वाच्यस्यार्थस्य प्रतीयमानापेक्षया अप्राधान्यमुपायत्वादव्यभिचारि 'यो हि यदर्थमुपादीयत' इत्याद्युक्तेः। अचारुत्वेऽस्य पुनर्व्यवच्छेद्यं नास्ति, गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपि वाच्यस्याचारुत्वदर्शनात्। तृतीयस्तु पक्षो गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरासाय सिद्धान्तितः। तथा हि। समासोक्त्यादौ प्रतीयमानोऽर्थो वाच्यार्थौपयिकोऽपि न स्वात्मनि विश्रान्तिं भजते, प्रत्यावृत्त्य वाच्यार्थोपस्काराय प्रवृत्तत्वात्। एतच्चोक्तं 'समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वादि'ति। ततश्च गुणीभूतव्यङ्ग्ये वाच्यस्य स्वविश्रान्तत्वेनार्थान्तरोपकार्यत्वं व्यावर्त्यमिति विशेषणमुपपन्नम्।

गुणीकृतात्मतार्थस्य न प्रतीतावुपायता। नाचारुत्वमपि त्वर्थैर्बौद्धैरनुपकार्यता॥ १॥

इति संग्रहश्लोकः।

व्यभिचार का अभिप्राय है वाच्य में चारुत्वाधिक्य मान कर प्रतीयमान की अपेक्षा प्रधानता मानना। ऐसा होने पर भी उसकी व्यावृत्ति के लिए उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण देना ठीक नहीं। कारण कि उससे व्यावृत्ति नहीं होती। व्यावृत्ति न होने का कारण यह है कि व्यावृत्त वह गुणीभूतव्यङ्ग्य हो सकता है जिसमें प्रतीयमान की अपेक्षा वाच्य का चारुत्व प्रधान है। किन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य में वाच्य का ही चारुत्व प्रधान हो ऐसा नियम नहीं है। वहाँ व्यङ्ग्य का भी चारुत्व प्रधान होता है। **एतद्** उपसर्जनीकृतात्मत्व। **वक्ष्यते** काव्य के वैशिष्ट्य के निराकरण के अवसर पर। गमक होने से उपाय हुआ। और इसीलिए उपसर्जनीकृतात्मत्व का व्यभिचार नहीं हुआ। तो इस प्रकार अव्यभिचार के कारण अर्थ का विशेषण नहीं बनता।

यहाँ ध्वनिवादी का अभिप्राय यह है—यह जो अर्थ की गुणीभूतता है उसके तीन अर्थ हो सकते हैं—१-दूसरे अर्थ की प्रतीति कराने में उपाय होने के कारण अप्रधानता। २-प्रतीयमान की अपेक्षा अचारुता और ३—निराकाङ्क्ष या अपने में पूर्ण होने के कारण दूसरे अर्थ द्वारा उपकार्य न होना। इनमें से प्रथम दो पक्षों को उद्धृत कर व्यक्तिविवेककार ने काफी दोषी ठहराया। जैसे—वाच्य अर्थ प्रतीयमान का उपाय होने से उसकी अपेक्षा सदा अप्रधान है—जैसा कि जो जिसके लिये ग्रहण किया जाता है—आदि ग्रन्थ द्वारा कहा गया है और अचारुत्व पक्ष में उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण का कोई व्यावर्त्य नहीं, इसलिए गुणीभूतव्यङ्ग्य स्थल में वाच्यचारुत्व देखा जाता है। तृतीय जो गुणीकृतात्मत्व पक्ष है वह अवश्य गुणीभूतव्यङ्ग्य की व्यावृत्ति के लिये सिद्धान्तित किया है। जैसे—समासोक्ति आदि में प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से प्रतीत होने पर भी अपने आप में निरपेक्ष या निराकाङ्क्ष नहीं रहता, इसीलिये वह लौट कर वाच्यार्थ का उपस्कार करता देखा जाता है। ध्वनिकार ने 'समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात्' द्वारा यही स्पष्ट किया है। इसलिए गुणीभूतव्यङ्ग्य में वाच्यार्थ अपने आप में पूर्ण रहता और प्रतीयमान अर्थ द्वारा उपस्कृत किया जाता है—इसे ध्वनिलक्षण से दूर करने के लिए 'उपसर्जनीकृतात्मत्व' अर्थ विशेषण ठीक ही है। रुय्यक ने अपना यह मत ताल ठोंक कर साधा और फिर ग्रन्थकार के समान ही संग्रहश्लोक द्वारा स्थिर भी किया है—अर्थ की गुणीकृतात्मता का अभिप्राय प्रतीति का उपाय होना नहीं, और न अचारुत्व ही, अपितु प्रतीत अर्थों की अनुपकार्यता है।

विमर्श: व्यक्तिविवेककार ने यह सिद्ध कर दिया कि वाच्य में जो प्रधानता प्राकरणिकत्व द्वारा आती है वह ध्वनिलक्षण में अग्राह्य है। इसके बाद यह सिद्ध करते हैं कि प्रतीयमान की अपेक्षा उसमें प्रधानता रहती ही नहीं है। उनका अभिप्राय है कि जो साधन या हेतु होता है वह साध्य के प्रति सदा गुणीभूत रहता है। वाच्यार्थ प्रतीयमान के प्रति हेतु है, अतः वह गुणीभूत ही है। उसकी इस गुणीभूतता का उसमें कभी भी अभाव नहीं रहता। अतः अग्नि की उष्णता की प्रतीति के लिए उष्ण शब्द के समान उसकी प्रतीति के लिए उपसर्जनीकृतात्मत्व शब्द नहीं दिया जाना चाहिये। इस प्रकार न प्राकरणिकत्व की दृष्टि से वाच्य का प्राधान्य उपादेय है और न प्रतीयमान की अपेक्षा ही। चमत्कार की अपेक्षा यदि वाच्य को प्रतीयमान से प्रधान मान उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण की सार्थकता सिद्ध करना हो तो वह भी सिद्ध नहीं होती, कारण कि गुणीभूतव्यङ्ग्य में ही वाच्य को प्रतीयमान से अधिक चमत्कारी अतः प्रधान माना जा सकता है, परन्तु उसमें भी प्रतीयमान ही अधिक चमत्कारी होता है, वाच्य नहीं। इस तथ्य का प्रतिपादन ग्रन्थकार आगे करेंगे।

व्याख्याकार ने-प्रतीयमान में भी चारुत्व-प्रकर्ष देखा जाता है—ऐसा लिखा है। उससे सिद्ध होता है कि वाच्य में भी वह रहता है। किन्तु ग्रन्थकार ऐसा नहीं मानते।

इस प्रकार प्राधान्य के निर्णायक तत्त्व तीन माने गए—१. प्राकरणिकत्व, २. साध्यसाधनभाव, ३. चारुत्वोत्कर्ष। तीनों में ध्वनिकार और व्यक्तिविवेककार दोनों को दो-दो मान्य हैं। ध्वनिकार प्राकरणिकत्व और चारुत्वोत्कर्ष को मानते हैं और व्यक्तिविवेककार साध्यसाधनभाव तथा चारुत्वोत्कर्ष को। इससे सिद्ध होता है कि प्राधान्य का निर्णायक वस्तुतः चारुत्वोत्कर्ष है। प्राकरणिकत्व और साध्यसाधनभाव—उस चारुत्वोत्कर्ष के निर्णायक हैं। प्राकरणिकत्व ध्वनिकाराभिमत है और साध्यसाधनभाव-व्यक्तिविवेककाराभिमत। चारुत्वोत्कर्ष दोनों को अभिमत है।

व्यक्तिविवेक के व्याख्यान में वाच्य की विश्रान्ति और प्रतीयमानार्थ द्वारा उसका उपकार-

गुणीभूतव्यङ्ग्य में वाच्यप्राधान्य का हेतु बतलाया गया है। पुष्प की सौरभ लौट कर पुष्प का उपकार करने नहीं आती। आनन्द सौरभ में ही अधिक रहता है, पुष्प में कम। अतः प्रतीयमान अर्थ वस्तुतः चारुत्वाधायक और प्रधान होता है।

यहाँ तक बतलाया कि अर्थ का तो केवल विशेषण अनुपादेय है। अब बतलाते हैं कि 'शब्द' पूरा का पूरा अनुपादेय है, वह और उसी के समान उसका विशेषण उपसर्जनीकृतार्थत्व भी।

शब्द-खण्डन

शब्दः पुनरनुपादेय एव। तस्य स्वार्थाभिधानमन्तरेण व्यापारान्तरानुपपत्तेरुपपादयिष्यमाणत्वात्।

'शब्द भी सर्वात्मना उपादेय नहीं है। कारण कि यह आगे बतलाया जाने वाला है कि उसका अपने अर्थ के अभिधान (अभिधावृत्ति से कथन) के अतिरिक्त दूसरा कोई व्यापार नहीं बनता।'

विमर्श : महिमभट्ट शब्द में एक अभिधामात्र मानते हैं। लक्षणा और व्यञ्जना नहीं। अभिधा केवल अपने शक्यार्थ का बोध कराती है। अतः काव्य में शब्द प्रतीयमान के लिए उपयोगी नहीं होता। इस स्थिति में ध्वनिलक्षण में उसका उपादान आवश्यक नहीं।

न च तस्यानुकरणव्यतिरेकेणोपसर्जनीकृतार्थत्वं सम्भवति यथा—

'तं कर्णमूलमागत्य पलितच्छद्मना जरा।
कैकेयीशङ्कयेवाह रामे श्रीर्न्यस्यतामिति॥'

कुतस्तर्हि तदर्थावगतिः। अनुकार्यादिति ब्रूमः तस्य सार्थकनिरर्थकत्वभेदेन द्वैविध्यतः। न त्वनुकरणात्, तस्येतिना व्यवच्छिन्नस्य स्वरूपमात्रेऽवस्थानात्।

उसका जो उपसर्जनीकृतार्थत्व है वह भी अनुकरण को छोड़कर और कहीं नहीं बनता। जैसे बालों की सफेदी के बहाने जरावस्था ने कान के पास आकर दशरथ से-'राम को राज्यश्री सौंप दो' ऐसा मानो कैकेयी की शंका से कहा तो फिर अर्थ का ज्ञान कैसे (किससे) होता है? हमारी मान्यता है कि वह अनुकार्य (शब्द) से होता है। वह (अनुकार्य) दो प्रकार का होता है सार्थक तथा निरर्थक। न कि अनुकरण (शब्द) से। वह तो इति शब्द द्वारा छुटकर केवल अपने रूप में ही समाप्त हो जाता है।

शब्दस्वरूपस्यानुपादेयत्वमुक्तम्। तद्विशेषणस्यापि तदाह–न चेति। अनुकरणे शब्दप्राधान्याद्विद्यमानोऽप्यर्थं उपसर्जनीभूत एव। तदर्थावगतिरिति रामे श्रीन्यसनलक्षणव्यवहार्यार्थावगतिरित्यर्थः। अनुकार्यादिति जरासम्बद्धाद्वचनादित्यर्थः। द्विविधो ह्यर्थोऽनुकार्यशब्दरूपः तत्प्रतिपादितव्यवहार्यार्थरूपश्च। तत्राद्योऽनुकरणशब्दस्यार्थः। तत्रानुकरणशब्दाद्यद्यपि न व्यवहार्यार्थप्रतीतिस्तथाप्यनुकार्यशब्दस्तदर्थं प्रत्याययेदित्यर्थः। सार्थकत्वं चानुकार्यस्य यथा–'हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मित' मित्यादौ, निरर्थकत्वं यथा–'दात्यूहव्यूहकेलीकलितकुहकुहारावकान्ता वनान्ताः' इत्यादौ।

शब्दस्वरूप की अनुपादेयता बतलाई अब उसके विशेषण की भी अनुपादेयता बतलाते हैं—न च इस प्रकार। अनुकरण में शब्द की प्रधानता रहती है, अतः उपस्थित भी अर्थ अप्रधान ही रहता है। **तदर्थावगति**—राम पर श्रीविन्यास (राज्यश्री सौंपना) रूपी जो करणीय अर्थ उसका ज्ञान। **अनुकार्य**—जरा से सम्बन्धित अर्थ से। अर्थ दो प्रकार का होता

है, अनुकार्य शब्दरूप और उससे प्रतिपादित व्यवहारयोग्य अर्थ। दोनों में प्रधान अनुकरण शब्द का अर्थ होता है। अनुकरण शब्द से व्यवहार योग्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती तथापि जिस शब्द का अनुकरण किया जाता है वह (अनुकार्य) तो उसका ज्ञान करा ही सकता है।

अनुकार्य की सार्थकता 'अहा ! हिमाचल के हाथ बहुत ठंडे हैं' ऐसा मुस्कुराहट के साथ बोल उठे (शंकर आपकी रक्षा करें। यह विवाह से पाणिग्रहण के समय सात्त्विकभाव को छिपाने के लिये शंकरजी ने कहा। काव्य-प्रकाश में यह पद्य पूरा है।) इत्यादि में देखी जाती है, और निरर्थकता 'दात्यूह पक्षियों के समुदाय की क्रीड़ा से उत्पन्न 'कलकल' ध्वनि युक्त जंगल यहाँ।

विमर्श : ध्वनिलक्षण में शब्द का उपादान नहीं किया जाय—यह बताया जा चुका है। गन्थकार अब यह कहते हैं कि शब्द का विशेषण-'उपसर्जनीकृतार्थत्व' भी न कहा जाय। कारण यह बताते हैं कि शब्द का अर्थ शब्द की अपेक्षा गौण केवल एक स्थिति में होता है वह है शब्द का अनुकरण। अर्थात् किसी के कहे शब्दों का उसी प्रकार उच्चारण में जो उच्चारणात्मक शब्द हैं वे ही प्रधान होते हैं। वक्ता का तात्पर्य वहाँ उस उच्चारण द्वारा पूर्वोच्चारित शब्द का अनुकरण करना मात्र रहता है। अर्थज्ञान नहीं। इसका उदाहरण—कालिदास के रघुवंश के द्वादश सर्ग से दिया-राजा दशरथ के कान के पास के बाल भी पक गए। यह जरावस्था के आगमन का लक्षण है। कवि कहता है कान के पास पके बालों के वेष में छिपकर आई जरा ने राजा दशरथ से कहा—'राम को राज्य दे दो।' यहाँ कवि 'राम को राज्य दे दो' यह जरा द्वारा कथित शब्दों का उच्चारण कर रहा है। कवि के शब्द जराद्वारा उच्चारित शब्दों का अनुकरण हैं। जराद्वारा कथित शब्द अनुकार्य है। यहाँ अनुकरण शब्दों का अर्थ केवल अनुकार्य शब्द है। इस तरह 'राम को राज देना' यह अर्थ अप्रधान है। ध्वनिलक्षण में ऐसी स्थिति नहीं है। वहाँ जिस शब्द का उपादान किया गया है वह शब्द अनुकरणात्मक ही नहीं है। अतः उसका अर्थ उसकी अपेक्षा गौण नहीं हो सकता फलतः उसका विशेषण—उपसर्जनीकृतार्थत्व' व्यर्थ है।

यहाँ ग्रन्थकार ने एक प्रासंगिक बात और कही। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि यदि अनुकरणात्मक शब्दों से अनुकार्य शब्द मात्र की प्रतीति होती है तो फिर अर्थ का ज्ञान कैसे होता है। उस पर उत्तर दिया—अर्थ की प्रतीति अनुकरणात्मक शब्दों से उपस्थित अनुकार्य शब्दों द्वारा होती है। अनुकरणात्मक शब्द 'इति' आदि शब्दों से घिरकर अपने स्वरूप में ही नियमित रहते आते हैं, जैसा कि 'न्यस्यतामिति' से स्पष्ट है।

अन्यस्य तूपसर्जनीभावाव्यभिचार एव, तस्य तदर्थमुपादानतः; यो हि यदर्थमुपादीयते, नासौ तमेवोपसर्जनीकरोतीति युक्तं वक्तुम्। यथोदकाद्युपादानार्थमुपात्तो घटादिस्तदेवोदकादि। अन्यथा प्रधानेतरव्यवस्था निर्निबन्धनैव स्यात्। अत एव घटादिरेव प्रतिनिधीयते नोदकादीत्यसम्भवो लक्षणदोषः।

दूसरा जो (अनुकरण से भिन्न) शब्द है उसके अर्थ का तो उपसर्जनीभाव का अव्यभिचार ही है। कारण कि वह उसी (अर्थ) का ज्ञान कराने के लिए अपनाया जाता है। इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि वह (शब्द) उसी (अर्थ) को अप्रधान बना देता है। जैसे जल आदि लेने के लिए अपनाये गए घट आदि उसी जल आदि को (अप्रधान बना देता है ऐसा कहना उचित नहीं)। ऐसा न मानने पर प्रधान अप्रधान की व्यवस्था का कोई मानदण्ड ही न रहेगा।

इसी लिए प्रतिनिधित्व (दूसरी वस्तु द्वारा पहली वस्तु का स्थान ग्रहण कर कार्य करना) घट आदि के लिए ही होता है। जलादि के लिए नहीं। इस प्रकार लक्षण में असम्भव दोष आया।

अन्यस्यत्विति। **अनुकरणशब्दव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रतया वाचकस्य अनुकार्यशब्दस्य च।** उपसर्जनीभावाव्यभिचार एवेति। **वाच्यं प्रतीति शेषः। ननु शब्दाभिप्रायेणोपसर्जनीकृतार्थत्वं प्रकृतम्। शब्दस्य स्वरूपेणोपसर्जनीभावः किन्निरूपितः। सत्यम्। अर्थस्य तावच्छब्दं प्रत्युपसर्जनीभावासम्भवः प्रकृतः। स एव शब्दस्यार्थं प्रत्युपसर्जनीभावाव्यभिचारेण प्रकाश्यते। य एव ह्यर्थस्य शब्दं प्रत्युपसर्जनीभावाभावः स एव शब्दस्योपसर्जनीभावाव्यभिचारस्तयोः परस्परापेक्षया गुणप्रधानभावस्य व्यवस्थितत्वात्। ततश्च शब्दापेक्षयार्थस्य प्राधान्याच्छब्दस्य गुणीभूतार्थत्वमसम्भवि।** अयमत्र पिण्डार्थः—**शब्दस्य गुणीभूतार्थत्वं स्वार्थापेक्षया प्रतीयमानापेक्षया चेति द्वैतम्। तत्र स्वार्थापेक्षयासम्भव उक्तः। प्रतीयमानापेक्षया पुनरर्थन्यायेनाव्यभिचारो योजनीयः,** यथानन्तरमेव वक्ष्यते 'नोदकादीति'। **यथाहुः—'गुणाः प्रतिनीधीयन्ते घटादीनां न जातयः' इति। ननु मुख्यसदृशः प्रतिनिधिरित्युच्यते। मुख्यं च प्रधानम्। एवञ्च कथमुच्यते प्रधानस्य न प्रतिनिधिरिति। सत्यम्। प्रतिनिधीयमानोऽमुख्यः एव भवति केवलं मुख्यामुख्यानां प्रतिनिध्यर्हाणाममुख्य एव प्रतिनिधीयते न मुख्यः प्रधानत्वादित्युक्तं** नोदकादीति।

अनुकरण शब्द से भिन्न स्वतन्त्ररूप से वाचक अनुकार्य शब्द का। उपसर्जनी—अर्थात् वाच्य के प्रति। शंका—यहाँ जो शब्द के प्रति अर्थ का अप्रधानता का प्रकरण है इसमें शब्द की शब्द के प्रति अप्रधानता का निरूपण क्यों किया? उत्तर—ठीक है। यहाँ पहले शब्द के प्रति अर्थ की अप्रधानता का संभव न होना बतलाया जा रहा है। यह यहाँ अर्थ के प्रति शब्द की अप्रधानता में अप्रधानता के अव्यभिचार (व्यभिचार = अभाव, अव्यभिचार अभावाभाव अर्थात् नित्य अस्तित्व) से बतलाई गई। जो शब्द के प्रति अर्थ में उपसर्जनीभाव (अप्रधानता) का अभाव है वही शब्द में (अर्थ के प्रति) अप्रधानता का अव्यभिचार है। कारण कि उन दोनों (शब्द और अर्थ) का प्रधान-अप्रधानभाव एक दूसरे को लेकर ही होता है। यहाँ निष्कर्ष यह है कि शब्द के अर्थ की अप्रधानता दो प्रकार से होती है अपनी अपेक्षा तथा प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा। इनमें से अपनी अपेक्षा असम्भव बतलाया। प्रतीयमान की अपेक्षा उसी प्रकार व्यभिचाराभाव बतलाया जा सकता है जिस प्रकार वाच्यार्थ में। जैसा कि अभी आगे कहेंगे—'जलादि नहीं'। जैसा कि कहा है—घट आदि के गुण ही प्रतिनिहित होते हैं जाति नहीं।

शंका—प्रतिनिधि मुख्य के समान अर्थ ही माना जाता है। मुख्य होता है प्रधान। इसलिए कैसे कहते हैं कि प्रधान का प्रतिनिधि नहीं होता। उत्तर—ठीक है। जो प्रतिनिधि बनाया जाता है वह अप्रधान ही होता है। केवल प्रतिनिधि के योग्य मुख्य और अमुख्य में से अमुख्य ही प्रतिनिहित होता है, मुख्य नहीं। कारण कि वह प्रधान होता है। इसी तथ्य को 'नोदकादि' द्वारा स्पष्ट किया।

विमर्श : अनुकरणात्मक शब्द में प्रधानता बतलाई जा चुकी है। उससे भिन्न जो शब्द अनुकार्यरूप होते हैं—जिन्हें सामान्यतः वाचक शब्द कहा जा सकता है उनमें अपने अर्थ की अपेक्षा प्रधानता का सर्वथा अभाव रहता है। यहाँ प्रधानता और अप्रधानता का मापक साध्यसाधनभाव है। शब्द अर्थ ज्ञान का साधन होता है अतः वह अप्रधान ही रहता है। प्रधान होता है साध्यभूत अर्थ ही। इसे दृष्टान्त द्वारा भी स्पष्ट किया। जैसे घड़ा जल के लिए अपनाया जाता है। वह जल लाने का साधन है। अतः जल उद्देश्यभूत प्रधान वस्तु है। घड़ा उसकी अपेक्षा अप्रधान। घड़े की अप्रधानता का एक लक्षण यह भी है कि उसकी जगह लोटा, कमण्डल आदि और किसी

पात्र का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु जल की जगह किसी को नहीं अपनाया जा सकता। घड़े की जगह आये अन्य पात्र उसके प्रतिनिधि कहलायेंगे।

इसलिए जिस प्रकार साधनभूत घड़ा साध्यभूत जल की अपेक्षा प्रधान नहीं कहा जा सकता वैसे ही साधनभूत शब्द साध्यभूत अपने अर्थ की अपेक्षा प्रधान नहीं कहा जा सकता। ऐसा न मानने पर प्रधान-अप्रधानभाव की व्यवस्था ही उच्छिन्न हो सकती है। जब शब्द में अपने अर्थ के प्रति अप्रधानता रहती है तब उसमें उपसर्जनीकृतस्वार्थत्व विशेषण का होना सम्भव नहीं। यह ध्वनिलक्षण में एकांशगत असम्भव दोष हुआ। लक्ष्य में लक्षण का सर्वात्मना अनन्वय असम्भव दोष माना जाता है—जैसे 'अग्निः शीतः' कहने पर अग्नि में शीत का।

व्याख्यान में—शब्दस्य गुणीभूतार्थत्वं स्वार्थापेक्षया···और तत्र स्वार्थापेक्षया···में अर्थ शब्द नहीं चाहिए।

व्यभिचारसम्भवयोरपि वा यत् स्वार्थयोरुपसर्जनीकृतत्ववचनं तत् पुनरुक्तं, तयोरर्थान्तराभिव्यक्त्यर्थमुपात्तयोस्सामर्थ्यादेव तदवगतेरित्युक्तम्। न च स्वरूपमात्रानुवादफलमेतदिति शक्यं वक्तुं तस्य पुनरुक्तिप्रकारत्वोपपादनतः।

व्यभिचार और संभव होने पर भी शब्द और अर्थ को जो उपसर्जनीकृत कहा गया है वह पुनरुक्त है। उनमें इसका ज्ञान स्वतः हो जाता है कारण कि वे अपनाए ही जाते हैं प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान कराने के लिए। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तुस्थिति का कथन करने के लिए अपनाए गए हैं, कारण कि उसी को आगे पुनरुक्ति बतलाया गया है।

व्यभिचारसम्भवयोरपीति। **प्रौढत्वादयमभ्युपगमवादः। अर्थाभिप्रायेण व्यभिचारः, गुणीभूतव्यङ्ग्ये प्रतीयमानापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वाभ्युपगमात्। शब्दाभिप्रायेण सम्भवः अर्थान्तरापेक्षया शब्दस्य गुणीकृतार्थत्वात्।** स्वार्थयोरिति **स्वस्यार्थस्य च।** तदवगतेरिति **उपसर्जनीकृतत्वावगतेः।** तस्येति **स्वरूपमात्रानुवादस्य।**

और कोई अधिक समर्थ तर्क होने से ग्रन्थकार यहाँ खण्डित बात को थोड़ी देर के लिए स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ व्यभिचार अर्थ को लेकर (उसके उपसर्जनीकृतत्व का) माना गया है कारण कि गुणीभूतव्यंग्य में प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा वाकी में अधिक चारुत्व स्वीकार किया गया है। संभव शब्द को लेकर माना गया कारण कि शब्द का अपना अर्थ दूसरे अर्थ की अपेक्षा गौण हो जाता है **स्वार्थयोः**—अपना (शब्द का) तथा अर्थ का। **तदवगतेः**—उपसर्जनीकृतत्व का ज्ञान होने से। **तस्य**—स्वरूपमात्र के अनुवाद का।

विमर्श : पहले ध्वनिलक्षण में अर्थ और शब्द के उपसर्जनीकृतत्व का वास्तविक अव्यभिचार और असंभव दिखलाया गया। यहाँ ग्रन्थकार उसे स्वीकार कर दूसरे ढंग से ध्वनिलक्षण में दोष देता है। वह कहता है भले ही गुणीभूत व्यंग्य में वाच्यार्थ प्रतीयमान की अपेक्षा अधिक सुन्दर हो, और शब्द अपने अर्थ की अपेक्षा, तो भी उनकी यह प्रधानता यहाँ ध्वनि में नहीं रहती। यहाँ तो वे नित्य अप्रधान रहते हैं कारण कि प्रतीयमानार्थ की प्रतीति के लिए माध्यम या साधन रूप से अपनाए जाते हैं, अतः यहाँ अर्थ और शब्द दोनों में सदा ही अप्रधानता रहती है। उसका अभाव कभी भी नहीं रहता जिसके व्यावर्तन के लिए उनकी अप्रधानता को शब्द से कहा जाय। फलतः उनकी अप्रधानता स्वतः ज्ञात हो जाएगी। उसको शब्द से कहना ज्ञात तथ्य को शब्द से कहने के कारण होने वाले पुनरुक्ति दोष से दूषित है। इस प्रकार ध्वनिलक्षण में पुनरुक्ति दोष आता है। अब इस प्रसंग को समाप्त कर इसका निष्कर्ष देते हैं।

एवञ्च यत् 'सुवर्णपुष्पां पृथिवी'मित्याद्युदाहरणमुपदर्शितं, तदसिद्ध-साध्यसाधनधर्मानुगतमित्यवगन्तव्यम् ।

इस प्रकार 'सुवर्णं पुष्पाम्' इत्यादि जो (ध्वनि के) उदाहरण (ध्वनिकार ने) दिखलाए हैं उन सब में असिद्धसाध्यसाधनत्व दोष है। (उन सब में ध्वनिस्वरूप उस साध्य की सिद्धि का प्रयास किया गया है जो स्वयं असिद्ध है)

एवञ्चेति **व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो हि परमार्थतो गम्यगमकभावः। एवञ्च शब्दस्य व्यञ्जने 'सुवर्णपुष्पामि'त्यादौ शब्दस्य व्यापारान्तराभावात् साध्यसाधनाख्ययोर्धर्मयोरनुगमस्य सम्बन्धस्यासिद्धत्वाद्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो न सिद्ध इत्यर्थः।** व्यक्तिवादिनः पुनर्मते **शब्दस्य शक्त्यन्तरसमर्थनात् स्वरूपेणोपादानस्य सार्थकत्वं विवच्यते। तस्य चोपसर्जनीकृतार्थत्वं विशेषणं सप्रयोजनमेव तथा हि 'दृष्ट्या केशव ! गोपरागहृदया' इत्यादौ प्रतीयमानस्यार्थस्य शब्दस्पृष्टत्वाद् वाच्यं प्रत्युपस्कारकत्वाद् वाच्यार्थापेक्षया शब्दस्य गुणीकृतार्थत्वं नास्ति। तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणमुपादेयमेव। तदेतत् कटाक्षितं 'यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः' इत्यत्र।**

इस प्रकार व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव वस्तुतः गम्यगमकभाव है। इसलिए 'सुवर्ण पुष्पां' इत्यादि में (ध्वनिकार ने) जो शब्द की व्यञ्जकता या शाब्दी व्यञ्जक मानी थी वह नहीं बनती। कारण कि व्यंग्यव्यञ्जकभाव की सिद्धि नहीं होती यह इसलिए कि शब्द की दूसरी शक्ति न होने से साध्य और साधन नामक वस्तुओं के धर्मों में शब्द का कोई अनुगम नामक संबंध नहीं बनता। व्यक्तिवादी शब्द में दूसरी शक्ति मानता है अतः ध्वनिलक्षण में शब्द का स्वरूपतः कथन सार्थक होता है और उसका उपसर्जनीकृतार्थत्व विशेषण भी सार्थक है। कारण कि 'दृष्ट्या केशव गोप' इत्यादि में प्रतीयमान अर्थ शब्द से प्रतिपादित है, अतः वह वाच्यार्थ का उपस्कारक (उसमें चमत्कार लाने वाला) होता है, शब्द अपने वाच्यार्थ की दृष्टि से गुणीकृतार्थ नहीं है (व्यंग्यार्थ की दृष्टि से वैसा अवश्य है)। उसके व्यवच्छेद के लिए शब्द के लिए उपसर्जनीकृतार्थत्व विशेषण ध्वनि लक्षण में अवश्यमेव उपादेय है। इसी तथ्य का संकेत ध्वनिकार ने—'यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः' इस कारिका में किया है।

विमर्श : ध्वनिकार ने ध्वनि का लक्षण स्थिर कर उसके भेद भी दिखलाए हैं। ध्वनि के विरुद्ध जो एक अन्तर्भुक्तिवाद या लक्षणा में ध्वनि के अन्तर्भाव का पक्ष या उसकी खण्डनभूमिका रचते हुए उन्होंने लिखा है—अस्तिध्वनिः। स च चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः। अर्थात्

ध्वनि है और उसके सामान्यतः दो भेद हैं १—अविवक्षितवाच्य तथा २—विवक्षितान्यपरवाच्य।'

दोनों भेदों में प्रथम भेद के उदाहरण में ध्वनिकार ने सुवर्णपुष्पां पृथ्वीं—यह महाभारत का श्लोक उद्धृत किया है। इसका अर्थ है 'सोना फूलने वाली पृथ्वी को तीन पुरुष चुनते हैं। जो शूर होते हैं, जो कृतविद्य होते हैं और जो सेवाकार्य में दीक्षित होते हैं। लोचनकार अभिनवगुप्त उसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—पुष्प लगते हैं वृक्ष में। पृथ्वी वृक्ष नहीं हैं, जिसमें फूल लगें। और वृक्षों में भी फूल लगते हैं तो सोने के नहीं। यहाँ शब्दयोजना ऐसी है कि उससे पृथ्वी में सोने के फूल लगने का अर्थ निकलता है, इसलिए इस वाक्य का अपना वाच्यार्थ विवक्षित ही नहीं है। विवक्षित है उन तीन प्रकार के पुरुषों की प्रशस्ति या उज्ज्वलभाग्यता। वह लक्षण-लक्षणा

द्वारा ही सम्भव है। इस लक्षणा में वाच्यार्थ सर्वथा छूट जाता है। इसलिए ध्वनि को अविवक्षित वाच्य माना जा सकता है।

व्यक्तिविवेककार का कथन है कि इन सब उदाहरणों में किसी असिद्ध वस्तु की सिद्धि का व्यर्थ प्रयास किया गया है। रुय्यक इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

जब शब्द में अभिधा के अतिरिक्त कोई शक्ति ही नहीं तब सुवर्णपुष्पाम् आदि उदाहरणों में प्रतीयमान अर्थ और शब्द में कोई साध्य-साधनभावसंबंध ही नहीं बनता। ऐसी स्थिति में जब व्यंग्य-व्यञ्जकभाव का ही अस्तित्व उच्छिन्न हो गया तब उसकी सिद्धि करने चलना शून्य में टक्कर मारने चलना है।

रुय्यक ने महिम भट्ट के इस शब्दप्रत्याख्यान का ध्वनिकार की ओर से उत्तर देते हुए लिखा है—

व्यक्तिवादी (ध्वनिवादी) के मत में शब्द में अभिधा के अतिरिक्त और भी शक्तियाँ रहती हैं इसलिए उनके अनुसार वाच्य के समान अन्य अर्थों के साथ भी शब्द का संबंध संभव है। उसी संबंध को लेकर ध्वनिलक्षण में प्रतीयमान अर्थ के प्रति शब्द का गुणीभाव दिखलाया गया है, और उससे यमक आदि में जहाँ शब्द का गुणीभाव नहीं होता उन अंशों की व्यावृत्ति की गई है।

इसी प्रकार उसका उपसर्जनीकृतार्थत्व विशेष भी ध्वनिवादी के मत में सप्रयोजन है। ध्वनि-वादियों का यह सिद्धान्त है कि जहाँ व्यंग्य अर्थवाच्य भी बना दिया जाता है वहाँ व्यंग्य वाच्य का ही अंग बन जाता है। उन्होंने इस प्रकार का उदाहरण दिया है—

'दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किं नाम नालम्बसे।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवनाद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्॥

अभिनवगुप्त ने इस पद्य के विशेषणों को द्व्यर्थक मानते हुए दोनों अर्थों में उनकी संगति दिखलाई है। दो अर्थों में एक है एक ऐसी गोपी की श्रीकृष्ण के प्रति उक्ति का पक्ष जो गोधूली के समय पैर फिसलने से डगर में गिर पड़ी और दूसरा है श्रीकृष्ण पर अनुरक्त गोपी की उक्ति का पक्ष। पैर फिसलने से गिरी गोपी के पक्ष में इस पद्य का पदच्छेद इस प्रकार है—

'केशव, गोपरागहृदया, विषमेषु खिन्नमनसाम् इत्यादि। इस पदच्छेद के अनुसार अभिनवगुप्त ने पद्य का अर्थ इस प्रकार किया है—

हे केशव! गोधूली के कारण मुझे कुछ सूझा नहीं इसलिए मैं फिसल पड़ी हूँ। तुम मुझ मार्ग पतिता (फिसली) को सहारा क्यों नहीं दे रहे? तुम्हीं तो एक वीर हो जो बाल, वृद्ध और स्त्री आदि को गाढ़े समय में साथ देते हो?

दूसरे अर्थ के अनुसार उक्त पद्य का पदच्छेद अभिनवगुप्त ने इस प्रकार किया है—

हे केशव? हे गोप? रागहृतया, अथवा केशवगोप-राग-हृतया विषम—इषु (पञ्चबाण) खिन्नमानसाम्। इसके अनुसार इसका अर्थ उन्होंने यह किया है—हे केशव, हे गोप, प्रीति से मेरी आँखें मिच गई हैं। मैंने कुछ भी नहीं देखा। इसलिए मैं कुलवधूचित शील को कुछ भी न निभा सकी। स्वामिन्? मुझ पतिता को अपनाते क्यों नहीं? तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। काम

के वाणों से व्यथित चित्त वाली अवलाएँ आपस की डाह विसरा कर तुम्हारी ही सेवा से अपने प्राण बचा पाती हैं ?

अभिनवगुप्त ने प्रथम अर्थ को प्राकरणिक और द्वितीय को अप्राकरणिक माना है। दोनों अर्थ उक्त पद्य के तीन चरणों से स्पष्ट होते हैं। इनमें प्रथम अर्थ वाच्य है। दूसरा व्यंग्य। किन्तु चतुर्थ में यह व्यंग्य अर्थ भी वाच्यतुल्य बना दिया गया है। चतुर्थ चरण का अर्थ है—'सार में आकर गोपी ने जिन श्रीकृष्ण से इस प्रकार सलेश (कसकर) बात कही वे आप और हम सब की रक्षा करें। यहाँ सलेश शब्द तबतक स्पष्ट नहीं होता जबतक व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती। इसलिए व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपकारक हुआ। अतः उपकार्य वाच्य ही प्रधान हुआ। व्यक्ति-विवेक-व्याख्यानकार का कथन है कि यहाँ शब्द का अभिधेयार्थ व्यंग्यार्थ के प्रति उपसर्जन नहीं है। अतः इस गुणीभूत व्यंग्य में ध्वनिलक्षण की अतिव्याप्ति हटाने के लिए उपसर्जनीकृतार्थत्व यह विशेषण शब्द के लिए अपनाया गया। ध्वनिकार ने अपना यह आशय इस कारिका में व्यक्त किया है—

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाश्यते। यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः॥ (२।२१)

इस प्रकार अभीतक ध्वनिलक्षण में अधिकत्व दोष दिखलाया अब न्यूनत्व दोष दिखलाने चलते हैं—

किञ्च यथाभिधेयोऽर्थस्तद्विशेषणं चोपात्तं तद्वदभिधाप्युपादानमर्हत्येव। अन्यथा यत्र दीपकादेरलङ्कारादलङ्कारान्तरस्योपमादेः प्रतीतिस्तत्र ध्वनित्व-मिष्टं न स्यात्, तल्लक्षणेनाव्याप्तेः। अलङ्काराणां चाभिधात्मत्वमुपगतं तेषां भङ्गीभणितिभेदरूपत्वात्।

'अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥' २।२७ ध्व०॥

इत्यादिना तत् प्रतिषिद्धमिति(चेद्)उच्यते—तत्प्रतिषेधहेतोः काव्यातत्प-रतालक्षणस्यासिद्धत्वाद् = उपमानोपमेयभावाद्यभिधानपरतयैव दीपकाद्यल-ङ्कारभङ्गीभणितिसमाश्रयणतः, प्रतीयमानस्यैव चालङ्कारादेश्चारुत्वातिशययो-गात् तावन्मात्रनिबन्धनत्वाच्च तद्ध्वनिव्यवहारस्येति कथं तत्प्रतिषेधसिद्धिः।

इसके अतिरिक्त, (ध्वनिलक्षण में) जिस प्रकार अभिधेय (वाच्य) अर्थ और उसके विशेषण का उपादान किया गया। उसी प्रकार अभिधा (शक्ति) का भी उपादान किया जाना चाहिए। ऐसा न करने से जहाँ दीपक-अलंकार से दूसरे अलंकार उपमा आदि की प्रतीति होती है वहाँ ध्वनित्व माना गया है, परन्तु वह सिद्ध न होगा, क्योंकि उसमें ध्वनिलक्षण की व्याप्ति (पहुँच) न होगी (अव्याप्ति नामक लक्षण दोष होगा) और अलंकारों का अभिधारूप होना माना गया है। कारण कि वे 'भङ्गीभणितिरूप' होते हैं।

'दूसरे अलंकार की प्रतीति होने पर भी जहाँ वाच्य (अर्थ) में (उस प्रतीयमान अलंकार के प्रति) तत्परता (समर्पण, गौणता अप्रधानता) नहीं रहती तो वह ध्वनि का रास्ता नहीं माना जाता।' इस प्रकार उसका (दीपकादि में उपमादि के ध्वनित्व का) निषेध कर दिया गया है—(ऐसा) यदि कहें तो (कहिए परन्तु) वह निषेध सिद्ध कैसे होता है ? कारण कि उसके निषेध का कारण बताया है काव्य का तत्पर न होना। वही सिद्ध नहीं होता। कारण कि (एक तो)

दीपक आदि अलंकार स्वरूप जो भङ्गीभणिति अपनाई जाती है वह उपमानोपमेयभाव आदि को बतलाने के लिए ही, (दूसरे) जो अलंकार प्रतीयमान होता है उसी में अतिशय चारुत्व रहता है, और एकमात्र उसीसे (चारुत्वातिशय होने से) उसे ध्वनि कहा जा सकता है। (ध्वनिवादी का जो ध्वनिव्यवहार है वह उसी चारुत्वातिशय पर निर्भर है)।

तद्वदभिधाप्युपादानमर्हत्येवेति । **अत्र व्यक्तिवादिनोऽयमाशयः—इह चिरन्तनैरलङ्कारतन्त्रप्रजापतिभिर्भट्टोद्भटप्रभृतिभिः शब्दार्थधर्मा एवालङ्काराः प्रतिपादिताः, नाभिधाधर्माः। यतोऽर्थप्रतिपत्युन्नेयः शब्दव्यापारः शब्दोच्चारणव्यापारो वाभिधा। न च तत्प्रकारत्वमलङ्काराणां युक्तिमत्। चारुत्वं हि वैचित्र्यापरपर्यायं प्रकाशमानमलङ्कारः। न च शब्दोच्चारणस्यार्थप्रकाशनस्य वा चारुत्वं प्रकाशते, उच्चार्यमाणस्य च प्रतिपाद्यमानस्य च चारुत्वप्रतीतेः। तेन चारुत्वस्य सद्भावाच्छब्दार्थधर्मा एवालङ्कारा न्याय्याः, नाभिधाधर्माः। शास्त्रेतिहासवैलक्षण्यं तु काव्यस्य शब्दार्थवैशिष्ट्यादेव नाभिधावैशिष्ट्यादिति भट्टोद्भटादीनां सिद्धान्तः। ततश्च तन्मताश्रयणेन शब्दार्थयोर्व्यञ्जकत्वमुच्यमानं तद्धर्माणामलङ्काराणामपि पर्यवसितमिति तत्स्वीकारार्थं पृथगभिधानग्रहणं न किञ्चित्। यदपि दीपकादावुपमादिं प्रत्यतत्परत्वं दूषितं, तदस्मदभिप्रायापर्यालोचनादेव, यतः प्रागुक्तन्यायान्न प्रतीत्युपायत्वमचारुत्वं वा तत्परत्वं, यत्प्रतिपक्षभूतमतत्परत्वमस्माभिरत्रोक्तम्, अपि तु प्रत्याख्येनानुपकार्यत्वम्। न चैतद् दीपकादावस्ति, तत्रोपमादिना दीपकादेरुपकार्यत्वाद्। अत एव प्राधान्यादुपमादिव्यपदेशं मुक्त्वा तत्र दीपकादिव्यपदेश एव कृतः ततश्चात्रातत्परत्वमेव साधीय इति।**

'यहाँ व्यक्तिवादी का आशय यह है—अलंकार शास्त्र के जो प्राचीन आचार्य (प्रजापति) हैं, भट्ट उद्भट आदि—उन्होंने अलंकारों को केवल शब्द और अर्थ का धर्म माना है। अभिधा का नहीं। कारण कि अभिधा या तो एक शब्द शक्ति है जिसका अर्थज्ञान द्वारा अनुमान किया जाता है या शब्द के उच्चारण की शक्ति है (जो) उच्चारणकर्ता में रहती है। अलंकारों को इस प्रकार की दोनों अभिधाओं का धर्म मानना युक्तियुक्त नहीं। वैचित्र्य नाम से कहा जानेवाला चारुत्व ही बुद्धिविषय होने पर अलंकार कहलाता है। यह चारुत्व कभी भी शब्दोच्चारण या उसके अर्थ-प्रतीतिकर शब्दव्यापार में नहीं देखा जाता। वह देखा जाता है उसमें जो उच्चारण और ज्ञान का विषय होता है। इनमें उच्चारण का विषय होता है शब्द और ज्ञान का विषय अर्थ। चारुत्व उन्हीं में दिखाई देता है। इसलिए अलंकारों को शब्द और अर्थ का धर्म मानना ही उचित है, अभिधा का नहीं। भट्टोद्भट आदि का एक सिद्धान्त यह भी है कि काव्य में शास्त्र, इतिहास आदि से जो भिन्नता आई है उसका कारण शब्द और अर्थ का वैशिष्ट्य (चारुत्व) है, न कि अभिधा का वैशिष्ट्य। ध्वनि लक्षण में उसके इस वैशिष्ट्य या चारुत्व का अलग से कथन आवश्यक नहीं, क्योंकि उन्हें भट्टोद्भट आदि का उक्त मत मान्य है, इसलिए ध्वनि लक्षण में जहाँ शब्द और अर्थ की व्यञ्जकता कही गई है वहाँ वह (व्यञ्जकता) उन (शब्दार्थ) के धर्म (अलंकारों) में स्वतः सिद्ध हो जाती है। उसके कहने की आवश्यकता नहीं है।

और जो दीपक आदि में उपमा आदि के प्रति अतत्परता को दूषित ठहराया है वह हमारे (ध्वनिवादी के) अभिप्राय को न समझने के कारण। क्योंकि (गुणीकृतात्मतार्थ इत्यादि) पूर्वोक्त दृष्टि से 'तत्परता' का अर्थ दूसरे अर्थ की प्रतीति में कारण होना या अचारु होना नहीं है, जिसके विरुद्ध हमने यहाँ 'अतत्परता' का प्रतिपादन किया है, अपितु प्रतीयमान से उपकृत न होना है। यह तथ्य दीपकादि में नहीं है। वहाँ उपमा आदि दीपकादि का उपकार करते हैं। इसलिए वह

प्रधान होता है। अतएव उसे उपमा न कहकर दीपक कहा गया है। इसलिए दीपक आदि वाच्य अलंकार का उपमादि प्रतीयमान अलंकारों के प्रति अतत्परत्व ही ठीक है।'

विमर्श : (क) दीपक में उपमा—दीपक सादृश्यमूलक अलंकार है। आचार्यों के मत से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है—

(१) आनन्दवर्धन—दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येन अविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशः।

—'दीपक और अपह्नुति आदि में व्यङ्ग्यरूप से उपमा की प्रतीति होती है तो भी वह प्रधानरूप से विवक्षित नहीं होती। अतः अलंकार उस (उपमा) के नाम से नहीं पुकारा जाता।

अभिनवगुप्त—(इसी की व्याख्या में) उपमायाः-उपमानोपमेयभावस्य।

(२) मम्मट—कारिका = सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्-दीपकम्। वृत्ति = प्राकरणिकानामप्राकरणिकानाम्, अर्थात् उपमानोपमेयानाम् धर्म०।

नागेश—प्रकृताप्रकृतयोः सजातीयधर्मसम्बन्धस्य उपमायां पर्यवसानात् इति भावः। सा चोपमा व्यङ्ग्येव वाचकशब्दस्य विरहात्।

(३) पं० जगन्नाथ—दीपकतुल्ययोगितादौ गम्यमानौपम्यं जीवातुरिति सर्वेषां सम्मतम्।

(ख) अलंकारों की अभिधात्मकता—अलंकारों को अभिधा स्वरूप मानने में व्यक्तिविवेककार ने जो 'भङ्गीभणिति०' यह हेतु दिया है उसका आदि प्रवर्तन वक्रोक्ति सम्प्रदाय में राजानक कुन्तक ने किया है। कुन्तक को व्यक्तिविवेककार ने आगे उद्धृत भी किया है। कुन्तक की कारिका है—

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः। वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥ (१।१० व० जी०)

'शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं। उनका अलंकार है—वक्रोक्ति। वह है वैदग्ध्यभङ्गीभणिति।' 'भङ्गीभणिति' का अर्थ वे स्वयं इस प्रकार करते हैं—'भङ्गी = विच्छित्तिः। तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिः।' तथा—'वक्रतावैचित्र्ययोगितया अभिधानमेव एतयोरलंकारः।' इस अभिधा का अर्थ व्यक्तिविवेककार प्रसिद्ध शब्दशक्ति 'अभिधा' मानते हैं।

(ग) व्यक्तिविवेककार का कथन है कि दीपक स्थल में उपमा ही में अधिक चमत्कार रहता है। अतः दीपकालंकार को ध्वनिस्थल मानना चाहिए। ऐसा मानने पर प्रतीयमान अर्थ के प्रति वाच्यार्थ और शब्द के समान दीपक आदि अलंकार भी गुणीभूत सिद्ध होते हैं और तब व्यक्तिविवेककार यह आपत्ति देते हैं कि यदि वाच्यार्थ की गुणीभूतता के लिए ध्वनिलक्षण में वाच्यार्थ और उसका 'उपसर्जनीकृतात्मत्व' यह विशेषण अपनाया तो दीपक आदि की गुणीभूतता के लिये भी दीपक आदि और उसके 'उपसर्जनीकृतात्मत्व' विशेषण को अपनाना चाहिए। और दीपक आदि अलंकार अभिधास्वरूप हैं इसलिए सभी अलंकारों के लिए एक सामान्य अभिधा शब्द ध्वनिलक्षण में अपनाया जाना चाहिए। ध्वनिकार ने उसे नहीं अपनाया, अतः लक्षण में अव्याप्ति दोष हुआ, कारण कि यह लक्षण 'दीपक में हुई उपमाध्वनि' में लागू नहीं हो पाता।

व्यक्तिविवेकार भी अलंकार को अभिधारूप मानते हैं। वस्तुतः उनकी यह मान्यता क्षोदक्षम नहीं। वस्तुतः अलंकार काव्यशब्दार्थ के ज्ञान का वह धर्म है जो चमत्कारकारी होता है और रस तथा इतर व्यङ्ग्यार्थों से भिन्न होता है। अभिधा केवल शब्दज्ञान तथा अर्थज्ञान का बौद्धिक सम्बन्ध है। शब्द तथा अर्थ दोनों के ज्ञान अन्तःकरण या आत्मा में निहित रहते हैं। ये दोनों ज्ञान मूलतः असम्बद्ध होते हैं। वक्ता अपने अर्थज्ञान को इतर व्यक्ति के अन्तःकरण तक पहुँचने

के शब्दज्ञान से जोड़ता है। यही सम्बन्ध अभिधा, शक्ति, वाचकत्व नाम से कहा जाता है। इसे अलंकार नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई विचित्रता भी नहीं होती। विचित्रता केवल पदार्थों के सम्बन्ध में होती है। यह सम्बन्ध ज्ञानात्मक होता है। मुख को चन्द्रमा कहने से मुख की अभिधा में कोई विचित्रता नहीं है। उससे तो केवल मुखरूपी अर्थ का ज्ञान होता है। विचित्रता उस अर्थ को उससे भिन्न चन्द्ररूपी अर्थ से अभिन्न बतलाने में है। यह अभिधा नहीं। केवल पदार्थों का सम्बन्ध है। अतः अलंकारों को अभिधा मानना ठीक नहीं है।

दीपक में उपमा की प्रधानता का जो प्रश्न है उसमें ध्वनिकार का यह कहना कि 'दीपक प्रधान है कारण कि उस अलंकार को उपमा रहते हुए भी उपमा नहीं कहा जाता' ठीक नहीं। अलंकार व्यवहार अभिधेयार्थ के आधार पर ही हो सकता है। व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर नहीं।

जो अलंकार व्यङ्ग्य हो जाता है वह वाच्यालंकार के लिए अलंकार नहीं अलंकार्य बन जाता है। इसलिए वहाँ अलंकार केवल वाच्यालंकार ही कहा जा सकता है। जो वाच्य होता है उसी के आधार पर उस अलंकार का नाम होता है। दीपक में उपमालंकार नहीं केवल उपमानोपमेय-भाव का ज्ञान होता है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने ध्वनिकार के 'उपमायाः' का अर्थ ऊपर दी पङ्क्ति में 'उपमानोपमेयभाव' किया है। उपमालंकार नहीं। अलंकार वह तब होता जब उसमें अलंकारकत्व रहता। उपमा दीपकस्थल में किसी को अलंकृत न कर स्वयं ही अलंकृत होती है, अतः वह अलंकार नहीं है। अलंकार है दीपक। कारण कि वही यहाँ उपमा को अलंकृत करता है। ध्वनिवादी आचार्य यह नहीं मानते। वे 'उपमा को भी दीपक का उपस्कारक मानते हैं। उनकी यह मान्यता रस पर भी लागू होती है। जिस वाक्यार्थ से रस अभिव्यक्त होता है उसका सौन्दर्य उस वाक्यार्थ को भी सुन्दर बना देता है। इस प्रकार रस भी वाक्यार्थ का उपस्कारक हुआ। इतने पर भी ध्वनिवादी रस को ध्वनि ही मानते हैं। इस दृष्टि से ध्वनिवादी को दीपक को ध्वनिस्थल मानना पड़ता। किन्तु वे उसे गुणीभूतव्यङ्ग्यस्थल ही मानते हैं। उसमें ध्वनित्व का खण्डन वे कविसंरम्भ को लेकर करते हैं। उनका कहना है कि कविप्रतिभा ने दीपकस्थल में दीपक के लिए ही प्रयत्न किया और उसी को उसने चमत्कार का माध्यम बनाना चाहा। उपमा को नहीं। अतः दीपक प्रधान है। व्यक्तिवादी इसके विरुद्ध यह कहता है कि कविप्रतिभा चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है। जो चमत्कारवाच्य उपमा से नहीं होता वह उसे व्यङ्ग्य उपमा द्वारा उत्पन्न करती है और उपमा को व्यङ्ग्य बनाने के लिए दीपक का आश्रय लेती है। इस प्रकार कविप्रतिभा का संरम्भ उपमा में ही है दीपक में नहीं। अतः उपमा प्रधान है।

इस प्रकार दीपकस्थल में उपमा का ध्वनित्व सिद्ध होता है। किन्तु अलंकार को अभिधावृत्ति-स्वरूप मानने में अनुभूति पक्ष का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। वक्रोक्तिजीवितकार ने भणिति को अभिधा या अभिधान अवश्य कहा है, किन्तु उनका अर्थ शब्दव्यापार नहीं है। उनका अभिप्राय अभिधा से केवल प्रतिपादन का है। मम्मट 'वाचक' के लक्षण में 'साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः' इस प्रकार 'अभिधत्ते' में अभिधा का प्रयोग करते हैं किन्तु उसका अर्थ 'प्रतिपादयति' अर्थात् प्रतिपादन करना है। इस प्रकार वक्रोक्तिजीवितकार का अभिधा शब्द प्रतिपादन, निरूपण, इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त है। अतः इस विषय में व्याख्यान का विवेचन आदरणीय है।

अथार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यैव तत्सद्भावावगमः, अर्थशब्दयोरुपसर्जनीकृतस्वार्थत्वाभिधानसामर्थ्याच्च तदुपसर्जनीभावावगतिः, तस्याः प्राधान्येन तयोरुपसर्जनीभाव इति व्यर्थस्तदुपादानप्रसङ्ग इति। एवं तर्ह्यर्थस्यैवोपसर्ज-

नीभावोऽभिधेयो न शब्दस्य, तस्याभिधाया इव तदुपसर्जनीभावाभिधानसामर्थ्यादेव तदवगतिसिद्धेरिति लक्षणवाक्ये व्यर्थं शब्दग्रहणम्, अन्यथाभिधानग्रहणमपि कर्तव्यं प्रसज्येत, विशेषाभावात्। न चास्य स्वार्थाभिधानमात्रपर्यवसितसामर्थ्यस्य व्यापारान्तरमुपपद्यते, येनायमर्थान्तरमवगमयेत्, तदपेक्षं चोपसर्जनीकृतार्थत्वमियात्। अर्थस्यैव तदुपपत्तिसमर्थनात्।

यदि कहा जाय कि—(विना अभिधा के) अर्थ की प्रतीति नहीं होती अतः उसी (अन्यथानुपपत्ति प्रमाण) से (अभिधा का ध्वनिलक्षण में) सद्भाव समझ में आ जाएगा और इसी प्रकार अर्थ और शब्द के 'उपसर्जनीकृतस्वार्थत्व' के कथन से उस (अभिधा) का उपसर्जनभाव भी समझ में आ जाएगा, क्योंकि अभिधा प्रधान होगी तो शब्द और अर्थ में उपसर्जनभाव नहीं आ सकता। इस कारण उसके (अभिधा के) उपादान की चर्चा व्यर्थ ही है—तो फिर इस प्रकार केवल अर्थ का उपसर्जनभाव (ध्वनिलक्षण में) कहा जाना चाहिए, शब्द का नहीं। उस (शब्द) के उपसर्जनीभाव का ज्ञान भी अभिधा के ही समान अर्थमात्र के उपसर्जनभाव कथन से हो ही जाएगा। इसलिए (ध्वनि) लक्षण वाक्य में शब्द का ग्रहण निरर्थक है। शब्द के विषय में ऐसा न मानने पर (ध्वनिलक्षण वाक्य में) अभिधा का ग्रहण भी करना पड़ जाएगा। कारण कि जो स्थिति शब्द की है वही अभिधा की भी है। और इस (शब्द) की शक्ति अपने अर्थ का ज्ञान कराने में ही समाप्त हो जाती है। इसमें दूसरी कोई शक्ति सिद्ध नहीं होती जिससे यह दूसरा अर्थ बतला सके। और उसकी अपेक्षा (अपना वाच्यार्थ गौण बनाकर खुद) 'उपसर्जनीकृतार्थ' बना सके। वह (दूसरे अर्थ का ज्ञान कराने की शक्ति) केवल अर्थ में सिद्ध होती है।

विमर्श : अभिधा को ध्वनिलक्षण में स्थान नहीं दिया गया। इतने पर भी ध्वनिलक्षण में अव्याप्ति आने देने के लिए यह कहा जाय कि अभिधा का ज्ञान ध्वनिलक्षण में अर्थ के समावेश से ही हो जाता है कारण कि अर्थ का ज्ञान विना अभिधा के नहीं होगा तो यही उपपत्ति शब्द के लिए भी आती है। अर्थ का ज्ञान शब्द के विना भी नहीं हो सकता, अतः उसकी प्रतीति भी अभिधा के ही समान अपने आप हो जाएगी। इस प्रकार ध्वनिलक्षण शब्द का सन्निवेश निरर्थक होता है। इसी प्रकार शब्द तथा अभिधा के उपसर्जनभाव का ज्ञान भी अर्थ के उपसर्जनभाव का ग्रहण करने से हो जाएगा। यदि अभिधा उपसर्जन न हो तो अर्थ कभी उपसर्जन नहीं हो सकता।

इस प्रकार अभिधा का ग्रहण न करने पर अव्याप्ति या शब्द का ग्रहण करने से पुनरुक्ति दो दोषों में से कोई एक दोष अवश्य आता है। शब्द के अर्थ का उपसर्जनीकृतत्व भी शब्द में 'उपसर्जनीकृतार्थत्व' विशेषण के विना भी स्वयं अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण से ज्ञात हो जाता है। इसलिए वह भी पुनरुक्त है।

व्यञ्जनाखण्डन

अभीतक ध्वनिलक्षण के शब्द, और शब्दार्थ दोनों के उपसर्जनीकृतस्वार्थत्व को दूषित ठहराया। अब 'व्यङ्क्तः' इस क्रियापद में आए व्यञ्जना व्यापार की खण्डन भूमिका रचते हैं।

(क) शब्द विचार।

सर्व एव हि शाब्दो व्यवहारः साध्यसाधनभावगर्भतया प्रायेणानुमा-

नरूपोऽभ्युपगन्तव्यः, तस्य परप्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनत्वात् तयोश्च सम्प्रत्ययासम्प्रत्ययात्मनोरन्यथाकर्तुमशक्यत्वतः। न हि युक्तिमनवगच्छन् कश्चिद्विपश्चिद्वचनमात्रात् सम्प्रत्ययभाग् भवति। द्विविधो हि शब्दः पदवाक्यभेदात्। तत्र पदमनेकप्रकारं नामाख्यातोपसर्गनिपातकर्मप्रवचनीयभेदात्।

शब्द का संपूर्ण व्यवहार सदैव साध्यसाधनभाव (कार्य कारणभाव) से युक्त रहता है। अतः उसे प्रायः अनुमान स्वरूप ही मानना चाहिए। कारण वह (शब्द व्यवहार) दूसरे व्यक्ति की प्रवृत्ति (कार्य में लगाव) के लिए होता है या निवृत्ति (कार्य से बिलगाव) के लिए। वह इसलिए कि वे (प्रवृत्ति-निवृत्ति क्रमशः) यथार्थज्ञान और अयथार्थज्ञान पर निर्भर हैं (या तत्स्वरूप हैं)। इसलिए बिना शब्दव्यवहार के वे नहीं हो सकतीं। (शब्दव्यवहार में भी) कोई भी समझदार व्यक्ति बिना युक्ति जाने किसी के कथनमात्र से किसी वस्तु को यथार्थ नहीं मान लेता।

सर्व एवेति। **इह यः कश्चिच्छाब्दो व्यवहारः स सर्वः परप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थः, स्वप्रवृत्तिनिवृत्त्योः शाब्दव्यवहारमन्तरेण वचनमात्रादेव सिद्धत्वात्। प्रवृत्तिनिवृत्ती च सम्प्रत्ययासम्प्रत्ययौ युक्तिरूपानुमाननिमित्तौ तेन विना निर्निबन्धने,** अन्यथा सशङ्कत्वे **प्रवृत्तिनिवृत्त्योरप्रवृत्तिनिवृत्तिकल्पत्वात्। सम्प्रत्ययासम्प्रययौ च युक्तिरूपानुमाननिमित्तौ, तेन विना निर्निबन्धनत्वाच्छाब्दव्यवहारे वचनमात्रात् तयोरनुपपत्तेः। अनुमानं च साध्यसाधनभावगर्भीकारेण व्यवस्थितम्। तच्च परप्रवृत्तिनिवृत्तिफलम्। शाब्दव्यवहारमाश्रयता तत्र साध्यसाधनभावोऽवश्यमङ्गीकार्यः। स चाखण्डत्वात् पदमात्रे न सम्भवतीति पदसमूहात्मकं वाक्यमवलम्बते।** सम्प्रत्ययासम्प्रत्ययात्मनौ **निमित्तत्वेन व्यापकत्वात्।**

संसार में जितना भी जो शब्द व्यवहार है वह पूरा दूसरे की प्रवृत्ति के लिए है या निवृत्ति के लिए। अपनी प्रवृत्ति-निवृत्ति तो शब्द व्यवहार के बिना भी सिद्ध है (वचनमात्र से)। दूसरे की प्रवृत्ति-निवृत्ति संप्रत्यय (यथार्थज्ञान) और असंप्रत्यय (अयथार्थज्ञान) रूप हैं। वे युक्ति (विचार) स्वरूप अनुमान से होती हैं। उसके बिना प्रवृत्ति-निवृत्ति होने में कोई कारण नहीं। शब्दव्यवहार में केवल कथनमात्र से वे हो नहीं सकतीं।

जहाँ तक अनुमान का संबंध है उसमें साध्यसाधनभाव रहता ही है। उसका फल भी दूसरे की प्रवृत्ति-निवृत्ति हैं। शब्दव्यवहार को अपनाने वाले व्यक्ति को उसमें साध्यसाधनभाव अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है। और वह अखंड होने से केवल एक पद में नहीं हो सकता अतः पदसमूहात्मक वाक्य अपनाना पड़ता है। प्रवृत्ति-निवृत्ति-संप्रत्यय और असंप्रत्ययरूप इसलिए हैं कि ये उनके कारण हैं और उनसे अधिक व्यापक हैं।'

विमर्श: ग्रन्थकार की भाषा इस स्थल में भावाभिव्यक्तिक्षम नहीं है। उससे कुछ संकेत मिलते हैं, जिनकी पुष्टि इतर दर्शनों द्वारा करनी पड़ती है। यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि शब्द का प्रयोग—सदा किसी अन्य व्यक्ति को किसी कार्य में प्रवृत्त कराने या उससे निवृत्त करने के लिए होता है। किन्तु कोई भी मेधावी व्यक्ति केवल किसी के कहे कुछ शब्दमात्र सुन लेने से प्रवृत्त या निवृत्त नहीं होता। शब्द सुनने के बाद और प्रवृत्ति या निवृत्ति के पूर्व श्रोता के मन में एक विकल्प उठता है—वह सोचता है—वक्ता ने जिस कार्य में प्रवृत्त होने के लिए इन वाक्यों का प्रयोग किया है—वह कार्य मेरे अभीष्ट का साधक है या नहीं। इसके लिए वह वक्ता द्वारा प्रयुक्त

शब्दों के अर्थ पर ध्यान देता है और जब युक्ति द्वारा उसे उक्त विकल्प का एकतर समाधान प्राप्त हो जाता है तो अनुकूलता की स्थिति में वह प्रवृत्त होता है और प्रतिकूलता की स्थिति में या तो प्रवृत्त नहीं होता और यदि पहले से प्रवृत्त होता है तो उसके बाद प्रवृत्त होने के पश्चात् भी रुक जाता है। वह जिस युक्ति से काम लेता है वह और कुछ नहीं केवल वही साध्य-साधनभाव होता है जिसपर दार्शनिकों का प्रसिद्ध प्रमाण अनुमान स्थिर है। वह पहले वक्ता की पदावली से अपनी अभीष्ट वस्तु और उसके साधन का सम्बन्ध निश्चय करता है और जब वक्ता की पदावली में उक्त सम्बन्ध-निश्चय की क्षमता पढ़ती है तो उसके बाद जैसा सम्बन्ध होता है वैसी ही चेष्टा करता है। यदि सम्बन्ध फल का साधक होता है तो प्रवृत्त होता है, और यदि बाधक होता है तो निवृत्त या पराङ्मुख। अभीष्ट वस्तु के प्रति साधकता का यही यथार्थ निश्चय=ग्रन्थकार के सम्प्रत्यय शब्द का अर्थ है। असम्प्रत्यय उसके विपरीत होता है। उसका अर्थ है अभीष्ट वस्तु के प्रति साधकता का अयथार्थ निश्चय। उक्त साध्यसाधनभावरूप जो युक्ति है उसे ही ग्रन्थकार ने अनुमान या हेतुसाध्यात्मकता कहा, और उसके बिना प्रवृत्ति-निवृत्ति के हेतुभूत सम्प्रत्यय और असम्प्रत्यय को असम्भव बतलाया।

संप्रत्यय और असंप्रत्यय के साथ प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का संबंध व्याख्यानकार ने स्पष्ट किया है। ग्रन्थकार ने प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को 'संप्रत्यय-असंप्रत्ययात्मा' कहा है। व्याख्यानकार ने एक बार उसे 'सम्प्रत्ययासम्प्रत्ययौ' कहा। यहाँ ग्रन्थकार के आत्मा शब्द को अभेदार्थक माना गया। दूसरी बार उन्हें 'संप्रत्ययासंप्रत्ययात्मानौ' कहा और उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा—निमित्तत्वेन व्यापकत्वात्। इसके अनुसार आत्मा का अर्थ प्रधान हुआ। प्रधानता का अभिप्राय यह कि प्रवृत्ति और निवृत्ति की अपेक्षा संप्रत्यय और असंप्रत्यय व्यापक हैं। उसका अभिप्राय निमित्त कह कर स्पष्ट किया। निष्कर्षतः कार्यकारण में अभेद की जो लौकिक प्रथा 'आयुर्घृतम्' आदि में देखी जाती है उसी के अनुसार कारणभूत संप्रत्यय-असंप्रत्यय कार्यभूत प्रवृत्ति-निवृत्ति से अभिन्न कहे गए।

व्याख्यानकार ने संप्रत्यय और असंप्रत्यय का अर्थ स्पष्ट नहीं किया। आरम्भ के 'इह संप्रतिपत्तिः' वाक्य में उन्हें संप्रतिपत्ति का अर्थ सौजन्यमूला परीक्षा किया था। वह यहाँ अनुपयुक्त है। संप्रत्यय का अर्थ इष्टसाधनात्मकनिश्चय और असंप्रत्यय का इष्टसाधनात्मकनिश्चयाभाव हो सकता है।

वाक्य में हेतु साध्यभाव का निरूपण आगे किया जाएगा।

तत्र सत्त्वप्रधानानि नामानि। तान्यपि बहुप्रकाराणि सम्भवन्ति। जातिगुणक्रियाद्रव्याणां तत्प्रवृत्तिनिमित्तानां बहुत्वात्। तद्यथा घटः पट इति जातिशब्दः। शुक्लो नील इति गुणशब्दः। पाचकः पाठक इति क्रियाशब्दः। दण्डी विषाणीति द्रव्यशब्दः।

शब्दव्यवहार में सत्त्वप्रधान शब्द 'नाम' शब्द कहलाते हैं। वे भी अनेक प्रकार के होते हैं। क्योंकि उनके प्रवृत्ति-निमित्त जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य अनेक हैं। यथा—घट, पट ये जाति शब्द हैं। शुक्ल, नील ये गुण शब्द हैं। पाचक, पाठक ये क्रिया शब्द हैं और दण्डी, विषाणी ये द्रव्य शब्द।

सत्त्वप्रधानानीति **सत्त्वं सिद्धं वस्तु। यदृच्छाशब्दा जातिशब्दाश्च। एवं द्विविधा जातिरर्थजातिरर्थस्वरूपजातिश्च। तदुक्तम्—**

'स्वा जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेव प्रकाश्यते। ततोऽर्थजातिरूपेण तदध्यारोपकल्पना॥'

इति। तत्र यदृच्छाशब्दानां जातिशब्दत्वम्। यदि वा डित्थादिषु बाल्याद्यवस्थाभेदाद् भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययनिबन्धनं जातिः। तद्वशाद्यदृच्छाशब्दानां जातिशब्दत्वम्। ये तु द्रव्यसम्बन्धादर्थान्तरे वर्त्तन्ते ते द्रव्यशब्दा दण्ड्यादयः। वैयाकरणानां तु गुणशब्दा एवमादयः। दण्डादेर्बहिरङ्गत्वादिति।

अस्य ग्रन्थस्य सङ्ग्रहकारिकयान्यग्रन्थेन सह विरोधो दृश्यते। तथा हि। अत्र सामान्यभूताया भवनक्रियाया बहिरङ्गत्वं विशेषक्रियाणामन्तरङ्गत्वमुक्तम्। तत्र विशेषक्रियाणां बहिरङ्गत्वं सामान्यक्रियायास्त्वन्तरङ्गत्वं प्रतिपादयिष्यते। स एष एको विरोधः। किञ्चेह गम्यमानक्रियां मुक्त्वा प्रयुज्यमानक्रियापेक्षमेव पौर्वकाल्यमित्युच्यते। 'यन्मेऽन्यदपि तद्बहु' इत्यत्र प्रतीयमानक्रियापेक्षं पौर्वकाल्यं वक्ष्यत इति द्वितीयो ग्रन्थविरोधः। नैष विरोधः। इह तावत् सामान्यक्रियाया बहिरङ्गत्वमप्रयुज्यमानत्वापेक्षयोच्यते, विशेषक्रियाणान्त्वन्तरङ्गत्वं प्रयुज्यमानत्वापेक्षया, तत्र पुनर्विशेषक्रियाणां बहिरङ्गत्वं व्यभिचारित्वात्, सामान्यक्रियायास्त्वन्तरङ्गत्वमव्यभिचारित्वादित्यपेक्षातो भेदादाद्यस्तावन्न विरोधः। सामान्यक्रियां ह्यव्यभिचारिणीं प्रतीयमानामपेक्ष्य पौर्वकाल्यं समर्थितं विशेषस्यापेक्ष्यत्वेन प्रतीतेः समन्वयाविरोधाच्च। तेन द्वितीयोऽप्यत्र न विरोध इति। अत एव 'प्रायेण' त्युक्तम्।

सत्त्व का अर्थ है सिद्ध वस्तु। शब्द दो प्रकार के होते हैं यदृच्छास्वरूप और जातिस्वरूप। जाति भी दो प्रकार की होती हैं अर्थरूप जाति (जातिवाचक शब्द का जो अर्थ है तद्रूप जाति) दूसरा अर्थ (द्रव्य) के शरीर में रहनेवाली (लौकिक) जाति। कहा भी है—'पहले सभी शब्द अपनी जाति प्रकाशित करते हैं। बाद में उसे अर्थ की जाति के रूप में आरोपित कर लिया जाता है।' उनमें यदृच्छा शब्द जाति शब्द हैं। अथवा बाल्य आदि अवस्थाभेद से भिन्न हुए डित्थादि (शब्दों) के उच्चारणों की एक सी प्रतीति का कारण है (उसकी जाति)। उसी आधार पर यदृच्छा शब्द जाति शब्द है और जो द्रव्य के सबंध से किसी दूसरे ही अर्थ का बोध करानेवाले शब्द हैं वे द्रव्य शब्द कहलाते हैं जैसे दण्डी आदि। वैयाकरणों के मत में ये शब्द गुणवाची हैं। क्योंकि दण्ड आदि बाहरी पदार्थ हैं।

विमर्श : यहाँ व्याख्यानकार की पदावली अन्य आलंकारिक आचार्यों की पदावली से भिन्न है। उनकी संगति पर ध्यान देना चाहिए। महिमभट्ट ने सत्त्व का अर्थ 'जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा' चार माना है। व्याख्यानकार सत्त्व को सिद्धवस्तु कहते हैं। मम्मट ने सिद्धवस्तु केवल-जाति और गुण को माना है। इसके अतिरिक्त क्रिया को साध्य और यदृच्छा को काल्पनिक (वक्तृयदृच्छा-सन्निवेशित) कहा है। व्याख्यानकार ने यदृच्छा और क्रिया को भी सिद्ध शब्द से संगृहीत किया। इससे प्रतीत होता है कि व्याख्यानकार का सिद्ध शब्द मम्मट के उपाधि शब्द के अर्थ में है।

व्याख्यानकार के जाति-विवेचन का अभिप्राय इस प्रकार है—जाति दो प्रकार की होती है शब्दगत और अर्थगत। व्याकरण दर्शन में शब्दगत जाति एक अखंड शब्द धर्म के रूप में स्वतंत्र स्वीकार की गई है। इस मत में प्रत्येक शब्द अपने स्फोटरूप में नित्य है। अभिव्यक्तिकाल में अनेक होने के कारण वहाँ उसमें जाति मानी जाती है। यह जाति शब्दगत एक अखंड धर्म है। न्यायदर्शन प्रत्येक शब्द को उच्चरित प्रध्वस्त मानता है। उसमें उच्चारण के बाद तीसरे क्षण में शब्द ध्वस्त हुआ माना जाता है। इस दर्शन में काल और व्यक्ति के भेद से वस्तुतः भिन्न शब्द में भी एकरूपता की प्रतीति का कारण जाति नहीं पूर्व वर्णानुपूर्वी से युक्त अन्तिम वर्ण के असाधारण धर्म को मानकर की जाती है। कहा जाता है घट शब्द में 'घ्-अ-ट् अ' ये चार वर्ण हैं। नर, नारी, बाल, युवक, वृद्ध भूत, भविष्य, वर्त्तमान में जिन भिन्न-भिन्न 'घट' शब्दों का उच्चारण करते हैं उन

क्रम में 'घ्' के बाद 'अ', अ के बाद 'ट्' और ट् के बाद आए 'अ' में रहनेवाले उसके असाधारण धर्म 'अत्व' यह एक धर्म समानरूप से रहता है—इसलिए वे एक से प्रतीत होते हैं। वस्तुतः हैं वे सभी 'घट' शब्द एक दूसरे से मिले। रुय्यक ने यहाँ व्याकरणदर्शन का अनुसरण किया है। इसलिए उनके अनुसार उनके उक्त काल में 'शब्दजाति' का अर्थ भिन्न-भिन्न 'घट' आदि शब्दों में रहने वाली 'घटत्व' जाति किया जाना चाहिए। वक्ता को इस जाति का भी ज्ञान होता है। दूसरी अर्थगत जाति—घटपदार्थ के आकार में अभिलक्षित होती है। आकार की (वर्ण के अनुक्रम की) एकता और शब्द-अर्थ के अभेद के कारण शब्दगत घटत्वादि जाति अर्थगत घटत्वादि जाति के ऊपर अभिन्न रूप से या अभेद सम्बन्ध से अध्यारोपित कर दी जाती है। यहाँ जो यदृच्छा को 'जाति शब्द' कहा गया है इसका अभिप्राय 'जातिमान् शब्द' नहीं अपितु 'जातिवाचक' शब्द है। उदाहरण के लिए जिस घट शब्द से घटपदार्थ गत जिस विशेष धर्म का बोध होता है वह है घटत्व। घटत्व है जाति। अतः उसका वाचक होने से घट = जातिशब्द कहा जा सकता है। जाति-शब्द के अतिरिक्त कुछ शब्द द्रव्यशब्द भी कहे गए हैं। द्रव्यशब्द का भी अर्थ द्रव्यवाचक शब्द है। उदाहरणार्थ = 'दण्डी' आदि। यहाँ 'दण्डवाला' इस अर्थ में जो दण्डरूप द्रव्य है वही 'दण्डी' इस शब्द का अर्थ है। वैयाकरण ऐसे शब्दों को गुणशब्द कहते हैं क्योंकि दण्डादि स्वरूपातिरिक्त हैं अतः बहिरङ्ग हैं।

महिमभट्टने उपाधिशक्ति में एक नवीन-दर्शन ही उपस्थित किया है। वैयाकरण जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा इन चार पृथक्-पृथक् धर्मों में शब्दशक्ति मानते हैं। नैयायिक जाति, उसका आधार व्यक्ति और दोनों का समवायसम्बन्ध—तीनों में शक्ति मानता है। मीमांसकों का गुरु-सम्प्रदाय केवल जाति ही में शक्ति मानता है।

महिमभट्ट ने एक तीसरा मत चलाया। उनके अनुसार जिस प्रकार क्रिया शब्दों की क्रिया में शक्ति है—वैसे ही जाति आदि रूप में माने जानेवाले सभी शब्दों की क्रिया में ही शक्ति होती है—यही मत स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

केचित् पुनरेषां क्रियैवैका प्रवृत्तिनिमित्तमिति क्रियाशब्दत्वमेव सर्वेषां नामपदानामुपगच्छन्ति। तथा हि—घटादिशब्दाः स्वार्थे प्रवर्तमाना घट-नादिक्रियामेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिमित्तभावेनावलम्बमाना दृश्यन्ते। न घटत्वादिसामान्यम्। सा चैषा घटनादिक्रिया घटत्वसामान्ययोगादन्यथा वास्तु। नैतावता तस्याः प्रवृत्तिनिमित्तत्वव्याघातः। न च सत्यपि घटत्व-सामान्ये स्वयमघटन् घटात्मतामनापद्यमान एवासौ घटव्यपदेशविषयो भवितुमर्हति। एवं हि पटोऽपि घटव्यपदेशविषयः स्यात्। घटनक्रिया-कर्तृत्वाभावाविशेषात्। न हि शुक्लत्वमनापद्यमान एवार्थः शुक्ल इति व्यपदेष्टुं शक्यते, अपचन्नेव पाचक इति। तस्माद् घटनक्रियाकर्तृत्वलक्षणमेव घटत्वं घटशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तमवसेयम्। न घटत्वमात्रम्। तदेव चेह घटनमित्युक्तम्।

शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त केवल क्रिया है—ऐसा मानकर कुछ लोग सभी नामशब्दों को क्रियावाचक शब्द ही मानते हैं। उनका कहना है—देखा जाता है कि घट आदि शब्द अपने अर्थ में प्रवृत्त होते हैं तो वे प्रवृत्ति के निमित्त रूप से 'घटन' आदि क्रिया को ही अपनाते हैं।

घटत्व आदि सामान्य (जाति) को नहीं । यह 'घटनादि' क्रिया घटत्व आदि जाति के साथ रहे या पृथक् (स्वतंत्र) उससे उसके प्रवृत्तिनिमित्तत्व में कोई आँच नहीं आती । स्थिति भी ऐसी है कि घटत्व जाति रही आती है तब भी घट घटशब्द से व्यवहार योग्य नहीं रहता , जब तक वह घटनक्रिया से विरहित रहता है और घटस्वरूप को प्राप्त नहीं करता । यदि ऐसा (बिना घटन-क्रिया के घटव्यवहार) होता तो पट भी घट कहा जाने लगता । कारण कि जिस प्रकार घटन-क्रिया घट में नहीं है वैसे ही पट में भी वह नहीं है । इसी प्रकार जो वस्तु शुक्ल (क्रिया) को प्राप्त नहीं होती वह शुक्ल नहीं कही जा सकती । और पचनक्रिया से रहित पाचक । इसलिए घटनक्रियाकर्तृत्व रूप घटत्व घटशब्द की प्रवृत्ति में निमित्त समझना चाहिए, केवल घटत्व को नहीं । उसी (घटनक्रियाकर्तृत्व) को यहाँ घटन (क्रिया) कहा है ।

विमर्श : संस्कृत आचार्य अपना मत 'केचित्, अन्ये, अपरे, नवीनाः' इस प्रकार अज्ञात नाम से चलाते हैं । पंडितराज जगन्नाथकी रसप्रक्रिया से यह स्पष्ट है । वहाँ वे अपने अनिर्वचनीय ख्याति पक्ष को नव्य के नाम से उपस्थित करते हैं । नागेशभट्ट की भी यही प्रवृत्ति है । रसगंगाधर का खंडन उन्होंने इसी प्रकार 'अन्ये, नवीनाः' कह कर किया है । यहाँ 'केचित्' द्वारा जो 'क्रिया-प्रवृत्तिनिमित्तवाद' चलाया गया है वह महिमभट्ट का अपना वाद है । इस वाद के प्रवर्तक स्वयं महिमभट्ट हैं । शाकटाचार्य और निरुक्तकार सभी शब्दों को यौगिक मानते हैं । वहाँ प्रत्येक शब्द की प्रवृत्ति क्रिया से ही होती मानी गई है । किन्तु महिमभट्ट ने उससे अपने मत को भिन्न बतलाया है । यहाँ कुछ दार्शनिक शब्द आए हैं । उनका विश्लेषण इस प्रकार है—

प्रवृत्तिनिमित्त—यही मूल ग्रन्थ में इस शब्द का विग्रह दिया हुआ है—'प्रवृत्तौ निमित्तम्' उत्तर है—शब्द की प्रवृत्ति में । इस प्रकार केवल प्रवृत्तिनिमित्त शब्द का अर्थ हुआ शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त । शब्द की प्रवृत्ति अपने अर्थ की ओर होती है । राम शब्द कृष्ण की ओर नहीं बढ़ता और कृष्ण शब्द राम की ओर । इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त शब्द का अर्थ होता है—शब्द की अपने वाच्यार्थ की ओर प्रवृत्ति ।

इस प्रवृत्ति का निमित्त क्या ? दार्शनिकों का सुविचारित निष्कर्ष है कि शब्द प्रवृत्ति का निमित्त अर्थगत विशेषता है । इसीलिए—एक ही वस्तु के लिए अनेक शब्दों के प्रयोग होते हैं । वे सभी शब्द अर्थ की ही किसी विशेषता से बँधे रहते हैं । यह विशेषता जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा चार ही भेद की मानी जाती है । यहाँ क्रियामात्र प्रवृत्तिनिमित्त मानी जा रही है ।

अन्वयव्यतिरेक—अन्वय = संबन्ध, व्यतिरेक = अभाव । परिभाषारूप में—तत्सत्त्वे तदित-रकारणसत्वे तत्सत्त्वमन्वयः । अर्थात् कार्य का सभी कारणों के अस्तित्व में अस्तित्व । घट, मृत्तिका और उसके अवयवों के संयोग आदि के रहने पर रहता है । 'तदसत्त्वे तदसत्त्वं व्यतिरेकः ।' कार्य का किसी भी कारण के अभाव में अभाव । घट का कोई भी कारण—मृत्तिका या उसके अवयवों का संयोग न रहे तो घट नहीं रहता । इस प्रकार अपने कारण के अस्तित्व और अनस्तित्व से कार्य के अस्तित्व-अनस्तित्व का संबंध अन्वय और व्यतिरेक कहलाता है ।

उद्धृत अंश का अभिप्राय इस प्रकार है—

पहले 'नाम' पदार्थों को चार विभागों में विभक्त किया गया है—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा । जब पदों का विभाजन होने लगता है तो कुछ (वैयाकरण) इन्हीं के नियमानुसार उन्हें चार भागों में बाँटते हैं, और कुछ (प्रभाकरभट्ट आदि) सभी पदार्थों में एक जाति की कल्पना कर सभी पदों को केवल एक जाति रूप में रखते हैं । महिमभट्ट का कहना है कि सभी शब्द जातिवाचक नहीं क्रियावाचक हैं । उसमें उदाहरण घट को देते हैं । उसमें रहनेवाली घटन

क्रिया को घट शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त बतलाते हैं। उसमें हेतु देते हैं अन्वय व्यतिरेक को। उसका अभिप्राय है कि घट आदि शब्दों से जिसका कथन होता है उसका कारण घट आदि पदार्थों का अपने रूप में उपस्थित रहना है। इसी उपस्थिति को वे घटन कहते और उसका अर्थ स्वरूपासत्ति करते हैं। घट की प्रथम सृष्टि—विशेष प्रकार के अवयवों की संश्लेषणक्रिया से हुई। इसलिए जिस क्रिया के आधार पर विभिन्न अवयव संश्लिष्ट होते हैं, वही घटन है और उसी से घट अपने दृश्यरूप में उपस्थित होता है। जबतक अवयवसंश्लेषण क्रिया बनी रहती है तबतक वह पदार्थ घट व्यवहार का विषय बना रहता है, घट शब्द उस तक पहुँचता रहता है, जिस क्षण अवयवों की वह संश्लेषण क्रिया समाप्त हो जाती है तो ध्वंस की स्थिति में घट शब्द उन अवयवों तक नहीं पहुँचता जिनके संश्लेष से उसका अपना अभिधेय पदार्थ निष्पन्न हुआ था। ध्वंस की स्थिति में उसे मृत्तिका कहा जाता है या और कुछ। यह है घटनक्रिया का घट शब्द की प्रवृत्ति के साथ अन्वयव्यतिरेक, इसी के आधार पर वह क्रिया—घट शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त कही जा सकती है। यही स्थिति गुण और क्रियावाचक पदों में है। जबतक शुक्ल गुण का स्वरूप बना रहता है, अर्थात् वह अपने कारणों से निष्पन्न होता रहता है उसे शुक्ल शब्द अपनी प्रवृत्ति का विषय बनाता है। शुक्ल गुण की निष्पत्ति ज्यों ही समाप्त हो जाती है, वह उसकी ओर प्रवृत्त नहीं होता। क्रियावाचक पदों में तो यह स्पष्ट ही है। पाचक शब्द पाचन क्रिया से युक्त व्यक्ति को तभीतक अपनी प्रवृत्ति का पात्र बनाता है जब तक उसमें पाचन क्रिया नहीं आती है। इस प्रकार जाति, गुण, क्रिया नाम से कहे जाने वाले सभी पदार्थों में—'अपने रूप में बना रहना' या स्वरूपासत्ति रूप क्रिया विद्यमान है। महिमभट्ट केवल घटगत क्रिया को ही नहीं घटेतर पदार्थों में रहनेवाली क्रिया को भी 'घटन' शब्द से कहते हैं और उसी क्रिया को प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि 'फिर वह घटत्व आदि सामान्य (जाति) क्या है। इसपर उत्तर देते हुए ग्रन्थकार ने लिखा–सा चैषा घटत्वसामान्ययोगादन्यथैवास्तु। इसका मान्य अभिप्राय इतना ही है कि जिस क्रिया को प्रवृत्ति का निमित्त माना जा रहा है, उसमें घटत्व जाति का भी योग रहता है। अर्थात् वह क्रिया शुद्ध क्रिया नहीं होती, जाति संश्लिष्ट होती है। इसलिए उसका स्वरूप शुद्ध क्रिया ऐसा नहीं होता। क्रिया घटत्वयोग से यदि शब्द प्रवृत्ति निमित्त मानी जाती है तो अकेले घटत्व को ही उसका निमित्त क्यों नहीं मान लिया जाय, क्रिया को प्र० नि० मानना आवश्यक नहीं इस कल्पित वितर्क का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार ने लिखा 'नैतावता तस्य निमित्तत्वव्याख्यातः' अर्थात् घटत्वयोग से क्रिया के प्रवृत्तिनिमित्त को कोई आँच नहीं पहुँचती क्योंकि अनुद्भूतावस्था में घटत्वयुक्त होने पर भी घट पदार्थ तबतक घट शब्द का विषय नहीं बनता जबतक वह घटन क्रियायुक्त नहीं हो जाता। बिना घटनक्रिया के भी यदि घट में घट शब्द का व्यवहार हो तो फिर पट भी घट कहा जा सकता है। इसलिए घटनक्रिया युक्त ही घटत्व घट की प्रवृत्ति में निमित्त है। शुद्ध घटत्व नहीं। जो जाति को प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं, वे उसे नित्य भी मानते हैं। ऐसी स्थिति में प्रलय या ध्वंस की स्थिति में घटत्व आदि जाति बनी रहती है परन्तु उस समय उस स्थिति के पदार्थ के लिए घट आदि शब्द का प्रयोग नहीं होता। घट शब्द का प्रयोग तभी होता है जब वह पदार्थ घटनक्रिया द्वारा स्वरूप का आसादन कर लेता है। यदि इस व्यवस्था को न माना जाय तो पट पदार्थ भी घट कहा जा सकता है। अव्यक्तावस्था में घट और पट अपने परस्पर के भेद को खो बैठते हैं। घटत्व, पटत्व नित्य हैं इसलिए वे उस समय भी उनमें रहेंगे परन्तु यदि पट को घट और घट को पट कह दिया जाय तो कोई व्यावहारिक उलटफेर नहीं होता। पट को घट कहने से यदि उलटफेर की स्थिति कहीं आती है तो एकमात्र व्यवहार में।

व्यवहार स्वरूप प्राप्ति के बाद द्रव्य बने पदार्थों पर निर्भर है। अतः प्रवृत्ति का निमित्त [illegible]
इसलिए पदार्थों में रहने वाली घटनक्रिया ही उक्त प्रवृत्ति का निमित्त [illegible]
शाकटायनः = 'सर्वं शब्दं धातुजमाह, शकटस्य तोकम्' के अनुसार सभी शब्दों को [illegible] मानते हैं। उनसे अपने मत का अन्तर स्पष्ट करने के लिए शंका उठाते हैं—

ननु चेष्टाद्यर्थात् घटत्यादेर्धातोरजादौ घटत इत्याद्यर्थे घटनादिक्रियैव सर्वेषां घटादिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तभावेनास्माभिरपीष्यत एवेति व्यर्थः पक्षान्तरोपन्यासः। सत्यमिष्यत एव भवद्भिः। किन्तु सा शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, न प्रवृत्तिनिमित्तम्। अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। यथैकेषां मते गमनादिक्रिया गवादिशब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम् एकार्थसमवायात् गोत्वादि प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति। अत एव गच्छत्यगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति।

एवमिहापि चेष्टादिक्रिया घटादिशब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमिति सिद्धं भवति।

शंका—एक नए पक्ष का (ध्वनि के प्रसंग में नवीन न होते हुए भी [illegible] प्रवृत्ति-निमित्तवाद का) उपन्यास व्यर्थ है। कारण कि हम भी घट आदि सभी शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त घटन आदि क्रिया को ही मानते हैं। 'घट' आदि शब्द चेष्टादि के अर्थ में घट् आदि क्रिया से 'अच्' आदि प्रत्यय होनेपर बनते हैं। उनका अर्थ होता है ([illegible] प्रकार) घटनक्रियायुक्त।

उत्तर—ठीक है। आप मानते ही हैं। परन्तु वह क्रिया शब्द की व्युत्पत्ति निमित्त है, प्रवृत्ति में निमित्त नहीं। व्युत्पत्तिनिमित्त दूसरी वस्तु है और प्रवृत्तिनिमित्त दूसरी। [illegible] (उपाधिवादी) के मत में गमन आदि क्रिया गो आदि शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त है [illegible] एक ही वस्तु में समवेत होने से गोत्व आदि को प्रवृत्तिनिमित्त बनाती है। इसीलिए [illegible] से युक्त या रहित (चल रहे या बैठे) गो के लिए गोशब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार यहाँ भी चेष्टा आदि क्रिया घट आदि शब्दों की व्युत्पत्ति का ही निमित्त सिद्ध होती है।

घटत्यादेरिति। **'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इति रूपम्। पक्षान्तरं** प्रकारान्तरेण क्रिया-**शब्दत्वात्।** एकेषाम् **उपाधिवादिनाम्।** एकार्थसमवायादिति एकत्र द्रव्ये गमनक्रियागो-**जात्योः समवायात्।**

घटति = 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' सूत्र से निष्पन्न। **पक्षान्तर** = दूसरे [illegible] होने के कारण। **एकेषाम्** = उपाधि शक्तिवादी के अनुसार। **एकार्थसमवायात्** = [illegible] में गमनक्रिया और गोजाति दोनों को समवायसंबन्ध होने से।

विमर्श : धातुरूप क्रिया में प्रत्यय लगने पर हुई शब्द की निष्पत्ति उसकी व्युत्पत्ति कहलाती है। इसका निमित्त अवश्य ही क्रिया शब्द है। प्रवृत्ति-निमित्ति शब्द की स्वरूप निष्पत्ति के बाद की वस्तु है। वह उसके प्रयोग से संबंधित है। निष्पन्न शब्द का प्रयोग जिस निमित्त पर निर्भर है वह है प्रवृत्ति-निमित्त। इस प्रकार दोनों परस्पर भिन्न हैं। महिमभट्ट क्रिया को प्रवृत्ति-निमित्त मानते हैं। उनका यह मत शाकटायनाचार्य के व्युत्पत्तिनिमित्तवाद से भिन्न है।

तदपेक्षमेव च विपच्य घटो भवतीत्यादौ विपाकादिक्रियायाः पौर्वकाल्यं

क्त्वाप्रत्ययस्य विषयो वेदितव्यः, यथाधिश्रित्य पाचको भवतीत्यादौ पाका-द्यपेक्षमधिश्रयणादेर्न भवनक्रियापेक्षम्। सा हि नावश्यं प्रयुज्यते। प्रतीयते तु पदार्थानां सत्ताऽव्यभिचारात्, न तु तावता तदपेक्षं तदिति मन्तव्यं, तस्या बहिरङ्गत्वाद् अर्थस्यासङ्गतिप्रसङ्गाच्च।

और उसी (प्रवृत्ति-निमित्त रूप घटन क्रिया) को लेकर 'पककर घट होता है' इत्यादि स्थलों में विपाक आदि क्रियाओं की पूर्वकालिकता क्त्वा प्रत्यय का विषय माननी चाहिए। जैसे 'चूल्हे पर चढ़ा कर पाचक होता है, इत्यादि में चढ़ाना क्रिया की पूर्वकालिकता पाचक की पचनक्रिया को लेकर है। (भवति की) भवनक्रिया (होता है) को लेकर नहीं। वह (भवनक्रिया) अनिवार्य रूप से नहीं बोली जाती। (वह सत्ता रूप है) और पदार्थों की सत्ता नियमतः ज्ञात होती रहती है। इतने भर से हुए (सत्ता-भवनक्रिया) को लेकर वह (पूर्वकालिकता) नहीं मानना चाहिए। कारण कि वह बहिरङ्ग क्रिया है और उससे अर्थ भी अव्यवस्थित हो जाता है।'

तदपक्षेनैव चेति **घटनादिक्रियापेक्षम्।** तावतेति **प्रतीतिमात्रेण।** तदपेक्षं **सत्तापेक्षम्।** तत् **पौर्वकाल्यम्।**

नोट—(पृ० २९ के अस्य ग्रन्थस्य""""प्रायेणेत्युक्तम्' इस व्याख्यनांश का अनुवाद)—

"इस ग्रन्थ का संग्रहकारिका तथा दूसरे ग्रन्थांश से विरोध दिखाई देता है। यहाँ सामान्यभूत भवन क्रिया को बहिरङ्ग कहा जा रहा है और विशेषरूप (पचन, गमन आदि) क्रिया को अन्तरङ्ग वहाँ (कारिका में और अन्य ग्रन्थांश में) विशेष क्रिया को बहिरङ्ग तथा सामान्य क्रिया को अन्तरङ्ग कहेंगे। यह हुआ एक विरोध। इसके अतिरिक्त यहाँ गम्यमान (भू आदि) क्रिया को छोड़ प्रयुज्यमान (पचन) क्रिया को लेकर पूर्वकालिकता ठहराई। आगे 'जो थोड़ा भी मेरे पास है वही बहुत है, यहाँ प्रतीयमान क्रिया को लेकर पूर्वकालिकता बतलाएँगे। यह दूसरा विरोध हुआ।

(परन्तु) यह विरोध (होता) नहीं है। यहाँ जो सामान्य क्रिया को बहिरङ्ग कहा वह उसके अप्रयुज्यमान (वाक्य में बिना ही बोले काम चला लेने से) होने से। जो विशेष क्रिया को अन्तरङ्ग कहा गया है वह प्रयुज्यमान (वाक्य में अवश्य प्रयुक्त) होने से। आगे जो विशेष क्रियाओं को बहिरङ्ग कहा जायगा वह उनके व्यभिचार (वाक्य में अभाव, सभी विशेष क्रियाएँ सभी वाक्यों में नहीं होतीं) को लेकर और सामान्य क्रियाओं को अन्तरङ्ग कहा गया, वह उनके अव्यभिचार से। इस प्रकार दृष्टिभेद से भेद करने के कारण प्रथम विरोध तो नहीं है। (दूसरे के लिए) नियमतः प्रतीत होनेवाली सामान्य क्रिया को लेकर पूर्वकालिकता कहीं। विशेष क्रिया (वाक्य में) अपेक्षा लेकर प्रयुक्त होती है। अतः दूसरा विरोध भी नहीं होता। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'प्रायेण' यह शब्द दिया है।"

विमर्श : 'विपच्य घटो भवति' यहाँ तीन क्रियाएँ हैं—विपच्य की—पचन, घट की घटन तथा भवति की—भवन। इनमें पचन पूर्वकालिक कृदन्त के साथ है अतः वह पूर्वकालिक क्रिया है। 'घटन' सिद्धावस्था की क्रिया है और भवन—साध्यावस्था की। प्रश्न है—पूर्वकालिकता पचन में किस क्रिया की अपेक्षा मानी जाय, घटन की अपेक्षा या भवन की अपेक्षा। ग्रन्थकार का मत है कि घटन की अपेक्षा ही पूर्वकालिकता मानी जानी चाहिए। भवन के निषेध में उन्होंने दो हेतु दिए—१. 'भवन' क्रिया बहिरङ्ग है। अर्थात् उसका प्रयोग न करने पर भी उसका बोध हो जाता है। भवन=सत्तारूप है। सत्ता प्रत्येक पदार्थ में रहती है। २. अर्थ की व्यवस्था बिगड़ जाती है। इनमें प्रथम हेतु विशेष महत्त्व का नहीं। कारण कि आगे कई स्थलों में प्रतीत क्रिया को लेकर पूर्वकालिकता मानी

गई है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जहाँ अनेक क्रियाएँ हैं वहाँ विशेष क्रिया को लेकर ही पूर्वकालिकता मानी जानी चाहिये। दूसरा हेतु महत्वपूर्ण है। 'घट' घट तब होता है जब पक जाता है' इस अर्थ में विपच्य घटो भवति' प्रयोग हुआ है। इसे 'घट—तब होता है जब पक जाता है' ऐसा भी माना जा सकता है किन्तु ऐसा करने पर 'घट' शब्द में अर्थान्तरसंक्रमितता या उपादान लक्षणा माननी होगी। बिना किसी प्रयोजन के ऐसा मानना ठीक नहीं।

यहाँ का 'व्याख्यानांश' प्राचीन संस्करण में स्थान पर नहीं छपा। उसे ननु तावता तदपेक्षं तदिति मन्तव्यम्' की टीका के बाद और 'तत्पूर्वकालत्वाभावात्' की टीका के पहले छपना चाहिये।

प्रयुज्यमानक्रियापेक्षमेव च प्रायेण पौर्वकाल्यं क्त्वो विषयो न प्रतीयमानापेक्षम्। इतरथा—

'श्रुत्वापि नाम बधिरो दृष्ट्वाप्यन्धो जडो विदित्वापि।
यो देशकालकार्यव्यपेक्षया पण्डितः स पुमान्॥'

इत्यादि प्रयोगजातमनुपपन्नमेव स्यात्, श्रवणादीनां तत्पूर्वकालत्वाभावात्। अत्र तु श्रुत्यादिशक्तिविरहलक्षणबाधिर्यादिक्रियापेक्षमेव श्रवणादीनां पौर्वकाल्यमिति न काचिदनुपपत्तिः।

बह्वीषु च तासूत्तरोत्तरक्रियापेक्षं पूर्वपूर्वक्रियापौर्वकाल्यम्, यथा स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजतीत्यादौ। अत्र च विपचनघटनभवनरूपा बह्व्यः क्रिया इत्यत्रापि घटनापेक्षं विपचनस्य तद् भवितुमर्हत्येव, उभयत्रापि कर्तृप्रत्ययनिर्देशाविशेषात्।

केवलं कृद्वाच्यतया कर्तुरुपाधिभावं गमितेति भिन्नकर्तृकत्वभ्रमः। यथा—
'शिशिरकालमपास्य गुणोऽस्य नः क इव शीतहरस्य कुचोष्मणः।
इति धियास्तरुषः परिरेभिरे घनमतो नमतोऽनुमतान् प्रियाः॥'

इत्यत्र कुचोष्मणः कर्तुर्हरणक्रिया। अत एव केचदपास्येत्ययं ल्यबन्तप्रतिरूपको निपात इति व्याख्यातवन्तः। यथा वा—

'निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम्।
असंस्कृतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः॥'

इत्यत्र निरीक्षणक्रियाकर्तुर्मृत्योर्भयपक्षपातनक्रिये विषयविषयिभावभङ्ग्योपात्ते।

यथा वा 'यां दृष्ट्वापि समुत्सके मनसि मे नान्या करोत्यास्पदम्' इत्यत्र दर्शनक्रियाकर्तुर्मनसोऽन्यकर्तृकास्पदक्रियानधिकरणभावेनोपात्तस्यौत्सुक्यक्रिया विशेषणभावेनोपात्ता।

क्वचिद् कर्तुः सम्बन्धितामुपगतासौ भ्रमहेतुः। यथा 'स्मर संस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे' इति।

क्त्वा प्रत्यय का विषय जो पौर्वकाल्य है वह भी प्रयुज्यमान क्रिया की ही अपेक्षा, प्रतीयमान क्रिया की अपेक्षा नहीं। नहीं तो जो व्यक्ति देश काल और कार्य को दृष्टि में रखते हुए सुनकर भी

बहरा, देखकर भी अंधा (और) जानकर भी अनजान होता है बड़ा पण्डित है इत्यादि अनेक प्रयोग असंगत ही ठहरेंगे क्योंकि सुनना आदि क्रिया में उस (प्रतीयमान क्रिया) की अपेक्षा पूर्वकालता नहीं है। इस पक्ष में (प्रयुज्यमान क्रिया की अपेक्षा ही क्त्वा की पूर्वकालता वाले पक्ष में) तो कोई अनुपपत्ति होती नहीं क्यों कि इस पक्ष में सुनने आदि की शक्ति के अभाव स्वरूप बाधिर्य आदि क्रिया की अपेक्षा सुनने आदि क्रिया की पूर्वकालता है ही।

उनके अनेक होने पर परवर्ती क्रियाओं की अपेक्षा पूर्ववर्ती क्रियाओं की पूर्वकालता माननी चाहिए, जैसे, स्नान भोजन और जलपान कर जाता है—इत्यादि में। यहाँ भी (विपच्य घटो भवति वाक्य में) विपचन, घटन और भवन रूप अनेक क्रियाएँ हैं इस लिए यहाँ भी घटन की अपेक्षा विपचन का वह (पूर्वकालत्व) होना चाहिए (भवन की अपेक्षा नहीं) क्योंकि (घटन और भवन) दोनों ही में कर्तृ प्रत्यय का समान रूप से प्रयोग है। कृत्प्रत्यय से वाच्य होने के कारण कर्त्ता की उपाधि बन जाने से भिन्नकर्तृत्व का भ्रम होता है। जैसे—शिशिर काल बिता देने पर हमारी इस शीत हरणकारी स्तन की ऊष्मा का लाभ ही क्या, यह सोच कर प्रियाओं ने मान दूर कर दिया और प्रणाम करते हुए अपने प्रियों का घना आलिङ्गन किया। यहाँ कुचोष्मा रूपी कर्त्ता की हरण क्रिया। इसीलिए कुछ लोगों ने 'अपास्य' यह ल्यबन्तप्रतिरूपक अव्यय है ऐसी व्याख्या की है और जैसे—जिसने परशुराम की आराधना की है ऐसे राधापुत्र कर्ण को क्रोध से आगबबूला देखकर मृत्यु भी अपने अपरिचित भयों से सविशेष परिचित हो सकता है।' यहाँ निरीक्षण क्रिया के कर्त्ता मृत्यु को डरना, और 'पक्षपात करना' दोनों क्रियायें विषयविषयि-भाव की रीति से ग्रहण की गई हैं।

या जैसे—जिसे देखकर ही समुत्सुक हुए मेरे मन में कोई दूसरी स्थान नहीं बना पाती। यह दर्शन क्रिया के कर्त्ता मन में, जो दूसरी नायिका द्वारा की जाने वाली आस्पद क्रिया के अनधिकरणरूप से यहाँ उल्लिखित है, औत्सुक्य क्रिया विशेषण रूप से ग्रहण की गई है।

कहीं कर्त्ता के साथ सम्बन्धित होने के कारण यह भ्रम पैदा करती है। यथा—स्मर ? स्मरण करके मुझे शान्ति नहीं होती।

तत्पूर्वकालत्वाभावादिति। **अव्यभिचरितप्रतीयमानभवनक्रियापूर्वकालत्वाभावादित्यर्थः।** अत्र त्विति **प्रयुज्यमानक्रियापेक्षे पौर्वकाल्ये।** उभयत्रापीति। **घट इति भवतीति च द्वयोरपि यथाक्रमं गुणप्रधानक्रियावाचिनोः, कर्तरि अचस्तिपश्चोत्पत्तेः।** कर्तुरुपाधिभावमिति **अप्राधान्यात् कर्तारं प्रति विशेषणभावं प्रापिता तेन तस्या निमग्नत्वात् तदपेक्षपौर्वकाल्याभावभ्रमः! कर्त्ता च द्विविधः—शुद्धः क्रियान्तरापेक्षयानुभूतकारकान्तरसम्बन्धश्च। आद्यो यथा विपच्येत्यादौ। द्वितीयो यथा 'यां दृष्ट्वे'त्यादौ।** विषयविषयिभावेति। **भयपक्षपतनक्रियाद्वयापेक्षं निरीक्षणस्य पौर्वकाल्यम्। मृत्युरेव हि निरीक्षते बिभेति पक्षे च पतति। केवलं पक्षपतनापेक्षया भयक्रियाया एव विषयत्वम्।** स्मरेति **अहं संस्मृत्य न शाम्यामीत्यर्थः।**

(१) **तत्पूर्वकालत्वात्**—नियमतः प्रतीत होनेवाली जो प्रतीयमान भवन क्रिया उसके पूर्वकालत्व के अभाव से।

(२) **अत्र तु**—प्रयुज्यमान क्रिया को लेकर पूर्वकालिकता मानने पर।

(३) **उभयत्रापि**—'घट और भवति' इन दोनों में (प्रथम) अप्रधान रूप से क्रिया का वाचक है दूसरा प्रधान रूप से प्रथम (घट) में अच् प्रत्यय हुआ है और दूसरे (भवति) में तिप्। दोनों प्रत्यय कर्ता अर्थ में हैं।

(४) **कर्तुरुपाधिभावम्**—अप्रधान होने से क्रिया (घट में) कर्त्ता का विशेषण बन गई। इसलिए उसके (कर्तृ स्वरूप में) छिप जाने से यह भ्रम होता है कि पौर्वकाल्य उसको लेकर नहीं हो रहा है। कर्ता दो प्रकार का होता है एक शुद्ध जो दूसरी किसी क्रिया को लेकर बनता है, दूसरा वह जिसे किसी दूसरे कारक के सम्बन्ध का अनुभव होता है। प्रथम है—'विपच्यघटो भवति' में और दूसरा 'यां दृष्ट्वा' इस पद्य में।

(५) **विषयविषयिभाव**—भय और पक्षपतन—इन दो क्रियाओं की अपेक्षा निरीक्षण की पूर्व कालिकता है। मृत्यु ही देखती है, डरती है और पक्ष पर टूटती है। केवल पक्षपतन क्रिया को लेकर भयक्रिया ही विषय है।

(६) **स्मर-इति**—मैं स्मरण कर शांतिलाभ नहीं करती।

केचित् पुनः कर्तृक्रिययोरनुपादानमपि हेतुमिच्छन्ति। तत्र कर्त्तुर्यथा—

"ननु सर्व एव समवेक्ष्य कमपि गुणमेति पूज्यताम्।
सर्वगुणविरहितस्य हरेः परिपूजया कुरुनरेन्द्र! को गुणः"

अत्र हि समवेक्षापूजयोरेको लोकः कर्त्ता। स च सामर्थ्यसिद्ध इति नोपात्तः। पूजा चोपात्तापि कृद्वाच्यतया कर्मोपसर्जनीभूतेत्युभयं भ्रमहेतुः। क्रियाया यथा—

"अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलनम्रताम्।
अनुत्सृज्य सतां मार्गं यत् स्वल्पमपि तद्बहु॥"

अत्र हि प्रकरणादिगम्याया लाभक्रियाया अनुपादानं करणादीनां भिन्नकर्तृकत्वभ्रमहेतुः। तदुक्तम्—

'कर्त्तुरुपाधितयोक्ता कृद्वाच्यतया गतान्यगुणतां वा।
क्त्वो भिन्नकर्तृकत्वभ्रमाय भवति क्रियाऽवचश्च तयो॥'
'पौर्वापर्यं क्रियाणां यद् वास्तवं तदपेक्षिणि।
क्त्वः पौर्वकाल्ये किं तासां प्राधान्येतरचिन्तया॥'

इत्यलमनेन।

और कुछ लोग कर्ता या क्रिया के अनुपादान को भी कारण मानते हैं। उनमें कर्ता का जैसे—

'सभी लोग कोई गुण देखकर पूज्यता को प्राप्त होते हैं। हे कुरु नरेन्द्र! सभी गुणों से रहित कृष्ण की पूजा से क्या?'

यहाँ समवेक्षा (देखना) और पूजा दोनों क्रियाओं का एक ही कर्ता है—लोक। वह शब्दशक्ति या वाक्यशक्ति से अपने आप समझ में आ जाता है। इसलिए शब्द द्वारा नहीं कहा गया। पूजा यद्यपि शब्द द्वारा कही गई है। किन्तु वह भी कृद्वाच्य होने से कर्म के प्रति उपसर्जन हो गई इसलिए दोनों ही भ्रम के कारण हैं।

क्रिया का जैसे—

'दूसरों को संतप्त न कर, खलों के प्रति नम्र न बनकर, सज्जनों का मार्ग न छोड़कर जो भी थोड़ा बहुत (लाभ हो जाय) वही पर्याप्त है।

यहाँ प्रकरणादि से प्रतीत होने वाली लाभक्रिया का उपादान नहीं हुआ है। वह 'करना' आदि क्रिया के निम्नकर्तृत्व के भ्रम का कारण है। जैसा कि कहा गया है—

'क्रिया क्त्वा प्रत्यय के भिन्नकर्तृत्व का भ्रम कराती है यदि वह कर्त्ता की उपाधि बनकर प्रयुक्त हो या कृत्प्रत्ययों से कथित, अथवा किसी दूसरे का विशेषण बनी हुई हो।'

'क्रियाओं का जो पौर्वा-पर्य वास्तविक है उसी के पौर्वकाल्य (पूर्वकालिकता) का ज्ञान क्त्वा प्रत्यय कराता है। ऐसी स्थिति में (जहाँ क्त्वा प्रत्यय नहीं रहता वहाँ भी क्रियाओं का पौर्वापर्य रहता ही है इसलिए) उन (क्रियाओं) के प्रधान अप्रधान होने की चिन्ता (शंका) से क्या ? (शंका उठती ही नहीं)।'

इस प्रकार—इस विषय का इतना ही विवेचन काफी है। अधिक अप्रासङ्गिक होगा।

घटतीति घटो ज्ञेयो नाघटन् घटतामियात्।
अघटत्वाविशेषेण पटोऽपि स्याद् घटोऽन्यथा ॥ ८ ॥
घटनञ्च तदात्मत्वापत्तिरूपा क्रिया मता।
मूलञ्च तस्याश्चित्रार्थाभासाविष्कृतिरीशितुः ॥ ९ ॥
यः कश्चिदर्थः शब्दानां व्युत्पत्तौ स्यान्निबन्धनम्।
प्रवृत्तौ तु क्रियैवैका सत्तासादनलक्षणा ॥१०॥
तस्यामेव क्विबाद्याश्च विधेयाः कर्तृमात्रतः।
न तूपमानादाचारे तयोरर्थात् प्रतीतितः ॥११॥
यथा ह्यश्वति वालेय इत्यतोऽर्थः प्रतीयते।
अश्वत्वमासादयति खर इत्यर्थतः पुनः ॥१२॥
अश्वतुल्यसमाचारः खर इत्यवसीयते।

घटन क्रिया-युक्त पदार्थ को ही घट समझना चाहिए। घटनक्रियारहित घटरूप नहीं हो पाता। ऐसा न मानने पर पट भी घट हो सकता है, कारण कि घटत्व का अभाव घट के समान उस (पट) में भी रहता है। यह घटनक्रिया तद्रूपताप्राप्ति का नाम है। उसका कारण ईश्वर का वह निर्माण है जो भाँति-भाँति के पदार्थों को भासित करता है। शब्दों की व्युत्पत्ति में तो कोई भी अर्थ कारण हो सकता है। प्रवृत्ति में एक मात्र क्रिया ही कारण बनती है। वह सत्ताप्राप्तिरूप होती है। उसी में कर्त्ता के लिए क्विप् आदि प्रत्यय होते हैं। वे प्रत्यय उपमान के लिए आचार अर्थ में नहीं होते। उनकी प्रतीति तो अपने आप हो जाती है। जैसे 'वालेय अश्वति' का अर्थ निकलता है कि गधा घोड़ापन पाता है।

फिर इस अर्थ से 'गधा अश्व के समान आचार वाला है' ऐसा प्रतीत होता है।

ननु सर्व एवेति। **सर्वः गुणसमवेक्षितुर्लोकस्य कर्त्तुः स एव कर्मभूतः पूज्यतामेतीत्यर्थः। सर्वो गुणसमवेक्षिता लोकः पूज्यो भवतीत्यर्थः।**

इसमें कर्ता है गुणद्रष्टा व्यक्ति। उसका कर्म है सर्व शब्द से कहा जा रहा व्यक्ति। वही कर्मभूत व्यक्ति पूज्यता को प्राप्त होता है। अर्थात् प्रत्येक गुण देखने वाले व्यक्ति पूज्य होते हैं।

यहाँ देखना और पूज्य होना दोनों क्रियाएँ एक कर्ता पर निर्भर नहीं लगतीं। ऐसा लगता है—कि जो गुणवान् बनता है वह यह सोच कर कि लोग गुण को देखकर ही आदर देते हैं।

विशेषणसम्बन्धश्चे**ति यत् स्वल्पं लाभक्रियाविषयस्तद्धतुत्वेन विशेष्यते।**

लाभ क्रिया के विषय—'स्वल्प' में विशेषण लगाया जा रहा है।

(यह प्रतीक मूल में नहीं है।)

कर्तुरुपाधितयेति। **अत्र शान्त्यादिक्रियायाः कर्तृसम्बन्धित्वेनोपादानमपि सङ्ग्रहीतव्यम्**

यहाँ शान्ति आदि क्रिया का, कर्ता के सम्बन्ध से, उपादान भी संग्राह्य है।

पौर्वापर्यं क्रियाणामिति। **इह द्विविधं क्रियाणां पौर्वापर्यं शाब्दं वास्तवं च। तत्र शाब्दं प्रायेणाख्यातशब्दवाच्यया प्रधानक्रियया सह गुणक्रियाणां, तासां तया सह गुणप्रधानभावेन सम्बन्धस्योचितत्वात्, 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यादि'ति न्यायेन गुणक्रियाणां परस्परं सम्बन्धाभावाच्च। वास्तवं तु यद्वस्तुबलप्रवृत्तं, तद् गुणक्रियाणामपि सम्भवत्येव। आपेक्षिकस्य गुणप्राधान्यस्य तास्वपि भावात् सम्बन्धोपपत्तिः, यथा पश्य मृगो धावतीति प्रधानक्रिययोः। एवञ्च गुणक्रियाणां वास्तवपौर्वापर्याश्रयेण क्त्वाप्रत्ययस्य प्रयुज्यमानत्वात् शाब्दप्राधान्येतरभावो न प्रयोजकः। अस्य न्यायस्यात्रापीत्थमेव स्थितिरिति बहुतरलक्ष्यसिद्धिः।**

क्रियाओं का पौर्वापर्य दो प्रकार का होता है—शाब्द और वास्तव। इनमें शाब्द प्रधान और अप्रधान क्रियाओं का होता है। प्रधान क्रिया आख्यात वाच्य होती है। उसके साथ अप्रधान क्रियाओं का प्रधान-अप्रधानभाव सम्बन्ध बन सकता है। 'गुणानां च' 'अप्रधान प्रधान के लिए होते हैं। वे आपस में सम्बन्धित नहीं हो सकते' इस नियम के अनुसार अप्रधान क्रियाओं का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता। वास्तविक पौर्वापर्य पदार्थों की स्वाभाविक गति पर निर्भर रहता है। वह अप्रधान क्रियाओं में भी हो सकता है। अप्रधान क्रियाओं में भी ऐच्छिक प्रधान अप्रधानभाव हो सकता है। अतः उनमें भी यह सम्बन्ध बन सकता है। जैसे—'देखो, हिरन दौड़ रहा है'—इस वाक्य में प्रधान क्रियाओं का पौर्वापर्य है। अप्रधान क्रियाओं का जो 'वास्तविक' (वस्तु = शब्द नहीं उसका अर्थ) पौर्वापर्य है उसके लिए क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग होता है। उसमें (आख्यात और अप्रधान क्रियापद से) शब्दतः कथित प्रधानअप्रधानभाव का काम नहीं पड़ता। इस सिद्धान्त की यहाँ भी इसी प्रकार संगति है। इस प्रकार एक ही सिद्धान्त से बहुत का काम बन जाता है।

घटतीत्यादि। **घटत्वमापद्यते। घटतीति प्रातिपदिकाद्वक्ष्यमाणक्रमेण क्विपि परस्मैपदम्। एवं नाघटन्निति शतृप्रत्ययः। इह हि घटादयः शब्दाः स्वविषये प्रवर्त्तमानाः प्रवृत्तिनिमित्तं किञ्चिदवलम्ब्य प्रवर्त्तन्ते। तच्च तेषां प्रवृत्तिनिमित्तमाश्रयणीयं यत् पदार्थस्य स्वरूपीभूतम्। न हि परभूतेन घटत्वसामान्यादिना परत्र व्यपदेशो न्याय्यः परत्वाविशेषे सर्वत्र सर्वे व्यपदेशाः स्युः। न हि स्वयमप्रकाशमानस्वभावो घटः प्रकाशत इति व्यपदिश्यते। स्वयमश्वेतस्वभावो वा प्रासादः श्वेत इति। एवञ्च स्वरूपेण घटत्वेन घटो घट इति व्यपदिश्यते। स्वरूपभूतं च घटत्वं साध्यत्वेन प्रतीतेर्घटत्वापत्तिलक्षणा क्रियोच्यते। सैव च घटना घटात्मतारूपा। तस्यां च स(न्तु ? तो ?) (त्यां) नाममात्रात् क्विबादयः कार्याः। आदिग्रहणेन क्यच्क्यङौ गृह्येते। क्विपि कृते कर्तर्युत्पन्नस्याप्रत्ययादेरार्धधातुकस्य लोपः कर्त्तव्यः। सर्वत्रोपमानप्रतीतिरन्यस्यान्यरूपापत्तेरौपम्यप्राणत्वात्। पुत्रीयति च्छात्रः हंसायते काकः इत्यादौ हि च्छात्रकाकयोः क्रमेण पुत्रत्वहंसत्वापत्तिः सादृश्यपर्यवसायिन्येव प्रतीयते। ततश्च प्रतीत्यनुगुणत्वेन लक्ष्यसिद्ध्यर्थमन्यथा लक्षणं प्रणेतव्यम्।**

प्रसिद्धलक्ष्यसिद्ध्यर्थं लक्षणं तच्च भिद्यते।
अभियोगस्य वैशिष्ट्यात् तत्कृतं तच्च गृह्यते॥ २॥ इत्यन्तरश्लोकः।

यथा हि भवत्यादिशब्दं लटि तिपि शपि च केचिदाचक्षते। अन्येतु (श्ति ?)तिशब्द-मविकरणं च ब्रुवते। अपरेतु भवत्यादेरतिप्रत्ययं कुर्वन्ति। सर्वेषु पक्षेषु भवत्यादिरेव शब्दः साध्यः। एवं घटादयः शब्दा व्युत्पाद्याः! ते च लक्ष्याविरोधेन यथाप्रतीति व्युत्पाद्यन्ते। अतश्च घटादिशब्दात् क्विप्यजादौ (च) प्रत्यये तल्लोपे च कृते प्रायोगिका घटादयः शब्दा व्युत्पाद्याः। तत्सिद्धये चैवम्भूतलक्षणमुक्तन्यायेन प्रणेतव्यमेव। ननु घटत्वमापद्यत इत्यत्र प्रवृत्तिनिमित्ते कथं घटशब्दस्तत्राप्येवमिति चेदनवस्था। घटेर्धातोरच्प्रत्ययेन कृतेन किमपराद्धं, येनैषा कुकल्पनाश्रीयते। नैतत्। प्रायोगिकघटशब्दसिद्ध्यर्थं घटिरच्प्रत्ययान्तः प्रवृत्तिनिमित्तैकदेशाभिधायी उपायमात्रत्वेन गृह्यते। न तु तस्य स्वतन्त्रत्वेन प्रयोगः! स्वरूपीभूतघटत्वापत्तिलक्षणं हि घटशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। तदेकदेशश्च घटत्वमुपाय-भूतस्य घटशब्दस्यार्थः। स च घटशब्दोऽत्र प्रकृतित्वेनैव प्रयुज्यते, यथा 'मृगाङ्कनिभ-माननं' मित्यत्र समासविषयत्वेन निभशब्दः। शक्तिस्वाभाव्याद्धि निभशब्दो वाक्ये न प्रयुज्यते। एवमत्र घटशब्दः प्रायोगिकघटशब्दप्रकृतित्वमपहाय न क्वचित् प्रयुज्यते। घटत्व-मापद्यत इत्यत्र विवक्षायां घटो भवतीति तु प्रक्रियावाक्यमेतत्। अतश्चानकारान्तेभ्य इकारान्तादिभ्यो व्यञ्जनान्तेभ्यश्च क्विप्यजादौ तल्लोपे च दधि भिषगित्यादयः शब्दाः सिद्धा भवन्ति।

घटतीत्यादि घटति—घटत्व को प्राप्त होता है। 'घटति' इसमें प्रातिपदिक से आगे कहे अनुसार क्विप् और परस्मैपद हुए। इसी प्रकार 'अघटन्' में शतृप्रत्यय। लोक में घट आदि शब्द अपने-अपने अर्थों में तभी प्रवृत्त होते हैं जब वे अपने प्रवृत्ति का कोई निमित्त पा लेते हैं। उनकी प्रवृत्ति का निमित्त वही वस्तु माननी चाहिए जो पदार्थ की स्वरूपभूत वस्तु हो। घटत्व आदि घट आदि पदार्थ के स्वरूप से भिन्न हैं। उनके आधार पर उनसे भिन्न घट वस्तु के लिए शब्द की प्रवृत्ति मानना ठीक नहीं। कारण कि भिन्नत्व अन्य सभी पदार्थों में रहेगा। वे सभी शब्दों के विषय बन जायेंगे। ऐसा नहीं कहा जाता कि बिना स्वरूप का प्रकाश हुए ही घट प्रकाशित होता है। कोई मकान बिना सफेद हुए सफेद नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार घट उस घटत्व से घटशब्दवाच्य बनता है जो घटस्वरूप होता है। यही स्वरूपभूत घटत्व साध्यरूप से प्रतीत होता है। इसलिए इसीको 'घटत्वप्राप्ति' रूप क्रिया कह दिया जाता है। वही क्रिया घटना है। वह 'घटात्मता' रूपी होती है। उसके रहने पर केवल 'नाम' से क्विप् आदि प्रत्यय किए जाते हैं। आदि शब्द से अन्य क्यच् और क्यङ् आदि लिए जा सकते हैं। क्विप् हो जाने पर कर्त्ता अर्थ में आए आर्धधातुक अच् का लोप करना चाहिए। ऐसी जगह सर्वत्र उपमा की प्रतीति होती है कारण कि उपमा के ही आधार पर दूसरा पदार्थ दूसरे पदार्थ का स्वरूप अपनाता है 'छात्र पुत्र का आचरण करता है। कौआ हंस बन रहा है' इत्यादि में छात्र और काक की क्रमशः पुत्रत्व तथा हंसत्व की प्राप्ति सादृश्य में ही पर्यवसित होती है। इसलिए जैसी प्रतीति होती है उसकी सिद्धि के लिए वैसा ही लक्षण बनाना चाहिए।

'लक्षण पूर्वसिद्ध लक्ष्य की सिद्धि के लिए किया जाता है। यदि अभियोग (वक्ता की प्रवृत्ति) में वैशिष्ट्य हो तो वह बदल दिया जाता है और उसके आधार पर बनाया गया वह (लक्षण) स्वीकार किया जाता है।'

जैसे—कुछ लोग भवति आदि शब्द को 'लट्, तिप् और शप्' करने पर निष्पन्न मानते हैं। दूसरे लोग 'ति' शब्द और 'अ' विकरण मानते हैं और लोग 'भू' आदि में 'अति' प्रत्यय लगाते

हैं किन्तु सभी प्रकारों में रूप 'भवति' ही बनाया जाता है। इसी प्रकार घट आदि शब्दों की व्युत्पत्ति करनी चाहिए। उनकी भी व्युत्पत्ति लक्ष्य का विरोध न करते हुए प्रतीति के अनुरूप ही की जानी है। इसीलिए घट आदि शब्दों से 'क्विप्'-'अच्' आदि प्रत्यय, और उनका लोप करने के बाद प्रयोग में आने वाले घट आदि शब्दों की व्युत्पत्ति करनी चाहिए और उनकी सिद्धि के लिए उक्त रीति से ऐसा लक्षण बनाना ही चाहिए। शंका—'घटत्व को प्राप्त होता है' यहाँ प्रवृत्तिनिमित्त (घटत्व) में घट शब्द कैसे आया ? उसमें भी इसी तरह ऐसा कहें तो अनवस्था दोष होगा ? घट आदि धातु से अच् प्रत्यय करने में क्या बिगड़ता है जिससे यह कुकल्पना अपनाते हैं ?उत्तर = ऐसी बात नहीं है। प्रयोग में आने वाले घट शब्द की सिद्धि के लिए अच् प्रत्यय युक्त घट धातु को, जो ('घटत्वापत्ति' इस) प्रवृत्तिनिमित्त के एक अंश (घटत्व) का वाचक है, केवल उपायरूप से अपनाते हैं। उसका प्रयोग स्वतंत्र रूप से नहीं करते। घट शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त तो स्वरूपभूत घटत्व की प्राप्तिरूप है उसका एकदेश घटत्व उपायभूत घट शब्द का अर्थ है। वह घट शब्द यहाँ प्रकृति रूप से ही प्रयुक्त किया जा रहा है जैसे 'मृगाङ्कनिभ आनन' में निभ शब्द केवल समास (मृगाङ्क) के लिए ही अपनाया जाता है। ऐसी ही शब्दशक्ति है कि निभ शब्द वाक्य में स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त नहीं किया जाता। इसी प्रकार यहाँ घट शब्द है। वह प्रयोग में आने वाले घट शब्द की प्रकृति बनने (घटत्वापत्ति के घटत्व या घट) के अतिरिक्त और कहीं प्रयुक्त नहीं होता। 'घटत्व को प्राप्त होता है'—इस विवक्षा में 'घट होता है' यह प्रक्रिया वाक्य है ? इसलिए अ-नकारान्त इकारान्त और व्यञ्जनान्त शब्दों से क्विप् अच् आदि प्रत्यय और उनका लोप करने पर दधि भिषक् इत्यादि शब्द सिद्ध होते हैं।

मूलं च तस्या इति। **नन्वचेतनानां घटादीनां सत्ताप्रतिलम्भलक्षणायां क्रियायां परामर्शलक्षणस्वभावं कर्तृत्वं, तस्य चेतयदर्थेष्वेवोपपत्तेरित्याशङ्क्योक्तं—**मूलमि**ति। इह खलु घटादीनां पदार्थानां बहिः सिद्धावपि प्रतिपत्तर्यसिद्धावसिद्धिरेव, बहिः सत्तामात्रेणासङ्कल्पेन व्यवहर्तॄणां व्यवहारासिद्धेः। प्रतिपत्तरि सिद्धिः प्रकाश एव। स चाप्रकाशमानानां प्रकाशं प्रति ताटस्थ्येनावस्थितानां न भवति सम्बन्धानुपपत्तेः। प्रकाशमानत्वं च प्रकाशाविशिष्टत्वेन प्रकाशरूपतयैव। प्रकाशश्च निष्परामर्शत्वेन स्फुरत्त्वारहितत्वाज्जडकल्प एव। परामर्शः स्वातन्त्र्याख्यं कर्तृत्वम्। तदिहैकैकोऽपि पदार्थः प्रकाशात्मतया लब्धस्वातन्त्र्यस्वभावः परमेश्वरः कर्तृत्वमनुभवत्येव। यदुक्तं तत्र भवता—'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सारूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्चे'ति। ततश्च विश्वस्याविष्करणक्रियास्वतन्त्रस्वभावपरमेश्वरसम्बन्धिनीं चित्राभासाविष्कृतिं मूलत्वेनावष्टभ्य घटादयोऽपि प्रकाशैकात्मानः सत्ताव्यापृतौ स्वतन्त्रतामनुभवन्त्येव। अनेनैवाशयेनोक्तं 'मूलं च तस्या' इति एतदेव प्रकटीकरिष्यति 'सत्तायां व्यापृतिश्चेयमि'ति।**

मूलं च तस्याः—शंका घट आदि अचेतन होते हैं। सत्तासादन-क्रिया में उनमें परामर्श स्वरूप स्वभाव कर्तृत्व आता है। जब कि वह (कर्तृत्व) केवल चेतन पदार्थों में ही संभव है। इस पर उत्तर देते हैं मूलं च तस्याश्चित्रार्थाभासा। संसार में घट आदि की पदार्थ सिद्धि बाहर होती है। तब भी ज्ञाता में सिद्धि न होने पर उनकी असिद्धि ही रहती है। बाहर तो झूठी सत्ता रहती है। उसी के आधार पर व्यवहार करने वाले व्यवहार चलाते रहते हैं। ज्ञाता में जो सिद्धि है वह प्रकाश ही है। वह प्रकाश प्रकाशित न हो रहे अर्थात् प्रकाश के प्रति तटस्थ (प्रकाश से दूर) पदार्थों का नहीं होता। कारण कि उनका संबन्ध (प्रकाशानुरूप इन्द्रिय सन्निकर्ष) नहीं बनता। उनका प्रकाशित होते रहना भी प्रकाश से भिन्न नहीं होता। प्रकाश रूप से ही वे प्रकाशित

होते हैं और वह प्रकाश परामर्श के बिना स्फुरण (जैसे तारों की टिमटिमाहट) मात्र होता है, अतः जड़वत् ही होता है। परामर्श कहलाता है स्वातंत्र्य नामक कर्तृत्व। इस लिए संसार का प्रत्येक पदार्थ प्रकाश रूप होने से स्वातंत्र्य-स्वभाव लिए रहता है अतः वह परमेश्वर रूप होता है और इस प्रकार उसमें कर्तृत्व रहता ही है। जैसा कि कहा है—'ब्रह्म का प्रदेश भी ब्रह्म की सत्तात्मकता से रहित नहीं रहता। और न भिन्न रूप से उसका विकल्प ही होता। तो इस प्रकार विश्व के आविष्कार (प्रकटन) की क्रिया में स्वतंत्र-स्वभाव के परमेश्वर की विचित्र प्रकाश-वाले आविष्कार-प्रयत्न को कारणरूप से अपने भीतर लेकर घट आदि भी एक मात्र प्रकाश रूप होकर सत्ता व्यापार में स्वतंत्रता का अनुभव करते ही हैं। इसी आशय से कहा—मूलं च तस्याः। यही बात आगे स्पष्ट करेंगे—सत्तायां व्यावृतिश्चेयम।

विमर्श : यहाँ का व्याख्यान व्याकरण तथा शैव दर्शनों की गुत्थियों से उलम्भ हुआ है। व्याकरण दर्शन में भी व्याख्यानकार की कुछ स्वतंत्र प्रक्रिया है। उसका आधार शैवदर्शन है। शैवदर्शन से समन्वय करने के लिए व्याकरण के शब्द और उसकी अर्थाभिमुख प्रवृत्ति में नई कल्पना की गई है।

(१) 'घट' कैसे बनता है ? वह पहले 'घटत्वापत्ति' क्रिया से युक्त होता है। इसी घटत्वापत्ति क्रिया को देख कर घट शब्द उसकी ओर बढ़ता है। अतः 'घटत्वापत्ति' घट शब्द की घट अर्थ की ओर होने वाली प्रवृत्ति का निमित्त (कारण) है। शंका होती है कि घटत्वापत्ति क्रिया में भी तो 'घटत्व' और उसके भीतर 'घट' शब्द है। इस घट शब्द के प्रयोग में प्रवृत्तिनिमित्त कौन ? यदि वही घटत्वापत्ति तो पुनः उसके घट के प्रयोग में वह कौन ? इस प्रकार के प्रश्नों पर इसी प्रकार का उत्तर देते रहने से किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकेगा। इस पर व्याख्यानकार समाधान देते हैं कि—यहाँ 'घट' शब्द ही इस घट का बोधक है। यह (प्रवृत्तिनिमित्तगत) 'घट' शब्द घट् धातु में अच् प्रत्यय लगाने से बना है, और इसका प्रयोग सदैव किसी अन्य शब्द के साथ होता है। स्वतंत्र नहीं। स्वतंत्र प्रयोग में न आने वाले और भी शब्द हैं। व्याख्यानकार ने ऐसे शब्दों में 'निभ' को उद्धृत किया है।

(२) **घट शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त**—न्यायशास्त्र में घटत्व है। यहाँ 'घटत्वापत्ति' क्रिया है। घटत्व को प्रवृत्तिनिमित्त न मानने में व्याख्यानकार ने हेतु दिया कि 'घटत्व' घटस्वरूप से भिन्न है। ठीक भी है। घटत्व जाति है घट द्रव्य। भिन्न होने से वह प्रवृत्तिनिमित्त नहीं बन सकता। वही प्रवृत्तिनिमित्त बन सकता है जो अभिन्न हो। अभिन्न होता है 'घटत्वापत्ति'। यह 'घटना' रूप है। घटना स्वयं घट रूप है। इसी घटना के कारण ही घट को पट नहीं कहा जाता। इस घटत्वापत्ति के साथ उसका आश्रय कर्ता जोड़ा जाता है। उसके लिए क्विप् आदि प्रत्यय होते हैं। कर्ता क्रिया (घटत्वापत्ति) से अभिन्न हो जाता है। घटत्वापत्ति में घटत्व भिन्न है कर्ता भिन्न। आपत्ति द्वारा घटत्व घट में आता है। यह आना अवास्तविक है। सादृश्य मात्र से वह कह दिया जाता है। यही सादृश्य क्विप आदि प्रत्यय के लिए 'उपमानादाचारे' आदि सूत्रों द्वारा बतलाया गया है। इस प्रकार घट को घटना क्रिया मान कर उसमें कर्ता को लाना और तब अच् क्विप् आदि करना पड़ता है। व्याकरण दर्शन में 'घट्' क्रिया से अच् क्विप् होते हैं। ये ही कर्ता का बोध कर देते हैं। व्याख्यानकार का कथन है कि शैवदर्शन में कर्ता चेतन परमेश्वर है, वह प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है, अतः कर्ता उसमें अनुस्यूत है। उसको ऊपर से नहीं लाया आता। अतः शब्द की निरुक्ति वैसी ही करनी चाहिए। किसी एक निरुक्ति पर आग्रह नहीं करना चाहिए। विद्वद्गण इसमें अन्य अभिप्राय भी निकालेंगे।

(३) जब तक कर्ता को अहंकारानुभूति नहीं होती वह क्रियावान् नहीं बनता। यह अनुभूति

चेतन को ही हो सकती है। घट है अचेतन। उसमें यह अनुभूति संभव नहीं। अतः घट आदि पदार्थों में 'घटात्मतापत्ति' क्रिया कैसे मानी जाती है इसका सरल उत्तर शैवदर्शन से यह दिया गया है कि प्रत्येक पदार्थ चेतन शिवतत्त्व से अभिन्न है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं शिव का आत्माविष्कार है। अतः उसमें चेतना न मानना अवौद्धिक है। शिव प्रकाश स्वरूप हैं। प्रत्येक पदार्थ भी प्रकाश स्वरूप है; क्यों कि उसका ज्ञान होता है। प्रकाश हीन वस्तु का ज्ञान संभव नहीं। शिव को आत्मानुभव अथवा सृष्टि करने के पूर्व 'मैं' ऐसा ज्ञान होता है। यह परामर्श या विमर्श है। यही शिव की स्वातंत्र्यशक्ति है। वह जब चाहता है तब यह विमर्श होता है। यह शक्ति शिव में भाँति-भाँति के पदार्थों का आविष्कार करती है। यह आविष्कार भी शिव से भिन्न नहीं। अतः आविष्कृत घट आदि अचेतन पदार्थ चेतन पदार्थों के ही समान शिव से अभिन्न हैं वे कर्ता हैं। यह स्वातंत्र्य रूप कर्तृत्व प्रत्येक पदार्थ में दिखाई भी देता है। प्रत्येक पदार्थ अपनी क्रिया और अपने आकार में स्वतंत्र है। इस प्रकार घटत्वापत्ति क्रिया घट आदि पदार्थों में भी रहती है। वे सर्वात्मना जड़ नहीं माने जाते। इस विषय के लिए शैवागम की शरण लेनी चाहिये।

यः कश्चिदिति। क्रिया वान्यो वेति व्युत्पत्तिनिमित्तत्वेनाव्याप्तिं दर्शयति। प्रवृत्तौ त्विति। प्रवृत्तिनिमित्तस्य नियमेन क्रियारूपतां दर्शयितुं त्विति। तयोः स्युपमानाचारयोः। अश्वत्व-मासादयतीति आत्मदर्शनाभिप्रायेण। दर्शनान्तरे तु अश्व इवाचरतीत्यर्थः स्यात्।

यः कश्चिदर्थः—व्युत्पत्तिनिमित्त होने से शब्द सिद्धि में क्रिया ही नहीं और भी कोई तत्त्व व्युत्पत्ति का कारण बन सकता है। किंतु प्रवृत्ति में नियमतः क्रिया ही कारण बनती है। तयोः—उपमान और आचार। अश्वत्व० यह अपने दर्शन के अनुसार। दूसरों के दर्शन में अश्ववत् आचरण करता है यही अर्थ होगा।

न तत्त्वसादनं युक्तं तदतुल्यक्रियस्य हि ॥ १३ ॥
सत्तायां व्यापृतिश्चैषा चित्रत्वपरिनिष्ठितेः।
सङ्गच्छते जडस्यापि घटादेर्घटनादिवत् ॥ १४ ॥
नाम्नः सत्त्वप्रधानस्य धातुकारोऽत एव हि।
शब्दवक्त्रैकदेशादेर्धात्वर्थत्वमवोचत ॥ १५ ॥
एवञ्च विपच्य घटो भवतीति क्त्वोऽस्य पूर्वकालत्वम्।
घटनापेक्षं ज्ञेयं भवनापेक्षन्तु नासमन्वयतः ॥ १६ ॥
बहिरङ्गत्वाच्च यथा भवत्यधिश्रित्य पाचकोऽयमिति।
अत्र हि पाकापेक्षाधिश्रयतेः पूर्वकालतावगतिः ॥ १७ ॥
तस्मान्नामपदेभ्यो यः कश्चिदर्थः प्रतीयते।
न स सत्तामनासाद्य शब्दवाच्यत्वमर्हति ॥ १८ ॥
इत्थञ्चास्तिभवत्यादि क्रियासामान्यमुच्यते।
नान्तरङ्गतयावश्यं वक्तारस्तत् प्रयुञ्जते ॥ १९ ॥
क्रियाविशेषो यस्त्वन्यः पाकादिर्व्यभिचारभाक्।
बहिरङ्गतया तस्य प्रयोगोऽवश्यमिष्यते ॥ २० ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः ॥

उसके समान क्रिया से युक्त न होनेवाले का उसका रूप पाना युक्तियुक्त नहीं। सत्ता के विषय में यह व्यापार (आसादन रूप) घट आदि जड़ पदार्थों में भी घटनादि क्रिया के समान सम्भव है, उनका मूल कारण पदार्थगत विचित्रता है। इसीलिए धातुकार (पाणिनि आदि) ने शब्द और मुख का एकदेश जिसका कारण है ऐसे 'नाम' (गण्ड) को धातु (गडि) का अर्थ माना है क्यों कि वह सत्त्व प्रधान है और इसी प्रकार 'विपच्य घटोभवति' इसके क्त्वा की पूर्वकालता घटन क्रिया की अपेक्षा समझी जानी चाहिए न कि भवन क्रिया की अपेक्षा, क्योंकि (भवन की अपेक्षा सबकी पूर्वकालता मानने पर) समन्वय नहीं होता और वह बहिरङ्ग भी है, जैसे अयम् अधिश्रित्य पाचको भवति, इस वाक्य में पाक की अपेक्षा अधिश्रयण में पूर्वकालता प्रतीत होती है। इस कारण नाम शब्दों से जो भी अर्थ प्रतीत होता है वह तब तक शब्द वाच्य नहीं माना जा सकता जब तक सत्ता नहीं पा लेता और इस प्रकार अस्ति भवति आदि क्रिया सामान्य क्रिया मात्र हैं। वे अन्तरङ्ग हैं, अतः वक्ता उनका प्रयोग अनिवार्य रूप से नहीं करते। पाक आदि जो दूसरी विशेष क्रियाएँ हैं वे वाक्य में कभी प्रयुक्त होती हैं और कभी नहीं, क्यों कि वे बहिरङ्ग होती हैं। इसलिए उनका प्रयोग आवश्यक होता है। ये हैं संग्रहश्लोक।

न सत्त्वासादनमिति। **अश्वत्वासादनमनश्वसदृशक्रियस्य न युक्तमिति सादृश्यं सामर्थ्यात् प्रतीयते, यथाऽब्रह्मदत्तं 'ब्रह्मदत्त' इत्याहेत्यत्र ब्रह्मदत्तसादृश्यं गम्यते तद्वदेवात्र द्रष्टव्यम्।** नाम्न इति। **सत्त्वप्रधानस्य शब्द(स्य ?) वक्त्रैकदेशादिस्वरूपस्य नाम्नो यः शब्दवक्त्रैकदेशादिरर्थस्तस्य।** अत एव **सत्तासादनरूपक्रियास्वभावतयैव धात्वर्थत्वमुक्तम्। तथा हि अणादयः शब्दार्थाः गडि वदनैकदेश इति धातुकारः पपाठ। धातुशब्देन धातुपारायणं शास्त्रं लक्ष्यते।** बहिरङ्गत्वाच्चेति। **चशब्देन पूर्वकारिकागतोऽसमन्वयः समुच्चीयते।** यथा भवत्यधिश्रित्य पाचकोऽयमिति **उभयवादिसिद्धो दृष्टान्तः।** इत्थं चास्तिभवत्यादीति। **कारिकाद्वयं पूर्वमेव निर्णीतार्थम्।**

इत्थं चायं ग्रन्थकारः—

कर्तृभेदविषयां विरुद्धतां क्त्वो निवार्य घटितक्रियाभिधः।
प्रौढवादरचनाविचक्षणो लक्ष्यसिद्धिमुदितान् कवीन् व्यधात्॥ ३॥

अश्वत्व की प्राप्ति अश्व सदृश क्रियाहीन में संगत नहीं इस प्रकार सादृश्य अपने आप प्रतीत हो जाता है। जैसे अब्रह्मदत्त (देवदत्त आदि) को ब्रह्मदत्त कहा। उससे केवल ब्रह्मदत्त का सादृश्य समझ में आता है। नाम्नः—द्रव्यवाचक (सत्त्व = द्रव्य) शब्द का स्वरूप है—(नीचे लिखे अनुसार) ध्वनि और उसका उच्चारक मुखयंत्र। इसीलिए धातु का अर्थ सत्ता प्राप्ति स्वरूप ही बतलाया गया है। धातुकार के—'अणादि का अर्थ शब्द है। 'गडि' धातु मुख के अंश विशेष (कपोल = गण्ड) वाचक है, ऐसा धातुपाठ दिया है। यहाँ धातु शब्द से धातुपाठ वाला पूरा शास्त्र अभिप्रेत है। बहिरङ्गत्वाच्च—च शब्द से पूर्वकारिका में आया असमन्वय भी चला जाता है। 'यथा भवत्यधि० यह ऐसा दृष्टान्त है जो दोनों वादियों को ऐसा ही मान्य है। 'इत्थं चास्ति०' ये दोनों कारिकाएँ पहले ही साफ हो चुकी हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थकार ने—'घटन' क्रिया का प्रतिपादन कर क्त्वा का कर्तृभेद विषय (पूर्व चर्चित) विरोध साफ किया है। वह 'प्रौढ़वाद' की सूझबूझ में बड़ा ही प्रतिभासंपन्न है। उसने अपने अनुरूप ही लक्ष्यसिद्धि करने का रास्ता बना कर कवियों का कष्ट दूर किया है।

भावप्रधानमाख्यातम्। असत्त्वभूतार्था उपसर्गादयः। तेषामसत्त्वभूतार्थ-

त्वाविशेषेऽपि व्यापारनियमात् प्रयोगनियमाच्च त्रैराश्योपगमः। तथाहि— क्रियारूपातिशयप्रतिपत्तिनिबन्धनमुपसर्गाः प्रादयः। भावसत्त्वयोरात्मभेद-प्रत्यायननिमित्तमवधृतरूपार्थविशेषाः स्वरादयो निपाताः।

आख्यात में क्रिया की प्रधानता रहती है। उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय शब्दों का अर्थ वह अर्थ है जो सत्वरूप नहीं है। यद्यपि असत्वभूत की वाचकता इन तीनों में एक समान है, इतने पर भी शक्ति और प्रयोग की प्रतिनियतता के कारण वे पृथक्-पृथक् तीन वर्गों में गिने गए हैं। स्पष्टता के लिए—प्रादि उपसर्ग क्रिया के स्वरूप में विशेषता उत्पन्न करनेवाले माने गए हैं। स्वर आदि निपात—जिनके स्वरूप और अर्थ दोनों नियत हैं, वे भाव और सत्त्व के स्वगत भेद की प्रतीति के निमित्त माने गए हैं।

भावप्रधानमिति। नामपदानां पूर्वोक्तया युक्त्या सत्यपि क्रियाशब्दत्वे क्रियाया अप्राधान्यम्। आख्यातपदानां पुनः शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् क्रियाप्राधान्यम्। असत्त्वभूतार्थ इति। असत्त्वभूतत्वमसिद्धस्वभावत्वम्। त्रयाणामवान्तरविशेषसद्भावेऽपि सामान्यलक्षणम्। तानवान्तरविशेषानाह तेषामिति। व्यापारभेदः क्रियाविशेषकत्वमुपसर्गाणाम्। प्रयोगनियमश्च तेषां धातोः पूर्वं प्रयोगः। निपातैस्तु चादिभिर्भावसत्त्वयोरात्मभेदः प्रत्याय्यत इति स तेषां व्यापारनियमः। तत्र भावगतमात्मभेदप्रत्यायनं यथा पचति पठति च, सत्त्वगतन्तु देवदत्तो यज्ञदत्तश्चेति। रूपं च शब्दस्वरूपादिः। अर्थः समुच्चयादिः। प्रयोगनियमश्चादीनां समुच्चेतव्यादिवाचिभ्यः परप्रयोगादिः। क्रियाविशेषेति। तथा हि शाकल्यसंहितामनु प्रावर्षदित्यादौ निशमनादिक्रियाविशेषोपजनितो यः संहितावर्षयोः कार्यकारणसम्बन्धस्तस्यावच्छेदः संहिता कारणं वर्षं कार्यमित्येवंरूपः, तत्प्रत्यायनं कर्मप्रवचनीयानां व्यापारः। प्रयोगनियमोऽत्र निपातवत्।

भावप्रधान—नामपद भी क्रियापद ही होते हैं। इतने पर भी उनमें क्रिया अप्रधान होती है। इसके विरुद्ध आख्यात शब्दों में क्रिया प्रधान होती है। यह प्रधान शब्दशक्ति के अपने स्वभाव से व्यक्त होती है। असत्त्वभूता—असत्त्वभूतता = अपने रूप का सिद्ध न होना। तीनों का यह सामान्य लक्षण है, कुछ अवान्तर विशेषताएँ यद्यपि रहती हैं। उन अवान्तर विशेषताओं को तेषाम्—इत्यादि द्वारा बतलाते हैं। सब में व्यापार की भिन्नता रहती है। उपसर्ग क्रिया के ही साथ विशेषण बन कर चलते हैं। उनके प्रयोग का भी नियम है। वे सदा धातु के पहले प्रयुक्त होते हैं। 'च' आदि निपात क्रिया और द्रव्य का परस्पर भेद बतलाते हैं। यही उनका नियत व्यापार है। भाव (क्रिया) गत भेद वे पचति पठति च—'पकाता और पढ़ता है'—में बतलाते हैं। द्रव्यगत भेद वे देवदत्तः यज्ञदत्तश्च—देवदत्त और यज्ञदत्त—इत्यादि में बतलाते हैं। उनका रूप है शब्द। उनका अर्थ है समुच्चय आदि। इन निपातों के प्रयोग का भी नियम है। वे 'समुच्चयनीय' पदार्थों के वाचक पदों के बाद ही आते हैं।

'शाकल्यसंहिताम् अनुप्रावर्षत्' इत्यादि में सुनना आदि विशिष्ट क्रियाओं से हुआ जो संहिता और वर्षण का कार्यकारणभाव संबद्ध है उसमें विभेद करना कर्मप्रवचनीय (अनु) का काम है। वह बतलाता है कि संहिता कारण है और वर्षण कार्य इनका प्रयोग कर्मप्रवचनीय के ही समान होता है।

विमर्श : व्याख्यानकार वाक्यपदीय से अत्यधिक प्रभावित है। सत्ता के लिए वाक्यपदीय में निम्नलिखित कारिका आई है—

'सत्ता स्वशक्तियोगेन सर्वरूपाव्यवस्थिता । साध्या च साधनं चैव फलं भोक्ता फलस्य च ।
तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते। सैव भावविकारेषु षडवस्थाः प्रपद्यते ॥
(वाक्यपदीय क्रियासमुद्देश ३५ कारिका)

हेलाराज—इनका भाष्य इस प्रकार करते हैं—'सर्वभावानुयायिनी सत्सदिति प्रत्ययहेतुः, सन्मात्रस्वरूपस्य सर्वत्रानुगमात्, महासामान्यस्वभावा सत्ता सर्वशब्दानां विषयः ॥ ६० ॥ तथाच स्वशक्तिरूपोपाधिनियमितशरीरा सर्वात्मकत्वमनुभवन्त्यपि सिद्धसाध्यरूपतया नामाख्यातपदवाच्यतामनुभवति । तदव्यतिरेकेण च पदार्थान्तराभावात् सैव विचित्रशक्तित्वाद् भोग्यभोक्तृतत्साधनरूपतया विश्वयात्रामुद्वहति । सर्वत्र भोक्त्रादिषु सन्मात्रस्य संविद्रूपस्यानुगमात् तस्यैव सत्यता । विकल्पपरिघटितस्तु नानाव्यवहारः ।' इसी प्रकार वाक्यपदीय की यह भी एक कारिका है—

आत्मलाभात् जन्माख्यं विनाशेऽप्यपदार्थता । अतो भावविकारेषु सत्तैका व्यवतिष्ठते ।
अन्ये त्वाहुर्हि या सत्ता सा क्रिया कैश्चिदिष्यते ॥ (क्रियासमुद्देशः)

कर्मप्रवचनीय के लिए—वाक्यपदीय के साधनसमुद्देश कारिका-२ पर हेलाराज ने यह टिप्पणी दी है—'निमित्तसामान्यावधारणं तु कर्मप्रवचनीयानाम् । तथाहि शाकल्यसंहितामनुप्रावर्षत् इत्यत्र संहिताप्रवर्षणयो हेतुहेतुमद्भावो निशमयतिक्रियाजनितः इत्यनुनावेद्यते । तया क्रियया अस्य अन्यत्र अनुनिशम्य इत्यादौ साहचर्योपलब्धेः । कर्मप्रोक्तवन्त इति च कर्मप्रवचनीये-त्यतिक्रान्तक्रियाप्रकाशनाङ्गीकारात् संप्रतिक्रियासयं न द्योतयति ।

क्रियाविशेषोपजनितसम्बन्धावच्छेदहेतवः कर्मप्रवचनीयाः । तदुक्तम्—

'द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा ।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥' इति ।

एतच्च वक्ष्यते । वाक्यमेकप्रकारं, क्रियाप्रधान्यात्, तस्याश्चैकत्वात् । यदाहुः—

'साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम् ।
क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते ॥'

कर्मप्रवचनीय किन्हीं क्रियाओं के द्वारा प्रतीत संबंध के निश्चायक होते हैं। कहा भी है—'प्रकृति और प्रत्यय के समान वाक्य से अलग कर किन्हीं ने पदों को दो भागों में विभक्त किया, किन्हीं ने चार भागों में और किन्हीं ने पाँच भागों में । यह आगे कहा भी जाएगा ।

वाक्य एक ही प्रकार का होता है । कारण कि उसमें क्रिया की प्रधानता रहती है । क्रिया एक ही प्रकार की रहती है जैसा कि कहा है—'वाक्य माना जाता है वह जिसमें कुछ अवयव हों, वे परस्पर भिन्न और साकाङ्क्ष हों, जिसमें प्रयुक्त शब्द अप्रयुक्त शब्दों की आकांक्षा न रखते हों, जिसमें क्रिया की प्रधानता हो और शेष पदों की अप्रधानता साथ ही सभी शब्दों का तात्पर्यभूत अर्थ एक ही हो ।'

द्विधेति । **सुबन्ततिङन्तत्तया ।** चतुर्धेति । **नामाख्यातोपसर्गनिपातत्वेन ।** पञ्चधेति । **कर्मप्रवचनीयः पञ्चमो भेदः ।** अपोद्धृत्येति **वैयाकरणदर्शने वाक्यस्यैव वाचकत्वम् । ततः पदानामपोद्धृत्यान्वाख्यानं यथा पदेभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादीनाम् ।**

वाक्यमिति । **'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति न्यायेन क्रियैदम्पर्याद्वाक्यस्य क्रियाप्राधान्यम् ।**

साकाङ्क्षावयवमिति। देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचतीत्यादौ वाक्य एकैकस्य पदस्य खण्डनायां साकाङ्क्षत्वम्। अखण्डितैस्तु पदैः परं पदान्तरं नाकाङ्क्ष्यते। गुणवत् क्रियाकारकविशेषणयुक्तम्। केचित्तु क्रियायाः प्राधान्यस्योक्तौ कारकाणां परार्थत्वाद् गुणत्वमिति तद्युक्तमित्याहुः। एकार्थमिति। प्रधानभूतक्रियारूपैकार्थमित्यर्थः।

द्विधा—सुबन्त और तिङन्त। चतुर्धा—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। पञ्चधा—कर्मप्रवचनीय पाँचवाँ।

अपोद्धृत्य—व्याकरणदर्शन में वाचक होता है वाक्य ही। उससे पदों को अलग कर बाद में उनका अन्वाख्यान (निर्वचन) होता है जैसे पदों से प्रकृति और प्रत्ययों का। वाक्य—'सिद्ध और साध्य साथ कहे जायें तो सिद्ध को साध्य के लिए कथित मानना चाहिए'—इस नियम के अनुसार वाक्य का तात्पर्य क्रिया में रहता है अतः वाक्य क्रिया प्रधान माना जाता है।

साकाङ्क्षा०—देवदत्त लकड़ियों से बटलोई में भात पकाता है इत्यादि वाक्यों में यदि एक-एक पद अलग-अलग बोले जाएँ तो वे साकाङ्क्ष रहेंगे। साथ बोले जाने पर उनमें दूसरे पद की आकाङ्क्षा नहीं रहती।

गुणवत्—क्रियाकारक विशेषण से युक्त। कुछ लोग क्रिया का प्राधान्य माने जाने से कारणों को गुण या अप्रधान मानते हैं कारण कि वे क्रिया के लिए प्रयुक्त माने जाते हैं। इस प्रकार के विशेषणों से युक्त।

एकार्थम्—प्रधानभूत क्रिया ही हो मुख्यभूत (एक) अर्थ जिनका।

अर्थनिरूपण

अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः। स एव मुख्य उच्यते। यदाहुः—

'श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्॥'

इति। तत एव तदनुमिताद्वा लिङ्गभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। स च त्रिविधः। वस्तुमात्रमलङ्कारा रसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति। तत्र पदस्यार्थो वाच्य एव नानुमेयः, तस्य निरंशत्वात् साध्यसाधनभावाभावतः।

अर्थ भी दो प्रकार का होता है वाच्य और अनुमेय। उनमें जो अर्थ शब्दशक्ति से प्रतीत होता है वह वाच्य कहलाता है। वही मुख्य भी कहा जाता है। कहा भी है—सुनने मात्र से जिसका तात्पर्य प्रतीत हो जाता हो उसे मुख्य अर्थ माना जाता है, जिसका तात्पर्य यत्नपूर्वक प्रतीत हो वह (अर्थ) अमुख्य। 'अनुमेय अर्थ वह होता है जिसकी प्रतीति में हेतुहो वाच्यार्थ अथवा वाच्यार्थ से प्रतीत (अनुमित) कोई अर्थ।' वह तीन प्रकार का होता है—वस्तु अलंकार और रस आदि। उनमें प्रथम दो (वस्तु और अलंकार) वाच्य भी हो सकते हैं। अन्तिम (रसादि) के अनुमेय ही होता है। (शब्द प्रतीत अर्थ दो प्रकार का होता है पदार्थ और वाक्यार्थ) उनमें जो अर्थ पद से प्रतीत (पदार्थ) होता है उसमें (कथित) साध्यसाधन भाव नहीं होता, कारण कि वह निरंश (अवयव रहित) होता है। वह वाच्य ही होता है अनुमेय नहीं।

अर्थोऽपीति। शब्दस्य व्यापारान्तरनिराकरणार्थमर्थद्वैविध्यघटनम्। तथा हि। वृद्धव्यवहारात् सङ्केताद्वा शब्देष्वर्थनिर्णयः। तेषां च यत्रार्थे विद्यमानत्वं तस्य वाच्यत्वमेव। अन्यस्य तु तेषामभावादर्थसामर्थ्यादवगतिः। न चासम्बद्धोऽर्थस्तमर्थं प्रत्याययति। सम्बन्धाच्चार्थादर्थान्तरप्रतिपत्तावनुमानमेव। तेन लक्षणाया अनुमानान्तर्भावः प्रतिपादितो भवति। तस्य च व्यापकत्वात्। यद्यपि च सौगतैर्लक्षणार्थव्यापार इष्यते न शब्दव्यापारः '(पक्षो ?) धर्मी अवयवे समुदायोपचारादि'ति शब्दोपचारं परिहृत्य समुदायस्वभावार्थोपचारवचनात्, तथापि वक्ष्यमाणनयेनानुमानलक्षणयोगादनुमानमेवैषाभ्युपगन्तव्या। न च लक्षणायामनुमानस्यान्तर्भावः इति वाच्यं, तस्य तत्परिहारेण वृत्तेर्व्यापकत्वात्। व्यञ्जकत्वमनुमानमेवेति वक्ष्यते वितत्य। तदेवं वाच्यानुमेयत्वभेदेनार्थस्य द्वैविध्यम्।

अर्थोऽपीति—शब्द में अभिधातिरिक्त अन्य किसी भी (लक्षणा व्यञ्जना) व्यापार का खण्डन करने के लिए यहाँ अर्थ के केवल दो प्रकार बतलाए हैं। यह इस प्रकार कि—शब्द में अर्थ का निर्णय दो प्रकार से होता है—वृद्धवाक्य से अथवा संकेत से। वे (वृद्धव्यवहार और संकेत) जिस अर्थ में होते हैं वह अर्थ नियमतः वाच्य होता है। दूसरे अर्थ में वे नहीं होते, अतः उनका बोध (शब्द से नहीं) अर्थ की शक्ति से होता है। अर्थ भी तब तक उस अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता जब तक वह उससे संबन्धित न हो और संबन्ध द्वारा जिस अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान होता है वह अनुमान ही होता है। उससे लक्षणा का अनुमान में ही अन्तर्भाव सिद्ध होता है। कारण कि वह व्यापक होता है। यद्यपि सौगत (बौद्ध दार्शनिक) लक्षणा को अर्थ का व्यापार मानते हैं, शब्द का नहीं। उनका वाक्य है—(पक्षो ? धर्मी) अवयव में समुदाय (अवयवी) की लक्षणा होती है' इससे वे लक्षणा को शब्द में न मानकर 'समुदाय' रूप अर्थ में मानते हैं। इतने पर भी लक्षणाको अनुमान ही मानना चाहिए। कारण कि आगे कहे अनुसार उसमें अनुमान का लक्षण संगत हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि उलटे 'लक्षणा में ही अनुमान का अन्तर्भाव है।' अनुमान व्यापक है वह वहाँ भी रहता है जहाँ लक्षणा नहीं रहती। यह तो विस्तार पूर्वक कहा ही जाएगा कि व्यञ्जना अनुमान स्वरूपही है। तो इस प्रकार वाच्य और अनुमेय दो ही माने जाते हैं।

विमर्श : ध्वनिवादी ने वाच्य लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन अर्थ माने थे। अनुमितिवादी उनमें से लक्ष्य और व्यङ्ग्य को अनुमेय में अन्तर्भुक्त कर केवल दो ही अर्थ बतला रहा है। ध्वनिवादी व्यङ्ग्यार्थ के तीन भेद मानता है वस्तु अलङ्कार और रसादि। अनुमितिवादी इन्हीं तीनों को अनुमेयार्थ मान लेता है। ध्वनिवादी ने वस्तु और अलंकार को वाच्य क्षम भी माना था और रसादि को नित्य व्यंग्य। अनुमितिवादी ने उसे भी अनुमेय के भीतर ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। इसके लिए—ध्वन्यालोक, लोचन १।४ देखना चाहिए।

यहाँ व्याख्यान में लक्षणा को अर्थ व्यापार माननेवाले बौद्धों का वचन उद्धृत है। वह मम्मट के मुख्यार्थ बाधे···के चतुर्थ चरण—लक्षणाऽरोपिता क्रिया—'सोऽर्थान्तरार्थनिष्ठः शब्दव्यापारः' इस वाक्य से मिलता है। वस्तुतः लक्षणा अर्थ व्यापार ही है।

श्रुतिमात्रेणेति। यत्रास्य **शब्दस्य** श्रुतिमात्रेणो**च्चारणमात्रेण** तादर्थ्येन् **अर्थविषयत्वं प्रतीयते स मुख्योऽर्थः।** गौणम्। **उक्तयुक्त्या परमार्थत आनुमानिकम्।** यत्नोपपादितं **प्रतिबद्धार्थसामर्थ्योपनीतम्।**

तत एव **वाच्यात्** तदनुमिताद् **वाच्यानुमितात् लिङ्गभूतात्।** स च त्रिविध **इति। तदेतत् प्रथममुपक्षिप्तम् 'अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्' इति। तदुपपादयितुमा-**

सूत्रयति। (योग्यो वा स्वशब्देन प्रतिपादयितुं योग्यो वाच्यतासहिष्णुः ?) क्वचिच्छब्द-वाच्याविति। 'द्विविधो हि शब्दः पदवाक्यभेदादि'ति पूर्वोपक्रान्तयोः पदवाक्ययोरेवार्थं निरूपयति-निरंशत्वात् भागरहित्वात्।

श्रुतिमात्रेण—जहाँ इस शब्द के सुनने भर से अर्थात् उच्चारण मात्र से तादर्थ्य = अर्थविषयत्व प्रतीत होता है, वह मुख्य अर्थ है। गौणम्-कथित प्रकार से वस्तुतः आनुमानिक। यत्नोपपादितम् व्याप्ति संबन्धयुक्त अर्थ की शक्ति से विज्ञात। तत एव = वाच्य से ही। तदनुमितात्—वाच्य से अनुमित और हेतु बना हुआ। स च त्रिविधः—यह 'अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेर्यः प्रकाशयितुम्' इस प्रथम कारिका में कहा था, उसी का समर्थन करने के लिए कहा गया। (× × × ×) कहीं शब्द वाच्य होते हैं। 'शब्द दो प्रकार का होता है पद रूप और वाक्य रूप' इस प्रकार पूर्वोक्त जो पद और वाक्य हैं—उन्हीं का अर्थ बतलाते हैं। निरंशत्वात् = भाग रहित होने से।

वाक्यार्थस्तु वाच्यस्यार्थस्यांशपरिकल्पनाय।मंशानां विध्यनुवादभावेनावस्थितेर्विधेयांशस्य सिद्धासिद्धतयोपपादनानपेक्षसापेक्षत्वेन द्विविधो बोद्धव्यः॥

तत्र सिद्धौ विध्यनुवादभावः स्वरूपमात्रानुवादाद्, यथा—

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः, इत्यत्र। असिद्धो साध्यसाधनभावरूपोऽनूद्यमानस्यांशस्य साधनधुराधिरोहात्।

जो अर्थ वाक्य से प्रतीत होता है, उसमें अंश की कल्पना की जाती है। उसके कुछ अंश विधेय और कुछ अनुवाद्य (उद्देश्य) रहते हैं। विधेयांश दो प्रकार का होता है—सिद्ध और असिद्ध या साध्य। इनमें से सिद्ध अपने उपपादन की अपेक्षा नहीं रखता, साध्य उपपादनसापेक्ष होता है। इस प्रकार वाक्यार्थ सदा दो प्रकार का (सिद्ध, साध्यभेद से) होता है। इनमें से जो विध्यनुवाद-भाव सिद्ध विधेयांश में आता है, वह स्वरूपमात्र का अनुवादमात्र होता है। जैसे—'उत्तर दिशा में हिमालय नाम का देवस्वरूप पर्वतराज है'—इस वाक्य में। सिद्ध न होने पर साध्यसाधन भावात्मक होता है। क्योंकि उनमें जो अनुवाद्यांश होता है, वह साधन बना दिया जाता है।

वाक्यार्थस्त्विति। **तथा वाक्यार्थो द्विविधः वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र वाच्यस्यैव वाक्यार्थत्वान्निरंशस्यापि विधेयानुवाद्यांशरूपत्वेनांशकल्पनं क्रियते। विध्यनुवादभावमन्तरेण तयोरंशयोः समन्वयायोगाद्। विधेयश्च कश्चिल्लोकप्रसिद्धतयोपपादनानपेक्षः, कश्चित् पुनरप्रसिद्धत्वादुपपादनापेक्षः। उपपादनं चात्र नानुमानम्। अप्रतीतप्रतीत्युत्पादनाभावाद्, अपि तु शब्दप्रतीतस्यैवार्थान्तरन्यासन्यायेन समर्थनम्। ततश्चोद्भटकाव्यहेतुन्यायेनानुमानं व्यवस्थितम्, अर्थान्तरन्यासन्यायेन तूपपादनम्। साध्यसाधनभावः पुनरुभयानुयायी। अत एव वाच्यार्थविषयादनुमेयार्थविषयं साध्यसाधनभावं पृथग् वक्ष्यति, 'अनुमेयार्थविषयो यथे'ति।**

वाक्यार्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य और अनुमेय। उनमें वाच्य ही वाक्यार्थ होता है। अतः उसमें विधेय और अनुवाद्य—अंश की कल्पना की जाती है। यद्यपि वह (व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से) अंशरहित (अखण्ड) होता है। उन अंशों का विध्यनुवादभाव के बिना समन्वय भी संभव नहीं है। कोई विधेय लोकप्रसिद्ध होने से उपपादन की अपेक्षा नहीं रखता और कोई विधेय अप्रसिद्ध होने से उसकी अपेक्षा रखता है। यहाँ उपपादन अनुमानरूप नहीं होता, क्योंकि (अनुमान में होनेवाली) अज्ञात (पर्वत पर अग्नि आदि) पदार्थों की प्रतीति का यहाँ अभाव

रहता है। यहाँ तो शब्द से प्रतीत हुए अर्थ का ही अर्थान्तरन्यास के ढंग से समर्थन भर होता है। अनुमान होता है उद्भटकाव्यहेतुन्याय से और उपपादन होता है अर्थान्तरन्यासन्याय से। साध्यसाधन दोनों का अनुयायी होता है, इसलिए वाच्यार्थ के साध्यसाधनभाव से अनुमेयार्थ का साध्यसाधनभाव अलग बतलायेंगे—'अनुमेयार्थविषयो यथा।'

तत्रेति तयोः सिद्धासिद्धयोर्विधेयांशयोर्मध्ये। सिद्धौ **उपपादनानपेक्षत्वे।** शुद्ध **उपपादनानपेक्षो** विध्यनुवादभावः।

तत्र—उन सिद्ध और असिद्ध विधेयांशों में। **सिद्धौ**—उपपादन की अपेक्षा न रखने पर। **शुद्धः**—उपपादननिरपेक्ष विध्यनुवादभाव।

विमर्श : उद्भटाचार्य का 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' मिलता है। उसपर प्रतीहारेन्दुराज की लघुवृत्ति भी मिलती है। दोनों ही व्याख्यानकार (रुय्यक या मंख) से पहले के हैं। उद्भट ने काव्यलिंग को काव्यहेतु कहा है और काव्यलिङ्ग का जो लक्षण किया है, उसे प्रतीहारेन्दुराज भी काव्यहेतु कहते हैं। उद्भट की कारिका है—'काव्यदृष्टान्तहेतू चेत्यलङ्कारान् परे विदुः' ६।१, इसके अनुसार काव्यदृष्टान्त के बाद काव्यहेतु का लक्षण इस प्रकार किया—'श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा। हेतूनां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते॥' ६।७। इसकी वृत्ति में प्रतीहारेन्दुराज ने काव्यहेतु का निर्वचन इस प्रकार किया—'यथा तार्किकप्रसिद्धा हेतवो वैरस्यमावहन्ति न तथा काव्यहेतुः।' इसका उदाहरण उद्भट ने जो दिया है, वह अनुमान से मिलता है। वह है—'छायेयं तव शेषाङ्गकान्तेः किञ्चिदनुज्ज्वला। विभूषाघटनादेशान् दर्शयित्री दुनोति माम्।' इसमें नायिका के अविभूषित अंगों द्वारा—पूर्वविभूषा का अनुमान निहित है। परवर्ती अलङ्कारिक काव्यलिङ्ग को ऐसा नहीं मानते। वे काव्यलिङ्ग में हेतुहेतुमद्भाव निहित मानते हैं। हेतु और कार्य कथित रहते हैं। केवल उनका संबन्ध अनुमान द्वारा ज्ञात होता है। यह स्थिति भी केवल 'पदनिष्ठहेतुत्व' में होती है। जहाँ हेतुहेतुमद्भाव भी कथित ही रहता है। काव्यप्रकाश के 'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता' इस लक्षण में जो उदाहरण हैं, उनसे यह तथ्य स्पष्ट है। उद्भट इससे आगे केवल हेतुमात्र को काव्यलिङ्ग में कथित मानते हैं; हेतुमान (कार्य) का और उसके साथ दोनों के हेतुहेतुमद्भाव संबन्ध का अनुमान। अनुमेयार्थ की भी यही स्थिति है। उसमें एक हेतुभूत अर्थ कथित रहता है, दूसरा साध्यभूत अर्थ अकथित। व्यक्तिविवेकव्याख्याकार (रुय्यक ?) निश्चित ही काव्यप्रकाश के बाद हुए हैं। उनकी काव्यप्रकाश के दशम उल्लास पर टीका मिली है। अतः उन्होंने काव्यप्रकाशकार की व्यावृत्ति के लिए उद्भटकाव्यहेतुन्याय कहा। इसमें भी काव्यलिङ्ग की जगह काव्यहेतु शब्द का प्रयोग किया। काव्यप्रकाशकार हेतु अलङ्कार नहीं मानते। उन्होंने 'पूर्वोक्तकाव्यलिङ्गमेव हेतुः' कहा है। इस प्रकार 'उद्भटकाव्यहेतु' शब्द का अर्थ उद्भटाचार्यप्रोक्त काव्यलिङ्गत्वेनाभिमत काव्यहेत्वलंकारन्याय अर्थ करना चाहिए। 'उद्भटश्चासौ काव्यहेतुः' ऐसा समास कर उसे प्रतिभा के अनुमान से नहीं मिलाना चाहिए। यद्यपि आनंदवर्धन ने प्रतिभा को अनुमान माना है (सरस्वतीस्वाद०) तब भी यहाँ पूर्वोक्त अर्थ ही संगत है।

अर्थान्तरन्यासन्याय—अर्थान्तरन्यास प्रसिद्ध अलङ्कार है। इसमें दो बातें कही जाती हैं। दोनों में समर्थ्यसमर्थकभाव निहित रहता है। इसीलिए इसे अर्थान्तरन्यास शब्द दिया गया है। जो बात कही गई, उसके समर्थन में एक ऐसी बात कही, जिसका प्रकृत में कोई प्रसंग नहीं था। यही बात अर्थान्तर हुई। इसीका न्यास प्रकृत में विन्यास या विनियोग होने से चमत्कार होता है, अतः उसे अर्थान्तरन्यासालङ्कार कहते हैं। इसमें समर्थक दोनों ही (उक्त) शब्दतः कथित रहते

हैं। उनका समर्थ्यसमर्थकभाव भी हि, अथवा, यदि वा, खलु, किल आदि अव्ययों से कथित रहता है। उपपादन में यही क्रम अपनाया जाता है। सिद्धान्तित तथ्य प्रतिपादित तथ्यान्तर से संपुष्ट किंवा सिद्ध किया जाता है। यही उपपादन है।

हिमालयो नाम नगाधिराज इति। **अत्रास्तीति हि विधिः सुप्रसिद्धत्वादुपपादनानपेक्षः। द्वितीयस्तु साध्यसाधनभावरूपो द्विविधः अतिप्रसिद्धत्वादुपपादकोपादानानपेक्ष उपपादकोपादानापेक्षश्चेति। उपपादकोपादानापेक्षश्च द्विविधः। शाब्दश्चार्थश्च। तत्र शाब्दो यत्र हेतुत्वेनोपादानम्। आर्थो यत्रोपात्तस्य हेतुत्वम्। सोऽपि च शाब्दार्थत्वभेदेन द्विविधः उपपादकोपादानापेक्षः साध्यसाधनभावः प्रत्येकं पदवाक्यार्थरूपतया द्विधा भवंश्चतुर्धा भवति। पदार्थो हि पदार्थान्तरं प्रति हेतुत्वं भजते वाक्यार्थो वा वाक्यार्थान्तरं प्रतीतिपूर्वं विधेयस्यासिद्धावुपपादनातेक्षत्वम्। सोऽपि च साध्यसाधनभावरूपोऽपि च। एकपदार्थगतत्वेन साध्यसाधनभावनिराकर(णा)न्न विरोधः कश्चित्। पदार्थस्य तु जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपेण चातूरूप्यं तथाभूतस्य च यथासम्भवमनुभयरूपत्वेन धर्मधर्मित्वेन च भेदः। धर्मस्यापि सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्याभ्यां द्वैरूप्यम्। सामानाधिकरण्ये विशेषणद्वारेण हेतुत्वादार्थः साध्यसाधनभावः। वैयधिकरण्ये तु शाब्दः पञ्चम्यादिना हेतुत्वेनोपादानात्। वाक्यार्थस्य कारकवैचित्र्याद् वैचित्र्येऽपि क्रियैक्यादेकरूपत्वम्। (आगमस्य निबन्धाप्रसिद्धिरूपत्वेन द्वैरूप्यम्। अनुमानमात्रं न गणितम्?) तत्र यथादिशब्दानां हेतुत्वप्रकाशकानां प्रयोगे वाक्यार्थगतः शाब्दः साध्यसाधनभावः। तत्र च क्वचिदनुमानानुमेयभावोऽप्यस्ति अप्रतीतस्य प्रतीत्यापादनाद् यथा 'सरस्यामि'ति वक्ष्यमाणोदाहरणे। यत्र तु हेतुत्वप्रकाशकस्य कस्यचिन्न प्रयोगस्तत्रार्थः यथोदाहरिष्यते। एवमुपपादकोपादानापेक्षः साध्यसाधनभावः पदार्थवाक्यार्थयोः प्रत्येकं शाब्दत्वार्थत्वभेदेन चतुर्विधः सन् बहुविधः प्रपञ्चितः। सर्वस्य चास्य साध्यसाधनभावस्य प्रमाणसिद्धाविनाभावमूलत्वम्।**

"हिमालयो नाम नगाधिराजः" इस पद्य में जो 'अस्ति' (हिमालय) है—यह विधान है, इसका समर्थन आवश्यक नहीं, क्योंकि वह सुप्रसिद्ध है। दूसरा जो साध्यसाधकभाव है, वह दो प्रकार का है—अत्यन्त प्रसिद्ध होने से उपपादक के कथन के लिए निरपेक्ष और उपपादक के कथन के लिए सापेक्ष। उपपादकोपादान सापेक्ष—दो प्रकार का होता है—शाब्द और आर्थ। शब्द वह है, जिसमें (उपपादक का) उपादान हेतुरूप से हो। आर्थ वह है, जिसमें उपात्त (उपपादक में) हेतुत्व का ज्ञान हो।

शाब्द और आर्थ इन दोनों प्रकारों का जो उपपादकोपादान-सापेक्ष साध्यसाधनभाव सम्बन्ध है, वह पुनः पदार्थ और वाक्यार्थरूप से दो प्रकार का होकर चार प्रकार का हो जाता है। पदार्थ पदार्थ के प्रति हेतु बनता है और वाक्यार्थवाक्यार्थ के प्रति। इसलिए विधेय की सिद्धि पहले से न होने के कारण उसमें उपपादन की अपेक्षा रहती है। वैसा भी है और साध्यसाधनभाव रूप भी है, और कोई विरोध भी नहीं; क्योंकि साध्यसाधनभाव का निराकरण केवल एक पदार्थ में किया गया है। पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्यरूप से चार प्रकार का होता है, इस रूप में वह (चारों में से) एक ही कोई हो सकता है, उभयरूप नहीं। उसमें केवल धर्मधर्मिभावसम्बन्ध बन सकता है। धर्म भी सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य से दो प्रकार का होता है। सामानाधिकरण्य होने पर विशेषण द्वारा हेतुत्व होने से उसमें साध्यसाधनभाव आर्थ होता है। वैयधिकरण्य में वह शाब्द होता है। उसका कथन पंचमी आदि से हो जाता है। वाक्यार्थ भी यद्यपि कारकगत भेद से

भिन्न रूप होता है, तथापि क्रियागत अभेद से एकरूप बन जाता है (××××××)। उसमें भी जहाँ वाक्यार्थ के साध्यसाधनभाव में यथा आदि शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ वह शाब्द माना जाता है। वहाँ कभी-कभी अनुमानानुमेयभाव संबंध भी रहता है, क्योंकि जो अंश पूर्व प्रतीत नहीं रहता, उसकी प्रतीति करानी पड़ती है। जैसे—'सरस्यामेतस्याम्०' इस आगे कहे उदाहरण में। जहाँ कहीं हेतुत्वबोधक किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं होता, वहाँ वह आर्थ होता है। इसका भी उदाहरण दिया जायगा। इस प्रकार उपपादकोपादानापेक्षी साध्यसाधनभाव पदार्थ और वाक्यार्थ में शाब्दत्व और आर्थत्वभेद से चार प्रकार का होते हुए भी अनेक प्रकार का बतलाया गया है। इस सब प्रकार के साध्यसाधनभाव की जड़ अविनाभाव होता है। वह होता है प्रमाणों से सिद्ध।

साध्यसाधनभावश्चानयोरविनाभावावसायकृतोऽवगन्तव्यः। स च प्रमाणमूलः। तच्च त्रिविधम्। यदाहुः—

"लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।" इति।

तत्र लोकप्रसिद्धार्थविषयो लोकः। यथा—

"कयासि कामिन् सरसापराधः पादानतः कोपनयावधूतः।
यस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रवालशय्याशरणं शरीरम्॥"

अत्र हि पादानतितदवधूत्योः सरसापराधकोपनत्वयोश्च लोकप्रमाणसिद्धः कार्यकारणभावस्तन्मूलश्च साध्यसाधनभावः। यथा वा—

"चन्द्रं गता पद्मगुणान् न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥"

अत्र हि पद्मगुणानां चान्द्रमस्या अभिख्यायाश्च युगपद्भोगे लक्ष्म्या यत् कारणद्वयं रात्रिसङ्कोचदिवानुदयलक्षणं तल्लोकप्रसिद्धमेवेति नोपादेयतामर्हति

इनका यह साध्य-साधनभाव भी अविनाभावसंबन्ध के निश्चय से होता है। यह निश्चय प्रमाणों पर निर्भर है। प्रमाण तीन प्रकार का होता है। जैसा कि कहा गया है—'लोक, वेद और अध्यात्म (मानस प्रत्यक्ष) ये तीन प्रमाण हैं।' इनमें लोक प्रमाण का विषय लोक में प्रसिद्ध रहता है। जैसे—

'हे कामिन्! तुरत के अपराधी और पैरों पर पड़े तुम (ऐसी) किस कोपन (प्रमदा) द्वारा झिड़क दिये गये हो जिसकी काया को मैं प्रबल तापयुक्त और प्रवाल शय्या पर पड़ी हुई बना दूँ।' यहाँ पादानति और उसके अवधूनन तथा सरसापराधता (ताजा अपराध) और कोपनता का कार्य कारण भाव तथा उस पर आश्रित साध्यसाधन भाव लोकानुभव से सिद्ध है। और जैसे—

'लक्ष्मी (शोभा) जब चन्द्रमा में रहती है, तब पद्मगत गुणों का आस्वादन नहीं लेती और जब पद्म में रहती है तब चन्द्रप्रभा का। किंतु उमा के मुख में पहुँचकर इस चञ्चल लक्ष्मी ने दोनों पर आश्रित आनन्द पाया।' यहाँ लक्ष्मी द्वारा पद्मगुणों और चन्द्रकान्ति का एक साथ भोग न कर सकने के जो रात्रि संकोच (पद्म में) और दिवानुदय (चन्द्र में) दिन में न उगना ये दो कारण हैं, वे लोकप्रसिद्ध ही हैं। इसलिए उनका शब्दतः कथन आवश्यक नहीं।

प्रमाणं च त्रिधा लोकेवेदाध्यात्मरूपत्वेन । तत्राध्यात्मं प्रत्यक्षम् । निबन्धप्रसिद्धरूपं वेदः । अनिबन्धप्रसिद्धस्वभावं लोकः । भङ्ग्या प्रत्यक्षागमरूपं प्रमाणद्वयं स्वीकृतम् । आगमस्य निबन्धानिबन्धप्रसिद्धरूपत्वेन द्वैविध्यम् । अनुमानमत्र न गणितं तस्योपकार्यत्वेन प्रस्तुतत्वात् । तत्र चन्द्रं गतेत्यत्र कारणभूतं साधनमनुपात्तमतिप्रसिद्धत्वात् ।

लोक, वेद तथा अध्यात्म रूप से प्रमाण तीन प्रकार का होता है। उसमें अध्यात्म है प्रत्यक्ष और वाङ्मय रूप है वेद। लोक वह है, जिसका रूप वाङ्मयात्मक नहीं होता। इस प्रकार प्रत्यक्ष और आगम ये दो प्रमाण दूसरे शब्दों में स्वीकार कर लिये। आगम लिखित और अलिखित रूप से दो प्रकार का होता है। यहाँ अनुमान नहीं गिना गया। वह तो उपकार्य रूप से प्रस्तुत है। इनमें से 'चन्द्रगता' यहाँ कारणभूत साधन नहीं कहा गया; क्योंकि वह अतिप्रसिद्ध है।

कयासि कामिन्नित्यत्र सापराधत्वं पादानतत्वे कारणभूतं साधनमार्थं पदार्थरूपम् । कोपनात्वं चावधूतत्वे तथाभूतमेव । लोकप्रमाणसिद्धश्चात्र 'कार्यकारणभावः अतिप्रसिद्धत्वाभावात् साधनमुपात्तमेव ।

कयासि कामिन्—यहाँ सापराधत्व पादानति में कारण है, अतः साधन है, वह आर्थ है और पदार्थरूप है। और कोपनात्व अवधूनन में उसी प्रकार का साधन है। यहाँ कार्यकारण भाव है तो लोक प्रसिद्ध ही, किंतु अति प्रसिद्ध न होने से उसका साधन कहा ही गया।

शास्त्रमात्रप्रसिद्धार्थविषयो वेदः । वेदग्रहणमितिहासपुराणधर्मशास्त्राद्युपलक्षणं तेषां तन्मूलत्वोपगमात् । यथा—

"अयाचितारं नहि देवमद्रिः सुतां प्रतिग्राहयितुं शशाक ।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥"

अत्र हि कारणभूतस्य भगवद्गतस्य सम्प्रदानत्वनिबन्धनस्य याचनस्याभावे भूधरेन्द्रगतस्य कार्यस्य कन्याग्राहणशक्तत्वस्याभावोपनिबन्धः शास्त्रमूलः, तयोः कार्यकारणभावस्य तन्मूलत्वेन प्रसिद्धेः । यदाहुः—

"अयाचितानि देयानि सर्वद्रव्याणि भारत !
अन्नं विद्या तथा कन्या अनर्थिभ्यो न दीयते ॥"

अर्थी च सम्प्रदानम् । यदुक्तम्—

"अनिराकरणात् कर्त्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम् ।
प्रेरणानुमतिभ्यां वा लभते सम्प्रदानताम् ॥"

एवञ्च कारणानुपलब्धिप्रयोगोऽयमार्थ इति मन्तव्यं, यथा नात्र धूमोऽग्नेरभावादिति ।

आध्यात्मिकार्थविषयमध्यात्मम् । यथा—

"पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥"

अत्र हि भगवत्पशुपतिगतस्य कृच्छ्राद्दिवसातिवाहनस्याद्रिसुतासमाग-

मोक्तत्वस्य चाध्यात्मसिद्धः कार्यकारणभावः यन्मूलोऽयमनयोस्साध्यसाधनभावः।

स हि द्विविधः शाब्दश्चार्थश्चेति। सोऽपि च साध्यसाधनयोः प्रत्येकं पदार्थवाक्यार्थरूपत्वात्, पदार्थस्य च जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदेन भेदाद्, धर्मधर्मितया च धर्मस्यापि सामानाधिकरण्य-वैयधिकरण्य-भेदाद्, वाक्यार्थस्य च क्रियात्मनः कारकवैचित्र्येण वैचित्र्याद्, यथायोग्यमन्योन्यसाङ्कर्याद्बहुविध इति तस्य दिङ्मात्रमिदमुपदर्श्यते।

वेदप्रमाण वह है, जिसका विषय एकमात्र शास्त्र में प्रसिद्ध हो। वेद शब्द इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि का उपलक्षण है—क्योंकि वे वेदमूलक माने गये हैं। उदाहरण के लिए—

'न माँगनेवाले महादेव जी को हिमाचल पुत्री स्वीकार नहीं करा सका। साधुजन माँग खाली जाने के डर से अभीष्ट वस्तु के लिए भी उदासीनता लिए रहते हैं।' यहाँ कारणभूत भगवद्गत सम्प्रदानत्व का कारण याचना के अभाव पर कन्या-ग्रहण करा सकने का अभाव-कथन शास्त्रमात्रसिद्ध है, क्योंकि उनके कार्यकारणभाव का शास्त्रमूलत्व ही प्रसिद्ध है। जैसा कि कहा गया है—हे भारत! और सभी पदार्थ विना माँगें दिए जा सकते हैं, (परन्तु) अन्न, विद्या और कन्या बेचाह व्यक्ति को नहीं दिए जाते। अर्थी ही संप्रदान है। जैसा कि कहा है—

कर्त्ता के त्याग का अङ्ग, कर्म द्वारा ईप्सित पदार्थ निराकरण के अभाव, प्रेरणा और अनुमति द्वारा सम्प्रदान को प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह कारण की अनुपलब्धि का प्रयोग आर्थ माना जाना चाहिए—जैसे यहाँ धुआँ नहीं है, अग्नि न होने से वह।

अध्यात्मप्रमाण का विषय आध्यात्मिक होता है (अर्थात्-मानस प्रत्यक्ष ज्ञेय होता है)। जैसे-

'पार्वती-समागम के लिए उत्सुक पशुपति ने भी वे दिन कठिनाई से गुजारे। इन्द्रियों को वश में न रखनेवाले दूसरे किस व्यक्ति को ये मनोविकार विकृत नहीं कर सकते, जब कि विभु परमेश्वर को भी ये स्पर्श करते हैं।' यहाँ भगवान् पशुपति द्वारा कठिनाई से दिन बिताने और पार्वती के प्रति उत्सुक होने का कार्यकारणभाव स्वानुभवसिद्ध है, जिससे इनका साध्यसाधन भाव सिद्ध होता है।

वह (साध्यसाधन भाव) दो प्रकार का होता है—शाब्द और आर्थ (दो प्रकार का)। वह भी पदार्थ और वाक्यार्थ रूप से दो प्रकार का होता है। पदार्थ भी जाति, गुण क्रिया और द्रव्य के भेद से भिन्न होने से, धर्म और धर्मी होने से, धर्म का सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य होने से, वाक्यार्थ के भी क्रियात्मक होने से कारक की विचित्रता के कारण विचित्र होने से, यथायोग्य परस्पर संमिश्रण से कई प्रकार का होता है, अतः उसका निर्देशमात्र किया जाता है।

अयाचितारमिति। **अयाचनं कारणानुपलब्धिरूपमार्थं पदार्थरूपम्। वेदप्रमाणसिद्धकार्यकारणभावसम्बन्धं याचनं हि कन्याग्राहणशक्तत्वस्य कारणम्। कारणाभावाच्च कार्याभावः साध्यः। कार्याभावप्रतीत्युत्पादनानुमानमेतत्।**

अनिराकरणादि**ति। कर्तुर्नृपादेः।** कर्मणा **हिरण्यादिना।** ईप्सितम् **आप्तुमिष्टम्। ब्राह्मणादिसम्प्रदानम्। तच्च त्यागाङ्गं त्यजनस्योपकरणभूतं तेन विना त्यागासम्भवात्। तच्च त्रिधा**

प्रेरकं याचकब्राह्मणादि । अनुमन्तृ सद्ब्राह्मणादि । अनिराकर्तृ देवतादि । 'पशुपतिरि' त्यादाचार्थं पदार्थरूपमध्यात्मप्रमाणसिद्धसम्बन्धं साधनम् ।

१. अयाचितारम्—माँगना कन्या-संप्रदान का कारण, न माँगना उसके विरुद्ध उसका अकारण यह है आर्थ और पदार्थ का साधन। याचना कन्यदान की शक्ति का कारण है। उसका कार्यकारणभाव वेदप्रमाणमूलक है। यहाँ कार्य का अभाव साक्ष्य है। उसका साधन है कारणभाव। यह अनुमान कार्याभाव की प्रतीति कराता है।

२. अनिराकरणात्—कर्तुः = नृप आदि के। कर्मणा = हिरण्य आदि से। ईप्सितम् = प्राप्त करने के लिए इच्छित। ब्राह्मण आदि सम्प्रदान। वह त्याग अर्थात् त्यजनक्रिया का उपकरण है। क्योंकि उसके विना त्याग हो नहीं सकता। वह तीन प्रकार का होता है—१. प्रेरक, माँगनेवाला, ब्राह्मण आदि। २. अनुमन्ता = अधिकारी ब्राह्मण आदि। ३. अनिराकर्ता = देवता आदि।

३. पशुपति—इस वाक्य में सम्बन्ध पदार्थ रूप, आर्थ और अध्यात्मप्रमाण सिद्ध है।

तत्र धर्ममात्रस्य साधनभावे शाब्दो यथा—

"प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥" इति ।

तस्यैव धर्मस्य समानाधिकरणस्योपादाने सत्यार्थो यथा—

"द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरस्तु मृष्यते ।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः ॥"

इति । अत्र हि द्विषदुदयगतस्यास्वन्तत्वस्य सुमर्षणत्वस्य च तत्परिक्षयगतस्य फलसम्पत्प्रवणत्वस्य दुर्मर्षणत्वस्य चार्थः साध्यसाधनभावो निबद्धः ।

धर्मधर्मिभावाभावे तु पदार्थमात्रस्य साधनत्वाच्छाब्द एव यथा—

"दुर्मन्त्रान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात् सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया-
न्मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् त्यागात् प्रमादाद्धनम्" इति ।

एवं वाक्यार्थविषयोऽपि साध्यसाधनभावो द्विविधो बोद्धव्यः । तत्र शाब्दो यथा—

"सरस्यामेतस्यामुदरवलिवीचीविलुलितं
यथा लावण्याम्भो जघनपुलिनोल्लङ्घनपरम् ।
यथा लक्ष्यश्चायं चलनयनमीनव्यतिकर-
स्तथा मन्ये मग्नः प्रकटकुचकुम्भस्स्मरगजः ॥" इति ।

उनमें केवल धर्म की साधनता (हेतुता) में शाब्द (साध्यसाधनभाव) जैसे—

शिक्षा दिलाने, रक्षा करने और भरण-पोषण करने से प्रजा का (वास्तविक) पिता वह था, उसके पिता केवल जन्म के हेतु थे।

जब वही धर्मसमानाधिकरण होता है, तब उसके उपादान में आर्थ (अर्थबललभ्य) साध्य-साधनभाव—यथा—

'सूझ-बूझवाले उत्कर्षेच्छु पुरुष द्वारा शत्रुओं का अत्यन्त दुःखदपरिणामी अभ्युदय भी सह लिया जाता है, फल सम्पत्ति की ओर उन्मुख बहुत बड़ा परिक्षय भी नहीं' यह। यहाँ शत्रु-अभ्युदय के अत्यन्त दुःखदपरिणामित्व और सुखपूर्वक सहन कर लेना तथा 'परिक्षय के फल-सम्पत्ति-उन्मुखत्व' तथा 'कठिनाई से सहन करना'—इनका साध्यसाधनभाव सम्बन्ध आर्थ दिखलाया गया है।

धर्मधर्मिभाव के अभाव में केवल पदार्थ ही साधन (अहेतु) होता है, अतः (वहाँ साध्य-साधनभाव सम्बन्ध) शाब्द ही होता है, यथा—

'उल्टी सलाह से राजा विनष्ट होता है, साथ करने से संयमी, दुलार से पुत्र, अशिक्षा से ब्राह्मण, कुपुत्र से कुल, दुष्टजनों के पास उठने-बैठने से संकोची स्वभाव, नशीले पदार्थ से लज्जा, रखवाली न करने से खेती, परदेश में बने रहने से स्नेह, प्रेम न होने से मित्रता, न्याय न होने से समृद्धि तथा त्याग और अनवधानता से सम्पत्ति'। यह।

इसी प्रकार वाक्यार्थनिष्ठ साध्यसाधन भाव भी दो प्रकार का समझना चाहिए। उनमें शाब्द, यथा—

क्योंकि त्रिवलीतरंगित लावण्यजल जघनरूपी पुलिन को लाँघता जा रहा है और क्योंकि यह चञ्चल नयनों का मीन भी इसमें पैदा हो गया है, इससे मैं सोचता हूँ, इस सरसी में स्पष्टतः कामरूपी हाथी डूब गया है, जिसका स्तनरूपी कुम्भ दिखाई दे रहा है।

द्विषतामि**ति। तथाहि। शत्रूणां गुरुरप्युदयः सुखेन मृष्यते परैः अस्वन्ततरत्वाद् अतिशयेनारमणीयपरिणामत्वात्। तथा महानपि परिक्षयः सुखेन न मृष्यते फलसम्पदौन्मुख्यात्।**

१. **द्विषताम्**—शत्रु द्वारा शत्रुओं का महान् अभ्युदय भी सुखपूर्वक सह लिया जाता है। यदि वह अस्वन्ततर हो अर्थात् परिणाम में अत्यधिक अरमणीय हो तो और बहुत बड़ा भी क्षय नहीं सहा जाता। यदि वह महान् लाभ का उत्पादक हो।

दुर्मन्त्रात्कुतनयान्मद्या**दित्यत्र धर्मधर्मिभावो नास्ति। शाब्दं तु पदार्थरूपं साधनम्। लोकप्रसिद्धश्च सम्बन्धः।**

२. **दुर्मन्त्रान्**—दुर्मन्त्र, कुतनय और मद्य यहाँ धर्मधर्मिभाव नहीं है। साधन जो है, वह पदार्थ रूप और आर्थ है। उनका सम्बन्ध लोक प्रमाण से सिद्ध है।

आर्थो यथा—

"निवार्यतामालि ! किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्॥"

यथा च—

"दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्॥" इति।

आर्थ जैसे—

'सखि रोक, इस नासमझ ब्राह्मचारी का ऊपर का ओंठ फड़क रहा है। फिर से कुछ

कहना चाहता है। महापुरुषों के प्रति अपशब्दों का प्रयोग करनेवाले ही नहीं, उन्हें सुननेवाला भी पाप में पड़ता है। और जैसे—

'स्वर्ग यदि चाहती हो, तो श्रम व्यर्थ है। देवभूमि तो तुम्हारे पिता के ही प्रदेश हैं। यदि पति, तो समाधि आवश्यक नहीं। रत्न नहीं खोजता, वह खोजा जाता है।'

निवार्यतामि**ति। अत्र वाक्यार्थस्य साधनत्वं यत्र सम्बन्धो वेदसिद्धः।**

निवार्यताम्—यहाँ साधन है वाक्यार्थ। उसका संबन्ध वेदप्रमाणमूलक है।

दिवं यदि प्रार्थयस **इति। अत्र प्रार्थनीयनिष्ठस्य प्रार्थनीयगतं दूरत्वपरायत्तत्वाभ्यामसुलभत्वं कारणं, तद्विरुद्धं निकटत्वस्वायत्तत्वाभ्यां सुलभत्वमिति तदुपलभ्यमानं स्वविरुद्धकार्यस्य प्रार्थनस्य श्रमलक्षणप्रवृत्तिपर्यन्तस्याभावं गमयतीति प्रथमेऽर्धे कारणविरुद्धोपलब्धिः। द्वितीयेऽर्धे तस्यैव प्रार्थयितृत्वस्याप्रार्थनीयत्वं व्यापकं, तद्विरुद्धं च प्रार्थनीयत्वं तदुपलभ्यमानं स्वविरुद्धव्याप्यस्य प्रार्थयितृत्वस्याभावं गमयतीति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। (प्रार्थनीयत्वादेरपि सिद्धं ?) तदेवं वाक्यार्थगतत्वेन वाच्यनिष्ठं शुद्धं विध्यनुवादभावमस्त्युत्तरस्यामित्यादौ प्रतिपाद्य तत्संलग्नत्वेन साध्यसाधनभावः प्रतिपादितः।**

वाच्यानुमेयार्थविषयत्वेन द्विविधः साध्यसाधनभाव उद्दिष्टः। तत्र वाच्यार्थविषये तस्मिन्निर्णीते अनुमेयार्थविषयं निर्णेतुमाह—अनुमेयार्थेति**। अत्र व्यक्तिवादिना व्यङ्ग्यत्वेन योऽर्थ उक्तः स इहानुमेयत्वेनोच्यते, व्यक्तेरनुपपत्तेरुपपादयिष्यमाणत्वात् शब्दस्य व्यापारान्तराभावाच्च।**

दिवं यदि प्रा०—यहाँ पूर्वार्ध में कारण के विरुद्ध तत्त्व ज्ञात होते हैं। इस प्रकार की प्रार्थनीय वस्तु की जो प्रार्थना है, उसमें कारण है दूरवर्ती और दूसरे के अधीन होने से प्रार्थनीय की दुर्लभता। उसके विरुद्ध यहाँ प्रार्थनीय निकटवर्ती और अपने अधीन होने से सुलभ बतलाया गया है। प्रार्थनीय के ये (निकटवर्त्तित्व और प्रार्थी के अधीन होना) गुण अपने विरुद्ध श्रमरूप प्रवृत्ति तक की प्रार्थना का अभाव बतलाते हैं। उत्तरार्ध में व्यापक विरुद्ध वस्तु का ज्ञान हो रहा है। इस प्रकार कि—प्रार्थी वह बनता है, जो स्वयं प्रार्थनीय नहीं बनता। यहाँ उसके विरुद्ध प्रार्थी में प्रार्थनीयता बतलाई जा रही है। यह प्रार्थनीयत्व अपने विरुद्ध प्रार्थित्व का अभाव बतलाता है।

इस प्रकार 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि' इत्यादि में वाक्यार्थ में रहनेवाला वाच्यार्थ का शुद्ध विध्यनुवादभाव बतलाकर उसको संलग्न साध्यसाधन भाव बतलाया है।

वाच्य से अनुमेय अर्थ में दो प्रकार का साध्यसाधनभाव कहा गया है। वाच्यार्थविषय साध्यसाधन भाव का निर्णय हो जाने पर अब अनुमेयार्थ विषयक साध्यसाधन भाव का निर्माण करना आरंभ करते हैं—

अनुमेयार्थविषयो यथा—

> **"सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।**
> **शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥"**

अत्र हि सर्वत्र सुलभा विभूतयः शूरादीनामित्ययमर्थोऽनुमीयत इत्येतद्धितनिष्यते। अनुमितानुमेयार्थविषयो यथा—

> **"पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।**
> **सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥"**

इत्यत्र हि नखरञ्जनानन्तरं परिहासपूर्वं सख्या कृताशिषो देव्या यदे-तदवचनं माल्येन हननं तत् तदनुभावभूतं तस्याः कौतुकौत्सुक्यप्रहर्षलज्जा-दिव्यभिचारिसम्पदमनुमापयति। सा चानुमीयमाना सती भगवति भवे भर्तरि रतिमनुमापयति। यथा च—

"एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥"

यथा वा—

"प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी
विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं
लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम्॥"

अनुमेयार्थविषयक (साध्यसाधन भाव) जैसे—

'सुवर्णपुष्पा पृथिवी को तीन लोग चुनते हैं—शूर, व्यावहारिक विद्वान् और सेवा निपुण।' यहाँ—'शूर आदि पुरुषों के लिए विभूति सब जगह सुलभ रहती है' यह अर्थ अनुमान द्वारा प्रतीत होता है। इसका विस्तार आगे किया जायगा।

अनुमित से अनुनेयार्थ सम्बन्धी (साध्यसाधन भाव) यथा—

'पैरों में अलता लगाकर सखी द्वारा परिहासपूर्वक यह आशीष देने पर कि—'इससे पति के सिर की चन्द्रकला छूना' पार्वती ने बिना कुछ कहे उसपर माला से चोट की।

यहाँ नख को रंगने के बाद परिहास के साथ सखी द्वारा आशीर्वाद पाकर पार्वती का बिना बोले माला द्वारा जो प्रहार करना है, वह अनुभाव है। उससे पार्वती के कौतुक, उत्सुकता, प्रहर्ष, लज्जा आदि अनेक व्यभिचारी भावों का अनुभव होता है और अनुमान द्वारा प्रतीत उन व्यभिचारी भावों द्वारा भगवान् शङ्कर पर पार्वती के अनुराग का अनुभाव होता है। और जैसे—

'देवर्षि के ऐसा कहने पर पिता के पास नीचा मुँह किये बैठी पार्वती नीलकमल की पंखुड़ियाँ गिनने लगी या जैसे—ऊँचे लगे पुष्पों का उपहार देते हुए प्रियतम द्वारा सपत्नी के नाम से पुकारी गयी मानवती प्रिया बोली कुछ नहीं, केवल डबडबाई आँखों से पैरों तले की भूमि कुरेदने लगी।'

यहाँ व्यक्तिवादी ने जो-जो अर्थ व्यङ्ग्य रूप से स्वीकार किये थे, उन सबको अनुमेय स्वीकार किया बतलाया जा रहा है। कारण कि व्यञ्जना बनती नहीं है, और आगे शब्द में किसी भी अन्य व्यापार का अभाव बतलाया जानेवाला है।

पत्युरिति। अत्र विशिष्टाशीर्वचनमौत्सुक्यादेर्व्यभिचारिणो विभावः, सख्या माल्येन ताडनं च अनुभावः। तौ व्यभिचारिभावं कारणत्वात् कार्यत्वाच्च गमयतः। स च सहकारित्वाद् रूपमिव रसो रतिस्थायिभावं गमयति।

पत्युः—इस पद्य में विशिष्ट आशीर्वाद औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों का विभाव है। सखी को माला से पीटना अनुभाव है। वेव्यभिचारी भाव का अनुभाव कराते हैं। विभाव कारण रूप से, अनुभाव कार्य रूप से। वह व्यभिाचारी भाव (× × ×) सहकारी होने से रति रूप स्थायीभाव का अनुमान कराता हैं।

एवंवादिनीति। अत्र लज्जाख्यस्य व्यभिचारिणो देवर्षेरेवंवादित्वं पितुश्च पार्श्ववर्त्तित्वं कारणत्वेन द्वौ विभावौ, तथाधोमुखत्वं लीलाकमलपत्रगणनं च कार्यत्वेन स्थितौ। सा च गम्यभूता लज्जा सहचारित्वाद्रतिं गमयति। ततश्चात्रानुमितानुमेयार्थनिष्ठत्वम्।

एवंवादिनि—यहाँ लज्जा रूप व्यभिचारी के प्रति विभाव हैं—ऋषिका ऐसा कहना और पिता का पास होना। मुख नीचा करना और कमल की पंखुडी गिनना अनुभाव है। वह गम्यभूत लज्जा सहचारी होने से रति का अनुमान कराती है। इस प्रकार यहाँ इन दोनों पद्यों में अनुमितानुमेयार्थविषयक साध्यसाधक है।

विमर्श : एवंवादिनि देवर्षौ में देवर्षि पद अंगिरा का परामर्शक है। पंडितराज जगन्नाथ उसे नारद का परामर्शक लिख गये। देवर्षिपद से नारद की प्रसिद्धि ने उन्हें भरमाया है द्रष्टव्य = रसगंगाधर पूर्वाननान्त।

एवं प्रयच्छतेत्यत्रावसेयम्। अत्र हि मानिनी प्रकृत्यैवाभिमानवती न तु सर्वंसहा दयितेन आत्मरागविषयेण न तु पतिमात्रेण। पुष्पाणि प्रदातुम्। विपक्षस्य विद्वेषिण्याः सपत्न्याः न तु तटस्थायाः गोत्रं गां वाचं त्रायतेऽन्यस्माद् व्यवच्छिनत्ति नियतविषयत्वेन स्थापयति यत्तन्नाम लम्भिता गोत्रस्खलनविषयभावं प्रापिताविशिष्टमनुभावमकरोदिति तावदर्थः। अत्र लज्जादेर्व्यभिचारिणो विपक्षगोत्रग्रहणं विभावो 'न किञ्चिदूचे' इत्यनुभावश्च गमकत्वेन स्थितौ। स च लज्जादिः सहचारित्वादीर्ष्याविप्रलम्भं गमयतीति।

एवं प्रयच्छते—इसी प्रकार 'प्रयच्छत' इस पद्य में भी योजना करनी चाहिए। यहाँ भामिनी = स्वभावतः अभिमानती, सब कुछ सह लेनेवाली नहीं, दयित—अपने अनुराग का पात्र, न कि केवल पति के, पुष्प देने के लिए, विपक्ष-विद्वेषिणी सौत का, न कि किसी और का, गोत्र = गो = वाणी को त्रायते = दूसरे से हटाकर किसी नियत अर्थ में स्थिर करता है, जो वह 'नाम' उसको स्खलन द्वारा पहुँचायी गयी, विशिष्ट अनुभव करने लगी। यहाँ लज्जादि व्यभिचारी का सपत्नी का नाम लेना विभाव है। कुछ नहीं बोलना अनुभाव है। ये दोनों गमक हैं। वह लज्जा आदि सहचारी होने से ईर्ष्याविप्रलम्भ का अनुमान कराते हैं।

यथा च वाक्यार्थविषये साध्यसाधनभावे साध्यसाधनप्रतीत्योः सुलक्षः क्रमभावः तथा वस्तुमात्रादावनुमेयविषयेऽप्यवगन्तव्यः। केवलं रसादिष्वनुमेयेष्वयमसंलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभाव इति सहभावभ्रान्तिमात्रकृतस्तत्रान्येषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाभ्युपगमः, तन्निबन्धनश्च ध्वनिव्यपदेशः। स तु तत्रौपचारिक एव प्रयुक्तो न मुख्यः तस्य वक्ष्यमाणनयेन बाधितत्वात्। उपचारस्य च प्रयोजनं सचेतनचमत्कारकारित्वं नाम। तद्धि मुख्ये चित्रपुस्तकादौ व्यक्तिविषये परिदृष्टमेव।

वाच्यो ह्यर्थो न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव विधिनिषेधादिः काकभिधेयतामनुमेयतां वावतीर्ण इति स्वभाव एवायमर्थानाम्। तथा हि—
'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥'

इत्यतो

'लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्त्तराष्ट्राः ॥'

इत्यतश्च यथा विधिनिषेधयोश्चारुतावगतिर्न तथा शब्दाभिधेययोरिति । यथा च प्रतिषेधद्वयानुमितस्य प्रकृतस्यैवार्थस्य विधेश्चारुतावगतिर्न तथा स्वशब्दवाच्यस्य । द्विविधश्च प्रतिषेध उक्तः सुप्तिङन्तविषयत्वात् । तद्यथा—

'अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्यातेति जन्यामवदत् कुमारी ।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यक् द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥'

इति । सम्भाव्यनिषेधनिवर्तनं हि प्रतिषेधद्वयस्य विषय इति ।

तथा चाह ध्वनिकारः—'साररूपो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरां शोभामावहति । प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धपरिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न वाच्यत्वेन' इति ।

जिस प्रकार वाक्यार्थ गत साध्यसाधन भाव में साध्य और साधन के ज्ञान का क्रम सरलतया प्रतीत हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ वस्तुमात्र अथवा अलङ्कार अनुमेय होते हैं, वहाँ भी, केवल रसभाव—आदि के अनुमेय होने पर इस गम्यगमकभाव का क्रम एकाएक प्रतीत नहीं होता, इसलिए दोनों की साथ-साथ प्रतीति के भ्रम से दूसरों ने व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध मान लिया है और उसके आधार पर ध्वनिव्यवहार । वस्तुतः उसे उन स्थलों में औपचारिक मानना चाहिए । मुख्य या वास्तविक नहीं । क्योंकि उसका आगे दी जानेवाली युक्तियों द्वार बाध हो जाता है । उपचार का प्रयोजन सहृदयों के प्रति चमत्कारकारिता ही है । और वह (चमत्कार-कारित्व) वास्तविक चित्र या पुस्तक लिपिकर्म आदि में, जो व्यञ्जना के विषय हैं—देखा ही गया है ।

जो अर्थ वाच्य होता है, वह उतना चमत्कार नहीं करता जितना विधिनिषेधादि रूप वही अर्थ काकु द्वारा कहा जाने या अनुमान द्वारा प्रतीत होने पर, यह अर्थों का स्वभाव ही है । उदाहरणार्थ—

'यदि आप लोगों के राजा साहब किसी शर्त पर सन्धि करें तो क्या मैं सौ कौरवों को युद्ध में नहीं मारूँगा ? क्या दुःशासन की छाती का खून नहीं पीऊँगा ? क्या दुर्योधन की जाँघें गदा से चूर न करूँगा ?' इससे, और

'लाक्षागृह की आग, विषमिला अन्न और द्यूत की सभा में घुसाकर, हमारे प्राण और सम्पूर्ण सम्पत्ति पर आघात करके, पाण्डवों की पत्नी (द्रौपदी) के वस्त्र तथा बाल खींचनेवाले (वे) धृतराष्ट्र के बच्चे मैं जीता रहूँ और स्वस्थ बनें ।' इससे विधि और निषेध में जितनी चारुता प्रतीत होती है, उतनी चारुता शब्द द्वारा कहे गये विधि-निषेधों में नहीं । और जिस प्रकार दो निषेधों से निष्पन्न हुए प्रकृत विध्यर्थ का सौन्दर्य प्रतीत होता है, उस प्रकार अपने वाचक शब्दों द्वारा वाच्य नहीं ।

चित्रपुस्तकादाविति । आलेख्यलेख्यादौ सन्तमसावस्थिते प्रदीपादिना प्रकाशिते झटिस्यद्भुतार्थप्रकाशनाच्चमत्कारो जायते । तद्वद्रसादाविस्युपचारप्रयोजनम् ।

सर एव विधीति। इहाभिधेयानभिधेयत्वेन द्विविधोऽर्थः। अभिधेयो विधिनिषेधादिः प्रसिद्ध एव। अनभिधेयः पुनः काकभिधेयोऽनुमेयश्चेति द्विविधः। प्रत्येकं च विधिनिषेधादिरूपत्वेन भेदः। तत्र काकभिधेयो विधिनिषेधरूप इहोदाहृतः। अनुमेयः पुनः 'अत्ता एत्थे'त्यादौ 'भम धम्मिअ', इत्यादौ चोदाहरिष्यते। यो ह्यनभिधेयो विधिः स क्वापि निषेधद्वयं नामार्थनिष्ठमाख्यातार्थनिष्ठं च द्विविधमुदाहृतम्।

चित्र या लिपि आदि गहरे अंधकार में रखी हो तो प्रदीप आदि द्वारा प्रकाशित होने पर एकाएक अद्भुत वस्तु के प्रकाश से चमत्कार होता है। उसी प्रकार रस आदि में चमत्कार होता है। यही उपचार द्वारा बतलाता था। **रस एव विधि**—अर्थ दो प्रकार का होता है—अभिधेय और अनभिधेय। अभिधेय विधिनिषेध आदि हैं, वे प्रसिद्ध ही हैं। अनभिधेय दो प्रकार का होता है। काकु से कथित और अनुमेय। फिर दोनों विधिनिषेध रूप से दोनों प्रकार के हो जाते हैं। उनमें से काकु द्वारा कथित विधिनिषेधात्मक अभिधेय यहाँ बतलाया गया। अनुमेय आगे 'भमधम्मिअ' आदि में बतलाया जायगा। जो अर्थ अनभिधेय विधि है, वह कहीं भी होता हो। दो निषेध—नामार्थ निष्ठ और आख्यातार्थनिष्ठ = भी बतला दिये गए।

प्रतिषेध दो प्रकार का कहा गया है—सुबन्त-विषयक और तिङन्त-विषयक। यथा—

'इसके बाद अंगराज पर से आँखें हटाकर कुमारी (इंदुमती) ने प्रतीहारी सुनंदा से कहा—चलो! यह नहीं कि अंगराज सुन्दर न था और यह भी नहीं कि वही (इन्दुमती) परख नहीं जानती थी। रुचि ही लोगों की अलग-अलग होती है।'

दो निषेधों का विषय होता है संभावित निषेध का परिहार। वैसा ही ध्वनिकार ने भी कहा है—'सारभूत अर्थवाचक शब्द से (अभिधा द्वारा) न कहा (व्यञ्जक द्वारा) व्यञ्जना से व्यक्त किया जाय तो असाधारण चमत्कारकारी होता है। विदग्धजनों में यह प्रसिद्धि है कि अधिक अभिमत वस्तु व्यङ्ग्यरूप से ही प्रकाशित की जाती है, वाच्यरूप से नहीं।

विमर्श : वैसा ही इस अंश का संबन्ध—पूर्वोक्त जो अर्थ वाच्य होता है, वह उतना चमत्कारकारी नहीं होता था 'इस वाक्य से है।'

आद्ययोस्तु क्रमस्य सुलक्षत्वाद् भ्रान्तिरपि नास्तीति निर्निबन्धन एव तत्रव्यङ्ग्यव्यपदेशग्रहः। अत एव श्रूयमाणानां शब्दानां ध्वनिव्यपदेश्यानामन्तः सन्निवेशिनश्च स्फोटाभिमतस्यार्थस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो न सम्भवतीति व्यञ्जकत्वसाम्याद् यः शब्दार्थात्मनि काव्ये ध्वनिव्यपदेशः सोऽप्यनुपपन्नः, तत्रापि कार्यकारणमूलस्य गम्यगमकभावस्योपगमात्।

प्रथम दो वस्तु और अलंकार का क्रम स्पष्ट प्रतीत होने से भ्रान्ति भी नहीं है, इसलिए उनमें व्यङ्ग्यत्व का आग्रह भी निर्मूल है। इसीलिए ध्वनि नाम से पुकारे जानेवाले और सुने जाते जो शब्द हैं, उनमें उनके अन्त में आनेवाले स्फोटरूप से मान्य अर्थ के साथ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव संभव नहीं। इसलिए व्यञ्जकत्व के साम्य से शब्दार्थरूप काव्य में जो ध्वनि-व्यवहार किया गया, वह भी ठीक नहीं। वहाँ भी कार्यकारणभावमूलक गम्यगमकभाव ही माना जाता है।

श्रूयमाणानामिति। वर्णानां ध्वनिव्यपदेश्यानां व्यञ्जकानां तथा स्फुटत्यस्मादर्थ इत्यन्वर्थनाम्नः स्फोटस्यान्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्याखण्डवाचकस्य जन्यजनकभावेन गम्यगमकत्वाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वमिति तत्साम्येन व्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वघटनमयुक्तमेव।

श्रूयमाणानाम्—ध्वनि कहलानेवाले वर्ण व्यञ्जक हैं। 'जिससे अर्थ स्फुट होता है'—इस अभिप्राय से सार्थक नाम का स्फोट, जो अन्तिम वर्ण के अनुभव से पूरा-पूरा ज्ञात होता है—उसके साथ उन वर्णों का जन्यजनकभाव संबध है। अतः गम्यगमकभाव संबन्ध होने से व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव संबन्ध नहीं बनता। अतः उसके सादृश्य पर व्यङ्ग्यव्यञ्जकत्व की योजना काव्य में ठीक नहीं।

विमर्श : आनन्दवर्धन ने 'ध्वनिरिति० बुधैर्यः' समाम्नातपूर्वः और 'ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः' द्वारा यह सिद्ध किया था कि वाच्य के अतिरिक्त जो एक प्रतीयमान अर्थ होता है, उसकी प्रतीति अभिधा और लक्षणा से नहीं हो सकती। अतः उन्होंने उनसे भिन्न एक व्यञ्जना नामक शब्दवृत्ति को स्वीकार किया था। उसको प्रामाणिक तथा शास्त्रानुमोदित सिद्ध करने के लिए उन्होंने वैयाकरणों के स्फोटवाद को अपनाया। वैयाकरण लोग स्फोट नामक एक व्यापक और नित्य शब्द की कल्पना करते हैं। उसकी अभिव्यक्ति में सुनाई देते शब्दों को कारण मानते हैं। इस प्रकार सुनाई पड़नेवाले शब्द व्यञ्जक और स्फोट व्यङ्ग्य माना जाता है। महिमभट्ट व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव वहाँ मानते हैं, जहाँ ज्ञाप्य और ज्ञापक की प्रतीति एक साथ होती हो। आगे-पीछे होने पर उसमें वे कार्यकारणभाव मानते हैं। ध्वनि वर्ण और स्फोट की प्रतीति में यह बात नहीं है। वह एक साथ नहीं होती। अतः वहाँ भी कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। जब स्फोट में भी व्यञ्जना नहीं तो उसके आधार पर काव्य में भी व्यञ्जना मानना ठीक नहीं। वस्तु और अलंकार ध्वनि में भी प्रतीतिगत पौर्वापर्य है। अतः उनमें भी गम्यगमकभाव ही मानते हैं। रसध्वनि में 'वह नहीं है। ग्रन्थकार उसे पूर्वपक्ष रूप से उपस्थित करते हैं। यह पूर्वपक्ष 'तद्वद् व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासक इति' तक चलता है। उसके बाद 'उच्यते' से खण्डन चलता है।

ननु विभावादिवाक्यार्थसमकालमेव रत्यादीनां भावानां प्रतीतिरुपजायमाना सर्वैरेवावधार्यते। न तु तत्रान्तरा सम्बन्धस्मरणादिविघ्नव्यवधानसंवित्तिः काचिद्।

सभी सामाजिकों का अनुभव है कि रति आदि स्थायीभावों की प्रतीति उसी समय हो जाती है, जिस समय विभाव आदि वाक्यार्थ की प्रतीति होती रहती है। वहाँ ऐसी तो कोई बात नहीं है कि बीच में किसी संबंध आदि के स्मरण से विघ्नरूप कोई व्यवधान होता हो।

ननु विभावादीत्यादिना **विभावादिभिस्सह रसादीनां निमित्तनिमित्तभावेन क्रमिकप्रतीतिसिद्धेर्ध्वनिकारेणाभ्युपगतत्वान्मुख्यं व्यङ्ग्यत्वं दूषयित्वा गम्यत्वं समर्थितम्। अलौकिकचमत्कारसिद्धिप्रयोजनश्च व्यङ्ग्यत्वोपचारः संश्रितः।**

तत्र व्यक्तिवादिनो व्यङ्ग्यत्वाभ्युपगमेऽयमभिप्रायः-**इह विभावादिस्वभावनिमित्तप्रतिपत्तिकाले निमित्तिनो रसादेः प्रतिपत्तिर्नास्ति, निमित्तिनो निमित्तमुखप्रेक्षित्वेन; ततो व्यङ्ग्यत्वं नोपपद्यते। गम्यत्वं पुनर्निर्बाधमेवेति तावद् भवतोऽनुमानवादिनः परमार्थः। न चैतदस्माभिरपह्नूयते घटप्रदीपादौ व्यक्तिविषये तथा दर्शनात्। किन्तु व्यङ्ग्याभिमतस्य**

रसादेर्यदा प्रतिपत्तिर्जायते, तदा व्यञ्जकस्य विभावादेः प्रतिपत्तिर्न निवर्त्तते तत्सहभावेन रसादेः प्रतीतेः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन तु वास्तवक्रमाभ्युपगमो व्यञ्जकाभिमतविभावादिप्रतीत्युपक्रमाभिप्रायेण।

व्यञ्जकप्रतीतिकाले हि नियमेन व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति नास्माकमाशयः। व्यङ्ग्यप्रतीतिकाले तु नियमेन व्यञ्जकप्रतीतिर्भवत्येवेत्याशयेनाक्रमत्वं व्यक्तिश्च समर्थिता। तथा चोक्तम्—'न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति वाच्याविनाभावेन तस्य प्रकाशनादि'त्यादि, न तु विपर्ययेणोक्तं—'न हि वाच्ये प्रतीयमाने व्यङ्ग्यबुद्धिर्दूरीभवती'ति।

निमित्तनिमित्तिभावस्तु नाङ्गीकृतोऽस्माभिः। केवलं सोऽन्यादृशो गम्यगमकभावप्रयोजको, यत्र गम्यस्य गमकोपरागो न प्रतीयते। अन्यादृशश्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावप्रयोजको, यत्र प्रत्याय्यस्य प्रत्यायकोपरागप्रतिपत्तिः। तेन नास्ति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वे विप्रतिपत्तिः।

यदपि विभावादीनां रत्यादीनां च कृत्रिमत्वमाश्रित्यानुमानमेव समर्थितम्। औपमानिकं च व्यङ्ग्यत्वं स्थापितम्। तदप्यसमीचीनम्, यतः सहृदयानामेव चर्वयितृत्वाच्चर्वणानुप्राणत्वाच्च रसस्य तद्गतमेव रसस्वरूपं निरूपणीयम्। न रसादिरनुकार्यस्थः, नानुकर्तृस्थः, केवलं देशकालप्रकृत्यवस्थाप्रतिनियमावत्रोटनेन साधारण्येन प्रतीतेः। रामानुकर्त्रोरपि तत्रानुप्रवेशात् तद्गतत्वेनापि व्यपदेशो नातीवासम्बद्धः। न तु तद्गतत्वेनैव तस्य व्यवस्थानं युक्तं यतः 'स्थाय्येव रसो भवेदि'ति मुनिवचनप्रामाण्यात्।

स्थायिनो रसत्वे नीरसानां च रसचर्वणाभावे सद्भाविवासनात्मकरत्यादिस्थायिभावानां चर्वणैकगोचराणां रसत्वमित्यास्माकीनो राद्धान्तः। न च तत्र रत्यादीनां रसानां कृत्रिमत्वम्। नापि कारणादीनां साधारण्येन प्रतीतेर्विभावादिव्यपदेश्यानां वस्तुसद्भावित्वात् कृत्रिमत्वम्। तथाभूतसहृदयप्रतीतिगोचराणामेव तेषां मुख्यतया विभावादित्वम्, अन्येषां तु कारणादित्वम्। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति मुनिनैतदाशयेनैव लोकोत्तरविभावादिशब्दव्यपदिष्टं च। तस्माद्विद्यमान एव वासनात्मा रत्यादिः स्थायिभावो विभावादिभिः सम्बन्धस्मरणादिव्यवधानमन्तरेण व्यक्त इति स्थितौ मुख्यमेव व्यङ्ग्यत्वं रसस्य नौपचारिकं नाप्यनुमेयत्वमिति तावत्। एवं भावादीनामपि ज्ञेयम्।

यत्तु सदसद्विषयत्वेन चतुर्विधा व्यक्तिरत्रोन्मीलिता तदपि न सङ्गतं घटप्रदीपन्यायस्यात्रेष्टत्वात्। योऽपीन्द्रियगोचरतापत्तिप्रसङ्ग उद्भावितः सोऽप्यसमञ्जसः। न ह्यात्मीयेन लक्षणेन परमतं दूष्यते। न हीन्द्रियगोचरतापत्तिः केनचिद्व्यक्तिलक्षणं कृतं 'स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः। यथा दीपो घटस्ये'ति सामान्येन धीगोचरतापत्तिलक्षणत्वाद्व्यक्तेः। ततश्च रसादौ व्यङ्ग्यत्वमनवद्यमेव।

यत् पुनर्वस्त्वलङ्कारयोर्नियमेन वाच्यानन्तरकालभावित्वेन प्रतीतेर्व्यङ्ग्यत्वमसमञ्जसं भवतीत्युक्तं, तत्र प्रतिविधीयते। इह शब्दस्याभिधालक्षणाभेदेन द्विविधो व्यापारश्चिरन्तनैरभ्युपगतः। न स तृतीयकक्षानिक्षिप्तेऽर्थे प्रगल्भत इति तत्र व्यापारान्तरमभ्युपेयम्। रसादौ च तत्तुल्यकक्ष्ये व्यञ्जनमुपपादितमितीहापि तदेव संश्रयितुं युक्तम्। यत् तत्र वाच्यव्यङ्ग्ययोः सहप्रतीतिर्नास्तीत्युक्तं तदपि न युक्तं रसादिन्यायेन व्यङ्ग्यप्रतीतिकाले वाच्यस्यापि प्रकाशकस्य प्रतीतेः। वाच्यकाले तु यद्व्यङ्ग्यस्य न प्रतीतिस्तन्न दूषणमित्युक्तमेव।

नन्वविरोधिव्यङ्ग्यप्रतीतिकाले वाच्यस्य कथञ्चित् प्रतीतिरस्तु। 'भम धम्मिअ' इत्यादौ तु विरोधिव्यङ्ग्यप्रतीतिकाले वाच्यस्य कथं प्रतीतिः ? नैष दोषः। तत्रापि प्रकाशकतया। (यत्र तु ?) ततोऽसत्येनापि प्रतीतिसद्भावाद्व्यङ्ग्यत्वं नासमञ्जसं किञ्चित् यतः काव्यार्थो गोप्यमानत्वेन प्रतिपत्तृमात्रस्याप्रतिभातः सहृदयस्यैव भासते जातीपलाण्डुन्यायेन नि(गुम्भि ?)कुम्बितस्य प्रकटनात् (इति) व्यक्तिवाचोयुक्तिरेव लौकिकी समीचीनेति तत्र व्यञ्जकत्वमेव साधीय इति।

ध्वनिकार ने 'ननु विभावादि' इत्यादि द्वारा माना है कि विभावादि के साथ रस का कार्य-कारणभाव संबंध है। उनकी प्रतीति आगे-पीछे होती है अतः उनमें क्रम भी है। इसलिए वस्तुतः रस आदि व्यङ्ग्य नहीं कहे जा सकते। उन्हें गम्य ही मानना होगा। लोक की साधारण अनुभूति से भिन्न आनन्दानुभूति के रस आदि को लक्षणा द्वारा औपचारिक रूप से व्यङ्ग्य कह दिया गया है।

रस आदि का व्यङ्ग्य मानने में ध्वनिकार का अभिप्राय यह है—(अनुमानवादियों का पूर्वपक्ष)—अनुभव ऐसा है कि विभावादि रूप कारण की प्रतीति के समय रस आदि रूप कार्य की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि कार्य का ज्ञान कारण के ज्ञान के बाद ही हो सकता है। इसलिए रसादि में व्यङ्ग्यत्व सिद्ध नहीं होता। उसके गम्य होने में कोई बाधा नहीं है यह आप अनुमान-वादियों का कथन है।

(व्यक्तिवादियों का उत्तरपक्ष)—हम ध्वनिवादी आप लोगों की इस तथ्योक्ति को छिपाते नहीं। क्योंकि (लोक में) घट प्रदीप आदि जो व्यक्ति के स्थल हैं वहाँ आपने जैसा कहा वैसा ही प्रतीत होता है। इतने पर भी जिस समय व्यङ्ग्यरूप से स्वीकृत रस आदि का ज्ञान होता रहता है उस समय व्यञ्जकरूप से स्वीकृत विभावादि का ज्ञान अलग नहीं हो जाता। रसादि का ज्ञान उसके साथ-साथ देखा गया है। अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कह कर क्रम को जो वास्तविक माना गया है उसका इतना ही अभिप्राय है कि व्यञ्जकरूप से स्वीकृत विभाव अनुभाव की प्रतीति में उस (क्रम) का अस्तित्व है, रस-प्रतीति में नहीं। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि व्यञ्जक के ज्ञान के समय व्यङ्ग्य की प्रतीति होती ही है। हमारा अभिप्राय यह है कि व्यङ्ग्य की प्रतीति के समय व्यञ्जक की प्रतीति अवश्यमेव होती है। इसी अभिप्राय से रसरूप व्यङ्ग्य की प्रतीति में अक्रमता और व्यङ्ग्यता साधी गई हैं। कहा भी वैसा ही है—व्यङ्ग्य की प्रतीति होते तक वाच्य-प्रतीति हटती नहीं। कारण कि व्यङ्ग्य की प्रतीति वाच्य की प्रतीति से अलग न होकर ही होती है। इससे उलटा यह नहीं कहा कि 'वाच्य की प्रतीति होते तक व्यङ्ग्य की प्रतीति दूर नहीं होती।' हमने कार्यकारणभाव स्वीकार नहीं किया। हमने केवल यह स्वीकार किया है कि वह (कार्यकारणभाव) दूसरा है जिससे गम्यगमकभाव सधता है, और जिसमें गम्य की प्रतीति के समय गमक की प्रतीति नहीं है, तथा वह (कार्यकारणभाव) दूसरा है जिससे व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सधता है, जिसमें गम्य की प्रतीति गमक की प्रतीति के साथ होती है। इस प्रकार रस आदि की व्यङ्ग्यता में कोई आपत्ति नहीं रहती। (व्यक्तिविवेककार ने रस को आगे कृत्रिम और भ्रान्तिरूप माना है उसका खण्डन) और जो विभावादि तथा रति आदि को कृत्रिम मान कर उन्हें अनुमान द्वारा प्रतीत माना है तथा व्यङ्ग्यत्व को औपचारिक ठहराया है—वह भी ठीक नहीं। कारण कि रस का प्राण है चर्वणा। वह होती है सहृदय में। इसलिए उन्हें प्रतीत होने वाला रूप ही रस का

वास्तविक रूप माना जाना चाहिए। रस आदि अनुकार्य (राम आदि) में नहीं रहते। न अनुकर्ता (नट) में। उनकी प्रतीति देश, काल, स्वभाव और अवस्था के असाधारण रूप के टूट जाने पर साधारण रूप से होती है। उस (रस) प्रतीति में राम आदि अनुकार्य और नट आदि अनुकर्ता का भी संस्कार रूप से अनुप्रवेश रहता है। इसलिए कथञ्चित् उनमें भी रस आदि माना जा सकता है। किन्तु केवल उन्हीं में उन (रस आदि) का अस्तित्व मानना ठीक नहीं। क्योंकि—'स्थायी ही रस बन सकता है'—यह मुनिवचन उसमें प्रमाण है। हमारा सिद्धान्त है कि दो स्थितियों में स्थायीभाव रस अवस्था में आते हैं। एक तो वे व्यक्ति में वासना रूप से स्थित हों और दूसरे उनकी चर्वणात्मक अनुभूति हो। जिनमें रति आदि भाव वासना रूप से स्थित नहीं होते अथवा होने पर भी किसी अन्य कारण से चर्वणात्मक अनुभूति की क्षमता नहीं होती वे व्यक्ति नीरस कहलाते हैं। उन्हें रसादि की अनुभूति नहीं होती। जिन सामाजिकों को रस की अनुभूति होती है, उनमें रति आदि और रस आदि को कृत्रिम नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कारण कार्य आदि, साधारणीकरण के बाद जिन्हें विभाव कहा जाता है, भी कृत्रिम नहीं होते। वे तो प्रत्यक्षतः वास्तविक होते हैं।

विभावादि तभी मुख्य रूप से, सच्चे अर्थ में विभावत्व आदि से युक्त माने जाते हैं जब वे स्थायी भाव की वासना से युक्त सहृदय की प्रतीति के विषय बनते हैं, जो उस प्रतीति के विषय नहीं बनते वे कारण आदि ही रहे आते हैं। इसी आशय से भरतमुनि ने रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' में विभाव आदि शब्दों का प्रयोग किया, जो लोकोत्तर हैं। इसलिए संक्षेप में (कृत्रिम नहीं वास्तविक रूप से) विद्यमान वासनारूप रति आदि स्थायिभाव ही विभावादि द्वारा बिना किसी सम्बन्ध-स्मरण की रुकावट के व्यक्त होता है—ऐसा सिद्ध होने पर रस का व्यङ्ग्यत्व वास्तविक ही है औपचारिक नहीं, रस का अनुमेयत्व ही अवास्तविक है। इसी प्रकार भाव आदि के विषय में जानना चाहिए।

(आगे व्यक्तिविवेककार ने व्यञ्जना चार प्रकार की मानी है सत्पदार्थविषयक और असत्पदार्थ-विषयक आदि। व्याख्यानकार ध्वनिकार की ओर से उसका खण्डन करते हैं—)

महिमभट्ट ने सद्विषयतया और असद्विषयतया व्यञ्जना के चार भेदों की कल्पना की है, वह ध्वनि-सिद्धान्त में लागू नहीं होती। ध्वनिसिद्धान्त में व्यञ्जना के लिए घटप्रदीपन्याय माना है। इसी प्रकार घटप्रदीप न्याय पर इन्द्रियगोचरता की आपत्ति उपस्थित की है वह भी ठीक नहीं है, अपने मनगढन्त लक्षण से दूसरे का सिद्धान्त दूषित नहीं किया जा सकता। किसी ने व्यञ्जना का लक्षण किया है 'व्यञ्जक वह होता है जो अपने ज्ञान से दूसरे के ज्ञान का कारण बनता है, जैसे घट का प्रदीप'—इसके अनुसार व्यञ्जना में इन्द्रियगोचरतापत्ति सम्भव ही नहीं, क्योंकि इस लक्षण में ज्ञान के लिए केवल ज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है जो ज्ञान सामान्य का वाचक है प्रत्यक्ष आदि विशिष्टज्ञान का नहीं। इस प्रकार रसादि का व्यङ्ग्यत्व सर्वथा निर्दोष है।

वस्तु और अलंकार ध्वनि नियमतः वाच्य के पश्चात् प्रतीत होती हैं इसलिए उनमें व्यक्ति-विवेककारने जो व्यङ्ग्यत्व को अनुचित ठहराया है उसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है—'यहाँ अभिधा और लक्षणा भेद से दो प्रकार का शब्द-व्यापार प्राचीन आचार्यों ने माना है। दोनों प्रकार का यह शब्द-व्यापार तीसरी कक्षा में बैठे (वस्तु अलंकार रूप) अर्थ की प्रतीति में सक्षम सिद्ध नहीं होते, इसलिए एक अन्य व्यापार मानना पड़ता है। तीसरी कक्षा में प्रतीत होने वाले रसादि के लिए एक पृथक् व्यापार माना गया है—व्यञ्जना। उसी को रसादि से भिन्न इन तृतीय

कक्षा वाले वस्तु-अलंकारादि की प्रतीति में मान लेना उचित है। वस्तु और अलंकार ध्वनि के स्थलों में वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति साथ नहीं होती ऐसा कहा है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि रसादि के समान व्यङ्ग्य-प्रतीति-काल में वाच्य रूप जो प्रकाशक या व्यञ्जक है उसकी भी प्रतीति होती ही है और यह तो कहा ही जा चुका है कि वाच्य की प्रतीति के समय जो व्यङ्ग्य की प्रतीति नहीं होती वह कोई दोष नहीं है।

शंका होती है—कि व्यङ्ग्य यदि विरोधी न हो तो वाच्य की प्रतीति व्यङ्ग्य की प्रतीति के समय किसी प्रकार हो सकती है। किन्तु 'भम धम्मिअ' आदि स्थलों में जहाँ वाच्य और व्यङ्ग्य का परस्पर विरोध है (वाच्य विध्यात्मक है, और व्यङ्ग्य निषेधात्मक) वहाँ व्यङ्ग्य प्रतीतिकाल में वाच्य की प्रतीति कैसे सम्भव है? (उत्तर में कहते हैं) यह दोष लगता नहीं। विरोध स्थल में भी प्रकाशक रूप से वाच्य की व्यङ्ग्य के साथ प्रतीति हो सकती है। प्रकाशक होने के नाते असत्य होते हुए भी उससे व्यङ्ग्य की प्रतीति हो सकती है और होती ही है, इसलिए विरोधस्थल में भी कोई दोष नहीं आता। सबसे बड़ी बात तो यह है कि काव्यार्थ कवि द्वारा छिपाया जाता रहता है इसलिए सभी लोगों को समझ में न आकर केवल सहृदय की ही समझ में आता है, क्योंकि (उसमें) काव्य में प्याज में जुही के समान छिपा छिपा कर अर्थ प्रकट करने की चाल है। इसलिए व्यञ्जनावादी की युक्ति ही लोकसिद्ध युक्ति है। वही समीचीन है। इसीलिए रसादि और वस्तु अलंकार स्थल में व्यञ्जकत्व ही अधिक अच्छा है।'

अधुना अक्षरार्थः प्रकाश्यते। रत्यादिप्रतीतिरेव रसादिप्रतीतिरि**ति 'स्थाय्येव रसीभवे-दि'ति वचनात्।**

अब अक्षरार्थ का प्रकाशन करते हैं। रत्यादिप्रतीतिरेव०० इत्यादि द्वारा। कारण कि यह कहा गया है कि—'स्थायी ही रस होता है'।

रत्यादिप्रतीतिरेव रसादिप्रतीतिरिति मुख्यवृत्त्यैव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाभ्युपगमः। तत्र प्रदीपघटादिवदुपपन्नो गम्यगमकभावः। यत् स एवाह—"व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवद्। यथा—

'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।'

इत्यादौ" इति। पुनः स एवाह—'नहि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति। वाच्याविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्। तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः। यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद्व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभास' इति।

रति आदि की ही प्रतीति रस की प्रतीति है इसलिए मुख्यरूप से ही (उसमें) व्यंग्य-व्यञ्जकभाव स्वीकार किया जाना चाहिए। गम्यगमकभाव वहाँ घटप्रदीपन्याय से लागू हो सकता है। जैसा कि स्वयं उन्हीं (ध्वनिवादी) ने कहा है—'व्यञ्जकत्व मानने पर भी जबतक अर्थ दूसरे अर्थ की व्यञ्जना नहीं करता तबतक वह अपने आपको प्रकाशित करता हुआ ही दूसरे का प्रकाशक प्रतीत होता है, जैसे प्रदीप या 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' में।' उन्होंने और भी कहा है—'व्यङ्ग्य की प्रतीति होते समय वाच्य की प्रतीति मिटती नहीं क्योंकि उसकी प्रतीति वाच्य से अपृथक् रहते हुए ही होती है। इसलिए उन दोनों में घटप्रदीपन्याय

चरितार्थ होता है। जिस प्रकार प्रदीप द्वारा घट की प्रतीति हो जाने पर प्रदीप का प्रकाश लौट नहीं जाता उसी प्रकार व्यङ्ग्य की प्रतीति हो जाने पर वाच्यप्रतीति।'

वाच्याविनाभावेनेति। **अत्र ध्वनिकृतो नानुमानाङ्गमविनाभावोऽभिप्रेतः।** किन्तु निमित्तत्वमात्रं **यदनुमानेऽपि सम्भवति, यथा 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।' अनुमानवादिनस्तु अनेनैव शब्दच्छलेनोत्थानम्।**

'यहाँ ध्वनिकार ने अविनाभाव को व्याप्ति नामक अनुमान के अङ्ग रूप में स्वीकार नहीं किया है। अपितु एक साधारण निमित्तत्व के रूप में। वह अनुमान भी हो सकता है। 'अभिधेय अर्थ से अविनाभूत अर्थ की प्रतीति लक्षणा कही जाती है' इस स्थान पर अविनाभाव का प्रयोग हुआ। अनुमानवादी इसी अविनाभाव शब्द के दूसरे अर्थ को लेकर ध्वनिकार के उक्त कथन का खण्डन करते हैं।'

विमर्श: अविनाभाव शब्द के दो अर्थ होते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य अर्थ सम्बन्धमात्र है। विशेष—व्याप्तिरूप। 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' वाक्य में ध्वनिकार ने अविनाभाव को सम्बन्धसामान्य का वाचक माना है। अनुमितिवादी उसे सम्बन्धविशेष (व्याप्ति) रूप मानकर ध्वनिकार के उक्त कथन का खण्डन करते हैं—

उच्यते। वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोर्यथा क्रमेणैव प्रतीतिर्न समकालं यथा चानयोर्गम्यगमकभावः तथा तेनैव व्यक्तिवादिना तयोः स्वरूपं निरूपयितुकामेनाप्युक्तं, तदेवास्माभिः समाधित्सुभिरिह लिख्यते परम्।

तद्यथा—'न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अत एव विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न लक्ष्यत इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादय इत्युक्तम्' इति।

पुनश्च 'तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योर्निमित्तनिमित्तिभावाद् नियमभावी क्रमः। स तूक्तयुक्तेः क्वचिल्लक्ष्यते क्वचित्तु न लक्ष्यत' इति।

तदेवं वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणक्रमेण लिङ्गलिङ्गिभावस्य समर्थनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः समन्वितो भवति तस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात्। महाविषयत्वं चास्य ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये पर्यायोक्तादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यादौ च सर्वत्र सम्भवात्। तच्च वचनव्यापारपूर्वकत्वात् परार्थमित्यवगन्तव्यम्। त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानमिति केवलमुक्तनयानभिज्ञतया तन्न लक्षयत्यविचक्षणो लोकः।

जैसा कि हमने कहा है—'वाच्य और प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति क्रम से होती है, एक साथ नहीं और इनमें परस्पर गम्यगमकभाव सम्बन्ध रहता है। यह तो व्यक्तिवादी ने ही वाच्य और प्रतीयमान के स्वरूप-निर्वचन में माना है।' समाधान के लिए हम उसी को यहाँ उद्धृत करते हैं। वह इस प्रकार है—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी ही रस हैं—ऐसी किसी की मान्यता नहीं है। इसीलिए विभावादि की प्रतीति होने पर रस आदि की प्रतीति होती है, इसलिए उनकी

प्रतीति में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। अतः क्रम भी अवश्यम्भावी है। वह समझ नहीं पड़ता, इसलिए रस आदि अलक्ष्यक्रम माने जाते हैं और व्यङ्ग्य। ऐसा ही कहा भी जा चुका है (तृतीय उद्योत पृ० ४०४ चौ० सं०) और भी—इसलिए वाचक और वाच्य की प्रतीति के समान वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति में भी कार्यकारणभाव है इसलिए क्रम भी निश्चित ही होगा। वह उक्त प्रकार से कहीं समझ पड़ता है और कहीं नहीं (४१३ पृ० तृ० उ०)। इसीलिए इस प्रकार वाच्य और प्रतीयमान अर्थ का आगे कहे क्रम से लिङ्गलिङ्गिभाव सिद्ध किया जाएगा। उससे सभी प्रकार की ध्वनियों का अनुमान में ही अन्तर्भाव ठीक ठहरता है। उस (अनुमान) का उस (ध्वनि) की अपेक्षा काफी विस्तार भी है। इस (अनुमान) का काफी विस्तार इसलिए मान्य है कि वह ध्वनिकार द्वारा स्वीकार पर्यायोक्त आदि गुणीभूत व्यङ्ग्य स्थलों में सर्वत्र हो सकता है, जो ध्वनि से भिन्न हैं। वह (अनुमान) उक्ति रूप होने से पदार्थ ही यहाँ लिया जाना चाहिए। तीन प्रकार के लिङ्गों का कथन पदार्थ अनुमान होता है। यह बात उक्त रीति से अनभिज्ञ होने के कारण मन्द बुद्धि वाले लोग नहीं समझ पाते।

अक्रमप्रतीतित्वं समाधित्सुभिः **परिहरद्भिः** लिख्यते पर**मित्यन्वयः।**

तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनेति। **विभावादीनां रसानां च व्याख्यातो यो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोपयोगी निमित्तनिमित्तिभावस्तदभिप्रायेणैतत् ध्वनिकृतोक्तम्।**

पर्यायोक्तादौ **अलङ्कारविशेषे। आदिशब्दात् समासोक्त्यादिग्रहः।** गुणीभूतव्यङ्ग्ये **अलङ्कारव्यतिरिक्ते 'ग्रामतरुणं तरुण्या' इत्यादौ यदनलङ्कारत्वेनोक्तम्। अत्रादिग्रहणादन्यगतोऽनुमानानुमेयभावः स्वीकृतः।**

तत्प्रतीत्यो—विभाव आदि का और रस आदि का पूर्वोक्त जो व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भावोपयोग कार्यकारणभाव सम्बन्ध है, उसी को लेकर यह ध्वनिकार ने कहा। **पर्यायोक्त**—एक अलंकार आदि शब्द से समासोक्ति आदि। **गुणीभूतव्यङ्ग्ये**—अलङ्कार से अलग 'ग्रामतरुणं तरुण्या' इत्यादि में जो अलङ्कार भिन्न कहा गया है। आदि शब्द से अन्य स्थल में आया अनुमानानुमेयभाव अपनाया।

विमर्श : धुएँ को देखकर आग का अनुमान देखने वाला मन में ही कर लेता है। वह उसे कहता तब है जब वह उसका ज्ञान दूसरे व्यक्ति को कराना चाहता है। यही अनुमान परार्थानुमान कहलाता है। इसमें पहले कहना पड़ता है—यह वस्तु ऐसी है। फिर उसमें हेतु देना पड़ता है—इस कारण ऐसी है। दोनों की सिद्धि के लिए उदाहरण देना पड़ता है—जैसे वह वस्तु इस कारण ऐसी थी। ये ही वाक्य क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण कहलाते हैं। इसी का उपसंहार—'वैसा ही यह है, अतः ऐसा ही है' इन दो वाक्यों से किया जाता है। इन्हें क्रमशः उपनय और निगमन कहा जाता है। इसे पर्वत पर वह्नि के अनुमान में क्रमशः इस प्रकार समझा जा सकता है। पर्वतो वह्निमान् = प्रतिज्ञा, धूमात् = हेतु, यथा रसवती = उदाहरण, तथा चायम् = उपनय, तस्मात्तथा = निगमन। पाँचों वाक्यों में से आरम्भिक तीन ही वाक्य काम के हैं। अन्त के दो अपने आप बन जाते हैं। अतः वेदान्त दर्शन में परार्थ अनुमान को तीन ही अवयवों वाले वाक्य से मानते हैं।

त्रिविध लिङ्ग—लिङ्ग का अर्थ है हेतु, कारण कि वह लीन = छिपे हुए अर्थ का अवगम कराता है। वह तीन प्रकार का होता है १. जहाँ साध्य का निश्चय हो वहाँ विद्यमान रहने वाला, २. जहाँ साध्य का सन्देह हो वहाँ भी रहने वाला और ३. जहाँ साध्य का अभाव हो वहाँ न

रहने वाला। न्याय भाषा में साध्य का निश्चय ज्ञान जहाँ होता है उस स्थान को सपक्ष कहते हैं, साध्य के सन्देह वाले स्थान को पक्ष और साध्य विरोध वाले स्थल को विपक्ष।

पर्यायोक्त—वह अलङ्कार जिसमें एक ही बात एक साथ वाच्य और व्यङ्ग्य रूप से कही जाती है, सिर्फ कहने के ढङ्ग में अन्तर रहता है। जैसे—'राहुवध के लिए कहा गया—'राहुवधूजन को आलिङ्गन के उद्दाम विलास से रहित कर दिया।' यहाँ वाच्य है राहु स्त्री का आलिङ्गनाभाव, उससे व्यङ्ग्य है राहुवध। दोनों का वास्तविक रूप एक ही है। गुणीभूत व्यङ्ग्य माना जाता है। ग्रन्थकार ने सभी वाक्यार्थों को साध्य साधनयुक्त बतलाया था। उसी पर पुनः विचार आरम्भ करते हैं।

अथ यदि सर्व एव वाक्यार्थः साध्यसाधनभावगर्भ इत्युच्यते; तद्, यथा साध्यसाधनयोस्तत्र नियमेनोपादानं तथा दृष्टान्तस्यापि स्यात्, तस्यापि व्याप्तिसाधनप्रयाणविषयतयावश्यापेक्षणीयत्वात् । न। प्रसिद्धसामर्थ्यस्य साधनस्योपादानादेव तदपेक्षाया प्रतिक्षेपात्। तदुक्तम्—

'तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः ॥'

यदि समस्त वाक्यार्थ साध्यसाधनभाव सम्बन्ध से युक्त होते हैं ऐसा कहा जाता है तो जिस प्रकार उस (वाक्यार्थ) में साध्य और साधन का नियमतः शब्दोपादान रहता है उसी प्रकार दृष्टान्त (उदाहरण) का भी रहना चाहिए। क्योंकि उसी के आधार पर व्याप्ति की सिद्धि होती है, अतः उसकी अपेक्षा अनिवार्य है ? (,उत्तर) नहीं। दृष्टान्त का आक्षेप हो जाता है कारण कि प्रसिद्ध शक्ति (व्याप्ति) वाले हेतु का (वाक्यार्थ में) उपादान रहता है। ऐसा कहा भी गया है—'साध्य और हेतु को न जानने वाले व्यक्ति के लिए ही दृष्टान्त के साथ साध्य और हेतु बतलाए जाते हैं। जानने वालों के लिए तो केवल हेतु ही बतलाया है।'

तद्भावहेतुभावौ **तादात्म्यतदुत्पत्ती। तदवेदिन इति। अत्र तच्छब्देन तौ परामृष्टौ। नन्वत्र विद्वदविद्वद्भेदेन व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयस्य दृष्टान्तस्याप्रयोगः प्रयोगश्चोक्तः। न काव्ये कदाचिद् दृष्टान्तस्य प्रयोगो दृश्यते। तत् कथमत्रानुमानसमर्थनम्। उच्यते। काव्यानुमानं तर्कानुमानविलक्षणं काव्यस्य चमत्कारसारत्वात्। न्यायमुखेनापि चमत्कार एव विश्रान्तेः। तर्कानुमानं तु कर्कशन्यायरूपतया प्रवृत्तं तर्कस्य कर्कशतामुद्वहति। काव्ये त्वेतद्वैपरीत्यात् सहृदयानामधिकाराद् न व्याप्त्यादिमुखेनानुमानप्रदर्शनसमर्थनमिति।**

तद्भावहेतुभावौ—तादात्म्य और तदुत्पत्ति(१)। **तदवेदिनः०**—उन दोनों को न जानने वाले।

शङ्का—यह बतलाया गया कि जानकारों के लिए दृष्टान्त का प्रयोग नहीं होता, न जानने वाले के लिए ही होता है। (सो ठीक पर) काव्य में तो दृष्टान्त का प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता। (उसका जानकार ही कोई कैसे होगा ?) अतः काव्य में अनुमान का समर्थन कैसे किया ?

उत्तर—काव्य का अनुमान तर्कशास्त्र के अनुमान से भिन्न है। काव्य का सार होता है चमत्कार। उसमें अनुमान द्वारा भी चमत्कार तक ही पहुँचा जाता है। तर्कशास्त्र का अनुमान हेतु व्याप्ति आदि कर्कश सामग्री को लेकर चलता है। इसलिए उसमें कर्कश तर्क रहता है। काव्य कर्कशता से दूर रहता है। उसमें सहृदयों का अधिकार है। इसलिए यह अपेक्षित नहीं कि व्याप्ति दिखलाते हुए उसमें अनुमान योजना की जाय।

विमर्श : पृष्ठ ५९-से-६१ तक रसादि ध्वनि व्यंग्यत्व को औपचारिक बतलाया है। उपचार का प्रयोजन बतलाया है—चमत्कार। आगे इसी पर आपत्ति की जा रही है—

ननु कुतोऽयं रत्यादीनां सुखाद्यवस्थाविशेषाणां काव्यादौ सचेतनचमत्कारी सुखास्वादसम्भवः, यो रसादीनामनुमेयानां व्यङ्ग्यत्वोपचारस्य प्रयोजनांशतया कल्प्यते। न हि लोके लिङ्गतः शोकादिष्वनुमीयमानेष्वनुमातुः सुखास्वादलवोऽपि लक्ष्यते। प्रत्युत साधूनामुदासीनानामपि वा भयशोकदौर्मनस्यादिदुःखमसममुपजायमानमवधार्यते। न च लोकतः काव्यादौ कश्चिदतिशयः येनासौ तत्रैवोपगम्येत, न लोके। त एव हि लौकिका विभावादयो हेतुकार्यसहकारिरूपा गमकाः। त एव च रत्यादयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्याः। तत् कोऽतिशयः काव्यादौ, यत् तत्रैव रसास्वादो न लोक इति प्रयोजनांशासम्भवाद् रत्यादिषु व्यङ्ग्यत्वोपचारोऽनुपपन्न एव।

जो रति आदि भाव काव्य में उपात्त रहते हैं, विशिष्ट स्थिति में उनसे सहृदयों को सुख कैसे मिल सकता है? जिसके आधार पर रस आदि पर व्यङ्ग्य का उपचार माना जाय। लोक में हेतु द्वारा भी साध्यभूत शोक आदि का अनुमान होता है, उनसे अनुमानकर्ता को तनिक भी सुख नहीं होता। उलटे, साधु और उदासीन व्यक्तियों को भय, शोक और दौर्मनस्य आदि दुःख (लोक की अपेक्षा काव्य में कहीं अधिक) प्रतीत होते हैं। लोक की अपेक्षा काव्य में कोई विशेष गुण नहीं है, जिससे सुख की यह प्रतीति केवल काव्य में ही मानी जाय, लोक में नहीं। काव्य में जिन्हें विभाव आदि कहा जाता है, वे लोक में अनुभूत रहते हैं। हेतु, कार्य और सहकारी रूप से वे ही (काव्य में) अनुमापक बनते हैं और वे ही रति आदि अनुमेय बनते हैं, जिन्हें विशिष्ट स्थिति में भाव कहा जाता है। अतः काव्य में कौन सी विशेषता है, जिससे उसी में रसास्वाद माना जाय, लोक में नहीं। इस प्रकार (उपचार का) प्रयोजन (चमत्कार) ही नहीं बनता। फलतः रत्यादि भावों पर व्यङ्ग्यत्व का उपचार भी युक्तिपूत नहीं ठहरता।

विमर्श : अभिप्राय यह कि रति आदि का अनुमान लोक में भी होता है। वहाँ कोई आनन्दानुभूति नहीं होती। उलटे घृणा होती है। वे ही रति आदि काव्य में हैं। काव्य में उन्हें आनन्दानुभूति का कारण कैसे माना जाय।

एक बात यह भी है कि—रस को व्यङ्ग्य माना था इस सादृश्य पर कि जैसे अँधेरे में रखी वस्तु उजेला होते ही एकाएक देखने पर आनन्द आदि पैदा करती है, वैसे ही रति आदि भी विभावादि से स्फुरित हो आनन्द देते हैं। परन्तु जब रति की स्फूर्ति में आनन्द ही नहीं माना गया तो फिर उसमें उपचार या सादृश्य के आधार पर व्यङ्ग्यता नहीं रहेगी। इसी का उत्तर महिमभट्ट देते हैं—

उच्यते। यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसंवेद्यो रसास्वादोदय इति वस्तुस्वभाव एवायं न पर्यनुयोगपदवीमवतरति प्रामाणिकानाम्। यदाह भरतः—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति। यथोक्तम्—

'भावसंयोजनाव्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥'

प्रामाणिक पुरुषों को लोक और काव्य की स्थिति पर समान रूप से विचार नहीं करना चाहिए। यह तो एक पारमार्थिक स्थिति है कि रसास्वाद तभी होता है जब विभावादि द्वारा भावों का अनुभव होता है। यह आस्वाद भी एकमात्र उन्हें होता है जो सहृदय होते हैं। भरत मुनि ने कहा भी है—'विभाव, अनुभाव और संचारीभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।' और भी जैसा कहा गया है—'रस ही काव्य का सच्चा अर्थ है। उसका स्वरूप आस्वादरूप अनुभव है। वह भावों के संयोजन से व्यङ्ग्य माना जाता है और लोकोत्तर ज्ञान द्वारा उस रूप में प्रतीत होता है।'

भावसंयोजनेति। भावानां विभावानुभावव्यभिचारिणां संयोजनया व्यङ्ग्यो व्यक्तिवादिना तथात्वेनाभिप्रेत इह दर्शने तूपचरितव्यङ्ग्यभावः तथाभूतः सन् परसंवित्तिगोचरः लोकोत्तरायाः प्रतीतेरभिन्नोऽपि साकारतया विषयत्वेन स्फुरन्नास्वादस्वभावः। अनुभवो यद्यपि तस्य ग्राहकस्तथाप्यभेदोपचारादियमुक्तिः। तस्य प्रयोजनं नित्यं प्रतीत्यविनाभावित्व(त् ?)रसानाम्। काव्यार्थ इति व्यङ्ग्यतया वाक्यार्थीभावनतोऽस्य काव्येऽवस्थानात्। काव्यग्रहणेन नाट्यमप्युपलक्षितम्। स्थेमभाक्त्वेन स्थायित्वमुचितम्।

भावों की अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के संयोजन द्वारा व्यङ्ग्य अर्थात् व्यक्तिवादी द्वारा उस रूप से माना गया है और (अनुमितिवादी के) इस मत में जिस पर व्यङ्ग्यत्व का उपचार माना गया है। ऐसा वह परसंवेदन (अलौकिक अनुभूति) का विषय बनता है। वह उस लोकोत्तर अनुभूति से अभिन्न भी रहता है और अपने ज्ञान का आकार बन कर (जैसा कि योगाचार बौद्ध मानते हैं) विषयरूप से स्फुरित होता है। इसलिए यह आस्वाद स्वरूप होता है। यद्यपि अनुभव उसका ग्राहक है, तो भी अभेदोपचार से ऐसा कहा जाता है। इस (उपचार) का प्रयोजन रस का अपनी प्रतीति से कदापि अलग न होना है। **काव्यार्थ** = कारण कि 'रस' काव्य में व्यङ्ग्य होकर वाक्यार्थरूप से अवस्थित रहता है। काव्य शब्द से नाट्य भी अपनाना चाहिए। **स्थेमभाजः** स्थायित्व से युक्त।

विमर्श : रस अनुभूतिरूप ही है। यह अनुभूति भी आस्वाद और आनन्दरूप है। रस का ज्ञान स्वयं रस से होता है। रस में योगाचार मत का विज्ञानवाद अपनाया जाता है। उसमें विषय और कुछ नहीं, ज्ञान का ही एक रूप है। वैसे ही रस भी स्वानुभूति का एक रूप है। इसे मम्मट ने 'स्वाकार इवाभिन्नोऽपि' कहा है। व्याख्यानकार का भी यही आशय है।

न च लोके विभावादयो भावा वा सम्भवन्ति हेत्वादीनामेव तत्र सम्भवात्। न च विभावादयो हेत्वादयश्चेत्येक एवार्थ इति मन्तव्यम्। अन्ये हेत्वादयोऽन्य एव विभावादयः। तेषां भिन्नलक्षणत्वात्। तथा हि—ये लोके रत्यादयो रामादिगताः स्थेमभाजोऽवस्थाविशेषाः केचित् त एव काव्यादौ कविप्रभृतिभिर्वर्णनाद्यर्थमात्मन्यनुसंहिताः सन्तो भावयन्ति तांस्तान् रसानिति भावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः—

'नानाभिनयसम्बन्धाद्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्, तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥'

ये च तेषां हेतवः सीताद्याः केचित्, त एव काव्यादिसमर्पिताः सन्तो विभाव्यन्ते भावा एभिरिति विभावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः—

'बह्वोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
अनेन यस्मात् , तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥'

ये च तेषां केचित् कार्यरूपा मुखप्रसादादयोऽर्थास्त एव काव्याद्युपदर्श्यमानाः सन्तोऽनुभावयन्ति तांस्तान् भावानित्यनुभावा इत्युच्यन्ते । यदाह भरतः—

'वागङ्गसत्त्वाभिनयैर्यस्मादर्थोऽनुभाव्यते ।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तः सोऽनुभाव इति स्मृतः ॥'

ये च तेषामन्तरान्तरानवस्थायिनोऽवस्थाविशेषास्तदवान्तरहेतुजनिता उत्कलिकाकाराः केचिदुत्पद्यन्ते, त एव निजनिजविभावानुभाववर्गमुखेनोपदर्श्यमानाः सन्तो विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति तेषु तेषु भावेष्विति व्यभिचारिण इत्युच्यन्ते । यदाह भरतः—'विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः' इति ।

लोक में विभाव आदि भावों का होना संभव नहीं । लोक में केवल हेतु आदि ही संभव है । यह माना नहीं जा सकता है कि विभाव आदि और हेतु आदि अभिन्न हैं । हेतु आदि भिन्न हैं और विभाव आदि भिन्न । क्योंकि उनके लक्षण भिन्न हैं । जैसे लोक में जो रति आदि विशिष्ट अवस्थाएँ स्थिर रूप से राम आदि में रहती हैं वे ही काव्य (नाट्य) में भाव कहलाती हैं । क्योंकि कवि या नट उन्हें वर्णन या अभिनय के लिए अपने ऊपर आरोपित कर लेता है । इसलिए वे उन-उन रसों का आस्वादन कराती हैं । जैसा कि भरत ने कहा है—'ये (अवस्थाएँ) नाट्य-प्रयोक्ता के विविध अभिनयों द्वारा रसों का बार-बार आस्वाद कराती हैं; इसलिए इन्हें भाव समझना चाहिए ।'

उनके जो सीता आदि कुछ हेतु हैं वे भी काव्य में 'विभाव्यन्ते भावा एभिः' विभावित किए जाते हैं भाव जिनसे—इस व्युत्पत्ति के आधार पर विभाव कहलाते हैं । जैसा कि भरत मुनि ने कहा है—'विभाव' इसे कारण कहा जाता है । इसके द्वारा आंगिक और वाचिक अभिनयों के माध्यम से अनेक भावों का विभावन होता है ।

और कार्यरूप जो उनकी मुखप्रसाद आदि घटनाएँ हैं वे ही काव्य आदि में दिखाई जाने पर—'अनुभावयन्ति ताँस्तान् भावान् = अनुभव कराती हैं उन-उन भावों का'—इस व्युत्पत्ति से अनुभाव कहलाती हैं । जैसा कि भरत ने कहा है—'वाणी, अंग और सत्त्व के अभिनयों द्वारा अर्थ का अनुभावन होता है, अतः वाणी, अङ्ग और उपाङ्ग से युक्त वह अनुभाव कहलाता है ।'

और जो उन्हीं भावों के हेतुओं द्वारा उत्पन्न हुई लहरों के समान बीच-बीच में उत्पन्न होने वाली अस्थिर मनोदशाएँ हैं वे ही अपने-अपने विभाव और अनुभावों द्वारा प्रदर्शित किए जाने पर—'विशेषेण आभिमुख्येन चरन्ति तेषु भावेषु'—विशेष रूप से अनुरूप होकर संचालित रहते हैं—इस व्युत्पत्ति से व्यभिचारी कहलाते हैं । जैसा कि भरत ने कहा है—रसों के अनुकूल रह कर उनमें भाँति-भाँति से स्फुरण करने वाली चित्तवृत्तियाँ व्यभिचारी हैं ।

ये चैते स्थायिव्यभिचारिसात्त्विकभेदादेकोनपञ्चाशद्भावा उक्तास्ते सर्वे व्यभिचारिण एव । केवलमेषां प्रतिनियतरूपापेक्षो व्यपदेशभेदः । तथा हि स्थायित्वं स्थायिष्वेव प्रतिनियतं, न व्यभिचारिसात्त्विकेषु । व्यभिचारित्वं

व्यभिचारिष्वेव, नेतरयोः। सात्त्विकत्वमपि सात्त्विकेष्वेव, नेतरयोरिति। तत्र स्थायिभावानामुभयी गतिः। न व्यभिचारिसात्त्विकानाम्। ते हि नित्यं व्यभिचारिण एव न जातुचित् स्थायिनः प्रकल्पन्ते।

एक विशेष बात यह है कि ये जो ८ स्थायिभाव, ८ सात्त्विकभाव और ३३ व्यभिचारीभाव— सब मिला कर उनचास भाव कहे गये हैं, वस्तुतः वे सब हैं व्यभिचारी ही; केवल इनके कुछ निश्चित रूपों के आधार पर नाम भिन्न रख दिए गए हैं। जैसे स्थायित्व स्थायिभावों में ही नियमित है, व्यभिचारी और सात्त्विकों में नहीं, व्यभिचारित्व व्यभिचारी में ही, दूसरों में नहीं, और सात्त्विकत्व भी सात्त्विकों में ही, दूसरों में नहीं। उनमें जो स्थायी कहे जाते हैं उनमें दोनों विशेषताएँ रहती हैं (वे व्यभिचारियों में भी गिने जा सकते हैं और स्थायियों में भी)। व्यभिचारीभाव और सात्त्विक भावों में वह गुण नहीं है। वे सदा व्यभिचारी ही रहते हैं, स्थायी कदापि नहीं बन पाते।

यत्तु भावाध्याये स्थायिनां लक्षणमुक्तं तद्व्यभिचारिदशापन्नानामेव तेषामवगन्तव्यं नान्येषां, लक्षणवचनस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। स्थाय्यनुकरणात्मानो हि रसा इष्यन्ते, ते च प्रधानमिति तल्लक्षणमुखेनैव तेषां स्वरूपावगमसिद्धेः, तेषां बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनावस्थानात्, स्थायिभावेषु च निर्वेदादिष्विव व्यभिचारिणामनुपादानात्। तदुपादाने हि तेषां स्थायित्वमेव स्यान्न व्यभिचारित्वं निर्वेदादिवत्। तस्माद्योग्यतामात्रप्रवर्तितोऽयं वर्गत्रयविभागोपदर्शनाय व्यभिचारिष्वपि स्थायिव्यपदेशः, तन्मात्रविप्रलम्भकृतोऽन्येषां स्थायिभावलक्षणभ्रम इत्यलमप्रस्तुतवस्तुविस्तरेण।

भावाध्याय (भरतनाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय) में जो स्थायिभावों का लक्षण दिया गया है, वह लक्षण व्यभिचारित्व दशा में स्थित स्थायीभाव का समझा जाना चाहिए; अन्यथा उनका अलग लक्षण करना ही व्यर्थ साबित होता। क्योंकि स्थायि का अनुकरण ही रस माना जाता है। इसलिए उसके (रस के) लक्षण से ही उनके (स्थायिभावों के) अपने स्वरूप की प्रतीति हो सकती है। रस और स्थायिभाव की सत्ता बिम्बप्रतिबिम्ब रूप मानी जाती है। स्थायी भावों में निर्वेद आदि के समान व्यभिचारी भावों का उल्लेख नहीं हुआ है, उनका उल्लेख होने पर उनका स्थायित्व ही सिद्ध होता, निर्वेद आदि के समान व्यभिचारित्व नहीं। इसलिए तीन वर्ग दिखलाने के लिए योग्यतामात्र के आधार पर व्यभिचारित्व से युक्त रति आदि को भी स्थायीभाव की संज्ञा दी गई है। केवल उस संज्ञा मात्र से कुछ लोगों को स्थायिभाव के लक्षण का भ्रम हो गया है। अस्तु। अप्रासङ्गिक वस्तु के विस्तार से क्या?

यत्तु भावाध्याय इति। स्थायिनामपि व्यभिचारित्वं भव(ती ?)ति। यथा रतेर्देवादिविषयायाः, हासस्य श्रृङ्गारादौ, शोकस्य विप्रलम्भश्रृङ्गारादौ, क्रोधस्य प्रणयकोपादौ, विस्मयस्य वीरादौ, उत्साहस्य श्रृङ्गारादौ, भयस्याभिसारिकादौ, जुगुप्सायाः संसारनिन्दादौ, शमस्य कोपा(दि ?) भिहतस्य प्रसादोद्गमादौ। अनुकार्यस्य बिम्बत्वमनुकरणस्य प्रतिबिम्बत्वम्।

स्थायी भी व्यभिचारी होते हैं। जैसे देवता आदि पर रति, श्रृङ्गार आदि में हास;

विप्रलम्भ शृङ्गार में शोक, प्रणयकोप में क्रोध, वीर आदि में विस्मय, शृङ्गार आदि में उत्साह, अभिसारिका आदि में भय, संसार निन्दा में जुगुप्सा, क्रोध के बाद की प्रसन्नता में शम।

अनुकार्य होता है बिम्ब, अनुकर्त्ता प्रतिबिम्ब।

विमर्श : नाट्यशास्त्र में उनचास भावों का उल्लेख है। उनमें से आठ स्थायी हैं, आठ सात्त्विक, और शेष तैंतीस व्यभिचारी। इनकी भिन्नता पर भरत मुनि के वाक्यों के साथ लक्षण-निरूपण किया गया है। यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय केवल इतना है कि मूलतः सभी भाव व्यभिचारी हैं। व्यभिचारी का अर्थ यहाँ अस्थिर भाव है। वह उदित होता और डूबता है। जिन्हें स्थायी कहा गया है वे रति आदि भाव भी लहरों के ही समान उठते और विलीन होते रहते हैं। उन्हें स्थायी केवल स्थायित्व की योग्यता के कारण कहा जाता है। स्थायित्व योग्यता का अर्थ पंडितराज जगन्नाथ के प्रकाश में यही किया जा सकता है कि ये भाव प्रबन्ध के अथ से इति तक व्याप्त रह सकते हैं। जिन भावों में ऐसा संभव नहीं वे व्यभिचारी माने जाते हैं। सात्त्विक कहे जाने वाले भाव भी कल्लोल के ही समान अस्थिर हैं। उनकी स्थिति मन पर अधिक निर्भर है। सत्त्व का अर्थ दूसरे के दुःख-सुखादि की स्थिति में हृदय का अत्यन्त अनुकूल होना किया जाता है। हेमचन्द्र इन्हें मानसिक स्थिति की तरलता में पंचभूतों के संस्पर्श से जनित अश्रु आदि विकार रूप मानते हैं। इस प्रकार सात्त्विक भाव मन की मूक किन्तु अत्यन्त तीक्ष्ण संवेदना पर निर्भर हैं। स्थायी और सात्त्विक को व्यभिचारी कहते हुए ग्रन्थकार ने एक उपपत्ति और दी है। मुनि भरत ने रस को स्थायी का ही दूसरा रूप माना है। ग्रन्थकार का कथन है कि यदि भावाध्याय (सप्तम अध्याय) में व्यभिचारी भावों के रूप में रति आदि का निर्वचन न करना होता तो रति आदि का निर्वचन अलग से न किया जाता। रस के निर्वचन से ही स्थायी भावों का निर्वचन हो जाता। मुनि भरत ने रसाध्याय (षष्ठ) में स्थायी भावों का केवल नामतः उल्लेख किया है। उनका निर्वचन सप्तम में ही किया है।

एक विशेष तथ्य यह है कि महिमभट्ट ने रस में बिम्बप्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त स्थिर किया है। इससे सम्प्रदाय-विरुद्ध एक यह बात आती है कि अनुकार्य और अनुकर्ता में भी रस मानना पड़ता है। वस्तुतः सामाजिकानुभूति ही काव्यसर्वस्व है। उसमें यह वाद जमता नहीं है।

तदेवं विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्यलोकविषयतया च स्वरूपभेदे विषयभेदे चावस्थिते सत्येकत्वासिद्धेर्यदा विभावादिभिर्भावेषु रत्यादिष्वसत्येष्वेव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्यवृत्त्योपपद्यन्त एव। तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविक इत्युक्तम्।

अतः इस प्रकार विभाव आदि और हेतु आदि के कृत्रिमत्व, अकृत्रिम रूप स्वरूप और काव्य तथा लोकरूप विषय की भिन्नता सिद्ध होने पर जब अभिन्नता सिद्ध नहीं होती तो जब विभावादि से असत्य होते हुये भी रति आदि भावों की प्रतीति होती है तब उन्हें प्रतीतिमात्रसार होने से प्रतीयमान और गम्य-मुख्य रूप से भी कहा जा सकता है। इस प्रतीति का परामर्श ही रसास्वाद है जो स्वाभाविक है—यह कहा गया।

विमर्श : इसका अभिप्राय यह हुआ कि रस कृत्रिम है किन्तु उसका आस्वाद अकृत्रिम है। रस भ्रान्ति है किन्तु उसका आस्वाद प्रमा है।

आस्तां वा रत्यादिर्नित्यपरोक्षः। प्रत्यक्षोऽपि ह्यर्थः साक्षात् संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव सत्कविना वचनगोचरतां गमितः। यदुक्तम्—

'कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल॥' इति।

अथवा रत्यादि नित्य परोक्ष (सामाजिक की अनुभूति से, अनुकार्य और अनुकर्त्ता में) भी रहे आये। प्रत्यक्ष पदार्थ भी साफ साफ जाना हुआ सहृदयों के लिए उतना चमत्कारकारी नहीं होता जितना वही कुशल कवि द्वारा अपनी वाणी का विषय बना लिया गया (चमत्कारी होता है)। जैसा कि कहा गया है—

कविशक्ति से उपस्थित पदार्थों में सामाजिक को तन्मय कर देने की असाधारण क्षमता चली आती है, अतः जैसी (चमत्कारकारिणी) अनुभूति इन पदार्थों की होती है वैसी केवल प्रत्यक्ष दृष्ट पदार्थों की नहीं।

विमर्श : पहले शंका की गई थी कि अनुमान प्रमाण द्वारा प्रतीत पदार्थों का अनुभव नहीं होता, क्योंकि वे परोक्ष होते हैं, अनुभव केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात पदार्थों का ही होता है। रत्यादि भाव अनुकर्ता अथवा अनुकार्य की चेष्टाओं के आधार पर किये अनुमान द्वारा होते हैं, अतः उनसे चमत्कार या आस्वाद रूप अनुभूति सम्भव नहीं। जिसके आधार पर उन्हें औपचारिक व्यङ्ग्य मानने का प्रयत्न किया जाय। इसका एक उत्तर ऊपर दिया जा चुका है, जिसमें रत्यादि को प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अब पुनः रत्यादि में चमत्कार या आस्वाद रूप अनुभूति की सिद्धि के लिये अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए उन्हें परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्षाविषय और अनुमानप्रमाण-विषय मान लेते हैं और नई युक्ति देते हैं। युक्ति का सार है—कविशक्ति। सामान्य पदार्थों और काव्योपात्त पदार्थों में अन्तर है। जो पदार्थ काव्य में उपात्त होते हैं; कविशक्ति द्वारा काव्य में उपनिबद्ध हो जाते हैं उनमें एक ऐसी शक्ति आ जाती है जिससे वे सामाजिक, काव्यपाठक या नाटक-द्रष्टा के अन्तःकरण को तन्मय अर्थात् अपने रूप में भावित कर देते हैं। अन्तःकरण का विषयरूप में परिणाम भले ही पञ्चज्ञानेन्द्रियों द्वारा न होने से अप्रत्यक्ष या परोक्ष कह दिया जाय किन्तु स्वयं मन भी अंशतः इन्द्रिय माना जाता है, और जहाँ तक मन के परिणाम का सम्बन्ध है वह अनुभूति के क्षेत्र में प्रत्यक्षानुभव से कम नहीं। मन का परिणाम ही प्रधान है, इन्द्रियाँ उसके कारण या असाधारण कारण मानी गई हैं। यदि वह परिणाम किसी अलौकिक शक्ति की सहायता से इन्द्रियनिरपेक्ष रहते हुए भी हो सकता है तो उसे स्थूलतः परोक्ष मानते हुए भी प्रत्यक्ष से अधिक चमत्कारकारी मानना ही होगा। कविशक्ति एक अलौकिक शक्ति ही है।

सोऽपि च तेषां न तथा स्वदते, यथा तैरेवानुमेयतां नीत इति स्वभाव एवायं न पर्यनुयोगमर्हति। तदुक्तम्—

'नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः।
न च सुखयति वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा॥'

इति। ध्वनिकृताप्युक्तम्—'साररूपो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रका-

शितः सुतरां शोभामावहति' इति। प्रतीतिमात्रपरमार्थं च काव्यादि तावतैव विनेयेषु विधिनिषेधव्युत्पत्तिसिद्धेः। तदुक्तम्—

'भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा' इति।
'मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥' इति च।

वह भी (कविशक्त्यर्पित पदार्थ भी) उतना चमत्कारकारी नहीं होता जितना उन्हीं विभावादि द्वारा अनुमेयता को प्राप्त हो जाने पर। यह एक प्राकृतिक विचित्रता है। इस पर पर्यनुयोग (उलटा प्रश्न) नहीं किया जा सकता। वही कहा भी है—

विभावादि से अनुमित पदार्थ जितना चमत्कार पहुँचाता है, उतना हेतु आदि से अनुमित पदार्थ नहीं। प्रतीयमान और अभिधा द्वारा कथित (वाच्य) अर्थ जितना चमत्कार नहीं पहुँचाता जितना वही अनुमित द्वारा प्रकाशित (प्रतीयमान) हुआ। ध्वनिकार ने भी कहा है 'सारभूत पदार्थ अपने वाचक शब्द से उक्त न होते हुए प्रकाशित होने पर अच्छा रंग लाता है' और काव्य का सर्वस्व प्रतीति ही है। उतने ही से शिक्षणीय व्यक्तियों को विधि और निषेध की समझ मिलती है। कहा गया है—(वेदान्त आदि में) 'भ्रान्ति भी सम्बन्धविशेष से प्रमा है' और 'मणि तथा दीपक (इन दोनों) की प्रभा पर मणि की नियत से टूटे दो व्यक्तियों के मिथ्या ज्ञान में कोई अन्तर न होने पर भी (अर्थक्रिया) फल में अन्तर होता है।'

नानुमित इति। अत्र वाच्यापेक्षया गम्यतालक्षणस्य प्रतीयमानस्य चारुत्वम्। तस्यापि हेत्वाद्यैर्लोकानुमितस्य न तथास्वादः यथा काव्ये विभावाद्यैरनुमीयमानस्येत्यर्थः।

मणिप्रदीपप्रभयोर्**विषये** अभिधावतोः **प्रतिपत्त्रोः। अत्र प्रतीतिसारत्वात् काव्यस्यानुमेयगतं वास्तवावास्तवत्वमप्रयोजकम्। उभयथा चमत्कारप्रतीतिलक्षणार्थक्रियासिद्धेः। प्रत्युतावास्तवत्वे यथा सिध्यति न तथा वास्तवत्व इति काव्यानुमितेरेवानुमानान्तरविलक्षणतेत्यनुमानवादिनोऽयमभिप्रायः। व्यक्तिवादिनः पुनरवस्तुमुखेन प्रतिबद्धाद्वस्तुनः प्रतीतावर्थक्रियाविसंवादादस्त्वनुमानत्वम्। अवस्तुन एव तु प्रतीतौ कथमनुमानत्वं स्यात्। अर्थक्रिया तु व्यक्तिपक्ष उपपद्यते। व्यज्यमानस्य वासनात्मनः स्थायिनो वस्तुत्वादित्याशयः।**

यहाँ वाच्य की अपेक्षा गम्यरूप प्रतीयमान अधिक चारु होता है। वह प्रतीयमान भी लोक में हेतु आदि से अनुमान किए जाने पर उतना चारु नहीं होता जितना काव्य में विभावादि से अनुमान किये जाने पर होता है।

मणिप्रदीप—अभिधावतोः = दौड़ रहे दो ज्ञाता। काव्य का सार केवल प्रतीति है। अतः उसके अनुमेय में वास्तविकता या अवास्तविकता का कोई परिणाम नहीं। दोनों ही प्रकार से चमत्कारानुभूतिरूप अर्थ क्रिया की सिद्धि होती जाती है। बल्कि अनुमानवादी का तो यह भी अभिप्राय है कि वास्तविक होने पर उतना चमत्कार नहीं होता जितना अवास्तविक होने पर होता है। यह काव्यानुमान की शास्त्रानुमान से बड़ी विशेषता है। व्यक्तिवादी का अभिप्राय यह है कि जब अवास्तविक वस्तु के द्वारा वास्तविक वस्तु की प्रतीति हो तो अर्थक्रिया के विसंवाद न होने से वहाँ अनुमान ठीक मान लिया जाय। किन्तु जहाँ वास्तविक वस्तु के द्वारा अवास्तविक की प्रतीति होती है वहाँ अर्थक्रिया का विसंवाद होता है। इसलिये वहाँ अनुमान ठीक कैसे माना जा सकता है। अर्थक्रिया केवल व्यक्तिपक्ष में बनती है, क्योंकि उस पक्ष में व्यञ्जना से प्रतीत होने वाले स्थायीभाव वासनारूप से विद्यमान अवास्तविक माने जाते हैं।

विमर्श : अभीष्ट लाभ एकमात्र यथार्थ ज्ञान से हुई प्रवृत्ति द्वारा ही नहीं होता। वह अयथार्थ ज्ञान से हुई प्रवृत्ति द्वारा भी होता देखा जाता है। सफेद चमकती चाँदी को दूर से सीप समझ कर जो व्यक्ति उसे अपनाने दौड़ता है वह भ्रान्ति से ही प्रवृत्त होता है। किन्तु अन्त में उसे लाभ वही होता है जो निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान से होता। काव्यानुभूति भी ऐसी ही है। उसमें अविद्यमान राम, दुष्यन्त आदि की विद्यमान रूप से मिथ्या प्रतीति होती है, परन्तु इससे भी रसानुभूति और राम आदि के समान आचरण करना चाहिए, ऐसा उपदेश मिल ही जाता है। इसलिये भले ही वह रस मिथ्या हो, परन्तु फल सत्य का देता है अतः ग्राह्य है। इसमें 'मणि-प्रदीपप्रभयोः' यह कारिका उद्धृत की जाती है। अभिनवगुप्त के अभिनवभारती में भी यह पद्य मिलता है (पृष्ठ २७३ बड़ौदा संस्करण नाट्यशास्त्र प्र० भा०)। यह कारिका बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति की है। उनके प्रमाणवार्तिक में यह मिलती है। धर्मकीर्ति ईसा की छठी शती से आठवीं शती के बीच माने जाते हैं। इनका बौद्ध न्याय उत्तर भारत के दार्शनिकों में काफी फैला था। आनंदवर्धन ने धर्मकीर्ति का नाम लिया है। वेदान्त दर्शन उनकी बहुत सी मान्यताओं को ज्यों का त्यों अपनाता है। ऐसी ही मान्यताओं में उनकी इस कारिका का सिद्धान्त भी है। इस कारिका पर उपलब्ध सामग्री का ग्राह्य अंश इस प्रकार है—

प्रमाणवार्तिक—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतः। मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥
यथा, तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानतदाभयोः। अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥

'मणिप्रभायां कुञ्चिकाविवरविवरिवर्तिमणिसंस्थानविशेषायां मणिविशेषमनाश्रितायाम्, प्रदीपप्रभायां च सरसिरुहरागमणिभ्रान्तिः परस्परं न विशिष्यते। अथ च मणिप्राप्तिकृतो अस्त्येव कस्यचिद् विशेषः।'

इसी का अधिक अच्छा विवेचन व्यासतीर्थ में इस प्रकार मिलता है—संवादिभ्रमवद् भ्रान्तत्वो-पास्त्यापि मुच्यते। उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा। मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः। मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति। प्रदीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते तत्प्रभा बहिः। दृश्यते द्वार्य-थान्यत्र तद्वद्दृष्टा मणेः प्रभा। दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याभिधावतोः। प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्या-ज्ञानं द्वयोरपि। न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता। प्रभायां धावतावश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः। दीपप्रभामणिभ्रान्तिर्विसंवादिभ्रमस्ततः। मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते ॥

इन्हीं की संस्कृतव्याख्या इस प्रकार मिलती है—'कस्मिंश्चिद् मन्दिरे अपवरकस्यान्तः दीपो वर्तते। तस्य प्रभा बहिर्द्वारप्रदेशे रत्नमिव वर्तुला उपलक्ष्यते। तथा अन्यस्मिन् मन्दिरे अपवर-कस्यान्तः रत्नं तिष्ठति। तस्य रत्नस्य प्रभा बहिर्द्वारप्रदेशे प्रदीपप्रभेव रत्नसमानोपलभ्यते। तथाविधं प्रभाद्वयं दूरतो दृष्ट्वा अयं मणिरयं मणिरिति बुद्ध्या द्वौ पुरुषौ अभिधावनं कुरुतः। द्वयोरपि प्रभाविषये जायमानं मणिज्ञानं भ्रान्तमेव। अथापि दीपप्रभायां मणिबुद्धिं कृत्वा धावता पुरुषेण मणिर्लभ्यते एव। या दीपप्रभायां मणिभ्रांतिरस्ति स विसंवादिभ्रमः इति स्मृतो विद्वद्भिः, मणिलाभलक्षणार्थक्रियारहित-त्वात्। मणिप्रभायां मणिबुद्धिस्तु मणिलाभलक्षणार्थक्रियावत्त्वात् संवादिभ्रम इत्युच्यते।'

पहले किवाड़ों में एक एक छेद होता था। उनमें साँकल डालकर दरवाजा बंद किया जाता था। इस स्थिति को मन में रखकर यह संगति लगाई गई कि एक कमरे (अपवरक) के भीतर दीपक रखा है और दूसरे के भीतर मणि। दरवाजा बंद है। दोनों का प्रकाश दरवाजे के छेद में गोल-गोल दिखाई दिया (दूर से देखने वाले ने न दरवाजा समझा और न उसके छिद्र में प्रभा। उसने छिद्र के भीतर गोल दिखाई पड़ते प्रकाश को मणि समझा। वह उसे उठाने उस ओर चला।

यदि वह मणि वाले कमरे के प्रकाश को मणि समझ कर आगे बढ़ा तो उसे दरवाजा खोलने पर कमरे में मणि मिल गई और यदि दीपक वाले कमरे के प्रकाश को मणि समझ कर आगे बढ़ा तो मणि नहीं मिली। न मणि की प्रभा ही मणि थी और न दीपक की प्रभा ही मणि। दोनों के विषय में उसको मणिज्ञान भ्रममात्र था। किन्तु उसे एक जगह अनुरूप फल मिला और दूसरी जगह नहीं। इनमें मणिप्रभा में मणिभ्रान्ति संवादिनी भ्रान्ति कहलाती है और दीपप्रभा में मणिभ्रान्ति विसंवादिनी। संवादिनी इसलिये कि जो समझ कर व्यक्ति प्रवृत्त हुआ था वह उसे प्राप्त हुआ। इसके विपरीत विसंवादिनी)।

मणि और प्रदीप का यह दृष्टान्त भगवत्पाद शङ्कराचार्यजी को कुछ सुधार के बाद रुचा। उन्होंने प्रकाश को प्रकाशवान् द्रव्यरूप ही माना (२।३।२५) में उनका भाष्य इस प्रकार है—'तस्या (प्रदीपप्रभायाः) अपि द्रव्यत्वाभ्युपगमात्। निविडावयवं हि तेजोद्रव्यं प्रदीपः, प्रविरलावयवं तु तेजोद्रव्यमेव प्रभा'। इसी सूत्रभाष्य में मणि, प्रदीप और अपवरक तीनों आ गए हैं।

प्रकृत में रस आदि भ्रान्तिरूप हैं तथापि वे आनन्दानुभूति तक पहुँचा देते हैं। इसलिए संवादि भ्रम होने से वे मान्य हैं। काव्य में उनकी भ्रमात्मकता भी किसी प्रकार उपेक्षणीय नहीं।

तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव। काव्यविषये च वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यत इति।

तत्र हेत्वादिभिरकृत्रिमैरकृत्रिमा एव प्रत्याय्यन्ते। तत्रैषामनुमेयत्वमेव न व्यङ्ग्यत्वगन्धोऽपीति, कुतस्तत्र सुखास्वादलवोऽपि सम्भवति। एष एव लोकतः काव्यादावतिशय इत्युपपद्यत एव रत्यादौ गम्ये सुखास्वादप्रयोजनो व्यङ्ग्यत्वोपचार इति।

मुख्यवृत्त्या द्विविध एवार्थो वाच्यो गम्यश्चेति। उपचारतस्तु व्यङ्ग्यस्तृतीयोऽपि समस्तीति सिद्धम्।

इसलिए यहाँ प्राज्ञों के लिए गम्य और गमक की सत्यता तथा असत्यता का विचार उपयोगशून्य है। काव्य के क्षेत्र में वाच्य और व्यङ्ग्य प्रतीतियों की सत्यता और असत्यता के विचार की कोई उपयोगिता नहीं। इसलिए वहाँ (काव्य में) दूसरे प्रमाण (शास्त्र) की (उसके अनुसार की गई काव्य की) परीक्षा (समीक्षा) का फल केवल उपहास होगा। वहाँ (लोक में) हेतु आदि वास्तविक पदार्थों से वास्तविक पदार्थों की प्रतीति कराई जाती है। वहाँ ये केवल अनुमेय होते हैं। उनमें व्यङ्ग्यत्व की गन्ध भी नहीं रहती। अतः वहाँ उन (रति आदि) में सुखात्मक आस्वाद का अंश भी सम्भव नहीं। यह (सुखास्वाद) ही लोक की अपेक्षा काव्य में अधिक है। इसलिए गम्य रति आदि में सुखास्वाद के आधार पर हुआ व्यङ्ग्यत्व का उपचार ठीक ही ठहरता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मुख्यरूप से (वास्तविक) काव्यगत पदार्थ दो ही प्रकार के होते हैं—वाच्य और गम्य। उपचार द्वारा व्यङ्ग्य नामक तीसरा पदार्थ भी माना जा सकता है।

विमर्श : ग्रन्थकार ने अर्थ का विवेचन 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इस ध्वनिलक्षण में उसके उपसर्जनभाव के प्रसंग में किया। उसका उपसंहार कर अब मूल विषय शब्द का 'उपसर्जनभाव' उपस्थित करते हैं—

वाचो गुणीकृतार्थत्वं न सम्भवति जातुचित् ।
तदर्थं तदुपादानादुदकार्थं दृतेरिव ॥ इति सङ्ग्रहश्लोकः ।

'शब्द का उपसर्जनीकृतार्थत्व कदापि सम्भव नहीं । इसलिए कि उस (शब्द) का उपादान उस (अर्थ) के लिए ही है । जैसे जल के लिए दृति (चमड़े की मशक) का ।'

विमर्श : व्यक्तिविवेकव्याख्यान इस सिद्धान्त का खण्डन करता है। वह संग्रहकारिका का उत्तर संग्रहकारिका द्वारा देता है।

शब्दस्योपसर्जनीकृतार्थत्वं विशेषणं व्यक्तिवादिनो यथा सम्भवति तथा प्राक् प्रतिपादितम् ।

(१) वाचो गुणीकृतार्थत्वं व्यङ्ग्यमर्थं प्रति स्थितम् ।
तदर्थं तदुपादानादुदकार्थं दृतेरिव ॥ ४ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः । तत्राविवक्षितवाच्ये ध्वनौ व्यञ्जकवाच्यस्यानपेक्षणीयत्वमेव गुणीकृतत्वमिति शब्दो गुणीकृतार्थः ।

शब्दे गुणीकृतात्मत्वं वाच्यस्य क्वाप्यसम्भवः ।
बाधितत्वादथान्यत्र व्यङ्ग्यं प्रत्यनवेक्ष्यता ॥ ५ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः । शब्दस्य तु व्यापारान्तरं स्वविषय एव समर्थयिष्यते ।

'शब्द का उपसर्जनीकृतार्थत्व ठीक है । वह व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति होता है । क्योंकि वाच्य का उपादान उसी (व्यङ्ग्य) के लिए होता है । जैसे जल के लिए दृति का । अविवक्षित वाच्य ध्वनि में व्यञ्जक (शब्द) को वाच्य की अपेक्षा नहीं रहती । उसका यही अनपेक्षणीयत्व ही गुणीकृतात्मत्व है । इस प्रकार शब्द गुणीकृतार्थ होता है । नहीं होता ऐसी बात नहीं । जो कभी भी सम्भव नहीं है वह शब्द के प्रति उसके अपने अर्थ का गुणीभाव है क्योंकि जलदृतिन्याय से वह बाधित है । (दृति जल के प्रति गुणीभूत होती है न कि जल दृति के प्रति । जैसा कि—'यो हि यदर्थमुपादीयते नासौ तमेवोपसर्जनीकरोतीति वक्तुं युक्तम्, यथोदकाद्युपादानार्थमुपात्तो घटादिस्तदेवोदकादि' इस पंक्ति से स्पष्ट है ।) दूसरे के प्रति गुणीभाव का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ वह (वाच्यार्थ) व्यङ्ग्य के प्रति अनपेक्षणीयत्व रूप गुणीभाव से युक्त ही है । शब्द में एक अभिधा के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यापार की सिद्धि उसके अपने प्रसंग में की जाएगी ।

विमर्श : अग्रिम मूल ग्रन्थ में वाच्य और प्रतीयमान अर्थों के व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव की वास्तविकता का खण्डन करते हुए अभिव्यक्ति पर प्रकाश डाला गया है । इस स्थल पर भाषा की कठिनाई के कारण विषय का स्पष्टीकरण व्यक्तिविवेकव्याख्यान में प्रसंग के आरम्भ में ही इस प्रकार कर दिया गया है—

इह च सदसद्विषयत्वेनाभिव्यक्तिर्द्विधा प्रतिपादिता । तत्रापि सद्विषया त्रिप्रकारा । शक्त्यवस्थस्य व्यक्तीभावः यथा दध्यादेः । आविर्भूतस्य च घटादेः सन्तमसादिप्रतिबन्धकप्रत्ययानिरासादप्रकाशमानस्य प्रदीपादिप्रकाशकेन सह प्रकाशनम् । अनुभूतस्य च संस्कारात्मना स्थितस्य कुतश्चित् प्रबोधकप्रत्ययात् प्रबोधमात्रम् । तदपि प्रबोधकत्रैविध्यात् त्रिविधम् । प्रबोधकं च नान्तरीयकं धूमादि, सदृशवस्त्वन्तरं, वाचकः शब्द इति त्रिविधम् । तदेवं पञ्चधा सद्विषयाऽभिव्यक्तिः । असद्विषया त्वेकैवेति षोढा व्यक्तिराशङ्क्य प्रकृते दूषिता । तत्र व्यक्तिवादिना घटप्रदीपन्यायेन सद्विषया व्यक्तिरङ्गीकृता । यथा च न दोषस्तथोपपादितम् । शिष्टं तु पक्षपञ्चकमनभ्युपगमपराहतमेव ।

अभिव्यक्ति दो प्रकार की बतलाई गई है सद्विषयक और असद्विषयक। उनमें सद्विषयक अभिव्यक्ति भी तीन प्रकार की होती है—(१) शक्तिरूप से स्थित वस्तु का व्यक्तिभाव जैसे दही आदि का। (२) गहन अन्धकार आदि प्रतिबन्धक के न हटने से नहीं दिखाई देती हुई व्यक्तिभावापन्न घट आदि वस्तु का भी प्रदीप आदि प्रकाशक द्वारा उसके साथ प्रकाशन। (३) संस्कार रूप से स्थित पूर्वानुभूत वस्तु का किसी उद्बोधक पदार्थ के कारण उद्बोधन (स्मरण)। इनमें भी स्मृति रूप तीसरी अभिव्यक्ति उद्बोधक के त्रैविध्य से तीन प्रकार की होती है—तीन प्रकार के उद्बोधकों में प्रथम है—धूम आदि व्याप्तिसम्बन्ध से सम्बद्ध हेतु, दूसरा है—दूसरे सदृश पदार्थ और तीसरा है—वाचक शब्द। इस प्रकार सद्विषयक अभिव्यक्ति पाँच प्रकार की हो जाती है। असद्विषयक अभिव्यक्ति केवल एक ही प्रकार की होती है। इसलिए सब मिलाकर अभिव्यक्तियों की संख्या छ होती है। इन सभी अभिव्यक्तियों का ग्रंथकार ने खण्डन किया है। व्यक्तिवादी ने घटप्रदीपन्याय से सद्विषयक अभिव्यक्ति अपनाई है। वह जिस प्रकार निर्दोष है उसका उपपादन किया जा चुका है। शेष पाँच अभिव्यक्तियाँ व्यक्तिवादी को मान्य ही नहीं, इसलिए उनकी स्वीकृति का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

नापि वाच्यप्रतीयमानयोर्मुख्यवृत्त्या व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सम्भवति व्यक्तिलक्षणानुपपत्तेः। तथा हि सतोऽसत एव वार्थस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्धस्मरणानपेक्षिणा प्रकाशकेन सहैव प्रकाशविषयतापत्तिरभिव्यक्तिरिति तल्लक्षणमाचक्षते। तत्र सतोऽभिव्यक्तिस्त्रिविधा, तस्य त्रैविध्यात्।

तत्र कारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रियगोचरत्वापत्तिलक्षण आविर्भाव एका, यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः। तथावस्थानानुपगमे तु सैवोत्पत्तिरित्युच्यते कैश्चित्। तस्यैवाविर्भूतस्य कुतश्चित् प्रतिबन्धादप्रकाशमानस्य प्रकाशकेनोपसर्जनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया, यथा प्रदीपादिना घटादेः। तदुक्तम्—

'स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः।
यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात्॥'

इति। ध्वनिकारेणाप्युक्तं—'स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परार्थावभासनो व्यञ्जक इत्युच्यते यथा प्रदीपो घटादेः' इति।

तस्यैवानुभूतपूर्वस्य संस्कारात्मनान्तर्विपरिवर्तिनः कुतश्चिदव्यभिचारिणोऽर्थान्तरात् तत्प्रतिपादकाद्वा संस्कारप्रबोधमात्रं तृतीया, यथा धूमादग्नेः, यथा चालेख्यपुस्तकप्रतिबिम्बानुकरणादिभ्यः, शब्दाच्च गवादेः। असतस्त्वेकप्रकारैव, तस्य प्रकारान्तरासम्भवाद्, यथार्कालोकादिनेन्द्रचापादेः। इति।

और न वाच्य और प्रतीयमान अर्थ का मुख्य रूप से व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव बनता, क्योंकि व्यक्ति-व्यञ्जना का लक्षण ही निष्पन्न नहीं होता। लोग व्यञ्जना का लक्षण 'समझ में आते हुए सत् या असत् किसीभी पदार्थ का सम्बन्ध स्मरण की अपेक्षा से रहित प्रकाशक द्वारा साथ-साथ प्रकाशविषयता को प्राप्त होना' बतलाते हैं। इनमें सत् की अभिव्यक्ति तीन प्रकार की होती है, क्योंकि सत् पदार्थ तीन प्रकार का होता है। उनमें—एक (सांख्य के अनुसार) स्वरूप कारण में शक्ति

रूप से स्थित होने के कारण तिरोभूत कार्य की इन्द्रियविषयतापत्ति, जैसे दूध आदि अवस्था में दही आदि की। शक्त्यात्मना अवस्थित न मानने पर (न्याय के अनुसार) कुछ लोगों द्वारा उत्पत्ति नाम से पुकारी जाती है। दूसरी है—आविर्भूत पदार्थ का भी, जो किसी प्रतिबन्धक के कारण प्रकाशित न हो रहा हो, किसी प्रकाशक द्वारा, जो स्वयं अप्रधान हो, अपने साथ प्रकाश जैसे प्रदीप आदि द्वारा घट आदि का। जैसा कि कहा गया है—

व्यञ्जक वह होता है जो पदार्थ के आविर्भूत रहने पर अपने ज्ञान के द्वारा उसके साथ दूसरे के ज्ञान का कारण हो यथा दीप। नहीं तो उत्पादक से उसका फरक ही क्या ?

ध्वनिकार ने भी कहा है—'अपने आकार को प्रकाशित करता हुआ ही दूसरे का प्रकाशन करने वाला 'व्यञ्जक' कहा जाता है, जैसे प्रदीप घटादि का।'

तीसरी है—उसी सत् पदार्थ के, जो संस्कार रूप से अन्तःकरण में घूम रहा हो, उससे भिन्न किन्तु उससे नियत सम्बद्ध पदार्थ द्वारा अथवा उसके प्रतिपादक द्वारा, संस्कार का जागरणमात्र। जैसे धूम से अग्नि का, चित्र, लिपि, प्रतिबिम्ब अनुकरण आदि से और शब्द से गवादि का।

असत् की अभिव्यक्ति केवल एक प्रकार की है, क्योंकि जो वस्तु असत् है उसके भेद प्रभेद सम्भव नहीं, जैसे—सूर्यप्रकाश से इन्द्रधनुष आदि की।

अब इन उदाहरणों द्वारा निर्धारित उक्त व्यक्तिलक्षण का खण्डन करते हैं—

न चैतल्लक्षणं वाच्ये सङ्गच्छते। तथा हि—सतोऽभिव्यक्तिरा[क्तेर्यदा]द्ययोरर्थयोर्लक्षणं न तत्प्रतीयमानेष्वेकमपि संस्प्रष्टुं क्षमते तस्य दध्यादेरिवेन्द्रियविषयभावापत्तिप्रसङ्गाद् घटादेरिव वाच्यार्थसहभावेनेदन्ताप्रतीतेरसम्भवात्। न च स्वरूपासंस्पर्शि लक्षणं भवति।

तृतीयस्यास्तु यल्लक्षणं तदनुमानस्यैव सङ्गच्छते, न व्यक्तेः। यदुक्तं—'त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमान'मिति। तच्चानुमानमेव। न ह्यर्थादर्थान्तरप्रतीतिरनुमानमन्तरेणार्थान्तरमुपपद्यते। उपमानादीनां च तत्रैवान्तर्भावात्।

यदाहुः—'न चान्यदर्शनेऽन्यकल्पना युक्तातिप्रसङ्गात्। तस्य नान्तरीयकतायां स्यात्। न हि यथाविधसिद्धः तथाविधसन्निधानं सूचयति। सामान्येन च सम्बन्धिनार्थप्रतिपत्तिरनुमानमिति द्वे एव प्रमाणे' इति।

'व्यक्ति का यह लक्षण वाच्य में नहीं लगता। क्योंकि सत् पदार्थ की अभिव्यक्ति के पक्ष में प्रथम दो (दही और घट) पदार्थों की अभिव्यक्ति के जो लक्षण हैं वे प्रतीयमान पदार्थों में से एक का भी स्पर्श नहीं कर सकते क्योंकि उसमें दध्यादि के समान इन्द्रिय-विषयत्व की प्रसक्ति का भय है और घटादि के समान वाच्यार्थ के ज्ञान के साथ उसके 'यह इस प्रकार का है' ऐसे ज्ञान का सम्भव नहीं। वह लक्षण, लक्षण नहीं होता जो लक्ष्य के स्वरूप से अत्यन्त दूर हो। तीसरी अभिव्यक्ति का जो लक्षण है वह अनुमान ही में संगत होता है, व्यक्ति में नहीं। कहा है 'त्रिरूप लिङ्ग से अनुमेय विषयक जो ज्ञान है वह अनुमान है' वस्तुतः वह अनुमान है ही। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की प्रतीति अनुमान को छोड़कर और कोई तत्त्व सिद्ध नहीं होती। क्योंकि उपमान आदि का उसी में अन्तर्भाव है। जैसा कि कहा है—हर किसी के ज्ञान से हर किसी की कल्पना ठीक नहीं, अतिव्याप्ति के भय से। उसकी (जिसके दर्शन से जिस किसी अन्य की कल्पना करनी हो) व्याप्यता (व्याप्ति सम्बन्ध) होने पर ही वह (कल्पना) हो सकती है।

हर किसी सम्बन्ध से ज्ञात पदार्थ उस तरह के (अव्यवस्थित) सम्बन्धों का बोध नहीं कराते। सामान्य सम्बन्धी द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान अनुमान कहलाता है। इसलिये प्रमाण दो ही हैं।'

विमर्श : व्यक्ति के दो पक्ष किए हैं—एक सत्सम्बन्धी और दूसरा असत्सम्बन्धी। उनमें से सत्सम्बन्धी व्यक्ति के तीन प्रकार बतलाए गए हैं। उनके उदाहरण दही, अन्धकारमग्न घट आदि और धूम आदि से वह्नि आदि, संस्कार उद्बोधक से संस्कार रूप से अवस्थित वस्तु तथा शब्द से अन्तःकरणनिष्ठ अर्थ, उदाहरण दिए गए हैं। इनके आधार पर सत्सम्बन्धी तीनों अभिव्यक्तियों में प्रथम परिणति या उत्पत्ति सिद्ध होती है, द्वितीय ज्ञप्ति और तृतीय क्रमशः अनुमिति, स्मृति और शाब्दबोध। इनके लक्षण भी ग्रन्थकार ने अलग-अलग दिए हैं। ग्रन्थकार का कथन है कि वाच्य से जो प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है उसमें कथित दो प्रकार की अभिव्यक्तियों के लक्षण नहीं घटते। इसमें उन्होंने दोष दिखलाते हुए कहा है—वाच्य से प्रतीयमान की प्रतीति यदि परिणति नामक अभिव्यक्ति मानी जाय तो जैसे दूध से परिणत हुआ दही आँख से देखा जाता है वैसे ही वाच्य से अभिव्यक्त हुआ प्रतीयमान भी देखा जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार प्रकाशन या ज्ञप्ति रूप अभिव्यक्ति मानी जाय तो जैसे प्रकाशक दीपक के साथ ही प्रकाशित घट आदि का ज्ञान होता है, उनमें पौर्वापर्य नहीं रहता, वैसे वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति में होना चाहिए। किन्तु वाच्य की प्रतीति पहले होती है और प्रतीयमान की बाद में। इस प्रकार वाच्य और प्रतीयमान के बीच मानी जा रही अभिव्यक्ति न परिणति रूप मानी जा सकती और न ज्ञप्ति रूप ही। अभिव्यक्ति का जो तीसरा प्रकार है वह वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति में लागू होता है, तो भी उससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह अभिव्यक्ति एक स्वतन्त्र शब्द शक्ति है। वह अनुमिति से भिन्न कुछ नहीं है।

ग्रन्थकार का कथन बहुत अंशों तक ठीक है। व्यक्तिवादी व्यञ्जना को यह कहकर अनुमान से भिन्न सिद्ध करता है कि अनुमान में हेतु का प्रतीयमान के साथ नियत साहचर्य या व्याप्ति ग्रह होता है व्यञ्जना में व्यञ्जक का प्रतीयमान के साथ वैसा सम्बन्ध नहीं, केवल सामान्य सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसलिए व्यञ्जक कई प्रतीयमान की प्रतीति करा सकता है। किन्तु व्यक्तिवादी ने स्वयं व्यञ्जक का ऐसा निरूपण किया है जिससे उसका प्रतीयमान के साथ व्याप्ति जैसा ही सम्बन्ध होता जाता है। उसके वक्ता, बोद्धव्य (जिससे कहा जाता है), काकु आदि से युक्त व्यञ्जक को निश्चित प्रतीयमान का प्रत्यायक माना है। इस स्थिति में व्यञ्जक हेतु रूप माना जा सकता है।

इस प्रकरण की पुष्टि में—'यदाहुः न चान्य······एव प्रमाणे' तक जो ग्रन्थ उद्धृत किया गया है उसकी पदावली अत्यन्त प्राचीन है। उसका अभिप्राय प्रसंगानुकूल ही निकालना होता है। उसमें 'अन्यदर्शन' और 'अन्यकल्पना' इन शब्दों के साथ लगे 'अन्य' पद का अर्थ कोई ऐसा पदार्थ है जो उसके ज्ञापनीय पदार्थ के साथ कोई नियत सम्बन्ध न रखता हो। यथाविध का अर्थ **हर कैसे** करना पड़ता है। 'सामान्येन सम्बन्धिना' का अर्थ ऐसा सम्बन्धी है जिसमें विशेषणरूप से उसके सामान्य—जाति का ही बोध होता हो। वह पदार्थ जो हेतु होता है और वह पदार्थ जो साध्य होता है—दोनों का अनुमिति में केवल अपनी जाति के साथ ज्ञान होता है, जैसे 'धूमाद् वह्निः' में धूम का धूमत्वरूप सामान्य के साथ और वह्नि का वह्नित्वरूप सामान्य के साथ। '००व्यक्तिराद्य००'-'व्यक्तेर्यदा००' पढ़ा जाना उचित है।

न च वाच्यादर्थादर्थान्तरप्रतीतिरविनाभावसम्बन्धस्मरणमन्तरेणैव सम्भवति, सर्वस्यापि तत्प्रतीतिप्रसङ्गात्। नापि सहभावेन, धूमाग्निप्रतीत्योरिव तत्प्रतीत्योरपि क्रमभावस्यैव संवेदनाद् इत्यसम्भवो लक्षणदोषः।

अथ रसाद्यपेक्षया तयोः सहभावेन प्रकाशोऽभिमत इत्युच्यते, अव्याप्तिस्तर्हि लक्षणदोषः। वस्तुमात्रालङ्कारप्रकाशस्य प्रकाशकासहभावेनाव्याप्तेः।

न च रसादिष्वपि विभावादिप्रकाशनसहभावेन प्रकाशनमुपपद्यते। यतस्तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। न च कारणादिभिः कार्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः सहैव प्रकाशितुमुत्सहन्ते कार्यकारणभावावसायस्यैवावसादप्रसङ्गात्। यत्र तु तल्लक्षणं मुख्यतया सम्भवति तत् काव्यमेव न भवतीति कुत एव तद्विशेषध्वनिरूपता स्यात्।

वाच्य अर्थ से जो अर्थान्तर की प्रतीति होती है वह अविनाभाव सम्बन्ध के स्मरण (व्याप्ति स्मरण) के विना सम्भव ही नहीं। नहीं तो सभी वाच्यों से सभी प्रकार के अन्य अर्थों की प्रतीति होने लगेगी। और न सहभाव पूर्वक (साथ-साथ) ही (प्रतीति होगी जैसा कि व्यञ्जना में होना चाहिए)। क्योंकि धूम और अग्नि की प्रतीतियों के समान ही उनकी प्रतीतियों का क्रमिक (आगे पीछे) होना ही अनुभव में आता है। इसलिए लक्षणा में असंभव दोष आता है। कारण कि प्रतीयमान की अभिव्यक्ति मानने पर उसमें अभिव्यक्ति का लक्षण नहीं घटता।

और यदि रस आदि को लेकर उन (वाच्य और प्रतीयमान) की प्रतीति साथ-साथ मान ली जाय तो लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि वस्तु और अलंकार की अभिव्यक्ति प्रकाशक के साथ नहीं होती। रस आदि में भी प्रकाशक विभाव आदि के ज्ञान के साथ उनका ज्ञान नहीं होता।

क्योंकि विभावादि नामक उन्हीं कृत्रिम कारण आदि से झूठे होते हुए भी प्रतिबिम्ब के समान स्थायिभाव नामधारी रति आदि भाव जब कवि द्वारा ज्ञाता के ज्ञान का विषय बना दिए जाते हैं, फलतः हृदय संवाद के कारण (एक सी अनुभूति के कारण) आस्वाद्यता को प्राप्त होते रहते हैं तब रस कहे जाने लगते हैं। कार्य आदि भले ही वे प्रतिबिम्ब तुल्य हों कारण आदि के साथ तो प्रकाशित हो नहीं सकते। क्योंकि इस प्रकार कार्यकारण भाव के स्थिर स्वरूप का ही उच्छेद होने लगेगा। और जहाँ उसका (व्यक्ति का) लक्षण मुख्यरूप से चरितार्थ होता है वह (घट प्रदीप आदि) काव्य ही नहीं होता, इसलिए उसमें काव्य का एक विशेष भेद 'ध्वनि' हो ही कैसे सकता है?

विमर्श : 'न च वाच्यादर्थादर्थान्तरप्रतीतः' से लेकर 'असम्भवो लक्षणदोषः' तक व्यक्ति लक्षण का वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में असम्भव दिखलाया गया और उसमें कारण बतलाया गया वाच्य तथा प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति का पूर्वपरभाव। भाव यह था कि जहाँ जहाँ वाच्य से वाच्येतर अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ वाच्य की प्रतीति पहले और अर्थान्तर की प्रतीति पीछे होती देखी जाती है। व्यक्ति में कार्य और कारण व्यञ्जक और व्यङ्ग्य दोनों की प्रतीति साथ साथ होती है इसलिए वाच्य और अर्थान्तर के स्थल को व्यक्ति का स्थल नहीं माना जा सकता।

इस पर व्यक्तिवादी की ओर से दूसरे उदाहरणों द्वारा वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति स्थल में व्यक्तिसिद्धि का प्रयत्न किया गया। व्यक्तिवादी ने रस आदि असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि में वाच्य और आर्थान्तर प्रतीति में क्रमज्ञान का अभाव बतलाकर उनकी प्रतीति में सहभाव के कारण व्यक्ति लक्षण संगत बतलाना चाहा। अनुमितिवादी ने उसका भी प्रतिवाद करते हुए दो दोष दिए। एक तो अभ्युपगमवाद के आधार पर और दूसरा स्पष्ट खण्डन दृष्टि से। प्रथम दोष अव्याप्ति है। अनुमितिवादी का कथन है कि यदि रस आदि की प्रतीति में क्रम न भी माना जाय सहभाव ही मान लिया जाय तब भी ध्वनि यदि रस आदि तक ही सीमित होती तो कोई दोष न होता। ध्वनि के अन्तर्गत तो रस के अतिरिक्त वस्तु और अलंकार भी आते हैं और इनकी प्रतीति में क्रम का अस्तित्व स्वयं व्यक्तिवादी को अभिमत है क्योंकि व्यक्तिवादी ने उन्हें संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य माना है। ऐसी स्थिति में ध्वनि को व्यक्ति मान लेने पर व्यक्ति का लक्षण रस आदि असंलक्ष्यक्रम ध्वनि में तो संगत हो जाएगा, वस्तु और अलंकार ध्वनि में फिर भी वह (व्यक्ति लक्षण) न घटेगा। लक्ष्य के किसी एक देश के लक्षण का न घटना अव्याप्ति दोष होता है। निदान ध्वनि को लेकर अभिव्यक्ति के लक्षण में अव्याप्ति दोष होता है। दूसरे रस ध्वनि में भी क्रम का अभाव कैसे मान लिया जाय। विभाव आदि से रस की प्रतीति होती है अतः उन्हें कारण और रस आदि को कार्य मानना न्यायसंगत है। कारण और कार्य कभी भी एक साथ अभिव्यक्त नहीं होते, और जो एक साथ अभिव्यक्त होते हैं उन गाय के सिर पर उगे सींगों आदि में परस्पर कार्यकारण भाव नहीं होता। ऐसा स्थिति में कार्यकारण भाव के रहते हुए भी रस आदि की प्रतीति में क्रम का अभाव नहीं माना जा सकता, फलतः उनमें भी व्यक्ति लक्षण घटता नहीं। जहाँ घटता है वे घट प्रदीप आदि लौकिक पदार्थ काव्य ही नहीं हैं। उन्हें ध्वनि कहा जाय यह भी सम्भव नहीं। इस प्रकार रस, वस्तु और अलंकार तीनों प्रकार की ध्वनि में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव नहीं बनता—क्योंकि उनमें व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव की सिद्धि का जो एकमात्र सम्बल है वह 'सहभावेन प्रतीति' नहीं है।

व्यक्तिवादी की ओर से इन तर्कों का उत्तर पीछे दिया जा चुका है। सारतः व्यक्तिवादी क्रम का अस्तित्व मानते हुए भी व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध स्वीकार करता है। उसका प्रतीति-यौगपद्य अनुमितिवादी के प्रतीतियौगपद्य से भिन्न है। अनुमितिवादी वाच्य की प्रतीति पहले होती है इसलिए क्रम भाव मानकर वाच्य और अर्थान्तर में व्यंग्यव्यञ्जकभाव नहीं मानता, व्यक्तिवादी अर्थान्तर की प्रतीति के समय वाच्य की भी प्रतीति होती रहती है—उस एक मात्र चरम प्रतीति को लेकर क्रमभाव नहीं मानता। जहाँ तक वाच्य और अर्थान्तर की पृथक् प्रतीति का सम्बन्ध है उसमें व्यक्तिवादी क्रम का खण्डन नहीं करता, इसीलिए उसमें रस आदि तीनों-ध्वनियों को क्रम ध्वनि कहा है, केवल इतनी सूक्ष्मता दिखलाई है कि रस आदि की ध्वनि में क्रम रहते हुए भी लक्षित नहीं होता अतः वह असंलक्ष्य क्रम ध्वनि है और वस्तु तथा अलंकार ध्वनि में वह लक्षित हो जाता है अतः वेह संलक्ष्य क्रम ध्वनि है।

द्विविधो हि प्रकाशकोऽर्थ उपाधिरूपः स्वतन्त्रश्चेति। तत्र ज्ञानशब्दप्रदीपादिरुपाधिरूपः। तदुक्तं–'त्रयः प्रकाशाः स्वपरप्रकाशा' इति। अन्यः स्वतन्त्रो धूमादिः। तत्राद्यस्तावद् भवद्भिर्नाभ्युपगन्तव्य एव प्रत्यक्षाभिधेययोरेवार्थयोः काव्यतापत्तिप्रसङ्गात्। अन्यस्य तु लिङ्गत्वमेवोपपद्यते न व्यञ्जकत्वं व्यक्तेरनुपपत्तेः।

प्रकाशक दो प्रकार का होता है उपाधिरूप और स्वतन्त्र। उनमें ज्ञान, शब्द और प्रदीप

आदि उपाधिरूप है; कहा गया है—प्रकाश (प्रकाशक) तीन हैं—स्वप्रकाश, परप्रकाश तथा स्वपरप्रकाश। दूसरा स्वतन्त्र प्रकाशक धूम आदि है। इनमें प्रथम (उपाधिरूप) प्रकाशक को आप मान सकते ही नहीं, क्योंकि केवल प्रत्यक्ष और अभिधेय अर्थों तक ही काव्यत्व सीमित होने का भय है। जो दूसरा (स्वतन्त्र रूप) है वह लिङ्ग (हेतु) ही सिद्ध होता है व्यञ्जक नहीं; क्योंकि उसमें व्यक्ति लक्षण ही नहीं घटता।

यत्र तु तल्लक्षणमिति। **व्यक्तिलक्षणं प्रदीपघटादौ।** उपाधिरूप **इति। उपाधिस्वरूपोपरञ्जनेनान्यप्रतीतिहेतुः। तथा हि—ज्ञानं, ज्ञेयं गर्भीकृत्य 'ज्ञातोऽयमर्थ' इति ज्ञेयं प्रकाशयति; शब्दोऽप्यध्यवसायाश्रयेण स्वरूपं प्रकाशयन्नर्थप्रकाशकः।**

विषयत्वमनापन्नैश्शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः॥'

इति। प्रदीपस्योपाधित्वं 'स्वज्ञानेनान्यधीहेतुरि'त्यादिना प्रतिपादितम्। तत्र व्यक्तिवादिना यथा प्रदीपवृत्तान्त इहाङ्गीकृतो नेन्द्रियगोचरतापत्तिस्तथा प्रतिपादितं प्राक्। अतश्च अथैतद्दोषभयादित्यादिना **यो धूलिप्रक्षेपः कृतः, स स्वमनीषिकया शङ्कितपक्षदूषणप्रपञ्चो निरुत्थान एव।**

उपाधि का लक्षण है—वह पदार्थ जो अपने स्वरूप में लपेट कर दूसरे किसी पदार्थ की प्रतीति कराता है—जैसे ज्ञान और शब्द। ज्ञान का स्वरूप है 'यह पदार्थ जान लिया गया' इसकी कुक्षि में 'यह पदार्थ' इस स्वरूप से ज्ञेय पदार्थ भी प्रविष्ट है। इस प्रकार ज्ञान से ज्ञानाकाराकारित ज्ञेय की प्रतीति होती है। शब्द भी अर्थ का प्रकाशन तभी करता है, जब वह अर्थस्वरूप हो जाता है। कहा गया है—

'शब्दों से तब तक अर्थ का प्रकाशन नहीं होता जबतक वे अर्थ स्वरूप नहीं बन जाते। अर्थात् जबतक अर्थकी सत्ता द्वारा शब्द नहीं पकड़ लिए जाते तबतक वे अर्थ के प्रकाशक नहीं बनते।' इसी प्रकार प्रदीप भी उपाधिस्वरूप प्रकाशक है। उसका निर्वचन स्वज्ञानेनान्यधीहेतु—इत्यादि द्वारा किया जा चुका है। इन प्रकाशकों मेंसे व्यक्तिवादी ने प्रदीपन्याय से व्यञ्जकत्व माना है और उतने पर भी इन्द्रियगोचरतापत्ति नहीं रहती। यह पहले कहा जा चुका है। और इसीलिए अगले 'अथैतद्दोषभयात्' ग्रन्थ द्वारा जो धूल झोंकी गई है उसका समस्त प्रपञ्च सामने टिकता है ही नहीं, क्योंकि उसमें पूर्वपक्ष की कल्पना तथा उस पर दोषोद्भावन अपनी बुद्धि से किए गये हैं। ध्वनिवादी का मत पूर्वपक्ष रूप से उपस्थित न करके अनुमितिवादी ने अपने ही मन से कल्पित कोई पूर्वपक्ष उपस्थित किया है और दोष दिये हैं।

न च त्रिविधस्यापि व्यङ्ग्याभिमतस्यार्थस्य प्रकाशकसहभावेन प्रकाशस्तस्यापि ध्वनिकारस्याभिमतः। यदयमाह—'न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। तत एव तत्प्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न प्रकाशत इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादय' इति।

व्यङ्ग्यरूप से अभिमत तीनों प्रकार के अर्थ (रस, वस्तु, अलङ्कार) का प्रकाशक के साथ प्रकाश स्वयं ध्वनिकार को भी मान्य नहीं है—जैसा कि इनका कहना है—

'विभावानुभावव्यभिचारी ही रस हों ऐसी किसी की मान्यता नहीं है; किन्तु उन्हीं से (विभावादि से) उनकी प्रतीति के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध रसादि की प्रतीति होती है, इसलिए उनकी (विभावादि और रसादि की) प्रतीतियों में कार्य कारणभाव होने से क्रम अवश्यम्भावी है। वह समझ भर में नहीं आता इतने ही रसादि असंलक्ष्यक्रम और व्यङ्ग्य माने जाते हैं।'

विमर्श : ध्वनिकार का भाव उक्त कथन से केवल इतना ही है कि एक ओर रसादि की प्रतीति क्रमयुक्त है और दूसरी ओर वे व्यङ्ग्य भी हैं। क्रम होने से उनमें कार्य कारणभाव है किन्तु कार्यात्मक अर्थान्तर की प्रतीति के समय कारणात्मक वाच्यादि की प्रतीति होती ही रहती है अतः व्यङ्ग्य हैं। यह अर्थ ध्वनिकार के तत्प्रतीत्यविनाभाविनी पद से स्पष्ट होता है। व्यक्तिविवेकव्याख्यान में इसी पद के आधार पर व्यङ्ग्यत्व का समर्थन किया गया है। अनुमितिवादी इस तथ्य को नहीं समझता। वह वाच्य और प्रतीयमान की आरम्भिक प्रतीति को लेकर क्रम सिद्ध करना और उसके आधार पर व्यङ्ग्यत्व का खण्डन करना चाहता है, व्यक्तिवादी के व्यङ्ग्यत्व की भूमिका तक वह पहुँचता ही नहीं।

अथैतद्दोषभयात् सहभावानपेक्षमेतल्लक्षणमुच्यते। तथाप्यनुमानेऽतिव्याप्तिः। तत्राप्युपसर्जनीकृतात्मना धूमादिना प्रकाश्यस्य प्रकाशोऽस्त्येव। अथासद्ग्रहणेन सा निरस्तेत्युच्यते तर्हि घटप्रदीपयोस्तस्याव्याप्तिः घटस्य सत्त्वात्।

अथासद्ग्रहणं न करिष्यत इति तर्हि अर्कालोकेन्द्रचापादावव्याप्तिः। इन्द्रचापादेरसत्त्वात्।

अथोभयोरपि ग्रहणं न करिष्यत इति तर्ह्यनुमानस्यैव तल्लक्षणं पर्यवस्यति, न व्यक्तेः। तच्चेष्टमेव नः, वाच्यप्रतीयमानयोः सतोरेव च क्रमेणैव प्रकाशोपगमात्।

तस्मात् तदवस्थ एवासम्भवो लक्षणदोषः। किञ्च सदसद्भावेन प्रकाश्यस्य विशेषणमनुपपन्नं व्यावर्त्याभावाद् इति।

और यदि इस दोष के भय से इसका (व्यक्ति का) ऐसा लक्षण बनाया जाय जिसमें (व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के) सहभाव की अपेक्षा न हो तब भी अनुमान में अतिव्याप्ति होती है। वहाँ (अनुमान में) भी धूम आदि अप्रधान होकर (वह्नि आदि) प्रकाश्य का प्रकाश करते हैं। यदि असत् ग्रहण द्वारा उसका (अतिव्याप्ति का) निरास हो जाता है, ऐसा कहा जाय तो घट प्रदीप में उसकी (व्यक्ति लक्षण की) अव्याप्ति होती है, क्योंकि घट सत् है। यदि असद् का ग्रहण नहीं करेंगे तो सूर्य प्रकाश से प्रकाशित इन्द्रचाप आदि में अव्याप्ति होती है, क्योंकि इन्द्रचाप आदि असत् हैं। यदि दोनों का (सत् असत्) का ग्रहण नहीं करेंगे तो व्यक्ति के लिए बनाया गया लक्षण अनुमान में ही पर्यवसित होगा, व्यक्ति में नहीं। और वह तो हमारा अभीष्ट ही है क्योंकि वाच्य और प्रतीयमान का तथा केवल सत् पदार्थों का ज्ञान क्रम से ही माना जाता है। इसलिये लक्षण में असम्भव दोष वैसा का वैसा रहा आता है। एक बात यह भी है कि प्रकाश्य के लिए सत् और असत् विशेषण लगाना ठीक भी नहीं है क्योंकि उनका कोई व्यावर्त्त्य नहीं है।

विमर्श : उक्त सन्दर्भ में ध्वनि में व्यक्ति के लक्षण की असंगति व्यङ्ग्य और व्यञ्जक की प्रतीतियों में सहभाव का अभाव दिखलाकर की गई। अपना मत संपुष्ट करते हुए ध्वनि में व्यक्ति लक्षण

संगत सिद्ध करने के लिए उसके विरुद्ध व्यक्तिवादी की ओर से एक उपाय उपस्थित किया गया कि जिस कारण व्यक्ति लक्षण ध्वनि में संगत नहीं होता उस प्रतीति सहभाव को उससे हटा दिया जाय। सहभाव न होने पर विभावादि और रसादि की प्रतीति में क्रम होने पर भी वे व्यञ्जक और व्यङ्ग्य माने जा सकेंगे। इस सुझाव को दूषित बतलाते हुए अनुमितिवादी ने कहा— व्यक्तिवादी के अनुसार व्यक्तिलक्षण से यदि प्रतीति-सहभाव हटा दिया जाय तो उसका लक्षण अनुमान में भी संगत हो जाएगा फलतः अतिव्याप्ति होगी। इसका उपपादन करते हुए कहा—कि अनुमान में भी प्रकाशक धूम आदि प्रकाश्य वह्नि आदि के प्रतिउपसर्जन या गौण रहते हैं और क्रम से उसकी प्रतीति कराते हैं। व्यञ्जक और व्यङ्ग्य की स्थिति केवल दोनों की प्रतीतियों में ऐककालिकता या सहभाव के कारण अनुमिति से पृथक् होती है, उसके हटा देने से सचमुच व्यक्तिलक्षण अनुमिति में भी लागू हो जाता है। इस दोष का निराकरण करते हुए व्यक्तिवादी ने व्यक्तिलक्षण में प्रकाश्य के साथ असत् विशेषण जोड़ना चाहा। अर्थात् प्रतीति में क्रम रहे और प्रकाश्य असत् हो तो प्रकाशक प्रकाश्य में व्यक्ति सम्बन्ध माना जाना चाहिए। अनुमिति-वादी ने इस पर भी दोष दिखलाया। उसका कहना है कि प्रकाश्य को असत् विशेषण देने से रत्यादि तो असत् होते हैं, उनमें व्यक्तिलक्षण लागू हो जाएगा और धूम आदि से प्रतीत वह्नि आदि असत् नहीं होते अतः उनमें व्यक्ति का लक्षण प्रतीतिक्रम रहते हुए भी नहीं जाएगा किन्तु इतने पर भी लोक में जहाँ प्रदीप से घट की प्रतीति होती है वहाँ व्यक्ति मानी जाती है, तथापि व्यक्तिलक्षण उसमें नहीं लगेगा, क्योंकि घट असत् नहीं होता, सत् ही होता है। इस प्रकार अतिव्याप्ति होने पर भी अव्याप्ति दोष होगा। साथ ही यदि इस अव्याप्ति के भय से असत् ग्रहण व्यक्तिवादी न भी करना चाहे और सत् का ही ग्रहण करना चाहे तो भी दोष होगा। सूर्य प्रकाश पर अभिव्यक्ति इन्द्रचाप असत् ही होता है। उसमें व्यक्तिलक्षण नहीं जाएगा। इन दोषों के कारण यदि व्यक्तिलक्षण में 'सत् और असत्' दोनों ही विशेषण नहीं लगाए जाएँ तो वहीं अनुमान में अतिव्याप्ति होती है। और अतिव्याप्ति ही नहीं असम्भव दोष भी होता है। व्यक्ति के लिए बनाया गया लक्षण सत् और असत् दोनों प्रकार के पदार्थों में संगत नहीं होता। उसमें प्रतीति सहभाव अपेक्षित होता ही है। उसको हटाने पर व्यक्तिलक्षण एकमात्र अनुमिति का लक्षण बन बैठता है। व्यक्ति में वह सर्वथा चरितार्थ नहीं होता। इसके अतिरिक्त यदि न्यायपूर्वक विचार किया जाय तो व्यक्तिवादी द्वारा प्रकाश्य के लिए सत् या असत् विशेषण दिए भी नहीं जाने चाहिए, विशेषण वहीं शब्दतः कथित होता है जिससे किसी विरुद्ध-भाव का व्यावर्त्तन किया जाय। जैसा कि ग्रन्थारम्भ में कहा गया है। इस प्रकार व्यक्तिवादी का व्यक्तिलक्षण अनुमान में व्यभिचरित सिद्ध किया जाता है। यह सब एक बखेड़ा है। इसका उत्तर पीछे दिया जा चुका है।

संगति—ग्रन्थकार ने अभीतक 'यत्रार्थः शब्दो वा' इस ध्वनिलक्षण का खण्डन करते हुए पहले अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्व-इस विशेषण का, शब्द और उसके उपसर्जनीकृतार्थत्व विशेषण का तथा व्यङ्ग्यपद से प्रतीत व्यञ्जना का खण्डन किया। अब पुनः ध्वनिलक्षण में उपात्त पदार्थों की मीमांसा करते हुए उन्हें भी दोषावह सिद्ध करने के लिए—पहले 'अर्थ' शब्द के अर्थ का विचार करते और उससे आनेवाले दोषों का स्पष्टीकरण करते हैं। इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार की पदावली का ध्यान रखना अपेक्षित है। वह ध्वनिवादी की ओर से जब पूर्वपक्ष करता है तब व्यङ्ग्य तथा व्यञ्जक तथा व्यक्त शब्दों का प्रयोग करता है और जब अपना पक्ष उपस्थित करता है तो साध्य, साधक या हेतु और अनुमित शब्दों का। कहीं-कहीं ये शब्द एक ही पंक्ति में प्रयुक्त किए गए हैं।

किञ्च यत्र वाच्यस्यार्थस्य व्यञ्जकत्वं, स चेद् ध्वनिस्तर्हि तदनुमितस्य व्यञ्जकत्वे ध्वनित्वं न स्यात् तस्य वाच्यत्वाभावात्। ततश्च 'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादौ ध्वनित्वमिष्टं न स्याद् इत्यव्याप्तिर्लक्षणदोषः। अथार्थशब्देनोभयमपि संगृहीतं तस्योभयार्थविषयत्वेनेष्टत्वात्। यदाह—

'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥'

इति। सत्यम्। किन्तु तमर्थमिति तच्छब्देनानन्तर्यात् प्रतीयमानस्यार्थस्य परामर्शे सति पारिशेष्याद् 'अर्थो वाच्यविशेष' इति स्वयं विवृतत्वाच्च अर्थशब्दो वाच्यविषय एव विज्ञायते नोभयार्थविषय इति तदवस्थो दोषः—

इसके अतिरिक्त जहाँ वाच्य अर्थ व्यञ्जक हो, यदि वह ध्वनि माना जाय तो उससे अनुमित अर्थ का व्यञ्जकत्व होने पर (भी) ध्वनित्व सम्भव नहीं। क्योंकि उसमें वाच्यत्व का अभाव है। ऐसा होने पर 'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादि में माना गया ध्वनित्व माना न जा सकेगा—अतः ध्वनि लक्षण में अव्याप्ति दोष होगा। यदि कहा जाय कि अर्थ शब्द के उभयार्थ विषयक होने से दोनों अर्थों का संग्रह हो जाता है जैसा कि कहा है—

'अर्थ, जो सहृदय श्लाघ्य होने से काव्य की आत्मा माना गया है, उसके वाच्य और प्रतीयमान नामक दो भेद माने गए हैं।'

ठीक है। किन्तु (यहाँ) अर्थशब्द वाच्यार्थमात्र के लिए प्रयुक्त ज्ञात होता है दोनों अर्थों के लिए नहीं। क्योंकि ध्वनिलक्षण 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थम्' में 'तम्' पद द्वारा तुरन्त पीछे (प्रतीयमानः पुनरन्यदेव, सरस्वती स्वादु' आदि में) कहे गए प्रतीयमान अर्थ का परामर्श हो जाने पर वाच्य ही शेष रहता है और 'अर्थो वाच्यविशेषः' इस प्रकार स्वयमेव (अर्थ पद की) व्याख्या की गई है। अतः दोष पूर्ववत ही बना रहता है।

विमर्श : आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वनिलक्षण—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुप० में एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति का उल्लेख है। अनुमितिवादी की शंका है कि जिस अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति होती है वह अर्थ कौन सा है केवल वाच्य, अथवा व्यंग्य भी। वह स्वतः समाधान भी करता है कि वह अर्थ वाच्य ही हो सकता है व्यंग्य या दोनों नहीं। इस समाधान में वह युक्ति और शब्द को प्रमाणरूप से उपस्थित करता है। युक्ति है—व्यंग्य के विषय में और शब्द है—उभयार्थ विषयकत्व के निराकरण तथा वाच्यसमर्थन में। (युक्ति) उसका कहना है कि ध्वनिलक्षण में आए प्रथम अर्थ शब्द का अर्थ प्रतीयमान या व्यंग्य नहीं हो सकता क्योंकि प्रतीयमान की प्रतीति के लिए तद् इस सर्वनाम से युक्त दूसरे अर्थ शब्द का उपादान किया है। तद् सर्वनाम प्रकान्त परामर्शक है। प्रक्रान्त या प्रकरण प्राप्त अर्थ प्रतीयमान ही है क्योंकि वही 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' तथा 'सरस्वतीस्वादु' इस ध्वनिलक्षण कारिका के पहिले की कारिकाओं में आया है। अतः तद् शब्द का अर्थ भी वही प्रतीयमान है। फलतः प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ प्रथम अर्थ का नहीं हो सकता। दोनों अर्थ शब्दों का एक ही अर्थ मानने पर कर्त्तृत्व और कर्मत्व का विरोध होगा। इस प्रकार 'अर्थः' इस प्रथम अर्थ शब्द का पारिशेष्य-प्रमाण से 'वाच्य' अर्थ हो जाने पर ध्वनि लक्षण में अव्याप्ति नामक दोष आता है। क्योंकि एकमात्र वाच्य अर्थ ही व्यञ्जक नहीं होता,

व्यंग्य या वाच्य से प्रतीयमान अर्थ भी व्यञ्जक होता है और वह अर्थ भी ध्वनि माना जाता है 'एवं वादिनि देवर्षौ' में वाच्य अर्थ से अवहित्था या लज्जा व्यक्त होती है और उससे शिव विषयक पार्वतीनिष्ठ रति। यहाँ दूसरा लज्जा या अवहित्था अर्थ तीसरे (रति) अर्थ का व्यञ्जक होता है और ध्वनि उसे भी माना जाता है। उक्त अर्थ के अनुसार यदि ध्वनित्व केवल वाच्यरूपी व्यञ्जक तक सीमित हो जाएगा तो लज्जा आदि अर्थों में, जो वस्तुतः व्यञ्जक हैं, ध्वनिलक्षण न जाएगा। यही अव्याप्तिदोष होगा। क्योंकि ऐसे अर्थों में भी व्यञ्जकत्वमूलक ध्वनित्व स्वतः ध्वनिकार ने माना है।

शब्द प्रमाण द्वारा अर्थ के उभयार्थविषयकत्व का खण्डन करते हुए अनुमितिवादी कहता है— (पूर्वपक्ष) यदि 'अर्थः' शब्द का अर्थ वाच्य और व्यंग्य दोनों ही अर्थ माने जाएँ जैसा कि 'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः' कारिका द्वारा आभास मिलता है तो उक्त अव्याप्ति दोष मिट जाता है—(उत्तर पक्ष) किन्तु वह सम्भव नहीं क्योंकि उक्त युक्ति से तमर्थम् में आए तत्पद से युक्त अर्थशब्दका अर्थ अनन्तरोक्त प्रतीयमान अर्थ हो जाने पर वह व्यंग्य कोटि में चला जाता है, तब व्यञ्जक रूप से वाच्यार्थ ही शेष रहता है तथा स्वयं आनन्दवर्धन ने 'अर्थः' की व्याख्या 'अर्थो वाच्यविशेषः' की है। उनका यह वाक्य ही प्रमाण है कि 'अर्थः' का अर्थ वाच्य ही है। अतः अव्याप्ति दोष बना ही रहता है।

अस्तु वोभयार्थविषयः। तथाप्यतिव्याप्तिर्लक्षणदोषः, यत्र वाच्यार्थाद्वस्तुमात्रेणैकेन द्वित्रैर्वान्तरिता वस्तुमात्रस्यैव साध्यस्य प्रतीतिस्तत्रापि ध्वनित्वापत्तेः, तल्लक्षणानुगमाविशेषात्।

न च तत् तत्रेष्यते, चारुतातिवृत्तेः। व्यभिचारिभावालङ्कारान्तरिताया एव तस्या ध्वनिविषयभावाभ्युपगमात्, अन्यत्र तु तद्विपर्ययात्। चारुत्वाचारुत्वनिश्चये च काव्यतत्त्वविदः प्रमाणम्।

अथवा (आँखें बन्द करके) अर्थः शब्द उभयार्थ विषयक ही मान लिया जाय, तब भी लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है। क्योंकि वहाँ भी ध्वनित्व मानना होगा जहाँ वाच्यार्थ से केवल किसी एक वस्तु के अथवा दो तीन वस्तुओं के बाद उसी वस्तुमात्र की साध्यरूप से प्रतीति होती है क्योंकि ध्वनि का लक्षण वहाँ भी घटित हो जायगा और वहाँ वह (ध्वनित्व) माना नहीं जाता क्योंकि वहाँ तक जाते समय चारुत्व या चमत्कार उड़ जाता है। वह उसी ध्वनि तक रहता है जो व्यभिचारिभाव अथवा अधिक से अधिक अलंकार ध्वनि के बाद प्रतीत होती हो, अन्य ध्वनियों में वह उलट जाता है। जहाँ तक चारुत्व और अचारुत्व का प्रश्न है उसके विषय में काव्यतत्त्ववेत्ता जन प्रमाण हैं।

विमर्श : ध्वनित्व वहाँ माना जाता है जहाँ एक ओर व्यंग्यत्व हो और दूसरी ओर प्रधान चमत्कार। अनुमितिवादी की मान्यता है कि चमत्कार केवल उन व्यंग्यों में रहता है जो वाच्य से बिना किसी वस्त्वन्तर प्रतीति के व्यवधान के प्रतीत होते हैं अथवा व्यवधान होने पर भी केवल व्यभिचारिभाव या अलंकार के व्यवधान पर। यदि केवल वस्तुमात्र से वह एक ही क्यों न हो ऐसे व्यंग्य की प्रतीति में जो स्वयं वस्तुमात्र हो विघ्न पड़ जाता है तो उसमें चमत्कार नहीं रहता। अनेक वस्तुओं की प्रतीति के व्यवधान के बाद प्रतीति होने वाले वस्तुमात्र व्यंग्य की तो बात ही दूर है। यदि 'अर्थः' शब्द का अर्थ वाच्य और व्यंग्य दोनों ही अर्थ किया जाएगा

तो उन वस्तुमात्र व्यंग्यों में भी ध्वनिलक्षण चला जाएगा जिनकी प्रतीति एक या अनेक वस्तुमात्र प्रतीति के व्यवधान के बाद होती है। फलतः अतिव्याप्ति दोष होगा ही।

कुछ ऐसे उदाहरण उपस्थित करते हैं जिनमें एक या अनेक वस्तु मात्र की प्रतीति के व्यवधान के बाद वस्तुमात्र व्यङ्ग्य की प्रतीति देखी जाती है—

तत्रैकेन वस्तुमात्रेणान्तरिता सा यथा—

'सिहिपिञ्छकण्णऊरा वहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ।
मुत्ताहलरइअपसाहणाण मज्झे सवत्तीणम्॥'

(शिखिपिच्छकर्णपूरा वधूर्व्याधस्य गर्विणी भ्रमति।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम्॥)

अत्र हि वक्ष्यमाणप्रकारेण व्याधवध्वाः सपत्नीभ्यः सौभाग्यातिरेकोऽनुमेयः। स चाविरतसम्भोगसुखासङ्गनिस्सहतया पत्युर्मयूरमात्रमारणक्षमतयानुमीयमानयान्तरितः।

उनमें एक वस्तुमात्र से व्यवहित वस्तुमात्र प्रतीति यथा—'मोतियों से अलंकृत सपत्नियों के बीच केवल मोरंगे का करनफूल पहने हुई बहेलिये की बहू गर्व के साथ घूमती है।'

यहाँ, जैसा कि आगे (तृतीय विमर्श में) कहा जाएगा, व्याधवधू का सपत्नियों की अपेक्षा अधिक सौभाग्य अनुमेय है वह अनुमित हो रही पति की निरन्तर सम्भोगसुख के नशे से केवल मोर को ही मार सकने की शक्ति से व्यवहित है।

प्रस्तुत पद्य में व्याधवधू के सपत्नियों के बीच गर्वपूर्वक भ्रमण का कारण पति का स्नेह है, वह शिखिपिच्छकर्णपूरा पद से प्रतीत होने वाली व्याधनिष्ठ मयूरमात्रमारणशक्ति के बाद प्रतीत होता है।

द्वाभ्यामन्तरिता यथा—

'वाणिअअ हत्थिदन्ता कत्तो अह्माण वग्घकित्ती अ।
जावलुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोह्ना॥'

(वाणिजक ? हस्तिदन्ता कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तिश्च।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा॥

अत्र हि वक्ष्माणप्रकारेण वृद्धव्याधेन वाणिजकं प्रति हस्तिदन्ताद्यभावप्रतिपादनाय व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिः प्रयुक्ता। यथा नात्र तुषारस्पर्शो धूमादिति।

हस्तिदन्तव्याघ्राजिनादिसद्भावो ह्यस्मद्गृहे समर्थस्य सतः सुतस्य तद्व्यापादनव्यापारपरतया व्याप्तः। तद्विरुद्धं च स्नुषासौभाग्यातिरेकप्रयुक्तमविरतसम्भोगसुखासङ्गजनितमस्य निस्सहत्वम्। तत्कार्यं च स्नुषाया चिलुलितालकमुखीत्वमिति।

दो वस्तुमात्र से अन्तरित यथा—सौदागर भाई, हमारे यहाँ हाथी दाँत और बाघ की खाल अब कहाँ, जब से मुँह पर लटें लटका कर पतोहू ने घूमना शुरू किया है।

यहाँ कहे जाने वाले (तृतीय विमर्श में) ढँग से बूढ़े बहेलिये ने पुराने व्यापारी से हाथी दाँत आदि के अभाव की बात कहते हुए व्यापक विरुद्ध कार्य की उपलब्धि कह दी, जैसे यहाँ ठंढक नहीं है, धुआँ होने से।

हाथी दाँत और बाघ की खाल आदि का सद्भाव हमारे यहाँ समर्थ पुत्र की उन्हें मारने की लगन से व्याप्त है। उसके विरुद्ध है पतोहू के अत्युत्कट आकर्षण से निरन्तर सम्भोगसुख की चाट के कारण उत्पन्न असामर्थ्य उसका फल है पतोहू का अलकसंवृत चेहरा।

विमर्श : यह बात घर आये किसी पुराने सौदागर से बूढ़ा बहेलिया कह रहा है। पहले के समान अब ऊँचा सौदा मेरे घर नहीं, जब से गर्वीली पतोहू का घर में राज हुआ है। इसका अभिप्राय व्यक्त करते हुए ग्रन्थकार ने अनुमान प्रक्रिया का आश्रय लिया है। अनुमान प्रक्रिया का एक विशिष्ट परिभाषिक शब्द है 'व्याप्त' जिसका उन्होंने प्रयोग किया है। व्याप्त का अर्थ व्याप्ति युक्त है। व्याप्ति का अर्थ है 'नियत साहचर्य', जैसे धूम का वह्नि के साथ। धूम जहाँ भी रहेगा बिना अग्नि के नहीं रह सकता। अग्नि धूम के बिना भी अयोगोलक आदि में रहती है। इसलिए धूम वह्नि का व्याप्य और वह्नि धूम का व्यापक माना जाता है। व्याप्य को व्याप्त भी कह दिया जाता है इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि धूम वह्नि से व्याप्त है। इसी प्रकार प्रकृत में बहेलिये के घर व्याघ्रचर्म आदि का अस्तित्व तभी सम्भव है जब उसके युवक पुत्र में व्याघ्रादि वध की लगन हो। अर्थ यह है कि व्याध पुत्र की व्याघ्रादि वधपरता व्यापक है। और घर में व्याघ्रचर्म आदि का सद्भाव व्याप्य। फलतः व्याघ्रचर्म आदि का सद्भाव व्याधपुत्र की व्याघ्रादि वधपरता से व्याप्त हुआ। प्रस्तुत पद्य में पतोहू का लुलितालकमुखीत्व बतलाया गया है जो व्याधपुत्र के उस व्याघ्रादि वध से वैमुख्य का (कार्य) फल है, जो व्याधपुत्र की व्याघ्रादि वधपरतारूपी व्यापक के विरुद्ध है। यह प्रयोग ठीक वैसा ही हुआ जैसे धूम से वह्नि के अनुमान में व्यापक जो वह्नि है उसके विरुद्ध पदार्थ जल का कार्य ठंढक कहकर उसके अभाव का, व्याप्य धूम द्वारा अनुमान किया जाय।

इस स्थल में प्रमुख वाक्यार्थ स्नुषापरिष्वङ्ग द्वारा उसके सौभाग्यातिशय का अनुभाव होता है, और उसके परिणामस्वरूप वहू के लुलितालकमुखीत्व द्वारा पुत्र के अविरतसम्भोगसुखासङ्गपरत्व का, इसके बाद व्याघ्रवधवैमुख्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार वह प्रतीति दो वस्तुध्वनियों से अन्तरित है एक—वधूसौभाग्यतिशय और दूसरे सम्भोगसुखासङ्गपरत्व —। फलतः उसमें चमत्कार नहीं है। अतः उसे ध्वनि नहीं माना जा सकता, किन्तु उसे भी ध्वनि मानना ही होगा। यदि ध्वनि लक्षण के अर्थ शब्द वाच्य और वाच्य से प्रतीयमान दोनों अर्थ का संग्रह किया गया।

त्रिभिरन्तरिता यथा—

'विवरीअसुरअसमए वह्मं दड्ठूण णाहिकमलम्मि।
हरिणो दाहिणणअणं चुम्बइ हिरिआउला लच्छी॥'

(विपरीतसुरतसमये ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमले।
हरेर्दक्षिणनयनं चुम्बति ह्रियाकुला लक्ष्मीः॥)

अत्र हि लक्ष्मीलज्जानिवृत्तिस्साध्या। तत्र च भगवतो हरेर्दक्षिणस्याक्ष्णः सूर्यात्मनो लक्ष्मीपरिचुम्बनं हेतुः। तद्धि तस्य तिरोधानलक्षणमस्तमयमनुमापयति। सोऽपि च साहचर्यान्नाभिनलिनस्य सङ्कोचम्। सोऽपि ब्रह्मणो दर्शनव्यवधानमिति त्रयाऽन्तरितानुमेयार्थप्रतिपत्तिः। तदियमुपायपरम्परो-

पारोहनिस्सहा न रसास्वादान्तिकमुपगन्तुमलमिति प्रहेलिकाप्रायमेतत् काव्यमित्यतिव्याप्तिः।

तीन से अन्तरित यथा—'विपरीत सुरत के समय नाभि कमल पर बैठे ब्रह्मा को देखकर बुरी तरह लजाई लक्ष्मी विष्णु का दक्षिण नेत्र चूमने लगी।'

यहाँ लक्ष्मी की लज्जानिवृत्ति साध्य है। उसमें हेतु है विष्णुभगवान् के सूर्य स्वरूप दाहिने नेत्र का लक्ष्मी द्वारा चुम्बन। वह उसके ढँक जाने रूप अस्त का अनुमान कराता है। वह भी अपने साथ ही नाभिकमल का मुँदना और वह मुँदना भी ब्रह्मा से आँखों की ओट का अनुमान कराता है—इस प्रकार अनुमेयार्थ की प्रतीति तीन से अन्तरित हुई (तीन अर्थों की प्रतीति के बाद हुई) एक के बाद एक उपस्थित होते जाने वाले ये उपाय साध्य प्रत्यायक हेतु सामाजिक के मस्तिष्क में चढ़ नहीं सकते इसलिए रसास्वाद के पास भी पहुँचने में समर्थ नहीं होते, इसलिए केवल ये पहेली जैसे हैं काव्य नहीं—इसीलिए इनमें अतिव्याप्ति होती है।

व्यभिचारिभावव्यवहिता यथा—

'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥'

अत्र ह्युक्तप्रकारेणानुमितकौतुकौत्सुक्यप्रहर्षलज्जादिव्यभिचारिभावान्तरिता गौर्यामाभिलाषिकशृङ्गारावगतिः।

व्यभिचारिभाव से अन्तरित यथा—दोनों चरणों में अलता लगाकर सखी ने हँसी करते हुए पार्वती को आशीर्वाद दिया कि तुम इससे पतिदेव के शिर की चन्द्रकला का स्पर्श करना तो उसने उस पर मुँह से विना कुछ कहे गजरे को चोट की।

इसमें पार्वती में अभिलाष सम्बन्धी शृङ्गार का अनुमान होता है, जो पहले कथित (५१ पृष्ठ पर) क्रम के अनुसार अनुमान द्वारा ज्ञात कौतुक, औत्सुक्य, प्रहर्ष, लज्जा आदि व्यभिचारिभावों की प्रतीति के बाद होता है।

अलङ्कारव्यवहिता यथा—

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि!।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जडराशिरयं पयोधिः॥'

अत्रापि कस्याश्चिदुक्तक्रमेण वदनपूर्णेन्दुबिम्बयो रूप्यरूपकभावोऽनुमितः। तदन्तरिता चानुकार्यावगतिः। सैव ध्वनेर्विषयभावेनोपगन्तव्या, नान्या।

नच व्यवधानाविशेषाद्व्यभिचार्यलङ्कारव्यवधानपक्षेऽप्येतत् समानमिति मन्तव्यं, वस्तुमात्रस्य व्यभिचार्यलङ्कारादीनां च भिन्नजातीयत्वात्। वस्तुमात्रं ह्यनुमेयादत्यन्तविलक्षणस्वभावमग्न्यादेरिव धूमादि। व्यभिचार्यादयस्तु तच्छायानुविधायिनस्तदुपरक्त इव तदालिङ्गिता इवोत्पद्यन्ते न ततोऽत्यन्तविलक्षणा एवेति तद्व्यवधानमन्यदेव वस्तुव्यवधानादित्यसिद्धस्तद्विशेषः।

अलङ्कारोऽप्यलङ्कार्यान्न पृथगवस्थातुमर्हति तयोराश्रयाश्रयिभावेनावस्थानाद् इति तद्व्यवधानस्याप्यविशेषोऽसिद्ध एवेति तदवस्थैवातिव्याप्तिः ॥

अलङ्कार से व्यवहित यथा—

हे चपल नेत्रों वाली सुन्दरि ! मन्दहास लिए तुम्हारा चेहरा अपनी लवण्यमयी कान्ति से दिशामण्डल को तिलतिल करके छा देता है, तब भी यदि इसमें थोड़ा भी क्षोभ नहीं होता तो निश्चित ही यह पयोधि जलराशि (ड-ल के अभेद से जडराशि अर्थात् जडत्व-मूर्खता की खाई) है।

यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से किसी सुन्दरी के मुख और पूर्णेन्दु का रूप्यरूपकभाव अनुमानगम्य है । उसके बाद अनुकार्य का बोध होता है। उसी को ध्वनि के विषयरूप से स्वीकार किया जाना चाहिए, किसी अन्य को नहीं।

ऐसा नहीं मानना चाहिए कि (वस्तुमात्र और अलङ्कार तथा व्यभिचारी दोनों के) व्यवधान (भी व्यवधानत्वेन) एक समान होने से व्यभिचारी भाव और अलङ्कार प्रतीतिजनित व्यवधान होने पर भी यह (चमत्कारशून्यता) मानी जाय, क्योंकि केवल वस्तु और व्यभिचारी, अलङ्कार आदि भिन्न भिन्न ढंग के तत्त्व हैं। जो वस्तुमात्र है उसका स्वभाव अनुमेय से एकदम भिन्न है जैसे अग्नि आदि से धूम आदि का। व्यभिचारी आदि तो उसकी (रसरूप अनुमेय की) छटा लिए रहते हैं इसलिए, उससे हिले मिले से, आलिङ्गित से उत्पन्न होते हैं। (उभार खाते हैं) उससे एकदम भिन्न नहीं होते, इसलिए उनका व्यवधान वस्तुमात्र के व्यवधान से एकदम भिन्न है—इसलिए उसे (व्यभिचारी आदि के व्यवधान को वस्तुमात्र के व्यवधान से) अभिन्न कहना युक्ति सिद्ध नहीं। अलङ्कार भी अलंकार्य से पृथक् नहीं रह सकता, क्योंकि उनका अस्तित्व आश्रयाश्रयिभावमूलक है। इसलिए उसके व्यवधान को भी अविशेष (वस्तुमात्र के व्यवधान से अभिन्न) कहना युक्तिसिद्ध नहीं; इसलिए अतिव्याप्ति वैसी ही रही आई।

विमर्श : उक्त संदर्भका आशय केवल इतना ही है कि व्यभिचारी भावों और अलङ्कार की प्रतीति के व्यवधान के बाद प्रतीत होने पर भी रस प्रतीति में चमत्कार होता है-क्योंकि वे रस के तारतम्य लिए हुए अन्तरङ्ग तत्त्व हैं। व्यभिचारी रस स्वरूप से पृथक् नहीं ही होता, अलङ्कार भी अपने आश्रय अर्थ या शब्द को छोड़कर नहीं रह सकता इसलिए वह भी रस का व्यभिचारी से कुछ उन्नीस अन्तरङ्ग है क्योंकि रस विभावादि रूप अर्थ से भिन्न नहीं और 'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते' के अनुसार विभावादि स्वप्रत्यायक शब्दों से भिन्न नहीं।

यद्यर्थ इति वाच्योऽर्थोऽभिमतोऽव्याप्तिरेव सा।
येनैवंवादिनीत्यादावर्थस्यार्थान्तराद्गतिः ॥ २१ ॥
अथोभौ तर्ह्यतिव्याप्तिर्द्वित्रवस्तुव्यवायिनि ।
प्रहेलिकादिरूपेऽपि काव्ये ध्वन्यात्मता यतः ॥ २२ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकौ ।

उक्त प्रपञ्च का सार दो श्लोकों में संगृहीत करते हैं—

यदि 'अर्थः' इससे वाच्य अर्थ अभिमत हो (तो भी) वही अव्यप्ति रही आती है, क्योंकि 'एवं वादिनि देवर्षौ' आदि में अर्थान्तर से अर्थ की प्रतीति होती है। यदि दोनों (अर्थ अभिमत हों) तो प्रहेलिकादिरूप दो तीन वस्तुमात्रां से अन्तरित अर्थ की प्रतीतिवाले काव्य में ध्वनित्व हो जाने के कारण अतिव्याप्ति होती है।

केवलमत्रैवार्थस्योभयात्मनः सामान्येन यः काव्यात्मत्वेन व्यपदेशः सोऽनुपपन्नः। स हि प्रतीयमानार्थैकविषयो युक्तः, तस्यैव काव्यजीवितभूतस्य प्रधानतया ध्वनित्वेनेष्टत्वात्। यत् स एवाह 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरि'ति। 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ' इति। 'प्रतीयमाना त्वन्यैव भूषा लज्जेव योषित' इति च। तेन 'यः काव्यस्य व्यवस्थित' इति तत्रोचितः पाठः।

केवल यहाँ (योऽर्थः सहृदयश्लाघ्य में) वाच्य और प्रतीयमान दोनों अर्थों में अर्थ शब्द का प्रयोग किया और फिर उसी अर्थ को अर्थत्वेन (न वाच्यत्वेन और न प्रतीयमानत्वेन) काव्यात्मा जो कहा गया वह ठीक नहीं। काव्यात्मा संज्ञा एकमात्र प्रतीयमान अर्थ के लिये ही ठीक है, क्योंकि काव्यात्माभूत उसीको प्रधानता के कारण ध्वनि नाम से पुकारना अभिमत है। जैसा कि स्वयं उन्होंने कहा है—काव्यस्यात्मा ध्वनिः, काव्यस्यात्मा स एवार्थः और प्रतीयमाना त्वन्यैव भूषा लज्जेव योषिताम्'। इसीलिये वहाँ 'यः काव्यस्य व्यवस्थितः' यह पाठ ठीक है।

विमर्श : ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा ध्वनि को माना। ध्वनित्व प्रतीयमान अर्थ में ही रहता है' वाच्य में नहीं। वाच्य व्यञ्जक होने से ध्वन्यतेऽनेन इस व्युत्पत्ति के आधार पर ध्वनि कह दिया जाता है वस्तुतः प्राधान्येन प्रतीयमान या ध्वन्यमान अर्थ ही ध्वनि और काव्यात्मा माना गया है। ऐसी स्थिति में अनुमितिवादी का कहना है कि 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः' कारिका में 'अर्थ' का अर्थ अर्थसामान्य है और उसे काव्यात्मा कहा गया है, उससे प्रतीयमान के समान वाच्य भी काव्यात्मा माना जा सकता है जैसा कि स्वयं ध्वनिकार को अभिमत नहीं है। उन्होंने केवल प्रतीयमान अर्थ को ही काव्य की आत्मा माना है—उनके इस सिद्धान्त पर अनेक वाक्य हैं—काव्यस्यात्मा ध्वनिः, काव्यस्यात्मा स एवार्थः और प्रतीयमाना त्वन्यैव भूषा लज्जेव योषिताम्' आदि। इस आपत्ति के संशोधनार्थ व्यक्तिविवेककारने पाठ परिवर्तन किया—अर्थः सहृदयश्लाघ्यो यः काव्यस्य व्यवस्थितः वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ। इस पाठान्तर में अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेदमात्र स्पष्ट कर दिए गए, उनका काव्यात्मत्व, नहीं कहा गया जिससे आपत्ति उपस्थित होती थी।

किञ्चात्र वाशब्दो विकल्पार्थो वा स्यात् समुच्चयार्थो वा। न तावद्विकल्पार्थः पक्षान्तरासम्भवस्य व्युत्पादितत्वात्। सम्भवे वास्य द्विवचनानुपपत्तिः, तयोस्समुच्चयाभावाद्। यथा 'शिरः श्वा काको वा द्रुपदतनयो वा परिमृशेत्' इत्यत्र बहुवचनस्य। समुच्चयार्थत्वे यत्र शब्दार्थयोरेकैकस्य व्यञ्जकत्वं तत्र ध्वनित्वमिष्टं न स्यात्।

इसके अतिरिक्त यहाँ (यत्रार्थः शब्दो वा इस ध्वनि लक्षण में) वा शब्द विकल्पार्थक हो सकता है अथवा समुचयार्थक। विकल्पार्थक हो नहीं सकता क्योंकि यह सिद्ध किया जा चुका है कि दूसरा पक्ष सम्भव नहीं है। सम्भव भी हो तो द्विवचन असिद्ध होता है, क्योंकि उनका समुच्चय नहीं है। जैसा 'शिरः श्वा काको वा द्रुपदतनयो वा परिमृशेत्' में बहुवचन समुचयार्थक मानने पर जहाँ शब्द अर्थ दोनों मेंसे केवल एक व्यञ्जक होता है वहाँ ध्वनित्व मान्य होते हुए भी माना नहीं जा सकेगा।

विमर्श : वा शब्द विकल्पार्थक होता है और समुचयार्थक। अनुमितिवादी का प्रश्न है कि दोनों मेंसे वह किस अर्थ में प्रयुक्त है। उसका कथन है कि दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होने पर ध्वनि लक्षण

में दोष आता है। विकल्पार्थक मानने पर अर्थ होगा—'जहाँ शब्द अथवा अर्थ उपसर्जनीकृतास्वार्थ होकर उस अर्थकी अभिव्यक्ति कराएँ।' उसमें अर्थके समान शब्द भी व्यञ्जक माना जाएगा। वस्तुतः पूर्वोक्त दृष्टिकोण से शब्द का कोई अभिधातिरिक्त व्यापार होता नहीं जिससे वह व्यञ्जक बने। अतः केवल अर्थ ही व्यञ्जकरूप से अवशिष्ट रहता है, तब विकल्प द्वारा शब्द को भी व्यञ्जक मानने का पक्ष ही नहीं उठता। यदि आँख बंद कर शब्द को भी व्यञ्जक मान लिया जाय तो व्यङ्क्तः यह द्विवचनान्त क्रियापद अनुपपन्न होगा क्योंकि विकल्प से प्राप्त पदार्थों का अन्वय एक साथ नहीं होता अतः उनके क्रिया आदि पदों में उन्हीं स्वतन्त्र पदों के वचन पुरुष प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'शिर को कोई भी छुए—कुत्ता, कौवा या धृष्टद्युम्न।' यहाँ कुत्ता आदि का छूने में स्वतन्त्र रूप से अन्वय है अतः उसमें कर्त्ता के अनुसार एक वचन ही है, बहुवचन नहीं। ठीक ऐसे ही वा शब्द के विकल्पार्थक होने पर 'शब्दो वा व्यनक्ति अर्थो वा' यह वाक्य योजना होगी; व्यङ्क्तः नहीं।

यदि समुच्चयार्थक माना जाय तो विकल्पार्थक मानने से उठनेवाले दोष तो हट जाते हैं, किन्तु एक अन्य दोष आ जाता है। वा शब्द के समुच्चयार्थक होने से ध्वनित्व सर्वदा शब्द और अर्थ दोनों पर रहेगा, एक एक पर नहीं। ऐसी स्थिति में जिन स्थलों में केवल शब्द या केवल अर्थ ही व्यञ्जक होता है वहाँ ध्वनि लक्षण की अव्याप्ति होगी। लोचनकार ने वा शब्द को उभयार्थक माना है। प्राधान्य को लेकर विकल्पार्थक और वास्तविक स्थिति को लेकर समुच्चयार्थक। जहाँ शब्द का व्यञ्जकत्व अर्थ की अपेक्षा प्रधान हो वहाँ और अर्थ का शब्द की अपेक्षा वहाँ—दोनों स्थलों में व्यङ्ग्य की अपेक्षा प्रधान व्यञ्जक उपसर्जन ही रहेगा। साथ ही काव्य में अर्थ शब्दप्रमाण से ही ज्ञेय वेद्य होने से अर्थ जहाँ (विवक्षितवाच्यध्वनि में) प्रधानतया व्यञ्जक होगा, वहाँ शब्द भी व्यञ्जक होगा ही, भले ही वह अप्रधानतया व्यञ्जक हो। इसी प्रकार शब्द में जहाँ (अविवक्षितवाच्य में) प्रधान व्यञ्जकता रहेगी वहाँ भी अर्थ अप्रधानरूप से व्यञ्जक होगा ही क्योंकि शब्द व्यञ्जक तभी होता है जब उससे अर्थप्रतीति होती है। लोचनकार ने 'व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह' से लेकर 'इति सर्वत्रशब्दार्थयोर्ध्वनिव्यापारः' तक इस विषय का स्पष्ट निरूपण किया है। यह अंश स्वयं ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त की इस व्याख्या के अनुसार वा शब्द के विकल्पार्थक होने पर भी समुच्चयार्थ को लेकर 'व्यङ्क्तः' यह द्विवचन बन जाता है। साथ ही समुच्चय पक्ष में भी केवल एक एक की व्यञ्जकता का अभाव होने से दोष नहीं आता।

शब्दस्य च विशेषणमनुपादेयमेव स्याद् अर्थस्य विशिष्टत्वेनैव तदवगतिसिद्धेः। अत एव च लक्षणवाक्ये दीपकाद्यलङ्कारमुखेनोपमाद्यभिव्यक्तौ ध्वनित्वमिच्छता गुणीकृतात्मनोऽभिधाया उपादानं न कृतम्। अन्यथा तदपि कर्त्तव्यं स्यात्। तदाश्रितत्वादर्थस्यार्थाश्रितत्वाच्चालङ्काराणामिति पक्षद्वयमप्यनुपपन्नम्।

शब्द का विशेषण (उपसर्जनीकृतार्थत्व) उपादेय नहीं है। उसकी प्रतीति अर्थ के विशेषण (उपसर्जनीकृतात्मत्व) से हो जाती है। इसीलिए तो लक्षणवाक्य (यत्रार्थः शब्दो वा) में दीपक आदि अलंकार से अभिव्यक्त होते उपमा आदि अलंकार में ध्वनित्व मानते हुए भी गुणीकृतात्मा-अभिधा का उपादान नहीं किया। नहीं तो वह भी करना चाहिए। अर्थ उसके (अभिधा) आश्रित हैं और अर्थ के आश्रित अलंकार—इस प्रकार दोनों ही पक्ष (विकल्प और समुच्चय) ठीक सिद्ध नहीं होते।

विमर्श : इस विषय का पूर्ण विचार आरम्भ में ही किया जा चुका है। प्रकृत में 'वा' शब्द के खण्डन में ग्रन्थकार ने उसे दुहरा दिया।

अत्र केचिद्विद्वन्मानिनो द्विवचनसमर्थनामनोरथाक्षिप्तचित्ततया वाच्यवाचकयोर्विस्मृतसुप्रसिद्धप्रतीतिक्रमभावास्तयोरेककालिकतां शब्दस्योक्तनयनिरस्तामपि व्यञ्जकतां पश्यन्तस्तन्निबन्धनां ध्वनिभेदयोरविवक्षितविवक्षितान्यपरवाच्ययोर्ध्वननव्यापारं प्रति पर्यायेणान्योन्यसहकारितां, तदपेक्षां चानयोः प्रधानेतरतामुपकल्प्य सहकारितया व्यक्तिक्रियां प्रत्युभयोरपि कर्तृत्वात् तदपेक्षो व्यङ्क्त इति द्विवचननिर्देशः, प्राधान्यापेक्षश्च 'यत्रार्थः शब्दो वेति' विकल्प इति मन्यमानाः 'व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह—

यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्य सहकारिता न त्रुट्यति। अन्यथाऽज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात्। विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव। विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोर्ध्वननव्यापारः। एवञ्च भट्टनायकेन द्विवचनं यद् दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव। अर्थः शब्दो वेति तु विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण' इति यदाहुस्तद् भ्रान्तिमात्रमूलं न तत्त्वमित्यलमवस्तुनिर्बन्धेन।

इस विषय में कुछ पंडिताई जताने वाले लोगों (अभिनवगुप्त) का चित्त द्विवचन के समर्थन के फेर में पड़ गया, फलतः वे वाच्य और वाचक की प्रतीति के अतिप्रसिद्ध क्रम को भूल गए और उन्हें दोनों की एककालिकता दिखाई देने लगी, साथ ही शब्द की प्रोक्तन्याय से खण्डित व्यञ्जकता भी। उन्होंने इन दोनों भ्रमों के आधार पर अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य-नामक ध्वनि भेदों में ध्वननव्यापार के प्रति (शब्दार्थों में) एक दूसरे की सहकारिता भी मान ली, और उसके आधार पर (शब्दार्थों की) प्रधानता तथा अप्रधानता की कल्पना करके सहकारिता के कारण व्यक्तिक्रिया के प्रति दोनों ही का कर्तृत्व होने से (एक ओर) 'व्यङ्क्तः' यह द्विवचन निर्देश और (दूसरी ओर) प्रधान्य के आधार पर 'यत्रार्थः शब्दो वा' यह विकल्प युक्तियुक्त माना। यही मानते हुए उन्होंने जो कहा कि—'व्यङ्क्तः इस द्विवचन से कहा—कि यद्यपि अविवक्षित वाच्य में शब्द ही व्यञ्जक है, तथापि अर्थ की सहकारिता टूटती नहीं, नहीं तो ऐसा भी शब्द जिसका अर्थ ज्ञात न हो, व्यञ्जक बन बैठेगा। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में शब्द की सहकारिता भी रहती ही है। क्योंकि वह अर्थ भी विशिष्ट शब्द का वाच्य न बनने तक व्यञ्जक नहीं हो पाता, इसलिए सभी (ध्वनि स्थलों में) शब्द और अर्थ दोनों ही में ध्वननव्यापार रहता है। और इसीलिए भट्टनायक ने जो द्विवचन पर दोष दिया वह गजनिमीलिका से। 'अर्थः शब्दो वा' यह जो विकल्पाभिधान है वह प्रधानता की दृष्टि से'—वह एक मात्र भ्रांति मूलक है, तथ्य नहीं। अस्तु इस प्रकार बेकाम की बात पर अधिक जोर देने से क्या?

विमर्श : अनुमितिवादी का कथन है कि अभिनवगुप्त ने सहृदयालोकलोचन में जो व्यङ्क्तः इस द्विवचन का समर्थन किया है वह भ्रांतिपूर्ण है। उन्होंने इस द्विवचन को सिद्ध करने के लिए ध्वननव्यापार में शब्द और अर्थ दोनों की सहकारिता मानी है। वह सम्भव नहीं। सहकारिता उन दो तत्त्वों में सम्भव हो जिनमें एककालिकता या यौगपद्य हो। अर्थ और शब्द की प्रतीति में एककालिकता

नहीं है। क्योंकि शब्द की प्रतीति पहले हो जाती है तब अर्थ की प्रतीति होती है। प्रतीति ज्ञान का पर्याय है। ज्ञान तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। दूसरा कोई ज्ञान उसके बाद होता है। मन के अणु होने से भी एक बार एक हीं ज्ञान होता है। इस प्रकार वाच्य और वाचक के ज्ञानों का परस्पर साहचर्य सम्भव ही नहीं। उसके अभाव में एककालिकता सम्भव नहीं और इसीलिए उनका एक क्रिया में एक साथ अन्वय भी सम्भव नहीं। फलतः 'व्यङ्क्तः' यह द्विवचन भी ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त शब्द की शक्ति केवल एक है अभिधा। उसमें व्यापारान्तर का सर्वथा अभाव है। ऐसी स्थिति में किसी अन्य क्रिया में वाच्य के साथ उसका साहचर्य हो भी सकता था, 'व्यङ्क्तः' की व्यक्ति क्रिया में तो उसका अन्वय ही सम्भव नहीं, अन्वय के बाद साहचर्य की बात तो दूर रही। और इस प्रकार जब शब्द में व्यञ्जकत्व ही नहीं तो व्यञ्जनव्यापार के प्रति उसकी प्रधानता या अप्रधानता का प्रश्न नहीं उठता, फलतः प्राधान्य अप्राधान्य के आधार पर उठने वाला विकल्प भी निर्मूल हो जाता है। इस प्रकार शब्द अर्थ का न तो समुच्चय सिद्ध होता और न विकल्प। फलतः 'वा' शब्द का उपादान एक झमेले की ही चीज ठहरता है।

अनुमितिवादी के इस कथन का तात्पर्य है—शब्द में व्यञ्जकता का अभाव अतः उसके आधार पर वाच्य के साथ व्यक्तिक्रिया में उसके अन्वय का अभाव अतः उसके आधार पर प्राधान्या-प्राधान्य का अभाव—और इन तीनों तथ्यों के आधार पर विकल्प या समुच्चय बोधक 'वा' शब्द की उपयोगिता का अभाव।

वस्तुतः व्यक्तिवादी की पैठ अनुमितिवादी की अपेक्षा अधिक है। यह आवश्यक नहीं कि शब्द और अर्थ की प्रतीति में साहचर्य तभी हो जब उनका क्रम दूर हो जाय। शब्द की प्रतीति और अर्थ की प्रतीति के मुहुर्मुहुः अनुसन्धानात्मक परिज्ञान से उनका आहार्य साहचर्य असम्भव नहीं, अतः उनके प्राधान्य अप्राधान्य और तन्मूलक समुच्चय तथा विकल्प भी असम्भव नहीं। पिण्डात्मक पदार्थों में भौतिक साहचर्य के अभाव से ज्ञानात्मक पदार्थों में मानस साहचर्य का अभाव सिद्ध नहीं होता। इसीलिए व्याकरणदर्शन ने स्फोट की कल्पना की है, और न्यायदर्शन ने संस्कारात्मक वर्ण समुदाय की।

किञ्च तमिति तदः पुंस्त्वेन निर्देशोऽनुपपन्नः। तस्यानन्तरप्रक्रान्तार्थपरा-मर्शिनस्तल्लिङ्गतापत्तेः। न चात्र तल्लिङ्गताविशिष्टः कश्चिदर्थः प्रक्रान्तः, वस्तुतो नपुंसकलिङ्गस्यानन्तरं प्रक्रान्तत्वात्। तेन तत्रैव—

'प्रतीयमानः पुनरन्य एव सोऽर्थोऽस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
योऽसौ प्रसिद्धावयवातिरिक्तश्चकास्ति लावण्यमिवाङ्गनासु॥' इति,

'सरस्वती स्वादुतमं तमर्थमि'ति च पाठविपर्यासः कर्तव्यः। न त्वत्रैव 'वस्तु तदि'ति। तत्रैव हि पाठविपर्यासे पर्यायप्रक्रमभेदः पुंस्त्वनिर्दे-शश्च परिहृतौ भवतः। अत्र त्वेक एव तदः पुंस्त्वनिर्देशदोषः। एषैव च प्रमेयशय्या श्रेयसी।

इसके अतिरिक्त 'तम्' (तमर्थमुसर्जनीकृ०) इस तद् शब्द का पुंलिङ्गान्त निर्देश अशुद्ध है। वह पिछले सन्दर्भ से चले आए अर्थ का परामर्शक है अतः उस लिङ्ग से (पुँल्लिङ्ग से) विशिष्ट होना आपत्तिजनक है। उस लिङ्ग से युक्त कोई भी अर्थ पहले से यहाँ नहीं चला आ रहा है, वस्तुतः नपुंसकलिङ्ग ही पीछे से चला आता (लिङ्ग) है। इस कारण वहीं (पीछे ही) 'प्रतीयमानः पुनरन्य एव सोऽर्थोऽस्ति…योऽसौ तिरिक्तश्चकास्ति…'—इस प्रकार और 'सरस्वती स्वादुतमं

तमर्थम्' इस प्रकार पाठ परिवर्तन करना चाहिए। न कि (यत्रार्थः शब्दो वा) वस्तु तदुपस० इस प्रकार यहीं। वहीं का पाठ बदलने से पर्याय प्रक्रमभेद दोष और पुंस्त्व निर्देश दोष दूर होते हैं, यहाँ केवल एक ही—तद् का पुंस्त्वनिर्देशदोष। इसी प्रकार का पदार्थ विन्यास अधिक अच्छा है।

विमर्श : ध्वन्यालोक की कारिकाओं में एक ही अर्थ पदार्थ कहीं पुँल्लिङ्ग कहीं नपुंसकलिङ्ग और पुनः कहीं पुँल्लिङ्ग में मिलता है—'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः' इस प्रथम उद्योत की द्वितीय कारिका में अर्थ शब्द का प्रयोग अपने लिङ्ग में (पुँल्लिङ्ग में) ही है। उसी अर्थ—को चतुर्थ 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति' इस कारिका में वस्तु नाम से उल्लिखित कर नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त किया गया और पाँचवीं 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' कारिका में पुनः पुँल्लिङ्ग में। इसके पश्चात् पुनः छठी 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' कारिका में नपुंसकलिङ्ग में। व्यक्तिविवेककार का कथन है कि ध्वनिलक्षण की १३वीं कारिका में उस अर्थ को तम् अर्थम् कहकर पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। उसे 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' और 'सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु' के अनुसार वस्तु शब्द का परामर्शक होने से नपुंसकलिङ्ग में पढ़ा जाना चाहिए। उन्होंने इस आपत्ति का संशोधन चौथी और छठी कारिका को बदल कर किया—वहाँ प्रतीयमान की जगह पुँल्लिङ्ग प्रतीयमानः, और स्वादुतमं तमर्थम् पाठ किया। वस्तुतः उनका यह संशोधन कोई आवश्यक कार्य नहीं था। आनन्दवर्धन काव्य की भाषा में रहस्यतत्त्व का विश्लेषण सूचना रूप से करते हैं। वे श्लोक चमत्कार के लिए, अर्थ को नपुंसकलिङ्ग में लाने के लिए वस्तु शब्द से कहते हैं। इसमें वक्रोक्तिजीवितकार की आलोचना के अनुसार एक लिङ्ग-वक्रता नामक गुण छिपा रहता है, जो चमत्कार का कारण है।

अपि च काव्यविशेष इत्यत्र काव्यस्य विशिष्टत्वमनुपपन्नम्, काव्यमात्रस्य ध्वनिव्यपदेशविषयत्वेनेष्टत्वात् तस्य रसात्मकत्वोपगमात्। यत् स एवाह—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥'

अपि च, 'काव्यविशेषः' इसमें काव्य का विशिष्टत्व ठीक नहीं। क्योंकि केवल काव्यमात्र को ध्वनि नाम का विषय मानना अभिमत है क्योंकि वही (ध्वनि ही) रसात्मक रूप से मान्य है। जैसा कि उसी ने (ध्वनिकार ने) कहा है—'काव्यस्यात्मा……श्लोकत्वमागतः॥' वही (रसरूप) अर्थ काव्य की आत्मा है। इसी से पहले क्रौञ्च पक्षी के जोड़े के वियोग से उठा आदि कवि (वाल्मीकि) का शोक ही श्लोक बन गया।'

विमर्श : जो काव्य रसात्मक होता है वही ध्वनि माना जाता है। रस और ध्वनि एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। वे दोनों ही काव्य की आत्मा माने गए हैं। 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहा जा चुका है। रस को भी काव्य की आत्मा 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इस उद्धृत पद्य में कह दिया गया है। उक्त पद्य के 'स अर्थः' का अर्थ ध्वन्यालोक की वृत्ति में निर्दिष्ट रसध्वनि है। व्यक्तिविवेककार का कथन है कि रसविशिष्ट होता है केवल काव्य, काव्यविशेष नहीं। इसकी उपपत्ति में वे आगे भी लिखेंगे।

काव्यविशेष इत्यत्रेति। **अत्र विशेषशब्दः प्रभेदपर्यायोऽतिशयपर्यायो वा स्यात्। प्रभेदपक्षे 'काव्यमात्रस्य' इत्यादिनाऽव्याप्तिलक्षणं दूषणमुक्तम्। अतिशयपक्षे 'न च तस्ये'-त्यादिनाऽसम्भवाख्यदोषोपन्यासः। काव्यमात्रस्य सामान्येन गुणीकृतव्यङ्ग्यादेरपि।**

रतिशयो निर्विशेषः सुखास्वादः। 'पाव्यादि'त्यादिना ध्रुवाख्यगीतिसामर्थ्यानुगुण्येन व्यविषयरसस्वरूपवर्णनम्। काव्यविषये तु गानवर्जमिति तदेव रसस्वरूपम्।

काव्यस्य वैशिष्ट्यं स्वरूपकृतं रसकृतं वेति पक्षद्वयम्। रसस्यापि वैशिष्ट्यं चमत्काराशयकृतं वा, भेदान्तरकृतं वा, रसरहितसुन्दरशब्दार्थापेक्षाकृतं, वस्तुमात्रादिव्यङ्ग्यरूपतं वा, अङ्गीभावकृतं वेति पक्षपञ्चकम्।

तत्र सर्वस्य रसवत्त्वेनैकरूपतयेष्टत्वान्न स्वरूपकृतः कश्चिद्विशेषः। कुतः पुनस्तत्कृतः व्यविशेषस्स्यात्। एतेन रसस्य चमत्कारातिशयविशेषपक्षो निराकृतः। भेदान्तरकृतशेषपक्षे तु न तत्कृतः काव्यविशेषः।

भेदान्तरवतः काव्यस्य ध्वनित्वाभावप्रसङ्गेनाव्याप्तिः स्यात्।

रसरहितसुन्दरशब्दार्थापेक्षाकृतविशेषपक्षे तु रसरहितस्य शब्दार्थयुगलस्य काव्यत्वमेव कुतो विशेषग्रहणेन तद्व्यावृत्तिः। वस्तुमात्रादिव्यङ्ग्यकृतविशेषोऽपि नास्ति वस्तुमात्राणां व्यञ्जकत्वाव्यञ्जकत्ववैशिष्ट्ये व्यङ्ग्यवैचित्र्याभावात्।

वैशिष्ट्ये वा वस्तुमात्रादिव्यङ्ग्याभावे केवलरससद्भावे च ध्वनित्वं न स्यात् इत्यप्तिः। प्रहेलिकादौ वस्तुमात्रादिव्यङ्ग्यसद्भावे रसाभावे ध्वनित्वं स्याद् वस्तुमात्रादीनाव्यङ्ग्यानां प्रयोजकत्वादित्यतिव्याप्तिः। अङ्गीभावपक्षे तु रसस्य स्वात्मविश्रान्तत्वेन ाचिदप्यङ्गत्वाभावः। इत्थं च न स्वरूपकृतं नापि रसकृतं काव्यस्य वैशिष्ट्यम्। ष्ट्ये वा लक्षणमाहात्म्यात् तस्य प्रतीतेर्विशेषग्रहणमनर्थकमिति पिण्डितार्थः।

अक्षरार्थस्तु तस्येति काव्यस्य। स्वरूपकृतं वैशिष्ट्यं निराकृत्य न च तस्येत्यादिना रसचमत्कारातिशयपक्षं निराकरोति। तस्य रसस्य।

यहाँ विशेष शब्द का अर्थ प्रभेद हो सकता है या अतिशय। प्रथम (प्रभेद) पक्ष में यमात्रस्य' इत्यादि द्वारा अव्याप्ति दोष दिया है और अतिशयपक्ष में असम्भव दोष।

काव्य का वैशिष्ट्य दो ही प्रकार से हो सकता है स्वरूपकृत या रसकृत। रस का भी ष्ट्य पाँच प्रकार से होता है (१) चमत्कार के अतिशय से, (२) भिन्न-भिन्न भेदों से,) रसरहित सुन्दर शब्दार्थों से, (४) वस्तुमात्र व्यंग्य से या (५) प्रधानता से।

इनमें स्वरूपकृत वैशिष्ट्य सम्भव नहीं, क्योंकि सभी काव्य रसयुक्त होने से एक से माने हैं। इसी तर्क पर रस का अतिशय चमत्कार से उत्पन्न वैशिष्ट्य भी नहीं माना जा सकता। कि शृंगार करुण आदि भेदों से यदि काव्य में वैशिष्ट्य माना जाय तो किस रस से वैशिष्ट्य किससे नहीं, या सभी से (वैशिष्ट्य होता है)—ये विकल्प उठेंगे। इनमें से किसी एक से ष्ट्य की उत्पत्ति मानी जाय तो दूसरे काव्यों में रस रहते हुए भी वैशिष्ट्य नहीं जाएगा। फलतः अव्याप्ति होगी। सभी से वैशिष्ट्य मानने का कोई अर्थ नहीं होता। रसरहित—सुन्दर शब्द और अर्थ के आधार पर काव्य में वैशिष्ट्य माना जाय—तो यह भी नहीं, क्योंकि रसरहित शब्दार्थ तो काव्य ही नहीं होते। उनमें वैशिष्ट्य की सम्भावना वस्तुमात्र आदि के वैशिष्ट्य से भी काव्य में वैशिष्ट्य मानना ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुमात्र व्यञ्जक हैं, व्यञ्जक के वैशिष्ट्य से व्यंग्य में वैशिष्ट्य नहीं होता। यदि वस्तुमात्र आदि के ष्ट्य से व्यंग्य में वैशिष्ट्य मान भी लिया जाय तो जहाँ केवल रस होता है उस काव्य में व नहीं रहेगा, इसलिए अव्याप्ति दोष होगा और प्रहेलिका आदि में जहाँ केवल वस्तुमात्र नेतत्व रहता है, रस का नहीं, ध्वनित्व का समन्वय हो जाएगा, जिससे अतिव्याप्ति दोष अङ्गीभावपक्ष में रस कभी अंग होता नहीं, क्योंकि वह स्वात्मविश्रान्त होता है इसलिए

विशेषता पैदा करने की क्षमता नहीं। इस प्रकार काव्य में स्वरूपकृत और रसकृत दोनों प्रकार का वैशिष्ट्य सम्भव नहीं। यदि वैशिष्ट्य हो भी तो उसका शब्दतः कथन आवश्यक नहीं। उसका बोध लक्षण केवल से ही हो जाएगा।

अक्षरार्थ यह है—तस्य = काव्य का। उसका स्वरूपकृत वैशिष्ट्य का निराकरण कर 'न च तस्य' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा रसगत चमत्कार के अतिशय के पक्ष का निराकरण करते हैं। तस्य = रस का (१०२ पृ० के 'एवं च ये सुकुमारमतयः' द्वारा भेदान्तरकृत वैशिष्ट्य पक्ष का निराकरण, १०३ पृ० के 'अतएव च त' द्वारा रसरहित सुन्दर शब्दार्थ पक्ष का, और १०४ पृ० के 'न च रसात्मनः' द्वारा वस्तुमात्रादि व्यंग्य पक्ष का)।

न च तस्य विशेषः सम्भवति निरतिशयसुखास्वादलक्षणत्वात् तस्य। यदाहुः—

'पाठ्यादथ ध्रुवागानात् ततः सम्पूरिते रसे।
तदास्वादभरैकाग्रो हृष्यत्यन्तर्मुखः क्षणम्॥
ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निजः।
व्यज्यते ह्लादनिष्यन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः॥'

इति। तदभावे चास्य काव्यतैव न स्यात् किमुत विशेष इति अनारम्भणीयमेवैतत् प्रेक्षावतां स्याद् वैफल्यात्।

'उस (रस) में कोई वैशिष्ट्य नहीं रहता क्योंकि वह निरतिशय-सुखास्वाद स्वरूप है। जैसा कि कहा गया है—उसके बाद पाठ्य से और ध्रुवागान से रस सम्पूरित हो जाने पर आस्वादयिता अन्तर्मुख होकर एक क्षण के लिये उसके घनास्वाद से एकाग्र हो जाता है और प्रहर्ष का अनुभव करता है। उसके पश्चात् उस वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य आस्वादयिता के स्वरूपमात्र में अवस्थित होने पर अपने आनन्द निष्यन्द की अभिव्यक्ति होती है जिससे योगिजन तृप्ति लाभ करते हैं।'

उसके (रस के) अभाव में यह काव्य ही नहीं होगा—विशिष्ट काव्य कहाँ, अतः प्रेक्षावान् जनों (कवि और सहृदय) द्वारा फलशून्यता के कारण यह प्रवृत्ति का विषय ही नहीं बन सकेगा।

ध्रुवागानादिति। **ध्रुवाख्यगीत्युपादानेन नाट्यविषयरसस्वरूपप्रदर्शनमित्युक्तम्। एतद्वर्जितस्त्वे तत् काव्यगतं रसस्वरूपम्।**

निर्विषयस्येति। **अत्रान्तर्मुखत्वं हेतुः। अस्य चर्वयितुः स्वरूपमन्तर्मुखानन्दरूपसंविदात्मकम्।**

तदभावे **रसाभावे**। एतत् **काव्यम्**। प्रेक्षावतां **विचारयितॄणाम्**। वैफल्यादिति **फलमत्र चतुर्वर्गसाधनव्युत्पत्तिः। रसाभावे काव्यतैव न घटत इति।**

ध्रुवागान = ध्रुवा नाम की गीति निकालने से नाट्यसम्बन्धी रस स्वरूप की निष्पत्ति होती है। यह कहा जा चुका है। निर्विष = इसमें हेतु है अन्तर्मुखता—इस चर्वणा या आनन्दानुभव करनेवाले का अन्तर्मुख होकर आनन्दरूप का अनुभव होना।

विमर्श : अनुमितिवादी के मत में सरस काव्य ही काव्य है। उसमें काव्यस्यात्मा स एवार्थः- का भी अभिप्राय यही निकाला है। जो कहीं तक संगत भी है। ऐसी स्थिति में रस से युक्त काव्य काव्यसामान्य होगा—विशेष नहीं। सामान्य काव्य में विशेषता तब आती जब उसके विशेषणीभूत रस में विशेषता होती। जैसे रंगों से वस्त्र में विशेषता तब आती है जब रंग ही रक्तत्व,

पीतत्व आदि अनेक विशेषताओं से युक्त रहते हैं। किन्तु यदि रंग एक ही होता तो उससे युक्त वस्त्र में मनुष्यत्व से युक्त मनुष्यों के समान एकसमानता रहती, कोई विशेषता न होती। रस या उसका पर्याय ध्वनिकाव्य ध्वनिलक्षण में 'रस' रूप से ही अपनाया जायगा, शृङ्गार, करुण आदि रूप से नहीं क्योंकि लक्षण में सामान्य ध्वनि का निरूपण किया गया है। इसलिए भी विशेष शब्द का उपादान अनावश्यक है।

कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते। तच्चाभिनेयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम्।

कवि का वह व्यापार जो विभावादि की समीचीन योजना स्वरूप हो और नियमतः रसाभिव्यञ्जक हो, काव्य कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है—अभिनेयार्थ और अनभिनेयार्थ।

कविव्यापारः। **अनेन कवेः कर्म काव्यमिति** काव्यकौतुक**विहितां काव्यस्य शब्दव्युत्पत्तिं कविमूलकाव्यत्वप्रतिपादिकां दर्शयति। तत्र ह्युक्तं 'तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।' इति।** हृदयदर्पणे **च 'तत्कर्त्ता च कविः प्रोक्तो भेदेऽपि हि तदस्ति यद्' इति काव्यमूलं कवित्वं प्रतिपादितम्। तत् पुनरस्य ग्रन्थकृतो नावर्जकम् अप्रातीतिकत्वात्। कविव्यापारश्च न सामान्येन किन्तु विभावादिघटनास्वभावः। अत एव नियमेन रसापेक्षी।**

कविव्यापार इससे काव्यकौतुक में आई काव्य की शब्दव्युत्पत्ति की ओर संकेत किया गया है। उसमें काव्य की व्युत्पत्ति कवेः कर्म की गई है। उससे ज्ञात होता है कि काव्य का कारण कवि है। हृदयदर्पण में भी—'तत्कर्ता च कविः प्रोक्तो भेदोऽपि हि तदस्ति यत्' के अनुसार काव्य को कविमूलक माना गया है किन्तु रस विषय का जो प्रतिपादन ग्रन्थकार ने किया है वह सुन्दर नहीं है। उससे विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता। (अथवा वह अनुभव में नहीं आता)। कविव्यापार ऐसा वैसा नहीं होता। वह विभावादि की घटना रूप होता है। इसलिए वह नियमतः रस की अपेक्षा रखता है।

सामान्येनोभयमपि च तद् शास्त्रवद् विधिनिषेधविषयव्युत्पत्तिफलम्। केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयमुपायमात्रभेदो न फलभेदः।

सामान्य रूप से दोनों ही प्रकार के काव्य का फल शास्त्र के ही समान विधि और निषेध की व्युत्पत्ति है केवल व्युत्पाद्य व्यक्ति की जड़ता या बुद्धिमत्ता के तारतम्य पर काव्य, नाट्य और शास्त्र इन उपायों में भिन्नता आती है, फल में नहीं।

सामान्येनेति। **विशेषाः पुनरस्य सर्गबन्धनाटकादयः। जाड्यं काव्यनाट्यविषयं सुकुमारमतित्वम्। जाड्यं चात्र शास्त्रविषयं शास्त्रं चात्र दृष्टान्तत्वेनोपात्तमिति न प्रपञ्चयिष्यते। न** फलभेदः **न व्युत्पत्तिभेदः।**

सामान्य रूप से इस (काव्य) की विशेषता है सर्गबन्ध, नाटक आदि। जड़ता का अर्थ है सुकुमार बुद्धि होना। उसी के लिए काव्य और नाट्य होते हैं। यह सुकुमारमतित्व शास्त्र के प्रति होता है। यहाँ शास्त्र दृष्टान्त रूप से अपनाया गया है तो भी उसका विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया जायगा। फल विधि निषेध की व्युत्पत्ति में कोई भेद नहीं रहता।

तत्राद्यं प्रख्यातरामरावणादिनायकप्रतिनायकसमाश्रयेण प्रसिद्धविधिनिषेधास्पदचरितवर्णनमात्रात्मकम् ।

उनमें से प्रथम (काव्य) हैं प्रसिद्ध राम रावण आदि नायक प्रतिनायक के ग्राह्य और त्याज्य चरितों का वर्णन मात्र।

आद्यं काव्यम् । (भवति तथापि ?) प्रसिद्धं च विधिनिषेधात्मकं च यच्चरितमिति व्याख्या । यद्यपि चोत्पाद्यवस्तु काव्यं भवति, तथापि तत्र तथा हृदयसंवाद इति प्रसिद्धग्रहणम् ।

तावता **काव्यमात्रेण** । तत्र **काव्ये नाट्ये च** । प्रभेदपक्षं दूषयितुं ग्रन्थः ।

आद्य—काव्य (× ×)। प्रसिद्ध० की व्याख्या है—जो चरित प्रसिद्ध भी हो और साथ ही विधिनिषेधात्मक भी। यद्यपि काव्य में वस्तु कविकल्पित होती है तथापि उसमें सामाजिक का हृदय एकरस हो जाता है। इसलिए वह प्रसिद्ध कहा गया।

अपरं पुनरनुकारक्रमेण साक्षात् तत्प्रदर्शनात्मकम् । यदाहुः—

'अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते ।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम् ॥'

एवञ्च ये सुकुमारमतयः शास्त्रश्रवणादिविमुखाः सुखिनो राजपुत्रप्रभृतयः पूर्वत्राधिकृताः, ये चात्यन्ततोऽपि जडमतयस्तावता व्युत्पादयितुमशक्याः स्त्रीनृत्यातोद्यादिप्रसक्ता उभयेऽपि तेऽभिमतवस्तुपुरस्कारेण गुडजिह्विकया रसास्वादसुखं मुखे दत्त्वा तत्र कटुकौषधपानादाविव प्रवर्तयितव्याः । अन्यथा प्रवृत्तिरेवैषां न स्यात्, किमुत व्युत्पत्तिः । काव्यारम्भस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनभावेनास्य रसात्मकत्वमवश्यमुपगन्तव्यम् । तन्मात्रप्रयुक्तश्च ध्वनिव्यपदेशः ।

न च रसानां वैशिष्ट्ये तदात्मनः काव्यस्य विशिष्टत्वमिति युक्तं वक्तुम् अव्याप्तेः । एवं हि प्रतिनियतरसात्मन एव तस्य ध्वनित्वं स्यात्, नान्यस्यान्यरसात्मनः, वैशिष्ट्याभावात् । इष्यते च तत्रापीत्यव्याप्तिर्लक्षणदोषः ।

और दूसरा (नाट्य) उन्हीं का अनुकरण द्वारा साक्षात् प्रदर्शन। जैसा कि कहा गया है—
'अनुभाव और विभावों का वर्णन काव्य कहा जाता है, और उन्हीं का गीतादि द्वारा आकर्षक प्रयोग—नाट्य।'

और इसी प्रकार जिनकी मति सुकुमार होती है, जो शास्त्रचर्चा से विमुख होते हैं, ऐसे नित्यसुखी राजकुमार आदि व्यक्ति पहले (काव्य) के अधिकारी हैं। इसी प्रकार ये और इनके अतिरिक्त जो बहुत ही अधिक मन्दमति होते हैं, जो केवल उतने (काव्य मात्र) से नहीं समझाए जा सकते और स्त्री, नृत्य, आतोद्य (बाजे) आदि में आसक्त होते हैं वे—दोनों ही प्रकार के व्यक्ति चाही चीज सामने रखते हुए रसास्वाद सुख की चाट लगाकर उसी प्रकार उस (विधि निषेधात्मक काव्य या नाट्यबद्ध चरित) की ओर प्रवृत्त कराए जाने के अधिकारी हैं जिस प्रकार जीभ पर गुड़ रखकर कड़वी दवाई की ओर मरीज। इसके विना किसी दूसरे प्रकार से इनकी

प्रवृत्ति ही न होगी, व्युत्पत्ति कहाँ। कार्य निर्माण की सफलता चाहने वाले को उनकी प्रवृत्ति के उपाय रूप में इनकी (काव्य-नाट्य की) रसात्मकता स्वीकार करनी ही चाहिये। काव्य को ध्वनि भी एकमात्र उसी के आधार पर कहा जाता है।

ऐसा कहना भी ठीक नहीं कि रसों की विशिष्टता से काव्यों में विशिष्टता हो सकती है—क्योंकि इससे अव्याप्तिदोष होता है। ऐसा मानने पर किसी एक रस से युक्त काव्य को ध्वनि कहा जा सकेगा, अन्य रस से युक्त अन्य काव्य को नहीं, क्योंकि वैशिष्ट्य का उसमें अभाव रहेगा। काव्य वह भी माना जाता है—इसलिए उसमें अव्याप्ति रूप लक्षणदोष होगा।

विमर्श : व्यक्तिवादी विशिष्ट शब्द और विशिष्ट अर्थ के साहित्य को काव्य मानता है। ध्वनि या रस को उससे भिन्न उसकी आत्मा। अनुमितिवादी रसयुक्त शब्दअर्थ को काव्य मानता है। इस प्रकार दोनों के मत एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। व्यक्तिवादी के अनुसार काव्य-नीरस होने पर भी गुण और अलंकारों या वस्तु आदि ध्वनि से चमत्कारी हो जाता है। विनेय का उन्मुखीकरण उसीसे निष्पन्न हो जाता है। अनुमितिवादी रस द्वारा ही चमत्कार मानता है और रस-शून्य काव्य को काव्य ही नहीं मानता। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिवादी जिस काव्य को उत्तम काव्य मानता है अनुमितिवादी उसके भी एक भाग रसध्वनि को ही काव्य मानता है उत्तम काव्य नहीं, उसके मत में जो उत्तम होता है वही काव्यत्व जाति से युक्त होता है, वह वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और वाच्य अलंकार से युक्त काव्यों को काव्य नहीं मानता। व्यक्तिवादी की दृष्टि से काव्य के इतने भेद होने पर ध्वनिकाव्य को काव्यविशेष कहा जा सकता है किन्तु अनुमितिवादी के अनुसार उसे केवल काव्य मात्र कहा जायगा। रस अनेक हैं। उनकी कुछ स्वगत विशेषताएँ हैं। यह कहा जा सकता है कि उनमें से एक किसी रस से युक्त काव्य अनुमितिवादी के मत में भी दूसरे की अपेक्षा विशिष्ट काव्य कहा जा सकता है। अनुमितिवादी उसे अव्याप्ति-दूषित ठहराता है। उसका कहना है स्वगत भेद का यहाँ कोई प्रसंग ही नहीं है। यहाँ तो ध्वनिलक्षण किया जा रहा है। लक्षण किसी एक अंग के अनुसार नहीं किया जाता। उसे सर्वाङ्ग-व्यापी होना चाहिये। इसलिए लक्षण ऐसा होना चाहिए जो रसत्वसामान्य से युक्त सभी काव्य को ध्वनि काव्य ठहरा सके। यदि उसके किसी एक देश = (किसी एक रस से युक्त) काव्य के लिए यह ध्वनिलक्षण किया जायगा तो शेष रसों से युक्त काव्यों में वह लक्षण नहीं जायगा। यही अव्याप्ति दोष होगा। इसलिए ध्वनिलक्षण में 'काव्यविशेषः' न कहकर केवल 'काव्य' ही कहना उचित था। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए वे आगे और भी लिखते हैं—

अत एव च न गुणालङ्कारसंस्कृतशब्दार्थमात्रशरीरं तावत् काव्यम्, तस्य यथोक्तव्यङ्ग्यार्थोपनिबन्धे सति विशिष्टत्वमिति शक्यं वक्तुम्। तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात्, किमुत विशिष्टत्वम्।

'गुण और अलङ्कार से संस्कृत केवल शब्दार्थमात्र काव्य का शरीर है और उल्लिखित व्यङ्ग्य के सन्निवेश से उसमें विशिष्टता आ जाती है' यह भी इसीलिए नहीं कहा जा सकता। रस न होने पर वह तत्त्वतः काव्य ही नहीं होगा, विशिष्ट काव्य कहाँ ?

अत एवेत्यादिना **रसरहितसुन्दरशब्दार्थापेक्षापक्षोऽपि निराक्रियते।**

अतएव = इत्यादि द्वारा 'काव्य में सुन्दर शब्दार्थ की अपेक्षा है रस की नहीं' इस पक्ष का निराकरण किया जा रहा है।

न च रसात्मनः काव्यस्य वस्तुमात्रादिभिर्विशेषः शक्यम् आधातुं, तेषां विभावादिरूपतया रसाभिव्यक्तिहेतुत्वोपगमात् न च व्यञ्जकानां वैचित्र्ये व्यङ्ग्यस्य विशेषोऽभ्युपगन्तुं युक्तः शाबलेयादीनामिव गोत्वस्य।

ततोऽस्य विशिष्टतोपगमे वा यत्र तयोरुभयोरेकैकस्य वा व्यङ्ग्यता तत्रैव ध्वनिव्यपदेशः स्यान्न केवलरसात्मनि काव्ये, वैशिष्ट्याभावात्। इष्यते चासौ तत्रापि। प्रहेलिकादौ च नीरसे स्यात्। तत्राप्युक्तक्रमेण वस्तुमात्रादेरभिव्यङ्ग्यत्वेनेष्टत्वाद् इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यत्वमात्र-प्रयुक्तोऽसावित्यनुमीयते।

संगति=व्यक्तिविवेककार वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को रसध्वनि का ही पोषक तत्व मानते हैं इसी तथ्य को वे इस प्रकार स्पष्ट कर रहे हैं—

'काव्य रसात्मक ही हो, तब भी वस्तुमात्रादि से उसमें वैशिष्ट्य आ सकता है'—ऐसी बात भी नहीं। वस्तुमात्रादि विभावादि रूप होते हैं, अतः वे रस की अभिव्यक्ति के हेतु माने गए हैं। व्यञ्जकों के वैचित्र्य से व्यङ्ग्य में वैचित्र्य माना जाना ठीक नहीं, जैसे गाय के चितकबरे होने से उसके गोत्व में। उन (वस्तु आदि व्यञ्जकों) से यदि इस (काव्य) में विशिष्टता मान भी ली जाय तो जहाँ वे दोनों अथवा दोनों में से कोई एक व्यङ्ग्य होगा वहीं (उसीकाव्य में) ध्वनि व्यवहार हो सकेगा। केवल रसात्मक काव्य में नहीं। क्योंकि उसमें वैशिष्ट्य होता ही नहीं। पर ध्वनित्व माना जाता है वहाँ भी। उधर प्रहेलिका आदि रसहीन सन्दर्भों में भी ध्वनित्व मान लिया जायगा क्योंकि उनमें भी, जैसा पहले कहा जा चुका है, वस्तुमात्र आदि व्यङ्ग्यरूप से विद्यमान माने जाते हैं। इसलिए अन्वयव्यतिरेक से ऐसा लगता है कि ध्वनि व्यवहार एकमात्र सामान्य काव्य में रहना चाहिए।

न च रसात्मन इत्यादौ **वस्तुमात्रादिव्यङ्ग्यपक्षः परिहृतः।** शक्यमिति **सामान्योपक्रमान्नपुंसकलिङ्गता। वस्तुमात्रादीनां रसं प्रति व्यञ्जकत्वाद् व्यञ्जकवैचित्र्ये च व्यङ्ग्य-वैचित्र्याभावान्न तैरसौ विशेषणीयः।** गोत्वस्य **विशेष इति सम्बन्धः।**

ततो **व्यञ्जकाद्।** अस्य **रसस्य।** तयोरिति **शब्दोपात्तवस्तुमात्रमादिग्रहणगृहीतश्चा-लङ्कारो गृह्यते। तत्र वस्त्वलङ्कारौ समस्तौ व्यस्तौ वा यत्र व्यङ्ग्यौ व्यञ्जके संक्रान्तौ तत्रैव** ध्वनित्वं **स्यात्। न केवलरसयोगिनि काव्य इत्यव्याप्तिः।** प्रहेलिकादाविति **अति-व्याप्तिः। ननूभयसद्भावे वैशिष्ट्यं प्रस्तुतम्। तत्र का कथा रसाभावे वस्त्वादिमात्रभावे वैशिष्ट्यस्य। नैतत्। वस्त्वादीनामेव प्रयोजकत्वात् तन्मात्रकृतं वैशिष्ट्यमुच्यते। तथा हि वस्त्वाद्यभावे रससद्भावेऽपि न ध्वनित्वमिष्टं भवता, वस्त्वादिसद्भावे त्विष्यत एव। अतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां वस्त्वादीनामेव प्रयोजकत्वमिति प्रहेलिकादावतिव्याप्तिः।**

न च० इत्यादि ग्रन्थ में केवल वस्तु आदि के व्यङ्ग्य होने की मान्यता का खण्डन किया गया।

शक्यम्—यहाँ 'शक्यम्' यह जो नपुंसकलिङ्ग दिया उसका कारण है विषय का आरम्भ सामान्य रूप से करना (क्योंकि संस्कृत में सामान्य वस्तु के लिये नपुंसक लिङ्ग का ही प्रयोग मान्य है)।

वस्तुमात्र आदि रस में वैशिष्ट्य इसलिए नहीं ला सकते कि वे हैं रस के प्रतिव्यञ्जक और ग्रन्थकार व्यञ्जक की विचित्रता से व्यङ्ग्य में विचित्रता नहीं मानते। 'गोत्वस्य' इसका सम्बन्ध 'विशेषः' से है। **ततः**=व्यञ्जक से। **तस्य**=रस का। तयोः—शब्दतः कथित वस्तुमात्र और आदि शब्द से अलङ्कार का ग्रहण होता है।

जहाँ वस्तु और अलङ्कार इकट्ठे या अलग-अलग व्यङ्ग्य होकर व्यञ्जक बनेंगे केवल वहीं ध्वनित्व आयेगा, केवल रस से युक्त काव्य में नहीं। इस प्रकार अव्याप्ति दोष होगा। अतिव्याप्ति होगी पहेली आदि में। क्योंकि वहाँ ऐसा तो है नहीं कि वस्तुमात्र अलङ्कार और रस इन सबसे वैशिष्ट्य माना जा रहा हो। फलतः रस के अभाव में केवल वस्तु आदि के रहने पर भी (पहेली आदि में) वह न माना जाय, यहाँ तो वैशिष्ट्य माना जा रहा है केवल वस्तु आदि से जनित। इसलिए उनके अभाव में रस के रहते हुए भी ध्वनित्व नहीं माना गया जब वस्तु आदि का सद्भाव रहा। इसलिए अन्वय व्यतिरेक द्वारा यह सिद्ध हुआ कि इस पक्ष में केवल वस्तु आदि प्रयोजक हैं अतः पहेली आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

विमर्श : 'काव्यविशेषः' के समर्थन में एक युक्ति और दी गई। उसमें कहा गया कि भले ही रसात्मक सन्दर्भ काव्य हो किन्तु जब उसमें उसके वस्तु आदि अवान्तर व्यङ्ग्यों का समावेश हो तब तो वैशिष्ट्य आ ही जायगा। इस पर अनुमितिवादी ने उत्तर दिया। वस्तु आदि का अस्तित्व रस से पृथक् नहीं है। वे रस के ही व्यञ्जक विभावादि अङ्ग हैं। जिस प्रकार गाय के काले, पीले या श्वेत रङ्ग से उसके गोत्व में कोई वैशिष्ट्य नहीं आता ठीक वैसे ही वस्तु या अलङ्कार के वैशिष्ट्य से रस में भी कोई वैशिष्ट्य नहीं आता। यदि मान भी लिया जाय तो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष होंगे। अव्याप्ति उस शुद्ध रस वाले काव्य में होगी जहाँ वस्तु और अलङ्कार दोनों या उनमें से कोई एक एक ही व्यङ्ग्य या व्यञ्जक न होंगे। अतिव्याप्ति उन 'सिहिपिच्छ' आदि पहेलियों में होगी जिनमें अनेक हेतुकल्पनाओं के बाद कोई नीरस वस्तु मात्र व्यङ्ग्य होती है। वस्तुतः उनमें काव्यत्व नहीं होता। इस प्रकार रस के (अन्वय व्यतिरेक) रहने न रहने पर जब काव्यत्व का अस्तित्व अनस्तित्व निर्भर है तब शुद्ध काव्य के ही लिए ध्वनि का प्रयोग उचित है–ऐसा प्रतीत होता है। 'कुमारसंभव ८।६२, ७२; शाकुन्तल ३।४, वामनकृत काव्यालंकारसूत्र ५।२।२३ तथा उसमें उद्धृत व्या० महाभाष्य के प्रयोग से 'शक्यम्' का प्रयोग शुद्ध है। व्याख्यानकार का संकेत इन्हीं संदर्भों की ओर है। 'शक्यः' पाठ अवश्य ही किसी ने बदल दिया है।'

अतश्च समासोक्त्यादावप्यसावुपगन्तव्य एव, न प्रतिषेध्यः। प्रतीयमानस्य चार्थस्य द्वैविध्यमेव। तृतीयस्य रसादेः प्रकारस्योक्तनयेन काव्यत्वादेव सिद्धत्वादिति। न च तस्य तदङ्गभावो भणितुं युज्यते अङ्गित्वेनेष्टत्वाद् इति काव्यत्वमेव ध्वनिव्यपदेशविषयोऽभ्युपगन्तुं युक्तो न तद्विशेषः।

और इसीलिए समासोक्ति आदि को भी ध्वनि नाम से पुकारा जाना चाहिए। वहाँ उसे निषेध्य नहीं ठहराना चाहिए (जैसा कि आनन्दवर्धन ने ठहराया है)। इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ के दो ही भेद माने जाने चाहिए। तीसरा रस आदि (नामक) भेद उक्त रीति से (काव्य के) काव्यत्व से ही सिद्ध हो जायगा। उसके प्रति उसका अङ्गभाव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अङ्गीरूप से मान्य है। इसलिए केवल काव्य सामान्य को ही ध्वनि नाम का विषय मानना चाहिए, उसके किसी विशेष (भेद) को नहीं।

समासोक्त्यादाविति। **तत्रापि रसमयत्वेन काव्यत्वाद् रससद्भावे च ध्वनित्वात्।** द्वैविध्यमेवेति **रसस्य काव्यमात्रलक्षणत्वाद्वस्त्वलङ्कारव्यापित्वेन तत्प्रतियोगित्वाभावान्न प्रकारत्वं प्रकारित्वेन प्रकाशमानत्वात्।** न च तस्येत्यादिना **अङ्गत्वकृतं विशेषं दूषयति।** अङ्गित्वेनेष्टत्वादिति **चमत्कारविश्रान्ति सारत्वाद् रसस्याङ्गित्वमेव नाङ्गत्वम्।**

समासोक्त्यादि—वे भी रसमय होने से ही काव्य माने जाते हैं। रसमयता के कारण वे भी ध्वनि हैं ही।

द्वैविध्यम्—रस ही सभी प्रकार के काव्य का लक्षण है। वह वस्तु और अलङ्कार में भी रहता है। वह किसी में नहीं रहने वाला (प्रतियोगी) नहीं है, अतः वह किसी का अङ्ग या प्रकार नहीं बनता। वह तो प्रकारवान्—अङ्गी के रूप में प्रकाशित होता है।

न च तस्य—इत्यादि, ग्रन्थ से अङ्गत्व से उत्पन्न विशेषता को गलत ठहराते हैं।

अङ्गित्वेनेष्टत्वात्—क्योंकि रस रूप चमत्कार अपने आप में पूर्ण (विश्रान्त) है इसलिए वह अङ्गी ही है। अङ्ग नहीं।

विमर्श : ग्रन्थकार का निष्कर्ष यह है कि ध्वनिकार द्वारा समासोक्ति आदि अलङ्कारों से युक्त वाक्यों का ध्वनि न मानकर गुणीभूतव्यङ्ग्य माना जाना ठीक नहीं। उनमें भी रस रहता है अतः वे भी ध्वनि ही होते हैं।

ध्वनिवादी ने विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य मानकर ध्वनि को उसकी आत्मा माना था। साथ ही ध्वनि के वस्तु, अलङ्कार तथा रस ये तीन भेद माने थे। अनुमितिवादी केवल रस को काव्यत्व निष्पादक मानता है। और उसी रस को काव्य में ध्वनित्व का निष्पादक। अतः उसकी दृष्टि में सभी काव्य ध्वनि काव्य ही हैं। फलतः वह काव्य के वस्तु और अलङ्कार ये दो भेद नहीं मानता उन्हें रस में ही अन्तर्भूत कर देता है। रस को वह काव्य की आत्मा और प्रधान, अङ्गी बतलाता है। ध्वनिकार भी ऐसा ही मानते हैं। शब्दार्थ को वह उस अङ्गी का आवास मानता है अतः शब्दार्थ रस के अङ्ग हैं। प्राचीन उद्भट आदि आचार्यों के मत से यह मत ठीक विपरीत है। वे रस को भी शब्दार्थ का अलङ्कारक तत्त्व मानते हैं। ग्रन्थकार ने इस आशय को उत्तम भाषा में व्यक्त नहीं किया। सर्वनाम बहुल भाषा में उसे स्पष्ट किया है। अतः उसमें व्याख्याकारों में बुद्धि-संवाद नहीं है।

व्यक्तिविवेकव्याख्यान में उनकी कुछ भी व्याख्या नहीं की गई है, केवल—न च तस्येत्यादिना अङ्गत्वकृतं विशेषं दूषयति ही कहा गया है 'अङ्गित्वेनेष्टत्वाद्' इस हेतुवाक्य पर—भी उसमें—'चमत्कारविश्रान्तिसारत्वाद् रसस्य अङ्गित्वमेव नाङ्गत्वम्' लिखा गया है। इससे तस्य—के तद् का अर्थ तो 'रस' प्रतीत हो जाता है। शङ्का रहती है 'तदङ्गत्वेन' के तद् शब्द पर। मधुसूदनी विवृति में उसका अर्थ वस्तुमात्र और अलङ्कार किया गया है, उसका वाक्य इस प्रकार है—'तस्य रसस्य, तदङ्गत्वम् = वस्तुमात्रालङ्काराङ्गत्वम्। वस्तुतः प्रकरण के अनुसार 'प्रतीयमानस्य चार्थस्य = द्वैविध्यमेव'—कहकर काव्य को जो दो विभागों में बाँटा गया है—उसकी उपपत्ति में हेतु दिया गया है 'तृतीयस्य रसादेः प्रकारस्योक्तनयेन काव्यत्वादेव सिद्धत्वात्' और इस हेतु वाक्यार्थ की मान्यता के लिए दूसरा हेतुवाक्य दिया गया है 'न च तस्य तदङ्गभावो भणितुं युज्यते अङ्गित्वेनेष्टत्वात्' इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार वस्तुमात्र और अलङ्कार काव्य शरीर के अङ्ग हैं उस प्रकार यदि रस भी अङ्ग होता तो उसके आधार पर भी काव्य में एक भेद होता, वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, रस काव्य का अङ्गी ही, अङ्गी शुद्ध वस्तुरूप काव्य शरीर में भी अभिव्याप्त रहेगा और अलङ्कारोपस्कृत वस्तु रूप काव्य शरीर में भी। अतः तस्य तदङ्गत्वेन में प्रथम 'तद्' का रस और द्वितीय 'तद्' का काव्य अर्थ माना जाना चाहिए। पूर्ण वाक्य का एक अर्थ किया जाना चाहिए—'रस का काव्य के प्रति अङ्गभाव कहना ठीक नहीं।' इससे ग्रन्थकार की मूलमान्यता को बल मिलता है। ग्रन्थकार की मूलमान्यता है—समासोक्ति आदि उन स्थलों को भी जिन्हें ध्वनिकार ने ध्वनि से नीचे गुणीभूत व्यङ्ग्य-कोटि में गिनाया है ध्वनि ही मानना।

गुणीभूत व्यङ्ग्य में व्यङ्ग्य प्रकृतवाक्यार्थ का उपस्कारक माना जाता है या चमत्कार में उसके समान ही। ऐसी स्थिति में प्रकृतवाक्यार्थ ही प्रधान या अङ्गी माना जाता है और रस आदि ध्वनियाँ अङ्ग। व्यक्तिविवेककार का कथन है कि उस काव्य में भी रस अंगी ही रहेगा। वह प्रकृतवाक्यार्थ का उपस्कारक या अंग नहीं होगा। यह तथ्य उनके 'अतश्च समासोक्त्यादावप्यसावुपगन्तव्य एव, न प्रतिषेध्यः' इसी वाक्य द्वारा स्पष्ट होता है। अतः तस्य तदङ्गत्वात् में 'रस का काव्य के प्रति' यही अर्थ चाहिए।

किञ्च मुख्ये रसात्मनि काव्ये सम्भवति न तस्य गौणस्याश्रयणं युक्तं गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्यय इति नियमात्।

यस्तु मेघदूतादौ काव्यविशेषव्यपदेशः सोऽभिधेयार्थविशेषसमारोपकृतो न मुख्यः।

इत्थञ्च काव्यस्य विशिष्टतानुपपत्तावितरतल्लक्षणविधायिमतातिरिक्तं न किञ्चिदनेनाभिहितं स्याद्, अन्यत्र ध्वनिव्यपदेशमात्रात्। न च तेनापि किञ्चित्। कथञ्चिद्वा तदुपपत्तौ तदवाच्यमेव तस्य तत्पर्यवसायिनो लक्षणविशेषसम्बन्धादेव तदवगतेः। यथा योऽश्वमारूढः स पुरुषो राजेत्यत्र।

अथ पुरुषस्याश्वविशिष्टस्यैव सतस्तल्लक्षणसम्बन्धो न तु तत एवास्य वैशिष्ट्यमिति, तथाप्यवाच्यं; काव्यत्वादेव तस्याप्यवगतत्वात्। तच्चोक्तमित्यवाच्यवचनं दोषः।

इसके अलावा जब काव्यत्व के लिए आश्रयरूप से उत्कृष्टतम रसात्मक वस्तु का मिलना सम्भव है तब गौण वस्तु का आश्रय ठीक भी नहीं होगा, क्योंकि गौण और मुख्य में मुख्य पर झुकाव होता है ऐसा नियम है। मेघदूत आदि में जो काव्य विशेष का व्यवहार होता है, वह उसमें वर्णित पदार्थ के आधार पर औपचारिक है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार काव्य की विशिष्टता सिद्ध न होने पर अन्य काव्य लक्षणकारों के मत के अतिरिक्त इनसे भी (ध्वनिकार से भी) कुछ नहीं कहा जा सका, केवल 'ध्वनि' इस नाम कथन भर को छोड़कर और उससे भी कोई लाभ नहीं। यदि किसी प्रकार वह (ध्वनि) वास्तविक भी सिद्ध हो जाए तो उसे शब्द द्वारा कहना नहीं था क्योंकि (जिसे) काव्य (कहा जाएगा उस) का पर्यवसान सदैव उसी में होगा, इसलिए (उस काव्य के) विशिष्ट लक्षण कथन से ही उसकी (ध्वनि) प्रतीति अपने आप हो जाती। जैसे 'जो यह घोड़े पर सवार है वह पुरुष राजा है' यहाँ (लक्षणगतवैशिष्ट्य से ही पुरुषगत वैशिष्ट्य का बोध हो जाता है।)

यदि पुरुष के अश्वविशिष्ट होने पर ही उसमें लक्षण का समन्वय होता हो, इसके विपरीत लक्षण से उसमें वैशिष्ट्य प्रतीत न होता हो तो इस पर भी उसका (ध्वनि का) शब्दतः उपादान नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसका ज्ञान काव्यत्व मात्र से हो सकता है। किन्तु उसका वैसा उपादान किया गया है, इसलिए (ध्वनिलक्षणकारिका में) अवाच्य वचन दोष आता है।

किञ्चेत्यादिना अभ्युपगमवादेन रसप्रतियोगिनो गौणस्य काव्यत्वेऽपि गौणत्वादेव तदाश्रयत्वं न भविष्यतीत्याह। अभिधेयार्थविशेषेति। **अभिधेयस्यार्थस्य यो विशेषो मेघादेर्वैचित्र्येण वर्णनं तस्य काव्ये समारोपात् काव्यविशेष इत्युक्तिः।**

किञ्च इत्यादि द्वारा ग्रन्थकार ने यह कहा कि 'भले ही हम ऐसा कोई काव्य मान लें

जिसमें रस प्रकार बनकर, गौण रूप से रहता हो, तो भी वह उसका (ध्वनित्व ?) आश्रय नहीं बन सकेगा। उसमें कारण उसकी गौणता ही होगी।

अभिधेय० से अभिधेय अर्थ में स्थित जो विशेषता = मेघ आदि का विचित्र रूप से वर्णन, उसका काव्य में समारोप करके काव्य को विशिष्ट काव्य या उसको 'काव्यविशेष' कहा जा सकता है। इस पूर्वपक्ष का स्पष्टीकरण किया गया।

तदुपपत्तौ **तस्य काव्यस्य**। तत्पर्यवसायिनो **विशेषपर्यवसितस्य**। तदवगतेः **विशेषावगतेः**। योऽश्वमारूढ **इति लक्षणविशेषादेव पुरुषविशेषप्रतीतिः**। अथेति। **इह विशिष्टस्य वा लक्षणं लक्षणाद्वा विशेषप्रतीतिः। तत्रोत्तरस्मिन् पक्षे विशेषग्रहणं न वक्तव्यमित्याद्यः पक्ष आश्रयिष्यते। तत्रापि काव्यमात्रलक्षणादेव विवक्षितविशेषप्रतीतिः काव्यमात्रस्य रसमयत्वेनेष्टत्वात्। अन्यस्याकाव्यत्वम्। रसयोगिनि च ध्वनिव्यवहार इति च सर्वथा विशेषग्रहणं न कर्त्तव्यम्।**

तदुपपत्तौ—तत् = काव्य। उसकी उपपत्ति में। **तत्पर्य० तत्** = विशेष रूप में पर्यवसित। **तदवगतेः** = तत् = विशेष। उसका ज्ञान। योऽश्वमारूढः—इस विशिष्ट लक्षण से ही विशिष्ट पुरुष का ज्ञान हो जाता है। **अथ**—दो बातें होती हैं (१) या तो विशिष्ट का लक्षण होता है या (२) लक्षण से विशेष का ज्ञान होता है। दोनों में से दूसरे पक्ष के लिए विशेष शब्द ग्रहण नहीं कहा जाना चाहिए यह कहा गया है अतः प्रथम पक्ष अपनाया जाएगा। उसमें भी काव्य सामान्य के लक्षण से ही अभीष्ट विशेषता की प्रतीति हो जाएगी। कारण कि सभी काव्य रसमय माने गए हैं। जो वैसे नहीं हैं वे काव्य नहीं हैं। और जो रसयुक्त हैं, उनमें ध्वनि शब्द का व्यवहार होता है—इस प्रकार विशेष शब्द का ग्रहण ध्वनिलक्षण में सर्वथा नहीं करना चाहिए।

अत्र व्यक्तिवादिनस्त्वयमभिप्रायः—**इह प्रसिद्धं लक्ष्यमाश्रित्य लक्षणं प्रवर्त्तते। लक्ष्ये च द्विविधं काव्यं दृश्यते मुख्यं गौणं च। तत्र मुख्यं यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं, शिष्टं गुणीभूतव्यङ्ग्यादि गौणम्। उभयं च ग्राह्यमनादिकालिकव्यवहारसिद्धत्वात्। तेन गौणमुख्यन्याय इह नाश्रीयते। तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरासाय विशेषग्रहणं कर्त्तव्यम्। सर्वस्यैव काव्यस्य रसमयत्वं न गुणीभूतव्यङ्ग्यादिसद्भाव इति चेन्न। अस्फुटरसस्याङ्गभूतरसस्य वा काव्यस्य विद्यमानत्वात्। यत्र हि प्राधान्येन स्फुटोऽङ्गी रसः प्रतीयते तत्र ध्वनित्वमन्यत्र तु काव्यान्तरत्वमिति। रसस्य च विश्रान्तिसारत्वादङ्गभावो नोपपन्न इति चेन्न। स्वापेक्षयैतद्रूपत्वात्। व्यापकरसान्तरापेक्षया तु न्यग्भावेनाङ्गत्वाद् विचोरभाण्डागारिकवत्। तथाह्यङ्गीभावमेव मनसिकृत्य मुनिना रसेष्वपि स्थायिसञ्चारिव्यपदेशः कृतः—**

> **'सर्वेषामेव सद्भावे रूपं यस्य भवेद् बहु।**
> **स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः॥' इति।**

केचित्तु स्थाय्यपेक्षोऽङ्गाङ्गिभावो रसेषूपचर्यत इत्याहुः। ततश्चाङ्गभूतरसकाव्यं व्यावर्त्यमस्ति विशेषग्रहणस्य। यतश्चास्फुटरसस्यापि काव्यस्य सम्भवस्ततो ध्वनेर्भेदत्रयमभ्युपपद्यते। अस्फुटरसे हि काव्ये वस्त्वलङ्कारध्वनी। स्फुटाङ्गीभूतरसे तु रसध्वनिः। तत्रैव वस्त्वलङ्कारध्वनिसम्बन्धे सङ्करसंसृष्टी। तस्माद् ध्वनिमते सर्वमेतत्समञ्जसमेव।

'यहाँ व्यक्तिवादी का अभिप्राय यह है—सब जगह सर्व विदित लक्ष्य को देखकर लक्षण निर्माण किया जाता है। लक्ष्य में (अनुभूति के क्षेत्र में) दो प्रकार के काव्य देखे जाते हैं,

मुख्य और गौण। उनमें मुख्य वे होते हैं जिनमें व्यङ्ग्य की प्रधानता रहती हैं और शेष गुणीभूत व्यङ्ग्यादि गौण। काव्य में मुख्यता और गौणता रहते हुए भी उसे मुख्य या गौण नहीं कहा जाता (ध्वनि या गुणीभूत व्यङ्ग्य कहा जाता है) क्योंकि अनादिकाल से दोनों ही उपादेय समझे चले आते हैं। इन दोनों में से एक गुणीभूत व्यङ्ग्य का निरास करने के लिए 'विशेष' शब्द का ध्वनिलक्षण में उपादान आवश्यक है। काव्य सभी रसमय हैं, गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक कोई वस्तु नहीं है—ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि ऐसे भी काव्य देखे जाते हैं जिनमें रस या तो अस्फुट होता है या अङ्गभूत। उनमें जहाँ रस स्फुट और प्रधान होता है उसे ध्वनि तथा तदतिरिक्त को गुणीभूत व्यङ्ग्य माना जाता है। 'रस स्वात्मविश्रान्त होता है अतः वह किसी का अङ्ग नहीं बन सकता'—ऐसा नहीं, उसका अपना रूप सचमुच ऐसा ही है, किन्तु जहाँ एक रस व्यापक हो जाता है वहाँ दूसरा दब जाता है और विचोरभाण्डागारिकन्याय से अङ्ग हो जाता है। इसमें प्रमाण भरतमुनि का वाक्य है। उन्होंने इसी अङ्गभाव को मन में रखकर रसों में स्थायित्व और संचारित्व माना है—(उनका वाक्य है)—

'जहाँ सभी रस उपस्थित हों वहाँ वह रस स्थायी माना गया है जिसका स्वरूप (बहु) व्यापक हो, शेष संचारी।' कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि रस में अङ्ग-अङ्गी-भाव उसके स्थायीभाव से उपचरित होता है। जो भी हो—(ध्वनिलक्षण में उपात्त) विशेष शब्द से इस अंगभूत रस की व्यावृत्ति अपेक्षित है।

ध्वनि के जो तीन भेद माने गए हैं वे भी ठीक हैं, क्योंकि ऐसा भी काव्य होता है जिसमें रस अस्फुट होता है, ऐसे काव्य में वस्तु और अलङ्कार ध्वनि होती हैं। जहाँ रस स्फुट और अंगी अर्थात् प्रधान होता है वहाँ रसध्वनि होती है। रसध्वनि में ही वस्तु अलंकार ध्वनियाँ जब मिल बैठती हैं तो ध्वनियों का संकरसंसृष्टि मानी जाती है। इसलिए ध्वनि मत में तो यह सब कुछ ठीक ही है।

विमर्श : 'विचोरभाण्डागारिक' की व्याख्या त्रिवेन्द्रम् से व्यक्तिविवेक का सम्पादन करने वाले—महाशय ने इस प्रकार की है—'विचोरोऽपि भाण्डागाराधिपतिरपि। चोरावस्थायां तिरस्करणीयः भाण्डागाराधीशावस्थायामादरणीयस्तद्वत् रसः अङ्गश्च अङ्गी च।' अर्थात् 'विचोरभाण्डागारिक' का अर्थ है चोर भी और भण्डार का मालिक भी। जैसे चोर की स्थिति में वह तिरस्करणीय होता है और भण्डार मालिक की स्थिति में मान्य वैसे ही रस अङ्ग और अङ्गी होता है।' वस्तुतः प्रसङ्ग के अनुसार इसे 'विचोरश्चासौ भाण्डागारिकः' न मानकर—'विचोरतामापतितो भाण्डागारिकः' ऐसा मानना चाहिए। इससे भाण्डागारिकत्व उद्देश्य और विचोरत्व विधेय बन जाता है, फलतः जहाँ अङ्गीरस की अङ्गता का निरूपण चल रहा है वहाँ आदरणीय भाण्डागारित्व से तिरस्करणीय विचोरत्व का स्थिति संवाद हो जाएगा।

किञ्च 'सूरिभिः कथित' इति कथनक्रियाकर्तृनिर्देशः पक्षद्वयेऽप्यवाच्य एव। कर्तृमात्रविवक्षायां क्रियायाः कर्त्रव्यभिचारात् कर्तृविशेषविवक्षायामनन्तरोक्तक्रमेण व्यापारविशेषसम्बन्धादेव तद्विशेषावगतिसिद्धेरित्यवाच्यवचनं दोषः।

इसके अतिरिक्त—'सूरिभिः कथितः' इस प्रकार कथन क्रिया के कर्त्ता दोनों पक्ष में कथनीय नहीं। क्योंकि केवल कर्त्तृत्व की विवक्षा में क्रिया का कर्त्ता से व्यभिचार नहीं होता और विशिष्ट कर्त्तृत्व की विवक्षा में तुरन्त पीछे कहे अनुसार (लक्षण विशेष से विशिष्टता की प्रतीति से)

विशेष व्यापार से ही उसके वैशिष्ट्य का ज्ञान हो जाता है—इसलिए अवाच्य वचन दोष आता है।

पक्षद्वयेपीति **कर्तृमात्रपक्षे कर्तृविशेषे च।** अनन्तरोक्तक्रमेणेति। **योऽसौ लक्षणाद्विशेषावगमः सोनन्तरोक्तः क्रमः।** व्यापारविशेषो **लक्षणवशायातविचारसरणिमाश्रित्य विशेषविशिष्टं कथनम्॥**

(१) पक्षद्वयेऽपीति—कर्तृमात्रपक्षे कर्तृविशेषे च। अर्थात् दो पक्षों का अर्थ है शुद्ध कर्तृत्वपक्ष और विशिष्ट कर्तृत्वपक्ष।

(२) अनन्तरोक्तक्रमेणेति—योऽसौ० लक्षण से जो विशेषता का भान होता है, वही अनन्तरोक्त क्रम है।

(३) व्यापारविशेषो—लक्षणवशा० = अर्थात् लक्षण के आधार पर चली आई विचारपद्धति के सहारे 'विशेष' शब्द के साथ वाक्ययोजना।

विमर्श : प्रथम विमर्श का व्यक्तिविवेक व्याख्यान यहीं समाप्त हो जाता है। यहाँ दी गई—

व्याख्यान की इन तीन टिप्पणियों के अनुसार उद्धृत सन्दर्भ का अर्थ हुआ 'सूरिभिः कथितः' यह न कहकर केवल 'कथितः' ही कह देना पर्याप्त है। कथन क्रिया से ही उसके कर्त्ता का ज्ञान हो सकता है, इसलिए उसका शब्दतः कथन आवश्यक नहीं। कारण कि यहाँ यदि सामान्य कर्त्ता की विवक्षा हो तो उसकी प्रतीति क्रिया के कर्त्ता से नित्य सम्बन्ध होने के कारण स्वतः हो जाएगी और यदि किसी असामान्य कर्त्ता की विवक्षा हो तो उसकी प्रतीति भी ध्वनि के इस असाधारण लक्षण के कथन से ही हो सकती है। असाधारण लक्षण का वक्ता साधारण नहीं हो सकता। साथ ही लक्षण वाक्य में जो खास वाक्य योजना हुई है उससे भी कर्त्ता के वैशिष्ट्य का भान हो सकता है।

व्यापार विशेष शब्द का अर्थ ध्वनिव्यापार भी हो सकता है। ध्वनि संज्ञा किसी साधारणजन के मुँह से निकल नहीं सकती। उसका वक्ता अवश्य ही असाधारण होगा।

यहाँ तक किए गए विवेचन के आधार पर ध्वनिलक्षण में आए दोषों को दो कारिकाओं द्वारा गिनाते हैं—

अर्थस्य विशिष्टत्वं, शब्दः सविशेषणस्तदः पुंस्त्वम्,।
द्विवचनवाशब्दौ च, व्यक्तिर्ध्वनिर्नाम, काव्यवैशिष्ट्यम्,॥ २३॥
वचनञ्च [10]कथनकर्तुः, कथिता ध्वनिलक्ष्मणीति दश दोषाः।
ये त्वन्ये तद्भेदप्रभेदलक्षणगता न ते गणिताः॥ २४॥

(१) अर्थ का विशेषण, (२) शब्द, (३) शब्द का विशेषण, (४) तत् शब्द का पुंलिंग में प्रयोग, (५) व्यङ्क्तः में द्विवचन, (६) वा शब्द, (७) (व्यङ्क्तः में अन्तर्हित) व्यञ्जना, (८) ध्वनि यह संज्ञा, (९) काव्यविशेषः में काव्य का वैशिष्ट्य और (१०) कथन क्रिया के कर्त्ता का शब्दतः कथन—ध्वनिलक्षण में ये दश दोष आते हैं, इनके अतिरिक्त और दोष जो ध्वनि के भेद-प्रभेद के लक्षणों में आते हैं, उनकी गणना नहीं की गई।

तदेवं लक्षणदोषदुष्टपदव्युदासेन परिशुद्धो ध्वनिलक्षणवाक्यस्यायमर्थोऽवतिष्ठते—

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥ २५ ॥ इति ।

एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य। यदुक्तं 'त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमि'ति । केवलं संज्ञाभेदः ।

तो इस प्रकार लक्षण दोष से दुष्ट पदों को हटाने के बाद ध्वनिलक्षणवाक्य का यह अर्थ सर्वात्मना शुद्ध ठहरता है—

'जहाँ वाच्य अथवा उससे अनुमित अर्थ किसी दूसरे अर्थ को किसी भी सम्बन्ध से प्रकाशित करे—वह 'काव्यानुमिति' कही गई है।'

यह लक्षण अनुमान ही का हो सकता है और किसी का नहीं। जैसा कि कहा गया है 'त्रिरूप लिङ्ग का आख्यान (कथन) अनुमान है।' केवल नाम भर भिन्न है।

संगति—यहाँ तक पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्षों का १९ कारिकाओं द्वारा इस प्रकार संग्रह किया गया है—

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः ।
संज्ञायां सा,
यतः—
केवलमेषापि व्यक्त्ययोगतोऽस्य कुतः ॥ २६ ॥

(१) संज्ञीरूप रसादि अर्थ को काव्य की आत्मा मानने में किसी का मतभेद नहीं है, वह केवल संज्ञा (ध्वनिसंज्ञा) के विषय में है, क्योंकि यह (ध्वनिसंज्ञा) भी इसके (रसादि के) साथ व्यक्ति का कोई भी सम्बन्ध न होने से सम्भव ही कैसे ?

शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता ।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ॥ २७ ॥

(२) शब्द की शक्ति एक है—अभिधा, अर्थ में केवल (साध्यानुमापिका शक्ति) लिङ्गता होती है। इसका युक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा निर्णय कर दिया गया है कि इन दोनों में व्यञ्जकत्व (व्यञ्जना) नहीं रहता।

उक्तं वृथैव शब्दस्योपादानं लक्षणे ध्वनेः ।
न हि तच्छक्तिमूलेष्टा काचिदर्थान्तरे गतिः ॥ २८ ॥

(३) ध्वनि के लक्षण में शब्द का उपादान व्यर्थ किया, क्योंकि उसकी शक्ति से अर्थान्तर का बोध नहीं होता।

न चोपसर्जनत्वेन तयोर्युक्तं विशेषणम् ।
यतः काव्ये गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपीष्टैव चारुता ॥ २९ ॥

(४) इसी प्रकार उनके (शब्दार्थ के) उपसर्जनभाव के प्रतिपादक विशेषण भी ठीक नहीं क्योंकि गुणीभूतव्यंग्यरूप से अभिमत काव्य में भी (ध्वनिवत्) चारुता मानी गई है।

अत एव विशेषस्योपादानमपि नार्थवत् ।
संज्ञासम्बन्धमात्रैकफलं तदिति गम्यते ॥ ३० ॥

(५) इसलिए 'विशेष' शब्द का उपादान भी निरर्थक है। ऐसा लगता है कि संज्ञा (ध्वनि) के साथ केवल सम्बन्ध की प्रतीति ही उसका फल है।

तदा चातिप्रसङ्गः स्यात् संज्ञायां यस्य कस्यचित्।
यद्वाक्यवर्त्तिनोऽन्यस्य विशेषस्य तदाश्रितः॥ ३१॥

(६) किन्तु ऐसा करने पर हर किसी की संज्ञा में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि (प्रहेलिका आदि) वाक्य में स्थित विशेष में भी वह (ध्वनित्व) संगत होने लगेगा।' [कारिका उत्तरार्ध का अर्थ 'प्रहेलिकादौ च नीरसे स्याद्' इस मूल वाक्य के आधार पर किया गया है। वैसे यह अव्यक्त है]

तस्मात् स्फुटतया यत्र प्राधान्येनान्यथापि वा।
वाच्यशक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तत् काव्यमुच्यते॥ ३२॥

(७) इसलिए काव्य उसे कहा जाता है जिससे वाच्य अर्थ की शक्ति (लिंगत्व) द्वारा प्रधान या अप्रधान—किसी भी रूप से अनुमेय की स्फुट प्रतीति हो।

वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति व्यङ्ग्यव्यञ्जकतार्थयोः।
तयोः प्रदीपघटवत् साहित्येनाप्रकाशनात्॥ ३३॥

(८) वाच्य और उससे ज्ञेय अर्थों में व्यंग्य व्यञ्जकभाव सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उनकी प्रतीति घट प्रदीप के समान साथ-साथ नहीं होती।

पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षणात्।
वृक्षत्वाम्रत्वयोर्यद्वद् यद्वच्चानलधूमयोः॥ ३४॥
अनुमानत्वमेवात्र युक्तं तल्लक्षणान्वयात्।
असतश्चेन्द्रचापादेः का व्यक्तिः कृतिरेव सा॥ ३५॥

(९) पक्षधर्मतासम्बन्ध व्याप्ति ज्ञान द्वारा जैसे वृक्षत्व-आम्रत्व तथा धूम अग्नि में—

(१०) अनुमान माना जाता है, वैसे ही अनुमान लक्षण का समन्वय हो जाने से यहाँ भी वही मानना उचित है। इन्द्रचाप आदि जो असत् पदार्थ हैं उनकी अभिव्यक्ति नहीं—उत्पत्ति ही होती है।

कार्यत्वं ह्यसतोऽपीष्टं हेतुत्वं तु विरुध्यते।
सर्वसामर्थ्यविगमाद् गगनेन्दीवरादिवत्॥ ३६॥

(११) (क्योंकि) कार्यत्व तो असत् पदार्थ का भी मान्य है, कारणत्वमात्र से विरोध होता है। क्योंकि आकाश कमल के समान उसमें सभी शक्तियों का अभाव रहता है।

शब्दप्रयोगः प्रायेण परार्थमुपयुज्यते।
नहि तेन विना शक्यो व्यवहारयितुं परः॥ ३७॥

(१२) शब्द का प्रयोग प्रायः दूसरे के लिए होता है। क्योंकि उसके विना पर पुरुष की प्रवृत्ति नहीं कराई जा सकती।

न च युक्तिनिराशंसात् ततः कश्चित् प्रवर्तते।
निवर्तते वेत्यस्येष्टा साध्यसाधनगर्भता॥ ३८॥

(१३) (शब्द प्रयोग में भी) युक्ति दिए विना उससे किसी की प्रवृत्ति नहीं होती और न निवृत्ति ही। इसलिए उस (शब्द प्रयोग) के भीतर साध्यसाधन भाव सम्बन्ध माना गया है।

ते प्रत्येकं द्विधा ज्ञेये शाब्दत्वार्थत्वभेदतः।
पदार्थवाक्यार्थतया ते अपि द्विविधे मते ॥ ३९ ॥

(१४) वह साध्यसाधनभाव सम्बन्ध भी दो प्रकार का होता है। एक शाब्द और एक आर्थ। वे भी दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं—पदार्थगत और वाक्यार्थगत।

तत्र साध्यो वस्तुमात्रमलङ्कारा रसादयः।
इति त्रिधैव, तत्राद्यौ पदं शब्दानुमानयोः ॥ ४० ॥

(१५) उसमें साध्य वस्तुमात्र, अलङ्कार और रसादि ये तीन ही होते हैं। उनमें प्रथम दो शब्द और अनुमान के विषय हैं।

अन्त्योऽनुमेयो भक्त्या तु तस्य व्यङ्ग्यत्वमुच्यते।
भक्तेः प्रयोजनांशो यश्चमत्कारित्वलक्षणः ॥ ४१ ॥

(१६) अन्तिम (रसादि केवल) अनुमेय होता है। लक्षणा द्वारा उसे व्यङ्ग्य कहा जाता है। क्योंकि लक्षणा का जो प्रयोजन है चमत्कार—

स तत्रास्तीति, सोऽप्यस्य विभावाद्येकहेतुकः।
अत एव न लोकेऽपि चमत्कारः प्रसज्यते ॥ ४२ ॥

(१७) वह उसमें रहता है। इसका वह (चमत्कार) भी एकमात्र विभावादि द्वारा उत्पन्न होता है, इसीलिए लोक में वह नहीं होता।

तत्र हेत्वादयः सन्ति न विभावादयो यतः।
न चैकार्थत्वमाशङ्क्यमेषां लक्षणभेदतः ॥ ४३ ॥

(१८) क्योंकि वहाँ (लोक में) हेत्वादि ही होते हैं, विभावादि नहीं। इन्हें एकार्थक भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

स्वभावश्चायमर्थानां यन्न साक्षादमी तथा।
स्वदन्ते सत्कविगिरां गता गोचरतां यथा ॥ ४४ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

(१९) यह तो पदार्थों का स्वभाव ही है कि साक्षात् उनमें उतना स्वाद नहीं होता जितना कुशल कवि के शब्दों से व्यक्त होने पर।

संगति—अनुमितिवादी ने शब्द की केवल एक अभिधाही शक्ति मानी है। अतः वह—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

आदि द्व्यर्थक वाक्यों में द्वितीयार्थ की प्रतीति का उपाय बतलाता है—

यत् पुनरस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वाद् व्यापारान्तरपरिकल्पनं तदर्थस्यैवोपपद्यते न शब्दस्य, तस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वासिद्धेः। तथा हि—एकाश्रयाः शक्तयोऽन्योन्यानपेक्षप्रवृत्तयोऽप्राकृतपौर्वापर्यनियमा युगपदेव स्वकार्यकारिण्यो दृष्टाः यथा दाहकत्वप्रकाशकत्वादयोऽग्नेः। न च शब्दाश्रयाः शक्तयस्तथा दृश्यन्ते, अभ्युपगम्यन्ते वा, नियोगतोऽभिधाशक्तिपूर्वकत्वे-

नेतरशक्तिप्रवृत्तिदर्शनात्। तस्माद्भिन्नाश्रया एव ता न शब्दैकसमाश्रया इत्यवसेयम्।

शब्द को अनेकार्थबोधक शक्ति का आश्रय मानकर उसके आधार पर व्यञ्जना नामक अभिधातिरिक्त शक्ति की (शब्द में) जो कल्पना की गई है वह अर्थ में ठीक प्रतीत होती है शब्द में नहीं, क्योंकि शब्द अनेक शक्ति का आश्रय सिद्ध नहीं होता।

जिन एकाधिक शक्तियों का आश्रय एक ही होता है उनकी प्रवृत्ति परस्पर निरपेक्ष या स्वतन्त्र होती है। उनमें पौर्वापर्य नियम नहीं रहता—वे सब एक ही साथ अपना कार्य करती देखी जा रही हैं। जैसे—अग्नि की दाहकता, प्रकाशकता आदि। किन्तु जिन शक्तियों को शब्दाश्रित माना जा रहा है उनमें यह न तो देखा जाता है और न माना ही जाता है। क्योंकि उनमें से अन्य शक्तियों की प्रवृत्ति अभिधा पर निर्भर रहती है। इसलिए भिन्न-भिन्न पदार्थों को उनका आश्रय माना जाना चाहिए, एक मात्र शब्द को नहीं।

विमर्श : 'उपोढरागेण' आदि अनेकार्थक श्लोकों में जिन शक्तियों से अनेक अर्थ की प्रतीति होती है वे एकमात्र शब्द पर निर्भर नहीं मानी जा सकतीं। शब्द पर निर्भर मानने से एकाश्रित अनेक शक्तियों की मूल विशेषताओं का हनन होता है। एकाश्रित अनेक शक्तियाँ—अपने आप में स्वतन्त्र होती हैं, वे एक दूसरे पर निर्भर नहीं रहतीं। अग्नि की दाहकता, प्रकाशकता और पाचकता आदि शक्तियाँ इस तथ्य की पोषक उदाहरण हैं। जिनमें शक्तियों को एकमात्र शब्द पर आश्रित माना है उन्हें यह भी मानना पड़ा है कि अन्य सभी शक्तियाँ अभिधा शक्ति पर निर्भर रहती हैं। यह उद्धृत उदाहरण के आधार पर एकाश्रित शक्तियों की प्रवृत्ति के विरुद्ध है। इसलिए अनेकार्थक वाक्यों में भिन्नार्थप्रत्यायक शक्तियों के आश्रय भी भिन्न माने जाने चाहिए। उनमें अभिधेयार्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति अभिधा है उसका आश्रय शब्द है। दूसरे अर्थों की बोधकशक्ति का आश्रय शब्द नहीं है—उसके आश्रय का निर्णय अनुमितिवादी ने इस प्रकार किया है—

यश्चासावाश्रयो भिन्नः सोऽर्थ एवेति तद्व्यापारस्यानुमानान्तर्भावोऽभ्युपगन्तव्य एव। तथा हि। गौर्वाहीक इत्यादौ तावद्वादयोऽर्था बाधितवाहीकाद्यर्थान्तरैकात्म्यास्ताद्रूप्यविधानान्यथानुपपत्त्या केनचिदंशेन तत्र तत्त्वमनुमापयन्ति न सर्वात्मना।

न ह्यनुन्मत्तः कश्चित् क्वचित् किञ्चित् कथंचित् साधर्म्यमनुत्पश्यन्नेवाकस्मात् तत्त्वमारोपयतीति परिशीलितवक्तृस्वरूपः प्रतिपत्ता तत्त्वारोपनिमित्तं सादृश्यमात्रमेव प्रतिपत्तुमर्हति न तत्त्वम्।

तद्धि वाच्यतयोपक्रम एव भासते, न प्रतीतिपर्यवसानास्पदं भवितुमर्हति, तस्य बाधोपपत्तेः।

तस्य चैवंविधस्योपक्रमस्य निमित्तं साधर्म्यमात्रप्रतिपादनम्। प्रयोजनञ्च लाघवेन वाहीकादौ गवादिगतजाड्यादिधर्मप्रतिपादनं; यस्मादतिदेशप्रकारोयमर्थान्तरे शब्दविनिवेशो नाम। यदुक्तम्—

'जातिशब्दोऽन्तरेणापि जातिं यत्र प्रयुज्यते।
सम्बन्धिसदृशाद्धर्मात् तं गौणमपरे विदुः ॥ ४५ ॥

यह जो दूसरा आश्रय है वह है केवल अर्थ, इसलिए उसके व्यापार का अनुमान में अन्तर्भाव मानना ही चाहिये। गौर्वाहीक इत्यादि स्थलों में गो आदि अर्थों का वाहीक आदि दूसरे अर्थों के साथ अभेद नहीं हो पाता।

अभेद को स्थापित करने में जब कोई दूसरा उपाय नहीं रहता तब वाहीक आदि में वे अपने अभेद का अनुमान कराते हैं वह अपने ही किसी अंश द्वारा, सर्वात्मना नहीं।

'कोई भी ऐसा व्यक्ति जो उन्मत्त नहीं है किसी प्रकार कहीं किसी साधर्म्य को देखे बिना सहसा दूसरे का अभेदारोप नहीं करता—' वक्ता की ऐसी प्रवृत्तिका जिसे ज्ञान होता है वह बुद्धिमान् व्यक्ति तत्त्वारोप का निमित्त सादृश्य को ही मानता है, तत्त्व को नहीं वह तो वाच्यरूप से आरम्भ में ही प्रतीत हो जाता है, इसलिए चरम प्रतीति का विषय नहीं बन सकता। (तबतक) उसका बाध हो जाता है।

कथन की इस प्रवृत्ति का कारण सादृश्यमात्र का ज्ञान कराना है और लाघवात् वाहीकादि में गो आदि में रहने वाले जाड्य आदि धर्म का प्रतिपादन प्रयोजन है; क्योंकि दूसरे अर्थ में किसी दूसरे अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग करना अतिदेश का एक भेद माना गया है। जैसाकि कहा गया है-

जाति शब्द का प्रयोग (स्ववाच्य) जाति से रहित पदार्थ में भी होता है यदि (उसमें कोई सादृश्य सम्बन्ध से) सम्बन्धित पदार्थ के धर्म की समता का धर्म हो। दूसरे आचार्य उसे गौण भी कहते हैं।

विमर्श : उपोढरागेण आदि स्थलों में शब्द अभिधा द्वारा केवल वाच्य अर्थ का ज्ञान कराता है, अर्थान्तर की प्रतीति जिस शक्ति से होती है वह अर्थ में रहती है। अर्थ द्वारा अर्थान्तर का ज्ञान अनुमान द्वारा ही होता है (जैसे धूमरूप धर्म से वह्निरूप अर्थान्तर का) इसलिए अर्थनिष्ठ शक्ति को अनुमान मानना चाहिये। 'गौर्वाहीकः' आदि स्थलों में गोत्व का वाहीकत्व से भेद होने से एक-विभक्ति प्रतिपादित अभिन्नता नहीं बनती तब (जाड्यादि) अभेद का यही अनुमान कराती है कि इस अभिन्नता का हेतु वाहीक में गोतुल्य जाड्य आदि गोत्व से भिन्न धर्मों का अस्तित्व है। क्योंकि वक्ता की ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वह साधर्म्य के बिना भिन्न पदार्थों में अभिन्नता का व्यवहार नहीं करता साथ ही इस प्रकार वक्रतापूर्वक बोलने का प्रयोजन वाहीक आदि आरोप विषय में गो आदि आरोप्यमाण पदार्थों के जड़ता आदि धर्मों का अस्तित्व।

ग्रन्थकार ने इस प्रसंग में सादृश्य और साधर्म्य दो शब्दों का प्रयोग एक साथ किया है। उसने लिखा है—कोई भी साधर्म्य को बिना देखे तत्त्वारोप नहीं करता। इसलिए तत्त्वारोप का निमित्त सादृश्यमात्र समझा जाता है। सादृश्य और साधर्म्य साहित्यशास्त्र के दो विवादास्पद शब्द हैं। मम्मट ने उपमा को भेदगर्भित साधर्म्य माना है और परवर्ती आचार्यों ने सादृश्य। काव्यप्रकाश की वामनी टीका में टीकाकार वामन झलकीकर ने इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने सादृश्य और साधर्म्य के बीच प्रयोज्य-प्रयोजक भाव सम्बन्ध माना है। उनका इस मान्यता पर कथन है कि साधर्म्य सादृश्य का प्रयोजक होता है और सादृश्य साधर्म्य का प्रयोज्य। साधर्म्य का अर्थ भर्तृहरि के अनुसार समानधर्मसम्बन्ध है। साधर्म्य शब्द की निरुक्ति है—'समानो धर्मो ययोस्तौ सधर्माणौ तयोर्भावः'। भर्तृहरि ने समास के बाद प्रयुक्त भाववाची तद्धितप्रत्यय का अर्थ सम्बन्ध किया है। 'कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन।' साधर्म्य पद में ष्यञ् प्रत्यय भाव अर्थ में ही हुआ है। वामन की टीका पर दी गई

टिप्पणी में इस मत के समर्थन में कैयट का भाष्य व्याख्यान भी उद्धृत किया है। 'भाव' की व्याख्या 'प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारीभूतो भावः' भी उक्त अर्थ में सहायक है। इसका अर्थ है 'शब्द का वह अंश जिसमें प्रत्यय जुड़ते हैं—उसके गर्भ में निहित जो धर्म वही भाव का अर्थ है। साधर्म्य शब्द में ष्यञ् प्रत्यय जिस शब्द से हुआ है वह है सधर्म या सधर्मन् उसका अर्थ है समान धर्म वाला। इस अर्थ में विशेषण है समान धर्म और विशेष्य उससे युक्त व्यक्ति। ष्यञ् प्रत्यय भाव में हुआ है अतः उसका अर्थ हुआ समानधर्म। किन्तु समानधर्म का ज्ञान समानशब्द से भी होता है। साधर्म्य द्वारा उसका तो ज्ञान होता ही है उसके आश्रयभूत व्यक्ति और उसके साथ उसके सम्बन्ध का भी ज्ञान होता है। इसलिए भर्तृहरि का उक्त मत वैज्ञानिक सिद्ध होता है।

जहाँ तक सादृश्य और साधर्म्य के सम्बन्ध का प्रश्न है साधर्म्य शब्द की उक्त निरुक्ति के अनुसार उन दोनों में भेद बतलाते हुए वामनाचार्य ने लिखा है 'यः साधारणधर्मप्रतियोगिकः उपमानोपमेयोभयानुयोगिकः सम्बन्धः स साधर्म्यमित्युच्यते, यश्च उपमानप्रतियोगिकः उपमेयानुयोगिकः सम्बन्धः स सादृश्यमित्युच्यये'–इति साधर्म्यसादृश्ययोर्भेदः (पृ० ५४१ बालबोधिनी काव्यप्रकाश) इस न्यायशास्त्र की पदावली में निहित सार इतना ही है कि जो सम्बन्ध उपमान और उपमेय दोनों में एक साथ रहता है वह साधर्म्य कहलाता है। सादृश्य इसमें भिन्न होता है। वह एक साथ किन्हीं दो में न रहकर कहीं से उठता है और कहीं जाकर बसता है। सादृश्य एक पदार्थ का दूसरे में होता है, दोनों में परस्पर नहीं।' वस्तुतः साधर्म्य के निरूपण में उसके आश्रयों को उपमान उपमेय नहीं कहा जाना चाहिए। क्योंकि साधर्म्य से जो प्रतीति होती है उसमें दोनों पदार्थों के गुणधर्म बराबर प्रतीत होते हैं। सादृश्य में दोनों में कुछ न्यूनाधिकता आ जाती है। उसमें एक के धर्म में उत्कर्ष और दूसरे के धर्म में अपकर्ष की प्रतीति होती है। उपमानोपमेयभाव इसी धर्मगत प्रतीति के उत्कर्षापकर्ष पर निर्भर है। जिसका धर्म उत्कृष्ट होता है वह उपमान और जिसका अपकृष्ट होता वह उपमेय माना जाता है। उनमें उत्कृष्ट धर्म वाले पदार्थ का सादृश्य अपकृष्ट धर्म वाले पदार्थ में जाता है। दोनों का सादृश्य दोनों में नहीं जाता। यह स्थिति साधर्म्य में सम्भव है। अतः साधर्म्य धर्मगत तुल्यकोटिक समानता का बोध कराता है और सादृश्य ऐसी समानता का जिसमें उपमानांश कुछ उत्कट रहता है। साधर्म्य और सादृश्य की विषमता का आधार व्यवहार है। व्यवहार में कहा जाता है—'इन दो पदार्थों में साधर्म्य है' और 'इसका इसमें सादृश्य है।'

वस्तुतः इन दोनों प्रमाणों के आधार पर साधर्म्य और सादृश्य का भेद सिद्ध नहीं होता। व्यवहार ऐसा भी हो सकता है—'इसका इसमें साधर्म्य है और इन दोनों में सादृश्य।' ऊपर के व्यवहार में जहाँ साधर्म्य शब्द की प्रकृति को द्विवचनान्त माना जाता था और सादृश्य की प्रकृति को एकवचनान्त, वहाँ इस व्यवहार में उसके विरुद्ध भी माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त जिन व्याकरण-व्युत्पत्तियों के आधार पर साधर्म्य का अर्थ समानधर्म-सम्बन्ध किया जाता है उन्हीं व्युत्पत्तियों के आधार पर सादृश्य में दृश का अर्थ ज्ञान करके उसका अर्थ भी समानज्ञानविषयत्व किया जा सकता है। न्यायशास्त्र का नियम है—'विषयिता-सम्बन्धेन ज्ञानं प्रति तादात्म्येन विषयस्य कारणत्त्वम्' अर्थात् विषय अपने ज्ञान में अपने मूल रूप से कारण होता है। मुखचन्द्र आदि ज्ञान में समता की प्रतीति का कारण मुखचन्द्र आदि में विद्यमान समान धर्म है। यदि इन समान कहे जाने वाले धर्मों का कोई सम्बन्ध निर्धारित किया जाय तो, वह सादृश्य के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है। फलतः साधारण या समान धर्म और

सादृश्य में प्रयोज्य-प्रयोजकभाव हो सकता है समान धर्म के सम्बन्ध, जिसे साधर्म्य शब्द से कहा गया है और सादृश्य का तो अभेद ही सिद्ध होता है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों के साधर्म्य और नवीन आचार्यों के सादृश्य शब्द द्वारा उपमास्वरूप में कोई भेद नहीं होता। साधर्म्य को छोड़कर नवीन सादृश्य शब्द का प्रयोग करना—एक दृष्टि से अधिक अच्छा है।

प्रत्येक दर्शक यह मानता है प्रकृति का यह दृश्यरूप उसका वह परिणाम है जो विरूप होता है। सरूप परिणाम में प्रकृति दृश्य नहीं रहती। ऐसी स्थिति में जिन पदार्थों को समान कहा जाता है उनमें तात्त्विक एकता सम्भव नहीं। एकता की प्रतीतिमात्र होती है जो प्रेक्षक की बुद्धि का तलस्पर्शित्वाभाव—रूप दोष है। सादृश्य शब्द के प्रयोग में यह भाव नहीं होता कि वस्तुतः दोनों पदार्थों के धर्म समान हैं—अपितु यह प्रतीत होता है कि समान लगते हैं। साधर्म्य जो ज्ञान कराता है उसका आश्रय ज्ञाता की बुद्धि से दूर पदार्थ की स्वगत स्थिति होती है वह समान हो या जैसी भी। अलंकार का महत्त्व ज्ञान तक ही सीमित है। तत्त्व तक पहुँचने पर तो वह एक निर्मूल वस्तु सिद्ध होती है, इसलिए उपमालंकार का स्वरूप ज्ञान परक होना चाहिए वस्तु परक नहीं। अतएव उसके स्वरूप में साधर्म्य का निर्देश उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना सादृश्य का होता है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि समान धर्म की भी स्वगत समानता का मानदण्ड, यदि सूक्ष्मता या लाघव से काम लें तो सादृश्य को ही मानेंगे, अपने भीतर पुनः किसी गुणधर्म को समानता का मानदण्ड मानने पर अनवस्था दोष होगा। इसलिए 'अन्ते रण्डाविवाहन्याय' से भी—उपमा का मूल सादृश्य ही ठीक है। इस तथ्य की पुष्टि अलंकारसर्वस्व की जयरथकृत विमर्शिनी टीका से भी होती है। काव्यमाला में निर्णयसागर से द्वितीय वार प्रकाशित अलङ्कारसर्वस्व के ३५ वें पृष्ठ पर 'पाण्ड्योऽयमंसार्पि०' पद्य की टीका विमर्शिनी में राजानक जयरथ ने लिखा है—'अस्यास्तावद् धर्मस्य साधारण्यं जीवितम्। तच्च धर्मस्यैकत्वे भवति। न च वस्तुतोऽत्र धर्मस्यैकत्वम्। नहि य एव मुखगतो लावण्यादिः धर्मः स एव चन्द्रादौ। तस्यान्वया—संभवात्। अपितु तज्जातीयोऽत्रान्योऽस्ति धर्मः। एवं धर्मयोर्भेदात् साधारणत्वा-संभवाद् उपमायाः स्वरूपनिष्पत्तिरेव न स्यात्। अथ धर्मयोरपि सदृशयमभ्युपगम्यते तत् तत्रापि सादृश्यनिमित्तमन्यदन्वेष्यम्, तत्राप्यन्यदन्वेष्यम्, तत्राप्यन्यदित्यनवस्था स्यात्। ततश्च धर्मयोर्वस्तुतो भेदेऽपि प्रतीतावेकतावसायाद् भेदेऽप्यभेद इत्येतन्निमित्तमेकत्वमाश्रयणीयम्। अन्यथा ह्युपमाया उत्थानमेव न स्यात्। अतएवात्र बिम्बप्रतिबिम्बभावव्यपदेशः। लोको हि दर्पणादौ बिम्बात् प्रतिबिम्बस्य भेदेऽपि मदीयमेवात्र वदनं सङ्क्रान्तमित्यभेदेनाभिमन्यते। अन्यथा हि प्रतिबिम्बदर्शने स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यभिमानो नोदियात्, भूषणविन्यासादौ च नायिका नाद्रियेरन्। एवं चात्राभेदविविक्षैव जीवितम्।'

रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने भी उपमा में साधारण धर्मों का अभेद आहार्य अर्थात् ऐच्छिक ही माना है। यह उनके उपमालङ्कार विवेचन के आरंभ से ही स्पष्ट हो जाता है।

शास्त्रों में सादृश्य और साधर्म्य को लेकर विवाद है। व्याकरणशास्त्र दोनों को भिन्न मानता है और न्याय अभिन्न ही मानते हैं। महिमभट्ट को न्यायमत प्रिय है। अतः वे उन्हें अभिन्न मानते हैं। इसीलिए पर्यायरूप से दोनों का प्रयोग एक ही संदर्भ में वे कर गए हैं।

एवं 'कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्' इत्यादाववगन्तव्यम्। अविनाभावावसायपूर्विका ह्यन्यतोऽन्यस्य प्रतीतिरनुमानमित्यनुमानलक्षणमुक्तम् तच्चात्रोपलभ्यत एव।

तथा हि वदतीत्यादौ वदनादेरर्थान्तरस्य प्रकाशादेः प्रतीतिः। तयोश्चाविनाभावः कार्यकारणभावकृतः प्रकाशनस्य वदनकार्यत्वप्रसिद्धेः। न च वदतेः प्रकाशो वाच्य इति शक्यं वक्तुं तस्य तत्रासमितत्वात् प्रकाशस्य चातत्त्वात्। न चायं स्वार्थमेव प्रतिपादयति, तस्य बाधोपपत्तेः।

अथोपचारत उपादानान्यथानुपपत्त्या वदनक्रियायाः सदृशे प्रकाशनाख्ये क्रियान्तरे वर्त्ततेऽयं वदतिरित्युच्यते, तर्ह्यन्यथानुपपत्त्या वदनादेः प्रकाशादिः प्रतीयमानोऽनुमेय एव भवितुमर्हति, अर्थापत्तेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमादित्युक्तम्।

तस्माद्योऽयं वाहीकादौ गवादिसाधर्म्यावगमः स तत्त्वारोपान्यथानुपपत्तिपरिकल्पितोऽनुमानस्यैव विषयः। न शब्दव्यापारस्येति स्थितम्।

गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते।
को ह्यतस्मिन्नतत्तुल्ये तत्त्वं व्यपदिशेद् बुधः॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

इसी पद्धति से 'कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्' इत्यादि स्थलों पर विचार करना चाहिए। 'अविनाभाव के निश्चय द्वारा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का ज्ञान अनुमान होता है—ऐसा अनुमान का लक्षण कहा गया है। वह यहाँ लागू होता ही है। क्योंकि 'वदति' इत्यादि के प्रयोगों में वदन आदि से प्रकाशन आदि की प्रतीति होती है। उन दोनों का जो अविनाभाव सम्बन्ध है उसका आधार है कार्यकारणभाव, क्योंकि प्रकाशन 'वदनक्रिया के कार्यरूप से प्रसिद्ध है। किन्तु 'वदति' क्रिया से 'प्रकाशन अभिधया प्रतीत होता है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका उस अर्थ में संकेतग्रह (असमित) नहीं है। और प्रकाशन स्वयं वदन से अभिन्न है नहीं। उधर वदति क्रियापद द्वारा उसका अपना अर्थ भी प्रतीत हो नहीं पाता क्योंकि उसका उत्तर क्षण में बाध हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि लक्षणा द्वारा वदति क्रियापद वदन क्रिया के सदृश प्रकाशन नामक तदितर क्रिया में तात्पर्य है, क्योंकि श्लोक में उसका उपादान इस उपाय के बिना सार्थक सिद्ध नहीं हो पाता—तो (ऐसी स्थिति में) अन्यथानुपपत्ति द्वारा अर्थापत्ति द्वारा वदन—आदि से प्रतीयमान प्रकाशन आदि अनुमेय ही होने चाहिए क्योंकि अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव माना गया है।

इसलिए वाहीक आदि में जो गो आदि के साधर्म्य का ज्ञान है वह अनुमान का विषय है, जो (अनुमान) किसी दूसरे उपाय से वाहीक में गोत्व के आरोप की सिद्धि न होने से माना जाता है। वह शब्द-व्यपार का विषय नहीं है। यह बात तय हुई। इसका संग्रह यह हुआ कि—

'गोत्व के आरोप से वाहीक में उसके साम्य का अनुमान किया जाता है। कौनसा—बुद्धिमान् व्यक्ति अत्यन्त भिन्न और साम्यशून्य पदार्थ में किसी भिन्न पदार्थ के आरोप का अल्लेख करेगा?'

विमर्श: शब्द की शक्ति केवल एक मानी जाने पर जहाँ एक ओर व्यञ्जना का खण्डन होता है वहीं दूसरी ओर लक्षणा का भी 'गौर्वाहीक' के प्रसङ्ग द्वारा व्यक्तिविवेककार ने खण्डन आरम्भ किया है। उसका आंशिक अभिप्राय 'गौर्वाहीकः' के प्रसङ्ग में स्पष्ट कर दिया गया है। शेष जो वदति बिसिनी पत्रशशयनम् आदि प्रयोगों में चेतनसुकर वदन कथन आदि क्रियाप्रभृति। गुणों का बिसिनी पत्रशयन आदि जडगतत्वेन व्यवहार है उनका भी स्पष्टीकरण किया है

उसमें 'वदति बिसिनीपत्रशयनम्' के विषय में उनका कहना है—वदन क्रिया शयन रूप जडपदार्थ में तब तक संभव नहीं जब तक उसका अर्थ प्रकाशन नहीं कर दिया जाता। इस प्रकार क्योंकि प्रकाशन अर्थ की 'आपत्ति' (लाने) से वदतिक्रियापद का श्लोक में प्रयोग—उपपन्न (प्रसङ्गानुरूप) होता है फलतः यहाँ अर्थापत्तिप्रमाण मानना होता है। यह अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं है। उसका अन्तर्भाव अनुमान में किया जा चुका है। इसलिए अर्थापत्ति द्वारा बोधित अर्थ अनुमान द्वारा बोधित माना जाना चाहिए। जो अर्थ अनुमान द्वारा बोधित होता है वह वाक्य नहीं अनुमेय होता है। निदान—'गौर्वाहीक' आदि स्थलों में भी वाहीक आदि में अभेद-आरोप की अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति द्वारा गो आदि के साधर्म्य की प्रतीति होती है अतः वह शब्द का नहीं अनुमान का विषय है।

अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव न्यायशास्त्र का प्रसिद्ध विषय है। अर्थापत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण है 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' (देवदत्त स्थूल है, पर दिन को नहीं खाता) न्यायशास्त्र के अनुसार यहाँ—देवदत्तः रात्रिभोजनकर्तृत्वावच्छिन्नः दिवा न भुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्।' इस प्रकार अनुमान प्रयोग से काम चला लिया जाएगा। अर्थात् उपपाद्य अंश और अनुपपन्नतोत्पादक अंश दोनों की समष्टि को हेतु बनाकर उनदोनों के आश्रय में परिशेष पदार्थ का अनुमान किया जा सकता है। उसमें दृष्टान्त व्यतिरेकी रखा जा सकता है—'यन्नैवं तन्नैवम्' आदि। गौर्वाहीक इस स्थल में भी अनुमान का रूप इस प्रकार बनाया जा सकता है—'वाहीको गोसाधर्म्यवान्, भिन्नत्वे सत्यप्यभिन्नत्वेन व्यपदिश्यमानत्वात्।'

गङ्गायां घोष इत्यादावपि गङ्गादयोऽर्थाः स्वात्मन्यनुपपत्तिबाधितघोषाद्यधिकरणभावास्तदुपादानसामर्थ्यात् सम्बन्धमात्रपरिकल्पिततत्त्वारोपं तदधिकरणभावोपगमयोग्यमर्थान्तरमेव तटादिरूपमनुमापयन्ति।

न हि तत्सादृश्यमेवैकं तत्त्वारोपनिबन्धनमिष्यते, किन्तर्हि, तत्सम्बन्धादिरपि, इति तत्सम्बन्धमात्रसमारोपिततद्भावस्तटादिरेव घोषाद्यधिकरणभावोपादानान्यथानुपपत्त्या गङ्गादीनामर्थानामनुमेय एव भवितुमर्हति।

शब्दः पुनः स्वार्थाभिधानमात्रव्यापारपर्यवसितसामर्थ्यो नार्थान्तरस्य तटादेर्वार्तामपि वेदितुमुत्सहते, किं पुनः संस्पर्शमित्युक्तम्। प्रयोजनं पुनरस्यैवंविधस्योक्तिवैचित्र्यपरिग्रहस्य तटादावारोपविषये वस्तुनि आयारोप्यमाणगङ्गादिगतपुण्यत्वशीतलत्वादिधर्मप्रतिपत्तिः, न सादृश्यमिति पूर्वस्मादस्य विशेषः। उभयत्रापि च तत्त्वारोप एव हेतुः। स हि तत्साम्यतत्सम्बन्धादिनिबन्धनत्वाद् बहुविध इष्टः। यदाहुः—

'अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥' इति।

'गङ्गायां घोषः इत्यादि स्थलों में' गङ्गादि पदार्थों में घोष आदि पदार्थों की अधिकरणता का बाध हो जाता है। ऐसी स्थिति में वे (गङ्गादिपदार्थ) अपने साथ किसी भी सम्बन्ध से सम्बन्धित होने के कारण अभिन्न रूप से प्रतीत कराते हुए तट आदि किन्हीं अन्य " कराते हैं। एक मात्र सादृश्य ही तत्त्वारोप का कारण नहीं होता, संयोग ' उसके कारण बनते हैं। इसलिए गङ्गा आदि अर्थों द्वारा तटादि रूप अर्थ

अर्थ अन्य किसी वृत्ति द्वारा नहीं क्योंकि घोष आदि की अधिकरणता दूसरे किसी भ नहीं बन पाती। इन तटादिरूप अर्थों पर भी अनुमापक अर्थ का अभेद आरोपित इस अभेद का कारण भी अनुमापक गङ्गादि अर्थ के साथ तटादि अनुमेय अर्थ का सं सम्बन्ध होता है।

शब्द की शक्ति तो केवल अपने वाच्यार्थ का ज्ञान कराकर शान्त हो जाती है इ दूसरे अर्थ की बात भी नहीं जान सकता, उसके स्वरूप स्पर्श की तो बात ही दूर है प्रकार में इस प्रकार की विचित्रता अपनाने का प्रयोजन होता है आरोप के विषय वस्तु में आरोप्यमाण गङ्गा आदि वस्तु के पुण्यत्व शीतलत्व आदि धर्म का ज्ञान; सादृश यही पहले उदाहरण से इसका अन्तर है। किन्तु कारण दोनों स्थलों में तत्वारोप ए उसके कारण आरोप्यमाण का साम्य या संयोगादि सम्बन्ध बहुत से होते हैं इसलिए वह प्रकार का माना गया है। जैसा कि कहा गया है—

'लक्षणा पाँच प्रकार की होती है अभिधेय के साथ—१. सम्बन्ध से, २. सादृश्य से, ३ से, ४. वैपरीत्य से तथा ५. क्रियायोग से।

विमर्श : लक्षणा के इन पाँचों प्रकारों का स्पष्टीकरण अभिनवगुप्ताचार्य ने की व्याख्या लोचन में इस प्रकार किया है—'सा च लक्षणा पञ्चविधा तद्यथा— संयोगात्; द्विरेफशब्दस्य हि योऽभिधेयो भ्रमरशब्दः—द्वौ रेफौ यस्येति कृत्वा, तेन भ्र यस्य संयोगः सम्बन्धः षट्पदलक्षणस्यार्थस्य, सोऽर्थो द्विरेफशब्देन लक्ष्यते, अभि व्याख्यातरूपं निमित्तीकृत्य। सामीप्यात् गङ्गायां घोषः। समवायादिति सम्बन्धादित्य प्रवेशय इति यथा। वैपरीत्यात् यथा शत्रुमुद्दिश्य कश्चिद् ब्रवीति—'किमिवोपकृतं न इति। क्रियायोगादिति कार्यकारणभावादित्यर्थः, यथाऽन्नापहारिणि व्यवहारः प्राणान् इति। एवमनया लक्षणया पञ्चविधया विश्वमेव व्याप्तम्। अर्थात्=लक्षणा पाँच प्रकार है। अभिधेय अर्थ के साथ संयोग से। द्विरेफ शब्द का अभिधेय अर्थ 'दो-रेफ-वाला' इ के आधार पर भ्रमर शब्द है, अतः वह उस भ्रमर शब्द से जिसका संयोग अर्थात् स ऐसे षट्पद रूपी अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा कराता है। और उसमें निमित्त बनाता के उक्त सम्बन्ध को। सामीप्य से—यथा गङ्गायां घोषः। समवाय से—अर्थात् सम्बन्ध यष्टीः प्रवेशय। वैपरीत्य से—यथा शत्रु के लिए कोई कहता है—'उसने मेरा किस प्रक नहीं किया।' क्रियायोग से अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध से; यथा—अन्न के अपहरण से कहा जाय प्राणों को यह चुरा रहा है। इस प्रकार इस लक्षणा द्वारा सम्पूर्ण विश्व व्या
(ध्वन्यालोक चौ० सं० पृ० २

विशेष : अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका के 'भक्तिमाहुस्तमन् लोचन में उक्त कारिका भी उद्धृत की है। किन्तु व्यक्तिविवेक के पाठ से उसमें लोचन का पाठ है 'अभिधेयेन संयोगात्' और व्यक्तिविवेक का पाठ है 'अभिधेयेन व्यक्तिविवेककार ने 'व्यङ्ग्यः' इस पद के द्विवचन खण्डन में अभिनवगुप्त का लोच उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे पश्चाद्वर्ती थे। अभिनवगुप्त ने संयोगात तेन भ्रमरशब्देन 'यस्य संयोगः सम्बन्धः' इस प्रकार सम्बन्ध किया है। संयोग शब्द सम का वाचक है और सम्बन्ध शब्द सम्बन्ध सामान्य का। सामान्यार्थ में विशेष वाचक प्रयोग ठीक न जानकर व्यक्तिविवेककार ने पाठ बदल दिया होगा। कुछ ऐसा व्यक्तिविवेककार को श्लोकों और कारिकाओं का संस्कार बहुत कुछ धूमिल था। आवश्य

पर वे अपने मन से गढ़कर जोड़ते गए हैं। इसीलिए उनके उदाहृत पद्यों में भी काफी पाठान्तर हैं। कालिदास के प्रायः सभी पद्य कुछ-कुछ बदलकर दिए गए हैं। संभव है लिपिकारों ने ही ऐसे परिवर्तन कर दिए हों।

इसी प्रकार 'अभिधेयेन संयोगात्' कारिका में दूसरा पाठान्तर है—सामीप्यात् की जगह सादृश्यात्। लोचनमें सामीप्यात् पाठ दिया गया है और उसका उदाहरण भी गङ्गायां घोषः। व्यक्तिविवेक में वह सादृश्यात् कर दिया गया है। अभिनवगुप्त ने समवाय का अर्थ सम्बन्धमात्र किया है। सामीप्य आदि सम्बन्ध उसी सम्बन्ध में अन्तर्भूत माने जा सकते हैं सम्भवतः इसलिए सामीप्य को छोड़ सादृश्य को अपना लिया गया हो। वस्तुतः सामीप्य के समान सादृश्य भी और न केवल सादृश्य ही, वैपरीत्य आदि अन्य सम्बन्ध भी सम्बन्धवाचक समवाय शब्द द्वारा गृहीत हो जाते हैं। बाद के गदाधर भट्टाचार्य आदि आचार्यों ने 'अभिधेयेन सम्बन्ध' को ही लक्षण माना है, उनका लक्षणालक्षण—है—'शक्यसम्बन्धो लक्षणा'। सम्बन्धमात्र से काम चल सकने पर भी वैपरीत्य आदि विशिष्ट सम्बन्धों का उल्लेख किया जाना केवल स्पष्टता के लिए ही हो सकता है। इस दृष्टि से लोचन या संयोगात् पाठ ही अधिक उचित प्रतीत होता है। सामीप्य के स्थान पर सादृश्य पाठ अभिनवगुप्त के लिए अपेक्षित नहीं क्योंकि उन्होंने 'गौण' संज्ञा द्वारा सादृश्यमूलक लक्षणा का स्पष्टीकरण उद्धृत लक्षणार्थकथन के पहले ही कर दिया है। वस्तुतः सम्बन्ध अनन्त हैं, अतः लक्षणा भी केवल पाँच तक सीमित नहीं वह भी अनन्तप्रकार की हो सकती है।

तस्य च तैरविनाभावनियमो लोकत एवावसित इति न तत्र प्रमाणान्तरापेक्षाप्रयासः। लोको हि तत्सदृशमर्थं तत्सम्बद्धं च तत्त्वेन व्यवहरन् दृश्यते, तद्यथा दीर्घग्रीवं विकटकायं च कश्चित् पश्यन् करभ इति व्यपदिशति, मञ्चसम्बद्धांश्च कांश्चित् क्रोशतो मञ्चाः क्रोशन्तीति।

किञ्चोपचारवृत्तौ शब्दस्य मा भूदतिप्रसङ्ग इत्यवश्यं किमपि निमित्तमनुसर्तव्यम्। अन्यथान्यत्र प्रसिद्धसम्बन्धः कथमसमितमेवार्थान्तरं प्रत्याययेत्। यच्च तन्निमित्तं तदेवास्माभिरिह लिङ्गमित्याख्यातम्। युक्तश्चैतत्। शब्दस्य तत्र व्यापाराभावात्। व्यापाराभावश्च सम्बन्धाभावात्। लिङ्गाच्च लिङ्गिनः प्रतीतिरनुमानमेवेति न गुणवृत्तावर्थान्तरप्रतीतिः शाब्दीति तस्या वाचकाश्रयत्वमसिद्धमेव।

उसका उनके (तत्त्वारोप का साम्य आदि के) साथ व्याप्ति-सम्बन्ध लोक वाक्यों से निश्चित होता है इसलिए उसमें किसी अन्य प्रमाण की खोज का प्रयास अपेक्षित नहीं। लोग तत्सदृश और तत्सम्बद्ध अर्थ को तद्रूप से पुकारते हुए देखे जाते हैं जैसे लम्बी गरदन और विशाल शरीर वाले किसी को देखकर उसे 'करभ' (हाथी का बच्चा) कहते हैं और मचाई पर बैठे हुए व्यक्तियों को चिल्लाते सुनकर मचाईयाँ चिल्ला रही हैं—ऐसा।

इसके अतिरिक्त शब्द की इस उपचारवृत्ति (लक्षणा) में अतिव्याप्ति न हो जाय इसलिए—कोई एक कारण अवश्य ही मानना होगा। नहीं तो जिसकी शक्ति दूसरे अर्थ में प्रसिद्ध है ऐसा शब्द उस अर्थ की प्रतीति कैसे करा सकेगा जो उससे असमित (अर्थात्=उस अर्थ में संकेतशून्य है। वह जो निमित्त है उसी को हमने यहाँ लिङ्ग कहा है और यह ठीक भी है। क्योंकि शब्द

का व्यापार वहाँ तक नहीं होता। व्यापाराभाव का कारण है सम्बन्ध का अभाव। लिङ्ग से जो लिङ्गी की प्रतीति होती है वह अनुमान ही है।

इस प्रकार गुणवृत्ति (लक्षणा) में होनेवाली दूसरे अर्थ की प्रतीति शाब्दी नहीं होती इसलिए 'उसका आश्रय वाचक है' यह सिद्ध नहीं होता।

संगति—उक्त विषय का कारिकाओं में संग्रह किया जाता है—

यः सतत्त्वसमारोपस्तत्सम्बन्धनिबन्धनः।
मुख्यार्थबाधे सोऽप्यार्थं सम्बन्धमनुमापयेत् ॥ ४६ ॥

(१) भिन्न पदार्थ में भिन्न पदार्थ का—जो अभेद कथन है—उसका आधार सम्बन्ध है, (किन्तु) वह (अभेद) मुख्यार्थ के बाध हो जाने से अनुमान द्वारा उसे (सम्बन्ध को) अर्थनिष्ठ ही बतला सकता है।

तत्साम्यतत्सम्बन्धौ हि तत्त्वारोपैककारणम्।
गुणवृत्तेर्द्विरूपायास्तत्प्रतीतिरतोऽनुमा ॥ ४७ ॥

(२) तत्साम्य और तत्सम्बन्ध दोनों एकमात्र तत्त्वारोप के कारण हैं। इसलिए दो प्रकार की गुणवृत्ति (लक्षणा) में उसकी (प्रयोजन की) प्रतीति—अनुमान—(अनुमिति) ही है।

विमर्श : इस सारगर्भित कारिका की कई बातें नई कही गई है। (१) गुणवृत्ति दो प्रकार की होती है। क्योंकि उसमें होनेवाले तत्त्वारोप के कारण दो कारण हैं एक तत्साम्य और दूसरा तत्सम्बन्ध। उसके प्रयोजन की प्रतीति इसीलिए अनुमिति है।

किञ्च—

मुख्यवृत्तिपरित्यागो न शब्दस्योपपद्यते।
विहितोऽर्थान्तरे ह्यर्थः स्वसाम्यमनुमापयेत् ॥ ४८ ॥

और—

(३) शब्द द्वारा (अपनी) मुख्य वृत्ति (अभिधावृत्ति) का परित्याग (युक्तियों से) सिद्ध होता नहीं। अर्थान्तर पर आरोपित अर्थ ही अपने साम्य का अनुमान करा सकता है।

तुल्यादिषु हि लोकोऽर्थेष्वर्थं तद्दर्शनस्मृतम्।
आरोपयेन्न शब्दस्तु स्वार्थमात्रानुयायिनम् ॥ ४९ ॥

(४) जो अर्थ (पदार्थ) तुल्य होते हैं उन्हीं पर, उनके ज्ञान से स्मृत दूसरे पदार्थ को संसार आरोपित करता है, उस शब्द को नहीं जिसकी दौड़ केवल अपने अर्थ तक ही होती है।

इत्थमर्थान्तरे शब्दवृत्तेरनुपपत्तितः।
फले लिङ्गैकगम्ये स्यात् कुतः शब्दः स्खलद्गतिः ॥ ५० ॥

(५) इस प्रकार अर्थान्तर में शब्दवृत्ति सिद्ध न होने से, एकमात्र लिङ्ग द्वारा ज्ञातव्य फलरूपी अर्थ के लिए (स्वार्थबोधकता में) शब्द के पैर लड़खड़ा ही कैसे सकते हैं।

व्यापारोऽर्थे ध्वनेः साक्षान्मुख्या वृत्तिरुदाहृता।
अर्थारोपानुगस्त्वेष गौणी तद्व्यवधानतः ॥ ५१ ॥

(६) अर्थ में ध्वनि (शब्द) का साक्षात् व्यापार मुख्य वृत्ति कहा गया है। अर्थ के आरोप के बाद का (व्यापार) गौणी वृत्ति, क्योंकि बीच में उसका (अर्थ का) व्यवधान पड़ जाता है।

आशुभावादनालक्ष्यं किन्त्वर्थारोपमन्तरा।
लोको गोश्चैत्र इत्यादौ शब्दारोपमवस्यति ॥ ५२ ॥

(७) इतने पर भी लोग अतिशीघ्रता के कारण समझ न पड़ने वाले अर्थारोप के बिना 'गौश्चैत्र' इत्यादि स्थलों में शब्द का आरोप समझने लगते हैं।

प्रधानेतरभावेनावस्थानादर्थशब्दयोः।
समशीर्षिकयारोपो न तयोरुपपद्यते ॥ ५३ ॥

(८) शब्द और अर्थ दोनों की स्थिति प्राधान्य-अप्राधान्य लिए रहती है इसलिए दोनों का एक समान आरोप सिद्ध नहीं हो सकता।

आरोपविषये यत्र विशेषः संप्रतीयते।
अर्थादारोपितात् तत्र गुणवृत्तिरुदाहृता ॥ ५४ ॥

(९) वहाँ गुणवृत्ति मानी गई है, जहाँ आरोपित अर्थ से आरोप विषय (अर्थ) में अतिशय की प्रतीति होती है।

गुणवृत्तौ गिरां यावत् सामग्रीष्टा निबन्धनम्।
सैव लिङ्गतयास्माभिरिष्यतेऽर्थान्तरं प्रति ॥ ५५ ॥

(१०) शब्दों की गुणवृत्ति में जितनी सामग्री कारणरूप से मानी गई है उसीको हम अर्थान्तर के प्रति लिङ्गरूप से स्वीकार करते हैं।

न हि तत् समयाभावाद्वाच्यं शब्दस्य कल्प्यते।
प्रतीयमानतायां च व्यक्तमस्यानुमेयता ॥ ५६ ॥

(११) वह (अर्थान्तर) शब्द का वाच्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि (उसमें उसकी) शक्ति नहीं है। इसलिए इसकी प्रतीयमानता में अनुमेयता स्पष्ट ही है।

तस्मात् स्वार्थातिरेकेण गतिर्नार्थान्तरे गिराम्।
वाचकत्वाश्रयेणातो गुणवृत्तेरसम्भवः ॥ ५७ ॥

(१२) इसलिए—शब्द की पहुँच, वाचकत्व (अभिधा) मात्र का आश्रय होने से दूसरे अर्थों तक नहीं है, इसीलिए गुणवृत्ति (शब्द में) सम्भव नहीं।

ततश्च—

भक्त्या बिभर्ति चैकत्वं रूपाभेदादयं ध्वनिः।
न च नाव्याप्त्यतिव्याप्त्योरभावाल्लक्ष्यते तया ॥ ५८ ॥

और इसी से—

(१३) ध्वनि नामक यह तत्त्व लक्षणा से अभिन्न सिद्ध होता है, क्योंकि स्वरूप का भेद नहीं है। और अव्याप्ति अतिव्याप्ति के अभाव से वह उसके (लक्षणा) द्वारा लक्षित नहीं होती ऐसी बात नहीं।

सुवर्णपुष्पामित्यादौ न चाव्याप्तिः प्रसज्यते।
यतः पदार्थवाक्यार्थभेदात् भक्तिर्द्विधोदिता ॥ ५९ ॥

(१४) सुवर्णपुष्पाम्—इत्यादि में अव्याप्ति की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि लक्षणा पदार्थ और वाक्यार्थ के भेद से दो प्रकार की कही गई है।

अतस्मिंस्तत्समारोपो भक्तेर्लक्षणमिष्यते ।
अर्थान्तरप्रतीत्यर्थः प्रकारः सोऽपि शस्यते ॥ ६० ॥

(१५) लक्षणा का लक्षण अतत् (तद्भिन्न) में तत् का समारोप है। इसलिए अर्थान्तर प्रतीति के लिए उपात्त वह प्रकार (वाक्यलक्षणा) भी ठीक है।

ततश्च—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रसक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ? ॥ ६१ ॥

(भवन्त्येवेत्यर्थः) यतः—

इस कारण—

(१६) लक्षणा आदि जो शब्द अपने विषय (अर्थ) को छोड़कर दूसरे विषयों (अर्थों) में रूढ होते हैं, क्या वे ध्वनि स्थल नहीं होते?

(अर्थात् होते ही हैं) क्योंकि—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ ६२ ॥

(१७) जिस फल के लिए मुख्य वृत्ति (अभिधा) को छोड़कर (अमुख्य) गुणवृत्ति द्वारा अर्थज्ञान माना जाता है शब्द की शक्ति उसमें क्षीण नहीं होती।

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिरसङ्गता ।
गमकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याद् विषयो न किम् ॥ ६३ ॥

(१८) गुणवृत्ति अभिधाश्रित—नहीं ही होती। (इसलिए वह) गमकत्व (अनुमान) जिसकी जड़ है ऐसी ध्वनि का विषय क्यों नहीं हो सकती।

व्यञ्जकत्वैकमूलत्वमसिद्धञ्च ध्वनेर्यतः ।
गमकत्वाश्रयापीष्टा गुणवृत्तिस्तदाश्रयः ॥ ६४ ॥

(१९) क्योंकि ध्वनि की व्यञ्जनामूलकता सिद्ध नहीं हुई, इसलिए अनुमानाश्रित गुणवृत्ति भी उसका आश्रय मान्य है।

समिदिध्मादयः शब्दाः प्रसिद्धा गुणवृत्तयः ।
ध्वनेः पदादिव्यङ्ग्यस्य येनोदाहरणीकृताः ॥ ६५ ॥

(२०) क्योंकि—गुणवृत्ति—नाम से प्रसिद्ध समिद्-इध्म आदि शब्द पदादि व्यङ्ग्य ध्वनि के उदाहरण बतलाए गए हैं।

तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां निबन्धो यः स्खलद्गतेः ।
शब्दस्य सोऽपि विज्ञेयोऽनुमानविषयोऽन्यवत् ॥ ६६ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः ।

(२१) इसलिए क्षीण अभिधावाले शब्द का व्युत्पत्ति और शक्ति द्वारा हुआ प्रयोग दूसरों (अन्य अनुमेयों) के समान अनुमान का विषय मानना चाहिए।

विमर्श : उद्धृत इक्कीसों कारिकाओं द्वारा संगृहीत विषय का मूल आधार लक्षणा है। ग्रन्थकार ने उसे गुणवृत्ति, भक्ति और उपचारवृत्ति-नाम से पुकारा है। पहले इन सभी शब्दों की व्युत्पत्ति पर ध्यान देना चाहिए। वस्तुतः ये सभी शब्द आनन्दवर्धन के प्रयुक्त शब्द हैं। आनन्द वर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वस्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये' इस प्रथम उपस्थानकारिका में भाक्त शब्द का प्रयोग किया है। उसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने वृत्ति लिखी है—'भाक्तमाहुस्तमन्ये'—अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।' इससे स्पष्ट है कि वे लक्षणा को गुणवृत्ति मानते हैं। भाक्तपद में निहित भक्ति शब्द का प्रयोग भी उन्होंने १४ वीं कारिका में किया है 'भक्त्या विभर्त्ति नैकत्वं रूपभेदादयं-ध्वनिः।' इसी कारिका की वृत्ति में उन्होंने भक्ति को 'उपचरित शब्द वृत्ति' भी लिखा है—'यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत् सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्त्तित-व्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते।' अभिनवगुप्त ने आचार्य के इन सभी शब्दों की व्युत्पत्तिपूर्वक व्याख्या की है।

अभिनवगुप्त ने लिखा है 'भक्तिर्हि लक्षणाव्यापारः' (१।४ का लोचन चौ० सं० पृ० ५९) अर्थात्—लक्षणा व्यापार भक्ति है।

भक्ति—उन्होंने भक्ति शब्द की चार प्रकार से व्युत्पत्ति की है और उसे, १. मुख्यार्थ, २. वाच्य और लक्ष्य का सम्बन्ध, ३. लक्ष्यगत धर्म और ४. उन धर्मों की प्रतीति में श्रद्धातिशय—रूप चार अर्थों में अन्वित माना है। क्रम से एक-एक व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

(१) मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिः।

(२) भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः।

(३) गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यदिर्भक्तिः।

(४) भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्य तैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः, तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भक्तिः।

अर्थात् (१) मुख्य अर्थ का भङ्ग।

(२) मुख्यार्थ द्वारा लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिए निमित्त रूप से गृहीत सामीप्य आदि सम्बन्ध।

(३) गौणीलक्षणा को पृथक् मानने वाले मीमांसकों के मत में कुन्ताः प्रविशन्ति आदि में तैक्ष्ण्य आदि गुण, तथा।

(४) प्रयोजन रूप तैक्ष्ण्यादि विषय में श्रद्धातिशय—भक्तिः

इन चारों व्युत्पत्तियों द्वारा लोचनकार ने लक्षणा के तीन अंगों में भक्ति शब्द का समन्वय माना है पहली व्युत्पत्ति द्वारा मुख्यार्थबाध में, दूसरी और तीसरी द्वारा निमित्त में तथा चतुर्थ द्वारा प्रयोजन में। उनका वाक्य है—

'···मुख्यस्यार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधा, निमित्तं प्रयोजनमिति त्रयसद्भावा उपचार-बीजम्—इत्युक्तं भवति। १।४ कारिका के लोचन में उक्त तथ्य और भी स्पष्ट हो गया है—त्रितय-सन्निधौ हि लक्षणा प्रवर्त्तते ···। तत्र मुख्यार्थबाधा तावत् प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला। निमित्तं च यदभिधीयते समीप्यादि, तदपि प्रमाणान्तरावगम्यमेव। यत्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तरात् प्रतिपन्नं, वटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं, तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः।'

इसी सन्दर्भ में आगे चलकर लोचनकार ने लक्षणा का निष्कृष्ट लक्षण भी दिया है—
मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः ।

गुणवृत्तिः—आनन्दवर्धनाचार्य ने लक्षणा अर्थ में गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग प्रथम तथा तृतीय उद्योत में असकृत् किया है। लोचन में उसकी व्युत्पत्ति भी उसी प्रकार जगह-जगह पर दी गई है।

(१) गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च, तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा। गुणद्वारेण वा वर्त्तनं गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः। (१।१ ध्व. लोचन चौ. प्र. ३१ पृ०)

(२) मुख्यत्वे वाचकत्वम्, अन्यथा गुणवृत्तिः। गुणो निमित्तं सादृश्यादि तद्द्वारिका वृत्तिः शब्दस्य व्यापारो गुणवृत्तिरिति भावः। (तृ० उ० पृ० ४२५ चौ० सं०)

(३) गुणतया वृत्तिर्व्यापारो गुणवृत्तिः। गुणेन निमित्तेन सादृश्यादिना च वृत्तिः अर्थान्तर-विषयेऽपि शब्दस्य सामानाधिकरण्यम्। (४३० पृ० चौ० सं० वही)

इन उद्धरणों के आधार पर शब्द, अर्थ और अभिधा—तीनों पदार्थ में गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग माना जाना चाहिए।

उपचारः—आनन्दवर्धनाचार्य ने १।१४ वीं कारिका की वृत्ति में लिखा है—'उपचारमात्रं तु भक्तिः।' लोचनकार ने उसका अर्थ 'उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा' किया है। और उपचार की व्याख्या करते हुए लिखा है—'उपचरणमतिशयितो व्यवहारः।' बालप्रिया टीका में लोचन के इस ग्रन्थांश का अभिप्राय इस प्रकार निकाला गया है—'यस्मिन्नर्थे यस्य शब्दस्य व्यवहारः प्रसिद्धः, तमति-लङ्घ्य तत्सम्बद्धेऽन्यस्मिन्नर्थे तस्य शब्दस्य व्यवहारोऽतिशयितो व्यवहारः।' अर्थात्—जिस अर्थ में जिस शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध हो, उसको लाँघकर उस अर्थ से सम्बन्धित दूसरे अर्थ में शब्द का व्यवहार = अतिशयित व्यवहार है। (पृ० १४१–चौ० सं०)

ध्वनिवादी के अनुसार—

लक्षणा और ध्वनि में अन्तर—

महिमभट्ट का लक्षणाविवेचन ध्वनिकार के लक्षणाविवेचन का खण्डन है। इसलिए पहले खण्डनीय (ध्वनिकार के) लक्षणाविवेचन का स्वरूप जान लेना चाहिए। ध्वनिकार का लक्षणा विवेचन अपने आप में एक स्वतन्त्र विषय है। उसका पल्लवन ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में भी किया गया है और तृतीय में भी। प्रथम उद्योत और तृतीय उद्योत के सम्पूर्ण विवेचन का सार ग्रहण करके महिमभट्ट ने अपनी उक्त खण्डन कारिकाएँ लिखी हैं। उनमें कुछ कारिकाएँ ऐसी हैं जो ध्वनिकार की कारिकाओं का आंशिक परिवर्त्तन के साथ निषेधात्मक प्रतिरूप हैं। शेष में, तृतीय उद्योत के वृत्तिग्रन्थ में आए गद्यात्मक विवेचन का सार संचय और उसका खण्डन है। पहले प्रथम उद्योत का लक्षणाविवेचन दिया जाता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' में ध्वनि के अभाववाद के पश्चात् भक्ति में उसके अन्तर्भाव-वाद का उल्लेख—'भाक्तमाहुस्तमन्ये' द्वारा किया और उसका खण्डन प्रथम उद्योत की अन्तिम पाँच (१४, १६–१९) कारिकाओं द्वारा किया—वे कारिकाएँ निम्नलिखित हैं—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्नचासौ लक्ष्यते तया॥ १।१४

(उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तविषयीभवेत् ॥ ३।१५)
रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १।१६ ॥
मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ १।१७ ॥
वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥ १।१८ ॥
कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।
लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥ १।१९ ॥

अभिनवगुप्ताचार्य ने लोचन में इन कारिकाओं का पूर्वपक्ष इस प्रकार उपस्थित किया है—

भक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पर्यायवत्ताद्रूप्यम्? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्त्तकधर्मरूपतया लक्षणम्। उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुपलक्षणम्? (चौ० सं० १४० पृ०)। एक-एक पूर्वपक्ष के अनुसार उत्तरपक्ष इस प्रकार है—

(१) पू० प०—क्या भक्ति और ध्वनि का घट—कलश के समान (पर्याय जैसा) ताद्रूप्य है।

उ० प० = भक्ति और ध्वनि में ताद्रूप्य नहीं हो सकता। क्योंकि उनके स्वरूप भिन्न हैं। (भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः १।४४) स्वरूपभेद बतलाते हुए तृतीय उद्योत में आ० आचार्य ने तीन प्रमुख तर्क दिए हैं—(१) गुणवृत्ति-अमुख्य व्यापार है और ध्वनि मुख्य व्यापार।

(२) गुणवृत्ति अमुख्य वाचकत्व (अभिधा) ही का तो नाम है? व्यञ्जकत्व वाचकत्व से अत्यन्त भिन्न है।

(३) गुणवृत्ति में जब एक अर्थ दूसरे अर्थ का ज्ञान कराता है तो वह उसके स्वरूप में परिणत हो जाता है, किन्तु व्यञ्जना में अर्थान्तरप्रतीतिकाल में व्यञ्जकार्थ की प्रतीति भी पृथक्रूप से होती रहती है। (चौ० सं० पृ० ४२३–२५)। इन प्रश्नोत्तरों का सारभूत अर्थ यह है—

'गङ्गायां घोषः' आदि उदाहरणों में प्रवाहार्थ—वाच्य है, वह घोषाधिकरण बनने में असमर्थ होने से अमुख्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में दो अन्य अर्थों की प्रतीति होती है, एक तट आदि की और दूसरे प्रयोजन रूप तटादि शैत्य पावनत्व आदि की, इनमें द्वितीय अर्थ लक्षणा और तृतीय अर्थ व्यञ्जना द्वारा प्रतीति माना जाता है। लक्षणा से व्यञ्जना भिन्न मानी जाती है—इसलिए कि गङ्गा पद से अभिधया प्रतीत प्रवाह अर्थ लक्षणया प्रतीत तटार्थ से अभिन्न हो जाता है किन्तु व्यञ्जना से प्रतीत प्रयोजनभूत शैत्य आदि से नहीं। साथ ही अभिधा की प्रतीति पहले, लक्षणा की उसके बाद और व्यञ्जना की उन दोनों के बाद होती है। इस प्रकार इनमें कालकक्षाक्रम है। अभिन्न पदार्थ में कालकक्षा का क्रम नहीं होता, एक ही कक्षा रहती है।'

(२) **पू० प०**—क्या भक्ति, ध्वनि का ध्वनीतर तत्त्वों से भेदक लक्षण है, जैसे पृथिवीत्व पृथिवी का।

मम्मट ने काव्यकारण के प्रतिपादन के पश्चात्—काव्य स्वरूप का निर्वचन करते हुए—जो अवतरणिका दी है उसमें लक्षण के स्थान पर स्वरूप शब्द का प्रयोग किया है—'एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—'तददोषौ…''। (प्रथम प्रकाश-काव्यप्रकाश १म सूत्र)। काव्यप्रदीप कार ने काव्यप्रकाशकार की कारिकाओं पर अपनी स्वतन्त्र वृत्ति लिखते हुए स्वरूप शब्द की जगह लक्षण शब्द का ही प्रयोग किया है—एवं कारणमुक्त्वा काव्यस्य लक्षणमाह—तददोषौ०। वामनाचार्य ने बालबोधिनी में इसी आधार पर मम्मट की वृत्ति में आए स्वरूपशब्द की व्याख्या लक्षणपरक की—एवं लक्ष्यपदार्थो लक्ष्यते इतरव्यावृत्ततया ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या स्वरूपं लक्षणमित्यर्थः। इतरभेदकमिति यावत्।' पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्यलक्षण की भूमिका में लक्षण को इतरभेदबुद्धि का साधन माना है—

'तत्र…गुणलङ्कारादिभिर्निरूपणीये तस्मिन् (काव्ये) विशेष्यतावच्छेदकं तदितरभेदबुद्धौ साधनं च तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते। इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन के लक्षण शब्द और उस पर अभिनवगुप्त के लोचन में आई व्याख्या—पश्चाद्वर्त्ती आचार्यों में समानरूप से एक ही अर्थ में प्रचलित मिलती है। उसके आधार पर लक्षण का अर्थ एक ही सिद्ध होता है। आचार्य वाचस्पतिमिश्र के शब्दों में उसे निःसंकोच 'समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः' (सांख्यकारिका—५) कह सकते हैं। समझने के लिए इस प्रकार सोचा जा सकता है कि उस धर्म का नाम लक्षण है जो अपने आश्रय को उससे मिलते-जुलते और एकदम विजातीय पदार्थों से अलग करके समझा सके। उदाहरण अभिनवगुप्ताचार्य ने प्राचीन भाषा में पृथिवी का पृथिवीत्व दिया है। नवीन भाषा में उसे गन्धवत्त्व या गन्ध कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शनों का सिद्धान्त है कि गन्ध केवल पृथिवीमात्र में रहता है—अन्य द्रव्यों में नहीं। वह पृथिवी को उससे मिलते-जुलते (द्रव्यत्व जाति वाले उसके अपने सजातीय) द्रव्यों से भिन्न कर देता है और पदार्थत्वेन—गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, अभाव—इन विजातीय तत्त्वों से भी। अतः गन्ध को पृथिवी का लक्षण कहा जाता है। प्रकृत में शंका यह की जा रही है कि यदि ध्वनि को भाक्त कहा जाता है तो उसका ध्वनि से कौन सा सम्बन्ध माना जाता है। तादूप्य का खण्डन किया ही जा चुका है। उसके अतिरिक्त एक सम्बन्ध लक्ष्य-लक्षणभाव है, यदि ध्वनि और भक्ति में यही लक्ष्यलक्षणाभाव और उस पर भी भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानना अभीष्ट हो—

उ० प०—तो वह भी युक्ति-संगत नहीं। कारण कि लक्षण वह पदार्थ होता है जिसकी व्याप्ति अपने आश्रय की प्रत्येक इकाई में हो और आश्रयव्याप्ति से आगे न बढ़ा हो। गन्ध पृथिवी की वृक्ष, पुष्प, पल्लव आदि प्रत्येक इकाई में रहता है और उसकी व्याप्ति से आगे बढ़कर जल आदि इतर तत्त्वों में व्याप्त नहीं होता। भक्ति में ध्वनि के प्रति ये दोनों सीमाएँ नहीं देखी जातीं। भक्ति ध्वनि के प्रत्येक स्थल में व्याप्त नहीं मिलती और ऐसे स्थलों में भी देखी जाती है जहाँ ध्वनि का सर्वथा अभाव होता है। 'वदति विसिनीपत्रशयनम्' इस प्रयोग में कमलपत्र की शय्यारूपी जड़ पदार्थ में चेतन सुलभ वदन—(कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्योच्चारण रूप व्यापार की आश्रयता) का कथन अभिधा का विषय नहीं, मुख्य अर्थ में बाध होने से भक्ति का ही विषय है। यहाँ ध्वनि का सर्वथा अभाव है। ध्वनि वहाँ होती है जहाँ व्यङ्ग्यार्थ में चारुत्वकृत प्रधानता रहती है। यहाँ वदति प्रयोग में जडगतत्वेन चेतना-सुलभ व्यापार का प्रतिपादन जितना चमत्कारकारी है, उतना उससे प्रकाशित व्यङ्ग्यार्थ नहीं। ऐसे ही अनेक उदाहरण मिलते। लावण्य भी उनमें से एक है। वह 'हृद्यता' अर्थ में निरूढ है, किन्तु उसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ—'लवणरसयुक्तत्व' है। मुख्य अर्थ को छोड़कर अमुख्य अर्थ में लावण्य शब्द का प्रचार 'गङ्गायां

घोषः' में तटादि अर्थ के लिए गङ्गाशब्द के समान काव्यप्रकाशकार के अनुसार प्रयोजनमात्र को छोड़कर भले ही मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थयोग की अपेक्षा रक्खे। किन्तु अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार तो तीनों की ही अपेक्षा नहीं रखता। ऐसे स्थलों में प्रयोजन ही कदाचित् ध्वनि का विषय माना जा सकता है किन्तु जहाँ तीसरे प्रयोजन की उपेक्षा कर दी गई, वहाँ ध्वनि का अभाव रहते हुए भी भक्ति का सद्भाव देखा जाता है। ऐसी स्थिति में भक्ति को ध्वनि का लक्षण कैसे कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त उन पदार्थों में भी लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, जो भिन्न-भिन्न स्थलों में रहते हों या जिनके कारण भिन्न हों। ध्वनि और भक्ति की यही स्थिति है। भक्ति वाचकत्वरूप अभिधा पर आश्रित रहती है और ध्वनि व्यञ्जना पर।

भक्ति ध्वनि के सर्वांश में नहीं पाई जाती। ध्वनि का एक भेद विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है। उसमें भक्ति का सर्वथा अभाव रहता है। इसलिए भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।

अभिनवगुप्त ने—भक्ति के इस लक्षणवाद का सार इस प्रकार दिया है—

'एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति। तेन यदि ध्वनेर्भक्तिर्लक्षणं तदा भक्तिसन्निधौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहारः स्यात् इत्यतिव्याप्तिः। अभ्युपगम्यापि ब्रूमः—भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः—तथापि यद्विषयो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो ध्वनन-व्यापारः। न च भिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः, धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते। तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः। ध्वननं च प्रयोजनविषयम्। न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः, लक्षणासामग्र्यभावात् (इत्यभिप्रायेणाह अपि चेत्यादि) मुख्यां वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य परिसमाप्य गुणवृत्त्या लक्षणरूपयार्थस्यामुख्यस्य दर्शनं प्रत्यायना, सा यत्फलं कर्मभूतं प्रयोजनमुद्दिश्य क्रियते, तत्र प्रयोजने तावद् द्वितीयो व्यापारः। न चासौ लक्षणैव, यतः स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्षणा। न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः। तथाभावे तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनानवस्थानात् तेनायं लक्षणलक्षणाया न विषयः।'

अर्थात् = इस प्रकार (ध्वनि और भक्ति के सम्बन्ध में) स्थिति ऐसी नहीं है कि जहाँ-जहाँ भक्ति हो वहाँ सर्वत्र ध्वनि भी हो ही। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण माना जाय तो सभी भक्ति—स्थलों में ध्वनिव्यवहार होगा—जिससे अतिव्याप्ति दोष आएगा।

इस बात को मानकर भी हम कहते हैं—भले ही जहाँ-जहाँ भक्ति हो वहाँ सर्वत्र ध्वनि भी हो, किन्तु इतने पर भी लक्षणा (भक्ति) व्यापार का जो विषय है ध्वनि का वह नहीं। जिनके विषय भिन्न-भिन्न होते हैं उनमें धर्मधर्मिभावसम्बन्ध नहीं बनता, और धर्म ही तो लक्षण माना जाता है। उनमें लक्षणाव्यापार का विषय अमुख्य (अभिधेय धर्म से अतिरिक्त) अर्थ है। ध्वनि का विषय प्रयोजन है। प्रयोजन को भी लक्षणा का विषय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें लक्षणा की निष्पादक सामग्री नहीं है—(इसी अभिप्राय से कहते हैं—अपिचेत्यादि) अभिधा—रूप जो मुख्य व्यापार है उसे एकदम समाप्त कर लक्षणारूप लक्षणाव्यापार द्वारा जो अमुख्य अर्थ का ज्ञापन है, वह जिस कर्मभूत फल के उद्देश्य से किया जाता है—वह प्रयोजन किसी दूसरे ही व्यापार का विषय होता है। क्योंकि लक्षणा तो उस शब्द का व्यापार माना जाता है, बाधक—योग से जिसकी अभिधा-शक्ति कुण्ठित हो जाती है, प्रयोजन का ज्ञान कराते हुए तो शब्द बाधक-योग नहीं रहता। ऐसा माना जाय तो उसके लिए (गङ्गायां घोषः) इत्यादि लक्षा

स्थलों में गङ्गापद से लक्षणा द्वारा प्रतीत तट में प्रयोजन रूप से प्रतीत होने वाले शैत्यादि धर्मों में तट के ही समान लक्षणा मानी जाय तो उस लक्षणा के लिए भी नए कारण और नए प्रयोजनों की कल्पना आवश्यक होगी और इसी प्रकार पुनः उसके प्रयोजनों के लिए की जानेवाली लक्षणा के लिए भी इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। इसलिए यह लक्षणलक्षणा का विषय नहीं है।

उक्त लोचनांश की अन्तिम पङ्क्ति 'तेनायं लक्षणलक्षणाया न विषयः' का अर्थ बालप्रियाकार ने 'तेन बाधकयोगाभावेन। अयमिति—प्रयोजनरूपार्थ इत्यर्थः' इस प्रकार किया है। पूज्यपाद श्री गुरुजी ने भी अपनी दिव्याञ्जना टिप्पणी में इसी प्रकार का 'तेनायमिति। तेन = स्खलद्गतित्वाभावेन। अयं = शैत्यपावनत्वादिरूपप्रयोजनात्मकः, लक्षणलक्षणाया न विषयः = लक्षणलक्षणा प्रयोज्यविषयतावान्न'—ऐसा अर्थ किया है। इन अर्थों से लोचन के प्रतिपाद्य विषय के उपक्रम और उपसंहार की संगति नहीं लगती। विषय का उपक्रम 'एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति' इस प्रकार हुआ है। यदि उपसंहार में आए 'तेनायं लक्षणलक्षणाया न विषय' इति भावः' इस वाक्य का अर्थ–उक्त दोनों विवरणों के अनुसार 'प्रयोजन के प्रति शब्द कुण्ठित नहीं होता इसलिए प्रयोजन में लक्षणलक्षणा नहीं मानी जा सकती' ऐसा किया जाय तो स्पष्ट रूप से सन्दर्भ समाप्ति में प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख नहीं होता। यद्यपि प्रयोजन को व्यञ्जना का विषय माना जाता है इसलिए कथंचित् ध्वनि का आक्षेप इस अर्थ में भी किया जा सकता है तथापि एक दूसरा दोष ऐसा आता है जिससे यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। दोनों विवृतियों में 'तेनायं००' में आए 'अयं' इस सर्वनाम का परामर्श विषय प्रयोजन माना गया है। 'अयं' शब्द इदं शब्द का पुल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन का रूप है। प्रयोजन शब्द नपुंसक लिङ्ग है। संस्कृत भाषा की प्रकृति के अनुसार भिन्न लिङ्ग-शब्द के लिए भिन्न-लिङ्ग सर्वनाम का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए दोनों विवृतियों में प्रयोजन शब्द के आगे अर्थ में उससे अभिन्न एक एक शब्द जोड़ दिया गया है—बालप्रिया में 'प्रयोजन रूपार्थ इस प्रकार 'अर्थ' शब्द और दिव्याञ्जना में 'प्रयोजनात्मकः' इस प्रकार 'आत्मा'। 'अर्थ और आत्मन्' दोनों शब्द पुल्लिङ्ग है अतः उनके अनुसार 'अयं' सर्वनाम की संगति हो जाती है, प्रयोजन के साथ पुल्लिङ्ग शब्द का जोड़ना यह लोचन और मूलग्रन्थ से मेल नहीं खाता। मूलग्रन्थ में—'यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः' इस प्रकार 'फल' शब्द और लोचन में उसका अर्थ करते हुए 'सा यत् फलं कर्मभूतं प्रयोजन-रूपमुद्दिश्य क्रियते' केवल प्रयोजन शब्द का प्रयोग किया गया है। फल और प्रयोजन दोनों ही नपुंसक लिङ्ग के शब्द हैं और उनके साथ ऐसा कोई शब्द भी नहीं जुड़ा है जो उनकी गणना पुंल्लिङ्ग में करा सके।

इसके अतिरिक्त एक जबरदस्त शंका होती है कि ध्वनि के शब्द वृत्तित्व के खण्डन में प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा द्वारा मान लेने का जो पक्ष उठाया जाता है उसमें सभी आचार्यों ने केवल लक्षणा शब्द का प्रयोग किया है 'लक्षणालक्षण' का नहीं। काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—

'यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।' (२।१४, १६)
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥

और इसकी वृत्ति में—प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र 'लक्षणया' शब्द प्रयोगः।

व्यञ्जना को अभिधा और लक्षणा से अतिरिक्त बतलाते हुए उन्होंने लिखा है—

(१) नाभिधा समयाभावात्, (२) हेत्वभावान्न लक्षणा। (२।१५) इसी प्रकार आगे भी उन्होंने केवल लक्षणा शब्द का प्रयोग किया है। यथा—

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन्न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥ १२७
नापि प्रयोजने लक्ष्ये किंचित् प्रयोजनम् ।
नापि गङ्गादिशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः ॥
'एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ।' (२-१७ पू०)

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेणेति तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृद् अनवस्था भवेत् ।.........

विशिष्टे लक्षणा तत् किं व्यञ्जनयेत्याह—

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते । (२।१७ उ०)

कुत इत्याह—

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।
विशिष्टे लक्षणा नैवं विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ (२।१८)

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः ।'

स्पष्ट है काव्यप्रकाश का यह पूरा सन्दर्भ ध्वन्यालोक और लोचन से अक्षरशः सम्बन्धित है। किन्तु इसमें कहीं भी 'लक्षणलक्षणा' शब्द का प्रयोग नहीं। केवल 'लक्षणा' का प्रयोग मिलता है। काव्यप्रकाश की टीकाओं में इस प्रसङ्ग में केवल लक्षणा का ही प्रयोग है। रसगङ्गाधर में भी 'लक्षणलक्षणा' शब्द का प्रयोग इस प्रसङ्ग में नहीं मिलता।

लक्षणा के स्वतन्त्र प्रकरण में लक्षणलक्षणा लक्षितलक्षणा प्रयोग मिलते हैं। लक्षणलक्षणा 'गंगायां घोषः' आदि स्थलों में मानी जाती है। काव्यप्रकाश में लक्षणा का वर्गीकरण करते हुए शुद्धावर्ग के दो भेद किए गए हैं—उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा। (२।१०)

इसमें 'लक्षण' नाम से कथित शुद्धालक्षणा का—'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटस्य घोषाद्यधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा ।' (२-उ. १३ सूत्र की वृत्ति) इस प्रकार विवेचन किया गया है।

वामनाचार्य ने बालबोधिनी में इस वृत्ति का आशय स्पष्ट करते हुए लक्षणलक्षणा का स्पष्ट उल्लेख किया है—

लक्षणेन स्वार्थसमर्पणेन (उपलक्षिता) एषा लक्षणा लक्षणलक्षणेत्यर्थः ॥

(इस प्रकरण में अधिक ग्रन्थों के प्रमाणों की आवश्यकता नहीं,) इन प्रकरणों के आधार पर लक्षणलक्षणा का सार इतना ही है कि—इसमें लक्षण का अपना अर्थ लक्ष्य रूप में सर्वात्मना बदल जाता है। गङ्गायां घोषः जो इसका उदाहरण दिया गया है उससे स्पष्ट है कि गङ्गा का तट रूप में सर्वात्मना विलय हो जाता है। यद्यपि शैत्य पावनतादि की प्रतीति के लिए तट की प्रतीति तटत्वेन न मानकर गङ्गात्वेन मानी जाती है, तथापि उस गङ्गात्व का अर्थ प्रवाह नहीं रहता।

जहाँ तक ध्वनि प्रकरण का सम्बन्ध है—लक्षणलक्षणा का यह स्वरूप उसमें सार्वत्रिक रूप से संगत नहीं होता। ध्वनि के जो भेद लक्षणा पर आश्रित रहते हैं उनमें अतिशयोक्ति मूल ध्वनि आदि भी गिने जाते हैं। अतिशयोक्ति में लक्षणलक्षणा का अस्तित्व नहीं माना जाता। इसी प्रकार अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि में भी लक्षणलक्षणा नहीं होती। उपादान लक्षणा होती है। यदि ध्वनिकार का 'अतिव्याप्तेस्तथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया' कारिका द्वारा लक्षणलक्षणामात्रमें ध्वनि के लक्षणत्व की शंका की जाय तो उक्त अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि तथा अतिशयोक्तिमूलक ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव—शंका का विषय ही नहीं बन सकेगा। फलतः लक्षणवाद एकदेशीय सिद्ध

होगा। इस प्रकार लोचनकार ने 'लक्षणलक्षणाया न विषयः' इस वाक्य में जो लक्षणलक्षणा शब्द का प्रयोग किया है, उसका अर्थ प्रसङ्गानुरूप दूसरा ही लगाना होगा। यद्यपि दिव्याञ्जना—में लोचन के लक्षणलक्षणा शब्द का वही अर्थ माना गया है जो काव्यप्रकाश में बतलाया गया है—अर्थात्—'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ लक्ष्यार्थस्य शक्यार्थासंवलितत्वेन उपादानलक्षणाया अभावात् तीरादौ लक्षणलक्षणैव, सापि तत्रैव न शैत्यादौ—हेतोरभावादिति तात्पर्यम्।

उक्त कठिनाइयों की निवृत्ति के लिए—हम 'तेनायं लक्षणलक्षणाया न विषयः' में अयं शब्द को ध्वनि का परामर्शक मानते हैं और लक्षणलक्षणा को 'ध्वनिलक्षण रूप से 'अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्नचासौ लक्ष्यते तया' इस कारिका में मानी गई 'लक्षणा' इस अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं।

फलतः उपक्रम के अनुरूप उपसंहार, पुंल्लिङ्ग द्वारा पुंल्लिङ्ग पदार्थ का परामर्श और ध्वनि में केवल 'लक्षणलक्षणा रूप' एकदेशीय लक्षणा की शङ्का तीनों का निराकरण हो जाता है।

पूर्व-पक्ष—अथवा भक्ति ध्वनि का उपलक्षण हो सकती है जैसे काक देवदत्त के घर का।

आचार्यगण वस्तुविवेचन में दो शब्दों का प्रयोग करते हैं—लक्षण और उपलक्षण। इनमें लक्षण शब्द की उद्धृत निरुक्ति के अनुसार वह वस्तु का असाधारण धर्म का वाचक शब्द है। उपलक्षण शब्द में लक्षण शब्द के साथ उप उपसर्ग लगा दिया गया है। उपनिषद् और उपवास शब्दों के समान यहाँ भी 'उप' का अर्थ सामीप्य है। उसके योग से लक्षण शब्द का अर्थ—लक्षण के समीप हुआ। 'अहिंसा में गाँधी बुद्ध के समीप पहुँच जाते हैं' आदि वाक्यों के समान, यहाँ समीप शब्द का अर्थ तुल्य किया जायगा। अर्थात् लक्षण जैसा।' इसमें लक्षण उपमान और उपलक्षण उपमेय हुआ। उपमान उपमेय की अपेक्षा साधारण धर्मसम्पत्ति में बीस माना जाता है और उपमेय उन्नीस। लक्षण और उपलक्षण का सादृश्य जिस धर्म पर अवलम्बित है, वह एकमात्र वस्तुपरिच्छेदकत्व' ही है। अर्थात् लक्षण भी वस्तु का तद्भिन्न से परिच्छेद कराता है और उपलक्षण भी। अन्तर इतना ही है कि लक्षण लक्ष्य की असाधारणता और उसके विशिष्ट व्यक्तित्व का सार्वदिक परिच्छेद्र कराता रहता है। उपलक्षण लक्ष्य के बाह्य परिवेश मात्र का परिच्छेद कराता है, वह भी सदा नहीं। पृथिवी का गन्ध और गृहविशेष का काक—ये लक्षण और उपलक्षण की उक्त कसौटियों से तौले जा सकते हैं। प्रकृत में ध्वनिवादी का प्रश्न है कि जो ध्वनि को भाक्त मानते हैं वे उसके साथ भक्ति का कौन सा सम्बन्ध जोड़ते हैं—तादात्म्य और लक्ष्यलक्षणभाव का तो निराकरण किया जा चुका है—इनके अतिरिक्त एक उपलक्ष्य उपलक्षणभाव नामक सम्बन्ध और है, कदाचित् उससे ध्वनि को भक्ति कहा जाय? किन्तु ध्वनि के साथ भक्ति का वह सम्बन्ध भी नहीं जुड़ता। उसमें भी अव्याप्ति दोष आता है। कारण कि भक्ति, ध्वनि के सभी स्थलों में नहीं रहती। उसके किसी किसी स्थल में—रहने पर भी सर्वाङ्गीण ध्वनितत्त्व का परिच्छेद नहीं होता। अतः वह भी अमान्य है (कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्)। लोचनकार ने ध्वनिकार की (कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्) कारिका की अवतरणिका में इस तृतीय पक्ष का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—'ननु मा भूद् ध्वनिरिति भक्तिरिति चैकं रूपम्। मा च भूद् भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणम्। उपलक्षणं तु भविष्यति, यत्र ध्वनिर्भवति, तत्र भक्तिरप्यस्तीति भक्त्युपलक्षितो ध्वनिः।' अर्थात्—ध्वनि और भक्ति भले ही एक रूप (अभिन्न) न हों, और भले ही भक्ति ध्वनि का लक्षण न बन सके, किन्तु उपलक्षण तो हो सकती है। जहाँ ध्वनि होती है वहीं भक्ति भी, अतः ध्वनि भक्ति से उपलक्षित हो सकती है।'

इस पर स्वयं लोचनकार का उत्तर है—'न तावदेतत् सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धम्, किं वा नस्त्रुटितम्—इति तदाह—**कस्यचिद्** इति। अर्थात्—उक्त स्थिति सर्वत्र नहीं होती।

इसलिये इतने से भी (किसी एक स्थान में भक्ति और ध्वनि के यौगपद्य से भी) प्रतिवादी का बनता और हमारा (वादी) का बिगड़ता ही क्या है।

अनुमितिवादी का उत्तर—व्यक्तिवादी के उक्त सिद्धान्त की मीमांसा अनुमितिवादी ने अपने स्वतन्त्र और मौलिक विचारों द्वारा की है। लक्षणा को शब्दवृत्ति माना जाय अथवा नहीं—इस प्रश्न पर उस (अनुमितिवादी) का कथन है कि वस्तुतः शब्द अपने वाच्य अर्थ तक ही सीमित रहता है। उसका यह सिद्धान्त दूसरे दर्शनों से भी पुष्टि पाता है। अभिधा के विषय में कहा जाता है— 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' अर्थात् अभिधा विशेषण का ज्ञान कराकर शान्त हो जाती है अतः विशेष्य का भी ज्ञान उसी से नहीं माना जा सकता। उसके शान्त हो जाने में तार्किकों का यह सिद्धान्त काम करता है—'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।' अर्थात् शब्द, ज्ञान और क्रिया—विरत हो जाने पर पुनः (कार्यान्तर के लिए उद्बुद्ध नहीं होते)। अभिधा एक क्रिया (व्यापार) ही है। जिस प्रकार वह (अभिधा) एक बार विरत हो जाने पर पुनः कार्यान्तर के लिए जागृत नहीं हो सकती ठीक वैसे ही उसका आश्रय शब्द भी एक बार अभिधा को उसके अर्थ की ओर विदा देकर विरत हो जाता है। शब्द को संस्कार रूप से स्थिर मानकर उसी से पुनः किसी शक्ति द्वारा अर्थ ज्ञान कराने की बात इस लिये अमान्य है कि उससे प्रवृत्तियों के प्रति अर्थज्ञान की कारणता पर चोट आती है। शब्द और अर्थ दोनों यदि अभिन्न माने जाते हैं और ज्ञान के प्रति सर्वत्र शब्द को ही कारण माना जाता है तो फिर अन्य प्रमाणों का उच्छेद होता है। वहाँ ज्ञान के प्रति अर्थ कारण होता है शब्द नहीं। यद्यपि वह अर्थ शब्दानुवेध से शून्य नहीं रहता। यह भी आवश्यक नहीं है कि ज्ञान उसी अर्थ से हो जो अपने वास्तविक आकार में अवस्थित हो, ज्ञान अर्थ अथवा अर्थज्ञान से भी होता है, भले ही अर्थ उपस्थित हो या नहीं।

वस्तुतः शब्दवृत्ति नाम की कोई चीज मानी नहीं जा सकती। शब्द जड़ है। उसमें किसी व्यापार की सत्ता नहीं देखी जाती। वह केवल दीपक के समान अन्तःकरणवृत्ति का कारण बनता है। इस प्रकार वृत्ति, व्यापार या ऐसी जो भी वस्तु है वह अन्तःकरण में रहती है। उसका उद्बोध ज्ञात शब्द और उसके साथ पदार्थ सम्बन्ध से होता है।

'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुक्था' इत्यादावपि यदेतद् विषभक्षणानुज्ञानं तदर्थप्रकरणादिसहायमेतद्गृहे भोजनस्य ततोऽपि दारुणतरपरिणामत्वमनुमापयति। न ह्यनुन्मत्तः सुहृदादौ हितकामः सन्नस्य कश्चिद् भोजननिषेधं विदधानः अकस्माद् विषभक्षणमनुजानातीत्यवगतवक्तृप्रकरणादिस्वरूपः प्रतिपत्ता विषभक्षणानुज्ञानादेव तद्गृहभोजनस्यात्यन्तमकरणीयत्वमनुमातुमर्हति। विषभक्षणानुज्ञानादेर्वाक्यार्थस्याप्रस्तुतस्यैवोपन्यासो हि पूर्वोक्तेन नयेन प्रस्तुतातिरिक्तार्थान्तरप्रतिपादनपरत्वात् तत्र हेतुतयाऽवगन्तव्य इति न शब्दस्य तत्र व्यापारः परिकल्पनीयः।

विषभक्षणादपि परामेतद्गृहभोजनस्य दारुणताम्।
वाच्यादतोऽनुमिमते प्रकरणवक्तृस्वरूपज्ञाः॥ ६७॥
विषभक्षणमनुमनुते न हि कश्चिदकाण्ड एव सुहृदि सुधीः।
तेनात्रार्थान्तरगतिरार्थी तात्पर्यशक्तिजा न पुनः॥ ६८॥

इति सङ्ग्रहार्यें।

'जहर खा ले पर इसके घर मत खा' इत्यादि में भी जो यह जहर खाने की सम्मति है वह अर्थ और प्रकरण आदि की सहायता से अस्य इस इदं शब्द द्वारा प्रतीत व्यक्ति के घर किए जाने वाले भोजन की उससे (जहर से) भी अधिक दारुणपरिणामता का अनुमान कराता है।

ऐसा तो सम्भव नहीं कि जो उन्मत्त न हो वह अपने जन का हितेच्छु होते हुए कहीं उसके भोजन का निषेध करता हुआ बिना किसी कारण के एकाएक जहर खाने की सम्मति देने लगे। वक्ता और प्रकरण आदि के ऐसे स्वरूप के जानकार व्यक्ति को चाहिए कि वह जहर खाने की सलाह देने से ही यह अनुमान करे कि उस (व्यक्ति विशेष) के घर का भोजन किसी भी स्थिति में करने योग्य नहीं है। यद्यपि विषभक्षण की सम्मति—आदि वाक्यार्थ प्रस्तुत नहीं है तथापि उसका उद्देश्य कहा गया है अतः पूर्वोक्त पद्धति से किसी अन्य अर्थ की प्रतीति कराना है, इसलिए उसे उस दूसरे अर्थ की अनुमिति में हेतु माना जाना चाहिये और इसीलिए उसकी अनुमिति में शब्द के किसी व्यापार (शक्ति) की कल्पना नहीं की जानी चाहिए।

विषभक्षणादपि परान्''' और 'विषभक्षणमनुमनुते''' इन दो आर्याओं में उक्त अर्थ का संग्रह हो जाता है—(उनका अर्थ)

(१) इसलिए प्रकरण और वक्ता के स्वरूप से परिचित व्यक्ति वाच्य अर्थ (को हेतु बनाकर उस) के द्वारा अस्य इस इदं शब्द से कहे गए व्यक्ति के घर के भोजन की विष से भी अधिक दारुणता का अनुमान करते हैं।

(२) अपने किसी भाई बन्धु पर हितबुद्धि रखने वाला कोई भी व्यक्ति जहर खाने की सलाह नहीं देता इसलिए यहाँ दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, किंतु वह अर्थशक्ति द्वारा, तात्पर्य शक्ति द्वारा नहीं।

विमर्श : प्रस्तुत ग्रन्थांश साहित्यशास्त्र की एक परम्परागत विचार-शैली पर आश्रित है। उसके अनुसार अर्थ की प्रतीति में पूर्वापर भाव द्वारा एक क्रम की कल्पना की गई है। उसमें पहले अभिधा, उसके पश्चात् तात्पर्य शक्ति और तत्पश्चात् लक्षणा को स्थान दिया गया है। व्यञ्जना मानने वाले उसे लक्षणासे भी परे की कक्षा में रखते हैं। इस क्रम का प्रतिपादन अभिनवगुप्त और धनिक—इन दो आचार्यों ने किया है। अभिनवगुप्त ने लोचन में लिखा है—

'त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्यात्मसु अभिधाव्यापारः,''' विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते,'''सिंहो माणवक' इत्यत्र तु द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकसमुल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयातिरिक्ता तावत् तृतीया शक्तिः तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति।'

अर्थात् व्यापार (शब्द-शक्ति) तीन होते हैं। पदार्थ सामान्यस्वरूप (परस्पर सम्बन्ध से रहित) होते हैं उनमें अभिधा, एक दूसरे से परस्पर—सम्बन्धित विशेष स्वरूप के पदार्थों में तात्पर्य शक्ति और 'सिंह है यह बच्चा' आदि स्थलों मे—दूसरी कक्षा में आई तात्पर्य शक्ति द्वारा बतलाए गए पदार्थ सम्बन्ध (सिंह और बच्चे के बीच अभेद) में बाधा उपस्थित होने पर अभिधा और तात्पर्य शक्ति से भिन्न एक तीसरी शक्ति लक्षणा होती है, जो उस बाधा को हटाने के काम में आती है। इस कथन का फल व्यञ्जना को इन तीनों से पृथक् शक्ति मानना था। अभिनवगुप्त ने वह भी स्पष्ट लिखा—

'''तस्मात् अभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तः चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः—वे उसे चतुर्थ कक्षा में आई मानते हैं—

'चतुर्थ्यां तु कक्षायां ध्वनन व्यापारः'। शब्दशक्ति की इस कक्षाकल्पना में लक्षणा को तृतीय कक्षा और व्यञ्जना को चतुर्थ कक्षा में सिद्ध करने के लिए अभिनवगुप्त ने 'सिंहो माणवकः' यह उदाहरण दिया था, किन्तु धनिक ने—वही उदाहरण दिया है जो प्रस्तुत प्रसङ्ग में महिमभट्ट ने अपनाया है—'विषं भुङ्क्ष्व, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः।' साथ ही उन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में अभिनवगुप्त द्वारा उपपादित उक्त सभी बातों का इस प्रसङ्ग में संकेत किया है। किन्तु अन्त में सिद्धान्त रूप से उन्होंने ऐसे दूरस्थ अर्थों की प्रतीति में 'तात्पर्यशक्ति' को ही कारण मानकर व्यञ्जना का उसी तात्पर्य शक्ति में अन्तर्भाव दिखलाया है। उनका कहना है—

तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य, न ध्वनिः।

अर्थात् जिसे व्यञ्जकत्वव्यापार कहा जाता है वह तात्पर्य से अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसलिए ध्वनि नाम का कोई पृथक् तत्त्व सम्भव नहीं।

इस पर वे ध्वनिवादी की ओर से शंका उपस्थित करते हैं—

किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि।
विषं भक्षय, पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु—प्रसज्यते,

अर्थात्—तात्पर्यशक्ति को ही सब कुछ मान लेने पर पुत्रादि से कहे गए 'विषं भक्षय' आदि अन्योक्ति स्वरूप वाक्यों में, तथा 'पूर्वो धावति' आदि सापेक्ष वाक्यों में केवल तात्पर्य मानने वाला कहेगा जहाँ 'मा भक्षय' और 'परो न धावति' आदि तात्पर्यभूत अर्थ का अपने शब्द द्वारा अभिधान नहीं है।

इस शंका के बाद ध्वनिवादी अपना सिद्धान्त उपस्थित करता है—

प्रधानत्वात् ध्वनित्वं केनवार्यते—इन स्थलों में दूसरे अर्थ—जिस शक्ति से प्रतीत होते हैं वह व्यञ्जकत्वरूप व्यञ्जना ही है, और उससे प्रतीत विष मत खाओ तथा 'बाद वाला नहीं दौड़ता' इत्यादि अर्थ ही प्रधान हैं इसलिए 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थ'...नियम के अनुसार वहाँ ध्वनि व्यवहार भी हो सकता है। अपने निर्णय के पश्चात् ध्वनिवादी ने तात्पर्यवृत्ति और व्यञ्जना का विषय विभाग भी किया—

'ध्वनिश्चेत् स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ।'

अर्थात्—किसी अन्य अर्थ की प्रतीति के लिए कहे गये वाक्य के क्रिया कारक सम्बन्ध से प्रतीत अपने अर्थ में यदि कोई बाधा न हो तो वहाँ 'अन्य अर्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना व्यापार मानना चाहिए और यदि वही अन्य अर्थ प्रधान हो तो उसे ध्वनि भी कहना चाहिए, इसके अतिरिक्त जिन स्थानों में वाक्य का अपना मूल अर्थ ही ठीक से न बैठ रहा हो वहाँ तात्पर्यवृत्ति मान लेनी चाहिए।

ध्वनिवादी की इस व्यवस्था पर तात्पर्यवृत्तिवादी—खण्डनात्मक उत्तर आरम्भ करते हुए कहता है—

......तन्न, विश्रान्त्यसम्भवात्।
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्॥
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्।

अर्थात्—ध्वनि और तात्पर्यवृत्ति का यह विषय विभाग मान्य नहीं—क्योंकि उन वाक्यों का अपना मूल अर्थ कभी अपने आप में ठहर कर नहीं रह सकता जो किसी अन्य अर्थ की प्रतीति के

लिए कहे गए हों। तात्पर्यवृत्ति को तराजू पर तौलकर किसी नियत स्थान तक सीमित नहीं किया जा सकता, उसकी गति तब तक अक्षुण्ण रहती है जब तक वाक्य प्रयोग का पूरा प्रयोजन सिद्ध न हो जाय।

इस प्रकार तात्पर्यवृत्ति के 'यावत्कार्यप्रसारिता' सिद्धान्त की स्थापना की गई। ध्वनिवादी इससे भी आगे कहता है।

भ्रमधार्मिकविश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदे।
निर्व्यावृत्तिकथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ?॥

अर्थात् यदि ऐसी बात है तो 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन', वाक्य में जहाँ भ्रमण का विधान प्रतीत होता है, और कोई बाधक तत्त्व शब्द से कहा नहीं गया है वहाँ उसकी ही निषेध तक प्रवृत्ति कैसे मान ली जाय। अर्थात् वाक्य की अपनी प्रवृत्ति उसके पदों द्वारा कथित पदार्थों के सम्बन्ध तक होती है, वह जब तक पूर्ण नहीं होता तब तक वाक्य की शक्ति काम करती रहती है। भ्रम धार्मिक स्थल में भ्रमण विधि तक ही पदार्थ सम्बन्ध पूर्ण हो जाता है, अतः उससे आगे निषेधार्थ तक वाक्य की शक्ति काम नहीं कर सकती। इस पर तात्पर्यवृत्तिवादी का कहना है—

प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद् यदि।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्तिर्नवा कथम्॥

अर्थात् जिस अर्थ के प्रतिपादम के लिए वाक्य का प्रयोग किया जाता है यदि क्रिया कारक-संसर्ग की यथावत् पूर्ति हो जाने से एक ओर उसे पूर्ण माना जा सकता है—तो ठीक उसके विरुद्ध वक्ता के अभीष्ट अर्थ की प्रतीति न होने से दूसरी ओर उसे अपूर्ण भी माना ही जा सकता है।

'तात्पर्यवृत्तिवादी' अपने द्वितीय पक्ष को ही दृढ़ और मान्य सिद्ध करने के लिए अन्तिम एक तर्क और देता है—

पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता। वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते॥

अर्थात् वस्तुतः क्रियाकारकसंसर्ग की पूर्णता पर वाक्य की विश्रान्ति अपौरुषेय वाक्यों में मानी जा सकती है, जहाँ केवल वाक्य को देखकर अर्थ की कल्पना की जाती है, वाक्य की स्थिति उससे भिन्न होती है। काव्य पौरुषेय होता है। उनके वाक्यों का प्रयोग कवि की मनोनिहित वस्तु को प्रकट करने की इच्छा से होता है, इसलिए जब तक उसका अभीष्ट (उसकी उस इच्छा का विषयीभूत) अर्थ प्रतीत नहीं हो जाता तब तक उसे विश्रान्त या अपने क्रियाकारक संसर्गात्मक वाक्यार्थ में सीमित नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार धनिकाचार्य ने अपने काव्यनिर्णय की उद्धृत सात कारिकाओं द्वारा दशरूपक की अवलोक टीका में व्यञ्जना का खण्डन और तात्पर्यवृत्ति की स्थापना की। इस मान्यता के अनुसार 'विषं भक्षय' वाक्य—यदि उसका प्रयोग अपने प्रियजन के लिए हितैषी व्यक्ति ने किया हो, तो 'विष खाले' इतने ही अर्थ तक सीमित नहीं रहेगा अपितु 'मत खा' इस वक्ता के अभीष्ट अर्थ की प्रतीति तक (व्यापार) काम करता रहेगा।

यदि धनिक के इस मत को इसी रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो ध्वनि या व्यञ्जना वृत्ति का तात्पर्यवृत्ति में अन्तर्भाव मानना होगा और तात्पर्य वृत्ति को शब्दशक्ति स्वीकार करना होगा। किन्तु ऐसा होने पर महिमभट्ट के 'शब्दस्यैकाभिधा शक्तिः' पर आँच आएगी)

इसलिए वे तात्पर्य वृत्ति को भी शब्द शक्ति न मानकर उसे भी अनुमान में गतार्थ दिखलाते हैं। उनका कहना है कि—

'विषं भक्षय' इस वाक्य का वक्ता कोई ऐसा व्यक्ति है जो जिससे यह वाक्य कहा जा रहा है उसका हितैषी है। उसने इस प्रकार विष भक्षण की सम्मति व्यक्तिविशेष के यहाँ भोजन न करने के लिए दी है। जो व्यक्ति इस वाक्य के पीछे छिपे इस प्रकरण को जानता है वह—विष भक्षण विधान करने वाले 'विषं भक्षय' इस वाक्य के द्वारा—व्यक्ति विशेष के यहाँ किए जाने वाले भोजन में विष से भी अधिक हानि प्रदता का अनुमान कर लेगा।

दूसरे के यहाँ का भोजन विष से भी अधिक दुःखदायी है, क्योंकि उसके निषेध के लिए एक हितैषी व्यक्ति ने अपने प्रियजन को जहर तक खाना अच्छा बतलाया है। यदि भोजन वैसा दुःखदायी न होता तो हितैषी व्यक्ति अपने प्रियजन को जहर खाने की सलाह न देता।' इस प्रकार और—संस्कृत में—

एतद्गृहभोजनम्, विषाधिककष्टपरिणामि, हितेच्छुकर्तृक-प्रियजनोद्देश्यक-विषभक्षणाभ्यनुज्ञान-दर्शनात्, यन्नैवं तन्नैवम्।'

इस प्रकार अनुमान द्वारा भोजन विशेष में विष से भी अधिक अभक्षणीयता की प्रतीति हो जाने पर विष भक्षण और भोजन विशेष—दोनों ही अपने आप में शून्य सिद्ध हो जाते हैं और तब शब्द में तात्पर्यवृत्ति नामक शक्ति मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

यदप्यन्ये मन्यन्ते—वाच्यावगमोपक्रमः प्रतीयमानार्थान्तरावसायपर्यन्तोऽयमेक एव दीर्घदीर्घः शब्दस्येषोरिव व्यापारः न पुनरर्थान्तरस्य कश्चित् संवेद्यते। यथा ह्येक एवेषुर्बलवता धनुष्मता मुक्तः शत्रोरुरश्छदमुरश्च भित्त्वा जीवितमपहरति, न च तस्य वृत्तिभेदः, तथा शब्दोऽपि सत्कविना सकृत् प्रयुक्त एव क्रमेण स्वार्थाभिधानमर्थान्तरप्रतीतिं चैकयैव प्रवृत्त्या वितनोति। न च तस्य व्यापारभेदः कश्चित्।

किञ्च यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति शब्दस्यैवासौ व्यापारो न्याय्यो नार्थस्येति।

'और जो दूसरे मानते हैं कि—'वाच्यार्थ के ज्ञान से लेकर प्रतीयमान अर्थ के निश्चय तक होने वाला दीर्घ-दीर्घ यह शब्दव्यापार बाण के समान एक ही है, दूसरे अर्थ की प्रतीति के लिए कोई (भिन्न) व्यापार नहीं दिखाई देता। जिस प्रकार बलवान् धनुषधारी द्वारा छोड़ा एक ही बाण शत्रु की छाती पर बँधा कवच और छाती को भी फाड़कर, प्राणों का अपहरण कर लेता है और उसके व्यापार में कोई भिन्नता नहीं आती, उसी प्रकार कुशल कवि द्वारा एक ही बार प्रयुक्त शब्द भी क्रम से अपने अर्थ का अभिधान (अभिधावृत्ति द्वारा कवच) और दूसरे अर्थ की प्रतीति एक ही व्यापार से करा देता है और उसके व्यापार में (भी) कोई भिन्नता नहीं आती।' और—'जिस शब्द का जिस अर्थ में तात्पर्य होता है वही अर्थ उस शब्द का वास्तविक अर्थ है इसलिए यह (अर्थान्तर प्रतीति कराने वाला) शब्द का ही व्यापार कहा जाना चाहिए—अर्थ का नहीं।'

विमर्शः—इस पूर्वपक्ष में 'अन्ये' शब्द विशेष रूप से—विचारणीय है। उससे ज्ञात है कि इस पूर्वपक्ष में दिए गए शर दृष्टान्त और यत्परः शब्दः स शब्दार्थः न्याय उन आचार्यों

माने गये थे जो महिमभट्ट से भिन्न थे। दोनों मतों में से 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' को अभिनवगुप्त ने अपने ध्वन्यालोक लोचन में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि कम से कम इन दो मतों में से एक को मानने वाले आचार्य महिमभट्ट से पूर्ववर्ती अभिनवगुप्त से भी पहले के थे। इस मत को मानने वाले आचार्य मीमांसाशास्त्र के आचार्य थे। इस तथ्य में दो प्रमाण मिलते हैं—एक तो स्वयं अभिनवगुप्त और दूसरा मीमांसादर्शन। अभिनवगुप्त ने इस मत का खण्डन करते हुए इसके मानने वाले को मीमांसक कहा है। 'नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्।' (चौ० सं० ६६ पृ०)। उनका यह मीमांसक शब्द अपने पारिभाषिक अर्थात् मीमांसा दर्शन को मानने वाले व्यक्ति अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इस तथ्य की पुष्टि उनके एक दूसरे श्रोत्रिय शब्द से होती है। उन्होंने ठीक उसके पहले लिखा है—पश्य श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। (चौ० सं० ६५ पृ०) मीमांसादर्शन में भी जहाँ 'विधि तत्त्व के उत्पत्ति, प्रयोग, निमित्त और अधिकार ये चार भेद किए गए हैं वहाँ उनकी मिश्रितावस्था में कोई एक संज्ञा निश्चित करने के लिए 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' न्याय स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार एक ही स्थल में यदि एकाधिक विधियों की प्राप्ति हो तो उनमें से एक विधि के नाम से उस विधिवाक्य को पुकारा जाता है जिसमें उस वाक्य का तात्पर्य रहता है। इस सिद्धान्त को मानने में शबर स्वामी ने एक न्याय और भी प्रवर्तित किया है—'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' अर्थात्—एक साथ कही गई पुरानी और नई बातों में पुरानी बातें नई बातों के लिए दुहराई जाती हैं।' काव्यप्रकाशकार ने इन दोनों न्यायों को एक साथ उपस्थित किया है और मीमांसादर्शन के 'श्रुतिलिङ्ग वाक्य प्रकरणसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (पूर्वमीमांसा ३।३।१४) इस सूत्र पर आपत्ति आती हुई बतलाकर 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' तथा 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' को अमान्य ठहराया है। इससे भी संकेत मिलता है कि काव्यप्रकाशकार भी उक्त दोनों मतों को मीमांसकों का मत मानते हैं। अस्तु इन प्रमाणों से यह तो अवश्य सिद्ध हो जाता है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' मीमांसा शास्त्र में भी माना गया है। किन्तु यह तब भी सिद्ध नहीं होता कि इसका मूल प्रवर्तक मीमांसा ही है, क्योंकि उसमें भी यह उद्धरण के रूप में उपस्थित किया गया है। जहाँ तक सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' का सम्बन्ध है, उसके विषय में कोई भी निश्चित प्रमाण नहीं मिलता जिससे उसे किसी निश्चित आचार्य द्वारा प्रवर्त्तित माना जा सके। इस पर कुछ परवर्ती टीकाकारों से अवश्य कुछ प्रकाश पड़ता है किन्तु वह भी अनुश्रुतिमात्र पर आधारित दिखाई देता है। टीकाओं में काव्यप्रकाश की काव्यप्रदीप टीका सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। उसके रचयिता मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक गोविन्द ठक्कुर हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इन्हें उद्धृत किया है। इसलिए इनका समय १६वीं शती माना जाता है। इन्होंने अपने उक्त टीकाग्रन्थ में यत्परः शब्दः और सोऽयमिषोरिव...को भट्टमतोपजीवी लोगों का मत माना है—उनका वाक्य है—'अथ 'सोऽयमभिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति च 'निश्शेष' इत्यादौ विधिरेव वाच्य' इति भट्टमतोपजीविनः।' और इसका अर्थ किया है 'अस्यार्थः—यथा बलवता प्रेरित इषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण वर्मच्छेदमुरोभेदं प्राणहरणं च रिपोर्विधत्ते तथैक एव शब्द एकेनैवाभिधाख्यव्यापारेण पदार्थस्मृतिं वाक्यार्थानुभवं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च विधत्ते। अतो व्यङ्ग्यत्वाभिमतस्यार्थस्य बाध्यत्वमेव। किं च यत्र शब्दस्य तात्पर्यं स शब्दार्थ' इति 'निश्शेष' इत्यादौ तात्पर्यविषयतया विधिर्वाच्य एवेति।' (१४९ पृ० काव्यमाला तृतीय संस्करण)। प्रदीप के भट्टमतोपजीवी—शब्द का अर्थ—वामन झलकीकरने 'भट्टलोल्लटादयः' किया है। ध्वन्यालोक के हिन्दी रूपान्तरकार श्री विश्वेश्वर सिद्धान्त

शिरोमणि जी ने भी सम्भवतः वामन के ही आधार पर 'यत्परः शब्दः....' इस मत को अपनी अतिरिक्त टिप्पणी द्वारा भट्टलोल्लट का मत माना है। साहित्यदर्पण के टिप्पणीकार महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसादजी शास्त्री ने उसके निर्णयसागरीय षष्ठ संस्करण में यच्च केचिदाहुः 'सोऽयमिषोरिव...इति' (साहित्यदर्पण पंचम परिच्छेद २५३ पृ०) के केचित् का अर्थ—भट्टमतोपजीविनो भट्टलोल्लटादयः' किया है। हमारे पूज्य गुरुजी (कवितार्किक चक्रवर्ती पं० महादेव जी शास्त्री) ने ध्वन्यालोक के चौखम्भा संस्करण में दिव्याञ्जना टिप्पणी देकर उसमें अभिनवगुप्त के योऽन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के लोचनांश के 'अन्विताभिधानवादी' शब्द का केवल 'प्राभाकर इत्यर्थः' अर्थ किया है। इस टिप्पणी में वे स्थल-स्थल पर अनेक अन्तर्निगूढ़ अर्थों का काव्यप्रकाश और काव्यप्रदीप तथा शास्त्रान्तर के आधार पर स्पष्टीकरण करते हैं। उन्होंने इस स्थल पर काव्यप्रदीप का अनुसरण नहीं किया है। और वामन के अनुसार उन्होंने उसे भट्टलोल्लट का ही सिद्धान्त माना है। इसके अतिरिक्त रसप्रकरण में जहाँ काव्यप्रकाश में भट्टलोल्लट के मत का उल्लेख है वहाँ वे उसे भट्टमतोपजीवी बतलाकर भी अन्विताभिधानवादी नहीं बतलाते; कारण कि भट्ट मत अन्विताभिधानवाद का अनुयायी नहीं प्रत्युत अभिहितान्वयवाद का अनुयायी है। इसे भी उक्त टिप्पणी में 'एवमभिहितान्वयवादिनाम् इदम् अनपह्नवनीयम् (चौ० सं० ६४) इस लोचनांश के अभिहितान्वयवादी शब्द का 'तैतात्रिकमतानुयायिनाम् इत्यर्थः' अर्थ करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है। इस प्रकार उद्धृत लोचन उसकी सम्मान्य टिप्पणी और काव्यप्रदीप तथा वामनकृत उसकी छाया में परस्पर विरोध उपस्थित होता है। काव्यप्रदीप के अनुसार भट्टलोल्लट यदि भट्टमतोपजीवी माने जायँ और यह कहा जाय कि 'यत्परः शब्दः' उन्हीं की मान्यता है तो अभिनवगुप्त द्वारा उसे अन्विताभिधानवादी का मत स्वीकार किए जाने पर भट्ट लोल्लट को प्रभाकरोपजीवी भी मानना होगा क्योंकि अन्विताभिधानवाद के प्रवर्तक आचार्य प्रभाकर हैं। अलङ्कार शास्त्र में भट्टलोल्लट को 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का प्रवर्तक मानने पर इसके अतिरिक्त एक और आपत्ति आती है जिस पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। वह यह कि मीमांसा या साहित्य में भट्टलोल्लट का ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें उन्होंने इन साहित्यिक तत्त्वों पर यत्परः शब्दः द्वारा विचार करने का मार्ग सुझाया हो। साहित्य में अभिनवगुप्त ने लोचन में रसविवेचन करते हुए—भट्टनायक का तो नाम दिया है किन्तु भट्टलोल्लट का नहीं। उनका नाम लोचन के बाद लिखी गई अभिनवगुप्त भारती में अवश्य मिलता है। किन्तु वह भी रसप्रकरण में ही। अतः उसकी 'यत्परः' आदि से कोई संगति नहीं। मीमांसा में तो भट्टलोल्लट का इतना भी उल्लेख नहीं है। इस प्रकार जब काव्यप्रदीप और लोचन के विरोध से अनुश्रुति भी असंगत ठहरती है और कोई भट्टलोल्लट का स्वलिखित ग्रन्थ मिलता नहीं तब 'यत्परः शब्दः' का प्रवर्तक उन्हें ही मानना बुद्धिसंगत नहीं। वस्तुतः मीमांसकों की ओर से पूर्वपक्ष उपस्थित करते हुए इतर दार्शनिकों में भट्ट मत और प्रभाकर मत में भ्रम होता रहा है। मंजूषा आदि ग्रन्थों में प्रभाकर के मत को भट्ट मत कहकर खण्डन किया गया है। इसी प्रकार दिनकरी रामरुद्री में भी। यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में मम्मट ने भी इत्यन्विताभिधानवाद इत्यादि द्वारा अन्विताभिधानवाद का ही खण्डन किया है, काव्यप्रदीप में भी उपसंहार में वही कहा गया है। इसलिए 'भट्टमतोपजीविनः' यह कथन भ्रममूलक ही है। इसी के आधार पर जिन्होंने भट्ट लोल्लट को इस मत का प्रवर्तक माना है उनका भी कथन मुक्ति मूलक ही है। भट्ट लोल्लट भट्टमतोपजीवी माने जाते हैं जैसा कि उनकी रस व्याख्या से स्पष्ट है किन्तु भट्ट का माना हुआ वाद अभिहितान्वयवाद है, प्रस्तुत प्रसंग में लोचन, काव्यप्रकाश और उपसंहार वाक्य के

अनुसार काव्यप्रदीप में भी अन्विताभिधानवाद का खण्डन किया गया है। अन्विताभिधानवाद के प्रवर्त्तक प्रभाकर हैं।

ऐसा कुछ लगता है कि 'यत्परः शब्दः' का दृष्टिकोण साहित्यिक क्षेत्र में सबसे पहले धनिक ने स्थापित किया। अभिनवगुप्त तक वह शुद्ध मीमांसा का विषय था और उद्धृत लोचन के श्रोत्रिय तथा मीमांसक शब्दों के आधार 'यत्परः शब्दः' की युक्ति द्वारा मीमांसक ही आलंकारिक शास्त्र पर आपत्ति देते थे। धनिक ने अपने दशरूपकावलोक में इस दृष्टिकोण को सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया है। यद्यपि वहाँ 'यत्पर इत्यादि' आनुपूर्वी के साथ यह वाक्य प्रयुक्त नहीं है। महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे ने अपने (History of Samskrit Poetics) में धनिक को ई० १०२० से पहले का माना है। उन्होंने इस समय निर्धारण में वाक्पतिराज के एक १०३० वि० सं० के शिलालेख का उल्लेख किया है और बतलाया है कि उसमें धनिक पण्डित नाम से एक व्यक्ति का उल्लेख हुआ है, जिसके वसन्ताचार्य नामक पुत्र को कुछ दान दिया गया था। उक्त इतिहास में ही अभिनवगुप्त का समय भी ई० १०२० तक ही माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि अभिनवगुप्त और धनिक दोनों समकालीन थे। महिमभट्ट ने अभिनवगुप्त के ध्वनिलक्षण पर लिखे लोचनांश का अविकल उद्धरण दिया है इसलिए, और वक्रोक्तिजीवितकार का नामोल्लेख किया है—इसलिए डॉ० श्री काणे ने उनका समय १०२० से ११०० तक माना है। इस मान्यता के अनुसार लोचनकार के समकालीन धनिक भी महिमभट्ट के पूर्ववर्त्ती आचार्य सिद्ध होते हैं। निदान यह मान लेना अयुक्तिक न होगा कि महिमभट्ट के इस ग्रन्थ में 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' की यह मीमांसाप्रवर्त्तित मान्यता धनिक द्वारा उसे सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर लेने के बाद आई है।

फलतः अभी तक 'यदप्यन्ये मन्यन्ते' के अन्ये का अर्थ 'धनिकादयः' करना ठीक होगा— इसके अतिरिक्त 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' यह न्याय सम्भवतः धनिक की 'तात्पर्यवृत्ति' की दीर्घदीर्घ कल्पना के आधार पर सबसे पहले महिमभट्ट ने ही निकाला है, क्योंकि इसके पहले के उपलब्ध अलंकारशास्त्र तथा मीमांसा व्याकरण दर्शनों में भी इसका इस प्रकार से कहीं उल्लेख भी नहीं है। बाद में अवश्य काव्यप्रकाश, विश्वनाथ और काव्यप्रदीपकार ने इसे इसी रूप में उद्धृत किया है।

तदयुक्तम्। साक्षाच्छब्दस्यार्थप्रतीतिहेतुत्वासिद्धेः। पारम्पर्येण तु तस्य हेतुत्वोपगमे वस्तूनां हेतुफलभावव्यवहारनियमो न व्यवतिष्ठते। ततश्च कुलालोऽपि सेकसलिलोपकरणभूतं कुम्भं कुर्वन् मधुमास इव कुसुमविकास-हेतुरिति मुख्यतया ख्यायेत, इत्यर्थस्यैव व्यापारोऽभ्युपगन्तुं युक्तो न शब्दस्य। न हि यः पुत्रस्य व्यापारः स पितुरेवेति मुख्यतया शक्यते वक्तुम्, तयोरन्योन्यव्यापारसाङ्कर्यदोषप्रसङ्गात्।

किञ्चायं विषमः शरदृष्टान्तोपन्यासः। न हि यथा सायकः स्वभावत एव छेद्यभेद्याद्यर्थविषयमेकयैव वृत्त्या तत्तत्कार्यं करोति, तथा शब्दः। स हि सङ्केतसापेक्षः स्वव्यापारमारभते न स्वभावत एवेति यत्रैवास्य सङ्केत-स्तत्रैव व्याप्रियते। ततश्चाभिधेयार्थविषय एवास्य व्यापारो युक्तो नार्थान्त-रविषयः, तत्र सङ्केताभावात्। तदभावेऽपि तत्र तत्परिकल्पने सर्वः

कुतश्चिदभिधेयार्थवदर्थान्तरमपि प्रतीयात्। तस्माद्यत्र सङ्केतापेक्षा तत्रैवास्य व्यापार इत्यवगन्तुं युक्तं, नार्थान्तरे, तत्र वक्ष्यमाणनयेनार्थस्यैव तदुपपत्तिसमर्थनादिति।)

'वह ठीक नहीं है। क्योंकि अर्थ की प्रतीति में शब्द साक्षात् हेतु नहीं बन पाता, और परम्परा द्वारा हेतु माने जाने पर वस्तुओं में से किसी को कार्य और किसी को कारण कहने की व्यवस्था कठिन हो जाएगी। क्योंकि तब तो (परम्परा द्वारा कारणता मान लेने वाले) जैसे मधुमास को पुष्प विकास का मुख्य हेतु माना जाता है वैसे ही सिंचाई के काम में आने वाले घड़े का निर्माता भी पुष्प विकास का मुख्य कारण कहा जा सकेगा। इस कारण शक्ति को अर्थ में ही मानना ठीक है, शब्द में नहीं। ऐसा नहीं हो सकता कि जो व्यापार पुत्र का है, पिता को उसका मुख्य आश्रय कह दिया जाय, क्योंकि ऐसा करने पर उनके अपने नियत कार्यों में सांकार्य दोष की सम्भावना होगी।

इसके अतिरिक्त यह शर का उदाहरण ठीक नहीं बैठता। क्योंकि जिस प्रकार बाण अपने आप ही छेद्य (कवच आदि, जो छिन्न हो सकते हैं), भेद्य (जो फोड़े जा सकते हैं—छाती आदि) पदार्थों में एक ही शक्ति से छेदन-भेदन आदि कार्य करता है—उसी प्रकार शब्द नहीं। वह अपनी शक्ति काम में लाता है संकेतग्रह की सहायता से, अपने आप नहीं। इसलिए यह वहीं प्रवृत्त होता है (ज्ञान कराने चलता है) जहाँ उसका संकेत रहता है। इसलिए शब्द की शक्ति केवल अभिधेय अर्थ तक ही चलती है अर्थान्तर (अभिधेय से भिन्न अर्थों में) नहीं। क्योंकि उन अर्थों में संकेत नहीं रहता। उस (संकेत) के अभाव में भी उस (शब्द व्यापार) की कल्पना करने पर सभी लोग किसी भी शब्द से अभिधेय अर्थ के समान दूसरे अर्थों का भी ज्ञान करने लगेंगे। इसलिए जहाँ (जिस अर्थ के ज्ञान में) संकेत की अपेक्षा होती है शब्द का व्यापार उसी अर्थ में होता है—ऐसा समझना ठीक होगा, दूसरे अर्थ में (उसका व्यापार मानना ठीक) नहीं, क्योंकि उसमें (दूसरे अर्थ की प्रतीति में) तो आगे कहे जाने वाले ढंग से अर्थ का व्यापार ही उचित ठहरता है।

विमर्श : महिमभट्ट पूर्वपक्ष को अमान्य सिद्ध करते हैं। इसमें उनके दो तर्क प्रमुख हैं—एक तो—शब्द अपने अर्थ के समान दूसरे अर्थ की प्रतीति—साक्षात् नहीं कराता, और दूसरे—वह उसी अर्थ का ज्ञान करा सकता है जिसमें उसका संकेत रहता है।

इन दोनों तर्कों के समर्थन में उन्होंने निम्नलिखित युक्ति दी हैं—

(१) दर्शन शास्त्र हेतु और हेत्वाभास का भेद मानता है। उसमें कार्य के हेतु का हेतु कार्य का हेतु नहीं माना जाता। उसे अन्यथासिद्ध माना जाता है। उदाहरण घट के प्रति कपाल संयोग और कुम्हार कारण हैं। कुम्हार दो कपालों के जोड़ का हेतु है और वह जोड़ घट का। इसलिए कुम्हार घट का हेतु नहीं माना जाता। इसी प्रकार अर्थान्तर की प्रतीति शब्द से नहीं शब्द से प्रतीत अर्थ से होती है। यदि शब्द उसकी प्रतीति का हेतु मान लिया जाएगा तो फिर घट के प्रति कुम्हकार को भी कारण मानना आवश्यक हो जाएगा। इसलिए जिसप्रकार घट का असली कारण कुम्हार न होकर दो कपालों का जोड़ या कपाल होता है उसी प्रकार अर्थान्तर की प्रतीति का कारण भी पूर्ववर्ती अर्थ होता है न कि—उस अर्थ को बतलाने वाला शब्द। ग्रन्थकार ने इसी अभिप्राय से पुष्पविकास में मधुमास और अपनी सिंचाई के काम में आने वाले घड़े को बनाने वाला कुम्हार दोनों के हेतुत्व की शंका उपस्थित की है।

(२) बाण एक ही व्यापार से छेदन-भेदन और प्राणहरण रूप अनेक कार्य कर सकता है, किन्तु उसके आधार पर शब्द एक ही शक्ति द्वारा अनेक कार्यों का कर्त्ता नहीं माना जा सकता। कारण कि बाण और शब्द की कार्य प्रणाली में अन्तर है। बाण का व्यापार (वेग) अपने छेदन-भेदन आदि सभी कार्यों में स्वतन्त्र होता है, शब्द का व्यापार परतन्त्र। वह उसी दिशा में होता है, जिसमें उस शब्द का संकेत रहता है। पुस्तक शब्द अर्थ ज्ञान के लिए प्रवृत्त अवश्य होता है कि उसकी यह प्रवृत्ति एकमात्र उसी दिशा में होती है जिसमें किन्हीं लिखित पत्रों का एक विशिष्ट समुदाय रहता है—क्योंकि उसे उसी आकार के पदार्थ तक सीमित कर दिया जाता है। इस स्थिति में उसकी प्रवृत्ति किसी दूसरे पदार्थ का ज्ञान कराने में नहीं होती। निदान वह अपने अर्थ को छोड़कर बाण के समान आगे नहीं बढ़ सकता, फलतः उससे दूसरे अर्थों की प्रतीति किसी प्रकार मानी नहीं जा सकती। उन अर्थों की प्रतीति शब्द से प्रतीत उसके अपने अर्थ द्वारा होती है। इसलिए उन अर्थों के ज्ञान में शब्द शक्ति को कारण न मानकर अर्थशक्ति को कारण मानना होगा। अर्थ का यहाँ अनुमान ही हो सकता है। इसलिए अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि दूसरे अर्थ अनुमान से ज्ञात होते हैं।

यत् पुनः—

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥'

इत्यादिना शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि यद् वैचित्र्यं तन्मात्रलक्षणं वक्रत्वं नाम काव्यस्य जीवितमिति सहृदयमानिनः केचिदाचक्षते तदप्यसमीचीनम्।

यतः प्रसिद्धोपनिबन्धनव्यतिरेकित्वमिदं शब्दार्थयोरौचित्यमात्रपर्यवसायि स्यात्, प्रसिद्धाभिधेयार्थव्यतिरेकि प्रतीयमानाभिव्यक्तिपरं वा स्यात्। प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणः शब्दार्थोपनिबन्धनवैचित्र्यस्य प्रकारान्तरासम्भवात्।

तत्राद्यस्तावत् पक्षो न शङ्कनीय एव, तस्य काव्यस्वरूपनिरूपणसामर्थ्यसिद्धस्य पृथगुपादानवैयर्थ्यात्। विभावाद्युपनिबन्ध एव हि कविव्यापारो नापरः। ते च यथाशास्त्रमुपनिबध्यमाना रसाभिव्यक्तेर्निबन्धनभावं भजन्ते, नान्यथा। रसात्मकं च काव्यमिति कुतस्तत्रानौचित्यसंस्पर्शः सम्भाव्यते, यन्निरासार्थमित्थं काव्यलक्षणमाचक्षीरन् विचक्षणम्मन्याः।

द्वितीयपक्षपरिग्रहे पुनर्ध्वनेरेवेदं लक्षणमनया भङ्ग्याभिहितं भवति, अभिन्नत्वाद् वस्तुनः। अत एव चास्य त एव प्रभेदास्तान्येवोदाहरणानि तैरुपदर्शितानि। तच्चायुक्तमित्युक्तं, वक्ष्यते च।

और जो—

(ऐसे) शब्द और अर्थ काव्य होते हैं (जो) साहित्य से युक्त (होते हैं) और कवि के 'वक्रव्यापार' से युक्त 'बन्ध' में व्यवस्थित (होते हैं)।'* इत्यादि द्वारा शास्त्र आदि में प्रचलित

* यह सिद्धान्त वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक का है। द्रष्टव्य वक्रोक्तिजीवित १।७ ले०

शब्द और अर्थों की योजना से भिन्न जो वैचित्र्य (है) उतने ही तक सीमित वक्रता नामक (तत्त्व) 'काव्य की आत्मा है' ऐसा जो सहृदयता का अभिनय करने वाले कुछ लोग कहते हैं—(उनका) वह (कथन) भी समीचीन नहीं है—

क्योंकि यह जो (शब्दार्थ) की प्रचलित योजना से भिन्नता (भिन्नयोजना) है वह शब्द और अर्थ का औचित्य ही ठहरेगी, या अभिधावृत्ति से बतलाये गये सर्वानुभूत अर्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति करना। क्योंकि प्रचलित सर्वसामान्य योजना से भिन्न—शब्दार्थ योजना के वैचित्र्य में कोई तीसरा भेद हो नहीं सकता।

इनमें से पहली बात की शंका नहीं की जा सकती। क्योंकि उस (औचित्य) का अलग से कोई उल्लेख व्यर्थ है, कारण कि उसका निरूपण तो काव्य-स्वरूप के निरूपण से ही हो जाता है—(यह इसलिए कि आखिर) विभाव आदि की योजना ही तो कवि का व्यापार है; इससे भिन्न और कुछ नहीं। और वे (विभाव आदि) नियम के अनुसार ही योजनाबद्ध होने पर रस की अभिव्यक्ति में कारण बन पाते हैं, और कैसे नहीं। और रसात्मक (वस्तु ही) काव्य है इसलिए उसमें (काव्य में) अनौचित्य का स्पर्श भी कहाँ? जिसके निराकरण के लिए अपने आपको चतुर मानने वाले लोग इस प्रकार का (वक्रताविशिष्ट) काव्य का लक्षण करते फिरें। और दूसरी बात को लेने पर इस (नए) ढंग से यह ध्वनि का ही लक्षण बनता है, क्योंकि बात एक ही है। और इसलिए तो उन्होंने उसके वे ही प्रभेद और वे ही उदाहरण दिखलाए हैं। और (जहाँ तक ध्वनि के लक्षण का संबन्ध है। वह ठीक नहीं है—ऐसा पहले ही कहा जा चुका है और आगे भी कहा जाएगा।

(इस मत के विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है कि)—

प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥ ६९ ॥

(१) जहाँ वह अर्थ विचित्रता की सिद्धि के लिए प्रचलित ढंग को छोड़कर और ही किसी ढंग से कहा जाता है—वह (ढंग ही) वक्रोक्ति कही जाती है।

पदवाक्यादिगम्यत्वात् स चार्थो बहुधा मतः।
तेन तद्वक्रतापीष्टा बहुधैवेति तद्विदः ॥ ७० ॥

(२) यह अर्थ (क्योंकि) पद, वाक्य आदि कई माध्यमों से प्रतीत होने के कारण कई प्रकार का है—इसलिए उसकी वक्रता भी उसके जानकार की दृष्टि से कई प्रकार की ही मान्य होती है।

अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने।
व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः ॥ ७१ ॥

(३) इस पर हमारा कहना है कि अर्थ की प्रतीति कराने में शब्द का अभिधा ही एक व्यापार माना गया है। दूसरा जो (व्यापार) है वह सारा का सारा अर्थ का है।

ततश्च—

वाच्यादर्थान्तरं भिन्नं यदि तल्लिङ्गमस्य सः।
तन्नान्तरीयकतया निबन्धो ह्यस्य लक्षणम् ॥ ७२ ॥?

(४) इसलिए—यदि वाच्येतर अर्थ वाच्य से भिन्न है तो इसका (

(वाच्य) लिङ्ग है। क्योंकि अर्थान्तर की अर्थान्तरता ही इसमें है कि उसके प्रति वाच्य अर्थ हेतुरूप से उपनिबद्ध किया जाय।

अभेदे बहुता न स्यादुक्तेर्मार्गान्तराग्रहात् ।
तेन ध्वनिवदेषापि वक्रोक्तिरनुमा न किम् ॥ ७३ ॥

इत्यन्तरश्लोकाः

(५) और अभेद होने पर बहुत्व नहीं बनेगा क्योंकि (उस वक्र) उक्ति का और कोई दूसरा प्रकार हो नहीं सकता।

इसलिए ध्वनि के ही समान यह वक्रोक्ति भी अनुमान ही क्यों नहीं (मानी जाय)।

विमर्श : इस प्रसंग में महिमभट्ट ने वक्रोक्ति का खण्डन किया है। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलंकार शास्त्र के सम्प्रदाय-विकास में ध्वनि-सम्प्रदाय के बाद का तथा महिमभट्ट के पहले का सम्प्रदाय है। इसके प्रवर्त्तक आचार्य का नाम कुन्तक है। इन्होंने 'काव्यालङ्कार' नाम से वक्रोक्ति-सम्प्रदाय पर कारिकाएँ लिखी हैं और उनपर अपनी स्वरचित वृत्ति का नाम वक्रोक्ति-जीवित रखा है। इस समय कुन्तक का ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित नाम से ही प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के अभी तक दो संस्करण हो चुके हैं। पहले एक बार सन् १९२३ में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, और अब १९५५ में तीनवर्ष पहले यह प्रकाशित हुआ है। इस बीच देश के प्रसिद्ध विद्वानों ने अंग्रेजी हिन्दी में इस संप्रदाय को लेकर काम किए हैं। हिन्दी में पं० बलदेव उपाध्याय (भारतीय साहित्यशास्त्र द्वितीयभाग) और श्री रामनरेश वर्मा (वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डॉ० नगेन्द्र ने भी इस बार प्रकाशित वक्रोक्तिजीवित में एक विस्तृत भूमिका देकर वक्रोक्ति पर अच्छा प्रकाश डाला है। विशेष रूप से अध्ययन के लिए वक्रोक्ति-सम्प्रदाय पर लिखे इन ग्रन्थों को देखना चाहिए। यहाँ इस प्रसंग में केवल वक्रोक्ति के मूल रूप का प्रतिपादन पर्याप्त होगा—

पं० बलदेव उपाध्याय ने अपने साहित्यशास्त्र के द्वितीय भाग में (राजानक रुय्यक कृत) अलंकारसर्वस्व की एक टीका के रचयिता समुद्रबन्ध का वाक्य उद्धृत किया है, वह इस विषय की जानकारी की एक कुंजी है। हम उसे उक्त ग्रन्थ से उद्धृत करते हैं—

'इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन व्यङ्ग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽपि अलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन। (भारतीय साहित्यशास्त्र पृ० १६ द्वि० भाग)

इससे स्पष्ट है कि वक्रोक्तिजीवितकार का मूल सिद्धान्त काव्य में व्यापार-प्रधानता-वादी है। व्यापार का अर्थ कविकर्म है। कविकर्म का अर्थ काव्यगतरूप पदार्थों की लोकसामान्य स्थिति से ऊपर उठकर अलोकसामान्य स्थिति में अभिव्यक्ति करना है। इसमें शब्द, शब्द का अंग-प्रत्यंग, उससे और उसकी प्रत्येक इकाई से प्रतीत होने वाले अर्थ और उनके लोक-स्थिति में अनुभूत न होने के कारण एकमात्र काव्य में आए विचित्र सम्बन्ध तथा इन सबके मूल में अवस्थित कवि-प्रज्ञा का कौशल ये सभी तत्त्व चले आते हैं। वस्तुतः काव्यशास्त्र के और किसी सम्प्रदाय में इनसे अतिरिक्त कोई नई वस्तु बची नहीं रहती। इसीलिए आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त भी, जिसकी सार्वभौम प्रतिष्ठा से भारतीय साहित्यशास्त्र को अपने भावात्मक आलोचना क्षेत्र में

सर्वाधिक संतोष है—उक्त क्षेत्रों में विस्तृत वक्रोक्ति-सिद्धान्त के मान्यक्रम को आँच नहीं पहुँचाता। अन्तर इतना ही है कि आलोचना की वह दार्शनिक कर्कशता इस व्यापारवादी सम्प्रदाय में नहीं है जो काव्यतत्त्व का परिज्ञान स्वगत भेदों से पृथक् कर कराती है। इसमें मानव-मेधा के उन आकर्षण सूत्रों का सांकेतिक उल्लेख है, जिनसे काव्य का स्वतन्त्र व्यक्तित्व एक मनोरम रूप में सामने आता है। वस्तुतः भारतीय आलोचना के प्राचीन रूप में काव्यतत्त्वों का सजीव उदाहरणों द्वारा—जो मनोरम रूप अभिनवगुप्त तक भी निखर नहीं सका था, वक्रोक्ति सिद्धान्त ने उसे पूर्ण करने का गौरव प्राप्त किया है। संस्कृत के वर्तमान पठन-पाठन में इस संप्रदाय का कोई स्थान नहीं रखा गया है, अतः हम इस प्रसंग में उपर्युक्त निवेदन कर रहे हैं। अब हम वक्रोक्ति सिद्धान्त में वक्रोक्ति की परिभाषा उपस्थित कर अपने प्रासङ्गिक विषय को अपनाते हैं।

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः। वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥

यहाँ उभौ का अर्थ 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस पहले की कारिका से आए शब्द और अर्थ हैं। अर्थ—यह हुआ कि ये दोनों शब्द और अर्थ—अलङ्कार्य हैं। और इनका अलङ्कार है एक मात्र वक्रोक्ति। वक्रोक्ति का लक्षण है—वैदग्ध्यभङ्गीभणिति। वैदग्ध्यभङ्गीभणिति शब्द की जो निरुक्ति स्वयं वृत्ति में दी गई है उसे हम यहाँ अविकल उपस्थित करते हैं—

'कासौ वक्रोक्तिरेव ?'

वक्रोक्तिः = प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकेण विचित्रैवाभिधा।

कीदृशी ? वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः। वैदग्ध्यं = विदग्धभावः = कविकर्म कौशलम्, तस्य भङ्गी = विच्छित्तिः, तया भणितिः।

विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।

कारिका में कहा गया था शब्द और अर्थ दोनों का अलंकार एकमात्र वक्रोक्ति है। प्रश्न उठा आखिर यह वक्रोक्ति ही है क्या ? उत्तर दिया उसका अर्थ वक्रोक्ति शब्द से ही स्पष्ट है। वक्र का अर्थ है कथन के प्रचलित ढंगों से भिन्न एक (विचित्र) नवीन ढंग से कहना।

इस विचित्र या नवीन ढंग से किए जानेवाले कथन का स्पष्ट रूप है वैदग्ध्यभङ्गीभणिति। उसका अर्थ है वैदग्ध्य = विदग्धता, विदग्धता का अर्थ है—कविकर्म की कुशलता (कुशलताद्वारी कविकर्म) उसका चमत्कारपूर्णता के साथ कथन। इस प्रकार एक विचित्र ढंग का कथन या विचित्र कथन-प्रकार वक्रोक्ति है।

इस सम्पूर्ण सन्दर्भ का संक्षेप स्वयं वक्रोक्तिजीवितकार ने इस प्रकार किया है—

'वक्रता-वैचित्र्य-योगितया अभिधानमेवानयोरलङ्कारः।' अर्थात्

'बाँकपने की चटकीली छौंक के साथ कहना ही वक्रोक्ति रूप शब्द और अर्थ का अलङ्कार है।'

इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि अभिधा या अभिधान को वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुन्तक ने शब्द और अर्थ का अलंकार माना है। यह अभिधा या अभिधान राजानक महिमभट्ट की दृष्टि में वही अभिधा व्यापार है जिसे दूसरे दर्शनों में शक्ति माना गया है। वक्रोक्तिजीवितकार ने इसी कथन प्रकार को प्रधान मानकर उसमें सम्पूर्ण अलंकार रीति, गुण और ध्वनि का अन्तर्भाव दिखलाया है। महिमभट्ट को अपना अनुमितिवाद स्थापित करना था, इसलिए वे ध्वनि और उसके विरुद्ध उठे सभी संप्रदायों को अपनी दृष्टि से अमान्य ठहराते हैं। उनका कहना है—यह जो अभिधारूप विचित्र कथन नामक वक्रोक्ति व्यापार माना जा रहा है—वह विवेचन करने पर—औचित्य या ध्वनि नाम से प्रचारित वस्तु से भिन्न नहीं हो सकता। औचित्य तो इसलिए, कि

प्रकरण आदि (संयोगो विप्रयोगश्च इत्यादि—ध्वन्यालोक आदि में उद्धृत वाक्यपदीयकार द्वारा निर्दिष्ट अभिधानियामक) द्वारा पद-पद पर ([कदम-कदम पर) शब्दानुशासन के समान संकेतग्रह किया नहीं जा सकता क्योंकि वे-(प्रयोजन, प्रकरणादि उपाधि) अनन्त हैं, साथ ही अनियत भी।

एक एव हि शब्दः सामग्रीवैचित्र्याद् विभिन्नानर्थानवगमयति, यथा 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति, 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये! नोचितम्' इति, 'रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते' इति, 'रामे तटान्तवसतौ कुशतल्पशायिन्यद्यापि नास्ति भगवन्! भवतो व्यपेक्षा' इत्यादावेक एव रामशब्दः।

शब्द एक ही होता है किन्तु सामग्री के भेद से नाना प्रकार के अर्थों का ज्ञान कराता है, जैसे—

रामोऽस्मि सर्वं सहे।[१]

रामेण[२] प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्। और

रामस्य[३] पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते?

---

१. ध्वन्यालोक (चौ० सं० १६९ पृ०) में इस श्लोक की वृत्ति में लिखा गया है—इत्यत्र रामशब्दः। अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्। इस पर लोचनकार ने लिखा है—अनेन = रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः। व्यङ्ग्यं धर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसंख्येयम्। उदाहरणचन्द्रिका नामक काव्यप्रकाशटीका में इसका अर्थ—रामोऽस्मि सकलदुःखपात्रत्वेन प्रसिद्धोऽस्मि। और रामपदेन च सर्वंसहत्वानुपयुक्तार्थतया अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्येन पीडासहस्रसम्पातेऽपि प्राणधारणादात्मनि न्यक्कारो व्यज्यते। (निर्णयसागरीय द्वि० सं० काव्यप्रदीप के साथ १३२ पृ०) वामन और प्रदीपकार ने इसे स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह है—मैं राम हूँ। वनवासी राम अपने आपको राम कहे बिना भी राम के नाम से प्रसिद्ध हैं। इतने पर भी वे कहते हैं तो उसका अर्थ प्रकरण के अनुसार 'सब प्रकार से दुःखी' है। व्यक्तिविवेक से पहले बने वक्रोक्तिजीवित में इसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है—अत्र रामशब्देन 'दृढं कठोरहृदयः' 'सर्वं सहे' इति यद् उभाभ्यां प्रतिपादयितुं न पार्यते तद्—(स्निग्धश्याम) एवंविध-विविधोद्दीपकविभावविभवसहनसामर्थ्यकारणं दुःसहजनकसुता-विरहविसंष्ठुलेऽपि समये निरपत्रप-प्राणपरिरक्षावैचक्षण्यलक्षणं संज्ञापदनिबन्धनं किमप्यसम्भाव्यमसाधारणं क्रौर्यं प्रतीयते (व० जी० २।९, पृ० १९७ दिल्लीसंस्करण) स्वयं व्यक्तिविवेककार ने इसका अर्थ द्वितीय विमर्श में किया है वह वहीं से देख लेना चाहिए।

२. इस पद्य के 'रामेण' शब्द को ध्वन्यालोककार ने अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य कहकर 'अत्र रामेणेत्येतत्परं साहसैकरसत्वादिव्यङ्ग्याभिसंक्रमितवाच्यं व्यञ्जकम्' इस प्रकार उसे साहसिकत्व आदि दूसरे अर्थों में संक्रान्त माना है। ध्वन्यालोक की इस वृत्ति के 'रामेण' इस अंश को प्रतीक रूप से देकर अभिनवगुप्त ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'असमसाहसरसत्वसत्यसंधत्वो-चितकारित्वादिव्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतेन' अर्थात् राम का शब्द असमान साहसप्रवणता, सत्यप्रतिज्ञता, उचितकार्यकारिता आदि में तात्पर्य है (चौ० सं० २९२ पृ०) वक्रोक्तिजीवित में यह पद्य नहीं आया है। काव्यप्रकाश की प्रदीप और बालबोधिनी दोनों टीकाओं में इस पर कोई विशेष विवेचन नहीं किया गया है। प्रदीप में केवल कातरता की अभिव्यक्ति मानी गई है।

३. यहाँ राम शब्द का अर्थ अत्यन्त क्रूरकर्मा व्यक्ति है, बोथियों में रमने वाला व्यक्ति नहीं।

'रामे[1] तटान्तवसती कुशतल्पशायिन्यद्यापि नास्ति भगवन् भवतो व्यपेक्षा' आदि में एक ही रामशब्द।

यथाह ध्वनिकारः—शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुरुन्धान एव गमकत्वलक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तरसद्भावादौपाधिकः प्रवर्तते। अत एव च वाचकत्वात् तस्य विशेषः। वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा, सङ्केतव्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स त्वनियत औपाधिकत्वात् प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरि(तरथात्वप्रतीतेरि)ति।

जैसा कि खुद ध्वनिकार ने कहा है गमकत्वरूप (व्यञ्जनारूप) व्यापार (तथा) विभिन्नसामग्री के सहयोग से औपाधिक है, और वह शब्द तथा अर्थ का जो वाच्यवाचक भाव (अभिधा) रूप प्रसिद्ध सम्बन्ध है उसपर निर्भर रहता हुआ ही काम करता है। इसीलिए वाचकत्व (अभिधा) से उसका भेद है। वाचकत्व जो है वह शब्दों की अपनी नियत वस्तु है। क्योंकि संकेत ज्ञान के समय से लेकर उसकी (वाचकत्व की) उसके (संकेतज्ञान के) बिना प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। और वह (व्यञ्जकत्व) तो अनियत है, क्योंकि औपाधिक है। उसकी प्रतीति प्रकरणादि के निश्चय से होती है, और निश्चय न होने पर नहीं।

विमर्श : इस प्रसंग में व्यञ्जना वृत्ति पर साक्षात् आक्रमण किया गया है। यही वह स्थल है जिसे ग्रन्थकार ने पहले जगह-जगह वक्ष्यमाण कहा है। इस संदर्भ का भाव यह है—

शब्द का यह स्वभाव है कि वह किसी सुनिश्चित अर्थ का ही ज्ञान कराता है साथ ही उसके इस सुनिश्चित अर्थ में काम आती है केवल एक अभिधा शक्ति ही। वही उसका अर्थ से सम्बन्ध मानी जाती है।

यद्यपि संसार में ऐसे भी कुछ पदार्थ हैं जो अन्य पदार्थों की प्रतीति बिना किसी सम्बन्ध के ही करा देते हैं जैसे राग, लय आदि रति आदि भावों को। किन्तु शब्द की गणना उन पदार्थों में नहीं है। उससे होनेवाली अर्थप्रतीति में प्रयोजन, प्रकरण आदि अनेक पदार्थ सहायकरूप से कारण होते हैं। उदाहरण के लिए एक ही शब्द है 'राम', किन्तु

(१) मैं राम हूँ सब कुछ सह लूँगा।

(२) हे प्रिये, किन्तु जिन्दगी का मोह रखने वाले केवल इस राम ने ही प्रेमोचित व्यवहार नहीं किया।

(३) तू राम का हाथ है, उस राम का जिसने कठोरगर्भा जानकी को क्षण भर में छोड़ दिया था, तुझे दया कैसी ? और

(४) भगवान् समुद्र ? किनारे डेरा डालकर कुश की चटाई पर सो रहे राम पर अब तक आप ध्यान नहीं दे रहे हैं ?

इत्यादि भिन्न-भिन्न स्थितियों में उससे सकलदुःखभाजन, कायर या भीरु, क्रूर या निठुर, और सर्वशक्तिमान् तथा सहिष्णु होने की प्रतीति होती है।

---

१. समुद्र को सम्बोधित करके यह कहा जा रहा है—इसमें राम शब्द का अर्थ त्रिभुवननायक, साक्षात्परमात्मस्वरूप—व्यक्ति है, जिससे उसका कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्व जाहिर होता है

ग्रन्थकार अपनी इस उक्ति को ध्वनिकार के वाक्य द्वारा प्रमाणित करते हैं। उन्होंने 'शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धः = से लेकर—औपाधिकत्वात् प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेः = तक वाचकत्व या अभिधा को विशिष्ट अर्थ में नियत माना है और अर्थान्तर की प्रतीति में प्रकरण आदि उपाधि को हेतु।'

इस प्रकार जब यह निश्चित हो गया कि शब्द किसी निश्चित अर्थ का ही ज्ञान करा सकता है तब उक्त राम आदि शब्दों में निश्चित रामत्व आदि के अतिरिक्त अनिश्चित दुःखैकपात्रत्व आदि का ज्ञान शब्द द्वारा कैसे माना जा सकता है। निश्चित अर्थों में तो शब्द का अभिधाव्यापार काम करता है, अनिश्चित अर्थों में जब उसकी कोई प्रवृत्ति नहीं होती तब बिना किसी व्यापार के शब्द उन अर्थों की प्रतीति नहीं करा सकता।

शब्द का दूसरा कोई व्यापार ग्रन्थकार नहीं मानते इसलिए उन्होंने उक्त ढंग से प्रतिवादी का खण्डन किया है, इस प्रकरण में यह बात केवल एक ही पङ्क्ति से स्पष्ट होती है कि अभिधा के अतिरिक्त व्यञ्जना नामक कोई व्यापार नहीं है। वह पङ्क्ति है—व्यक्तेरनुपपत्तेः सम्बन्धान्तरस्य चानुपपत्तेः।

इससे उक्त उलझे कथन का इतना ही अर्थ निकाला जा सकता है कि संकेतित अर्थों में शब्द की अभिधा शक्ति रहती है, किन्तु औपाधिक अर्थों की प्रतीति में ऐसी कोई शक्ति शब्द में नहीं रहती। अभिधा को ही प्रत्येक अर्थ तक पहुँचाने में उन सभी अर्थों के साथ शब्द का संकेतग्रह अपेक्षित होगा, जो सम्भव नहीं है। प्रत्येक अर्थ में संकेतग्रह कराने की बात तो महाभाष्य के उस शब्दानुशासन के समान है जिसमें बृहस्पति उपदेष्टा, इन्द्र श्रोता, देवताओं के सौ वर्ष अध्ययन काल थे और तब भी शब्दों का एक-एक करके पूरा परिगणन नहीं किया जा सका। आखिर कितने अर्थों में संकेत किया जा सकता है। कुछ अर्थों तक वह ठीक भी है। सभी अर्थों में संकेतग्रह होने पर भी किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ निकाला जाने लगेगा जिससे शब्द प्रयोग का कोई फल ही नहीं रहेगा।

न चानयोरन्यः सम्बन्धः सम्भवतीति तस्याः सामग्र्या एव सम्बन्धबलात् तद्गमकत्वमुपपन्नं न शब्दस्येति, नार्थपक्षादस्य कश्चिद्विशेष इति व्यर्थस्तत्पक्षोपन्यासः।

इन दोनों का (शब्द और प्रतीयमान अर्थ का) और कोई सम्बन्ध हो सकता भी नहीं अतः उसी सामग्री (अर्थ-प्रकरण आदि सहकारी पारिस्थितिक उपायों) में सम्बन्ध के द्वारा उसकी (प्रतीयमान अर्थ की) गमकता ठीक ठहरती है = शब्द की नहीं। इस प्रकार अर्थ पक्ष की अपेक्षा इसमें कोई विशेषता नहीं है इसलिए उस पक्ष को उठाना वृथा है।

विमर्श: जब अर्थ की अनेकार्थकता सामग्री पर ही निर्भर है तो सामग्री को ही दूसरे अर्थों की प्रतीति में कारण मान लेना ठीक है। शब्द को नहीं। सामग्री = दूसरे अर्थ की प्रतीति में कारण अपने भिन्न-भिन्न सम्बन्धों द्वारा सिद्ध होगी। उसकी यह कारणता गमकता = अनुमान रूप होगी। यहाँ 'अनयोः' शब्द किसका परामर्शक है यह स्पष्ट नहीं होता। मधुसूदनी [illegible] वह वाच्य और प्रत्येय का परामर्शक बतलाया गया है। वस्तुतः ऊपर से वाच्य और सम्बन्ध की चर्चा नहीं—शब्द और प्रतीयमान के सम्बन्ध की चर्चा आ [illegible] है— शब्दाभिधाव्यतिरेकेण व्यञ्जकत्वं व्यापारान्तरमुपपद्यते येनार्थान्तरं प्रत्याय' साथ ही यहाँ 'सामग्र्या गमकत्वमुपपन्नं न शब्दस्य' द्वारा शब्द की गमकत

जा रही है—अतः अर्थान्तर = प्रत्येय अर्थ का शब्द से ही सम्बन्ध नहीं बनता; फलतः न चानयोरन्यः सम्बन्धः सम्भवति—में शब्द और प्रत्येयार्थ ही को अनयोः का परामर्श विषय समझना चाहिये।

ननु यदि शब्दस्यार्थनिरपेक्षस्य व्यञ्जकत्वं नेष्यते, तत् कथं प्राप्तमित्यादौ प्रादीनां द्योतकत्वमुक्तम्, न वाचकत्वम्। वाचकत्वे हि हलादित्वाद् धातोर्यङादिप्रसङ्गः स्यात्। द्योतकत्वं प्रकाशकत्वं व्यञ्जकत्वं चेत्येक एवार्थ इति। सत्यम्। उक्तमुपचारतो न परमार्थत इति तस्य प्रदीपादिनिष्ठस्य वास्तवस्य शब्दार्थविषयत्वस्य प्रतिक्षेपात्।

'अच्छा, यदि अर्थ निरपेक्ष शब्द की व्यञ्जकता (आप को) मान्य नहीं, तो 'प्राप्त' इत्यादि (पदों) में आए 'प्र' आदि उपसर्ग पदों की वाचकता न कहकर द्योतकता क्यों कही गई है? वाचकता (स्वीकार करने पर) होने पर तो धातु के (आप् आदि के धातुपद जिनमें 'प' आदि उपसर्ग लगते हैं) हलादि (हल् शब्द है आरम्भ में जिसके) हो जाने से यङ् आदि की प्राप्ति होगी। द्योतकत्व प्रकाशकत्व और व्यञ्जकत्व—सब एक ही बात है।'

(उत्तर) ठीक। कह दिया है कि उपचार से, परमार्थ से नहीं। व्यञ्जकत्व वास्तव में तो प्रदीपादि में रहता है, शब्द और अर्थ के बारे में उसका प्रतिक्षेप—अपलाप कर लिया जाता है।

विमर्श : अनुमितिवादी ने 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' आदि में प्रकरणादि सामग्री द्वारा ही अथवा = सामग्री के आधार पर अर्थ = वाच्यार्थ द्वारा प्रत्येयार्थ की अनुमिति मानी थी। इससे स्पष्ट होता था कि शब्द अपने अर्थ को बीच में रखता है। फिर सामग्री द्वारा उसका जब प्रत्येयार्थ से सम्बन्ध हो जाता है तो उसकी अनुमिति कराता है। निष्कर्ष यह कि प्रतीयमानार्थ की प्रतीति के लिये-वाच्यार्थ का उपस्थित होना अनिवार्य है। इस पर—व्यञ्जनावादी आपत्ति देता है कि 'यदि—प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में वाच्य अर्थ की प्रतीति अनिवार्य है तो प्राप्तम्—आदि पदों का 'प्र' आदि उपसर्ग पदों से जो अर्थ प्रतीत होता है—वह वाच्य नहीं द्योत्य माना जाता है—वाच्य इसलिए नहीं माना जाता कि यदि प्र आदि भी वाचक मान लिये जायँ तो उनके साथ लगे क्रियापद के समान वे भी क्रियावाचक माने जाएँगे—और जब आप्त आदि क्रियापद के समान उनमें लगे 'प्र' आदि उपसर्ग भी क्रियावाचक होंगे तो उनसे—'यङ' प्रत्यय की प्राप्ति हो जायेगी। कारण कि—यङ् प्रत्यय हलादि धातु से होते हैं—'प्राप्त' में जब तक 'प्र' स्वतन्त्र अवाचक उपसर्ग था तब तक वह धातु नहीं था किन्तु जब वह वाचक हो गया तो क्रियापद हो गया—ऐसी स्थिति में आप् धातु में 'आ' आरम्भ का अक्षर न रहकर 'प्' आरम्भ का अक्षर हो गया। 'प्' 'हल् है अतः प्राप्' धातु पद हलादि धातु पद हुआ। और यह नियम है कि जो क्रियापद 'हल्' अक्षर से आरम्भ होता है उससे यङन्त यङ्लुगन्त प्रक्रिया के यङ् प्रत्यय की प्राप्ति होती है।'—इसके अनुसार प्राप्त धातु से भी यङ् का विधान होने लगेगा जो कि व्याकरण विरुद्ध है। ऐसी स्थिति में = 'प्र' आदि वाचक नहीं माने जाने चाहिये द्योतक ही माने जाने चाहिये। द्योतक होने पर वे 'क्रियापद' के अंग माने जाकर स्वतन्त्र माने जायँगे। निदान क्रियापद 'आप्' होगा—जो अजादि रहेगा—हलादि नहीं—अतः यङ् की प्राप्ति न होगी। इसके उत्तर में अनुमितिवादी ने उत्तर दिया कि वस्तुतः प्र आदि उपसर्ग द्योतक नहीं हैं। वे तो उपचार से द्योतक मान लिये

गये हैं। वास्तविक द्योतक तो प्रदीप आदि ही होते हैं। शब्द नहीं। शब्द में समानता के कारण द्योतकता का आक्षेप कर दिया जाता है।

अथोच्यते—पचत्यादयः क्रियासामान्यवचनाः। सामान्यानि चाशेषविशेषान्तर्भावभाञ्जि भवन्तीति तत्प्रतीतिनान्तरीयकतयैव विशेषसद्भावः सिद्ध एव। यदाहुः—'निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवद्' इति केवलमर्थसामर्थ्यसिद्धोऽपि विशेषो द्योतनमपेक्षत इति तन्मात्रव्यापाराः प्रादयो द्योतका एव भवितुमर्हन्ति न वाचका इति।

और यदि कहा जाय कि—पच् आदि धातुपद सामान्य क्रिया के वाच्य हैं। और जो सामान्य होता है उसमें सभी विशेषों का समाहार होता है, इसलिये सामान्य की प्रतीति से ही लगी-लगी विशेष की प्रतीति हो जाएगी। जैसा कि कहा गया है—'खरगोश के सींग' के समान सामान्य विशेष से रहित नहीं हो सकता। इसलिये विशेष प्रतीत तो हो जाता है—सामान्य अर्थ की प्रतीति से ही, सिर्फ वह (अपने) द्योतन की अपेक्षा रखता है। वह द्योतन प्रादि उपसर्ग कर देते हैं कारण कि उनका काम ही इतना है। इसलिये वे द्योतक ही हो सकते हैं—वाचक नहीं।

विमर्श : प्रश्न का आशय यह है कि 'प्राप्त' आदि में 'आप्त' आदि की अपेक्षा जो क्रियागत प्रकृष्टता आदि की प्रतीति होती है—वह 'आप्त' आदि सामान्य क्रियाओं के विशेष धर्म हैं। उनकी प्रतीति सामान्य के साथ 'आप्त' आदि क्रियापदों से ही हो जाती है, कारण कि यह नियम है कि सामान्य वस्तु विशेष से विहीन नहीं होती, जो विशेष से विहीन होती है वह शशविषाण के समान होती ही नहीं है—नील, पीत, हरित आदि छहों रङ्ग हटा दिये जायँ तो रङ्ग नाम की वस्तु कुछ नहीं रहेगी—वैसे ही सभी विशेष हटा दिये जाने पर सामान्य का अस्तित्व नहीं रहेगा—अतः सामान्य विशेष की सत्ता माननी ही होती है। विचित्रता इतना ही है कि यह विशेष गुण—सामान्यवाचक पद से—साफ साफ नहीं झलकता। उसके लिये किसी उसकाने वाले की आवश्यकता होती है—वह = क्रियाओं में 'प्र' आदि उपसर्ग होते हैं। अतः 'प्र' आदि उपसर्ग प्रकृष्टता आदि विशेष का द्योतन ही करते हैं, अभिधान नहीं। वे द्योतक होते हैं, वाचक नहीं। एतदर्थ—यही मानना ठीक है कि 'प्र' आदि में द्योतकता ही—पारमार्थिक है वाचकता नहीं—जैसा कि अनुमितिवादी मानता है।

सत्यम्। किन्तु यदप्रतीतौ सामान्यप्रतीतिरेव न पर्यवस्यति तद्विशेषमात्रं तेभ्यः प्रतीयतां नाम। न तु तावता व्यवहारसिद्धिः काचित्। तस्याः प्रतिनियतविशेषावसायनिबन्धनत्वात्। स त्वपूर्वतया प्रादिभ्य एवोद्भवन्नवधार्यते। न पचत्यादिभ्यः। नार्थादपि तत्सद्भावसिद्धिः काचित्। अस्याः प्रतिनियतविशेषावसायनिबन्धनत्वात्।

ठीक है—जिनकी प्रतीति के बिना सामान्य की प्रतीति ही नहीं हो पाती जब वे सभी विशेष उन (प्रादि) से प्रतीत भले ही हों, किन्तु उतने से सिद्धान्त नहीं चलाया जा सकता—कारण कि—किसी खास विशेष का निश्चय कराने पर सिद्धान्त प्रचलित किया जाता है। खास—विशेष का निश्चय पहले से नहीं हुआ रहता इसलिये वह 'प्र' आदि से ही प्रतीत होता—समझा जाता है। पच् आदि क्रिया पदों से नहीं। अर्थ से भी (अर्थापत्ति प्रमाण से भी) उसके (व्यवहार

सिद्धि रूप = मान्यता), सद्भाव की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि यह किसी निश्चित विशेष के निश्चयात्मक ज्ञान पर निर्भर रहती है।

विमर्श : पूर्व पक्ष में कहा गया था कि सामान्य के अन्तर्गत सभी विशेषों की सत्ता रहती है अतः सामान्य के ज्ञान से विशेष का ज्ञान हो हो जायगा। ऐसी स्थिति में 'प्र' आदि उपसर्ग से जिस 'प्रकर्ष' आदि धर्मविशेष की प्रतीति 'आप्' आदि क्रियापदों से ज्ञात अर्थ में होती है वह क्रियापद से ही हो जायगी। इस पर अनुमितिवादी उलट कर उत्तर देता है कि 'ठीक है सामान्य के अन्तर्गत विशेष की प्रतीति हो जाय किन्तु उससे यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि विशेष की प्रतीति 'प्र' आदि से नहीं होती केवल क्रियापद से ही होती है, कारण कि यह नियम तब बनाया जाता जब किसी खास विशेष की प्रतीति होती। सामान्य के अन्तर्गत तो सभी प्रकार के विशेष रहते हैं जैसे 'गुण' के अन्तर्गत रक्तत्व, पीतत्व, शुक्लत्व आदि सभी विशेष गुण, किन्तु गुण शब्द से कभी भी रक्तत्वादि विशेष गुण की रक्तत्व रूप से प्रतीति नहीं होती, गुणसामान्य रूप से प्रतीति होती है। रक्तत्वधर्मपूर्वक रक्तगुण की प्रतीति 'गुण' पद से नहीं रक्तगुण पद से हो सकती है और तभी यह नियम भी बनाया जा सकता है कि रक्तत्व की प्रतीति रक्तपद से हुई। इसी प्रकार सामान्य क्रियापदों से प्रतीत सामान्य क्रियाओं में सभी विशेष क्रियायें तो रहती अवश्य हैं किन्तु उनकी प्रतीति विशेष रूप से न होकर सामान्य रूप से होती है, विशेष रूप से उनकी प्रतीति तभी होती है जब विशेषताधायक 'प्र' आदि कहे जाते हैं। अतः जब वह प्र आदि से ही उत्पन्न दिखाई देती है तो उसके प्रति 'प्र' आदि को जनक माना जाय यही न्यायसङ्गत है। निष्कर्ष यह कि 'प्राप्त' आदि क्रियापदों में प्रकर्ष की प्रतीति 'प्र' के बिना नहीं होती। अतः प्रकर्ष का वाच्य वही 'प्र' माना जाना चाहिये। क्रियासामान्य = आप्, पच् आदि नहीं।

इसके बाद 'नार्थादपि तत्सद्भावसिद्धिः काचित्—अस्याः प्रतिनियतविशेषावसायनिबन्धनत्वात्' यह पंक्ति उलझी हुई आती है। इसका कोई निश्चित अर्थ नहीं लगता—'न अर्थाद् अपि' में आए अर्थ शब्द का अर्थ क्या किया जाय यह विचारणीय प्रश्न है। इसी प्रकार तत्सद्भावसिद्धि के तत् पद का। मधुसूदनी विवृति में इनमें से प्रथम—अर्थादपि का = 'अर्थापत्त्यापि' अर्थ किया गया है और 'तत्सद्भाव' के तत् का व्यवहारसत्ता।

तस्माद् यत्प्रयोगान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी यस्य प्रतीतिस्तयोर्वाच्यवाचकभावव्यवहारविषयत्वमेवोपगन्तुं युक्तं नाभिव्यक्तिविषयत्वम्। यथा घटशब्दतदर्थयोः।

प्रादिप्रयोगानुविधायिनी तत्र पचतीत्यादौ प्रकर्षादिप्रतीतिरिति तेऽपि तथा भवितुमर्हन्त्येव। अन्यथा नीलोत्पलादौ सर्वस्यैव विशेषणाभिमतस्य नीलादिशब्दस्य विशेष्यवाचिनश्चोत्पलादेर्विशेषणविशेष्यभावव्यवहारोऽस्तमुपगच्छेत्। तत्रापि ह्येतच्छक्यं वक्तुम्। उत्पलादयः शब्दाः सामान्यवचनाः। सामान्यानि च गर्भीकृतविशेषाणि भवन्तीति तेषां तत्र सद्भावसिद्धौ सत्यां नीलादिशब्दा अपि तत्तद्द्योतनमात्रव्यापाराः प्रादिवद् द्योतका भवितुमर्हन्ति नाभिधायका इति।

इसलिए = जिसके प्रयोग के भाव-अभाव में जिसकी प्रतीति का भाव-अभाव हो उन दोनों को वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध के (अभिधा के) व्यवहार का विषय माना जाना ही ठीक है, अभिव्यक्ति के व्यवहार का विषय नहीं। जैसे घट शब्द और उसके अर्थ का। 'पचति' आदि स्थलों में प्रकर्ष आदि की प्रतीति 'प्र' आदि के भाव-अभाव का अनुविधान करने वाली है अतः वे भी वाच्यवाचक सम्बन्ध (अभिधा) विशिष्ट हो सकते हैं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो 'नील उत्पल' आदि स्थलों में सर्वत्र विशेषण रूप से मान्य नीलादि शब्द और विशेष्यवाची उत्पल आदि शब्दों का विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध भी समाप्त हो जाएगा। क्योंकि यह बात तो वहाँ भी कही जा सकती है कि उत्पल आदि शब्द सामान्य पुष्प के वाचक हैं और सामान्य सभी विशेषों को अपने भीतर लिए रहते हैं इस नियम के अनुसार उनकी (नील गुण आदि विशेषणार्थों की) वहीं (उत्पल आदि सामान्य वाचक विशेष्य पदार्थों में) अस्तित्व के सिद्ध हो जाने पर नील आदि शब्द भी उन-उन अर्थों (नील आदि अर्थों) को केवल द्योतित करने वाले (होने से) 'प्र' आदि के समान केवल द्योतित ही होंगे अभिधायक नहीं।

विमर्श : नियम यह बनाया जाना चाहिए कि जिस शब्द के प्रयोग पर जिस अर्थ की प्रतीति हो और प्रयोग न होने पर (प्रतीति) न हो—उन दोनों में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध माना जाना चाहिए। उनमें से शब्द को वाचक और अर्थ को वाच्य माना जाना चाहिए। 'प्र' आदि उपसर्ग और 'प्रकर्ष' आदि अर्थ की प्रतीति में यह बात देखी जाती है। 'प्र' आदि के प्रयोग पर—प्रकर्षादि अर्थ की प्रतीति होती है और प्रयोग न होने पर नहीं। अतः 'प्र' आदि का प्रकर्ष आदि अर्थ के साथ वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध माना जाना चाहिए। 'प्र' आदि को वाचक और प्रकर्ष आदि को वाच्य कहा जाना चाहिये। इसमें प्रमाण हैं नीलोत्पलादि विशेषण विशेष्यों का एक साथ प्रयोग। अकेले सामान्य से सभी विशेषों की प्रतीति मान लेने के अनुसार उत्पल द्रव्य है उसमें गुण रहते हैं। नील भी एक गुण है अतः उसकी उसमें प्रतीति हो ही जानी चाहिए—ऐसी स्थिति में उत्पल को ही नील का वाचक मानकर नील को गुण विशेष का अभिव्यञ्जक माना जाना चाहिए, किन्तु—ऐसा माना नहीं जाता। माना जाता है उन्हें वाचक ही। उनके वाचक माने जाने का कारण यही अन्वय व्यतिरेक तो है—नील शब्द के प्रयोग पर नील गुण रूप अर्थ की प्रतीति होती है और प्रयोग न होने पर नहीं—अतः इस अन्वयव्यतिरेक के आधार पर 'प्र' आदि को भी प्रकर्ष आदि का वाचक मानना ही चाहिए।

एवञ्चान्तर्मात्रविपरिवर्तितया सिद्धसद्भावानां घटादीनां घटादिशब्दा अपि द्योतका एव स्युः, न वाचका इति वाच्यवाचकव्यवहारोऽस्तमियात्। तस्मात् भाक्तमेव द्योतकत्वमुपगन्तव्यं न मुख्यम्। भक्तेश्च प्रयोजनं वाच्यस्यार्थस्य स्फुटत्वप्रतिपत्तिः। निमित्तं च विशेषणविशेष्यप्रतीत्योराशुभावितया क्रमानुपलक्षणात् सहभावप्रतीतिः।

और यदि यही मानना है कि (तो) घट आदि शब्दों को भी घट आदि अर्थों का द्योतक ही मानना चाहिए कारण कि घट आदि अर्थ मन में (अन्तः) विद्यमान रहते ही हैं। इस प्रकार वाच्यवाचकभाव ही अस्त हो जाएगा। इसलिए द्योतकता औपचारिक ही मानी जानी चाहिए—पारमार्थिक नहीं। उपचार का प्रयोजक मानना चाहिए वाच्य (कथनीय) अर्थ की साफ-साफ प्रतीति और कारण मानना चाहिए विशेषण विशेष्य की साथ-साथ प्रतीति, कारण कि वे इतनी जल्दी होती हैं कि उनका क्रम समझ में नहीं आता।

विमर्श : तस्माद्वाक्यमेव'''इस पङ्क्ति का अर्थ व्यापक भी हो सकता है और संकुचित भी। व्यापक हो सकता है—इसलिए कि इसे शब्द और प्रतीयमान अर्थ के साथ माने जाने वाले अभिव्यञ्जकत्व को औपचारिक सिद्ध करने वाला कहा जा सकता है और—उसके प्रसंग में आए निपात की 'द्योतकता' को औपचारिक सिद्ध करने वाला। वस्तुतः यहाँ निपात की द्योतकता को ही खण्डनार्थ प्रयुक्त मानना चाहिए—कारण कि आगे पुनः निपात के विषय में चर्चा की जाने वाली है।

द्विविधं हि विशेषणमिष्टम् अन्तरङ्गं बहिरङ्गं चेति। तत्राद्यमव्यवहितमेवार्थकारि लाक्षादिवत् स्फटिकादेः। द्वितीयमुभयरूपमयस्कान्तमिव लोहस्य। तद्धि व्यवहितमपि लोहे स्वां शक्तिमुपदधात्येव। तदपि द्विविधम् समानाधिकरणं भिन्नाधिकरणं चेति। विशेष्योऽपि द्विविधो धात्वर्थो नामार्थश्चेति। तत्रोपसर्गाणां प्रायो धात्वर्थो विषयो न नामार्थः। चादीनां तु निपातानामुभयमपि। केवलं तेषां विशेष्यात् पूर्वं पश्चाच्च क्रमेण प्रयोगो नियोगतोऽवगन्तव्यः। नान्येषां विशेषणानाम्।

विशेषण दो प्रकार के माने गए हैं अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। उनमें प्रथम (अन्तरङ्ग) अव्यवहित (विशेष से दूर न) रहकर ही काम सिद्ध (अर्थ प्रतीति) कराता है जैसे लाक्षा आदि स्फटिक आदि के साथ। द्वितीय दोनों प्रकार से (व्यवहित और अव्यवहित दोनों प्रकार से अर्थसिद्धि = अर्थ प्रतीति कराता है) जैसे—लोह के साथ अयस्कान्तमणि। वह (अयस्कान्त) व्यवहित होते हुए भी लोहे में अपनी शक्ति डाल ही देता है। वह भी (इस प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भेद से दो भेदों में बाँटा गया विशेषण भी पुनः) दो प्रकार का होता है = समानाधिकरण तथा भिन्नाधिकरण। विशेष्य भी दो प्रकार का होता है—धात्वर्थ और नामार्थ। इनमें उपसर्गों का विषय प्रायः धात्वर्थ होता है नामार्थ नहीं। 'च' आदि निपातों का (विषय) दोनों ही होते हैं। केवल (अन्य विशेषणों से इनका इतना ही अन्तर होता है कि) उनका (उपसर्ग और निपात का) विशेष्य (धात्वर्थ और नामार्थ) से क्रम से पहले (उपसर्ग का धात्वर्थ से पहले) और पीछे (निपात का नामार्थ से पीछे) ही प्रयोग होता है। अन्य विशेषणों का नहीं।

विमर्श : विशेषण दो प्रकार के होते हैं—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। अन्तरङ्ग विशेषण वे कहलाते हैं जो विशेष्य से संलग्न रहकर ही उसमें विशेषता लाते हैं। उदाहरण के लिए स्फटिक और लाक्षा आदि ग्रन्थकार ने दिए हैं, हम दर्पण और किसी रंग की लाल, नीली, पीली, काली एक कोई चीज ले सकते हैं। ये चीजें दर्पण में अपना रंग तभी संक्रान्त कर सकती हैं जब वे उसके पास रहें। दूर रहने पर दर्पण पर अपना रंग नहीं जमा सकतीं। यहाँ दर्पण विशेष्य स्थानीय है और लाल, पीली, वस्तु विशेषण स्थानीय। बहिरङ्ग विशेषण वे होते हैं जो पास ही नहीं दूर रहकर भी विशेष्य में विशेष्यता उत्पन्न करते हैं। उदाहरण ग्रन्थकार ने चुम्बक (अयस्कान्त) और लोहे का दिया है। चुम्बक दूर रहकर भी लोहे में अपना विद्युत्सञ्चार कर देता है और पास रहकर भी। प्रकृत में निपात और उपसर्गों की गिनती पहले प्रकार के विशेषण (अन्तरङ्ग) में की गई है। दोनों उपसर्ग और निपात अपने विशेष्य के साथ ही रहकर अपनी शक्ति उसमें अन्तर्हित करते हैं। विशेष्य दो प्रकार के होते हैं धात्वर्थ और नामार्थ। धात्वर्थ का अर्थ है क्रियापदार्थ = पचति, गच्छति, हरति आदि और नामार्थ का अर्थ है संज्ञावाचक पदार्थ = गौ, नील, राम आदि—जाति, गुण और द्रव्यवाचक। इनमें से उपसर्ग के विशेष्य

क्रियापदार्थ होते हैं और निपात के क्रियापदार्थ तथा संज्ञापदार्थ दोनों, किन्तु उनमें भी संज्ञापदार्थ के लिए ही उपसर्ग का प्रयोग अधिक होता है। उपसर्ग अपने विशेष्य—क्रियापदार्थ के पहले प्रयुक्त होते हैं और निपात अपने विशेष्य संज्ञापदार्थ के पीछे। इस नियम में किसी प्रकार का हेर-फेर नहीं होता। निपात और उपसर्ग के अतिरिक्त विशेषणों का प्रयोग आगे पीछे कहीं भी हो सकता है।

तदेवं विशेषणविशेष्यस्वरूपेऽवसिते यदेतदन्तरङ्गं विशेषणमुक्तं तद् गवादौ गोत्वादिवद् विशेष्यस्वरूपान्तर्भूतमिवेति तत्प्रतीत्योराशुभावितया क्रमानुपलक्षणात् सहभावावगमो द्योत्यद्योतकभावभ्रमहेतुः। अत एव केचिदेषां धात्वन्तर्भावमिव मन्यमानाः—

'अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम्।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव च तादृशः॥'

इत्याद्यवोचन्।

तो इस प्रकार विशेषण और विशेष्य का स्वरूप निश्चित हो जाने पर—जो यह अन्तरङ्ग विशेषण कहा गया है वह गो आदि में गोत्व आदि के समान अपने विशेष्य स्वरूप में विलीन सा रहता है अतः उनकी प्रतीति के अतिशीघ्र हो जाने से क्रम के न दिखाई देने के कारण सहभाव का ज्ञान द्योत्यद्योतकभाव के भ्रम का कारण है। इसीलिए कुछ लोग इनका (निपात आदि अन्तरङ्ग विशेषणों का) धातु में अन्तर्भाव मानते हुए यहाँ तक कह बैठे हैं कि—

'शास्त्र में धातु और उपसर्ग के भिन्न रूप होने की कल्पना अड् आदि की व्यवस्था के लिए है। वस्तुतः पूरा धातु का ही रूप है।'

विमर्श : अन्तरङ्ग विशेषण विशेष्य के रूप में छिप जाता है, जैसे गो द्रव्य में गोत्व जाति। इसलिए दोनों के ज्ञान इतने शीघ्र हो जाते हैं कि उनका क्रम परिलक्षित नहीं हो पाता। इससे क्रम ज्ञान के अभाव से ऐसा प्रतीत होता है कि उन (अन्तरङ्ग विशेषण और विशेष्य) की प्रतीति एक साथ होती है। बस इसी एक साथ दोनों की प्रतीति के भ्रम से लोग उनमें द्योत्यद्योतकभाव मान बैठते हैं। वस्तुतः ऐसे विशेषण और विशेष्य दोनों के अपने-अपने अर्थ होते हैं। इसीलिए—भर्तृहरिजी ने वाक्यपदीय में 'अवापत्' आदि क्रिया पदों में 'अवाप्' इतने को क्रियापद माना है, उनमें 'अव + आप्' इस प्रकार अव उपसर्ग और आप् को वे भिन्न केवल इसलिए मानते हैं कि अपूर्णभूत (Imperfect या लङ्लकार) सामान्यभूत (Aorist लुङ्) और हेतुहेतुमद्भूत (Conditional mood लृङ्लकार) में धातु के पहले 'अट्' या आट्' (Augment) ये शब्द जोड़े जाते हैं। इन्हें संस्कृत में आगम कहा जाता है। यदि उपसर्गों को धातु रूप में ही गिन लिया जाएगा तो इन शब्दों के उपसर्ग के पहले जोड़े जाने की बात खड़ी होगी, किन्तु उक्त तीनों लकार की क्रियाओं में ऐसा नहीं देखा जाता। ये आगम सदैव उपसर्ग के बाद और क्रिया के पहले जोड़े जाते हैं। यह व्यवस्था बनी रहे इस उद्देश्य से उपसर्गों को धातु से अलग करके गिना जाता है। अर्थ की दृष्टि से तो धातु और उपसर्ग दोनों एक ही हैं। इस तथ्य की पुष्टि भर्तृहरि की एक अन्य कारिका से होती है वह इस प्रकार है—

'तथाहि संग्रामयतेः स्वोपसर्गा विधिः स्मृतः। क्रियाविशेषाः सङ्घातैः प्रक्रम्यन्ते तथाविधाः॥'

अर्थात् 'संग्राम्' एक धातु है। उसके रूप = संग्रामयति, संग्रामयामास, संग्रामयिता, संग्राम-

यिष्यति, असंग्रामयत् इस प्रकार चलते हैं। इस धातु में सम उपसर्ग है। उसके पूर्व—अट् देखा जाता है यथा—असंग्रामयत् में। अतः उपसर्ग क्रिया के ही रूप हैं।

आधुनिक भाषाविज्ञान शास्त्र से इस तथ्य की पुष्टि और भी हो जाती है। उसके अनुसार—प्रकृति और प्रत्यय—अलग-अलग अर्थों में स्वतन्त्र रूप से व्यवहृत होते माने जाते हैं। वेद में क्रियापदों से उपसर्गों का स्वतन्त्र रूप से अलग प्रयोग होता भी है। अतः लौकिक संस्कृत में यदि उपसर्ग धातु रूपों के साथ आत्यन्तिक रूप से मिलकर ही प्रयुक्त होने लगे हों—तब भी उनका अपना अर्थ माना जाना चाहिए और उन अर्थों में उनकी स्वतन्त्र शक्ति भी मानी जानी चाहिए। उन्हें द्योतक मानकर उनकी शक्ति का अपलाप नहीं किया जाना चाहिए।

महिमभट्ट ने इतना कहने के बाद भी एक शंका का समाधान नहीं दिया। वह थी यङ् आदि प्रत्ययों के विधान की। इसका उत्तर दो प्रकारों से निकाला जा सकता है। एक तो—अडादीनां व्यवस्थार्थम् = इत्यादि वचन से। उसके अनुसार जैसे अड् की व्यवस्था के लिए धातु और उपसर्ग में रूप कृत भेद मान लिया जाता है वैसे ही यङ् की व्यवस्था के लिए भी माना जा सकता है। दूसरे धातु और उपसर्ग दोनों को दो स्वतन्त्र वाचक मानकर पूर्ण क्रिया की शक्ति दोनों के अर्थों के सम्मिलित रूप में मान ली जानी चाहिए। न्याय और व्याकरण इस बातपर जोर करते भी हैं—वे पचति आदि में पच् का विक्लित्यनुकूल व्यापार अर्थ मानते हैं और 'ति' का आश्रय तथा वर्तमानकाल, बाद दोनों का सम्बन्ध जोड़ते हैं। वैसे ही उपसर्ग और क्रिया पद का अन्तर मान लिया जाना चाहिये और अर्थावबोध में दोनों को स्वतन्त्र।

चादीनां चोपाधीनां विशेष्येभ्यो निर्मलेभ्यः स्फटिकोपलेभ्य इव लाक्षादीनामव्यवधानमेव। तेन ते यदनन्तरमुपाधीयन्ते, तेष्वेव विशेषमाधातुमलं नान्यत्रेति यत्तेषां भिन्नक्रमतया क्वचिदुपादानं तदनुपपन्नमेव अयथास्थानविनिवेशिनो हि तेऽर्थान्तरमनभिमतमेव स्वोपरागेणोपरञ्जयेयुः। ततश्च प्रस्तुतार्थस्यासामञ्जस्यप्रसङ्गः। कथञ्चिद् वा भिन्नक्रमतयाप्यभिमतार्थसम्बन्धोपकल्पने प्रस्तुतार्थप्रतीतेर्विघ्नितत्वात् तन्निबन्धने रसास्वादोऽपि विघ्नितः स्यात् शब्ददोषाणामनौचित्योपगमात् तस्य च रसभङ्गहेतुत्वात्। यथाहुः—

और (इसी प्रकार) 'च' आदि (निपात रूप) उपाधियों (विशेषणों) का भी (अपने) विशेष्यों से वैसे ही अव्यवधान होता है जैसे = लाह आदि का स्फटिक मणि आदि से। इस कारण—वे (च आदि) जिसके बाद प्रयुक्त किये जाते हैं उसमें विशेष्य का आधान करते हैं, और किसी में नहीं, इसलिये इनका कहीं कहीं जो (इस क्रम से) भिन्न क्रम से उपयोग होता है वह अनुपपन्न—अनुचित ही है। ठीक स्थान पर प्रयुक्त न किये जाने पर वे किसी दूसरे ही अर्थ को जो अभीष्ट न होगा अपने रङ्ग से रँगेंगे (अपनी विशेषता का उसमें आधान करेंगे।)—और वैसा होने पर प्रस्तुत अर्थ की सङ्गति ठीक नहीं होगी। मान लीजिये जैसे तैसे क्रम तोड़कर भी अभीष्ट अर्थ से सम्बन्ध जोड़ दिया जाय—तब भी प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति में विघ्न पड़ जाने से—उस पर आश्रित रसास्वाद में भी विघ्न पड़ जाएगा, कारण कि शब्द के दोषों को अनौचित्य मान लिया गया है (द्वितीय विमर्श के आरम्भ में) और उसे (अनौचित्य) को रसभङ्ग का हेतु। जैसा कि कहा है—

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥' इति

अनौचित्य को छोड़कर रसभङ्ग का और कोई हेतु नहीं होता। प्रसिद्ध औचित्य की प्रतिष्ठा = रस का मूल रहस्य है।

विमर्श : 'च' आदि निपात अन्तरङ्ग विशेषण हैं, वे अपने विशेष्य से लगकर ही आने चाहिए, दूर कर देने से वे जिससे लगकर प्रयुक्त होंगे—उसीमें अपने अर्थ का आधान करेंगे। यदि शब्द से भी उनका अर्थ अभीष्ट अर्थ के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया जायगा—तो शब्द से रस की प्रतीति तक पहुँचेंगे—यह प्रयत्न विघ्न बनेगा—जो अनुचित होगा—और अनौचित्य—के कारण दुष्ट होगा—कारण कि अनौचित्य को ही दोष कहा गया है।

स्वाभाविकं ध्वनेर्युक्तं व्यञ्जकत्वं न दीपवत्।
धूमवत् किन्तु कृतकं सम्बन्धादेरपेक्षणात् ॥ ७४ ॥

जैसे दीप की व्यञ्जकता स्वाभाविक होती है वैसे शब्द की व्यञ्जकता स्वाभाविक (मानना) ठीक नहीं। अपितु धूम के समान बनावटी = (कृतक ही ठीक होती है) कारण कि सम्बन्ध आदि की अपेक्षा होती है।

विमर्श : शब्द सम्बन्धविशेष को लेकर व्यञ्जक माना जाता है धूम भी उसी प्रकार सम्बन्ध विशेष को लेकर अग्नि का प्रत्यायक होता है, जो सम्बन्ध विशेष को लेकर व्यञ्जक होता है वह सच्चा व्यञ्जक नहीं। व्यञ्जक के समान होता है। सच्चा व्यञ्जक होता है दीपक। वह सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता। यहाँ 'ध्वनि' का अर्थ दूसरों द्वारा ध्वनि रूप से मान्य शब्द है। 'ध्वनति' इस व्युत्पत्ति के आधार पर पहले—शब्द को भी ध्वनि कहा जा चुका है।

प्रादीनां द्योतकत्वं यत् कैश्चिदभ्युपगम्यते।
तद् भाक्तमेव तत्रेष्टं न मुख्यं तदसम्भवात् ॥ ७५ ॥

किन्हीं लोगों द्वारा 'प्र' आदि में जो द्योतकता मानी जाती है, वह भक्ति = लाक्षणिक = औपचारिक = या अवास्तविक ही है, मुख्य = वास्तविक नहीं, कारण कि उसका (मुख्यता का) होना सम्भव नहीं है।

विमर्श : यह तथ्य अभी निपात उपसर्गों के प्रसङ्ग में उपस्थित किया जा चुका है।

तथा हि यस्य शब्दस्य भावाभावानुसारिणी।
यदर्थबुद्धिस्तस्यासौ वाच्योऽर्थ इति कथ्यते ॥ ७६ ॥

क्योंकि जिस अर्थ का ज्ञान जिस शब्द के भाव (अन्वय) और अभाव (व्यतिरेक) का अनुसरण करता है—वह (अर्थ) उस (शब्द) का वाच्य कहा जाता है—

गोशब्दस्येव गौरर्थः सान्यथा त्वव्यवस्थिता।
वाच्यत्वव्यवहारश्च न स्यादर्थस्य कस्यचित् ॥ ७७ ॥

जैसे गो शब्द का गो अर्थ। नहीं तो वह (अर्थज्ञान) अव्यवस्थित हो जाएगा। और (फिर) किसी भी अर्थ को वाच्य नहीं कहा जा सकेगा।

प्रादिप्रयोगानुगमव्यतिरेकानुसारिणी।
प्रकर्षादौ मतिस्तेन तस्य तद्वाच्यता न किम् ॥ ७८ ॥

इसलिए—जब प्रकर्ष आदि (अर्थ) की प्रतीति 'प्र' आदि (शब्दों) के अन्वय और व्यतिरेक

(भाव और अभाव) का अनुसरण करने वाला है तब उसे (प्रकर्ष अर्थ को) उस (प्र आदि शब्द) का वाच्य क्यों नहीं होना चाहिए ?

विशेषावगमस्याशुभावादनुपलक्षणात् ।
क्रमस्य सहभावित्वं भ्रमो भक्तेर्निबन्धनम् ॥ ७९ ॥

विशेष—अर्थ (प्रकर्ष आदि) की प्रतीति शीघ्र होती है—इसलिए—क्रम के दिखाई न दे सकने से सहभाव का भ्रम भक्ति का कारण बनता है।

विमर्श : प्राप्त आदि में आप्त की अपेक्षा प्रतीत होनेवाला प्रकर्ष—रूपी अधिक अर्थ 'प्र' से निकलता है—किन्तु वह इतने शीघ्र कि—दोनों (प्रकर्ष और आप्ति क्रिया) में क्रम की प्रतीति नहीं होती। फलतः ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों की प्रतीति एक साथ हो गई। यह प्रतीति भ्रम है, यथार्थ नहीं। यही भ्रम या भ्रान्ति 'प्र' आदि को द्योतक कहने देने में सहायक बनती है—इस प्रकार इस भ्रान्ति के आधार पर समझ में आने वाला प्र आदि का द्योतकत्व भाक्त—औपचारिक = या अवास्तविक ही है—वास्तविक या सत्य नहीं।

विशेषणं तु द्विविधमान्तरं बाह्यमेव च ।
तत्राव्यवहितं सद् यदर्थकारि तदान्तरम् ॥ ८० ॥
स्फटिकस्येव लाक्षादि द्वितीयमुभयात्मकम् ।
आयसस्येव तत्कान्तं तदपि द्विविधं मतम् ॥ ८१ ॥
असमानसमानाधिकरणत्वविभेदतः ।
विशेष्योऽपि द्विधा ज्ञेयो धातुनामार्थभेदतः ॥ ८२ ॥

विशेषण दो प्रकार के होते हैं—आन्तर और बाह्य। उनमें से अव्यवहित (संलग्न) रहकर (विशेषाधान रूपी) काम—(अर्थ) करने वाले आन्तर होते हैं जैसे—लाक्षा आदि स्फटिक के लिए। दूसरे दोनों प्रकार से (व्यवहित = असंलग्न और अव्यवहित = संलग्न रहकर विशेष्य में विशेषाधान करते हैं)। जैसे अयस्कान्त = चुम्बक लोहे के लिए। वह भी समानाधिकरण और असमानाधिकरण = भेद से दो प्रकार का होता है।

विशेष्य भी दो प्रकार का जानना चाहिए—धात्वर्थ = और नामार्थ।

शाब्दत्वार्थत्वभेदेन नामार्थोऽपि द्विधा मतः ।

नामार्थ भी शाब्द और आर्थ भेद से दो प्रकार होता है—

विमर्श : नामार्थ के दो भेद मूल में नहीं दिखलाये गये हैं—संग्रहकारिका में उनका अधिक निर्देश हो गया है।

तत्रोपसर्गाणां प्रायो धात्वर्थो विषयो मतः ॥ ८३ ॥

उनमें उपसर्गों का अकसर धात्वर्थ ही विषय (विशेष्य) होता है। किन्तु—

चादीनां तु निपातानामुभयं परिकीर्त्तितम् ।
केवलं तु विशेष्यात् स्युः पूर्वं पश्चाच्च ते क्रमात् ॥ ८४ ॥

च आदि निपातों के (धात्वर्थ और नामार्थ) दोनों—सिर्फ वे यथाक्रम—विशेष्य से पहले और बाद में रहते हैं—

विशेषणानामन्येषां पौर्वापर्यमयन्त्रितम् ।
इत्थं स्थिते स्वरूपेऽस्मिन् विशेषणविशेष्ययोः ॥ ८५ ॥

यदन्तरङ्गमुद्दिष्टमुभयात्मा विशेषणम् ।
विशेष्ये मग्नमिव तद् गवि गोत्वमिव स्थितम् ॥ ८६ ॥

और जो विशेषण हैं उनमें आगे-पीछे रहने का कोई नियम नहीं है।

विशेषण और विशेष्य के ऐसे स्वरूप के स्थिर हो जाने पर—व्यवहित और अव्यवहित दोनों प्रकार का नहीं माना गया जो अन्तरङ्ग विशेषण है वह गो में गोत्व के समान विशेष्य में डूबा सा रहता है।

अत एवाशुभावित्वात् तत्प्रतीत्योः क्रमाग्रहः ।
यन्मूलश्चायमनयोर्द्योत्यद्योतकताभ्रमः ॥ ८७ ॥

इसीलिए उनकी प्रतीति शीघ्र हो जाती है जिससे (उनका) क्रम 'लक्षित नहीं होता'; जिसके कारण इनमें ('प्र' आदि विशेषण और उनके विशेष्यार्थ में) द्योत्यद्योतकभाव का भ्रम हो उठा है। और—

प्रादीनां धातुगर्भत्वोपगमाच्च यदुक्तवान् ।
अडादीनां व्यवस्थार्थमित्यादि विदुषां वरः ॥ ८८ ॥

प्र आदि धातु घटक होने से ही—विद्वच्छ्रेष्ठ (भर्तृहरि) ने = अडादीनां व्यवस्थार्थम् = इत्यादि कहा है।

अत एव व्यवहितैर्बुधा नेच्छन्ति चादिभिः ।
सम्बन्धं ते हि शक्तिं स्वामुपदध्युरनन्तरे ॥ ८९ ॥

इसीलिए विद्वान् लोग दूरस्थित 'च' आदि के सम्बन्ध को नहीं चाहते, वे अपनी शक्ति संलग्न अर्थ में ही आहित करते हैं।

सान्तरत्वे तु तां शक्तिमन्यत्रैवादधत्यमी ।
ततश्चार्थासामञ्जस्यादनौचित्यं प्रसज्यते ॥ ९० ॥

दूर होने पर तो वे उस शक्ति को और ही किसी पदार्थ में आहित कर बैठते हैं, उससे अर्थ में सामञ्जस्य न होने से अनौचित्य उपस्थित होता है।

बहिरङ्गान्तरङ्गत्वभेदात् तद् द्विविधं मतम् ।
तत्र शब्दैकविषयं बहिरङ्गं प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

वह (अनौचित्य) बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग—भेद से दो प्रकार का माना गया है। उनमें शब्दमात्र में रहने वाला (अनौचित्य) बहिरङ्ग कहा जाता है।

द्वितीयमर्थविषयं तत् त्वाद्यैरेव प्रदर्शितम् ।
तत्स्वरूपमतोऽस्माभिरिह नातिप्रतन्यते ॥ ९२ ॥

द्वितीय—अर्थ में रहता है। वह तो पूर्ववर्ती (आनन्दवर्धन आदि आचार्यों) ने ही दिखा दिया है। इसलिए उसका स्वरूप हम यहाँ नहीं फैलाएँगे।

पारम्पर्येण साक्षाच्च तदेतत् प्रतिपद्यते ।
कवेरजागरूकस्य रसभङ्गनिमित्तताम् ॥ ९३ ॥

यह (अनौचित्य) परम्परा से और साक्षात् भी—अजागरूक कवि के रस में भङ्ग पैदा करने का हेतु बनता है।

यत् त्वेतच्छब्दविषयं बहुधा परिदृश्यते ।
तस्य प्रक्रमभेदाद्या दोषाः पञ्चैव योनयः ॥ ९४ ॥

यह जो शब्द में रहने वाला (अनौचित्य) है वह दिखाई तो देता है बहुत प्रकार का किन्तु प्रक्रम भेद आदि पाँच दोष ही उसकी जड़ हैं ।

तेषां संक्षेपतोऽस्माभिः स्वरूपमभिधास्यते ।
यस्तु प्रपञ्चः पञ्चानां स्वयं तमवधारयेत् ॥ ९५ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः ।

हम उनका (पाँच दोषों का) तो स्वरूप संक्षेप में (आगे द्वितीय विमर्श में) कहेंगे किन्तु उनका जो विस्तार है उसे पाठक अपने आप समझें ।

विमर्श : संग्रहकारिका ९१ से ९५ तक जो विषय उपस्थित किया गया है वह पहले मूल में नहीं आया है । उसके लिए महिमभट्ट ने द्वितीय विमर्श की रचना की है ।

ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में—काव्य का सामान्य लक्षण नहीं दिया । उन्होंने सीधे-सीधे—ध्वनिकाव्य का लक्षण दिया = 'यत्रार्थः शब्दो वा' इत्यादि । इस पर व्यक्तिविवेककार आपत्ति देते हैं—

किञ्च काव्यस्य स्वरूपं व्युत्पादयितुकामेन मतिमता तल्लक्षणमेव सामान्येनाख्यातव्यम्, यत्र वाच्यप्रतीयमानयोर्गम्यगमकभावसंस्पर्शस्तत् काव्यमिति, तावतैव व्युत्पत्तिसिद्धेः । यत्तु तदनाख्यायैव तयोः प्रधानेतरभावकल्पनेन प्रकारद्वयमुक्तं तदप्रयोजकमेव । यो हि यद्विशेषप्रतीतौ निमित्तभावेन निश्चितः स एव तदर्थिनः प्रतिपाद्यो भवति नान्यः; अतिप्रसङ्गात् । यथा दण्डिप्रतीतौ दण्डः । अनुमेयार्थसंस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुर्निश्चितम् । अतस्तदेव वक्तव्यं भवति न त्वस्य प्राधान्याप्राधान्यकृतो विशेषः ।

और काव्य का स्वरूप समझाने के लिए इच्छुक (उस) बुद्धिमान् (पुरुष = ध्वनिकार) को उसीका (काव्य ही का) लक्षण (वह भी) सामान्य रूप से इस प्रकार उपस्थित करना चाहिए—'काव्य वह है जिसमें वाच्य और प्रतीयमान का गम्यगमकभाव सम्बन्ध हो'—कारण कि उतने से ही बात समझ में आ सकती है । उसे बिना कहे ही प्रधानता तथा अप्रधानता को लेकर जो दो भेद कहे हैं वह अप्रयोजक = बे मतलब की बात है । (कारण कि) जिस विशेष की प्रतीति में जो निमित्तरूप से निश्चित होता है उस (विशेष) के जिज्ञासु के लिए वही (निमित्तभूत अर्थ ही) कहा जाना चाहिए, और कोई नहीं, क्योंकि (वैसा न करने से) अति प्रसङ्ग—अतिव्याप्ति होगी; जैसे दण्डी की प्रतीति में दण्ड । और काव्य में चारुत्व का हेतु अन्वय-व्यतिरेक से अनुमेय (अर्थ के) अंश का संस्पर्श है, अतः कहना उसी को चाहिए, न कि प्रधानता और अप्रधानता से उत्पन्न उसके विशेष को (अर्थ, अंश) ।

विमर्श : व्यक्तिविवेककार—वस्तु, अलंकार और रसध्वनि में चमत्कार को लेकर कोई भेद नहीं मानते । वे उसी काव्य को काव्य मानते हैं जिसमें अनुमेय अर्थ हो । अनुमेय अर्थ उनके मत में सदैव प्रधान ही होता है, अतः ऐसा कोई काव्य ही नहीं है जो अनुमेय अर्थ से रहित हो

और उसे सामान्य मानकर अनुमेय अंश वाले काव्य को विशेष काव्य माना जा सके। ऐसी स्थिति में सामान्यकाव्य और विशेषकाव्य दोनों में कोई भी काव्य हो—एक दूसरे से भिन्न सिद्ध नहीं होते। ध्वनिकार ने—ध्वनि को लेकर काव्य को विशेष कहा था। उस पर महिमभट्ट का कहना है कि यदि वस्तुतः काव्य में सामान्य या विशेष का अन्तर होता नहीं है, यदि बिना तर्क के आँख बंदकर मान भी लिया जाय तो—निर्वचनकर्ता को विशेष के पहले सामान्य का निर्वचन करना चाहिए, कारण कि सामान्य काव्य का ज्ञान विशेष काव्य के ज्ञान के प्रति कारण है, जो कारण होता है, उसका ज्ञान पहले करा दिया जाने पर उसके कार्य का ज्ञान संभव होता है। दण्ड का ज्ञान होने पर दण्डी (दण्डवाले) का ज्ञान होता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने वैसा न करके ध्वनिकाव्य का ही लक्षण निर्वचन कर दिया था उसका कारण = काव्य के सामान्य लक्षण पर उनका जोर न देकर ध्वनिलक्षण पर जोर देना था—ध्वन्यालोक में ध्वनि ही प्रतिपाद्य विषय है। उसीका निर्वचन किया जाना अपेक्षित था, उसके पहले सामान्यकाव्य का लक्षण—दण्डी, भामह और वामन कर चुके थे। इस बात को वृत्तिग्रन्थ में 'शब्दार्थ शरीरं तावत् काव्यम्' द्वारा उन्होंने स्पष्ट भी कर दिया है। इस प्रकार वस्तुतः ध्वन्यालोककार का अपने क्रम में कोई दोष नहीं है, तथापि महिमभट्ट सामान्य और विशेष दोनों काव्यों को एक सिद्ध करने के लिए इस की अपेक्षा रखते थे कि आनन्दवर्धन के ही द्वारा सामान्यकाव्य का भी लक्षण किया गया होता, और तब वे दोनों का अभेद सिद्ध करते। ऐसे यदि अपने मन से ही आनन्दवर्धन की ओर से कोई काव्यसामान्य का लक्षण वे बनाते हैं—तो प्रतिपक्षी उसमें दोष दे सकता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है—वह यह कि महिमभट्ट ने जो काव्यसामान्य का लक्षण अपने मन से ऊपर किया है—वह अपनी मान्यता के अनुसार। उसमें अनुमेय को उन्होंने जोड़ दिया है—और ध्वनि को हटादिया। साथ ही ध्वनिवाले काव्य को ध्वनिवादी ने विशेष माना था—उसे ध्वनि के स्थान पर अनुमेयार्थ रख कर वे सामान्य मानते हैं।

न हि तयोः सामान्यविशेषयोस्त्रिष्वपि वस्तुमात्रादिष्वनुमेयेषु चेतनचमत्कारकारी कश्चिद्विशेषोऽवगम्यते।

तत्र वस्तुमात्रस्य प्राधान्ये यथा—

उन सामान्य और विशेष दोनों में वस्तु मात्र आदि (रस और अलङ्कार) में अनुमेय को लेकर कोई ऐसा अन्तर नहीं है जो (चेतन =) बुद्धिमान् को चमत्कृत करे। उनमें से—जिसमें केवल वस्तु ही प्रधान होती है—वह जैसे—

'वच्च मह व्विअ एक्काए होन्तु णीसासरोईअव्वाइम्।
मा तुज्झ वि तीए विण दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु ॥' इत्यत्र।
(व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनितषत ॥)

'जाओ, अकेली मेरे ही निःश्वास और अश्रुपात हों, मुलाहजे (दाक्षिण्य) के मारे हुए तुम्हारे भी उस (तुम्हारी प्रेयसी) के विरह में हो—यह ठीक नहीं।' इस उदाहरण में।

विमर्श : यहाँ = तृतीय विमर्श पर स्वयं व्यक्तिविवेक के अनुसार नायक का दूसरा

नायिका पर अनुराग = प्रधान रूप से व्यक्त होता है—यहाँ जो चमत्कार है—उसके अनुमेय वस्तु के ही अप्राधान्य में यथा—

तस्यैवाप्राधान्ये यथा—

'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥'

'लावण्य की यह कौन सी कोई दूसरी ही नदी है जिसमें चन्द्र के साथ नील कमल तैर रहे हैं, और जहाँ (एक ओर) हाथी के कुम्भतट निकल रहे हैं (तथा जहाँ दूसरी ओर) दूसरे ही कदली स्तम्भ तथा मृणालदण्ड ।'

विमर्श : यहाँ विरोधमूलक निगीर्याध्यवसाना अतिशयोक्ति चमत्कारकारक है । कारण कि—उपमेय का शब्दतः उपादान नहीं है, तथा जिस उपमानभूत नदी का उल्लेख है उसमें एक साथ नीलोत्पल तथा चन्द्र, गजकुम्भ तथा मृणाल और—कदली का अस्तित्व दिखलाया गया है । व्यक्तिविवेककार के अनुसार ऊपर के पद्य से इसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है दोनों में प्रतीयमान अर्थ एक सा ही है ।

यथा च—

'अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः' ॥

साँझ अनुराग (ललोई और रतिभाव) से युक्त है और दिन उसके सामने उपस्थित है । विधाता की गति विचित्र है कि इतने पर भी मिलन नहीं हो रहा ।

विमर्श : यहाँ भी प्रधानता है अलंकार की । अलंकार है—समासोक्ति और अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति । समासोक्ति इसलिए है कि संध्या और दिवस के स्त्रीलिङ्ग तथा पुलिङ्ग से स्त्री पुरुष की प्रतीति हो जाती है और उनके 'अनुरावतीत्व तथा पुरस्सरत्व' इन विशेषणों से स्त्री पुरुष के आनुकूल्य या मिलनाभिमुख होने रूपी व्यापार या व्यवहार की । इस प्रकार संक्षेप में ही दो वृत्तान्तों का कथन होने से तो हुई समासोक्ति । विशेषोक्ति और वह भी अनुक्तनिमित्ता इसलिए है कि = यहाँ कारण उपस्थित होते हुए भी कार्योत्पत्ति नही देखी जा रही है और उसका कोई कारण भी नहीं दिया गया है । कारण है—स्त्री पुरुषों का मिलनाभिमुख होना और कार्य है—दोनों का मिल जाना । परन्तु मिलन हो नहीं रहा है । यहाँ 'दैवगति की विचित्रता दिखलाई गई है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह कारण रूप से । अतः अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है । इन्हीं अलंकारों द्वारा इस पद्य में जान आई है अतः घटना का उतना महत्त्व नहीं है । वह अप्रधान ही है । महिमभट्ट के अनुसार ='वच्चमहव्विअ' इसमें वस्तु प्रधान थी और लावण्यसिन्धु तथा अनुरागवती० इनमें—वह अप्रधान । चमत्कार दोनों में बराबर है । कारण वह होता है अनुमेयांश के परामर्श से । वह दोनों स्थलों में बराबर है । अतः दोनों को भिन्न कहना व्युत्पन्न व्यक्ति को मान्य (चेतन चमत्कारकारी) नहीं हो सकता ।

अलङ्कारस्य प्राधान्ये यथा—

'वीराण रमइ घुसृणारुणम्मि ण तहा पिआथणुच्छङ्गे।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह वहलसिन्दूरे ॥'
(वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे ॥)

अलङ्कार की प्रधानता होने पर जैसे—

वीरों की दृष्टि प्रिया के कुंकुमरंजित स्तनों पर उतनी नहीं रमती जितनी शत्रुओं के हाथियों के सिन्दूररंजित कुम्भस्थलों पर।

विमर्श: लोचनकार अभिनवगुप्ताचार्य ने यहाँ—व्यतिरेकालङ्कार माना है।

यथा च

'तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेकरसम्।
विम्वाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमवाणेन ॥' इति।
(तत् तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम्।
विम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥)

और भी यथा—

श्री = लक्ष्मी के सहोदर = रत्न (कौस्तुभ-पारिजात आदि) के आहरण में ही लगा हुआ उन (असुरों) का वह हृदय कुसुमवाण (कामदेव) ने प्रियाओं के विम्बाधर में फँसा दिया।'

विमर्श: यहाँ लोचनकार ने अतिशयोक्ति अलंकार माना है और मधुसूदन जी ने अतिशयोक्ति का 'यदि या यदि के अर्थ के वाक्यार्थ में होना—भेद माना है। उन्होंने लिखा है—अत्र यद्यर्थोक्तौ च कल्पनमिति तृतीया काव्यप्रकाशकारानुमता अतिशयोक्तिः वाच्या। तथा हि—यत् हृदयं रत्नाहरणतत्परं तद् विम्बाधर—सङ्गतं कृतमिति यत्तद्भ्यां रत्नापेक्षया अधरेऽतिशय उच्यत इत्यतिशयोक्तिः। अर्थात्—

'यहाँ' 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' (१५३ सू० काव्यप्रकाश) इस प्रकार काव्यप्रकाशकार द्वारा अभिमत तीसरी अतिशयोक्ति माननी चाहिए। क्योंकि यहाँ जो हृदय रत्न के आहरण में तत्पर था—लगा हुआ था वह बिम्बाधर में सटा दिया गया—इस प्रकार जो और वह (यत्–और–तद्) शब्दों द्वारा रत्न की अपेक्षा विम्बाधर में अतिशय कहा जा रहा है।' यह सब काव्यप्रकाश से असम्मत है। काव्यप्रकाश में—'यदि शब्द के अर्थ में प्रयुक्त शब्दों द्वारा अतिशयोक्ति मानी है। उनका कहना स्पष्ट है—'यद्यर्थस्य यदि शब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ—यत् कल्पनम् (अर्थात् असंभविनोऽर्थस्य) सा तृतीया'—(वामनीसंस्करण–६३२ पृ०) अर्थात् 'यदि–अर्थ' का यदि शब्द अथवा चेत् शब्द से कथन होने पर असंभव अर्थ की जो कल्पना है—वह तीसरी अतिशयोक्ति होती है। काव्यप्रकाशकार ने इसका जो उदाहरण दिया है उससे उक्त तथ्य की पुष्टि होती है—

'राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद् वपुः। तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥'

यदि—पूर्णिमा के दिन अमृतांशु (चन्द्र) का शरीर कलङ्क शून्य हो, तो उस (सुन्दरी)

का मुख समता रूपी पराभव को पा सकता है।' यहाँ यद्यर्थ वाचक 'चेत्' शब्द आया है और चन्द्र के कलङ्क शून्य होने से इस असंभव अर्थ की कल्पना की गई है—प्रस्तुत पद्य में यदि या चेद् कोई भी शब्द नहीं है। न किसी असंभव अर्थ की कल्पना ही यहाँ की जा रही है। प्रिया के अधरोष्ठ पर प्रिय की दृष्टि का लगना उतना ही संभव और स्वाभाविक है जितना सुगन्ध पर नासिका का लगना और संगीत की ओर श्रोत्र का।

ऐसा कुछ लगता है कि इन दोनों पद्यों में उदात्ता-लङ्कार है। 'उदात्तं वस्तुतः सम्पत् शौर्यौ-दार्यादिवर्णनम्' = के अनुसार यहाँ—प्रथम पद्य में वीर पुरुष के शौर्य का और द्वितीय पद्य में कुसुमवाण के शौर्य का वर्णन उदात्त रूप से किया जा रहा है। उसी उदात्त भाव में यहाँ चमत्कार भी है। इनमें वस्तु की अपेक्षा अलंकार प्रधान है। प्रधानता का कारण अलंकारकृत चमत्कार की अधिकता है।

तस्यैवाप्राधान्ये यथा—

'चन्दमऊएहि णिसा णलिणी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ।
हंसेहि सरअसोहा कव्वकहा सज्जणेहि करइ गुरुई॥'
(चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता।
हंसैः शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी॥)

'उसी की (अलंकार की) अप्रधानता में यथा—

चन्द्र की किरणों से निशा गौरवपूर्ण बनाई जाती है, कमलों से नलिनी, कुसुमस्तबकों से लता, हंसों से तलावशोभा, सज्जनों से काव्यकथा।'

विमर्श : यहाँ लोचनकार ने दीपकालंकार माना है। वस्तुतः है भी वही अलंकार। किन्तु वस्तुकथन जितना समृद्ध है उतना अलंकार कथन नहीं। दीपक अलंकार-हंसों से तलाव की शोभा—आदि चार वस्तुओं को उपस्थित करने से वे ही प्रधान हो जाती हैं—और दीपक दब जाता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है—कि छहों उदाहरण ध्वनिकार ने अपने ध्वन्यालोक में दिए हैं और उनमें—प्रधानाप्रधानभाव भी बतलाया। किन्तु वह वाच्य और व्यङ्ग्य को लेकर कहीं वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य अधिक चमत्कारी होने से प्रधान बतलाया गया है और कहीं व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य।

यहाँ की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। यहाँ अलङ्कार की अपेक्षा वस्तुगत प्रधानता और अप्रधानता तथा वस्तु की अपेक्षा अलंकारगत प्रधानता और अप्रधानता बतलाई गई है। यह बात—लावण्यसिन्धु पद्य में वस्तु को अप्रधान कहने से साबित होती है। और कहा गया है कि वह प्रधानता और अप्रधानता अवास्तविक और अमान्य है। चमत्कार सभी में बराबर दिखाई देता है।

यद्यपि—ध्वनिसम्प्रदाय में आनन्दवर्धन और मम्मट ने वस्तु, अलंकार और रस तीनों ध्वनियों को दो भागों में बाँटा है—वाच्यत्वसह और वाच्यत्वासह। वाच्यत्वसह को भी दो भागों में बाँटा है—अविचित्र और विचित्र अर्थात् चमत्कारशून्य और चमत्कारकारी। वस्तु को चमत्कार शून्य माना है और अलंकार को चमत्कारकारी। इसके अतिरिक्त रस को वाच्यत्वासह मानकर उसे सदा निरतिशय चमत्कार रूप ही मान लिया है। इस स्थिति में ध्वनिसंप्रदाय में तीनों ध्वनियों में चमत्कारकृत भेद भी माना गया है। महिमभट्ट इस भेद को स्वीकार नहीं

; यहाँ उन्होंने इसी भेदभाव का खण्डन किया है। दोनों आचार्यों के निर्णय में सहृदय ही प्रमाण हो सकते हैं।

रसादीनां प्राधान्ये यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं न्त्या देव्या आगमनादिवर्णने मनोभवशरसन्धानपर्यन्ते, शम्भोश्च विवृत्त-स्य चेष्टाविशेषवर्णनादौ।

रस आदि की प्रधानता होने पर जैसे—कुमारसम्भव में मधुमास (वसन्त) के वर्णन के में वसन्त पुष्पाभरण को धारण की हुई (देवी) पार्वती के आगमन आदि के वर्णन में देव के शरसंधान तक और धैर्यच्युत शंकर की खास-खास चेष्टाओं के वर्णन आदि में।

विमर्श : कुमारसंभव के तृतीय सर्ग में शंकर जी का मन समाधि से मोड़कर पार्वती पर ने के लिए इन्द्र द्वारा भेजे वसन्त ने जो वैभव फैलाया वह नन्दिकेश्वर की डाँट से समाप्त हो गया—कामदेव असफलता की शङ्का से व्याकुल और किंकर्त्तव्यविमूढ़ था—कि उसी समय वती पार्वती—वसन्त पुष्पों का शृङ्गार किए दिखाई दीं। कालिदास ने उनकी उस स्थिति का न ५२–५७ तक किया है। इसके बाद ६८वें पद्य तक पार्वती की सौन्दर्य विभूति का णाम कविने उपस्थित किया। इस प्रसङ्ग पर आनन्दवर्धनाचार्य ने अपनी समीक्षा उपस्थित ते हुए लिखा था—

'यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः स तस्य केवलस्य लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य) मार्गः, यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या गमदिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं, शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादि साक्षाच्छ-निवेदितम्—(ध्वन्यालोक—२४८ पृ० द्वितीय उ० २२वीं कारिका की वृत्ति–चौ० सं०) इसके टीकरण में आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन में लिखा—'यत्र—हि विभावानुभावेभ्यः स्थायि-भ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्तिस्तत्रास्त्वलक्ष्यक्रमः' यथा—

निर्वाणभूयिष्ठमथाऽस्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या॥ इत्यादौ

म्पूर्णालम्बनोद्दीपनविभावता-योग्य-स्वभाववर्णनम्।'

प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात् त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम्॥

यनेन विभावतोपयोग उक्तः।

हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥

त्र भगवत्याः प्रथममेव तत्प्रवणत्वात् तस्य चेदानीं तदुन्मुखीभूतत्वात् प्रणयिप्रियतया च पक्षपातस्य न्वितस्य गाढीभावात् रत्यात्मनः स्थायिभावस्यौत्सुक्यावेगचापल्यहर्षादेश्च व्यभिचारिणः साधा-गीभूतोऽनुभाववर्गः प्रकाशित इति विभावानुभावचर्वणैव व्यभिचारिचर्वणायां पर्यवस्यति। यभिचारिणां पारतन्त्र्यादेव स्रक्सूत्रकल्पस्यापि चर्वणाविश्रान्तेरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्।' पृ० ४८–९–वही)।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में रससिद्धि में जो विभाव आदि सामग्री व्यक्तिवादी ने मानी है नुमितिवादी का उससे कोई मतभेद नहीं है, वह केवल यहाँ रस की प्रधानता है—इतना ही हना चाहता है, जो व्यक्तिवादी को भी मान्य ही है। यहाँ अनुमितिवादी के इस उद्धरण का

प्रयोजन यह सिद्ध करना है कि रसकृत चमत्कार रस की प्रधानता में जितना समृद्ध होता है, उसकी अप्रधानता में भी उतना ही। एतदर्थ वह रस की अप्रधानता का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

तेषामप्राधान्यं शुद्धसङ्कीर्णतादिभेदाद् द्विविधम्।

तत्र शुद्धं यथा—

'किं ? हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुण ! प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः ? ।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ॥'

इत्यत्र करुणस्य शुद्धस्यैवाङ्गभावः।

उन (रस आदि) का अप्राधान्य दो प्रकार का होता है—शुद्ध और संकीर्ण। इनमें से शुद्ध अप्राधान्य का उदाहरण—'हँसी से क्या ? पुनः तुम मुझ से दूर नहीं हो सकोगे, बहुत समय के बाद आँखों के सामने आए हो। हे करुणाशून्य, निर्दयी—कैसी है यह तुम्हारी प्रवास की चाह ? किस बात पर (इस प्रकार मुझ से) दूर हटा दिए गए हो। इस प्रकार कहती हुई स्वप्न में—प्रियतमों के गले से लिपटी तुम्हारी—शत्रुबालाएँ जागने पर अपने बाहुपाश को खाली देखकर जोर-जोर से क्रन्दन करती हैं।'

यहाँ करुण अकेला ही किसी अन्य अंग-भूत रस से मिश्रित न होता हुआ ही—अंग है। =

विमर्श : विजयी राजा का कोई अपना जन मरे शत्रुओं की बिलखती स्त्रियों का वर्णन करता है। इसमें शत्रु नारियाँ आलम्बन, स्वप्न देखना उद्दीपन, उनका बिलखना अनुभाव आदि सभी सामग्री से करुण रस व्यक्त होता है, किन्तु उस सबसे राजा का शौर्य व्यक्त होता है या वक्ता का राजविषयकरतिभाव, अतः वह (करुणरस) इस शौर्य या रतिमात्र में अंग बन जाता है। यहाँ अकेला करुणरस—शौर्य या रतिभाव का अंग है अतः शुद्ध का उदाहरण मान्य है। यद्यपि स्वप्न के वर्णित प्रियतममिलन से शृङ्गार व्यक्त होता है किन्तु वह शौर्य का अंग नहीं अपितु करुण का अंग है। इस प्रकार शृङ्गार करुण का अंग और करुण शौर्य या रतिभाव का अंग है। फलतः यह उदाहरण ठीक है। यह पद्य ध्वन्यालोककार ने भी रसवदलङ्कार के प्रसङ्ग में शुद्ध रस के अंगभाव के उदाहरण के रूप में ही उपस्थित किया है। उनका ग्रन्थ इस प्रकार है—रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते। स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः संकीर्णो वा। तत्राद्यो यथा—'किं हास्येन······रिपुस्त्रीजनः ॥' (पृ० १६४) इत्यत्र करुणरसस्य शुद्धस्याङ्गभावात् स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम्। एवंविधे विषये रसान्तराणां स्पष्टएवाङ्गभावः।' (पृ० १९३)

इस पर लोचन की व्याख्या इस प्रकार है—'शुद्धः—इति। रसान्तरेण अङ्गभूतेन अलङ्कारान्तरेण वा न मिश्रः, आमिश्रस्तु संकीर्णः। स्वप्नस्यानुभूतसदृशत्वेन भवनमिति हसन्नेव प्रियतमः स्वप्नेऽवलोकितः। न मे प्रयास्यति पुनरिति—इदानीं त्वां विदितशठभावं बाहुपाशबन्धान्न मोक्ष्यामि। अतएव रिक्तबाहुवलय इति। स्वायत्तीकृतस्य चोपालम्भो युक्त इत्याह—केयं निष्करुणेति। केनासीति—गोत्रस्खलनादावपि न मया कदाचित् खेदितोऽसि स्वप्नान्तेषु—स्वप्नायितेषु सुप्तप्रलपितेषु पुनःपुनरुद्भूततया बहुष्विति वदन् युष्माकं सम्बन्धी रिपुस्त्रीजनः प्रियतमे विशेषेण आसक्तः कण्ठग्रहो येन तादृश एव सन् बुध्वा शून्यवलयाकारीकृतबाहुपाशः सन् तारं मुक्तकण्ठं

रोदितीति। अत्र शोकस्यादिभावेन स्वप्नदर्शनोद्दीपितेन करुणरसेन चर्व्यमाणेन सुन्दरीभूतो नरपतिप्रभावो भातीति करुणः शुद्ध एवालङ्कारः। नहि त्वया रिपवो हता इति यादृगनलङ्कृतोऽयं वाक्यार्थस्तादृगयम्, अपितु सुन्दरतरीभूतोऽत्र वाक्यार्थः। सौन्दर्यं च करुणरसकृतमेवेति।

सङ्कीर्णरसादावङ्गभूते यथा—

> 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
> गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
> आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
> कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥'

संकीर्ण रस आदि के अङ्गभूत होने पर जैसे—

हाथ से लगने पर जो उत्पल के समान आँखों में आँसू लिए त्रिपुरप्रमदाओं द्वारा तुरंत के अपराधी कामी के समान—झिटक दिया गया, आँचल का छोर छूने पर जोर से फटकार दिया गया, केश पकड़ने पर फेंक दिया गया, पैरों पर गिरने पर संभ्रम पूर्वक (भय और क्रोध के साथ) देखा तक नहीं गया जो शम्भु का शराग्नि—वह आपका अनिष्ट जलाए।'

अत्र हि त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्यैवाङ्गभावः।

यहाँ—'त्रिपुररिपु शंकर का अतिशयित प्रभाव ही प्रधान है, श्लेष के साथ ईर्ष्याविप्रलम्भ का अङ्गभाव है।'

विमर्श : यह संदर्भ ध्वन्यालोक में भी ज्यों का त्यों इस प्रकार मिलता है—'संकीर्णो रसादिः अङ्गभूतो यथा—क्षिप्तो हस्ता० (पूर्ण) इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति, एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य न्याय्यो विषयः। अत एव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोषः।'

लोचन में उक्त पद्य की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

'क्षिप्त इति। कामिपक्षेऽनादृतः, इतरत्र धुतः, अवधूत इति न प्रतीक्षितः प्रत्यालिङ्गनेन इतरत्र सर्वाङ्गधूननेन विशरारूकृतः। साश्रुत्वमेकत्रेर्ष्यया, अपरत्र निष्प्रत्याशतया। कामीवेत्यनेनोपमानेन श्लेषानुगृहीतेनेर्ष्याविप्रलम्भो य आकृष्टस्तस्यश्लेषोपमासहितस्य अङ्गत्वम्, न केवलस्य। यद्यप्यत्र करुणो रसो वास्तवोऽप्यस्ति तथापि स तच्चारुत्वप्रतीतौ न व्याप्रियते इत्यनेनाभिप्रायेण श्लेषसहितस्येत्येतावदेवावोचत, न तु करुणसहितस्येत्यपि। एतमर्थमपूर्वतयोत्प्रेक्षितं द्रढीकर्तुमाह—एवंविध एवेति। अतएवेति। यतोऽत्र विप्रलम्भस्यालङ्कारत्वं न तु वाक्यार्थता, अतो हेतोरित्यर्थः।

उक्त पूरे संदर्भ का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—

तदेवं प्रकारत्रयेऽप्यनुमेयार्थसंस्पर्श एव काव्यस्य चारुत्वहेतुरित्यवगन्तव्यम्। यदाह ध्वनिकारः—'सर्वथा नास्त्येव हृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारः, यत्र प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन न सौभाग्यम्। तदिदं काव्यरहस्यं परममिति सूरिभिर्विभावनीयम्।

> 'मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
> प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥' इति।

पुनः स एव यथा—

'प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥'

तो इस प्रकार तीनों प्रकारों में अनुमेयार्थ का स्पर्श ही काव्य की चारुता का हेतु है—ऐसा समझना चाहिए। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है—हृदय का हरण करने वाले काव्य का ऐसा कोई भी प्रकार है ही नहीं, जहाँ प्रतीयमान अर्थ के स्पर्श से चारुता न हो (सौभाग्य न दिखाई देता हो) कवियों और विद्वानों को यह समझना चाहिए कि यही काव्य का रहस्य है। 'अलंकारों से युक्त होने पर भी महाकवि के शब्दों की भूषा यही प्रतीयमान अर्थ की छाया है, जैसे स्त्रियों की लज्जा।' इस प्रकार। और भी—जैसे वे ही (ध्वनिकार ही कहते हैं)—

काव्य का एक दूसरा गुणीभूतव्यङ्ग्य नाम का भेद भी दिखाई देता है; जिसमें व्यङ्ग्य के सम्बन्ध से वाच्य की चारुता अधिक बढ़ जाती है।'

विमर्श : पूरे सन्दर्भ का निष्कर्ष यह कि काव्य में चमत्कार तो आता है केवल प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श से। भले ही वह प्रतीयमान अर्थ प्रधान हो या अप्रधान। रस की संकीर्णता के जो दो उदाहरण ऊपर दिए गए हैं उनमें जो रस अप्रधान हैं वे भी चमत्कारी है ही।

सम्भवापेक्षया चास्य ध्वनेः स्वरूपमात्रप्रतिपादनार्थत्वोपगमेऽन्येषामपि तद्वाक्यवर्त्तिनां पदवर्णसंख्यादीनां तदुपदर्शनप्रसङ्गो विशेषाभावादिति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धव्युत्तिमात्रफलमेतद् पर्यवस्यतीति न काव्यविशेषव्युत्पत्तिफलम्। न चायं प्रधानेतरभावेनोपनिबद्धस्तेषामनुमेयतां प्रतिबध्नाति।

और ध्वनि की संभावना मात्र से (यत्रार्थः शब्दो वा में) उसको उसके स्वरूप मात्र के प्रतिपादनार्थ (ग्रहण किया गया) स्वीकार करने पर उसी वाक्य के वर्ण पद वचन आदि और भी जो उस (यत्रार्थः) वाक्य में आए हैं सबका स्वरूप दिखलाना चाहिए, कारण कि स्वरूप मात्र कथन के लिए किसी अनुपयोगी वस्तु को अपनाना जिस प्रकार ध्वनिनामक कल्पित पदार्थ के साथ लागू होता है उसी प्रकार उन वर्ण पद आदि पदार्थों के साथ। इसलिए इस (ध्वनिलक्षण वाक्य) का फल केवल (ध्वनि) संज्ञा और (उसका अर्थ ध्वनि पदार्थरूप) संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान कराने में चरितार्थ होता है, अतः उससे काव्यविशेष का ज्ञान नहीं बनता। और न यह (प्रकारोऽन्यो आदि) प्रधान और अप्रधान रूप से उन (प्रतीयमानार्थों) का कथन उनकी अनुमेयता को रोकता।

विमर्श : ऊपर के विवेचन से जब ध्वनि का अभाव साबित कर दिया गया तो अनुमिति—वादी यह निष्कर्ष देता है कि अभावात्मक होने पर भी ध्वनि का जो ध्वनिलक्षणकारिका में स्वरूपनिर्वचन किया गया है उसका आधार एकमात्र ध्वनि की संभावना हो सकती है अर्थात् उन्होंने ध्वनि के न होने पर भी कदाचित् वह सिद्ध हो जाए—ऐसा सोच कर ध्वनिलक्षण किया होगा। इस प्रकार संभावित वस्तु के स्वरूप कथन का प्रयास करते हुए ध्वनिवादी को यह प्रयास भी करना चाहिए था कि—ध्वनिकारिकावाक्य में आए पद, वर्ण और संख्या—अर्थात् वचन का स्वरूप कथन भी करे। कारण कि काव्य में तो ये भी ध्वनि के समान विवेच्य नहीं होते। ऐसी स्थिति में ध्वनिलक्षणकारिका से कोई खास प्रयोजन सिद्ध नहीं होता सिवाय इसके कि उससे कल्पित ध्वनि का कल्पितरूप बतला दिया जाय। फलतः

सामने आता है कि उससे ध्वनिनामक एक नए शब्द का ध्वनिनाम के एक नए अर्थ में जो है वस्तुतः प्रतीयमानरूप, व्यवहार किया गया।

तदेवञ्च नार्थशब्दयोरुपसर्जनीकृतस्वार्थत्वमव्यभिचारासम्भवदोषदुष्टत्वात्। न वाच्यप्रतीयमानयोर्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्तल्लक्षणाभावात्। न च काव्यविशेषस्य लक्षणकरणं प्रयोजनाभावात्। नापि ध्वनिव्यपदेशः व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाभावादुपपद्यत इति सर्वमसमञ्जसमिव तल्लक्षणमुपलक्ष्यते।

तो इस प्रकार—अर्थ और शब्द की 'उपसर्जनीकृतस्वार्थता—नहीं बनती, कारण कि उसमें अव्यभिचार और असंभव दोष आते हैं। और न वाच्य तथा प्रतीयमान अर्थों का व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव ही बनता है—क्योंकि उसका कोई लक्षण नहीं बन पाता, काव्यविशेष का लक्षण भी करना ठीक नहीं क्योंकि उसका कोई फल नहीं। और न—ध्वनिनाम ही सटीक उतर पाता है क्योंकि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सिद्ध नहीं होता—इसलिए ध्वनि का पूरा लक्षण ऊलजलूल सा लगता है।

यदि काव्ये गुणभूतव्यङ्ग्येऽपीष्टैव चारुता—
प्रकर्षशालिनी, तर्हि व्यर्थ एवादरो ध्वनौ ॥ ९६ ॥

यदि गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य में भी प्रकर्षयुक्त चारुता मान्य ही है तो फिर ध्वनि में आदर व्यर्थ ही है।

न हि काव्यात्मभूतस्य ध्वनेस्तत्रास्ति सम्भवः।
तेन निर्जीवतैवास्य स्यात् प्रकर्षे कथैव का ॥ ९७ ॥

काव्य में काव्यात्मभूत ध्वनि संभव नहीं अतः यह (ध्वनि) निर्जीव ही सिद्ध होता है, तब उसके प्रकर्ष की बात ही क्या।

अतोऽतदात्मभूतस्य येऽभावं जगदुर्ध्वनेः।
ते मुधैव प्रतिक्षिप्ताः स्वोक्तिभावमपश्यता ॥ ९८ ॥

इसलिए जो काव्यात्मभूत नहीं हैं उस ध्वनि का जिन्होंने अभाव बतलाया था उनकी बात का आशय न समझने वाले (ध्वनिवादी) ने उन्हें व्यर्थ ही अमान्य ठहराया।

अथेष्यते स तत्रापि रसादिव्यक्त्यपेक्षया।
काव्यमेवान्यथा न स्यादरसात्मकमिदं यतः ॥ ९९ ॥

यदि इतने पर भी काव्यात्मरूप से ध्वनि इष्ट ही हो तो उसका अस्तित्व वहाँ (गुणीभूत व्यङ्ग्य में) भी मानना चाहिए कारण कि रस (आनन्द चारुत्व और रस) की अभिव्यक्ति वहाँ भी होती ही है। नहीं तो (रस हीन होने पर) वह काव्य ही नहीं होगा कारण कि यह (काव्य) रसात्मक ही होता है।

इत्थञ्च गम्यमानार्थस्पर्शमात्रमलङ्कृतिः।
वाच्यस्येत्येतदुक्तं स्यान्मता सैवानुमा ततः ॥ १०० ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः ॥

इस प्रकार बात तो इतनी ही साबित होती है कि गम्यमान अर्थ का स्पर्श ही वाच्यार्थ की शोभा है। वही (शोभा हमें) उससे (वाच्य से होने वाली) अनुमितिरूप से मान्य है।

विमर्श : इस पूरे सन्दर्भ का निष्कर्ष यही कि प्रतीयमानार्थ से युक्त काव्य ही काव्य होता है। उसमें प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान से होती है। वह जहाँ भी होती है सदा प्रधान रहती है। अतः उसको एकाधिक भेद में विभक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार जब ध्वनि नामक अलग से कोई वस्तु ही नहीं है तब उसका लक्षण ही व्यर्थ है, फिर लक्षण भी यदि सम्भावना के आधार पर किया तो उसमें अनावश्यक अर्थों की योजना न करनी थी।

अभीतक—ध्वनिलक्षण पर आघात कर व्यङ्ग्यार्थ के उच्छेद की चेष्टा की और उसके ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य इन मौलिक दो भेदों को अमान्य ठहराने की। अब ध्वनि के भेदों पर समीक्षा उपस्थित करते हैं —

किञ्च यत् अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति ध्वनेः प्रकारद्वयमुक्तं, तत्र किमिदमविवक्षितत्वं नामेति तात्पर्यतोऽस्यार्थो वक्तव्यः। किम् अविवक्षितत्वमनुपादेयत्वतम्?उत, अन्यपरत्वम् ? अनुपादेयत्वं च किं सर्वात्मना अंशेन वा ? सर्वात्मनानुपादेयत्वे व्यञ्जकत्वमप्यस्यानुपादेयम्, तस्य तदाश्रितत्वात्। ततश्च प्रयोग एवास्य दुष्टः स्याद् यथान्यस्य पुनरुक्तादेः।

अथांशेनेत्युच्यते। वक्तव्यस्तर्ह्यसावंशः। स च निरूप्यमाणः स्वाप्राधान्य एव पर्यवस्यति। ततश्चाविवक्षितत्वमन्यपरत्वमुपसर्जनीकृतात्मत्वं चेत्येक एवार्थ इत्यनया भङ्ग्या स्वरूपमेव ध्वनेरुक्तं भवति न तु तस्य प्रकारभेदः।

यस्य हि यल्लक्षणानुगमे सति अवान्तरविशेषसंस्पर्शः स तस्य प्रकार इत्युच्यते यथा गोत्वस्य शाबलेयत्वादि, न तु तस्यैव स एव प्रकारो भवितुमर्हति तदनवस्थाप्रसङ्गात्। न चात्र विशेषसंस्पर्शः कश्चिदिति कथमस्य ध्वनिप्रकारत्वोक्तिर्युक्तिमती।

और = जो ध्वनि के दो प्रकार कहे हैं—अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितवाच्य-उनमें—यह 'अविवक्षित्व क्या जीज़ है' इसके अर्थ का तात्पर्य स्पष्ट करना चाहिए। क्या अविवक्षित— अनुपादेयत्व स्वरूप है या अन्यपरत्वरूप। और अनुपादेयत्व भी क्या सर्वात्मना या अंशतः। सर्वात्मना-अनुपादेय होने पर इसका व्यञ्जकत्व भी अनुपादेय हो जाएगा क्योंकि व्यञ्जकत्व उसी पर आश्रित रहता है। और तब इसका प्रयोग ही दोषावह ठहरेगा' जैसा कि अन्य पुनरुक्त आदि का। यदि अंशतः तो इस अंश का स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए। छानबीन करने पर वह अपनी अप्रधानता में ही पर्यवसित होता है। और तब अविवक्षितत्व, अन्यपरत्व और उपसर्जनीकृतात्मत्व—ये सब एक ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार तो ध्वनि का स्वरूप ही सिद्ध होता है, न कि उसका प्रकार भेद। किसी भी वस्तु का प्रकार तो वह कहलाता है जो उसके पूरे लक्षण से युक्त होने के बाद किसी अवान्तर विशेषता से युक्त हो। जैसे गोत्व का शाबलेयत्व (चितकबरापन) आदि (होने से चितकबरी गाय गाय का प्रकार—भेद कही जाती है), न कि उसी वस्तु का वही वस्तु प्रकार बन सकती है, उसमें अनवस्थादोष आता है। और यहाँ (अविवक्षितवाच्य में) विशेष गुण कोई है नहीं फिर इसे ध्वनि का प्रकार कहना कैसे युक्ति-युक्त हो सकता है।

विमर्श : पूरे संदर्भ का निष्कर्ष यह है कि ध्वनिकार ने ध्वनि के दो भेद ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में किए थे—'अस्तिध्वनिः स च अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति

उसका फल केवल ध्वनि-संज्ञा और उसके कल्पित ध्वनि अर्थ दोनों के सम्बन्ध जोड़ने भर में तात्पर्य है। काव्य में कोई विशेषता-ध्वनिरूपता की सिद्धि में नहीं। साथ ही व्यङ्ग्यनाम से भी ध्वनिनाम से पुकारा जाने वाला अर्थ यदि प्रधान और अप्रधान भी मान लिया जाय तो अनुमितिवादी की मान्यता को ठेस नहीं लगती। अनुमितिवादी उसे अनुमेय मानता है। वह प्रधान या अप्रधान अनुमेय हो सकता है। और वस्तुतः तो जब ध्वनि कोई चीज़ ही नहीं तो प्रधानता या अधानता का कोई प्रश्न नहीं उठता।

इस पंक्ति में एक कठनाई है। वह यह कि ग्रन्थकार पहले प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता या अप्रधानता में चारुत्वगत समानता का उपपादन कर रहा था, वह 'प्रकारोऽन्योगुणीभूत०' इस ध्वनिकृत्कारिका तक समाप्त हो गया। उसके बाद संभवापेक्षया-प्रतिवक्ष्यामि-तक का ग्रन्थ उपस्थित किया। इसका कोई ऊपर से संबन्ध नहीं लगता। अतः हमारी दृष्टि में ग्रन्थकार ने अपने विकीर्ण विचारों का यहाँ संकलन किया है—ऐसा प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि तद्वाक्यवर्त्तिनाम्—के 'तत्' इस सर्वनाम पद का अर्थ क्या किया जाय यह एक प्रश्न है। प्रसङ्गानुरूप उसका अर्थ = ध्वनिलक्षण-वाक्य-यत्रार्थः शब्दो वा करना ठीक लगता है, किन्तु बाद में जो कहा गया है कि 'अन्येषामपि पद वर्ण संख्यादीनां तदुपदर्शनप्रसङ्ग—इसमें ऊपर के 'तत्' का ध्वनिलक्षण = (कारिका) वाक्य अर्थ ठीक न बैठकर काव्यवाक्य ठीक बैठता है। ध्वनिलक्षण का तो उद्देश्य ही ध्वनिस्वरूपकथन होगा—अतः उसमें वर्ण पद—आदि के निर्वचन की कोई अनिवार्यता नहीं। ऐसा कुछ प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार यहाँ 'ध्वनि' शब्द को स्फोट की छाया में देखकर पदस्फोट, वर्णस्फोट, वचनस्फोट के निर्वचन की अनिवार्यता का औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं। वह इसलिए कि काव्य में ध्वनि को अमान्य घोषित करने पर भी यदि व्याकरण दर्शन के कल्पित स्फोट के आधार पर ध्वनि नाम के काव्य तत्त्व की कल्पना करते हैं तो वर्णध्वनि, पदध्वनि वचनध्वनि नाम के ध्वनितत्त्व की भी काव्य में कल्पना होनी चाहिए और गुणीभूतव्यङ्ग्यों के साथ उनको भी एक अतिरिक्त अप्रधान वर्ग में दिखलाना चाहिए। यद्यपि ध्वनिवादी ने व्यञ्जक के रूप में वर्ण पद और संख्या को ध्वनि माना है तथापि व्यङ्ग्यरूप से ध्वनि नहीं माना है। अनुमितिवादी शायद यही कहना चाहता है कि यदि ध्वनि नाम का कोई काव्यतत्त्व न होने पर भी उसकी सभावना करके उसका निरूपण करना है तो काव्य में शायद पदध्वनि (पदव्यङ्ग्य) आदि व्यङ्ग्यार्थ की कल्पना कर उनका स्वरूप निर्वचन भी करना चाहिए। अन्त में वह यही कह देता है कि—कुछ भी हो ध्वनिवादी के इन सब काल्पनिक निर्वचनों से प्रतीयमान अर्थ की अनुमेयता में बट्टा नहीं लगता।

एक तीसरा अर्थ यह भी किया जा सकता है कि अस्य-अर्थात् विशेषणस्य = माने = अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्व-का उपगम यानी ध्वनिलक्षण में उपादान की स्वीकृति इसलिए मान ली जाय कि उससे ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन होता है। अर्थात् अप्रधान के कथन से ध्वनि में प्रधानता सिद्ध होती है। और प्रधानता ही ध्वनि का प्राण है, अतः उपसर्जनीकृतात्मत्वरूप अप्रधानता से ध्वनि का प्रधानत्व सिद्ध होता है—तो इस पर यह आपत्ति दी जा सकती है—कि फिर अप्रधानता केवल अर्थ में ही क्यों दिखलाई गई—पद और वर्ण संख्या में भी अप्रधानता दिखलाई जानी चाहिए थी, कारण कि वे भी ध्वनि के प्रति अप्रधान ही माने जाते हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनिलक्षणकारिका में उपसर्जनीकृतस्वार्थत्व = रूप विशेषण का भी कोई अभिप्राय नहीं, फलतः ध्वनिलक्षण का एक मात्र यही प्रयोजन

सामने आता है कि उससे ध्वनिनामक एक नए शब्द का ध्वनिनाम के एक नए अर्थ में जो है वस्तुतः प्रतीयमानरूप, व्यवहार किया गया।

तदेवञ्च नार्थशब्दयोरुपसर्जनीकृतस्वार्थत्वमव्यभिचारासम्भवदोषदुष्टत्वात्। न वाच्यप्रतीयमानयोर्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्तल्लक्षणाभावात्। न च काव्यविशेषस्य लक्षणकरणं प्रयोजनाभावात्। नापि ध्वनिव्यपदेशः व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाभावादुपपद्यत इति सर्वमसमञ्जसमिव तल्लक्षणमुपलक्ष्यते।

तो इस प्रकार—अर्थ और शब्द की 'उपसर्जनीकृतस्वार्थता—नहीं बनती, कारण कि उसमें अव्यभिचार और असंभव दोष आते हैं। और न वाच्य तथा प्रतीयमान अर्थों का व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव ही बनता है—क्योंकि उसका कोई लक्षण नहीं बन पाता, काव्यविशेष का लक्षण भी करना ठीक नहीं क्योंकि उसका कोई फल नहीं। और न—ध्वनिनाम ही सटीक उतर पाता है क्योंकि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सिद्ध नहीं होता—इसलिए ध्वनि का पूरा लक्षण ऊलजलूल सा लगता है।

यदि काव्ये गुणभूतव्यङ्ग्येऽपीष्टैव चारुता—
प्रकर्षशालिनी, तर्हि व्यर्थ एवादरो ध्वनौ॥ ९६॥

यदि गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य में भी प्रकर्षयुक्त चारुता मान्य ही है तो फिर ध्वनि में आदर व्यर्थ ही है।

न हि काव्यात्मभूतस्य ध्वनेस्तत्रास्ति सम्भवः।
तेन निर्जीवतैवास्य स्यात् प्रकर्षे कथैव का॥ ९७॥

काव्य में काव्यात्मभूत ध्वनि संभव नहीं अतः यह (ध्वनि) निर्जीव ही सिद्ध होता है, तब उसके प्रकर्ष की बात ही क्या।

अतोऽतदात्मभूतस्य येऽभावं जगदुर्ध्वनेः।
ते मुधैव प्रतिक्षिप्ताः स्वोक्तिभावमपश्यता॥ ९८॥

इसलिए जो काव्यात्मभूत नहीं है उस ध्वनि का जिन्होंने अभाव बतलाया था उनकी बात का आशय न समझने वाले (ध्वनिवादी) ने उन्हें व्यर्थ ही अमान्य ठहराया।

अथेष्यते स तत्रापि रसादिव्यक्त्यपेक्षया।
काव्यमेवान्यथा न स्याद्रसात्मकमिदं यतः॥ ९९॥

यदि इतने पर भी काव्यात्मरूप से ध्वनि इष्ट ही हो तो उसका अस्तित्व वहाँ (गुणीभूत व्यङ्ग्य में) भी मानना चाहिए कारण कि रस (आनन्द चारुत्व और रस) की अभिव्यक्ति वहाँ भी होती ही है। नहीं तो (रस हीन होने पर) वह काव्य ही नहीं होगा कारण कि यह (काव्य) रसात्मक ही होता है।

इत्थञ्च गम्यमानार्थस्पर्शमात्रमलङ्कृतिः।
वाच्यस्येत्येतदुक्तं स्यान्मता सैवानुमा ततः॥ १००॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः॥

इस प्रकार बात तो इतनी ही साबित होती है कि गम्यमान अर्थ का स्पर्श ही वाच्यार्थ की शोभा है। वही (शोभा हमें) उससे (वाच्य से होने वाली) अनुमितिरूप से मान्य है।

विमर्श : इस पूरे सन्दर्भ का निष्कर्ष यही कि प्रतीयमानार्थ से युक्त काव्य ही काव्य होता है। उसमें प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान से होती है। वह जहाँ भी होती है सदा प्रधान रहती है। अतः उसको एकाधिक भेद में विभक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार जब ध्वनि नामक अलग से कोई वस्तु ही नहीं है तब उसका लक्षण ही व्यर्थ है, फिर लक्षण भी यदि सम्भावना के आधार पर किया तो उसमें अनावश्यक अर्थों की योजना न करनी थी।

अभीतक—ध्वनिलक्षण पर आघात कर व्यङ्ग्यार्थ के उच्छेद की चेष्टा की और उसके ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य इन मौलिक दो भेदों को अमान्य ठहराने की। अब ध्वनि के भेदों पर समीक्षा उपस्थित करते हैं —

किञ्च यत् अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति ध्वनेः प्रकारद्वयमुक्तं, तत्र किमिदमविवक्षितत्वं नामेति तात्पर्यतोऽस्यार्थो वक्तव्यः। किम् अविवक्षितत्वमनुपादेयत्वतम्?उत, अन्यपरत्वम्? अनुपादेयत्वं च किं सर्वात्मना अंशेन वा? सर्वात्मनानुपादेयत्वे व्यञ्जकत्वमप्यस्यानुपादेयम्, तस्य तदाश्रितत्वात्। ततश्च प्रयोग एवास्य दुष्टः स्याद् यथान्यस्य पुनरुक्तादेः।

अथांशेनेत्युच्यते। वक्तव्यस्तर्ह्यसावंशः। स च निरूप्यमाणः स्वाप्राधान्य एव पर्यवस्यति। ततश्चाविवक्षितत्वमन्यपरत्वमुपसर्जनीकृतात्मत्वं चेत्येक एवार्थ इत्यनया भङ्‌ग्या स्वरूपमेव ध्वनेरुक्तं भवति न तु तस्य प्रकारभेदः।

यस्य हि यल्लक्षणानुगमे सति अवान्तरविशेषसंस्पर्शः स तस्य प्रकार इत्युच्यते यथा गोत्वस्य शाबलेयत्वादि, न तु तस्यैव स एव प्रकारो भवितुमर्हति तदनवस्थाप्रसङ्गात्। न चात्र विशेषसंस्पर्शः कश्चिदिति कथमस्य ध्वनिप्रकारत्वोक्तिर्युक्तिमती।

और = जो ध्वनि के दो प्रकार कहे हैं—अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितवाच्य-उनमें—यह 'अविवक्षित्व क्या चीज़ है' इसके अर्थ का तात्पर्य स्पष्ट करना चाहिए। क्या अविवक्षित—अनुपादेयत्व स्वरूप है या अन्यपरत्वरूप। और अनुपादेयत्व भी क्या सर्वात्मना या अंशतः। सर्वात्मना-अनुपादेय होने पर इसका व्यञ्जकत्व भी अनुपादेय हो जाएगा क्योंकि व्यञ्जकत्व उसी पर आश्रित रहता है। और तब इसका प्रयोग ही दोषावह ठहरेगा' जैसा कि अन्य पुनरुक्त आदि का। यदि अंशतः तो इस अंश का स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए। छानबीन करने पर वह अपनी अप्रधानता में ही पर्यवसित होता है। और तब अविवक्षितत्व, अन्यपरत्व और उपसर्जनीकृतात्मत्व—ये सब एक ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार तो ध्वनि का स्वरूप ही सिद्ध होता है, न कि उसका प्रकार भेद। किसी भी वस्तु का प्रकार तो वह कहलाता है जो उसके पूरे लक्षण से युक्त होने के बाद किसी अवान्तर विशेषता से युक्त हो। जैसे गोत्व का शाबलेयत्व (चितकबरापन) आदि (होने से चितकबरी गाय गाय का प्रकार—भेद कही जाती है), न कि उसी वस्तु का वही वस्तु प्रकार बन सकती है, उसमें अनवस्थादोष आता है। और यहाँ (अविवक्षितवाच्य में) विशेष गुण कोई है नहीं फिर इसे ध्वनि का प्रकार कहना कैसे युक्ति-युक्त हो सकता है।

विमर्श : पूरे संदर्भ का निष्कर्ष यह है कि ध्वनिकार ने ध्वनि के दो भेद ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में किए थे—'अस्तिध्वनिः स च अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति

द्विविधः सामान्येन। अर्थात्—ध्वनि है, और वह सामान्यतः दो प्रकार की है—अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य।' इनके उदाहरण भी उन्होंने दिए थे, प्रथम का—

'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।'
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जगति सेवितुम्।

अर्थात् सुवर्णपुष्पा पृथिवी को तीन पुरुष बटोरते हैं—शूर, विद्वान् और कुशल सेवक। यहाँ उनका कहना यह था कि सुवर्णपुष्पा पृथिवी के चयन का अर्थ है—उसको पाना। इसमें वक्ता चयन अर्थ को नहीं कहना चाहता वह कहना चाहता है अनायासप्राप्तिरूपी अर्थ को अर्थात् उसका विवक्षित अर्थ है—शूर आदि को सम्पत्ति की प्राप्ति अनायास हो जाती है। अतः चयन का वाच्य अर्थ मूल आदि का चुनना विवक्षित नहीं है। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य का उदाहरण उन्होंने—शिखरिणि क नु नाम ०० इत्यादि दिया था। उसमें बिम्बफल पर चोंच की चोट कर रहे तोते को देखे किसी विदग्ध ने किसी सलोनी सुकुमारी से पूछा—इसने किस पर्वत पर कौनसा तप कितने दिनों किया कि यह तुम्हारे अधर से मेल खाने वाले बिम्बफल पर चोंच लगा रहा है। 'इसमें यह ध्वनि निकलती है कि उत्कृष्ट फल के लिये श्रीपर्वत आदि पर नियत समय तक कोई निश्चित तप करना पड़ता है। किन्तु तुम्हारे अधर की समानता का सौभाग्य पान वाले पदार्थ को भी पाने के लिए इतने तप की आवश्यकता है, तुम्हारे सुरदुर्लभ अधर की तो बात ही क्या? इस अर्थ के प्रति—वाच्य अर्थ गौण रहता है, यद्यपि वह अविवक्षित नहीं रहता। कारण कि उसकी प्रतीति होने पर ही इस व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती है। अतः यहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित होते हुये भी व्यङ्ग्यार्थ के प्रति समर्पित है। फलतः = विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का यह उदाहरण है। उक्त पद्य की बड़ी ही ललित व्याख्या लोचन में दी गई है। अनुमितिवादी का कथन है कि ये दोनों भेद अमान्य है। वस्तुतः ये भेद नहीं, प्रतीयमान का स्वरूपकथन है। कारण कि प्रथम अविवक्षितवाच्य ध्वनि—का अर्थ भेदपरक सिद्ध नहीं होता। क्योंकि अविवक्षित का अर्थ अनुपादेय हो सकता है। तब यह सोचना होगा कि वाच्य अनुपादेय सर्वात्मना होगा या अंशतः। सर्वात्मना होने पर = वाच्य की सभी विशेषतायें अनुपादेय होंगी तो उसमें माना जाने वाला व्यञ्जकत्व भी अनुपादेय हो जायेगा, फिर उस पर आश्रित ध्वनि भी अनुपादेय हो जायगी। यदि अंशतः अनुपादेय कहा जायेगा तो—व्यञ्जकांश को उपादेय मानकर वाच्यांश को ही अनुपादेय कहा जायेगा, अनुपादेयता का अर्थ—उपसर्जनीकृतात्मता ही होगा, क्योंकि वाच्य प्रधानरूप से उपादेय नहीं होगा, किन्तु अप्रधान रूप से और तब उसकी अनुपादेयता रहेगी ही, कारण कि सर्वात्मना वाच्य अनुपादेय नहीं हो सकता यह माना जा चुका है। अप्रधानता और उपसर्जनीकृतात्मता एक ही बात है। ऐसी स्थिति में जो ध्वनि का लक्षण था वही रस ध्वनि भेद का लक्षण सिद्ध होता है, कोई ऐसी विशेषता सिद्ध नहीं होती जिससे वह ध्वनि का प्रकार सिद्ध हो सके। प्रकार बनने के लिये यह आवश्यक है कि मूल का लक्षण भी उसमें रहे और ऊपर से भी कोई अवान्तर विशेषता उसमें हो। जैसे—चितकबरी गाय—गाय का प्रकार है। उसमें गोत्व रहता ही है ऊपर चितकबरापन भी रहता है। ऐसी बात ध्वनि के भेद अविवक्षितवाच्य में नहीं है, अतः वह भेद नहीं, ध्वनि ही है।

सच बात यह है कि अवान्तर पदार्थ विशेषसापेक्ष होता है। मूल लक्षण एक ही होता है। अवान्तर भेद परस्पर भिन्न होते हैं। गाय का चितकबरापन उससे भिन्न—नील, पीतादि की अपेक्षा रखते हैं। वे उन दूसरे रङ्गों की अपेक्षा भिन्न और विशेष है, अतः वे उनसे युक्त व्यक्ति को मूल

व्यक्ति का प्रकार सावित करते हैं। ध्वनि में भी अविवक्षितवाच्य विवक्षितान्यपरवाच्य की तुलना में अवान्तर विशेष ही ठहरता है, अतः वह निश्चित ही ध्वनि प्रकार है। किन्तु बात यह है कि अनुमितिवादी लक्षणा नहीं मानता। अभिधा ही उसके यहाँ एक वृत्ति है। ऐसी स्थिति में उसकी दृष्टि में अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य का भेद नहीं बनता। क्योंकि इन दोनों का भेद लक्षणा और अभिधा के भेद पर निर्भर है। अविवक्षितवाच्य लक्षणामूलक माना जाता है और अविवक्षितवाच्य अभिधामूलक।

किञ्चेदं विवक्षितान्यपरवाच्यत्वं नाम न बुध्यामहे। यदि विवक्षितत्वं नाम प्राधान्यमुच्यते तत् कथं तस्यान्यपरत्वं घटते। अन्यपरत्वं ह्यन्यस्याङ्गभावो भण्यते। यस्य चाङ्गभावः स कथं तदैव विवक्षितत्वात् प्राधान्यमनुभवेद्, इति यद् वाच्यस्य विवक्षितत्वमन्यपरत्वञ्चोपगतं तद् विप्रतिषिद्धं विवक्षितान्यपरत्वयोर्विरोधात्।

अब दूसरे भेद विवक्षितान्यपरवाच्य का खण्डन करते हैं—और हम इस विवक्षितान्यपरवाच्यत्व को नहीं समझ पा रहे हैं। यदि विवक्षितत्व का अर्थ प्राधान्य माना जाय तो उसका अन्यपरत्व कैसे घटेगा। अन्यपरत्व का अर्थ दूसरे के प्रति अङ्ग बनना कहलाता है। जो अङ्ग बन गया वह उसी समय विवक्षित होकर प्राधान्य पा सकता है इसलिये वाच्य का जो विवक्षितत्व और अन्यपरत्व है वह आपस में ही (विरोधी) कट मिटने वाली बाते हैं क्योंकि विवक्षितत्व और अन्यपरत्व का विरोध होता है।

एकाश्रयत्वेन हि प्राधान्येतरयोगित्वं विशेषणाभिमतार्थविषयमेव सङ्गच्छते नान्यविषयम्। तदेव हि विशेष्यस्योत्कर्षाधाननिबन्धनभावेन विवक्षितत्वात् प्राधान्यम् उपाधिभावाच्च वास्तवादप्राधान्यमनुभवितुमलम्, यथा 'रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते' इत्युक्तम्।

प्राधान्य और अप्राधान्य दोनों विशेषण रूप से मान्य वस्तु में ही साथ रह सकते हैं, और कहीं नहीं। वह विशेषण ही विशेष में उत्कर्ष का आधान करने का हेतु होने के नाते विवक्षित होकर प्राधान्य का और उपाधिरूप होने से अप्राधान्य का अनुभव कर सकता है—राम का हाथ है, परिणत गर्भ से खिन्न सीता को जङ्गल में छुड़वाने में चतुर तुझमें करुणा कैसी ? इसमें कहा गया है।

किञ्चास्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदत्वेऽभ्युपगम्यमाने वाच्यस्यान्यपरत्वमनुपादेयमेव तस्य तत्प्रभेदत्वादेव सिद्धेः। अन्यपरत्वं ह्युपसर्जनीकृतात्मत्वम्। तच्च ध्वनेः सामान्यं रूपमुक्तमेव।

यथात्र तदुपादीयते पूर्वत्रापि तदुपादीयताम् उभयत्रापि वा मोपादायि उभयोरपि तत्प्रकारत्वाविशेषात्।

इसके अतिरिक्त विवक्षितान्यपरवाच्य को ध्वनि भेद मान लेने पर वाच्य का अन्यपरत्व शब्दतः नहीं कहा जाना चाहिए। क्योंकि उसकी प्रतीति उसका (ध्वनि) प्रभेद कहने से ही हो जाती है। अन्यपरत्व है क्या ? (उत्तर) उपसर्जनीकृतात्मत्व। और वह ध्वनि का सामान्य रूप है यह

कह ही दिया है। और यदि यहाँ (प्रभेद में) उस (अन्यपरत्वरूप उपसर्जनीकृतात्मत्व का उपादान करते हैं तो प्रथम भेद (अविवक्षितवाच्य) में भी उसका उपादान किया जाना चाहिये ? या फिर दोनों ही जगह उपादान न किया जाय, कारण कि दोनों ही ध्वनि के एक समान प्रकार हैं।

विमर्श : अनुमितिवादी ने विवक्षित्व का अर्थ वक्तुमिष्ट यानी तात्पर्य विषय माना है, अतः उसके अनुसार जो अर्थ तात्पर्य विषय होगा उसमें अन्यपरता का रहना सचमुच विरुद्ध होगा। कारण कि अर्थपरता का अर्थ उसमें उपसर्जनीकृतत्व या अप्रधानत्व किया है। जो तात्पर्य विषय होगा वह अप्रधान कैसे होगा। कारण कि प्रधानत्व और अप्रधानत्व का विरोध होता है। और दो विरुद्ध तत्त्व केवल विशेषण को छोड़कर और कहीं रह नहीं सकते। विशेषण विशेष्य का उपकारक होने से विवक्षित हो जाता है और उसकी उपाधि होने से अविवक्षित। विवक्षित होने से प्रधान हो जाता है और अविवक्षित होने से अप्रधान। फलतः केवल विशेषण में प्राधान्य अप्रधान्य का युगपत् निर्वाह सम्भव है, और कहीं नहीं। अतः विवक्षितान्यपरवाच्य में वह सम्भव नहीं। तीसरी बात यह है कि जो अर्थ विवक्षित होता है और प्रधान व्यङ्ग्य का अङ्ग हो तो उसमें अन्यपरता अपने आप सावित हो जायगी। और सर्वदा सावित होती रहेगी, तब अन्यपरत्व के शब्दतः कथन की जरूरत ही क्या ? और यदि उसे सचमुच शब्द से कहना ही है तो फिर अविवक्षित वाच्य में भी अन्यपरत्व का शब्दतः उपादान किया जाना चाहिये।

इस प्रकार अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य दोनों ही ध्वनिभेद ठीक नहीं लगते। इन दोनों का खण्डन करके अब इनके प्रभेदों का खण्डन करते हैं—

किञ्चार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य यदुदाहरणं तदग्निर्माणवक इतिवद् गुणवृत्तेरेव सङ्गच्छते तस्य गुणवृत्तिप्रकारत्वसमर्थनात्। तथा हि प्रसिद्धा-न्यूनानतिरिक्तभावस्यान्यस्य साधर्म्यप्रतिपत्त्यर्थमन्यत्रारोप उपचारः। स चायमारोप्यारोपकभावात्मकतया उभयार्थविषयो वेदितव्यः।

और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का जो उदाहरण है उसे अग्निर्माणवकः के समान गुणवृत्ति का ही उदाहरण मनना ठीक है। क्योंकि उसमें गुणवृत्ति की प्रकारता (भेदता) समर्थित होती है। वह इस प्रकार कि प्रसिद्ध अन्यून और अनतिरिक्त—जो अन्य पदार्थ, उसका अन्य पदार्थ पर साधर्म्य के ज्ञान के लिये आरोप (थोपना) उपचार कहलाता है। वह (उपचार) आरोप्य आरोपकभाव रूप होने से दोनों अङ्गों में विद्यमान समझना चाहिये।

ततश्च यदा एक एव अर्थ एकशब्दाभिधेयः सामान्यविशेषांशपरिकल्पने-नोभयरूपोऽस्य विषयभावं भजते, तदार्थप्रकरणाद्यध्यवसितोत्कर्षापकर्षो विशेषांश एव समारोपितस्तत्र साधर्म्यावगतिहेतुर्भवति यथा 'तदमृतममृतं स इन्दुरिन्दुः' इति। न तु सामान्यांशः, विशेषस्य सामान्याव्यभिचारात्।

और तब; जब एक ही अर्थ एक शब्द से दो बार कहा जाता है अतः सामान्य और विशेष अंशों में दो रूप से आकर पुनः इसका (उपचार का) विषय बनता है तब अर्थ = प्रयोजन और प्रकरण आदि से निर्णीत कर लिया जाता है उत्कर्ष या अपकर्ष जिसका ऐसा विशेषण ही उस पर आरोपित किया जाता है, और उस (द्वितीय बार उसी शब्द से कथित अर्थों) में साधर्म्य के ज्ञान का कारण बनता है। यथा—वही अमृत अमृत है, वही चन्द्र चन्द्र है। न कि सामान्यांश, कारण कि विशेष का सामान्य से विलगाव नहीं रहता।

विमर्श : गुणवृत्ति सादृश्य सम्बन्ध से होती है और सादृश्य को ही बतलाती है इसका स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है। यहाँ पुनः अनुमितिवादी व्यञ्जनावादी के उपर आक्षेप करने के लिये वह पुरानी बात उखाड़ता है। व्यञ्जनावादी ने अविवक्षितवाच्य के दो भेद किये थे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अर्थान्तरसंक्रमित का उदाहरण स्निग्ध ०००रामोऽस्मि सर्वं सहे—दिया था। अतः शब्दों के मूल अर्थ भी बचे रहते हैं और नये अर्थों का का आदान भी हो जाता है। यहाँ व्यञ्जनावादियों ने उपादान लक्षणा मानी। पर व्यञ्जनावादी उसमें गौणी लक्षणा सिद्ध करता है—यह अत्यन्त नवीन बात है। व्यञ्जनावादी के यहाँ गौणी लक्षणा रूपक और अतिशयोक्ति अलंकार में होती है। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि आदि में नहीं। रूपक में भी यद्यपि उपमान पद का 'स्वसदृश' इस दूसरे अर्थ में संक्रमण होता है और उसमें भी लक्षणा होती है तथा उसका प्रयोजन निरतिशय साम्य की प्रतीति व्यङ्ग्य। किन्तु यह ध्वनि लक्षणामूलक होते हुये भी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि नहीं होती। यह अलङ्कार मूलकवस्तु ध्वनि होती है जो विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के दूसरे भेद संलक्ष्यक्रम में होती है। अनुमितिवादी उपादान लक्षणा के स्थलों में भी सादृश्य मानता है और उसे गुणवृत्ति कहता है—इसका अर्थ यह है कि वह रूपक आदि में भी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि अर्थात् अविवक्षितवाच्यता मानता है। उसकी यह मान्यता मौलिक है।

व्यञ्जनावादी (ध्वन्यालोककार) ने अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद बतलाए थे अर्थान्त संक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। इनमें से अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण दिया था 'रामोऽस्मि सर्वं सहे'। इसमें राम का अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा था–'अनेन हि व्यङ्ग्य-धर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते न संज्ञिमात्रम्' अर्थात् इस राम शब्द के द्वारा दूसरे व्यङ्ग्य धर्मों में परिणत संज्ञी का ज्ञान कराया जाता है, केवल संज्ञी का नहीं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा था—इस जगह राम शब्द का अर्थ अनुपयोगी है अर्थात् उसका अपना अर्थ—'दशरथ का पुत्र' यदि हटा भी दिया जाय तो पद्य की कुछ हानि नहीं होती, अतः वह उपयोगशून्य है; अतः उसका राज्यनिर्वासनादिस्वरूप अनेक धर्मों से युक्त राम किया जाता है। इसलिए रामशब्द—'निर्वासनादिविपत्ति को सह चुके राम' इस अर्थ में संक्रान्त होकर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरण बनता है। इसीप्रकार दूसरा उदाहरण आनन्दवर्धनाचार्य ने ही दिया था—'रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि'—में द्वितीय कमलपद। उसका अर्थ अभिनवगुप्त ने किया था कि यह द्वितीय कमलशब्द सौन्दर्यपात्रता आदि दूसरे कई धर्मों से चमत्कारपूर्ण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन स्थलों में कौन सी लक्षणा मानी जाय—इसका स्पष्ट उल्लेख काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण में नहीं मिलता, किन्तु लक्षणा निरूपण में दिए उदाहरणों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि इन स्थानों में उपादानलक्षणा उन्हें मान्य है। यह लक्षणा वहाँ होती है जहाँ सादृश्य की प्राप्ति नहीं होती। अतः इसे शुद्धा माना जाता है। यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि अनुमितिवादी इसे भी गौणी मान रहा है। वह 'अग्निर्माणवकः' की कोटि में उसे गिना रहा है, गौणी सादृश्य सम्बन्ध को लेकर होती है, अतः वह इस स्थल में सादृश्य सम्बन्ध भी स्वीकार करता है और उसका निरूपण भी करता है। वह इस प्रकार कि—'कमलानि कमलानि' इस प्रकार एक ही शब्द के दो बार प्रयोग से उसका अर्थ अन्यत्र एक होते हुए भी यहाँ एक नहीं रहता। पहले का अर्थ सामान्य रहा आता है, दूसरे का विशेष हो जाता है। अर्थात्—कमलानि कमलानि में प्रथम कमल का अर्थ सामान्य कमल रहा आता है और द्वितीय का असामान्य या श्रीसम्पन्न-सौरभरञ्जित कमल हो जाता है। इस

प्रकार दो भिन्न अर्थों में से एक का दूसरे पर आरोप कर लिया जाता है। यहाँ आरोप की वही प्रक्रिया मानी जाती है जो अग्निनिर्माणवकः या गौर्वाहीकः में। वहाँ सदृश्य के आधार पर दो पदार्थों का अभेद होता है, यहाँ भी कमलपदेन दोनों कमल का सादृश्य है उनका अभेद विवक्षित है। और ठीक भी है। सूर्य निकलने पर सामान्य कमल ही तो विशेष कमल बन जाता है। दोनों दोनों ही स्थिति में एक रहते हैं। महिमभट्ट ने इस उदाहरण को 'तदमृतममृतम्' इस उदाहरण के रूप में उपस्थित कर दिया है। किन्तु 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' के विषय में आरोप की प्रक्रिया कैसी होगी यह नहीं कहा। हमारे विचार में यहाँ 'सहे' इस उत्तमपुरुष की क्रिया द्वारा वक्ता राम का आक्षेप द्वारा ज्ञान हो जाता है और पाठक के मस्तिष्क में उपस्थित उस राम पर इस श्लोकवाक्य द्वारा उपस्थित राम का आरोप कमलानि कमलानि वाली रीति से कर लिया जाता है। व्यक्तिविवेककार का कहना है कि यह आरोप्यआरोपकभावसम्बन्ध दोनों में बरावर होता है अर्थात्—कमलानि कमलानि में दोनों कमलों का दोनों कमलों पर आरोप हो सकता है। इसी प्रकार राम आदि का भी।

इस संदर्भ में एक तथ्य और भी ध्यान देने का है। वह यह कि अभी तक अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि के विषय में व्यक्तिविवेककार ने जो भी कुछ कहा है वह उनका अपना सिद्धान्तमत नहीं है, कारण कि उनके मत में तो लक्षणावृत्ति शब्दवृत्ति ही नहीं है। अभिधा ही अकेली शब्दवृत्ति है। अतः यहाँ तक का सम्पूर्ण विवेचन केवल इस उद्देश्य से किया गया है कि यदि ध्वनिवादी को अपनी मान्यता स्थिर करनी ही है, तो उन्हें अधिक छानबीन कर स्थिर करे ताकि वे एक दूसरे से अलग रह कर स्वतन्त्र रूप से सामने आ सकें। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि में कौन-सी लक्षणा काम करती है—इसे वह स्पष्ट करे और फिर उसमें किसकी लक्षणा किस पर होती है यह भी बतलाए। साथ ही यह भी दिखलाए कि आरोप से या उपचार से उसमें अन्तर है या एकता? ध्वनिवादी ने इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया है अतः अनुमितिवादी ने ही उनकी ओर से स्वयं समाधान सोचकर इतने तर्क उपस्थित किए—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य में गौणी-सारोपा लक्षणा होती है वह उपचार रूप होती है। अरोप दोनों का दोनों पर हो सकता है। फलतः लक्षणा भी दोनों में से किसी की भी की जा सकती है।' इस ऊपरी-अधिक विवेचन के बाद ग्रन्थकार अपने सिद्धान्त पर आते हैं और अब अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य को अनुमान रूप साबित करते हैं।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽप्यनुमान एवान्तर्भवति। रामादिशब्दा हि करणाद्यवसितोत्कर्षापकर्षलक्षणधर्मविशिष्टं संज्ञिनं प्रत्याययन्ति, न संज्ञिमात्रम्, अर्थान्तरं यदनुमितं धर्मरूपं तत्र संक्रमितमाश्रयभावेन परिणतं वाच्यमस्येति कृत्वा।

द्विविधो ह्यनुमेयोऽर्थो धर्मरूपो धर्मिरूपश्चेति। तत्राद्योऽस्य विषयः। तस्यैव वाच्यार्थनिष्ठतया प्रतीतेः। अन्यस्त्वन्यस्य, यथा अग्निरत्र धूमादिति। ततो धर्मविशेषप्रतिपत्तौ प्रकरणादिरेव हेतुतयावगन्तव्यः, न रामादिशब्दा इति।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भी अनुमान में ही अन्तर्भूत हो जाता है। रामादि जो शब्द हैं वे प्रकरण आदि से निर्णीत उत्कर्ष या अपकर्ष रूप धर्म से विशिष्ट संज्ञी (धर्मी) का ज्ञान कराते हैं

केवल, संज्ञी, (धर्मी) का नहीं। और वह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य = शब्द की इस व्युत्पत्ति के आधार पर कि—धर्मरूप जो दूसरा अर्थ अनुमान द्वारा जाना गया है उसमें आश्रयरूप से पहुँचा हुआ है वाच्य जिसका। क्योंकि अनुमेय अर्थ दो प्रकार का होता है—धर्मरूप और धर्मीरूप। उनमें प्रथम इसका विषय होता है। क्योंकि वाच्यार्थ में विद्यमान रूप से उसी की प्रतीति होती है। और दूसारा दूसरे का। जैसे—यहाँ अग्नि है धुआँ होने से यह। इसलिए धर्म विशेष की प्रतिपत्ति के लिए हेतुरूप से प्रकरणादि ही माने जाने चाहिए—राम आदि शब्द नहीं।

विमर्श—ध्वनिकार ने, जैसा कि टिप्पणी में अभी-अभी स्पष्ट किया गया है, 'रामोऽस्मि' 'कमलानि कमलानि' आदि में—व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते न संज्ञिमात्रम्' अर्थात् व्यञ्जित हो रहे दूसरे धर्मों से युक्त संज्ञी का बोध होता है केवल संज्ञी का नहीं ऐसा कहा है। ध्वनिकार की इसी पदावली को अपनाकर व्यक्तिविवेककार अर्थान्तरसं० का अन्तर्भाव अनुमान में दिखलाते हैं—प्रथम राम आदि जो शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि के स्थल माने जाते हैं अर्थात् जिनके वाच्य अर्थ दूसरे अर्थों में बदलते माने जाते हैं वे प्रकरणादि की सहायता से वैसे होते हैं। भाव यह कि प्रकरण आदि के आधार पर किसी भी शब्द का अर्थ बदलता है। यहाँ स्निग्धश्यामलकान्ति में आया राम शब्द भगवती-सीता के वियोग की स्थिति में भगवान् राम द्वारा उस समय कहा गया है जब उनके सामने सर्वाधिक उद्दीपक-वर्षाकाल और उसमें भी उमड़ी घटाओं का समय आया। अतः इस प्रकार के आधार पर भगवान् राम अपनी अपकर्षस्थिति को राम शब्द से व्यक्त करते दिखाई देते हैं। वे बतलाना चाहते हैं कि उन्हें एक तो राज्य की जगह वनवास की यातना सहनी पड़ी और ऊपर से सीता का वियोग। अब वे काली घटाओं के मनोरम अवसर से पैदा हुई तड़पन को भी सह ही लेंगे। चिन्ता जानकी की है। उनका हृदय कोमल है। वह वन के कष्टों से, स्वयं आहत था ऊपर से वियोगजन्य कष्ट से आहत हुआ, तब तक उसकी सत्ता इसलिए मौजूद थी कि समय भी ग्रीष्म आदि रूक्ष था। किन्तु इस समय कालीघटाओं के समय में वह कैसे रहेगा।' इस बात में राम अपने अपकर्ष की स्थिति को रामोऽस्मि कहकर व्यक्त कर रहे हैं। स्वयं राम के द्वारा विशिष्ट स्थिति में कहा गया राम शब्द अपने अर्थ में प्रकरण को हेतु बनाकर उसमें विद्यमान विशेष धर्मों का अनुमान करा देता है। इस समय अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य शब्द का अर्थ—यह किया जाएगा कि राम का वाच्य दूसरे धर्मों के आश्रय रूप में अर्थ में बदल गया। इस वाच्यार्थ में कोई अन्तर नहीं आता, केवल उसके ज्ञान में अन्तर होता है। पहले राम शब्द से प्रतीत अर्थ रामत्व आदि का आश्रय प्रतीत होता था, इस राम शब्द से प्रतीत अर्थ = चिरविपन्नता के आश्रय का। व्यञ्जनावादी के मत में वाच्यार्थ—अवाच्यार्थ से मिलता था और उसमें विशेषता आती थी। अनुमितिवादी के मत में वह वैसा ही रहता है केवल उसमें विशेषता प्रतीत होने लगती है। इस मान्यता पर उपपत्ति देते हुए अनुमितिवादी ने लिखा कि अनुमेयार्थ यहाँ धर्म रूप है अतः अनुमापक में वह रह सकता है, पर्वतो वह्निमान् धूमात् = आदि में जहाँ अनुपमेय अर्थ धर्मी रूप होता है उसकी बात भिन्न है। अनुमितिवादी ने अनुमिति सामग्री भी कह दी है—प्रकरण, हेतु, वाच्यार्थ और विशिष्टधर्म साध्य। उसने राम शब्द को हेतु न मानने का स्पष्ट निर्देश किया है—धर्मविशेषप्रतिपत्तौ प्रकरणादिरेव हेतुतयावगन्तव्यः। न तु रामादि शब्दः। इसप्रकार अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का निर्वचन और अनुमान में अन्तर्भाव बतला कर—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि की समीक्षा करते हैं।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्तु पदार्थोपचार एव यथा गौर्वाहीक इति। तस्याप्यनुमानान्तर्भावः समर्थित एव।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य तो पदार्थोपचार ही है जैसे 'वाहीक बैल है' = यह। उसका भी अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया जा चुका है।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्तु न सम्भवत्येव। शब्दस्याभिधाशक्तिव्यतिरेकेण शक्त्यन्तरानभ्युपगमादित्येतदुक्तं, वक्ष्यते च।

शब्दशक्तिमूलअनुरणनव्यङ्ग्य तो संभव ही नहीं है। क्योंकि अभिधा से भिन्न दूसरी शब्दशक्ति मानी जा सकती नहीं यह पहले भी कह दिया है और आगे भी कहा जायगा।

नाविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्युक्ता प्रकारता।
न हि प्रकारस्तस्यैव स एवेत्युपपद्यते ॥ १०१ ॥

अविवक्षितवाच्य में ध्वनि की प्रकारता (भेदरूपता) ठीक नहीं क्योंकि कोई भी पदार्थ अपने आपका प्रकार नहीं कहा जा सकता।

भक्तिः पदार्थवाक्यार्थरूपत्वात् द्विविधा मता।
तद्बुद्धिश्चानुमानान्तर्भूता यदुपपादिता ॥ १०२ ॥
तत् तिरस्कृतवाच्यस्य ध्वनेर्भक्तेश्च का भिदा।
द्वितीयोऽपि प्रकारो यः सोऽपि सङ्गच्छते कथम् ॥ १०३ ॥
परस्परविरुद्धत्वाद् विवक्षातत्परत्वयोः।

भक्ति दो प्रकार की होती है पदार्थरूप और वाक्यार्थरूप। जब उसका ज्ञान अनुमान में अन्तर्भूत दिखला दिया गया तब तिरस्कृतवाच्य ध्वनि और भक्ति का भेद ही क्या। जो दूसरा प्रकार है (विवक्षितान्यपरवाच्य) वह भी संगत कैसे ठहर सकता है। क्योंकि विवक्षितता और अन्यपरता दोनों परस्पर विरुद्ध हैं।

यः शब्दशक्तिमूलोऽन्यः प्रभेदो वर्णितो ध्वनेः ॥ १०४ ॥
सोऽयुक्तोऽन्यत एवासौ तत्रेष्टार्थान्तरे मतिः।
शब्दे शक्त्यन्तराभावस्यासकृत् प्रतिपादनात् ॥ १०५ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः ॥

इति श्रीराजानकमहिमभट्टविरचिते व्यक्तिविवेकाख्ये काव्याऽलङ्कारे ध्वनिलक्षणाक्षेपो नाम प्रथमो विमर्शः।

जो शब्दशक्तिमूलक दूसरा ध्वनिभेद बतलाया गया है वह ठीक नहीं है—(क्योंकि उसमें होने वाली) दूसरे अर्थ की प्रतीति और ही कारण से हो जाती है (वह इसलिए कि) शब्द में और दूसरी शक्ति का अभाव अनेक बार साबित किया जा चुका है।

इस प्रकार राजानक श्रीमहिमभट्ट-रचित व्यक्तिविवेक नामक काव्यालङ्कार [ग्रन्थ] में 'ध्वनि के लक्षण पर आक्षेप' नामक पहला विमर्श पूर्ण हुआ।

इस प्रकार व्यक्तिविवेक तथा उसके संस्कृतव्याख्यान के प्रथम विमर्श का नादनेर (भोपाल म० प्र०) वासी पं० नर्मदाप्रसाद द्विवेदी के आत्मज पं० रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दीभाष्य पूर्ण हुआ।

अथ द्वितीयो विमर्शः

एवं तावत् प्रथमे विमर्शे ध्वनिलक्षणं दूषयित्वा ध्वनिशास्त्रगतं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' ग्रन्थान्तरं दूषयितुं सामान्येन तावत् काव्यगतमनौचित्योल्लासरूपं दूषणप्रपञ्चमुपपादयितुमाह—इह खल्वित्यादिना—

इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम् अर्थविषयं शब्दविषयं चेति। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते।

अपरं पुनर्बहिरङ्गं बहुप्रकारं सम्भवति। तद्यथा—विधेयाविमर्शः, प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनरुक्त्यं, वाच्यावचनं चेति।

इस प्रकार प्रथम विमर्श में पहले तो ध्वनि लक्षण को सदोष ठहराया, अब ध्वनिशास्त्र में आए एक दूसरे ग्रन्थांश (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति···) को सदोष ठहराने के लिए पहले सामान्य रूप से काव्य में आने वाले दोषों के जो अनौचित्य प्रतीति स्वरूप होते हैं, प्रपञ्च का उपपादन करने के लिए कहते हैं—इह खलु इत्यादि द्वारा—

यहाँ जो है सो, दो प्रकार का अनौचित्य कहा गया है—(१) शब्दविषयक और (२) अर्थविषयक। इनमें से एक का स्वरूप, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का रसों में जो बेमेल उपयोग है—बस इतना ही है, यह अनौचित्य अन्तरङ्ग होता है, इसका निरूपण पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने ही कर दिया है अतः यहाँ इसका फैलाव नहीं किया जा रहा है। दूसरा जो है, वह बहिरङ्ग होता है, और वह कई प्रकार हो सकता है—जैसे विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य और वाच्यावचन।

उक्तमिति **सहृदयैः**। अन्तरङ्गमिति **साक्षाद् रसविषयत्वात्।** आद्यैरिति **ध्वनिकारप्रभृतिभिः। तदुक्तम्—**

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥' इत्यादिना।

उक्तम् = कहा है = कहा गया है = अर्थात् सहृदयों द्वारा।

अन्तरङ्गमिति = अन्तरङ्ग होता है, इसलिए कि वह साक्षात् रस विषयक होता है।

आद्यैः = ध्वनिकार आदि द्वारा जैसा कि—

रसभङ्ग का कारण अनौचित्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

प्रसिद्ध औचित्य का निर्वाह रस का परम रहस्य है—इत्यादि द्वारा कहा है।

बहिरङ्गमिति। **वाच्यमुखेन रसे पर्यवसानाद्।** विधेयः **प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषितो योऽर्थस्तस्य** अविमर्शो**ऽनुसन्धानम् उपसर्जनीकरणात्।** प्रक्रमः **कस्यचिद्वस्तुनो निर्वाहायारम्भस्तस्य** भेदो **मध्येऽन्यथीकरणम् अन्यथानिर्वाहश्च। क्रमस्य परिपाट्या भेद उल्लंघनं व्युत्क्रम इति यावत्।** पौनरुक्त्यं **पुनःप्रतिपादनम्।** वाच्यस्य **वक्तव्यस्य** अवचनमनुक्तिः।

बहिरङ्ग = अर्थात्—वाच्य के माध्यम से रस में पर्यवसित होने से।

विधेय = अर्थात् वह पदार्थ जिसका प्रतिपादन प्रधान रूप से करना हो, उसका अविमर्श = अर्थात् उपसर्जनीकरण = गौण या अप्रधान बना देने के कारण = अनुसंधान न होना—प्रधान रूप से समझ में न आना।

प्रक्रम = अर्थात् किसी वस्तु के निर्वाह के लिए आरम्भ, उसका भेद = अर्थात् बीच में परिवर्त्तन या जैसा एक रूप निर्वाह चाहिए वैसे निर्वाह का न होना।

क्रम = अर्थात् परिपाटी का भेद = अर्थात् उल्लङ्घन, अर्थात् व्युत्क्रम—

पौनरुक्त्यम = दुबारा प्रतिवाद करना।

वाच्यस्य = जिसे कहा जाना चाहिए उसका अवचन = अर्थात् न कहना।

एता अवान्तरभेदभिन्नाः पञ्चदूषणजातयः। यदेतदिह ग्रन्थकृता विचारसरणिमाश्रित्य विधेयाविमर्शादिदोषपञ्चकमुद्भावितं, न तत्राद्यतनपुरुषमात्रबुद्धिप्रणयनासूययानादरः करणीयः। पूर्वैरेवंविधदोषोद्भावनरूपस्य विचारस्य प्रणीतत्वात्। तथा हि। 'दास्याः पुत्र' इत्यादावाक्रोशे षष्ठ्या अलुकं प्रतिपादयता सूत्रकृता विधेयाविमर्शः सूचित एव। तथा 'स्वामीश्वराधिपतिदायादे'(२-३-३९)त्यत्र सूत्रे 'नहि भवति गवां स्वामी अश्वेषु चे'ति वदता भाष्यकृता स्पष्टमेव प्रक्रमभेदः प्रतिपादितः। तथा 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (३-१-४०) इत्यत्रानुप्रयोगस्यानुशब्दपर्यालोचनया व्यवहितपूर्वप्रयोगं 'तं पातयां प्रथममास' इत्यादौ निषेधता, चादीनां च 'नहि भवति च वृक्षः' इत्यादिना प्रयोगनियमख्यापनेन द्योतकत्वं कथयता अस्थानप्रयोगलक्षणः क्रमभेदः कटाक्षित एव। तथा 'कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यां बहुव्रीहिर्लघुत्वात् स्यादि'ति वृत्तिलाघवं चिन्तयता कात्यायनेन पौनरुक्त्यमपि प्रकाशितमेव। तथा ईषदसमाप्तौ (५-३-६७) इत्यत्र प्रतिज्ञानसमधिगम्यं सूत्रकारोक्तं रूपकलक्षणमर्थं दूषयता प्रकृत्यर्थसदृशे कल्पबादिविधानमि'ति प्रतिज्ञानसमधिगम्यार्थभूतामुपमां व्यवस्थापयतोपमाश्रयेण वाच्यावचनमपि द्योतितमेव। एतेन रूपकाश्रयेणावाच्यवचनमपि द्योतितमेव। तदेवं महाविदुषां मार्गमनुसृत्य सहृदयशिक्षादराय विचारय(न्दरं ?)तोऽस्य महामतेर्न कश्चित् पर्यनुयोगलेशस्याप्यवसर इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

दोषों की ये पाँच ही जातियाँ हैं, ये ही अनेक अवान्तर भेदों में बँट जाती हैं। ग्रन्थकार ने ऐसा विचारपथ अपना कर यह जो विधेयाविमर्श आदि पाँच दोषों की उद्भावना की है उसपर यह सोचकर कि यह अभी के नए व्यक्ति की सूझ है—असूया और अनादर नहीं किया जाना चाहिए क्यों इस प्रकार दोषों की उद्भावना करने का विचारपथ पुराने लोगों ने ही बना दिया है। 'दास्याः पुत्र' 'दासी का जाया'—इसमें षष्ठी का लोप न करने की व्यवस्था देने वाले सूत्रकार (पाणिनि) ने विधेयाविमर्श की सूचना दी है। इसी प्रकार—स्वामीश्वराधिपति दायादसाक्षिप्रतिभू"'इत्यादि सूत्र पर भाष्य करते हुए 'नहीं होता गायों का मालिक घोड़ों पर भी' ऐसा कहते हुए भाष्यकार ने भी प्रक्रमभेद स्पष्ट ही बतलाया है।[1] इसी तरह 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि (३।१।४०) यहाँ 'अनुप्रयोग' शब्द के 'अनु' उपसर्ग की अनुवीक्षा द्वारा 'तं पातयाम्प्रथममास (रघुवंश ९।६१) इत्यादि स्थलों में व्यवहित प्रयोगों का निषेध करते हुए तथा 'न हि भवति च वृक्ष' इत्यादि द्वारा चकारादि (निपातों) के प्रयोग का नियम बतलाकर उनकी

१. इस सूत्र पर पातञ्जल भाष्य नहीं मिलता।

द्योतकता का कथन करते हुए 'क्रमभेद' की ओर भी आँख घुमाई, जिसका स्वरूप शब्द का ठीक जगह प्रयोग न करना है। इसीप्रकार 'कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यां बहुव्रीहिर्लघुत्वात्-स्यात्' इसप्रकार समास में लाघव की चिन्ता करते हुए कात्यायन ने पौनरुक्त्य भी दिखलाया है।

इसी प्रकार सूत्रकार पाणिनिजी के ईषदसमाप्तौ (५।३।६७) इस सूत्रकथन में कुछ लोग रूपक मानते थे। उसका खण्डन कर अन्य लोगों ने उक्त सूत्र में उपमा स्वीकार की और 'प्रकृतिभूत पद का जो अर्थ तत्सदृश अर्थ में 'कल्पप्' आदि होते हैं' ऐसी व्यवस्था दी। इस प्रकार रूपक को छोड़कर उपमा को स्वीकार करने से उन्होंने वाच्यावचन दोष की ओर संकेत कर दिया तथा रूपक स्वीकार करने से अवाच्यवचन दोष की ओर भी।

इस प्रकार व्यक्तिविवेककार महान् विद्वानों का पथ अपना कर ही यह विचार कर रहे हैं। उनका उद्देश्य शिष्यशिक्षा है, इसलिए थोड़ी भी आपत्ति की कोई गुञ्जाइश नहीं है। यह विषय बहुत बड़ी है अतः यहीं ठहरना ठीक है।

विमर्श—प्रतिज्ञान-समधिगम्य = प्रतिज्ञान = प्रतिज्ञा = गुरुशिष्यपारम्पर्य किन्तु यहाँ केवल कथन उससे समधिगम्य = प्रतीत होते योग्य।

दुःश्रवत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव, तस्याप्यनुप्रासादेरिव रसानुगुण्येन प्रवृत्तेरिष्टत्वात्। केवलं वाचकत्वाश्रयमेतन्न भवतीति न तत्तुल्यकक्ष्यतयोपात्तम्।

वृत्त (छन्द) की दुःश्रवता भी दोष तो शब्द का ही है, कारण कि वह (छन्द) भी अनुप्रास आदि के ही समान रस की ओर देख कर चलता है। किन्तु (उसका) यह (दुःश्रवत्व दोष) वाचक शब्द मात्र पर निर्भर नहीं रहता अतः उसे (विधेयाविमर्श आदि) उन (दोषों) की जोड़ में रख कर नहीं गिनाया गया।

विमर्श—व्यक्तिविवेककार छन्द को शब्दालङ्कार मानते हैं। उन्होंने इसका स्पष्टीकरण 'अतएव यमकानुप्रासयोरिव वृत्तस्यापि शब्दालङ्कारत्वमुपगतमस्याभिः' इस प्रकार आगे स्वयं किया है। यह उनकी अत्यन्त मौलिक मान्यता है। शब्दालङ्कारों में अनुप्रास के लिए आनन्दवर्धन के परवर्त्ती आलङ्कारिकों में जो मान्यता स्थिर हुई थी, उसमें उसका रसानुगुण होना आवश्यक था। प्रतिकूल होने पर वहाँ दोष होना माना जाता है। यथा शृङ्गार में अकुण्ठोत्कण्ठया आदि पद्य-मम्मट ने अनुप्रास का लक्षण—'रसाद्यनुगुणः प्रकृष्टो न्यासः' किया है। यह इसी बद्धमूल मान्यता का स्पष्ट रूप है। महिमभट्ट भी ध्वनिकार के बाद हुए हैं। कदाचित् उन्हें अनुप्रास सम्बन्धी इस मान्यता का ज्ञान था। इसी आधार पर उन्होंने छन्द को शब्दों का अलङ्कार माना और इस के प्रतिकूल होने पर उसी को दुःश्रवत्व दोष। मम्मट का सिद्धान्त छन्दों के विषय में अनुप्रास के ही समान सरस काव्य में रसानुगुण होने का था किन्तु वे नीरस काव्य में भी छन्द की मात्राच्युति आदि को दोष मानते थे। महिमभट्ट काव्य को सरस ही मानते हैं नीरस नहीं, अतः उनके मत में छन्द यदि विकृत होगा तो वह रस के प्रतिकूल होगा ही। भले ही उसमें मात्रा विराम आदि का दोष हो। (इस विषय में यहाँ इतना ही जानना पर्याप्त है। आगे इस विषय का विवेचन होगा।)

दोष मानकर भी अन्य दोषों के साथ दुःश्रवत्व को न गिनाने का कारण ग्रन्थकार ने उसका वाचकत्वाश्रय न होना बतलाया। इसका अभिप्राय यह है कि अन्य दोष वाचक शब्दों में रहते

हैं अतः वे जहाँ जहाँ रहते हैं वहाँ वाचकत्व रहता ही है। वे वाचकत्व-समनियत, वाचकत्व के साथ रहते हैं। दुःश्रवत्व दोष-छन्द में रहता है। छन्द-संगीत रूप है। संगीत-स्वररूप होता है। स्वर में पश्यन्ती वाणी का रूप है। पश्यन्ती वाणी नाभिचक्र में रहती है। नाभिचक्र तक शब्द और अर्थ में भेद नहीं होता। वे अभिन्न रहते हैं। वहाँ अर्थ और शब्द मिले रहते हैं। उनका भेद हृदय देश में होता है। हृदयदेश की वाणी मध्यमा कहलाती है। शब्द का अर्थ से विलगाव होने पर—शब्द की अपनी शक्ति से अर्थ का ज्ञान नहीं होता। उसमें अर्थज्ञानकर्त्ता (पुरुष) एक शक्ति आहित करता है। उसी से अर्थ का ज्ञान होता है। यह शक्ति—अभिधा, लक्षणा या व्यञ्जनात्मक होती है। अभिधा को ही 'वाचकत्व' कहा जाता है। इस प्रकार विधेयाविमर्श आदि दोष उन्हीं शब्दों में रहते हैं जिनमें अभिधारूप वाचकत्व रहता है। फलतः वे वाचकत्व के आश्रित उसीप्रकार रहते हैं जिसप्रकार पद्मत्व के आश्रित सौरभआदि गुण। इस आश्रयता को मम्मट के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने नियति कहा है। नियति का अर्थ है नियतभाव या नियम। इसीलिए 'वाचकत्वाश्रय' का अर्थ वाचकत्वनियत होता है। शास्त्रीय भाषा में 'नियत' की जगह 'समनियत' शब्द का प्रयोग किया जाता है अतः हमने 'वाचकत्वाश्रय' का अर्थ 'वाचकत्वसमनियत' किया है। दुःश्रवत्व के साथ यह नियम नहीं है। कारण कि वह जिसपर आश्रित है वह है स्वरूप छन्द। स्वर में उपर्युक्त विवेचन के अनुसार अभिधारूप—वाचकत्व नहीं रहता। अतः वह वाचकत्व-समनियत नहीं होता। महिमभट्ट ने इस प्रसङ्ग में उन्हीं दोषों को गिनाया है, जो वाचकत्वसमनियत हैं। अतः दुःश्रवत्व जो वाचकत्वसमनियत नहीं है, उसे नहीं गिनाया।

संगति = अनौचित्यसामान्य का लक्षण—

एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्। अन्तरङ्गबहिरङ्गभावश्चानयोः साक्षात् पारम्पर्येण च रसभङ्गहेतुत्वादिष्टः।

इसका सामान्य लक्षण है रस आदि की अभीप्सित प्रतीति में विघ्नकारी होना। इनमें से एक को अन्तरङ्ग और दूसरे को बहिरङ्ग मानने का कारण इनके द्वारा साक्षात् और परम्परा से रसभङ्ग होना है।

एतस्य चेति। **सामान्येनानौचित्यस्य।**

एतस्य चेति = सामान्यरूप से अनौचित्य का = अर्थात् अनौचित्य सामान्य का।

विमर्श—'रस आदि की अभीप्सित प्रतीति में विघ्न'—यहाँ आदि पद से भाव, रसाभास, भावाभास—भावशबलता, भावोदय, भावसन्धि, भावप्रशम—विवक्षित हैं। अभीप्सित प्रतीति = से मिलता हुआ शब्द मम्मट ने भी दिया है। उनका शब्द है—मुख्यार्थहति। मुख्यार्थ का अर्थ है रस और हति का अर्थ है अपकर्ष। अपकर्ष की व्याख्या करते हुए काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर अपने प्रदीप में लिखते हैं—उद्देश्यप्रतीतिविघातलक्षणोऽपकर्षो हतिशब्दार्थः। उद्देश्या च प्रतीती रसवति अविलम्बिता अनपकृष्टरसविषया च। नीरसे तु अविलम्बिता चमत्कारिणी च अर्थविषया। अर्थात्—हति शब्द का अर्थ है अपकर्ष। अपकर्ष का अर्थ है उद्देश्य-भूत प्रतीति का विघात। उद्देश्य प्रतीति सरस काव्य में वह है जो रुक कर न हो, तत्काल हो, और इसीलिए जिसमें रसचर्वणा कमजोर न पड़े। इसीप्रकार नीरस काव्य में उद्देश्य प्रतीति वह है जो तत्काल हो और चमत्कारपूर्ण हो। नीरस काव्य की यह प्रतीति अर्थविषयक होती है।

शब्द के अनौचित्य बहिरङ्ग होते हैं। उसका हेतु—व्यक्तिविवेकव्याख्यान के अनुसार रसप्रतीति में परम्परया विघ्न करना है। परम्परया का अर्थ यह कि शब्द अर्थ ज्ञान करता है। अर्थ विभावादिरूप होकर रस उपस्थित करता है। शब्द में दोष होने से अर्थ का ज्ञान सदोष होता है, और अर्थज्ञान के सदोष होने से उसके द्वारा विभावादिकी प्रतीति भी निर्दोष नहीं होती वह भी सदोष हो जाती है। इस प्रकार शब्द दोष अर्थ को बीच में रखकर रसभङ्ग करते हैं। अर्थ के दोष अन्तरङ्ग इसलिए कहलाते हैं कि अर्थ और रस के बीच कोई इतर तत्त्व नहीं रहता जैसे शब्द और रस के बीच अर्थ रहता है। जो दोष अर्थ में रहते हैं वे तत्काल इसकी चर्वणा को विकृत कर देते हैं।

त एते विधेयाविमर्शादयो दोषा इत्युच्यन्ते। तानिदानीमखिलान् खला इव व्याख्यास्यामः।

मुग्धः किं किमसभ्य एष भजते मात्सर्यमौनं नु किं
पृष्टो न प्रतिवक्ति यः किल जनस्तत्रेति सम्भावयेत्।
छात्राभ्यर्थनया ततोऽद्य सहसैवोत्सृज्य मार्गं सतां
पौरोभाग्यमभाग्यभाजनजनासेव्यं मयाङ्गीकृतम्॥ १॥

(अनौचित्य रूप) वे (ही) ये विधेयाविमर्श आदि 'दोष' नाम से भी पुकारे जाते हैं। अब हम उन सबकी व्याख्या खल तुल्य बनकर करेंगे।

'पूछा जाने पर जो कोई व्यक्ति उत्तर नहीं देता, उसके विषय में—'क्या यह मूढ़ है, या असभ्य है, अथवा मात्सर्य के कारण (जानते हुए भी) चुप्पी साधे हुए है, ऐसी संभावनाएं की जा सकती हैं। इसकारण छात्रों की प्रार्थना पर आज बड़भागी लोगों का पथ एकाएक ही छोड़कर मैंने अभागी-पुरुष योग्य एकमात्र दोषदर्शन आरम्भ किया है।'

दोष इति = काव्यस्य विकृतत्वापादनाद् दूषणाद् दोषा इति।

मुग्ध **इति। पृष्टस्याप्रतिवक्तृत्वे त्रीणि कारणानि (१) प्रतिवचनाप्रतिभानलक्षणं मौग्ध्यम् (२) प्रतिभानेऽप्यप्रौढरूपत्वमसभ्यत्वम् (३) प्रौढत्वेऽपि गुणासहिष्णुत्वलक्षणं मात्सर्यम्। तान्यत्र सन्दिह्यमानतया क्रमेणोक्तानि। यः किलेत्यत्रैव च्छेदः।** छात्राभ्यर्थनयेति **प्रष्टृत्वस्य** अङ्गीकृतमिति **प्रतिवक्तृत्वस्य च निर्देशः।** पौरोभाग्यं **दोषैकग्राहित्वम्।**

काव्य को विकृत करने अर्थात् दूषित करने से इनको दोष कहा गया।

जिस व्यक्ति से पूछा जाय उसके उत्तर न देने में तीनकारण हो सकते हैं (१) उत्तर न सूझने—रूप मुग्धता (२) सूझ जाने पर भी उसका प्रौढि से (संक्षेप—विस्तार पूर्वक) प्रतिपादन न कर सकने = रूप असभ्यता (३) प्रौढि (अर्थात् संक्षेपविस्तार पूर्वक उत्तरक्षमता) होने पर भी दूसरे के गुण को न सह सकने—रूप मात्सर्य। यहाँ (१ श्लोक में) इन तीनों को किसी एक का निश्चयपूर्वक कथन न करते हुए क्रम से उल्लेख किया गया है। यह उल्लेख—'यः किल' यहीं तक है। छात्रों की प्रार्थना = द्वारा ग्रन्थकार ने यह बतलाया कि उनसे दोषों के विषय में प्रश्न किए गए। अङ्गीकृत = के द्वारा यह बतलाया गया कि ग्रन्थकार ने उन प्रश्नों का उत्तर देना भी स्वीकार किया। पौरोभाग्य का अर्थ है एकमात्र दोष को ही देखना।

ननु यदि परकीये काव्ये परिहाराय दोषाणां विचारः क्रियते, तत् किं निजकाव्ये न तेषां परिहारः। तथा च 'भजते मात्सर्यमौनं नु किम्' इत्यतोऽनन्तरम् 'इति पृष्ट' इत्येवं

क्रमेणेतिशब्दो निर्देश्यः क्रमान्तरेण निर्देशात् क्रमभेदो न युज्यते। एवमन्यत् ज्ञेयम्। तदर्थमाह—स्वकृतिष्विति

अच्छा यदि दूसरों के काव्य में दोषों का विचार किया जा रहा है, जिसका उद्देश्य दोषों का परिहार है, तो अपने काव्य में उसका परिहार क्यों न करते ? इसी पूर्व पद्य—'मुग्धः किं' में क्रमभेद दोष है। कारण कि (इति) (ऐसी) शब्द का प्रयोग उपस्थित की संभावनाओं (क्या—मूढ़ है इत्यादि) से लगकर उनके बाद किया जाना चाहिए (जैसा कि अनुवाद में किया गया है) उसका प्रयोग वैसा न कर 'भजते मात्सर्यं मौनं नु किं पृष्टो न प्रतिवक्ति यः किल जनस्तत्र—इति संभावयेत्'—इस प्रकार—किया गया है। इसी प्रकार और भी (शोक को दूर करने आदि में ?) समझते जाना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—

स्वकृतिष्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम्।
वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत्॥ २॥ इति।

यह नहीं कहा जाना चाहिए कि यह (ग्रन्थकार) स्वयं अपने काव्य में अनियन्त्रित है अतः दूसरे का अनुशासन कैसे कर सकता है (कारण कि) वैद्य अपथ्य से दूसरों को रोकता है—स्वयं उसका आचरण करते हुए भी।

कृतिः काव्यम् = कृति = काव्य।

विमर्श—प्रस्तुत पद्य में अवाच्यवचन दोष है। कहना तो था—वैद्य स्वयं अपथ्य का सेवन करते हुए भी दूसरों को उससे रोकता है किन्तु कह गए—'वैद्य दूसरों को अपथ्य से रोकता है, स्वयं उसका सेवन करते हुए।' दोनों कथनों में अन्तर तब प्रतीत होता है जब पूर्वार्द्ध से मिलाकर पढ़ा जाता है। पूर्वार्द्ध में 'अपना अनियंत्रण' पहले दिखलाया गया है दूसरे की रोक बाद में। उत्तरार्ध में दूसरे की रोक पहले अपना अनियंत्रण बाद में। साथ ही अनियंत्रण में अपथ्य का निर्देश स्ववाचक शब्द से किया जाना चाहिये था—पर नियंत्रण में सर्वनामपद द्वारा वह भी उलटा कर दिया गया है। अतः यह पाठ चाहिए—'अप्याचरन्नपथ्यं वैद्यो रुग्णाँस्तु वारयति।'

तत्र विधेयाविमर्शो यथा—

'संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽप्यसंरब्धवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेसरी॥'

उन (पाँचों अनौचित्यरूप दोषों) में 'विधेयाविमर्श'। जैसे

'करिकीट और मेघशकल के प्रति सिंह का जो संरम्भ है वह (तो सिंह की) जाति भर में पाया जाने वाला हेवाकलेश है।' यह सोच दिग्गज और प्रलयमेघों के घटाबंध पर भी जो असंरम्भ वाला है वह अम्बिका केसरी किस पर चमत्कार के अतिशय को पहुँचे।'

संरम्भ **इति। कुत्सिताः करिणः करिकीटाः 'कुत्सितानि कुत्सनैः' (२-१-५३) इति समासः। करिकीटानामाशाद्विरदैः प्रतिनिर्देशः। मेघशकलानां तु कल्पान्ततोयदैः। य इत्यत्रैव च्छेदः। अयं श्लोको** वक्रोक्तिजीविते **वितत्य व्याख्यात इति तत एवावधार्यः।**

कुत्सित करी = करिकीट। 'कुत्सितानि कुत्सनैः' सूत्र से समास। करिकीट के उलटे दिग्गज

और मेघशकल के उलटे कल्पान्ततोयद। इस श्लोक की व्याख्या वक्रोक्ति जीवित में विस्तारपूर्वक की गई है (व० जी० ११९ उदा०) अब वहीं से इसे समझना उचित है।

अत्र ह्यसंरब्धवानिति नञ्समासस्तावदनुपपन्नः। तस्य हि पर्युदास एव विषयः, तत्रैव विशेषणत्वान्नञः सुबन्तेनोत्तरपदेन सम्बन्धोपपत्तेः। तदुक्तम्—

'प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥' इति।

यथा—

'जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्॥'

यहाँ (संरम्भः करि० पद्य में) 'असंरब्धवान्' यह नञ्समास ठीक नहीं बैठता। वह पर्युदास में ही होता है कारण कि उसी में (पर्युदास में ही) नञ्का विशेषण रूप से सुबन्त उत्तर पद के साथ ठीक सम्बन्ध बनता है। जैसा कि कहा गया है—

जहाँ विधि की प्रधानता हो और प्रतिषेध की अप्रधानता अतः जहाँ नञ् उत्तर पद के साथ आए—उसे पर्युदास समझना चाहिए। उदाहरण यथा—

'उसने (दिलीप) अत्रस्त रहते हुए अपनी रक्षा की, अनातुर रहते हुए धर्म किया, अगृध्नु रहते हुए अर्थ (भूमि, रत्न आदि) लिया, (और) अनासक्त रहते हुए सुख भोगा।'

तावच्छब्दो **विधेयाविमर्शत्रयस्यैतच्छ्लोकगतस्योपक्रमद्योतकः।** सम्बन्धोपपत्तेरिति। **अयं भावः—'समर्थः पदविधिः' (२-१-१) इति वचनात् समासः सामर्थ्यनिमित्तकः। सामर्थ्यं च सङ्गतार्थत्वं, सङ्गतत्वं च सम्बन्धः। स चात्र विशेषणविशेष्यभावः। पर्युदासस्यैव विशेषणं नञ् अब्राह्मण इति यथा। न चात्र वक्ष्यमाणन्यायेन पर्युदासो घटत इति। नन्वब्राह्मण इत्यादौ नञ् कथं विशेषणम्। विशेषणं हि विशेष्यस्योपरञ्जकं भवति। न च नञ्शब्दो विरुद्धत्वाद् विधिमुपरञ्जयति। तत् कथमस्य विशेषणत्वम्। नैतत्। अब्राह्मण इत्यादौ ब्राह्मणशब्दो ब्राह्मणसदृशे क्षत्रियादौ वर्त्तते। सा चाक्षत्रियादौ ब्राह्मणशब्दस्य वृत्तिर्नञा द्योत्यते। तदुक्तम्—'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थं' इति। तत्र च शब्दशक्तिस्वाभाव्यं कारणम्। तथा चैतत् तथा नञ्सूत्रभाष्यादवसेयम्।**

'तावत्' शब्द इसी श्लोक में आए तीन विधेयाविमर्श दोषों का द्योतक है।

सम्बन्धोपपत्ते'''भाव यह कि 'समर्थं पद विधि' के अनुसार समास सामर्थ्य पर निर्भर है। सामर्थ्य का अर्थ है अर्थों में संगति। संगति का अर्थ है सम्बन्ध। वह (सम्बन्ध) है यहाँ विशेषण—विशेष्यभावरूप। पर्युदास का ही नञ् विशेषण बनता है जैसे अब्राह्मण—इसमें। प्रस्तुत (असंरब्धवान्) में जैसा कि आगे दिखलाया जाएगा—पर्युदास बनता नहीं।

अच्छा (प्रश्न) अब्राह्मण—इत्यादि स्थलों में नञ् विशेषण हो कैसे सकता है? विशेषण तो विशेष्य का उपरंजक (विशेष्य में अनुकूलता के साथ विशेषाधायक) होता है। और नञ् का अर्थ है (विधि के) विरुद्ध (निषेध) अतः वह विधि का उपरंजन करता नहीं। अतः यह विशेषण कैसे बन सकता है? (उत्तर) यह बात नहीं है। अब्राह्मण इत्यादि में ब्राह्मण शब्द ब्राह्मण के समान किसी ब्राह्मणेतर क्षत्रियादि के लिए प्रयुक्त है। ब्राह्मणशब्द की शक्ति का क्षत्रियादि में द्योतन

नञ् द्वारा होता है। जैसा कि कहा गया है—'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थावगतिः'...। ब्राह्मणेतर अर्थ में ब्राह्मण शब्द नञ् से निकल कर कैसे प्रवृत्त होता है—इसमें शब्द शक्ति का अपना स्वभाव ही कारण जानना चाहिए। इसका जो रूप है उसे नञ्सूत्र के भाष्य से समझ लेना चाहिए।

विमर्श—(नञ्सूत्रभाष्य)—भगवान् पतंजलि ने **'नञ्'** (२।२।६) सूत्र पर तीन प्रश्नों के उत्तर दिए हैं। १—'कः पुनः असौ' नञ् है क्या ?, २—'किं नञ् प्रयुज्यमानः करोति–' (वाक्य या समास में) प्रयुक्त हुआ 'नञ्' करता क्या है ! ३—(समास में) किंप्रधानोऽयं समासः ! नञ्-समास में प्रधान कौन होता है ? पूर्वपद, उत्तरपद यथा अन्य पद का अर्थ ? प्रथम प्रश्न के उत्तर में—उन्होंने नञ् को पदार्थों का निवर्तक बतलाया है। द्वितीय प्रश्न इसी प्रश्न से सम्बन्धित है। उन्हों ने नञ् को प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों का कारण माना है। प्राप्ति के लिए उदाहरण दिया है दीपक का। जैसे दीपक अंधकार की निवृत्ति कर उसमें छिपे पदार्थों की प्राप्ति करा देता है वैसे ही नञ् भी। अप्राप्ति के लिए कील प्रतिकील का उदाहरण दिया है। जैसे गड़ी हुई एक कील पर दूसरी कील रखकर ठोंकने से प्रथम कील निवृत्त हो जाती है। तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने नञ् को उत्तरपदार्थ प्रधान माना है। उदाहरण दिया है **'अब्राह्मण'**। वे इसमें ब्राह्मण शब्द को गुणसमुदायवाचक मानते हैं। उन्होंने 'तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारणम्' यह पूरा वचन दिया भी है। उनका कहना है समुदायार्थक शब्द समुदाय के एक-एक अंग के भी वाचक होते हैं जैसे पञ्चाल। जैसे पञ्चाल शब्द देश और उस देश के व्यक्तियों का वाचक है वैसे ही ब्राह्मण शब्द ब्राह्मणमात्र तथा गुणहीन और जातिहीन ब्राह्मण का भी वाचक है। कालाकलूटा, गंदा व्यक्ति ब्राह्मण होते हुए भी अब्राह्मण समझ लिया जाता है। कभी-कभी उसके विरुद्ध गोरा, शुचि व्यक्ति ब्राह्मण न होते हुए भी ब्राह्मण समझ लिया जाता है। भाष्यकार के इस वचन से 'नञिवयुक्तं' वाक्य का अर्थ निष्पन्न होता है। व्याख्याकार ने यही लिखा भी है।

प्रधानत्वमिति। **यत्र विधेः प्राधान्यं प्रतिषेधस्याप्राधान्यं नञ उत्तरपदेन सम्बन्धः समर्थसमासः एकवाक्यत्वं च तत्र पर्युदासः 'किञ्चिद्वर्जयित्वा कस्यचिदुपदेशो निरास' इति निगमनात्। तत्र कारिकायां त्रयं निर्दिष्टं द्वयं चाक्षिप्यते।**

जहाँ विधि की (१) प्रधानता हो और प्रतिषेध की (२) अप्रधानता, नञ् का उत्तरपद से (३) सम्बन्ध हो, (४) समर्थ समास हो और (५) एकवाक्यता हो वहीं पर्युदास होता है, कारण कि नियम है—किसी को छोड़कर किसी का उपदेश (विधिरूप कथन = उपादान) निरास (पर्युदास) कहलाता है। इन पाँचों में से तीन तो 'प्रधानत्वं विधेः' सूत्र में कह दिए गए हैं। दो का आक्षेप कर लिया जाता है।

जुगोपेति। **अत्र नञर्थविशिष्टस्योत्तरपदार्थस्य विधिः, न त्रस्तत्वादिनिषेधः। तत्राप्यत्रस्तत्वादेः सिद्धत्वात् तदनुवादेन गोपनादि विधीयते इति पर्युदासत्वम्।**

इस पद्य में नञर्थ से विशिष्ट उत्तर पदार्थ का विधान (प्रधान) है, त्रस्तत्व आदि का निषेध (प्रधान) नहीं। उनमें अत्रस्तत्व आदि सिद्ध हैं, अतः उनका अनुवाद करके गोपन आदि का विधान किया जा रहा है अतः पर्युदास है।

विमर्श: विधि और निषेध की पहचान के लिए—इतना समझना पर्याप्त है कि किसी वस्तु का विधान विधि है जैसे—गुरु शिष्य से कहे—'पढो'। निषेध के लिए उससे उलटा—

'मत पढ़ो'। यदि ये दोनों एक ही वाक्य में आनेवाले हों तो इनका उपयोग वाक्य में कैसे किया जाय—यह एक विचारणीय प्रश्न है। एतदर्थ प्रधानता और अप्रधानता का सहारा लिया जाता है। यदि विधि में प्रधानता होती है तो निषेध को उसके साथ लगा दिया जाता है जिसका वह निषेध होता है। ऐसी जगह पर्युदास होता है—उदाहरण—अत्रस्तो जुगोप='बिना डरे रक्षा की'। इसमें त्रास का निषेध और रक्षण का विधान दोनों एक साथ हैं। किन्तु रक्षण का विधान प्रधान है, अतः निषेध को त्रस्त शब्द के साथ लगा दिया, कारण कि उसी पद से प्रतीत त्रास का निषेध विवक्षित है। जहाँ निषेध प्रधान होता है वहाँ उसका उपयोग क्रियापद के साथ कर दिया जाता है। जैसे—'यह काला नहीं है' इसमें निषेध की प्रधानता थी अतः उसको 'है' क्रिया के साथ रखा गया। यह नहीं कहा कि 'यह अ-काला या अकृष्ण है'। इस विषय का स्पष्टीकरण ग्रन्थकार स्वयं करते हैं—

न प्रसज्यप्रतिषेधः तस्य तद्विपरीतत्वात्। तदुक्तम्—

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्॥ 'इति।

यथा—

'नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी॥'

(नञ्समास का विषय पर्युदास ही है) प्रसज्यप्रतिषेध नहीं, कारण कि वह उससे उलटा है। जैसा कि कहा है—

'जब विधि की हो अप्रधानता और प्रतिषेध की प्रधानता साथ ही नञ् का उपयोग हो—क्रियापद के साथ तो इसी को प्रसज्यप्रतिषेध कहते हैं।' यथा—

'उमड़ता हुआ यह नवीन मेघ है, दृप्त राक्षस नहीं। दूर तक खिंचा हुआ यह इन्द्रधनुष है, उसका धनुष नहीं। यह अनवरत लगी झड़ी—धारा है—उसकी बाणवृष्टि नहीं। यह कनक निकष (कालीभौंर कसौटी पर पीली सुवर्णरेखा) के समान सुहावनी वस्तु—बिजली है, मेरी प्रिया उर्वशी नहीं।

अप्राधान्यमिति। **प्रतिषेधस्य प्राधान्यं विधेरप्राधान्यं नञः क्रियापदेन सम्बन्धोऽसमर्थसमासः वाक्यभेदश्च, तत्र प्रसज्य प्रापय्य प्रतिषेध इति** प्रसज्यप्रतिषेधः। **अत्र कारिकायां त्रये निर्दिष्टेऽन्यद् द्वयमाक्षिप्तम्।**

नवेति। **अत्र दृप्तनिशाचरप्रतिषेधः प्रतीयते न तु अदृप्तनिशाचरविधिरिति प्रसज्यप्रतिषेधता।**

(१) जहाँ प्रतिषेध की प्रधानता, (२) विधि की अप्रधानता (३) नञ् का क्रियापद के साथ सम्बन्ध, (४) असमर्थ समास तथा (५) वाक्यभेद हो वहाँ प्रसज्य='पहुँचाकर प्रतिषेध=हटाने' के कारण प्रसज्य प्रतिषेध होता है। कारिका में तीन बातें कही गई हैं और दो आक्षेप द्वारा ऊपर से ले आई जाती हैं। नव=यहाँ दृप्त निशाचर का प्रतिषेध प्रतीत होता है न कि अदृप्त निशाचर की विधि। अतः प्रसज्य-प्रतिषेध हुआ।

इह च पर्युदासाश्रयणमसङ्गतम् अर्थस्यायुक्तत्वप्रसङ्गात्। संरब्धवत्प्रतिषेधो ह्यत्राभिमतः नासंरब्धवद्विधिः, तत्रैव क्रियांशप्रतिषेधावगतौ नञः क्रियाभिसम्बन्धोपपत्तेः। न चासौ प्रतीयते; गुणीभूतसंरम्भनिषेधस्यार्थान्तरस्यैव संरब्धवत्सदृशस्य विधौ प्रतीतेः, न च तत्प्रतीतौ विवक्षितार्थसिद्धिः काचित्। तत्सिद्धिपक्षे च समासानुपपत्तिः, नञर्थस्य विधीयमानतया प्राधान्यादुत्तरपदार्थस्य चानूद्यमानतया तद्विपर्ययात्। समासे च सति अस्य विध्यनुवादभावस्यास्तमयप्रसङ्गात्। यत्र तु विपर्ययस्तत्र समासो भवत्येव। यथा—

'काव्यार्थतत्त्वावगमो न वृद्धाराधनं विना।
अनिष्टवान् राजसूयं कः स्वर्गं मुख्यमश्नुते॥' इति।

यहाँ (असंरब्धवान्) में पर्युदास का मानना ठीक नहीं। उससे अर्थ गलत होने लगता है। यहाँ संरब्धवान् का प्रतिषेध कहना अभीष्ट है न कि असंरब्धवत् की विधि। (संरब्धवान् के प्रतिषेध का कहना अभीष्ट इसलिए है कि) वैसा होने पर ही क्रिया-भाग का प्रतिषेध ज्ञात होता है (और तभी) नञ् का क्रिया से सम्बन्ध बन पाता है। (असंरब्धवत् = करने से) वह प्रतीत नहीं होता, कारण कि विधि में 'संरब्धवत् (व्यक्ति) के समान (व्यक्ति)' इस एक दूसरे ही अर्थ की प्रतीति होती है जिसमें संरम्भ का निषेध गुणीभूत है। उसकी प्रतीति से अभीष्ट अर्थ की कोई प्रतीति भी नहीं होती। उसकी सिद्धि के लिए समास तोड़ना होगा। कारण कि नञर्थ यहाँ प्रधान है क्योंकि वही यहाँ (साध्य) या विधेय है और उत्तरपदार्थ (संरब्धवत्) अप्रधान है क्योंकि वह यहाँ अनूद्यमान या पूर्वविधि है। समास होने पर यह विध्यनुवादभाव समाप्त होने लगता है। जहाँ कहीं ऐसा नहीं होता (निषेध की विधेयता—प्रधानता और विधि की उद्देश्यता—अप्रधानता न होकर निषेध की उद्देश्यता—अप्रधानता और विधि की विधेयता—प्रधानता होती है) वहाँ समास होता ही है। यथा—

'वृद्धाराधन' के विना काव्यार्थ का तत्त्वज्ञान नहीं होता। ऐसा कौन है जो राजसूय यज्ञ किए विना वास्तविक स्वर्ग भोगता हो'—यह।

संरब्धवत्प्रतिषेधो ह्यत्रेति। **संरब्धवान् यः पुरुषस्तद्गता येयं संरब्धता संरम्भणक्रिया तस्य वक्ष्यमाणन्यायेन प्रतिषेध इत्यर्थः।** असंरब्धवद्विधिरिति **संरब्धवत्सदृशस्य संरम्भसदृशक्रियाकर्त्तुरुदासीनप्रायस्य विधिरित्यर्थः। यदुक्तं 'नञिवयुक्तमि'त्यादि।** तत्रेति **संरब्धवत्प्रतिषेधे।** न चासावति **प्रतिषेधति।** तत्सिद्धिपक्ष **इति विवक्षितो यः प्रधानभूतनिषेधलक्षणोऽर्थस्तस्य सिद्धिपक्ष इत्यर्थः।** अस्य विध्यनुवादभावस्येति **नञर्थस्य विधिरुत्तरपदार्थस्यानुवाद इत्यस्य। समासे हि नञर्थोपसर्जन उत्तरपदार्थः प्राधान्येन प्रतीयते।** काव्यार्थेति। **अत्र व्यवच्छेद्यं प्रसज्यप्रतिषेधं प्रदर्श्य परिच्छेद्यं पर्युदासमुदाहरति।**

ननु प्रसज्यप्रतिषेधे नञः क्रियान्वयेऽसंरब्धवानित्यत्र संरम्भक्रियानिषेधो भविष्यति। तत् कोऽत्र दोष इत्याह–क्रियाकर्त्रंशभागिति।

असंरब्धवत्प्रतिषेध अर्थात् संरब्धवान् जो पुरुष उसकी जो संरब्धता अर्थात् संरम्भ-क्रिया आगे कहे जानेवाले क्रम से—उसका प्रतिषेध—(विवक्षित है)।

असंरब्धवद्विधि अर्थात् संरब्धवत् के समान—संरम्भ क्रिया के समान क्रिया का कर्त्ता—जो उदासीन तुल्य हो उसकी विधि। जैसा कि कहा है 'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे'''इत्यादि।

तत्रेति अर्थात्—संरब्धवत् प्रतिषेध में।

न चासाविति (ग्रन्थकार) न चासौ कहकर उसी का प्रतिषेध करते हैं।

तत्सिद्धिपक्ष = अर्थात्—विवक्षित जो प्रधानभूत निषेधस्वरूप जो अर्थ उसकी सिद्धि के लिए।

अस्य विध्यनुवादभावस्य = अर्थात्—नञर्थ की विधि और उत्तरपदार्थ का अनुवाद होने से। समास में नञर्थ को उत्तरपदार्थ अपने भीतर छिपा लेता है और वही प्रधान बन जाता है।

काव्यार्थ—इसमें व्यवच्छेद्य प्रसज्यप्रतिषेध को. दिखलाकर परिच्छेद्य पर्युदास का उदाहरण देते हैं।

(प्रश्न) यदि प्रसज्य प्रतिषेध में नञ् का सम्बन्ध क्रिया के ही साथ होता है तो असंरब्धवत् में (नञ् का अन्वय संरब्ध के भीतर बैठी संरम्भ क्रिया के साथ हो लेगा फलतः) संरम्भ क्रिया का निषेध होगा। तब ऐसा (समास) करने पर भी दोष ही क्या ? इस पर उत्तर देते हैं—

क्रियाकर्त्रंशभागर्थो वाक्येऽपोह्यो नञा यदि।
क्रियांश एवापोह्यः स्यान्नेष्टवानितिवत् तदा॥ ३॥
अकुम्भकार इतिवद् वृत्तौ तु स्याद् विपर्ययः।
इत्येष नियमोऽर्थस्य शब्दशक्तिस्वभावतः॥ ४॥
इत्यन्तरश्लोकौ।

एक ही वाक्य में यदि नञ् के द्वारा ऐसे शब्द का अर्थ हटाया जा रहा हो जिसका एक अंश क्रियात्मक हो और एक कर्त्तात्मक तो हटाया जाता है केवल क्रियात्मक अंश ही; जैसे—'न-इष्टवान्' इत्यादि।

'अकुम्भकार' इत्यादि के समान समास होने पर (यही) बात उलट जाती है। शब्द शक्ति के स्वभाव से अर्थ का यह नियम ही है।

अयं भावः—असंरब्धवानित्यत्र द्वावंशौ क्रियांशः कारकांशश्च। तत्रोभयांशभागर्थ-निषेधे शब्दशक्तिस्वाभाव्याद्वाक्ये क्रियांशनिषेधस्तस्य प्राधान्येन विवक्षितस्यापरामर्शो (...मनुक्ताद्?) विधेयाविमर्शः।

भाव यह कि—असंरब्धवान्—यहाँ दो अंश हैं एक क्रियांश और दूसरा कारकांश। दोनों में—दोनों से युक्त अर्थ का निषेध प्राप्त होने पर शब्दशक्ति के स्वभाववश वाक्य में क्रियांश—मात्र का निषेध होता है। उसी की प्रतीति प्रधानरूप से न होने के कारण विधेयाविमर्शदोष हुआ।

विमर्श—वाक्य में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनके अर्थ में क्रिया और कारक दो तत्त्व संपुटित रहते हैं। उदाहरणार्थ—यही 'संरब्धवान्' इसमें संरम्भक्रिया—है और 'क्तवतु' प्रत्यय है कारक। दोनों के संपुट से संरब्धवान् शब्द बना है। इसमें यदि नञ् का संबन्ध करना हो तो क्रियाकारक में से किसके साथ किया जाय—यह प्रश्न है। पूर्वपक्षी ने यह चाहा था कि क्रिया के साथ ही नञ् का अन्वय किया जाय और ऐसा करके उसने सिद्ध करना चाहा था कि 'असंरब्धवत्' में पर्युदास नहीं अपितु जिसकी अपेक्षा है वही प्रसज्यप्रतिषेध है। उत्तरपक्षी ने पूर्वपक्षी की आधी बात मान ली। उसने यह तो मान लिया कि नञ् का संबन्ध क्रियांश के साथ ही होता है।

किन्तु उसकी व्यवस्था उसने दूसरी ही दी। उसने पूर्वपक्षी के विरुद्ध यह माना कि नञ् का संबन्ध क्रियांश से होता है किन्तु वह परम्परया। न कि साक्षात्। उसके लिए पहले—अस्ति आदि क्रिया का आक्षेप किया जाता है। उसमें नञ् का सम्बन्ध होता है। उस क्रियांश के साथ प्रत्यय से (जैसे संरब्धवान् में क्तवतु से) प्रतीत कर्त्ता का और तब कर्त्ता में विशेषण रूप से प्रविष्ट क्रियांश का। इस प्रकार ऐसे स्थलों में दो क्रियाएँ मानी जाती हैं। एक कर्त्ता में गुणीभूत और एक स्वयं आक्षिप्त। इनमें से नञ् का सम्बन्ध आक्षिप्त क्रिया के साथ होता है फिर उस क्रिया के साथ कर्त्ता का और कर्त्ता के माध्यम से उसमें गुणीभूत—क्रिया का। इस प्रकार नञ् का सम्बन्ध क्रियांश से होने पर भी उस क्रियांश से नहीं होता जो कर्त्ता में गुणीभूत होता है। उदाहरणार्थ 'इष्टवान् न' इसमें यज् क्रिया का अर्थ है याग। इष्टवान् का अर्थ है 'याग कर चुका' व्यक्ति। उसका संबन्ध है 'न' से। इस वाक्य में अस्ति क्रिया का अध्याहार होता है। तब अर्थ—निकलता है कि 'जो याग नहीं कर चुका है। उनमें नञ् का संबन्ध अस्ति के अर्थ 'है' से होता है। 'कर चुका' इस कर्त्तांश का—उस क्रियाऽभाव के साथ और 'याग कर चुका' में प्रविष्ट 'याग' या यजन क्रिया का भी कर्त्ता के माध्यम से उसी क्रियागत अभाव के साथ। ऐसा नहीं कि 'न' इसका संबन्ध सीधे 'इष्टवान्' के 'यजन' क्रियार्थ से हो जाए। समास करने पर गुणीभूत क्रिया के साथ नञ् का संबन्ध होता है। प्रधान 'अस्ति आदि क्रिया के साथ नहीं, फलतः नञ् की प्रधानता नष्ट हो जाती है। 'अकुम्भकार' में कुम्भकर्तृत्व का अभाव प्रतीत होता है। 'अस्तिक्रिया' का अभाव नहीं। यद्यपि कुम्भ का बनाना भी एक क्रिया है और उसके साथ नञ् का सम्बन्ध है तथापि यहाँ प्रसज्यप्रतिषेध नहीं माना जा सकता कारण कि प्रसज्यप्रतिषेध क्रियांश के साथ सम्बन्ध के अतिरिक्त नञ् की प्रधानता भी चाहता है। यहाँ वह प्रधानता नहीं है। उसकी प्रधानता प्रधान क्रिया के साथ संबन्ध किए जाने पर ही संभव है। इसी प्रकार—'इष्टवान् न' और 'अकुम्भकार' दोनों में क्रियांश के साथ नञ् का संबन्ध बराबर होने पर भी स्थिति भिन्न है। प्रथम में नञ् का संबन्ध प्रधान क्रिया 'अस्ति' के साथ होता है अतः वह प्रधान होता है। द्वितीय में गुणीभूत क्रिया—'कुम्भकर्तृत्व' में अतः वह अप्रधान होता है। ठीक इसी प्रकार 'असंरब्धवान्' में भी नञ् का संबन्ध संरम्भक्रिया के साथ होते हुए भी उसमें प्रधानता नहीं आ पाती। कारण कि 'संरम्भण' क्रिया गुणीभूत है, कर्त्ता के गर्भ में तिरोहित है। प्रधान क्रिया है 'अस्ति'। यदि अस्ति के साथ नञ् का संबन्ध होता तो नञ् की प्रधानता होती और प्रसज्यप्रतिषेध माना जाता।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रसज्यप्रतिषेध में नञ् की प्रधानता रहती है। उसका संबन्ध प्रधानक्रिया से सीधे होता है। पर्युदास में नञ् प्रधान नहीं रहता और उसका क्रिया से संबन्ध होता है किन्तु—अप्रधान क्रिया से। प्रधान क्रिया से भी संबन्ध होता है किन्तु सीधे-सीधे नहीं। दूसरों के सहारे—परम्परया। असंरब्धवान् में नञ् की प्रधानता और प्रधानक्रिया से सीधा संबन्ध—अपेक्षित थे अतः प्रसज्यप्रतिषेध का उपयोग—अपेक्षित था। परन्तु कर दिया पर्युदास का उपयोग, फलतः न नञ् की प्रधानता रही और न नञ् का प्रधानक्रिया से सीधे संबन्ध ही हो सका। इसीसे यहाँ विधेय = प्रधान का अविमर्श = प्राधान्येन प्रधानरूप से ज्ञान न होने के कारण विधेयाविमर्श दोष होगा।

जिस प्रकार प्रसज्यप्रतिषेध में समास मान्य नहीं उसी प्रकार पर्युदास में भी समास नहीं चाहिए—इस प्रकार की शंकापर उत्तर देते हुऐ कहते हैं—

तत्रापि केचिद्व्यामोहान्न समासमाद्रियन्ते। यथा—

'ननु साधु कृतं प्रजासृजा शशिकान्तेषु मनो न कुर्वता।
न हि चेतनतामवाप्य ते विरमेयुर्गलितेन केवलम्॥'

यथा वा—

'गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि' इति।

वहाँ (पर्युदास में) भी कुछ लोग भ्रमवश समास छोड़ देते हैं। जैसे—'चलो ठीक ही किया विधाता ने, जो शशिकान्तमणियों में मन नहीं बनाया। चेतनता पाकर वे गलने भर से न रुकते।' और—'परिभव के भय से उचित न होते हुए भी जिसने तुम्हें ग्रहण किया।'

यथा च प्रसज्यप्रतिषेधे समासो नेष्टस्तथोक्तनयेन पर्युदासेऽप्यसमासो नेष्यत इत्याह— ननु साध्विति। अत्र 'न कर्वते'ति **करणक्रियाकर्तृसदृशेन क्रियां प्रत्युदासीनप्रायेणेत्यर्थः। अकुर्वतेति वाच्ये न कुर्वतेति क्रियांशनिषेधः। प्रतीतेर्वैपरीत्यकारी। एवं** नोचितमपी-**त्युचितत्वमात्रनिषेधः प्रतीतेर्वैपरीत्यकृदेव।**

ननुसाधु—इसमें 'नकुर्वता' का अर्थ है—'करना' रूपी क्रिया के कर्त्ता के समान बनते हुए अर्थात वस्तुतः क्रिया के प्रति उदासीन रहते हुए। कहना—था 'अकुर्वता'। कहा गया 'न कुर्वता'। (उससे) 'कुर्वता' के क्रियांश का निषेध (चाहा गया) किन्तु इस प्रकार के प्रयोग से वह प्रतीति में विपरीतताकारी बन बैठा।

इसी प्रकार 'नोचितमपि' में औचित्यमात्र का निषेध चाहिए था। वह 'न उचितम्' करने पर उलटा ज्ञान पैदा करने वाला बन गया।

विमर्श—जहाँ नञ् अप्रधान होना चाहिए अतः नञ् का उत्तरपद से समान किया जाना चाहिए, कुछलोग वहाँ भी भ्रमवश समास नहीं करते। जैसे—'न कुर्वता साधु कृतम्' वाक्य का अर्थ हिन्दी में होगा 'उसने न करते हुए ठीक किया।' किन्तु इस अर्थ के लिए 'न' को अलग रखकर 'न कुर्वता....' वाक्य बनाने पर इसके विरुद्ध अर्थ भी निकल सकता है अर्थात् यह भी कहा जा सकता है कि 'करते हुए ठीक नहीं किया।' यह प्रतीति ऊपर की प्रतीति से ठीक उलटी है। यदि 'न' का संबन्ध 'कुर्वता' के साथ समास में कर दिया जाता तो द्वितीय उलटी प्रतीति न होती। वस्तुतः 'ठीक ही किया' यही अर्थ विवक्षित है और इसीलिए 'न' का संबन्ध 'कुर्वता' के साथ मान्य है। वह 'अकुर्वता' इसप्रकार समास करने पर भी प्रतीत हो सकता था, और लाभ यह था कि 'ठीक नहीं किया' यह अर्थ प्रतीत न होता। 'न कुर्वता' इस प्रकार समास न करने से दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'उचित न होते हुए भी जिसने तुम्हें अपनाया।' इस अर्थ में 'अनुचित होते हुए भी......' कहना अभीष्ट है। इसकी प्रतीति 'न' को उचित से पृथक् कर रखने में हो तो जाती है किन्तु तब 'न' का संबन्ध ग्रहण के साथ भी किया जा सकता है जिससे 'उचित होते हुए भी जिसने तुम्हें नहीं अपनाया' अर्थ भी निकल सकता है। 'यदि अनुचितमपि गृहीतम्—अनुचित होने पर भी लिया' कह दिया जाता तो वैसी प्रतीति न होती। यहाँ 'न' का अर्थ गौण है। अतः 'न' को समास में उत्तरपद के साथ जुटा कर रखना ही ठीक है। यद्यपि हिन्दी में 'उचित न होते हुए भी ग्रहण किया' वाक्य ऐसा है जिससे कोई दूसरा अर्थ नहीं निकल सकता तब भी संस्कृत में 'न उचितमपि गृहीतम्' वाक्य ऐसा है जिसमें 'न' को 'गृहीत' तक पहुँचने में कोई रुकावट नहीं होती। कारण कि संस्कृत का यह वाक्य अधूरा है। इसमें एक शब्द की कमी है। वह है उचित का पूरक सत्। कहना चाहिए था

'उचितं न सदपि येन गृहीतम्।' इससे 'न' सत् का संबन्ध काट कर 'गृहीत' के पास नहीं पहुँचता। पर संस्कृत वाक्य में सत् की कोई आवश्यकता न समझ 'न उचितमपि गृहीतम्' इतना ही कह दिया गया। हिन्दी वाक्य में 'सत्' का अर्थ 'होते हुए' वाक्य में दिया जाता है 'उचित न होते हुए' भी इसलिए हिन्दी वाक्य में 'न' टस से मस नहीं होता। परन्तु संस्कृत के समान यदि हिन्दी—वाक्य से भी 'होते हुए' निकाल दिया जाय तो उससे भी विरुद्ध प्रतीति होने लगेगी 'न उचित भी अपनाया' तो हिन्दी में कहा नहीं जाता और 'उचित भी न अपनाया' में 'न' 'अपनाया' से जुड़ता है फलतः उलटी प्रतीति होती है। अतः एक मात्र यही उपाय रहता है कि 'न' को अलग न रखकर उचित के साथ उसे जोड़ दिया जाय 'अनुचित भी अपनाया'—कहा जाय। इसमें 'होते हुए की अवश्यकता नहीं रहती और 'न' का प्रधानक्रिया 'अपनाया' से योग नहीं होता। इसीप्रकार संस्कृत में भी या तो 'सत्' शब्द का उपयोग होना चाहिए या फिर 'न' का उत्तरपद से समास कर देना चाहिए। वैसा नहीं किया गया, अतः विवक्षित प्रतीति के साथ अविवक्षित—विरुद्ध प्रतीति भी होती है। इसका एक मात्र कारण—पर्युदास में भी नञ् समास की उपेक्षा है।

इसी प्रकार 'न कुर्वता' में 'न' को 'कृतम्' से रोकने वाला 'सता' शब्द नहीं है। हिन्दी में 'न करते हुए' में 'हुए' शब्द 'सता' का स्थानापन्न शब्द है। अतः वह 'कृतम्' इस प्रधान क्रिया से सम्बन्धित होते हुए रुक जाता है। यदि हिन्दी वाक्य से 'हुए' हटा दिया जाय तो 'न करते ठीक किया' को 'करते—ठीक नहीं किया' भी बनाया जा सकेगा। अतः 'न कुर्वता' न कहकर 'अकुर्वता' कहना चाहिए। यद्यपि संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'न कुर्वता' भी समस्तपद माना जा सकता है। परन्तु 'अकुर्वता' के समान—वह असमस्त नहीं माना जा सकता हो ऐसी बात नहीं। विरुद्ध प्रतीति के भय से 'न कुर्वता' में समास की कल्पना करनी पड़ती है। आपाततः तो—दोनों पद अलग ही प्रतीत होते हैं।

यहाँ 'व्यक्तिविवेक व्याख्यान' की 'अकुर्वतेति वाच्ये न कुर्वतेति क्रियांशप्रतिषेधः। प्रतीतेवैंपरीत्यकारी। एवं नोचितमपीत्युचितत्वमात्रनिषेधः प्रतीतेवैंपरीत्यकृदेव' इन दो पंक्तियों में कुछ शब्दों की कमी मालूम पड़ती है। हमने '···न कुर्वतेत्युक्ते क्रियांशनिषेधः प्रधानक्रियाप्रतिषेधप्रत्यायकत्वात् प्रतीतेवैंपरीत्यकारी' ऐसा और 'एवं नोचितमपीत्युक्तोचितत्वमात्रनिषेधः प्रतीतेवैंपरीत्यकृदेव'—ऐसा पाठ माना है।

ननु 'अश्राद्धभोजी' त्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि यथा समास इष्यते तद्वदिहापि भविष्यति, संरब्धवन्निषेधश्च प्रतिपत्स्यते न असंरब्धवद्विधिरिति प्रसज्यप्रतिषेध एवायमस्तु किं पर्युदासाश्रयणेन। नैवं शङ्क्यम्, यतो न तावदत्र नञः श्राद्धेनोत्तरपदार्थेनाभिसम्बन्धः कश्चित् प्रतीयते, अपि तु विशेष्यतया प्राधान्येन तद्भोज्यर्थेनैव। तत्रापि कर्त्रंश एव प्रधानम्, न क्रियांशः। श्राद्धभोजनशीलो ह्यतः कर्ता प्रतीयते न तद्भोजनमात्रम्, कर्त्तरि णिनेर्विधानात्।

जैसे—'अश्राद्धभोजी'—इस जगह प्रसज्यप्रतिषेध होने पर भी समास मान्य होता है उसी प्रकार (असंरब्धवान्) यहाँ भी होगा और संरब्धवान् का प्रतिषेध ही प्रतीत होगा, असंरब्धवत् की विधि नहीं। इस प्रकार यहाँ प्रसज्यप्रतिषेध ही माना जाय, पर्युदास को गले लगाने से

क्या ? (उत्तर) ऐसी शंका नहीं की जानी चाहिए, कारण कि यहाँ (अश्राद्धभोजी में) नञ् का श्राद्ध—इस उत्तरपदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता, अपितु उस (श्राद्ध) का भोजी इस—'भोजी' के साथ प्रतीत होता है, कारण कि भोजी ही प्रधान है क्योंकि वह यहाँ विशेष्य है। वहाँ ('भोजी' में) भी कर्त्रंश (णिच् प्रत्यय से प्रतीत भोजकर्त्ता) ही प्रधान है न कि (भुज) क्रियांश इससे—श्राद्धभोजन करने वाला कर्त्ता प्रतीत होता है, केवल श्राद्धभोजनमात्र नहीं। क्योंकि 'कर्त्ता' के लिए णिनि प्रत्यय किया गया है।

ततस्तदभिसम्बन्ध एव शाब्दो न क्रियाभिसम्बन्धः। स हि सामर्थ्या-दवसीयते, तदुपादानमन्तरेण कर्तृत्वानुपपत्तेः। तच्छ्रवणमात्रविप्रलम्भ-कृतश्चायं प्रसज्यप्रतिषेधभ्रमः, न पुनराञ्जस्येन तत्र तद्रूपता नाम काचित् सम्भवति। सा हि वाक्यादेवावसीयते न वृत्तेः, तयोः सिद्धसाध्यार्थ-निष्ठतया भिन्नार्थत्वादिति भवितव्यमेव तत्र समासेन। एवमसूर्यपश्यादि-ष्वपि द्रष्टव्यम्। इह तु प्रतिषेधस्य प्राधान्यविवक्षा, न विधेः। तत् कोऽव-काशः समासस्य। यथा—

'भुङ्क्ते सदा श्राद्धमयं परांश्चोपतापयेदित्ययथार्थमेव।
सम्यक् स्वभावोऽवगतोऽस्य यावन्न श्राद्धभोजी न परोपतापी॥' इत्यत्र।

अत्र हि प्रतीयमानसत्तादिक्रियासमन्वयो नञर्थस्य प्राधान्येन प्रतीयते। न तु तद्विशिष्टस्योत्तरपदार्थस्य विधिरित्येष एव प्रसज्यप्रतिषेधविषयो युक्तो नान्यः अन्यथात्रापि समासवैशसोपगमप्रसङ्गः पूर्ववत् दुर्निवारः स्याद् विशेषाभावात्।

तस्मादस्य नञो विधेयार्थनिष्ठतया प्रधानस्यानूद्यमानार्थपरतया तद्विप-रीतवृत्तिना संरब्धवत्पदेन सदाचारनिरतस्येव पतितेन वृत्तिर्विद्वद्भिर्नेष्यत एवेति स्थितम्।

नञर्थस्य विधेयत्वे निषेध्यस्य विपर्यये।
समासो नेष्यतेऽर्थस्य विपर्यासप्रसङ्गतः॥ ५॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

इस कारण शब्द द्वारा उस (कर्त्रंश) के साथ ही सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्रिया के साथ नहीं। वह (क्रिया के साथ सम्बन्ध) तो (अपने आप) वाक्यार्थ के बल से प्रतीत हो जाता है, कारण कि (कर्त्ता का) कर्तृत्व क्रिया के बिना बनता नहीं। उस (क्रियांश) का शब्द द्वारा कथन होने से ही यह प्रसज्यप्रतिषेध का भ्रम हो उठा है। वस्तुतः वहाँ (अश्राद्धभोजी में) तद्रूपता (प्रसज्यप्रतिषेध रूपता) बनती नहीं। उसकी प्रतीति तो एकमात्र वाक्य से होती है। समास से नहीं। क्योंकि वे दोनों (वाक्य और समास) भिन्नार्थक होते हैं। वाक्य साध्यार्थक होता है और समास सिद्धार्थक। इसलिए वहाँ (अश्राद्धभोजी पर्युदास में) तो समास होना ही चाहिए। इसी प्रकार असूर्यपश्या आदि में समझना चाहिए। यहाँ (असंरब्धवत्) में

तो प्रतिषेध की प्रधानता विवक्षित है, विधि की नहीं। इसलिए (वहाँ) समास का मौका ही कहाँ ? जैसे यहाँ—

'यह सदा श्राद्ध खाता है। अतः शत्रुओं को भी परास्त कर सके—यह सर्वथा झूठ है। इसका स्वभाव ठीक से जान लिया गया है कि जबतक—श्राद्धभोजी नहीं होता तबतक परोपतापी भी नहीं होता।'

यहाँ नञ् का सम्बन्ध 'अस्ति' आदि सत्तावाचक क्रियाओं से ही प्रतीत होता है। नत भी प्रधान होकर उस (नञ्) से विशिष्ट उत्तरपदार्थ की विधि नहीं। अतः यही उदाहरण प्रसज्य-प्रतिषेध का ठीक स्थल समझा जाना चाहिए। और कोई नहीं। नहीं तो यहाँ भी (भुङ्क्ते सदा श्राद्धमयं में भी) समास वैशस—समासजन्य विवक्षितार्थघात स्वीकार करना पड़ जायगा। जैसे पहले (अश्राद्धभोजी) स्वीकार किया था। कारण कि अन्तर तो कोई है नहीं।

इसलिए इस (असंरब्धवत् के) नञ् का संरब्धवत् पद के साथ सम्बन्ध विद्वज्जन उसी प्रकार नहीं ही मानते जिस प्रकार सदाचारी का पतित के साथ, कारण कि नञ् विधेय-अर्थ-परक होने से प्रधान है, और 'संरब्धवत्' पद उद्देश्य-अर्थ परक होने से उससे विरुद्ध अप्रधान।

इस सम्पूर्ण विवेचन का संग्रह इस प्रकार होगा—

'जब नञर्थ (निषेध) प्रधान हो और निषेध्य अर्थ अप्रधान हो तब समास नहीं माना जाता। उससे वाक्यार्थ में उलट-फेर की सम्भावना होने लगती है।'

तच्छ्रवणं **क्रियाश्रवणम्। तयोरिति सिद्धार्था वृत्तिः। साध्यार्थं वाक्यम्। असूर्यंपश्यादिष्विति। अत्रापि नञः सूर्येणोत्तरपदार्थेन नाभिसम्बन्धः, अपितु तद्द्रष्टर्थेनैव। तत्रापि कर्त्रंशः प्रधानं न क्रियांशः कर्त्तरि खशो विधानादिति पूर्ववदवसेयम्।**

भुङ्क्ते इति। अत्र हि वाक्यस्य क्रियाप्राधान्यं प्रतीयमानभवत्यादिक्रियाभिः क्रियापेक्षे नञः समन्वये श्राद्धभोजी न भवतीति वाक्यार्थः। अश्राद्धभोजीत्यत्र तु नञा भोक्तृसमन्वये श्राद्धभोक्तृव्यतिरिक्तोऽपि विघसाशयादिः प्रतीयते। यतश्चात्र अश्राद्धभोजीत्यादौ समासे प्रतिषेधो नेष्टः, तत एव समर्थसमासस्तद्विपर्ययेणासमर्थसमासश्च कारिकाद्वयेनोक्तः। वाक्यभेदाभेदयोस्तु सामर्थ्यात् प्रतीतिरित्यवचनम्।

तच्छ्रवण = उसका श्रवण अर्थात् क्रिया का शब्द तक कथन।

अर्थात् समास सिद्धार्थ होता है। वाक्य साध्यार्थ।

असूर्यंपश्यादिषु = यहाँ भी नञ् का उत्तरपदार्थ सूर्य के साथ सम्बन्ध नहीं होता अपितु उसके द्रष्टा रूपी अर्थ के साथ ही उसमें कर्त्रंश प्रधान है। क्रियांश नहीं। कारण कि कर्त्ता-अर्थ में खश् प्रत्यय का विधान किया गया है। इस प्रकार पूर्ववत् संगति लगानी चाहिए।

भुङ्क्ते = इस श्लोक में वाक्यार्थ है—'श्राद्धभोजी नहीं है'। यह वाक्य है अतः इसमें क्रिया की प्रधानता है, और नञ् का सम्बन्ध भवति आदि उन क्रियाओं से होता है जो (श्लोक में कथित न होने से) ऊपर से लाई जाती है। इसके विरुद्ध 'अश्राद्धभोजी'—इत्यादि में नञ् का सम्बन्ध होता है भोक्ता से। तब श्राद्धभोक्ता से भिन्न—विघसाशी आदि भी प्रतीत होते हैं। और इसीलिए यहाँ समर्थ-समास भी है, क्योंकि 'अश्राद्धभोजी' इत्यादि समास में प्रतिषेध (निषेध) विवक्षित नहीं है। इसके विरुद्ध असमर्थसमास पिछली दो कारिकाओं द्वारा बतलाया गया है। (समास करने से वाक्य एक ही रहता है, समास न करने से वाक्य दो हो जाते हैं—ये जो)

पभेद तथा वाक्य की एकता (हैं वे स्वयं ही आकांक्षा आदि के) बल से समझ में आ जाती मतः उनको नहीं कहा गया।

विमर्श : आचार्य ने यह स्थिर किया था कि प्रसज्यप्रतिषेध में समास नहीं होता। क्योंकि में नञ् प्रधान होता है। 'असंरब्धवत्' में नञ् प्रधान है अतः उसे समास में डालकर गत करना –विधेयाविमर्श दोष है। प्रतिपक्षी ने प्रसज्यप्रतिषेध में भी समास का अस्तित्व करना चाहा। उसने एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया जिसमें कारक और क्रिया दोनों थे और उन दोनों में से उसके अनुसार नञ् का अन्वय क्रियांश से था। वह उदाहरण –'अश्राद्धभोजी'। इसमें 'अ' यह नञ् है। श्राद्धकर्मक भोजन—क्रिया है और णिनिप्रत्यय कारक का वाचक। प्रतिपक्षी यहाँ नञ् 'अ' का सम्बन्ध 'श्राद्धभोजन'-क्रिया से मानता प्रसज्यप्रतिषेध में 'नञ्' का सम्बन्ध क्रिया से ही होता है, अतः उसकी स्थापना है कि समास तो है ही—प्रसज्यप्रतिषेध भी है। इसलिए असंरब्धवत् में भी प्रसज्यप्रतिषेध के साथ स सदोष नहीं।

आचार्य का उत्तर है कि 'अश्राद्धभोजी' में नञ् का सम्बन्ध क्रियांश से नहीं होता। कांश से ही होता है। यहाँ कारक दो हैं। एक श्राद्ध और दूसरा 'णिनि' प्रत्यय से प्रतीत भोजन का कर्त्ता। इनमें से नञ् का सम्बन्ध श्राद्ध-रूपी कारकांश से न होकर कर्त्ता-रूपी प्रत्ययार्थ कारकांश से होता है। (ऐसी स्थिति में उसका अर्थ हो जाता है—श्राद्ध के समान 'विघस'—भोजन के बाद शेष रहा थाली का उच्छिष्ट आदि खाने वाला।) कारण कि कारकांश प्रधान है, क्योंकि वही एक विशेष्य है अन्य—श्राद्ध, भोजन—विशेषण हैं। नञ् कभी भी विशेषण में अन्वित नहीं होता। सभी विशेषण केवल विशेष्य में अन्वित होते इसी प्रकार 'असूर्यंपश्या'—'सूर्य को देखने वाली' में भी नञ् का अन्वय—'देखने वाली' शब्दों से प्रतीत द्रष्टा में होता है।

इसलिए वस्तुतः 'अश्राद्धभोजी' में भी पर्युदास ही है। प्रसज्यप्रतिषेध नहीं। यदि प्रसज्य-षेध का प्रयोग करना हो तो 'न श्राद्धभोजी'—'श्राद्ध-भोजी नहीं' इस प्रकार नञ् को त्र रखना होगा। ग्रन्थकार ने इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए 'भुङ्क्ते सदा''' यह उदाहरण यत्त किया है।

निष्कर्ष यह कि प्रतिपक्षी द्वारा प्रतिपादित प्रसज्यप्रतिषेध में नञ् के समास का औचित्य नहीं हुआ। फलतः उसके दृष्टान्त से 'असंरब्धवत्' में भी प्रसज्यप्रतिषेध में समास का त्य सिद्ध नहीं हुआ। निदान यहाँ से विधेयाविमर्श दोष—हट नहीं सका।

प्रस्तुत प्रकरण के मूल ग्रन्थ की—'अन्यथात्रापि समासवैशसोपगमप्रसङ्गः पूर्ववत् दुर्निवारः ;'—इस पंक्ति में—दो कठिनाई हैं—एक तो 'अत्र' सर्वनाम का परामर्श विषय समझना दूसरी—समासवैशसोपगमप्रसङ्गः में 'समासवैशस' का अर्थ = समासकृत—वैशस अथवा त विषयक वैशस'। हमने 'अत्र' का परामर्श विषय 'भुंक्ते सदा श्राद्ध' पद्य का 'न श्राद्धभोजी' माना है और इसी के अनुसार 'समासवैशस—का अर्थ समासजनित या समासकृत— । कारण कि वही सन्निकृष्ट और प्रसङ्ग में तात्कालिक है।

एवमेकं विधेयाविमर्शं विचार्य द्वितीयमुदाहरति—योऽसावित्यत्रेति। **तच्छब्दं प्रत्याका-यतः केनाप्यनिवर्त्तनात्।**

इस प्रकार एक विधेयाविमर्श का विचार कर दूसरे (विधेयाविमर्श) को दिखलाते हैं—योऽसावित्यत्र इत्यादि द्वारा। (अर्थात् वहाँ केवल यद् का प्रयोग अधूरा है) कारण कि (वहाँ यद् शब्द की) तद् शब्द के प्रति जो आकांक्षा है उसे दूर करने वाला कोई नहीं है।

किञ्च योऽसावित्यत्र यदः केवलस्यैव प्रयोगोऽनुपपन्नः। यत्र यत्तदोरेकतरनिर्देशेनोपक्रमस्तत्र तत्प्रत्यवमर्शिना तदितरेणोपसंहारो न्याय्यः तयोरप्यनुवाद्यविधेयार्थत्वेनेष्टत्वात् तयोश्च परस्परापेक्षया नित्यत्वात्। अत एवाहुः–'यत्तदोर्नित्यमभिसम्बन्ध' इति। स चायमनयोरुपक्रमोपसंहारो द्विविधः शाब्दश्चार्थश्चेति। तत्रोभयोरुपादाने सति शाब्दः। यथा—

'यदुवाच न तन्मिथ्या यद् ददौ न जहार तत्।'

यथा च—

'स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः स पूज्यकर्मा सुहृदां शृणोति यः।' इति।

और भी, 'योऽसौ' इस प्रकार केवल 'यद्' शब्द का ही प्रयोग अधूरा रहता है। जहाँ (कहीं) 'यद्' में से किसी एक के निर्देश से (वाक्य) आरम्भ होता है वहाँ उसके प्रत्यवमर्शी दूसरे के निर्देश से ही उपसंहार करना उचित है। कारण कि वे दोनों (यद् और तद्) भी अनुवाद्य और विधेय पदार्थों के लिए प्रयुक्त होते हैं। और उनमें दोनों एक दूसरे की आकांक्षा सदा रखते हैं। इसलिए कहा है—यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः—यद् और तद् का सम्बन्ध नित्य है।

इन दोनों का जो यह उपक्रम और उपसंहार (का क्रम) है वह भी 'शाब्द और आर्थ' इस प्रकार दो प्रकार का होता है। दोनों में से शाब्द वह होता है जिसमें दोनों (यद् और तद्) शब्दोपात्त होते हैं। यथा—

'जो कह दिया वह झूठा नहीं किया और जो दे दिया उसे लौटाया नहीं।'

और जैसे—

'वह दुर्मति है जिसका झुकाव श्रेय की ओर नहीं। उसका कार्य पूज्य है जो सुहृज्जनों की सुनता है'

एकतरेति। **क्वचिद्यच्छब्देनोपक्रमे तच्छब्देनोपसंहारः। क्वचित्तच्छब्देनोपक्रमे यच्छब्देनोपसंहारः प्रसज्येत। एतच्च द्वयं शाब्दोपक्रमोपसंहारक्रमेणोदाहरिष्यति।** तयोरपीति। **अपिशब्दो नञर्थं समुच्चिनोति। प्रसज्यप्रतिषेधे हि नञर्थो विधेयो निषेध्योऽर्थोऽनुवाद्यः। पर्युदासे तु विपर्यय इत्युक्तं प्राग्।** अनुवाद्यविधेयेति। **यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धेऽपि शब्दशक्तिस्वाभाव्याद् यदोऽनुवाद्यविषयत्वम्।** नित्यत्वादिति। **अपेक्षाप्राणतयावस्थानात्।** शाब्द **इति शब्देनोभयोः संस्पर्शात्। उभयोः संस्पर्शाभाव आर्थत्वम्। तत्र द्वयी गतिः अन्यतरानुपादानं [द्वयोरनुपादनञ्चेति] द्वयोरनुपादानमपि यत्तदाश्रयभावेन द्विधा। क्रमेण चैतदुदाहरिष्यति।**

कहीं आरम्भ में 'यद्' शब्द रहता है तो उपसंहार 'तद्' शब्द से होता है। कहीं आरम्भ में 'तद्' शब्द रहता है तो उपसंहार 'यद्' शब्द से होता है। इन दोनों के उदाहरण उपक्रमोपसंहार क्रम के शाब्द-भेद के प्रसङ्ग में देंगे।

इसमें अपि शब्द 'नञर्थ' का समुच्चय करता है। जैसे कि पहले कहा है—प्रसज्यप्रतिषेध

में नञर्थ (निषेध) विधेय होता है और निषेध्य अर्थ अनुवाद्य या उद्देश्य और पर्युदास में इसके विरुद्ध ।

यद् और तद् का सम्बन्ध नित्य होने पर भी शब्द की शक्ति का कुछ ऐसा स्वभाव है कि यद् का विषय अनुवाद्य रहता है—और 'तद्' का विधेय ।

नित्य होने से अर्थात् अपेक्षा को प्राणतुल्य अपनाकर सम्बन्धित रहने से ।

दोनों का कथन शब्द से होने के कारण। दोनों ही शब्द से कथित न होने से आर्थ (अर्थात्—एक का शब्द से कथन हो दूसरे का नहीं)। उसमें (आर्थत्व में) भी दो प्रकार होते हैं—दो में से एक का अनुपादान—शब्द से कथन न होना और दोनों का ही अनुपादान—शब्द से कथन न होना। दोनों का अनुपादान भी दो तरह का होता है यद्—को लेकर और तद् को लेकर ।

विमर्श : व्यक्तिविवेककार—'संरम्भः करिकीट' पद्य में दूसरा विधेयाविमर्श दोष दिखलाते हैं। वह है यद् और तद् शब्द के आधार पर। यद् (जो) और 'तद्' (वह—या—सो)—दोनों ऐसे सर्वनाम हैं—जिनका सम्बन्ध प्रत्येक वाक्य में बना ही रहता है। जिस भी वाक्य में 'यद्' का प्रयोग होगा उसमें 'तद्' की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार जिस वाक्य में तद् का प्रयोग होगा उसमें यद् की। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि दोनों में से उपादान एक का ही होता है। परन्तु दूसरे की अपेक्षा वहाँ भी होती है। पाठक उसे अपने आप आक्षेप द्वारा खींच लाता है। परन्तु उसकी कुछ खास स्थितियाँ होती हैं जिन्हें अभी-अभी आगे स्वयं ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है। ऐसी स्थिति में जब कभी उन स्थितियों के नियमों के न होते हुए भी यद् या तद् में से किसी एक का ही उपादान होता है तो दूसरे के विना वह वाक्यार्थ अधूरा पड़ा रह जाता है। तब दो दोष होते हैं—यद् का उपादान न होकर केवल तद् का उपादान होने से 'वाच्यावचन' और तद् का उपादान न होकर केवल यद् का उपादान 'विधेयाविमर्श'। कारण कि यद् पूर्वोक्त वस्तु का ज्ञान कराता है, वह किसी नवीन वस्तु का ज्ञापक नहीं, अतः वह अनुवाद्य विषयक—कहलाता है। अनुवाद्य का अर्थ है अनुवाद के योग्य अर्थात् जिसका कथन हो चुका है, अब केवल उसका उल्लेखमात्र कर देना है। अतः वह अप्रधान होता है। कारण कि वह सदा अप्रधानवाक्य में ही प्रयुक्त होता है। तद् सर्वदा नवीन वस्तु का ज्ञापक बनकर आता है। यह नवीन वस्तु—होती तो वही है जिसे पहले उपवाक्य में यद् कह चुकता है, किन्तु तद् द्वारा कहे जाते समय वह अनुवाद्य नहीं रहती। उसका सम्बन्ध प्रधान क्रिया से हो जाता है अतः वह विधेय कहलाती है। वाक्य में विधेय ही प्रधान होता है और यद् नवीन रूप से उपस्थित होता है। पिछले दिए उदाहरण में कहा गया 'उसे झूठा नहीं किया' जिज्ञासा हुई क्या ? या किसे ? इससे स्पष्ट है कि श्रोता को अभीतक 'उसे झूठा नहीं किया' इस क्रिया का कर्म विशेष रूप से ज्ञात नहीं है। वक्ता जब कहेगा तब ज्ञान होगा। ज्ञान होने के बाद यह साबित होगा कि वस्तु वह उसकी पूर्वानुभूत है। जैसे इसी वाक्य में वक्ता ने कहा—'जिसे कह दिया'। अर्थ निकला 'जिसे कह दिया—उसे झूठा नहीं किया'। श्रोता को ज्ञात हुआ कि 'झूठा न करने' का कर्म कथित 'वचन' था। वचन का ज्ञान श्रोता को पहले से था, इसीलिए उसने 'वचन' के लिए कोई जिज्ञासा प्रकट नहीं की। इस प्रकार 'तद्' शब्द द्वारा कथित पदार्थ—नवीन और प्रधान क्रिया से सम्बन्धित होने के कारण प्रधान होता है।

'यद्' के रहने से अनुवाद्य का ज्ञान जैसा स्पष्ट चाहिए वैसा नहीं हो पाता। तद् के प्रयोग में

अनुवाद्य का स्पष्ट कथन आवश्यक है और अनुवाद्य के लिए 'यद्' का कथन। इस प्रकार अवश्यकथनीय यद् शब्द का कथन न होने से वाच्यावचन दोष होता है कारण कि वाच्य का अर्थ होता है अवश्यकथनीय और अवचन का अर्थ अकथन। तद् के न रहने से अनुवाद्य की प्रतीति तो जैसा चाहिए वैसी हो जाती है पर विधेय की प्रतीति वैसी नहीं होती। विधेय की प्रतीति प्रधानरूप से होनी चाहिए। वह तभी संभव है जब उसका शब्दतः कथन हो। इसलिए तद् शब्द का प्रयोग भी आवश्यक होता है। इस प्रकार तद् शब्द के अभाव में विधेय की प्रतीति तो होती है परन्तु अप्रधान रूप से। प्रधानरूप से नहीं। जब कि होनी चाहिए प्रधानरूप से। अतः यहाँ 'विधेयाविमर्श' दोष होता है। विधेय का अर्थ होता है जिसका विधान किया जा रहा हो। विधान जिसका किया जाता है वाक्य में वही प्रधान होता है। जैसे एक बार 'पटं वय'—'कपड़ा बुन दो' कह दिया गया और उसके बाद 'रक्तं पटं वय'—'लाल कपड़ा बुनो' कहा जाय तो द्वितीय वाक्य में 'रक्त' ही नवीन तथा विधेय होता है, कारण कि इस वाक्य में उसी का नवीन विधान किया गया है। इसलिये 'रक्तं पटं वय' में पट और वयन क्रिया की अपेक्षा वही 'रक्तत्व' प्रधान भी होता है। यदि 'रक्त' शब्द न कहा जाय तो ऐसा हो सकता है कि दैवात् कपड़ा 'लाल' रङ्ग का ही बुन दिया जाय, तब भी 'रक्तं पटं वय' के कथन से लाल रङ्ग में जो प्रधानता आती थी वह प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार विधेयाविमर्श में विधेय का कथन न होने से उसकी प्रतीति तो यथाकथंचित् होती ही है कारण कि—यह शब्द का प्रयोग रहता है, तथापि प्राधान्येन नहीं होती अतः—विधेय का प्राधान्येन अविमर्श या अज्ञान होने से विधेया-विमर्श दोष होता है।

यद्यपि विधेय भी अवश्यकथनीय होता है अतः उसका कथन न होने से वाच्यावचन दोष तद् शब्द के अनुपादान में भी माना जा सकता है, तथापि तद् के अभाव का यह दोष यद् के अभाव के दोष के समान केवल वाच्यावचन मात्र नहीं है, प्रत्युत वह विधेयाविमर्श भी है। 'यद् से प्रतीत अर्थ प्रधान नहीं होता—वह अप्रधान होता है, अतः उसके अभाव में प्राधान्येन अप्रतीति रूप विधेयाविमर्श सम्भव नहीं। इसके विरुद्ध तद् से प्रतीत अर्थ प्रधान होता है। अतः उसके अभाव में वाच्यावचन तो हो सकता है पर विधेयाविमर्श भी सम्भव है। दोनों दोषों में से विधेया-विमर्श ही अधिक अनौचित्यकारी सिद्ध होता है, अतः वही माना जाना चाहिये। जिसे वाच्या-वचन में अधिक अनौचित्य प्रतीत हो वह वाच्यावचन दोष मान सकता है।

विशेष—इस प्रसङ्ग में व्यक्तिविवेकव्याख्यान की एकपंक्ति खंडित प्रतीत होती है। वह है—तत्र द्वयी गतिः, अन्यतरानुपादानं द्वयोरनुपादानमपि यत्तदाश्रयभावेन द्विधा क्रमेण चैतदुदाह-रिष्यति।'—इसका ठीक अनुवाद यह होगा—उस (आर्थत्व) में भी दो पद्धति हैं। किसी एक का अनुपादान दोनों का अनुपादान भी यत्तदाश्रयभाव से दो प्रकार का होता है। इसी क्रम से इसके उदाहरण आगे देंगे।' यहाँ 'अपि' या 'भी' से प्रतीत होता है कि पंक्ति इस प्रकार की होनी चाहिये—'द्वयी गतिः अन्यतरानुपादानं द्वयोरनुपादानं च। द्वयोरनुपादानमपि।' अर्थात्—'दो पद्धति है किसी एक का अनुपादान और दोनों का अनुपादान। दोनों का अनुपा-पादान भी०।' यहीं इसी विषय को स्पष्ट करते हुए 'द्वयोरनुपादानमपि द्विधा'—कहकर व्याख्या-नकार ने जो कहा है—'क्रमेण चैतदुदाहरिष्यति'—तदनुसार उभयानुपादन का उदाहरण 'उत्पत्स्यते तु मम' इत्यादि है। वहाँ यद् और तद् दोनों का अनुपादान दर्शित है। यही विषय काव्यप्रकाश में भी आया है। वहाँ अन्यतर के अनुपादान में ही दो भेद परिलक्षित होते हैं।

'द्वयोरनुपादान' का तो जो उदाहरण व्यक्तिविवेककार ने दिया है—'ये नाम' पद्य का उत्तरार्ध 'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समानधर्मा' वही काव्यप्रकाशकार ने भी अपनाया है। इसी प्रकार हेमचन्द्र ने भी अपने काव्यानुशासन में अन्यतर अनुपादान के ही दो भेद माने हैं।

एकतरस्योपादाने सति आर्थः, तदितरस्य अर्थसामर्थ्येनाक्षेपात्।

तत्र तदः केवलस्योपादाने सत्यार्थस्त्रिविधः प्रसिद्धानुभूतप्रकान्तवस्तुविषयतयोपकल्पितसन्निधिना यदा तस्याभिसम्बन्धात्।

तत्र प्रसिद्धार्थ-विषयो यथा—

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥'

(वहाँ उपक्रमोपसंहार यद् तद् में से) किसी एक के कथन होने पर आर्थ होता है, क्योंकि वहाँ दूसरे का अर्थ के आधार पर आक्षेप करना पड़ता है।

उनमें केवल तद् का उपादान होने पर आर्थ तीन प्रकार का होता है—कारण कि वह (तद् शब्द) तीन प्रकार का होता है—प्रसिद्ध वस्तु विषयक, अनुभूत वस्तु विषयक और प्रकान्त वस्तु विषयक। इसलिए यद् स्वयं उसके पास चला आता है और उसका उससे (तद् शब्द से) सम्बन्ध हो जाता है।

प्रसिद्धार्थ विषयक—जैसे (तुम्हारे इस) कपालधारी (शङ्कर) से मिलने के हठ से (तो) अब दो (चीजें) शोचनीय हो गईं। एक तो कलावान् की वह कान्ति भरी कला और दूसरी इस आँख वाले विश्व की नयनचन्द्रिका तुम।'

अनुभूतविषयो यथा-'ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती'ति। यथा—

'तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा तच्चेत् स्मितं का सुधा
सा दृष्टिर्यदि हारितं कुवलयैस्ताश्चेद्गिरो धिङ् मधु।
सा चेत् कान्तिरतन्त्रमेव कनकं किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः॥'

अनुभूतार्थ विषयक—जैसे (वासवदत्ता के जलने की खबर सुनकर उदयन रत्नावली में कहता है)—वे कातर आँखें (इधर-उधर) फेंकती हुई।' (और) जैसे—

यदि वह चेहरा (विद्यमान है) तो चाँद की कथनी बन्द, यदि वह मुसकान (है) तो अमृत क्या? यदि वह नजर है तो नीले कमलों की हार समझिये, यदि वे पदावली हैं तो मधु को धिक्कार, यदि वह कान्ति है तो सुवर्ण की कोई पूछ नहीं। और अधिक क्या कहें—यह सच है कि विधाता की संसार रचना जोड़ी की दो चीजें बनाने में विमुख है।

प्रकान्तविषयो यथा—

'कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः॥'

प्रकान्तविषयक यथा—'केवल नीति कातरता है (और केवल) शौर्य शेर (जैसे हिंसक पशुओं) का कार्य है। इसलिये उसने (अतिथि ने) उन दोनों को मिलाकर सिद्धि चाही।'

उपकल्पितो **नित्यसापेक्षत्वादुपस्थापितः। अत्र च प्रसिद्धादिविषयत्वं यदा निर्दिष्टम्।**

सा कला या प्रसिद्धेति स्फुटत्वेन प्रतीतेः। क्वचित् तदाऽपि व्यपदिश्यते तस्य यच्छब्दे- नैकविषयत्वात्। ते इति ये मयैवानुभूते इत्यर्थः । अन्वियेष स इति। अत्र स इति यः प्रक्रान्त इत्यर्थः।

उपकल्पित—अर्थात् नित्यसापेक्ष होने से उपस्थित। यहाँ प्रसिद्ध-विषयता आदि—यद् शब्द से बतला दी गई है। क्योंकि वह कला जो प्रसिद्ध है—ऐसी प्रतीति स्पष्टरूप से हो जाती है। कहीं-कहीं तद् से भी बतलाई जाती है क्योंकि उसका भी वही विषय होता है जो यद् का।

ते—वे जिनका अनुभव अकेले मैंने ही किया है।

अन्वियेष स—यहाँ 'स = वह' का अर्थ है वह जो प्रकरण में चला आ रहा है।

विमर्श : तद् शब्द से चार प्रकार के पदार्थों का परामर्श होता है—

१. एक वे जो पूर्वानुभूत होते हैं।

२. दूसरे वे जो प्रसिद्ध होते हैं।

३. तीसरे वे जो प्रकरण से प्राप्त होते हैं और

४. चौथे वे जो इन तीनों से अतिरिक्त होते हैं।

इनमें अतिरिक्त तीनों के उदाहरण अभी अभी ऊपर दिये गये हैं। व्यक्तिविवेकव्याख्यान द्वारा वे स्पष्ट भी हैं। तीनों की विशेषता यह है कि इनके प्रयोग स्थलों में 'यद्' शब्द के उपादान की आवश्यकता नहीं होती। उसका स्वयं आक्षेप हो जाता है। 'कला च सा कान्तिमती', 'ते लोचने' और 'अन्वियेष सः' पर ध्यान देने से, यह बात स्पष्ट हो जाती है। अतः तद् शब्द को लेकर होने वाला आर्थ 'उपक्रमोपसंहारभाव' तीन प्रकार का होता है।

केचित् पुनरुपात्तवस्तुविषयतयोपकल्पितयोर्द्वयोरप्याक्षेपादस्य चतुर्थ- मपि प्रकारमिच्छन्ति। यथा—

'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पस्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥'

अत्र स कोऽप्युत्पत्स्यते यं प्रति यत्नो मे सफलीभविष्यतीत्युभयोरपि योरर्थादाक्षेपः।

कुछ लोग इसका चौथा भेद भी मानते हैं, कारण कि जब ये दोनों (यद् तद् शब्द) उन स्तुओं के लिये प्रयुक्त होते हैं जो (वहीं) उपात्त रहती हैं तो दोनों का आक्षेप हो जाता है यथा—

'कुछ लोग, जो यहाँ वहाँ हमारी अवज्ञा करते हैं वे कुछ जानते भी हैं कि हमारा यह प्रयत्न उनके लिये नहीं है। हमारे जैसा तो कोई पैदा होगा। इस काल की सीमा नहीं और पृथिवी भी बहुत बड़ी है।'

यहाँ 'वह कोई पैदा होगा जिसके लिये मेरा यत्न सफल होगा' इस प्रकार उन दोनों का आक्षेप अपने आप हो जाता है।

उपात्तवस्त्विति **वक्ष्यमाणश्लोके कोऽपीति यदुपात्तं वस्तु तद्विषयत्वेनेत्यर्थः।** अस्य **उपक्रमोपसंहारस्य प्रक्रान्तवस्तुविषयस्य।**

उपात्तवस्त्विति—अभिप्रायार्थ यह कि आगे कहे जाने वाले (ये नाम केचिदिह नः) पद्य में 'कोऽपि' इस प्रकार जो वस्तु कथित है उसके लिए।

अस्य—इसका = अर्थात् उपक्रमोपसंहार जो प्रक्रान्त वस्तु विषयक होता है उसका।

संगति—व्याख्या = 'तद् शब्द' का प्रयोग हर कहीं न हो—एतदर्थ नियम दिखलाते हुये त्याज्य स्थलों का निर्देश करते हुये लिखते हैं—

यश्चैकवाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभिः।
तच्छब्देन परामर्शो न तयोरुपपद्यते ॥ ६ ॥
यतोऽध्यक्षायमाणोऽर्थः स तेभ्यः प्रतिपद्यते।
न चासौ तत्परामर्शसहिष्णुरसमन्वयात् ॥ ७ ॥

तद्यथा—

'स वः शशिकलामौलिस्तादात्म्यायोपकल्पताम्।'
'द्वैतबुद्धिमपास्येमां सा हि सर्वापदां पदम्॥'

अत्रैवेमामित्यत्रैतददसोः प्रयोगे तयोरप्येतदेवोदाहरणं द्रष्टव्यम्। अत्र चैकात्म्यायेति एषा हि विपदां पदमिति च पाठौ पठितव्यौ।

और जो (पदार्थ) एक वाक्य में कर्त्ता रूप से कथित हो या इदम् आदि सर्वनाम शब्दों से कथित हो उसका परामर्श 'तद्' शब्द से नहीं होता।

कारण कि उनके द्वारा (इदम् आदि द्वारा) जो पदार्थ निर्दिष्ट किया जाता है वह प्रत्यक्ष होता (वहीं उपस्थित रहता) है। इसलिये यह (अर्थ) तद् का परामर्श विषय नहीं बन सकता। कारण कि (तद् शब्द परोक्ष का परामर्श कराता है अतः इदम् आदि द्वारा परामृष्ट प्रत्यक्ष के साथ उसका) मेल नहीं बैठता। उदाहरणार्थ—

'वे चन्द्रचूड (शंकर) आपके लिये तादात्म्य के कारण बनें इस द्वैतभाव को दूर करो। वह सभी आपत्तियों का स्थान है॥' यहाँ 'इमाम्' की जगह 'एताम्' इस प्रकार 'एतत्' शब्द का प्रयोग तथा 'अमूम्' इस प्रकार 'अदस्' शब्द का प्रयोग करने पर उनका (इदम् तथा अदस् शब्दों का) उदाहरण भी यही पद्य समझना चाहिये। यहाँ (तादात्म्य की जगह) ऐकात्म्य और 'एषा हि विपदां पदम्' ऐसा पाठ होना चाहिये।

तच्छब्दात् प्रयोगातिप्रसङ्गनियमं प्रकाशयन् परिहाय विषयं प्रदर्शयति। यस्त्वेकवाक्य इति। **एकवाक्यग्रहणेन परामृश्यस्य प्रत्यक्षायमाणतोक्ता। ततश्च वाक्यभेदे न दोषः।** कर्तृत्वेनेति **प्राधान्यं सूचयति अप्राधान्येऽस्य परामर्शो न दुष्यतीति ख्यापनार्थम्।**

स इत्यर्थः परामृष्टः। तेभ्य इति **कर्तृत्ववाचकादिदमादिभ्यश्च।** असौ **तच्छब्दः।** असमन्वयादिति **तच्छब्दस्य परोक्षार्थप्रतिपादकत्वे सम्बन्धविरोधादित्यर्थः।** तादात्म्यायेति। **शशिकलामौलिस्वरूपत्वायेत्यर्थः।**

'तद्' के प्रयोग से वाक्य प्रयोग में जो अर्थ विषयक अव्यवस्था होती है उसे बतलाते हुए त्याज्य तत्वों पर प्रकाश डालते हैं—एकवाक्यग्रहणेन, 'एक वाक्य' शब्द के प्रयोग से यह बतलाया कि परामर्श विषय (वक्ता द्वारा वाक्यप्रयोग के समय) देखा जाता रहता है। इसलिये जहाँ वाक्य (एक न होकर) भिन्न हो तो (तद् शब्द के प्रयोग में) कोई दोष नहीं।

कर्तृत्वेन—'कर्तृत्व' शब्द द्वारा प्रधानता की सूचना दी। वह यह बतलाने के लिए कि अप्राधान्य (दशा) में इस (अप्रधान पदार्थ) का (तद् शब्द द्वारा किया गया) परामर्श दोषा-वह नहीं होता।

स (तेभ्यः प्रति०)—में 'स' इसके द्वारा (उसी पद्य में आया) 'अर्थ' का परामर्श किया गया।

तेभ्यः—अर्थात् कर्त्ता के वाचक और इदम्, अदस् आदि से 'शशिकलामौलिस्वरूप' बनने के लिये।

विमर्श : सामान्यतः 'तद्' शब्द परोक्षपदार्थ का परामर्शक होता है। किन्तु जब वह किसी एक वाक्य में कर्त्ता रूप से गृहीत होता है तब प्रत्यक्ष पदार्थ का ही परामर्श कराता है। इदम्, अदस् और 'एतद्' शब्द सदा प्रत्यक्ष पदार्थ का ही परामर्श कराते हैं।

इस स्थिति में परोक्षार्थवाची—तद् शब्द द्वारा प्रत्यक्षभूत अर्थ का परामर्श नहीं किया जा सकता। इतने पर भी कुछ स्थल ऐसे भो मिलते हैं जिनमें ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं।

उदाहरणार्थ—'वे भगवान् शंकर आपको उनके रूप में लीन करें'—इसमें 'वे' यह सर्वनाम (तद्) शब्द कर्त्ता के अर्थ में प्रयुक्त है। वाक्य एक ही है। अतः वह प्रत्यक्ष है और प्रधान भी है। ऐसी स्थिति में 'वे' शब्द का अर्थ पुनः 'तद् सर्वनाम' द्वारा नहीं कहा जाना चाहिये। कारण कि बिना किसी सर्वनाम के भी वाक्यार्थ में कमी नहीं आती—'वे भगवान् शंकर आपको अभिन्न बना लें'—कहने से भी काम चल जाता है।

इस प्रसङ्ग में एक बात सोचने की यह है कि प्रकरण चल रहा था—तद् के प्रयोग में यद् के अध्याहार का। अतः उपर्युक्त विषय उससे मेल नहीं रखता। इतने पर भी प्रसङ्गपतित आनु-सङ्गिक विषय भी कह दिया जाता है, अतः यह कह दिया गया।

'इदम्' और 'अदस्' की चर्चा भी 'योऽसौ कुत्र चमत्कृतेः' से संबन्धित नहीं है तथापि—एतद् आदि, शब्दों द्वारा कथित पदार्थ का भी परामर्श कभी-कभी—'तद्' शब्द द्वारा कर दिया जाता है—जैसे।

'इस द्वैतभाव को दूर करो, वह सभी आपदाओं की जड़ है।' इसमें—'इस', द्वारा उक्त द्वैतभाव का परामर्श 'तद्' = 'वह' द्वारा किया जा रहा है। इस प्रयार के प्रयोगों का निषेध करने के लिए—'इदम्-अदस्' की चर्चा भी की गई।

विशेष—व्य० व्याख्यान के 'तच्छब्दात्' की पंचमी के स्थान पर वस्तुतः षष्ठी चाहिए।

यदः पुनरार्थो द्विप्रकारः सम्भवति प्रक्रान्तवस्तुकल्पिततत्कर्मादि-विषयेण तदा तस्याभिसम्बन्धात्। यथा 'यं सर्वशैला' इत्यादौ 'स हिमा-लयोऽस्ती'ति। यथा च 'आत्मा जानाति, यत् पापं माता जानाति यत् पिता' इत्यादौ तदात्मा जानातीत्यर्थावगतेः।

यद् का आर्थ (उपक्रमोपसंहार) दो प्रकार का हो सकता है। कारण कि 'प्रक्रान्तवस्तु को' तथा उस (कर्त्ता आदि रूप में कथित यद् शब्द) को कर्म आदि रूप से विषय बनाकर उपस्थित हुए (दो प्रकार के) 'तद्' शब्द से उसका सम्बन्ध होता है। जैसे—

'यं सर्वशैलाः = जिसे सभी पर्वतों ने' इत्यादि में 'स हिमालयोऽस्ति' 'ऐसा यह हिमालय है' इस प्रकार। या जैसे—

'आत्मा जानती है, जिस पाप को मां जानती है या जिसे पिता'—इत्यादि में 'उसे आत्मा जानती है' इस प्रकार का अर्थ समझ में आता है।

आर्थ इति उपक्रमोपसंहारक्रमो निर्दिष्टः। कल्पिततत्कर्मादीति। कल्पितं यद् यच्छब्द-निर्दिष्टं कर्मादि विषयोऽस्येति यच्छब्दार्थः कर्मकरणादितया विषयत्वेनास्य कल्पित इत्यर्थः।

आर्थ—इससे उपक्रमोपसंहारक्रम का निर्देश किया।

कल्पिततत्कर्मादि—कल्पित यद् शब्द से निर्दिष्ट कर्म आदि विषय है जिसका। अर्थात् 'यद्' शब्द का अर्थ कर्म करण (आदि कारक) रूप से जिसके लिए बताया गया हो।

विमर्श: पहले तद् शब्द के प्रयोग पर आश्रित—आर्थ उपक्रमोपसंहार—दिखलाया। अब 'यद्' शब्द के प्रयोग पर आश्रित—आर्थ उपक्रमोपसंहार दिखलाते हैं।—ग्रन्थकार का कहना है कि वह दो प्रकार का होता है। १. जहाँ प्रक्रान्तपरामर्शक तद् का आक्षेप होता है और २. जहाँ ऐसा तद् शब्द का (प्रयोग न हो) जिसके द्वारा ऐसे पदार्थ का परामर्श हो रहा हो जो यद् शब्द द्वारा कर्म या करण आदि कारक के रूप में कहा जा चुका हो। जैसे—कुमार संभव में—प्रथम पद्य में 'हिमालय' नाम दे दिया गया—'हिमालयो नाम' इत्यादि। इसके बाद कहा गया 'यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं''' = जिसे सब पहाड़ों ने बछड़ा बनाकर'''।' इस द्वितीय—वाक्य में केवल यद् शब्द दिया गया है। और उसके द्वारा कर्मकारक के रूप में हिमालय का परामर्श किया गया है। यहाँ 'तद्' शब्द नहीं है, अतः उसका आक्षेप होता है। यह आक्षेप स्वयं ग्रन्थकार ने इस प्रकार बतलाया है—जिसको बछड़ा बनाकर'''पृथिवी दुही गई = 'वह हिमालय है'—इस प्रकार यह आर्थ क्रम हुआ।

'यत् तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः।
दीव्यताक्षैस्तदानेन नूनं तदपि हारितम्॥'

इत्यादौ च यद्यपि तदो द्विरुपादानं सकृच्च यदः, तथापि तत्र तथोक्तसम्बन्धद्वैविध्यानतिवृत्तिः। तथा हि यदः प्रक्रंस्यमानविषयेण तदपीत्यनेन तदाभिसम्बन्धाच्छाब्दः। यत्तदित्यस्य तु प्रसिद्धतेजोनिष्ठतयोपकल्पितेन यदाऽभिसम्बन्धादार्थः।

इस राजा का जो वह बढ़ा चढ़ा अति उग्र क्षात्र तेज था, उस समय पाशे पलटते हुए इसने उसे भी हार दिया।

इत्यादि (स्थलों) में यद्यपि 'तद्' का दो बार उपादान है और 'यद्' का एक बार तथापि वहाँ ऊपर कहे दोनों सम्बन्धों का अभाव नहीं है। कारण कि 'यद्' शब्द 'तदपि' में आए 'तद्' शब्द से सम्बन्धित हो जाता है जिसका विषय अगले प्रकरण में प्राप्त होता। इसलिए वह शाब्द है। 'यत्तद्' में आया 'तद्' तेज की प्रसिद्धता को बतलाने के लिए प्रयुक्त है, इसलिए उसका 'यद्' से सम्बन्ध आर्थ है (शाब्द नहीं)।

सम्बन्धद्वैविध्येति **शब्दार्थभेदेन द्वैविध्यम्।** यत्तदिति। **यच्छब्दसमीपे समानाधिकरणस्तच्छब्द उपादीयमानः शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् प्रसिद्धवस्तुविषयं यच्छब्दमाकाङ्क्षति। वैयधिकरण्येन व्यवधानेन च निर्देशे तु निर्दिष्टेनैव यदा समन्वयं भजते। 'न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभागि'त्यत्र यद्यपि 'यः स' इति,**

यत्तदोर्नैरन्तर्येण सामानाधिकरण्येन च निर्देशः तथापि न 'यत्तदूर्जितमि'ति न्यायेन। इह यदि तच्छब्दो निरन्तरोपात्तयच्छब्दापेक्षयैव प्रयुज्यते तदा स्यादेष दोषः, यावता 'न केवलं य' इत्यत्र यच्छब्दापेक्षया व्यवधानेन प्राधान्यात् प्रयुक्तस्तच्छब्दान्तरानाकाङ्क्षः प्रसङ्गेन निरन्तरनिर्दिष्टयच्छब्दान्वयं भजमानः पूर्वसंस्कारेण न तच्छब्दान्तरमाकाङ्क्षतीत्यनवद्यमेतत्।

सम्बन्धद्वैविध्येति—शब्द और अर्थ इस प्रकार से उसमें द्वैविध्य हुआ।

'यत्तद्'—जब तद् शब्द यद् शब्द के समीप उसी विभक्ति में प्रयुक्त किया जाता है जिसमें यत् शब्द तो वह प्रसिद्धवस्तुविषयक यद् शब्द की आकाङ्क्षा रखता है। इसमें कारण है शब्दशक्ति का अपना स्वभाव। इसी प्रकार भिन्न विभक्ति में कहीं दूर 'तद्' का उपादान होता है तो वह वहीं प्रयुक्त यद् शब्द के साथ समन्वय रखता है। यद्यपि = 'न केवल वह जो बड़ों को गाली देता है—उससे सुनता है जो वह भी पापभागी होता है' यहाँ 'यः सः' = जो वह—इस प्रकार यद् और तद् का एक ही विभक्ति में और एक ही जगह प्रयोग हुआ है तब भी—'यत्तदूर्जितमत्युग्रं'—इसमें हुए प्रयोग की भाँति नहीं। यहाँ यदि तद् शब्द—बिना व्यवधान के प्रयुक्त यद् शब्द की आकाङ्क्षा से प्रयुक्त होता तो—यह दोष हो सकता था, क्योंकि—'न केवलं यः' यहाँ के यद् शब्द से बहुत दूर और प्रधानतापूर्वक प्रयुक्त किया गया तद् शब्द एक ओर तो उसके साथ सटकर प्रयुक्त यद् शब्द से संबन्धित होता है, क्योंकि प्रसंग ही वैसा है और दूसरी ओर प्रथम यद् के लिए किसी दूसरे 'तद्' शब्द की जरूरत नहीं रहने देता। इसलिए यहाँ का ग्रंथ सर्वात्मना निर्दोष है।

विमर्श : 'न केवलं यो महतोऽपभाषते श्रृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्' से लेकर—प्रघट्टक के अन्त = अनवद्यमेतत्—तक के व्याख्यानांश में—'प्राधान्यात् प्रयुक्तस्तच्छब्दान्तरानाकाङ्क्षः 'प्रसंगेन'—इतने अंश का—तच्छब्दान्तरानाकांक्षः इतना अंश अधिक ज्ञात होता है। उसकी जगह केवल—'तच्छब्दः'—'प्रसङ्गेन' इतना ही रहना ठीक प्रतीत होता है।

एवञ्च योऽयमिह 'योऽसावि'त्यत्र यदः केवलस्यैव प्रयोगः स केनाभिसम्बध्यताम्, न ह्यत्र मुक्तके तदभिसम्बन्धसहः प्रक्रान्तः कश्चिदर्थः सम्भवति यदभिसम्बन्धोऽयं परिकल्प्येत। न च प्रक्रंस्यमानाम्बिकाकेसरिविषयोपकल्पितेन तदाऽस्याभिसम्बन्धः सम्भवी, तदुपादान एव तत्सम्बन्धप्रतीतिदर्शनात्। इतरथा 'यत्कोपाग्नौ शलभतां लेभे कामः शिवोऽवता'दित्यत्रापि शिवविषयतयोपकल्पितेन तदा तत्सम्बन्धप्रतीतौ सङ्गतार्थतैव स्याद् इत्ययुक्त एवायं यदः प्रयोगः।

इस प्रकार 'योऽसौ'—यहाँ जो केवल यद् शब्द का प्रयोग है वह किससे संबंधित हो। यह पद्य मुक्तक है इसलिए उससे संबधित होने योग्य कोई प्रक्रान्त अर्थ भी यहाँ संभव नहीं, जिससे इस यत् शब्द का संबन्ध समझ लिया जाए। ऐसा भी नहीं हो सकता कि आगे-आने वाले 'अम्बिकाकेसरी' के लिए कल्पित तत् शब्द—से इसका संबन्ध—मान लिया जाय, क्योंकि वह तभी संभव होता है जब उसका शब्दतः उपादान हो। नहीं तो (शब्दतः उपादान न होने पर भी किसी यद् शब्द से) तच्छब्द के साथ संबन्ध मान लेने पर—निम्नलिखित पद्य का अर्थ भी ठीक बैठा (संगत) मान लिया जाएगा—

'यत्कोपाग्नौ शलभतां लेभे कामः शिवोऽवतात्' अर्थात् 'जिसकी कोपाग्नि में काम ने शलभभाव प्राप्त किया, शिव रक्षा करें'—यहाँ भी शिव के लिए अपेक्षित तद् शब्द के साथ—संबन्ध प्रतीत हो सकता है। इसलिए ('योऽसौ' यहाँ का) यद् शब्द का प्रयोग गलत ही है।

तदित्थं यत्तदोरुपक्रमोपसंहारक्रमो द्विविधः परिघटितः। स चात्र श्लोके न युज्यत इत्याह—आपतेदिति। तदुपादान इति। यदि तच्छब्दानन्तरं प्रत्यपेक्षायां यच्छब्देनात्र तदितिप्रक्रान्तस्तच्छब्दः परामृश्यते तत्सम्बन्धप्रतीतावित्यर्थः।

इस प्रकार यद् तद् के उपक्रमोपसंहार का क्रम दो प्रकार का ठहरा। दोनों ही प्रकार का इस श्लोक में नहीं बनता ऐसा—'आपतेत्' इत्यादि ग्रन्थ से प्रतिपादित कर रहे हैं। तदुपादाने इति = अर्थ यह कि यदि यद् शब्द के द्वारा यहाँ आगे प्रकरण में प्रयुक्त होने वाले 'तद्' शब्द का परामर्श किया जा सकता है ऐसा माना जाए तो यह तभी संभव है जब वहाँ तद् शब्द का प्रयोग हो।

'मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः॥'

इत्यत्र तु पादयोः प्रमादजः पौर्वापर्यविपर्यय एवायुक्तो द्रष्टव्यः, न यदो यथोक्तविषयातिक्रमः।

'अपने से अधिक अभिराम चंद्रमा के उदित होने पर कमल जो निमीलित हुए, उन्होंने ठीक ही किया, अपने विजेता कामिनीमुख के सामने उदित होकर उसने किन्तु साहस किया।'

यहाँ पादप्रक्रमभङ्ग दोष है, पूर्वार्द्ध के दो चरण 'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' इस प्रकार दिए जाने थे। असावधानी से उनमें उलट फेर हो गया। यद् शब्द द्वारा अपने विषय का पूर्वोक्त क्रम के अनुसार अतिक्रमण नहीं होता।

ननु प्रयोगदर्शनमेवात्र समर्थकं भविष्यतीत्याशङ्क्य प्रयोगस्य प्रामादिकपाठविपर्यासहेतुकत्वमाह—मीलितमिति।

पूर्वपक्षी—'तच्छब्द के बिना भी यद् शब्द का प्रयोग देखा जाता है', ऐसा कहकर—'मीलितं यदभि…' यह उदाहरण दे सकता था, और उसका समर्थन कर सकता था। उसके उत्तर में ग्रन्थकार ने इस उदाहरण को ही प्रमादपूर्ण बतलाया—अतः इस उदाहरण से यद् का तच्छब्द के अभाव में प्रयोग संगत सिद्ध नहीं हो सका।

विमर्श : पूर्वपक्षी का यह कथन था कि यद् का तद् शब्द के बिना प्रयोग = योऽसौ—इत्यादि स्थलों में ठीक ही है, कारण कि ऐसे कुछ प्रयोग देखे जाते हैं—और उसमें 'मीलितं यदभिरामताधिके' प्रयोग उदाहरण में दिया। ग्रन्थकारने उसे प्रमादपूर्ण बतलाया। यह कहा कि उसमें यद् का प्रयोग असंगत ही है, किन्तु उसका कारण श्लोक के चरणों का उलटफेर है। यदि प्रथम चरण को द्वितीय चरण और द्वितीय चरण को प्रथम चरण बना दिया गया होता तो यद् शब्द का दोष न होता, इसलिए इस श्लोक में वस्तुतः पादप्रक्रमभेद दोष है।

काव्यप्रकाशकार ने जहाँ यद् शब्द और तद् शब्द को लेकर विधेयाविमर्श दोष दिखलाया है—वहाँ यह पद्य इसी प्रकार चरणों में परिवर्तन करके ही उपस्थित किया है। यथा—

'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके।
उद्यता………………………' (उदाहरण १८८ काव्यप्रकाश वामनी टीका)

यत्तदोर्नैरन्तर्येण सामानाधिकरण्येन च निर्देशः तथापि न 'यत्तदूर्जितमि'ति न्यायेन। इह यदि तच्छब्दो निरन्तरोपात्तयच्छब्दापेक्षयैव प्रयुज्यते तदा स्यादेष दोषः, यावता 'न केवलं य' इत्यत्र यच्छब्दापेक्षया व्यवधानेन प्राधान्यात् प्रयुक्तस्तच्छब्दान्तरानाकाङ्क्षः प्रसङ्गेन निरन्तरनिर्दिष्टयच्छब्दान्वयं भजमानः पूर्वसंस्कारेण न तच्छब्दान्तरमाकाङ्क्षतीत्यनवद्यमेतत्।

सम्बन्धद्वैविध्येति—शब्द और अर्थ इस प्रकार से उसमें द्वैविध्य हुआ।

'यत्तद्'—जब तद् शब्द यद् शब्द के समीप उसी विभक्ति में प्रयुक्त किया जाता है जिसमें यत् शब्द तो वह प्रसिद्धवस्तुविषयक यद् शब्द की आकाङ्क्षा रखता है। इसमें कारण है शब्दशक्ति का अपना स्वभाव। इसी प्रकार भिन्न विभक्ति में कहीं दूर 'तद्' का उपादान होता है तो वह वहीं प्रयुक्त यद् शब्द के साथ समन्वय रखता है। यद्यपि = 'न केवल वह जो बड़ों को गाली देता है—उससे सुनता है जो वह भी पापभागी होता है' यहाँ 'यः सः' = जो वह—इस प्रकार यद् और तद् का एक ही विभक्ति में और एक ही जगह प्रयोग हुआ है तब भी—'यत्तदूर्जितमत्युग्रं'—इसमें हुए प्रयोग की भाँति नहीं। यहाँ यदि तद् शब्द—बिना व्यवधान के प्रयुक्त यद् शब्द की आकाङ्क्षा से प्रयुक्त होता तो—यह दोष हो सकता था, क्योंकि—'न केवलं यः' यहाँ के यद् शब्द से बहुत दूर और प्रधानतापूर्वक प्रयुक्त किया गया तद् शब्द एक ओर तो उसके साथ सटकर प्रयुक्त यद् शब्द से संबन्धित होता है, क्योंकि प्रसंग ही वैसा है और दूसरी ओर प्रथम यद् के लिए किसी दूसरे 'तद्' शब्द की जरूरत नहीं रहने देता। इसलिए यहाँ का ग्रंथ सर्वात्मना निर्दोष है।

विमर्श : 'न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्' से लेकर—प्रघट्टक के अन्त = अनवद्यमेतत्—तक के व्याख्यानांश में—'प्राधान्यात् प्रयुक्तस्तच्छब्दान्तरानाकाङ्क्षः 'प्रसंगेन'—इतने अंश का—तच्छब्दान्तरानाकांक्षः इतना अंश अधिक ज्ञात होता है। उसकी जगह केवल—'तच्छब्दः'—'प्रसङ्गेन' इतना ही रहना ठीक प्रतीत होता है।

एवञ्च योऽयमिह 'योऽसावि'त्यत्र यदः केवलस्यैव प्रयोगः स केनाभिसम्बध्यताम्, न ह्यत्र मुक्तके तदभिसम्बन्धसहः प्रक्रान्तः कश्चिदर्थः सम्भवति यदभिसम्बन्धोऽयं परिकल्प्येत। न च प्रक्रंस्यमानाम्बिकाकेसरिविषयोपकल्पितेन तदाऽस्याभिसम्बन्धः सम्भवी, तदुपादान एव तत्सम्बन्धप्रतीतिदर्शनात्। इतरथा 'यत्कोपाग्नौ शलभतां लेभे कामः शिवोऽवता'दित्यत्रापि शिवविषयतयोपकल्पितेन तदा तत्सम्बन्धप्रतीतौ सङ्गतार्थतैव स्याद् इत्ययुक्त एवायं यदः प्रयोगः।

इस प्रकार 'योऽसौ'—यहाँ जो केवल यद् शब्द का प्रयोग है वह किससे संबंधित हो। यह पद्य मुक्तक है इसलिए उससे संबधित होने योग्य कोई प्रक्रान्त अर्थ भी यहाँ संभव नहीं, जिससे इस यत् शब्द का संबन्ध समझ लिया जाए। ऐसा भी नहीं हो सकता कि आगे-आने वाले 'अम्बिकाकेसरी' के लिए कल्पित तत् शब्द—से इसका संबन्ध—मान लिया जाय, क्योंकि वह तभी संभव होता है जब उसका शब्दतः उपादान हो। नहीं तो (शब्दतः उपादान न होने पर भी किसी यद् शब्द से) तच्छब्द के साथ संबन्ध मान लेने पर—निम्नलिखित पद्य का अर्थ भी ठीक बैठा (संगत) मान लिया जाएगा—

'यत्कोपाग्नौ शलभतां लेभे कामः शिवोऽवतात्' अर्थात् 'जिसकी कोपाग्नि में काम ने शलभभाव प्राप्त किया, शिव रक्षा करें'—यहाँ भी शिव के लिए कल्पित तद् शब्द के साथ—संबन्ध प्रतीत हो सकता है। इसलिए ('योऽसौ' यहाँ का) यद् शब्द का प्रयोग गलत ही है।

तदित्थं यत्तदोरुपक्रमोपसंहारक्रमो द्विविधः परिघटितः। स चात्र श्लोके न युज्यत इत्याह—एवञ्चेति । तदुपादान **इति । यदि तच्छब्दानन्तरं प्रत्यपेक्षायां यच्छब्देनात्र तदितिप्रक्रान्तस्तच्छब्दः परामृश्यते तत्सम्बन्धप्रतीताविव्यर्थः।**

इस प्रकार यद् तद् के उपक्रमोपसंहार का क्रम दो प्रकार का ठहरा। दोनों ही प्रकार का इस श्लोक में नहीं बनता ऐसा—'एवञ्च' इत्यादि ग्रन्थ से प्रतिपादित कर रहे हैं। तदुपादान इति = अर्थ यह कि यदि, यद् शब्द के द्वारा यहाँ आगे प्रकरण में प्रयुक्त होने वाले 'तद्' शब्द का परामर्श किया जा रहा है ऐसा माना जाय तो वह तभी संभव है जब वहाँ तद् शब्द का प्रयोग हो।

'मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ॥'

इत्यत्र तु पादयोः प्रमादजः पौर्वापर्यविपर्यय एवायुक्तो द्रष्टव्यः, न यदो यथोक्तविषयातिक्रमः।

'अपने से अधिक अभिराम चंद्रमा के उदित होने पर कमल जो निर्मीलित हुए; उन्होंने ठीक ही किया, अपने विजेता कामिनीमुख के सामने उदित होकर उसने किन्तु साहस किया।'

यहाँ पादप्रक्रमभङ्ग दोष है, पूर्वार्द्ध के दो चरण 'साधुचन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' = इस प्रकार दिए जाने थे। असावधानी से उनमें उलट फेर हो गया। यद् शब्द द्वारा अपने विषय का पूर्वोक्त क्रम के अनुसार अतिक्रमण नहीं होता।

ननु प्रयोगदर्शनमेवात्र समर्थकं भविष्यतीत्याशङ्क्य प्रयोगस्य प्रामादिकपाठविपर्यासहेतुकत्वमाह—मीलितमिति ।

पूर्वपक्षी—'तच्छब्द के विना भी यद् शब्द का प्रयोग देखा जाता है', ऐसा कहकर—'मीलितं यदभि…' यह उदाहरण दे सकता था, और उसका समर्थन कर सकता था। उसके उत्तर में ग्रन्थकार ने इस उदाहरण को ही प्रमादपूर्ण बतलाया—अतः इस उदाहरण से यद् का तच्छब्द के अभाव में प्रयोग संपन्न सिद्ध नहीं हो सका।

विमर्श : पूर्वपक्षी का यह कथन था कि यद् का तद् शब्द के विना प्रयोग = योऽसौ—इत्यादि स्थलों में ठीक ही है, कारण कि ऐसे कुछ प्रयोग देखे जाते हैं—और उसमें 'मीलितं यदभिरामताधिके' प्रयोग उदाहरण में दिया। ग्रन्थकारने उसे प्रमादपूर्ण बतलाया। यह कहा कि उसमें यद् का प्रयोग अशुद्ध ही है, किन्तु उसका कारण श्लोक के चरणों का उलटफेर है। यदि प्रथम चरण को द्वितीय चरण और द्वियीय चरण को प्रथम चरण बना दिया गया होता तो यद् शब्द का दोष न होता, इसलिए इस श्लोक में वस्तुतः पादप्रक्रमभेद दोष है।

काव्यप्रकाशकार ने जहाँ यद् शब्द और तद् शब्द को लेकर विधेयाविमर्श दोष दिखलाया है—वहाँ यह पद्य—उसी प्रकार चरणों में परिवर्त्तन करके ही उपस्थित किया है। यथा—

'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके।
उद्यता………………………' (उदाहरण १८८ काव्यप्रकाश वामनी टीका)

उन्होंने इसकी कठिनाई को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि यदि यद् शब्द का प्रयोग पूर्व चरण में कर दिया जाय तो वह तच्छब्द के बिना साकांक्ष बना रहता है जैसे—इसी श्लोक में पूर्वार्द्ध दो चरणों के उलट देने से। इस उदाहरण से उन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि उत्तर वाक्य में आया यच्छब्द पूर्व वाक्य में तच्छब्द की आकाङ्क्षा नहीं रखता—यह शब्दशक्ति की विशेषता है।

ननु केनेदमुक्तं यदः केवलस्यैवात्र प्रयोगो न तद इति यावता तद्भिन्नार्थोऽप्यदश्शब्दः प्रयुक्त एवासाविति। अतश्च तदपेक्षया वाक्यार्थविश्रान्तेर्न कश्चिदुक्तदोषावकाशः। साधो! दुराशैषा। तस्य तदभिन्नार्थत्वासिद्धेः। तत्सिद्धौ हि प्रतीतेर्निराकाङ्क्षतैव स्यात्, न तु विवादः, यथा—'न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाग्' इत्यत्र।

(पूर्व पक्ष) अच्छा किसने यह कहा कि यहाँ (योऽसौ में) केवल यद् शब्द का ही प्रयोग है—तद् शब्द का नहीं, कारण कि 'असौ'—इस प्रकार यहाँ अदः शब्द का प्रयोग है ही, और वह तद् शब्द का पर्यायवाची है—उससे उसका अर्थ अभिन्न है। इसीलिये असौ को लेकर वाक्यार्थ पूरा हो जाता है और किसी प्रकार का दोष नहीं आता। (उत्तर पक्ष) (साधो) भले आदमी—यह दुराशा मात्र है। कारण कि 'योऽसौ' में आये असौ की तद् शब्द से अभिन्नार्थता सिद्ध नहीं होती। उसके सिद्ध हो जाने पर तो प्रतीति निराकाङ्क्ष ही हो जाती, और कोई विवाद ही न उठता—जैसे 'न केवलं यो…' इस जगह।

तदभिन्नार्थः **तच्छब्दाभिन्नार्थः। तस्य अदश्शब्दस्य। तच्छब्दाभिन्नार्थत्वेऽदश्शब्दस्य दूषणद्वयमुक्तम्। केवलादश्शब्दप्रयोगे 'असौ मरुदि'त्यादौ यच्छब्दाकाङ्क्षा स्यादित्येकं 'यच्छब्दसहायस्यादश्शब्दस्य प्रयोगे 'योऽसौ जगत्त्रये'त्यादौ प्रयुक्ततच्छब्दाकाङ्क्षा न स्यादिति द्वितीयम्। अत्र यस्य प्रकोपेत्यदश्शब्दरहितयच्छब्दप्रयोगो दृष्टान्तत्वेनोक्तः, यथास्य केवलस्य तच्छब्दाकाङ्क्षा तथादश्शब्दयुक्तस्यापीत्यर्थः।**

तदभिन्नार्थः—तच्छब्द से अभिन्नार्थ। तस्य = अदः शब्द का।

'अदस्' शब्द जब तद् शब्द से अभिन्नार्थ हो जाता है तब दो दोष आते हैं। एक तो यह कि केवल अदः शब्द का प्रयोग होने पर यद् शब्द की आकाङ्क्षा होती है जैसे—असौ मरुच्चुम्बित०० में, दूसरा यह कि यच्छब्द के साथ अदः शब्द का प्रयोग होने पर तच्छब्द की आकाङ्क्षा नहीं रहती—जैसे—'योऽसौ जगत्त्रयलयस्थितिसर्गहेतुः यायात् स वः शशिकलाकलितावतंसः' इसी श्लोक के पूर्वार्द्ध—यस्य प्रकोपशिखिना परिदीपितोऽभूद्…में। यहाँ ग्रन्थकार ने यह बतलाया कि अदः—शब्दरहित यद् शब्द तद् शब्द की आकांक्षा रखता है। वस्तुतः जैसे केवल यद् शब्द तद् शब्द की आकांक्षा रखता है वैसे ही अदः शब्द से युक्त यद् शब्द भी।

किञ्च तदभिन्नार्थत्वेऽस्योपगम्यमाने

'असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः॥'

इत्यत्र मुक्तके यच्छब्दपरामर्शापेक्षा प्रसज्येत, तस्य यथोक्तवस्तुविषयत्वासम्भावात्।

और यदि—अदः शब्द को तद् शब्द का अभिन्नार्थक शब्द माना जाने लगे तो—

'यह—वसन्तकाल हनुमान् के समान उपस्थित हुआ। उसके सुन्दर केसर पवन द्वारा चूमे गए हैं। वह प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणी है और वियुक्तरामातुरवीक्षित है।'

वसन्त पक्ष :	हनुमान् पक्ष :
केसर = केसर वृक्ष	गरदन के बाल
प्रसन्नताराधिप = चन्द्रमण्डल जिसका अग्रणी है।	तारा के पति सुग्रीव के कटक का जो अग्रणी है या प्रसन्न है सुग्रीव कटक का अग्रणी अङ्गद जिससे।
वियुक्तराम = बिछुड़ी रामा = बालाओं से आतुरतापूर्वक देखा गया।	बिछुड़े रामचन्द्र द्वारा आतुरतापूर्वक देखा गया।

इस मुक्तक पद्य में भी यद् शब्द के परामर्श की अपेक्षा आ धमकेगी क्योंकि इस मत में अदस् शब्द की तद् शब्द से भिन्नार्थकता संभव नहीं।

तस्य यथोक्तवस्त्विति **यथा अविगानेन शिष्टप्रसिद्धिपारम्पर्येणोक्तं वस्तु तच्छब्दार्थविविक्तो विषयस्तस्य त्वन्मते असम्भवः। त्वया ह्यदश्शब्दस्य तच्छब्दार्थत्वमुच्यते तत्र यच्छब्दपरामर्शापेक्षाप्रसङ्गः इत्यर्थः।**

तस्य यथोक्तवस्त्विति = अदः शब्द का जो अर्थ शिष्टजनों में परम्परा द्वारा एक मत से मान्य है, जिसमें वह तच्छब्द से भिन्नार्थक है, वह अर्थ तो तुम्हारे मत में सम्भव नहीं। तुम तो अदस् शब्द को तच्छब्दार्थक मानते हो। इसलिये 'असौ मरु····' में यच्छब्दार्थ के परामर्श की अपेक्षा है ही।

'यस्य प्रकोपशिखिना परिदीपितोऽभूदुत्फुल्लकिंशुकतरुप्रतिमो मनोभूः।
योऽसौ जगत्त्रयलयस्थितिसर्गहेतुः पायात् स वः शशिकलाकलितावतंसः॥'
इत्यत्र च तच्छब्दपरामर्शस्य पौनरुक्त्यं स्यात्।

जिसकी—कोपाग्नि द्वारा जलाया काम = फूले हुये 'टेसू' के पेड़ सा रह गया = जो तीनों लोकों के प्रलय, पालन और सर्ग का सेतु है वह शशिकला का आभूषण पहना—(चन्द्रमौलि भगवान् शंकर) आपकी रक्षा करे। यहाँ तच्छब्दार्थ का दो बार परामर्श मानना होगा—अतः पुनरुक्ति दोष होगा।

कथं तर्हि यत्तदोर्विषये कविभिरिदमेतददःप्रभृतयः शब्दाः प्रयुक्ताः, प्रयुज्यन्ते च। न च ह्यसति पर्यायत्वे तस्मिन्नेवार्थे पदान्तरप्रयोगमाद्रियन्ते स्वस्थचेतस इति प्रयोगप्रवाहप्रामाण्यादेषां तदभिन्नार्थता परिकल्प्यते। न हि तमन्तरेण शब्दानां तदतदर्थनिश्चयनिबन्धनमन्यत् किञ्चिदुत्पश्यामः।

(प्रश्न) तो कवियों द्वारा यद् और तद् के लिए इदम् अदस् एतद् आदि शब्दों का प्रयोग कैसे किया गया और किया जाता है। जिनकी बुद्धि स्वस्थ होती है वे पर्यायवाची न होने पर (एक शब्द के स्थान पर) दूसरे शब्द का प्रयोग अच्छा नहीं मानते। इसलिए चले आ रहे प्रयोग के प्रमाण पर इन (इदम् आदि शब्दों) को उन (यद् और तद् शब्दों) से अभिन्नार्थक मानना

पड़ता है। उसको छोड़ और कोई ऐसा प्रमाण हम नहीं पाते जिससे (किसी शब्द की किसी अन्य शब्द से) अभिन्नार्थता या भिन्नार्थता ठहराई जा सके।

परिकल्प्यत **इति प्रयोगप्रवाहप्रामाण्यान्यथानुपपत्त्याऽऽयातयाऽर्थापत्त्येत्यर्थः।** तमन्तरेणेति। **तच्छब्देन प्रयोगप्रवाहः परामृष्टः।** तदतदर्थत्वनिश्चयो **विवक्षिताविवक्षितार्थत्वनिश्चयः।**

परिकल्प्यते—अर्थात् प्रयोग प्रवाह के प्रामाण्य की और किसी प्रकार से (उपपत्ति) मान्यता नहीं होती अतः उपस्थित हुई अर्थापत्ति से यह कल्पना करनी होती है।

तमन्तरेण—में तद् शब्द से प्रयोगप्रवाह का परामर्श किया गया है।

तदतदर्थनिश्चय—विवक्षितार्थकता और अविवक्षितार्थकता का निश्चय।

अत्रोच्यते। उक्तनयेन तावत् तेषां तदभिन्नार्थतानुपपत्तिरुपपादितैव। यदि तु तामपह्नुत्य गतानुगतिकया—

'योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश ! निखिलं भवद्वपुः।

स्वात्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ॥'

इति 'स्मृतिभूस्मृतिभूर्विहितो येनासौ रक्षतात् क्षताद् युष्मान्' इत्यादिप्रयोगदर्शनमात्रानुरोधेन तेषां सा परिकल्प्यते तर्हि यथादर्शनं व्यवहितानामेव, अव्यवहितत्वे वा भिन्नविभक्तिकानामेव सा परिकल्प्यताम्। इतरथा तु तेषां तत्परिकल्पनमन्याय्यमेव।

इस (पूर्वपक्ष) पर (उत्तर) देते हैं—

उपर्युक्त प्रकार से हमने यह सिद्ध कर ही दिया है कि वे (अदः आदि शब्द) उन (तद् आदि शब्दों) से अभिन्नार्थक नहीं होते। पर यदि उसे (अभिन्नार्थकता के अभाव को) न मानकर केवल अँधाधुन्ध तौर पर 'जो (व्यक्ति) इस समस्त प्रपञ्च को विना किसी विकल्प के आपका शरीर देखा करता है, हे ईश ऐसे नित्य सुखी को किससे भय, उसके लिये तो सारा संसार अपने ही भाइयों से भरा होता है। इस प्रकार के और—'काम को जिसने केवल स्मरण की वस्तु बना दिया ऐसे (भगवान् शंकर) आप लोगों की हानि से रक्षा करे।'—इस प्रकार के प्रयोग को देखकर इतने से ही उनकी (अदः आदि शब्दों की) वह (तदादि से अभिन्नार्थकता) मानी जाती हो तो फिर (यदादि शब्दों से) दूरस्थ (अदस् आदि शब्दों) की ही (तदादिशब्दाभिन्नता) मानी जानी चाहिये। अथवा समीपस्थ पर अव्यवहित होने पर यदि वे (अदस् आदि शब्द) भिन्न विभक्ति में प्रयुक्त हों तब। और प्रकार से तो उनकी तदभिन्नार्थकता (अदस् आदि की तदादि से अभिन्नार्थता) का जानना अन्धेर ही है।

यदि तु तामिति **तदभिन्नार्थतानुपपत्तिः परामृष्टा। गतेऽनुगतं यस्य स गतानुगतिकः। मत्वर्थीयोऽत्र ठन्प्रत्ययः। येनैव पथा एको गच्छति तेनैवाविचारितेनैव यो गच्छति स इत्यर्थः। ततो भावप्रत्ययः।**

अविकल्पमित्य**कारप्रश्लेषः। निश्शङ्कमित्यर्थः। यद्वा न विकल्पमात्रेण, अपि तु साक्षादित्यर्थः।** स्मृतिभूः **कामः। द्वितीयः स्मृतिभूशब्दः स्मरणविषये प्रयुक्तः। दग्धत्वात् स्मृतिमात्रशेष इत्यर्थः।** क्षतात् **वधात्।**

यदि तु ताम् = इसके द्वारा 'तदभिन्नार्थतानुपपत्ति' का परामर्श किया गया है। गये के पीछे जो जाए वह होगा गतानुगतिक, इसमें ठक् प्रत्यय मत्वर्थीय है। अर्थात् वह (व्यक्ति गतानुगतिक होता है) जो जिस रास्ते एक आदमी निकला उस पर विना विचारे चल पड़े। उससे भावार्थक प्रत्यय हुआ।

योऽविकल्प—इसमें अकार का प्रश्लेष है। (अविकल्प का) अर्थ हुआ—निश्शंक होकर। अथवा केवल विकल्प भर से नहीं अपितु साक्षात्।

स्मृतिभूः—काम। दूसरा स्मृतिभू शब्द 'जिसकी याद की जाय'—उसके अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मतलब यह कि जल कर भस्म हो जाने से केवल स्मरण की चीज बनकर रह गया।

क्षतात् = वध से।

तत्र हि प्रत्युत सा तयोस्तदितरपरामर्शव्यपेक्षा सुतरामुन्मज्जति यथा 'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां वितनुते तदाचष्टे लोकः' इति 'सोऽयं वटः श्याम इति प्रकाशस्त्वया पुरस्तादुपयाचितो य' इत्यादौ च।

न चासाविहावश्यं प्रयोक्तव्यः सन् प्रयुक्त इति तदवस्थ एव दोषावकाशः।

उस स्थिति में तो उलट उनकी वह एक दूसरे के परामर्श की आकांक्षा और अधिक सामने आती है। उदाहरणार्थ—

'जो यह चन्द्र के बीच मेघखण्ड की छबि पैदा कर रहा है उसे लोग।' यह

और—

'(सामने) यह वह श्याम नामक वट है—पहले जिससे तुमने याचना की थी' ऐसे प्रयोगों में।

'योऽसौ' इस जगह यह (अदः शब्द) इसलिये प्रयुक्त नहीं है कि उसका प्रयोग अनिवार्य हो, इसलिए दोष की गुञ्जाइश तो वैसी की वैसी ही है।

व्यवहितानामेवेति यथा **'योऽविकल्प'मित्यादौ।** अव्यवहितत्वे वेति। **यथा 'स्मृतिभूरि'-त्यादौ। एतदर्थमेवोदाहरणद्वयमुक्तम्।**

तत्र हीति **इदमादिसहितप्रयोगे।** तयोरिति **यत्तदोः।** तदितरेति **यच्छब्दैकतरप्रयोगे अन्यतरापेक्षेत्यर्थः।** सुतरामिति **इदमादिसाहित्येन प्रयुक्तो यच्छब्दः स्वभावतो विकासितास्य एव तच्छब्दं प्रतीक्षते, एवं तच्छब्दोऽपि यच्छब्दमिति ज्ञेयम्। एतच्च क्रमेणोदाहृतं यदेतदिति, सोऽयमिति च।**

व्यवहिमानामेव—जैसे योऽविकल्प इत्यादि पद्य में।

अव्यवहितत्वे वा—जैसे स्मृतिभूः (स्मृतिभूः) पद्य में।

यही दिखलाने के लिए ये दो उदाहरण दिये हैं।

तत्र हीति—इदमादि के साथ साथ प्रयोग होने पर।

तयोः—अर्थात् यत् और तद् के।

तदितरः—स्वभावतः किसी एक के प्रयोग किये जाने पर अन्य की अपेक्षा।

सुतराम्—इदम् आदि के साथ प्रयोग में लाया गया यत् शब्द स्वाभाविक रूप से तच्छब्द की प्रतीक्षा में मानों मुँह बाये रहता है। इसी तरह तच्छब्द यच्छब्द के लिए। इसके उदाहरण भी इसी क्रम से दे दिये गये हैं—'यदेतत्' और 'सोऽयम्' यह।

तस्मादपेतप्रकान्तसम्बन्धसहायस्यास्य यदोऽनुपपन्नप्रक्रंस्यमानवस्तुसमन्वयस्यैकाकिनः सार्थभ्रष्टस्येव तपस्विनः पथिकस्य सन्मार्गोपदेशिकं तच्छब्दाध्याहारमेवैकं शरणमन्तरेण नापरोऽभिमतार्थसङ्गमोपायः सम्भवति।

इसलिए जैसे सभी संगियों से बिछुड़कर अकेले पड़े किसी पथिक बेचारे के लिए सन्मार्ग बतलाने के बिना अपने लक्ष्य तक पहुँचने का उपाय सम्भव नहीं वैसे ही इस यच्छब्द के लिए भी तच्छब्द के अध्याहार के बिना विवक्षितार्थ तक पहुँचने का कोई उपाय नहीं रहता, कारण कि वह प्रकरण-प्राप्त अर्थ के सम्बन्ध की सहायता से छूटा ही हुआ है ऊपर से आगे आने वाले पदार्थ के साथ समन्वय बनता नहीं है।

यथान्यस्मिन् ग्रन्थे न प्रदर्शनमुपयुज्यते तद्वदस्य यच्छब्दस्य न प्रक्रान्तपरामर्शे सम्बन्धो, नापि प्रक्रंस्यमानवस्तुसमन्वयमार्गोपदेशे तच्छब्दाध्याहारः शरणम्। स च सत्काव्यकलङ्कायमानो हेय एव।

'यथा अन्यस्मिन् ग्रन्थे न प्रदर्शनमुपयुज्यते तद्वद्'—इस यद् शब्द का न तो प्रकरण से आ रहे किसी अर्थ के परामर्श से सम्बन्ध है और न आगे प्रकरण में आने वाले पदार्थ के साथ समन्वय करा सकने योग्य कोई तच्छब्द ही उसे प्राप्त है। इसलिए वह किसी भी अच्छे काव्य के लिए कलंकवत् है अतः त्याज्य ही है।

विमर्श : यहाँ यथा अन्यत्र तद्वद् तक का व्याख्यानांश ठीक बैठता नहीं है। कुछ अंश छूटा प्रतीत होता है।

स चैवंविधेषु सूक्तिरत्नेषु कलङ्कायमानो मनागपि न काव्यमाणिक्यवैकटिकानां सचेतसां मनांस्यावर्जयितुमलमिति।

और वह (सदोष साकाङ्क्ष यद् शब्द) इस प्रकार के उज्ज्वल पद्यों में कलङ्कतुल्य होता है। इसलिए सहृदय जनों के हृदय को लेशभर भी आकृष्ट नहीं कर सकता कारण कि वे तो काव्यरूपी मणि के पारखी होते हैं।

अनुक्त्वैव परामृश्यं प्रयोगो यत्र यत्तदोः।
निरन्तरः पुनस्तत्र तयोरुक्तिर्न दुष्यति ॥ ८ ॥
तयोर्निरन्तरोपात्तेष्विदमेतददस्सु च।
तयोस्तेषां च नापेक्षा तेष्वसत्स्विव शाम्यति ॥ ९ ॥
उदाहरणजातं यत् तत्साङ्कर्यसमुद्भवम्।
तस्य दिङ्मात्रमस्माभिरुक्तं विस्तरभीरुभिः ॥ १० ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

१—जहाँ परामर्श योग्य अर्थ को बिना कहे यत् और तत् का प्रयोग साथ-साथ मिलाकर कर दिया जाता है, वहाँ उनका पुनः प्रयोग दोषावह नहीं होता—(यथा-'यत्तदूर्जित' इत्यादि में)

२—और उन (यद्-तद्) से सटकर = इदम्, एतद् अदस् के प्रयुक्त होने पर उन दोनों की आकाङ्क्षा ठीक वैसे ही शांत नहीं होती जैसे उनके न रहने पर।

'तयोस्तेषां च अपेक्षा—तेष्वसत्स्विव न शाम्यति।'

३—इस विषय में उनकी मिलावट से जितने उदाहरण बनते हैं उनमें से कुछेक ही हमने दिखलाये हैं। हमें विस्तार का भय था।

अनुक्त्वैवेति यत्तदोर्मध्ये परामृश्यमनुक्त्वा यत्र निरन्तरः प्रयोगः यथा 'यत्तदूर्जितमि'त्यादौ तत्र तयोर्यत्तदोर्यथायोगं पुनःप्रयोगो न दुष्यति यथा 'नूनं तदपि हारितमि'त्यादौ। तथा तयोर्यत्तदोः निरन्तरनिर्दिष्टेष्विदमादिषु सत्सु तयोर्यत्तदोः तेषामिदमादीनां च सङ्घटितत्वेन स्थितानां यथायोगं यत्तदोः प्रत्यपेक्षा न निवर्त्तते। यथा अप्रयुक्तेष्विदमादिषु केवलयोः पृथगवस्थितयोरपेक्षा न निवर्त्तते तद्वत् प्रयुक्तेष्वपीत्यर्थः। यथा 'यदेतच्चन्द्रान्तरि'ति, 'सोऽयं वट' इति च। एवं प्रकृतेऽपि 'योऽसावि'ति।

तत्साङ्कर्येति। यच्छब्दस्य पृथगिदमादिसाहित्ये तच्छब्दस्य च पृथगिदमादिसाहित्ये यत्तदोः परस्परसाहित्ये च बहवो भेदाः, तेषामुदाहरणेषु दिङ्मात्रं दर्शितम्।

सम्प्रति प्रायेण वाक्यार्थसमन्वयव्यापिनोर्यत्तदोर्योऽयं नित्याभिसम्बन्धत्वेनोपक्रमोपसंहारक्रमः, स प्रसङ्गाद् विचार्यते। स च पुष्टापुष्टदुष्टभेदेन त्रिविधः। पुष्टोऽपि प्रथमं शाब्दत्वार्थत्वभेदेन द्विविधः। शाब्दोऽपि यच्छब्दोपक्रमस्तच्छब्दोपक्रमश्चेति द्विविधः। आर्थोऽपि यच्छब्दमात्रानुपादाने तच्छब्दस्योपात्तस्य प्रसिद्धानुभूतप्रक्रान्तविषयेण यदाभिसम्बन्धात् त्रिविधः। यच्छब्दस्य च तच्छब्दानुपादाने केवलमुपात्तस्य प्रक्रान्तविषयेण कल्पिततत्कर्मादिविषयेण च तदाभिसम्बन्धाद् द्विविधः। उभयानुपादाने तु द्वयोरुपात्तवस्तुविषयताकल्पन एक एव भेदः। एवं शाब्दो द्विविध आर्थः षड्भेद इत्यष्टविधो यत्तदोरुपक्रमोपसंहारक्रमः पुष्टः। तच्चैतच्चेह ग्रन्थकृतोदाहृतम्। यत्तदूर्जितमित्यादौ तु शाब्दस्यार्थस्य चोपसंहारक्रमस्य सङ्कीर्णत्वमिति नास्य पृथग्भावः। अपुष्टस्य दुष्टमध्ये प्रसङ्गेन वर्णयिष्यमाणत्वादिदानीं दुष्टो व्याक्रियते। तत्र यत्तदोः स्थाने तच्छब्दयच्छब्दनैरन्तर्येण सामानाधिकरण्येन चेदमादीनां दुष्टतैव तेषामतदर्थत्वात् तन्निकटे च प्रयुज्यमानानां प्रसिद्धिमात्रपरामर्शकत्वाद् यथा 'योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरि'ति। एवं तच्छब्दसान्निध्येनेदमादीनामुदाहरणमूह्यम्। विप्रकृष्टत्वेन सन्निकृष्टत्वेऽपि वैयधिकरण्येन वा तेषां प्रयोगे न दुष्टं नादुष्टमित्यपुष्टत्वमेव यथा 'योऽविकल्पमि'ति 'स्मृतिभूः स्मृतिभूरि'ति च। एवं च तच्छब्दोपक्रम उदाहर्त्तव्यम्। तथा तच्छब्दस्य परोक्षायमाणार्थप्रत्यवमर्शित्वादेकवाक्यस्थप्रत्यक्षायमाणप्रधानभूतार्थप्रत्यवमर्शे दुष्टत्वं 'यथा स वः शशिकलामौलिरि'त्यादौ। प्रधानग्रहणेन न कर्तृमात्रं निर्दिष्टम् अपि तु कारकान्तरमपि प्राधान्येन विवक्षितत्वात् प्रत्यक्षायमाणम्। तेन—

'स मेदिनीं विनिर्जित्य चतुर्जलधिमेखलाम्।
सचिवार्पिततद्भारस्तस्यामास्ते यथासुखम्॥'

इति मेदिन्यास्तच्छब्दपरामर्शो न सुन्दर इत्याहुः।

अनुक्त्वैव = परामर्श विषय को कहे बिना ही यत् और तद् का जहाँ निरन्तर (सटकर) प्रयोग होता है—जैसे—'यत्तदूर्जित' इत्यादि से। वहाँ उन यद् और तद् का जहाँ जैसा हो—फिर से प्रयोग किया जाना—दोषावह नहीं होता यथा—वहीं 'नूनं तदपि हारितम्' इत्यादि में।

इसी प्रकार = यद् तद् शब्द के साथ सटकर इदम् आदि शब्दों का प्रयोग होने पर—उन यत् तद् शब्दों की और उन = सटकर प्रयुक्त इदम् आदि शब्दों की यद्‌तद्—विषयक—आकाङ्क्षा, वह भले ही जहाँ जैसी हो—शान्त नहीं होती। अभिप्राय यह कि जैसे इदमादि के

प्रयोग न होने पर स्वतन्त्र रूप से अलग प्रयुक्त यत्-तद् की आकाङ्क्षा शान्त नहीं होती उसी प्रकार—सटकर प्रयुक्त होने पर भी। उदाहरणार्थ—

यदेवचन्द्रान्तर्जलदलवलीलाम्०० इसमें और सोऽयं वट श्याम इत्यादि में।

इसी प्रकार प्रकृत 'योऽसौ' में भी—तद् की आकाङ्क्षा अदस् शब्द के रहने पर भी शांत नहीं होती।

अलग आए इदम् आदि के साथ यद् शब्द के और, उसी प्रकार—अलग आए इदम् आदि के साथ तद् शब्द के प्रयोग तथा यद् और तद् के अपने सम्मिलित प्रयोग से बहुत से भेद हो जाते हैं। दिए उदाहरणों में उनका रास्ता दिखलाया गया है।

अब इसी प्रसंग में हम—वाक्यार्थ के समन्वय में कारणभूत यद् और तद् का जो नित्य सम्बन्धित उपक्रम और उपसंहार क्रम है—उसका विचार करते हैं।

वह 'उपक्रमोपसंहार' क्रम = 'पुष्ट, अपुष्ट और दुष्ट' भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें पुष्ट भी पहले पहल दो प्रकार का होता है—शाब्द और आर्थ। इनमें शाब्द दो प्रकार का होता है जिसका उपक्रम यद् शब्द से होता है और जिसका (उपक्रम)—तद् शब्द से। आर्थ भी तीन प्रकार का होता है = वहाँ केवल तच्छब्द का उपादान होता है। फिर वह तच्छब्द यद् शब्द की अपेक्षा करता है। यद् तीन प्रकार का होता है—प्रसिद्धिपरामर्शक, अनुभूतिपरामर्शक और प्रक्रमपरामर्शक। (इस प्रकार तीन प्रकार के यद् की अपेक्षा रखने से—तच्छब्द मात्र के उपादान से हुआ आर्थ 'उपक्रमोपसंहारभाव'—तीन प्रकार का हुआ। केवक यच्छब्द के उपादान होने पर उपक्रमोपसंहार भाव दो प्रकार का होता है—१. जब वह यच्छब्द—प्रक्रान्तविषयक तच्छब्द की आकाङ्क्षा रखता है और २. जब—यच्छब्द के अर्थ को कर्म आदि रूप में प्रतिनिर्दिष्ट करने वाले तद् शब्द की।

दोनों के अनुपादान में एक ही भेद होता है—उस समय उपात्तवस्तु में से ही किन्हीं को उन दोनों का विषय माना जाता है। इस प्रकार शाब्द दो प्रकार का और आर्थ छः प्रकार का = मिलकर = यह यत्तद् का पुष्ट—उपक्रमोपसंहार भाव ८ प्रकार का हुआ और वह (दो प्रकार का शाब्द उपक्रमोपसंहार भाव) तथा—यह (६ प्रकार का आर्थ उपक्रमोपसंहार भाव) ग्रन्थकार ने उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर दिया है। 'यत्तदूर्जित' इत्यादि पद्य में शाब्द और आर्थ दोनों ही उपक्रमोपसंहार मिले हैं—अतः वह वस्तुतः = दोनों का संकर है। वह अलग कोई भेद नहीं।

अपुष्ट को दुष्ट के बीच गिना जाएगा—इसलिए अब दुष्ट का स्पष्टीकरण किया जाता है।

यद् और तद् के स्थान पर तद् शब्द और यद् शब्द से मिलाकर इदम् आदि का एक ही वेभक्ति में प्रयोग—दोषपूर्ण ही है, कारण कि वे (इदम् आदि) तदर्थक (तद्—यद् अर्थ के) नहीं होते और उनके निकट में प्रयुक्त होने पर एकमात्र प्रसिद्धि का परामर्श करते हैं। जैसे—योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं या त्वम्बिकाकेसरी—यहाँ ऐसे ही तच्छब्द के साथ आए—इदम् आदि के उदाहरण भी समझ लेने चाहिए।

दूर या समीप में भी—भिन्नविभक्तिक रूप से उन (इदम् आदि) का प्रयोग हो तो वह सदोष नहीं और न अदोष इसलिए वह अपुष्ट ही होता है। उदाहरणार्थ—'योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलम्' = इत्यादि। और 'स्मृतिभूः स्मृतिभू'—इत्यादि। इसी प्रकार तत् शब्द से आरम्भ होने वाले वाक्यों के उदाहरण ले लेने चाहिए—जैसे तच्छब्द—परोक्ष—अर्थ का प्रत्यवमर्श कराता है, इसलिए यदि वह एक वाक्य में ही स्थित प्रत्यक्ष अर्थका प्रत्यवमर्शक बनाकर उपस्थित कर दिया जाय तो सदोष होता है—यथा = 'स वः शशिकलामौलिः'। प्रधान कहने का

अभिप्राय यह नहीं कि केवल कर्ता ही प्रधान होने से प्रत्यक्ष अर्थ समझा जाय, अपितु प्रधान रूप से विवक्षित अन्य कारक भी प्रत्यक्ष अर्थ माने जा सकते हैं। यथा—

स मेदिनीं विनिर्जित्य चतुर्जलधिमेखलाम्। सचिवार्पिततद्भारस्तस्यामास्ते यथासुखम्॥

इसमें मेदिनी कर्मकारक है। वह पूर्वार्द्ध में उपात्त ही है, अतः उत्तरार्द्ध में उसका प्रत्यवमर्श = 'तस्याम्' इस प्रकार तद् शब्द द्वारा किया जाना सदोष है) इस जगह—मेदिनी का तच्छब्द से परामर्श सुन्दर नहीं।

तथा यत्तदोः पदार्थवाक्यार्थगतत्वेन द्विविधावस्थाने यदेकस्य पदार्थनिष्ठत्वादन्यस्य वाक्यार्थविषयत्वं तद् भिन्नविषयत्वेन नित्याभिसम्बन्धपरिपन्थि दुष्टमेव। यथा—

'हेम्नां भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण तदर्पितानि गुणिने बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिविसरैरुट्टङ्किताः कीर्त्तय-
स्तत् कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम्॥' इति।

या इति पदार्थविषयत्वमभियातस्य यच्छब्दस्य। तदिति तु वाक्यार्थविषयस्तच्छब्दः। पदार्थविषये ता इति स्यात्। अत्रैव 'यद्बाणेन तु तस्ये'ति 'ताः कल्पप्रलयेऽपि' इति च पाठे यदो वाक्यार्थविषयत्वे तदः पदार्थनिष्ठत्व उदाहरणं देयम्। तस्माद्या बाणेन त्विति ताः कल्पप्रलयेऽपीति च पठनीयम्। इह तु—

'इन्दीवरं यदतसीकुसुमस्य वृत्त्या यत् केतकं जरठभूर्जदलानुवृत्त्या।
यन्मन्यसे च बकुलं करवीरवृत्त्या सा साम्प्रतं मधुप! हन्त तवैव हानिः॥' इति।

न केवलं यच्छब्दो वाक्यार्थविषये, यावत्तच्छब्दोऽपि। यदिपरं स वाक्यार्थो हानिपदेन पिण्डीकृत्य प्रकाशितस्तच्छब्देन परामृष्टः। अत एवात्र तच्छब्दस्य विधेयपदार्थाभिप्रायेण स्त्रीलिङ्गत्वम्। अनुवाद्याभिप्रायेण तु तत् साम्प्रतमिति। उभयथापि लिङ्गपरिग्रहः शिष्टप्रवाहे स्थितः।

किञ्च यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धाद् गुणप्रधानयोश्च सम्बन्धार्हत्वात् परामृश्य एकत्र यच्छब्दवाक्ये तच्छब्दवाक्ये वा निर्दिष्ट इतरवाक्ये तदा यदा वा प्रत्यवमृश्यते। यच्छब्दवाक्ये तु निर्दिष्टो न यच्छब्दान्तरेण, गुणानां प्रधानानां च परस्परमभिसम्बन्धात्। एवञ्च तथाऽपरामर्शौ द्वौ दुष्टताभेदौ। यथा—

'येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभि-
र्लीलापानभुवश्च नन्दनतरुच्छायासु यैः कल्पिताः।
येषां हुङ्कृतयः कृतामरपुरक्षोभाः क्षपाचारिणां
किं तैस्त्वत्परितोषकारि विहितं किञ्चित् प्रवादोचितम्॥' इति।

क्षपाचारिणामिति षष्ठ्यन्तं यच्छब्देन सम्बद्धं यच्छब्दान्तरेण (एव च) प्रत्यवमृष्टम् [न तच्छब्देन इति शेषः]। क्षपाचारिभिरिति पाठो न्याय्यः, एवं तच्छब्दवाक्ये निर्दिष्टं यच्छब्दैः परामृश्यमानं न दुष्यति।

इसी प्रकार—यद् और तद् शब्द पदार्थ तथा वाक्यार्थ—विषयक होने से दो प्रकार के होते हैं, इस स्थिति में एक के पदार्थविषयक होने पर अन्य का वाक्यार्थविषयक होना दोषपूर्ण है, कारण कि उनका विषय भिन्न हो जाता है इस लिए वह (उनके) नित्य अभिसंबन्ध का विरोधी होता है। उदाहरणार्थ—

'श्रीहर्ष' ने गुणी बाण को जो सोने के सैकड़ों भार और मदमाते हाथियों के समुदाय समर्पित

किए—आज वे कहाँ है ! किन्तु बाण ने जो उस (श्री) हर्षकी कीर्ति अपने सूक्ति-समुदाय से उत्कीर्ण कर दी वह कल्पान्त तक में तनिक भी धूमिल नहीं होगी।'

इसमें 'याः' इस प्रकार स्त्रीलिङ्ग बहुवचन यच्छब्द का विषय पदार्थ (कीर्ति) बनाया गया है किन्तु 'तद्' नपुंसक लिङ्ग एकवचन प्रथमा का वाक्यार्थ।

यदि उससे पदार्थ का परामर्श अभीष्ट होता तो 'ताः' इस प्रकार पाठ होता। इसी उदाहरण में 'यद्' के वाक्यार्थ-विषयक होने तथा 'तद्' के पदार्थविषयक होने से (उत्पन्न दोष) का उदाहरण समझा जा सकता है यदि—'यद् बाणेन'''ताः कल्पप्रलयेऽपि० ऐसा पाठ कर दिया जाय। इसलिए 'या बाणेन'''ताः कल्पप्रलयेऽपि'''' ऐसा पाठ चाहिये।

इस प्रसंग में (यह ध्यान देने की बात है कि) केवल यच्छब्द ही वाक्यार्थविषयक नहीं होता, तच्छब्द भी होता है। जैसे—

'इन्दीवरं यदतीकुसुमस्य वृत्त्या'''सा सांप्रतं मधुप हन्त तवैव हानिः। अर्थात्—हे मधु पीने वाले (भ्रमर) तुम जो इन्दीवर (नीलकमल) को अलसी का फूल, केतक को भूर्जपत्र और बकुल को करवीर मान रहे हो वह तुम्हारी ही हानि है' इस पद्य में सिर्फ वह वाक्यार्थ हानिपद द्वारा इकट्ठा करके प्रकाशित कर दिया गया है और फिर उसका तच्छब्द से परामर्श किया गया है। इसीलिए यहाँ विधेयपदार्थ के अनुसार तद्शब्द में स्त्रीलिङ्ग है। अनुवाद्य के अनुसार तो 'तत् साम्प्रतं' इस प्रकार उसमें नपुंसकलिङ्ग होता। शिष्टजन दोनों (अनुवाद्यानुसार और विधेयानुसार) प्रकार से लिङ्ग प्रयोग करते हैं।

अपरंच = किसी एक यच्छब्दवाक्य में या तच्छब्दवाक्य में दिया गया परामर्शविषयीभूत-पदार्थ—दूसरे वाक्य में तद् शब्द द्वारा या यद् शब्द द्वारा बतलाया जाता है क्योंकि यत्तद् का एक दूसरे से नित्य सम्बन्ध होता है और प्रधान तथा अप्रधान का संबन्ध हो भी सकता है। ऐसा नहीं कि यच्छब्द वाक्य में निर्दिष्ट विषय का किसी दूसरे यच्छब्द से ही प्रत्यवमर्श हो। क्योंकि संबन्ध सदा प्रधान और अप्रधान का होता है—(प्रधान प्रधान या अप्रधान अप्रधान का नहीं)। इस प्रकार दो दोष होते हैं। जैसे—

'जिनके प्रताप की गरमी से इन्द्र के हाथी के मद की नदियाँ सूख गईं, जिन्होंने नन्दन के वृक्षों की छाया में लीलापानस्थली बनाई, और जिन राक्षसों की हुङ्कार देवनगर को क्षुब्ध करने वाली थी—उन्होंने तुम्हें परितुष्ट करने योग्य क्या किया, जैसी कि वे डींग हाँकते रहते थे।'

यहाँ 'क्षपाचारिणाम्' यह षष्ठयन्त 'येषां' इस एक यच्छब्द से संबद्ध है और उसका प्रत्यवमर्श दूसरे यच्छब्द से ही किया जा रहा है (न कि तच्छब्द से) इसलिए 'क्षपाचारिभिः' ऐसा पाठ चाहिए। ऐसा करने से 'क्षपाचारि' पदार्थ का सम्बन्ध तच्छब्द वाक्य से हो जाता है फिर उसका संबन्ध सभी यच्छब्दों से हो सकता है। उसमें कोई दोष नहीं।

यथा च—

'पुण्ड्रेक्षोः परिपाकपाण्डुनिबिडे यो मध्यमे पर्वणि
ख्यातः किञ्च रसः कषायमधुरो यो राजजम्बूफले।
तस्यास्वाददशाविलुण्ठनपटुर्येषां वचोविभ्रमः
सर्वत्रैव जयन्ति चित्रमतयस्ते भर्तृमेण्ठादयः॥' इति।

अत्र द्वितीये यच्छब्दवाक्ये रसः परामृश्यो निर्दिष्टस्तच्छब्देन परामृश्यते। प्रथमे यच्छब्दवाक्ये तु यच्छब्दपरामर्शो न युज्यते द्वयोरसम्बन्धात्। (इदानीं यत्र तत्पद-

परामृष्टस्य तेनैव तत्पदेन प्रत्यवमर्शः, न तु येन भाव्यः तेन यत्पदेन, तत्र दोषं दर्शयति) यथा—

'नमोऽस्तु ताभ्यो भुवने जयन्ति ताः सुधामुचस्ताश्च कवीन्द्रसूक्तयः।
भवैकविच्छेदि कथाशरीरतामुपैति यासां चरितं पिनाकिनः॥' इति।

कवीन्द्रसूक्तीनां तच्छब्दवति वाक्ये निर्दिष्टानां तच्छब्दान्तरेण परामर्शो न युक्तः।

किञ्च यत्तच्छब्दयोः स्वभावेन वाक्यभेदोत्थापकत्वेन यदेकतरवाक्येऽन्यतरदेव प्रयुज्यते तदपि दुष्टमेव। यथा—

'अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैरत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेयमाहात्म्यसारसमुदायमयः पदार्थः॥'

इत्यत्र यद्यपीत्यपेक्षितम्। न च तदेकवाक्यानां सम्बन्धुं योग्यम्।

एकत्रापि वाक्ये गुणक्रियादिगतं कल्पितं भेदमाश्रित्य प्रक्रान्तवस्तुविषयतच्छब्दप्रयोगे, प्रधानक्रियायां परामृश्यस्य प्रधानत्वादेव स्वरूपेण निर्देशे, गुणक्रियादिविषये तु तच्छब्देन परामर्शे न्याय्ये, यद्विपर्ययकरणं तद् दुष्टमेव। यथा—

'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥' इति।
'बलिं प्रजाभ्यो जग्राह स तासामेव भूतये' इति युक्तः पाठः।

और जैसे—

'पौंड़े गन्ने की पक कर पीली पड़ी बीच वाली पोर में जो रस देखा जाता है और जो रस कषाय-मधुर बड़ी जामुन में, जिनकी वाणी का विलास—उसकी आस्वाद स्थिति को लूट लेने में चतुर है—वे भाँति भाँति की मति वाले भर्तृमेण्ठ आदि कवि सब जगह सर्वोत्कृष्ट हैं।'

यहाँ द्वितीय—यच्छब्द वाक्य में परामर्श का विषय—'रस' कह दिया गया, उसका प्रत्यवमर्श तच्छब्द से किया जा रहा है वस्तुतः पहले यच्छब्द वाक्य में यच्छब्द का परामर्श ठीक नहीं होता, कारण कि तब दोनों असंबद्ध रहे आते हैं।

(प्रथमे यच्छब्दवाक्ये का अभिप्राय वस्तुतः संगत नहीं है) जैसे—

उन्हें नमस्कार है, भुवन में उन सर्वविजयी का और उन सुधानिष्यन्दिनी—कविवरों की सूक्तियों को। भगवान् शंकर का संसारचक्र से छुड़ाने वाला चरित जिनकी कथा का शरीर बनता है।' इस प्रकार तच्छब्द वाले वाक्यों में बतलाए गए (कवीन्द्रसूक्ति आदि) पदार्थों का दूसरे तच्छब्दों से परामर्श ठीक नहीं है।

अपरं च—यत् और तत् शब्द स्वभावतः वाक्यभेद (वाक्य में भिन्नता) उपस्थित करते हैं। इस स्थिति में यदि एक वाक्य में किसी एक का ही प्रयोग होता है तो वह भी दुष्ट ही है। जैसे—

'असाधारण की और अत्यन्त अद्भुत लोकोत्तर चरित से अपहृत की तब भी आस्था नहीं है। यह कोई छोटे से वीर शिशु के आकार में—अमित प्रभाव और बल के समुदाय से युक्त पदार्थ है।'

यहाँ—(तथापि के लिए) यद्यपि चाहिए। और (यद्यपि का प्रयोग करने पर) वह एक वाक्य में ठीक बैठ नहीं सकता।

एक वाक्य में भी यदि गुण-क्रिया आदि में कल्पित भेद को लेकर प्रकान्त वस्तु विषयक

तच्छब्द का प्रयोग हो तो जहाँ प्रधान क्रिया में परामर्शनीय होने से प्रधान—पदार्थ का स्वरूपतः स्ववाचक शब्द द्वारा कथन किया जाना चाहिए और अप्रधान क्रिया में परामर्शनीय होने से तच्छब्द द्वारा परामर्श किया जाना चाहिए—वहाँ उसके विरुद्ध निर्देश करना दुष्ट ही है। यथा—

प्रजाओं की ही उन्नति के लिए उसने उनसे बलि ली। सूर्य हजार गुना देने के लिए रस लेता है। यहाँ—'बलिं प्रजाभ्यो जग्राह स तासामेव भूतये' यह पाठ होना चाहिए।

विमर्श : वाक्य-योजना का नियम यह है कि यदि उसमें 'प्रधान कार्य और फलकथन दोनों का उल्लेख—तत् सर्वनाम के प्रयोग द्वारा किया जाए तो सर्वनामको—फलकथन वाले वाक्यांश में रखना चाहिए, और प्रधान कार्यका निर्देश जिस वाक्यांश में हो उसमें सर्वनाम के परामृश्य को रखना चाहिए—जैसे यदि—'गुरु शिष्यों को पढ़ाता है। कारण कि वह उनकी उन्नति चाहता है' इस तथ्य को एक वाक्य में कहना होतो—'गुरु शिष्यों का पढ़ाता है—उनकी उन्नति के लिए' यह कहा जायगा—अर्थात् फलकथन वाले वाक्यांश में 'उनकी' इस प्रकार सर्वनाम रखा जायगा और उसके द्वारा निर्देश्य—शिष्यपदार्थ—प्रधान क्रिया वाले वाक्य में। ऐसा न कह कर 'गुरु शिष्यों की ही उन्नति के लिए उन्हें पढ़ाता है'—ऐसा कहना ठीक नहीं। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए व्याख्यानकार ने कालिदास का पद्य उद्धृत किया है—'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।' इसमें 'भूत्यर्थम्' यह फलकथन का वाक्यांश है। इसमें कवि ने—प्रजापदार्थ को रखा और उसका प्रतिनिर्देश 'तासाम्' द्वारा प्रधान क्रिया अग्रहीत् वाले वाक्यखंड में किया।

ऐसा करने से फलकथन जो विधेय है वह गौण हो जाता है, फलतः विधेयता की स्पष्ट प्रतीति न होने से विधेयाविमर्श दोष बन बैठता है। व्याख्यानकार इसका परिष्कार-'बलिं प्रजाभ्यो जग्राह स तासामेव भूतये'—इस प्रकार पाठ परिवर्त्तन द्वारा करते हैं। इसमें फलकथन वाक्यांश = 'तासामेव भूतये' में स्पष्ट रूप से विधेयता की प्रतीति होती है। अतः यही पाठ ठीक है।

तथैकविषयत्वे यत्तदोरेकस्य द्रव्यादिविषयत्वेऽन्यस्य कालादिगोचरत्वे दुष्टमेव। यथा—

'त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः।
अयि! द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे! संवदति वा-
मतः शेषं यत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया॥'

अत्र 'अतः शेषं चेत् स्यादि' ति पठनीयं चेच्छब्दस्य यदिशब्दार्थत्वात्।

इसी प्रकार जहाँ यद् और तद् दोनों का विषय एक ही होना चाहिए (वहां दोनों में से) एक का विषय द्रव्यादि हो जाए और दूसरे का कालादि तो वह भी दुष्ट ही है। उदाहरणार्थ—

'तुम इतनी सुन्दर हो और वह सुन्दरता का पारखी है। तुम्हीं दोनों कला की पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए हो। इसलिए हे सुन्दरि! तुम दोनों का जोड़ा जँचता तो बहुत है पर इसके बाद बचा है—वह हो जाए तब तो फिर गुणों की ही विजय है।' (यहाँ—अन्तिम चरण में) 'अतः शेषं चेत्स्याज् जितमिह तदानीं गुणितया' इसके बाद जो बचा है यदि वह हो जाय तब तो···ऐसा पाठ चाहिए। क्योंकि चेत् शब्द यदि शब्द का पर्याय है।

विमर्श—अन्तिम चरण में यद् और तदानीं में तद् दोनों का प्रयोग है। पर प्रथम यद् मिलन क्रिया का वाचक है और तदानीं—'उस समय'-कालका, फलतः दोनों का विषय एक न

होकर भिन्न हो जाते हैं। इससे उद्देश्य-विधेयभाव का ज्ञान नहीं होता। यत् के स्थान पर चेत् दे देने से यदि का अर्थ आ जाता है तब तदानीं की संगति बैठ जाती है। वह निर्धारणार्थक हो जाता है।

काव्यप्रकाशकार ने प्रस्तुत पद्य को अभवन्मतयोग का उदाहरण माना है। उन्होंने—इस पद्य में दो आवश्यकताएँ बतलाई हैं। एक तो 'अतः शेषं यत् स्यात्' में यत् के लिए तद् की और 'जितमिह तदानीं' में—तदानीं के लिए—यदा की। दोनों की पूर्त्ति के लिए—अतः शेषं यत् तद् यदि-स्यात्—जितमिह तदानीं गुणितया' पाठ चाहिए।

प्रदीपोद्योतकार ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—प्रस्तुत पद्य में गुण-विजय के साथ प्रयोजकतासंबन्ध से अवशिष्ट घटना का हो जाना विवक्षित है। इसलिए 'शेष का पूर्ण होना' इन पदार्थों का गुणविजय के साथ (अन्वय) संबन्ध कवि को मान्य है। वह दो प्रकार से हो सकता है। एक तो अगर 'यत्' का अर्थ यदि कर दिया जाय तब और दूसरे तब जब तद् और यदि की विवक्षा मानी जाय। प्रथम पक्ष के अनुसार यदि यत् को यदि माना जाय तो उसमें अवाचकत्व दोष होगा, कारण कि यद् की यदि में शक्ति नहीं, और दूसरे पक्ष के अनुसार यदि "तद् यदि' की विवक्षा स्वीकार कर ली जाय तो न्यूनपदत्व दोष होता है। किसी भी प्रकार—'शेष संपत्ति' का गुणविजय में अन्वय नहीं होता।

सुधासागरकार का कहना है कि यत् का अर्थ यदि ही है। पर तदानीं का प्रयोग बहुत दूर किया गया है अतः अर्थप्रतीति में विलम्ब होने से चमत्कार में विलम्ब होता है अतः यहाँ अभवन्मतयोग है।

तथा प्रक्रान्तविषयत्वे तच्छब्दस्य व्यवस्थिते तद्विषये प्रक्रम्यमाणवस्तुगोचरत्वं दोष एव। यथा—

> **'ये सन्तोषसुखप्रबुद्धमनसस्तेषां न भिन्नो मनो**
> **येऽप्येते धनलोभसङ्कुलधियस्तेषां तु दूरे नृणाम्।**
> **इत्थं कस्य कृते कृतः स विधिना तादृक् पदं सम्पदां**
> **स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुर्न मे रोचते॥'**

अत्र मेरुः प्रक्रम्यमाणः स इत्यनेन परामृष्टः।

इसी प्रकार—तच्छब्द के लिए विषय रूप से प्रक्रान्त वस्तु ही निश्चित है। यदि उसको प्रक्रम्यमाण वस्तु के लिए प्रयुक्त कर दिया जाय तो वह दोष ही होगा। जैसे—

'मेरु मुझे नहीं रुचता। उसकी सुवर्ण-महिमा तो अपने ही आप में सीमित है। जिनका मन संतोषसुख में प्रबुद्ध है उनका तो 'उससे' मद नहीं टूटता, और जिनकी मति धन लोभ से घिरी है उन से दूर है। इस प्रकार विधाता ने उतनी बड़ी सपत्ति का स्थान उसे बनया ही क्यों? यहाँ मेरु प्रक्रम्यमाण है। और उसे 'सः' = 'वह' इस प्रकार 'तद्' सर्वनाम से बतलाया गया।

विमर्श : तद् परोक्षार्थ का वाचक है। यहाँ मेरु परोक्ष नहीं, प्रकरण में प्रत्यक्ष है। अतः उसका तद् से परामर्श ठीक नहीं।

एतद् वाक्यभेद उदाहरणम्। एकवाक्ये तु

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।'

इति देयम्।

वाक्यभेद होनेपर यह उदाहरण है—एक वाक्य में—'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपागामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्' यह उदाहरण देना चाहिए।'

विमर्श : व्यक्तिविवेक और व्य० व्या० दोनों के रचयिताओं की यह मान्यता है कि इस पद्य में 'तदीय' शब्द से 'गंगासंबन्धी' अर्थ विवक्षित है। ऐसा मानने पर गंगा प्रत्यक्ष है अतः उसके लिए तद् शब्द का प्रयोग दोषावह साबित होता है।

वस्तुतः 'तीर्थे तदीये' में 'तदीय' से 'विन्ध्यसंबन्धी' अर्थ विवक्षित है। इस विषयपर हम आगे विवेचन करेंगे।

तथा निर्वीप्सेनैकेनोपक्रमे सवीप्सेनान्येन परामर्शो दुष्ट एव। यथा—

'यः कल्याणबहिर्भूतः स स दुर्गतिमश्नुते।'

सवीप्सेन त्वेकेन प्रक्रमे निर्वीप्सेनान्येनोपसंहारः सवीप्सस्य प्रत्यवमृष्टत्वाददुष्टोऽन्वयः किन्त्वपुष्ट एव यथा—

इसी प्रकार यदि उपक्रम में एक (यद् या तद्) अकेला हो और उपसंहार में दूसरा (तद् या यद्) एकाधिक बार कह दिया गया हो तो वह सदोष है। यथा—

'जो कल्याण से दूर है वह वह दुर्गति पाता है'। पर उपक्रम में एकाधिक बार किसी का प्रयोग हो और उपसंहार में अकेले एक का तो वह अन्वय निर्दोष होता है। कारण कि वहाँ एकाधिक का प्रत्यवमर्श हो जाता है, पर वह अपुष्ट होता है—यथा—

'कल्याणानां त्वमसि महसामीशिषे त्वं विधत्से
पुण्यां लक्ष्मीमिह मयि चिरं धेहि देव! प्रसीद।
यद्यत् पापं प्रतिजहि जगन्नाथ! नम्रस्य तन्मे
भद्रं भद्रं वितर भगवन्! भूयसे मङ्गलाय॥' इति।

अत्र यद्यदिति निर्दिष्टं केवलेन तच्छब्देन परामृष्टम्। एतद् यच्छब्दस्य सवीप्सस्योदाहरणम्। तच्छब्दस्य तु सवीप्सस्य निर्वीप्सेन परामर्श उदाहरणं यथा—

'क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः
सोढो दुस्सहशीतवाततपनक्लेशो न तप्तं तपः।
ध्यातं नित्यमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शम्भोः पदं
तत्तत् कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः॥' इति।

विमर्श : प्रस्तुत पद्य मालतीमाधव का है। इसमें तीन पाठ मिलते हैं—

१—कल्याणानां त्वमिह महसां भाजनं विश्वमूर्ते धुर्यां लक्ष्मीमथ मयि भृशं धेहि—

२—कल्याणानां त्वमिह महसामीशिषे त्वं विधत्से पुण्यां लक्ष्मीमथ मयि दृशं धेहि० तथा

३—यही—'कल्याणानां त्वमसि' व्य० व्या० का।

इनमें प्रथम पाठ—मालती-माधव मूल में मिलता है। उसके टीकाकार त्रिपुरारि और जगद्धर दोनों को यही पाठ मान्य है। साथ ही काव्यप्रकाश में भी यही पाठ प्राप्त होता है।

दूसरा पाठ—काव्यप्रकाश के नवीन टीकाकार वामन झलकीकर ने (अपनी बालबोधिनी में) दिया है। उन्होंने उसकी उपपत्ति में महसाम् का अर्थ उत्सवानाम् किया है और इसके साथ आई ईशिषे क्रिया में कल्याणानां महसां की षष्ठी को-'अधीगर्थदयेशां कर्मणि'के अनुसार कर्मार्थक बतलाया है। उनके इस पाठ में केवल तीन क्रिया हैं—ईशिषे, विधत्तां और धेहि। तदनुरूप

कर्म भी हैं—महस् , लक्ष्मी और दृश् । व्य० व्या० के पाठ में इन तीन क्रियाओं के साथ एक 'असि' क्रिया और है। और कर्म तीन ही हैं। अतः ठीक अन्वय नहीं बैठता। कभी अस्ति, अस्मि आदि को विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय मान लिया जाता है जैसे 'त्वामस्मि विदुषाम्' और 'अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः'— में अस्मि। यहाँ त्वम् भी है अतः असि को क्रिया ही मानना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि 'ईशिषे' भक्तिप्रतिरूपक अन्वय मान लिया जाय और उसका अर्थ 'ईशिता' कर दिया जाय तो हो सकता है, किन्तु इसमें संदेह है कि ऐसी क्रियाएँ भी विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय मानी हैं या नहीं। ऐसे प्रयोग नहीं मिलते इसके अतिरिक्त जो 'असि' के स्थान पर 'इह' और इह ान पर अथ, पाठ है उसमें कोई खास बात नहीं है।

हम यहाँ काव्यप्रकाश और मालतीमाधव के पाठ के अनुसार अनुवाद करते हैं—

हे विश्वमूर्त्ते—(सूर्य) तुम मंगलमय प्रकाशराशि के केन्द्र हो। तुम मुझपर विपुल मात्रा में लक्ष्मी—(प्रकाश) आहित करो।

हे जगत् के स्वामी—मैं तुम्हारे समक्ष नत हूँ। मेरे जो जो पाप हैं उन्हें दूर करो। गवान् तुम महामङ्गल के लिए उत्कृष्ट हित की वर्षा करो।'

यहाँ—यद् यद् (जो जो) इस प्रकार (वीप्सा के साथ=दो बार) निर्देश किया गया है और परामर्श केले तच्छब्द से किया गया है काव्यप्रकाशकार ने इसे निर्दोष माना है। परन्तु उनके कथन से व्या० की युक्ति का खण्डन नहीं होता। व्य० व्या०कार इस उदाहरण में अपुष्टता मानते हैं—नहीं। वे स्वयं कहते हैं कि अन्वय हो जाता है। काव्यप्रकाशकार 'अन्वय दोष का अभाव दिखाते हैं अतः दोनों की मान्यताएँ अलग हैं। यह तो हुआ यत् शब्द की वीप्सा का रण। जहाँ वीप्सायुक्त तच्छब्द का वीप्सारहित यच्छब्द से परामर्श होता है उसका रण यह है—

'सहा, पर क्षमा के साथ नहीं। गृहसुख तजा, पर संतोष से नहीं। दुःसह ठंढ, हवा और का क्लेश सहा, पर तप नहीं किया। प्राणों को नियमित करके निरन्तर शिवचरणों का नहीं किया (या = भगवान् शंकर के चरणों का ध्यान किया, किन्तु रात-दिन लगकर और को नियमित करके नहीं) इस प्रकार उन उन कामों को किया जरूर जिन्हें मुनि लोग करते हैं पर उन उन फलों से वंचित रहे।'

विमर्श: यहाँ 'उन उन कामों' इसमें आरम्भ किया 'उन उन' इस प्रकार वीप्सा से परन्तु केवल एक 'यद्' से अतः अपुष्टता हुई।

यत्र तु सवीप्सस्य प्रक्रमे सवीप्सेन प्रत्यवमर्शस्तत्र पुष्टत्वमेव यथा—

'यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥' इति।

जहाँ कहीं वीप्सायुक्त से आरम्भ और वीप्सायुक्त से ही उपसंहार होता है वहाँ-अन्वय पुष्ट है। उदाहरण—

'पाण्डव सेना में अपनी भुजाओं का बड़ा गर्व रखने वाले जो जो शस्त्र धारण किए हुए हैं, बुड्ढा या गर्भ रूपमें जो जो भी पांचाल गोत्र में हैं, जो जो उस कृत्य का साक्षी है और युद्ध

करते समय जो जो मेरे विरुद्ध होगा—क्रोध से अंधा मैं उस उसका और क्या स्वयं जगद् के अन्तक—यम का भी अन्त करूँगा।

विमर्श : यहाँ जो जो—और—'उस उस' इस प्रकार आरंभ और उपसंहार दोनों वीप्सायुक्त यत् तत् पदों से हुआ है।

यत्र चानेकस्य सवीप्सस्य चानेकेनप्रत्यवमर्शस्तत्रापि पुष्टत्वमेव। यथा—

'यो यो यं यमवाप्नुयादवयवोद्देशं स्पृशन् पाणिना
तत्तन्मात्रकमेव यत्र स स ते रूपं परं मन्यते।
तज्जात्यन्धपुरं हहा करिपते! नीतोऽसि दुर्वेधसा
को नामात्र भवेद् वताखिलभवन्माहात्म्यवेदी जनः॥' इति।

यदि परं यं यम् इति प्रक्रमे तत्तन्मात्रकमेवेति प्रत्यवमर्शे विधेयाविमर्शः सवीप्सस्य तदर्थस्य समासे गुणीभावात्। नैतत्। मात्रग्रहणेनावधारणमुच्यते यथा—'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे' इति। तच्चावधार्यमाणपरतन्त्रमित्यवधार्यमाणस्यैव सवीप्सस्य तदर्थस्योद्रेकात् प्राधान्यमखण्डितमेव। पूर्वपदार्थप्राधान्येन क्वचित् सुप्सुपेति समासो दृश्यते यथा—

'निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या॥' इति।

अत्र हि भूयिष्ठं निर्वाणं निर्वाणभूयिष्ठमिति समासे निर्वाणार्थस्यैव प्राधान्यं तस्य वीर्यविशेषणत्वेनावस्थितत्वात्। न तद्वदिह तत्तन्मात्रकमिति तदर्थस्य प्राधान्यं भविष्यति। केवलं कृतेऽवधारणार्थे मात्रशब्दे किमर्थः कप्रत्ययः। तस्मिन्नपि वा कृते एवशब्दः किमर्थः। एवशब्द एव वा किं न क्रियते। नैतत्। कप्रत्ययस्य तावदत्र कुत्साप्रतिपादकत्वात् न पौनरुक्त्यम्, तन्तमेवेति केवलैवशब्दप्रयोगे विच्छिन्न इव तदर्थः प्रतीयते। मात्रग्रहणे तु पिण्डितस्यैव तदर्थस्य प्रतीतिरित्यस्ति विशेषः। यदि परं द्वयोरुपादानं लोकप्रतीत्यनुसरणेन दृढीकृतावधारणप्रतीत्यर्थम्। दृश्यते हीदृशेषु द्वयोरवधारणप्रतिपादकयोः प्रयोगः। यथा-'बाला केवलमेव रोदिति गलल्लोलोदकैरश्रुभिः'। अत्रैव तदिति निर्वीप्सेन तदा निर्दिष्टं जात्यन्धपुरं निर्वीप्सेनैव यदा प्रत्यवमृश्यते। ततश्चात्रानुगुणपरामर्शान्न दोषः कश्चित्।

जहाँ अनेक प्रकार की वीप्सा से आरंभ हो और उसी प्रकार अनेक प्रकार की वीप्सा से उपसंहार वहाँ भी अन्वय पुष्ट होता है। यथा—

'हाथ से छूते समय जो जो व्यक्ति जिस जिस अवयव स्थान को पाता है वह वह तुम्हारा रूप केवल उतना उतना ही मानता है। इसलिए बड़े दुःख की बात है कि हे करिराज—तुम्हें वाम विधाता ने जन्मान्धों के नगर में भेज दिया है। आपके पूरे माहात्म्य को जानने योग्य यहाँ भला कौन मिल सकता है?'

किन्तु—'यं यं' इस प्रकार आरंभ कर 'तत्तन्मात्रकम्' इस प्रकार उपसंहार करने में विधेयाविमर्श दोष है, क्योंकि तद् शब्द का अर्थ दो बार कहा जाने पर भी समास में होने से गुण=अप्रधान हो गया। पर ऐसी बात नहीं है। मात्र शब्द से अवधारण बतलाया गया है जैसे—प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा में। और जो अवधारण है वह अवधार्यमाण पर आश्रित है, इसलिए

यहाँ तत् शब्द का वीप्सायुक्त जो अर्थ है वह अवधार्यमाण है अतः उसकी प्रधानता खण्डित नहीं ही होती। कहीं पूर्वपदार्थ की प्रधानता लिए हुए 'सुप्सुपा'से समास होता देखा जाता है—जैसे—

काम के निर्वाणभूयिष्ठ वीर्य को धौंकती हुई सी, पार्वती उपस्थित हुई। यहाँ—'भूयिष्ठं यत् निर्वाणम्' ऐसा समास करने पर निर्वाण अर्थ ही प्रधान होता है क्योंकि वही वीर्य का विशेषण होकर आता है। (शंका)—यहाँ उस (निर्वाणभूयिष्ठम्) के समान तत्तन्मात्र इस प्रकार तत् के अर्थ की प्रधानता नहीं हो सकती। क्योंकि यदि केवल अवधारण में ही मात्र शब्द का प्रयोग हो तो उसमें क प्रत्यय किस बात के लिए दिया गया है। और यदि मात्र शब्द का अर्थ अवधारण ही मान लिया जाय तो फिर 'एव' शब्द किस लिए? अकेले 'एव' शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं कर दिया गया? (उत्तर) ऐसी बात नही है—'क' प्रत्यय यहाँ कुत्सा का प्रतिपादक है। ('मात्रकमेव' में) पुनरुक्ति भी नहीं है। 'तन्तमेव' इस प्रकार यदि केवल 'एव' शब्द का प्रयोग करने पर तत् पदार्थ अलग अलग दिखाई देता है, मात्र पद देने से तत् का अर्थ पिण्डित होकर = मिल कर सामने आता है, यह विशेषता है। 'मात्र' और 'एव' दोनों का एक साथ प्रयोग सिर्फ लोक का अनुसरण कर अवधारण की दृढ़ता के लिए किया गया है। ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ—अवधारण प्रतिपादक दोनों का साथ प्रयोग देखा जाता है-जैसे-'बाला केवलमेव रोदिति'।

यहीं एक बात और है कि वीप्साशून्य तत् पद से जन्मान्धपुर का बोध कराया और उपसंहार भी—वैसे ही वीप्साशून्य यद् पद से। इसलिए इस पद्य में परामर्श प्रक्रम के अनुरूप होने से कोई दोष नहीं।

तथा यत्र पूर्ववाक्ये यच्छब्दो निर्दिष्ट उत्तरवाक्ये तु न तच्छब्दो निर्दिष्टः, तत्र साकाङ्क्षत्वाद् दुष्टतैव। यथा—

'मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्।' इति।

उत्तरवाक्यगतत्वेन तु यच्छब्दप्रयोगे पूर्ववाक्ये तच्छब्दाप्रयोगे न दुष्टत्वम्, अपि तु प्राक्प्रतिपादितं पुष्टत्वमेव सामान्येनोपक्रमात् पश्चाद्विशेषस्योत्थापनात्। एतदभिप्रायेण कल्पिततत्कर्मादिविषयत्वमुक्तम्। उदाहरणं तु 'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' इति पूर्वश्लोकार्धपाठविपर्यये।

जहाँ पूर्ववाक्य में यच्छब्द का निर्देश किया गया हो पर उत्तर वाक्य में तत् का नहीं, वहाँ वाक्यार्थ के सांकाङ्क्ष रहे आने से दोष होता है—जैसे—

अधिक सुन्दर चन्द्र के उदित होने पर कमल जो मुँद गए, उन्होंने अच्छा ही किया।

पर जहाँ यच्छब्द का प्रयोग उत्तरवाक्य में होता हो वहाँ पूर्ववाक्य में तच्छब्द का प्रयोग न करने से कोई दोष नहीं होता। उलटे—पूर्वप्रतिपादित पुष्टता ही होती है, कारण कि आरंभ सामान्य रूप से होता है, बाद में विशेष का कथन होता है। इसी अभिप्राय से तत्पद की कल्पित तत्कर्मादि-विषयता बतलाई गई है (मूल ग्रन्थ में—जहाँ यत् पदार्थ के आर्थ उपक्रमोपसंहार का वर्णन आया है) इसका उदाहरण—पूर्वश्लोकार्ध—'मीलितं यदभिरामताधिके' को उलट कर—'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' रखने से स्पष्ट है।

यत्तच्छब्दयोरविशिष्टेऽपि परामर्शकत्वे उत्तरवाक्ये निर्दिष्टो यच्छब्दः स्वभावत आविदूर्येण पूर्ववाक्यार्थश्लिष्टतया वस्तु परामृशति, तच्छब्दस्तु परोक्षायमाणार्थनिष्ठत्वात् वैदूर्येण। आविदूर्यं च प्रकृतार्थं प्रकृष्टतां नयद् वाक्यार्थं श्लेषयति। ततश्च तथाभूते विषये यच्छब्दस्य प्रयोगार्हत्वे तच्छब्दस्य प्रयोगोऽपुष्ट एव। यथा—

'तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरानतरेखयोर्या ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥'

अत्र 'सा यां वीक्ष्ये'ति यत्तदौ विपर्ययेण पठनीयौ ।

यद्यपि यद् और तद् शब्दों की बराबर की परामर्श शक्तियों में कोई अन्तर नहीं है, इत भी यत् शब्द का यह स्वभाव है कि जब वह उत्तर वाक्य में प्रयुक्त होता है तो किसी भी का परामर्श आविदूर्येण = अर्थात् पूर्व वाक्यार्थ से सटाकर करता है। किन्तु तत् शब्द—वैदूर्ये अर्थात् = पूर्ववाक्य से दूर रखकर, कारण कि उसका—विषय एकमात्र परोक्षस्थित अ होता है। और आविदूर्य का यह गुण है कि वह वाक्यार्थ को इस प्रकार जोड़ता है कि प्रकृत अर्थ प्रकृष्ट रहता है । इस (आविदूर्य की) स्थिति में जब विषय—उस प्रका (प्रधान) रहता है तो उसके लिए होना तो चाहिए यच्छब्द का प्रयोग, पर यदि तच्छब्द प्रयोग कर दिया जाय तो वह—अपुष्ट होता है। जैसे—

उसकी (पार्वती की) झुकी हुई भौहों की—सलाई में अंजन लेकर बनाई गई सी जो थी—लीला में चतुर उसे देख अनङ्ग ने अपने चापसौन्दर्य का मद विसार दिया।' (कु १।४७)।

यहाँ—'सा यां वीक्ष्य' इस प्रकार यद् और तद् को बदलकर पढ़ना चाहिए।

विमर्श : १. व्याख्यानकार का कहना है कि उक्त वाक्य की रचना इस प्रकार होनी थी—'उस (पार्वती) की···भौंहों की कान्ति ऐसी (वैसी) थी जिसे देख···' इस प्रकार करने में तत् (वह) पूर्ववाक्य में चला जाता है और यत् (यह) उत्तर वाक्य में। फलतः वाक्यार्थों में दूरी का अनुभव नहीं होता। याम् की जगह पूर्ववत् 'ताम्' पाठ रखने प वाक्यार्थ उत्तर वाक्यार्थ से दूर मालूम पड़ता है। कारण कि तत् पद दूरस्थ या परोक्ष अ विमर्श कराता है। उसकी जगह याम्—दे देने से परोक्षायमाणता पूर्ववाक्यार्थ में चली आ किन्तु उत्तरवाक्यार्थ पूर्ववाक्यार्थ से प्रत्यक्षतया जुड़ा दिखाई देता है।

२. तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेवेन श्लोक के नीचे जो पंक्ति दी है—वह—इस है—'यत्र सा वीक्ष्ये'ति यत्तदौ विपर्ययेण पठनीयौ'। इसमें यत्र की जगह या तो 'अत्र' चाहिए क्योंकि उक्त सब स्थलों के लिये 'अत्र' ही पाठ मिलता है।

'सा वीक्ष्य' में बीच में 'याम्' चाहिए। सा उत्तरार्ध के अन्त में आए 'या' के स्थान पर उत्तरार्ध के प्रथम शब्द 'ताम्' की स्थान पर याम् पाठ करने पर ही व्याख्यानकार का स्पष्ट होता है।

यथा च–

'दृष्टिर्नामृतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न किं
नार्द्रार्द्रं हृदयं न चन्दनरसस्पर्शानि वाङ्गानि च ।
कस्मिन् लब्धपदेन ते कृतमिदं क्रूरेण दग्धाग्निना
नूनं वज्रमयोऽन्य एव दहनस्तस्येदमाचेष्टितम् ॥'

अत्र यस्येति पठनीयम् ।

और जैसे—

उसकी चितवन क्या अमृत नहीं बरसाती थी, क्या उसका चेहरा मुसकुराहट की मिठास चुआता था, क्या उसका हृदय सभी अत्यधिक सरस न था, और उसके अंग-प्रत्यंग चन्दनरस

से युक्त न थे, भला किस जगह—स्थान पाया कि—उस क्रूर (दाहक) आगी ने तुम्हें ऐसा बना दिया। निश्चित ही कोई दूसरी ही आगी थी, जो वज्रमय थी, उसीकी यह करतूत है।

यहाँ 'उसकी यह कर०' में तस्य उसकी जगह—यस्य जिसकी—पाठ होना चाहिए।

विमर्श : १. यहाँ श्लोक में—कस्मिन् की जगह यस्मिन् अच्छा रहेगा और वृत्ति में—अस्य की जगह यस्य। हमने कस्मिन् पाठ के अनुसार ही अर्थ कर दिया है।

यथा च—

'आचार्यो मे स खलु भगवानस्मदग्राह्यनामा
तस्मादेषा धनुरुपनिषत् तत्प्रसादात् क्षमोऽपि।
अध्यासीनः कथमहमहो वर्त्म वैखानसानां
सीतापाणिग्रहणपणितं चापमारोपयामि॥'

अत्र च 'यस्मादेषा धनुरुपनिषदि'ति पठनीयम्। एवञ्च प्रागुक्ते 'हेम्नो भारशतानी' त्यादौ 'ता बाणेन तु तस्य सूक्तिविसरैरुट्टङ्किताः कीर्तयो, याः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानतामि'ति पठनीयम्।

और जैसे—

'वे मेरे आचार्य हैं जिनका नाम हम नहीं ले सकते, उन्हीं से यह धनुर्विद्या और उन्हीं के प्रसाद से क्षमता भी (पाई है। फिर) मैं—वैखानसों के रास्ते कैसे चला आया। सीता के विवाह में—शर्त रूप से रखे इस धनुष को चढ़ाता हूँ।' यहाँ—यस्मात् = जिससे यह धनुर्विद्या पाई। पाठ चाहिए। इसी प्रकार पहले उदाहृत 'हेम्नां भारशतानि वा·····' पद्य में भी 'ता बाणेन तु तस्य सूक्तिविसरैरुट्टङ्किताः कीर्त्तयो याः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानाम्' पाठ चाहिए।

विमर्श : 'आचार्यो मे·····'पद्य में तस्मात् की जगह यस्माद् तो चाहिए ही तत्प्रसादात् के तत् की जगह भी यत् चाहिए।

अपि च परामृश्यमनुक्त्वा यच्छब्देन च वाक्यार्थोपक्रमे तच्छब्दवति परामृश्यनिर्देशे पूर्ववाक्यार्थे परामृश्यमस्पृशन्ती उपप्लवमाना प्रतीतिरिति वाक्यार्थप्रतिपत्तिविप्रकर्षादपुष्टत्वम्। यथा—

'पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवावमानेन देहिनस्तद्वरं रजः॥'

अत एवात्र श्लोकार्धयोर्विपर्ययपाठे पुष्टत्वमेव। तथा पूर्ववाक्यार्थे निर्दिष्टस्यार्थस्योत्तर वाक्यार्थे सर्वनाममात्रेण परामर्शे न्याय्ये यः स्वशब्दसहितस्य सर्वनाम्नो निर्देशः स दु एव। यथा—

'उदन्वच्छिन्ना भूः स च निधिरपां योजनशतं
सदा पान्थः पूषा गगनपरिमाणं कलयति।
इति प्रायो भावः स्फुरदवधिमुद्रामुकुलितः
सतां प्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमो विजयते॥' इति।

अत्र 'स च निधिरपामि'ति सस्वशब्दः सर्वनाम्नो निर्देशः।

और यदि परामृश्य न कहा जाय तथा वाक्यार्थ का उपक्रम यच्छब्द से किया जाय तो यदि (उत्तरवाक्य में) परामृश्य का कथन तच्छब्द के साथ किया जाता हो तो वह अपुष्टताजनक होता

है। कारण कि—इस स्थिति में जो उत्तर वाक्यार्थ-ज्ञान होता है वह पूर्ववाक्यार्थ में आए परामृश्य को झटिति नहीं छूता, फलतः-वाक्यार्थ की प्रतीति में दूरी हो जाती है। उदाहरण—

'लात से ठोकर खाकर जो उठती और सिर पर चढ़ जाती है—अपमान होने पर भी स्वस्थ ही बने रहने वाले व्यक्ति से (तो)—वह धूल अच्छी है।'

यहाँ इसीलिए—दोनों श्लोकार्धों को उलटकर पढ़ने में पुष्टता आ जाती है।

इसी प्रकार पूर्ववाक्यार्थ में बतलाया अर्थ उत्तरवाक्यार्थ में सर्वनाम मात्र से बतलाया जाना चाहिए—तब भी यदि स्ववाचक शब्द के साथ सर्वनाम का प्रयोग भी किया जाय तो वह पुष्ट है। यथा—

पृथिवी—समुद्र से घिरी है, वह जलनिधि भी सौ योजनों तक परिमित है। आकाश का जो विस्तार है उसे सततगतिशील सूर्य आँक लेता है, इस प्रकार प्रायः प्रत्येक पदार्थ—में अवधि (सीमा) की मुद्रा दिखाई देती है। विद्वानों की प्रज्ञा का यह उन्मेष ही केवल असीम और सर्वोत्कृष्ट है।'

यहाँ 'स च निधिरपाम्' इस अंश में समुद्रवाचक शब्द—'निधिरपां', के साथ सर्वनाम (स) का प्रयोग है।

विमर्श : एक बात समझ में आती है। पहले उदन्वान् दिया है और उसके बाद 'निधिरपाम्' इससे—समुद्र की महिमा व्यक्त होती है। अतः यदि सर्वनाम के साथ किसी पूर्वपरामृष्ट वस्तु की महिमा का द्योतक कोई विशेषण स्वरूप शब्द आए तो उसे—सदोष न मानकर उचित मानना ही ठीक है।

एवं 'रामगिर्याश्रमेष्वि'ति प्रकृते 'तस्मिन्नद्रौ कतिचिदि'त्यत्र ज्ञेयम्। अत्र तु केचित् समर्थयन्ते-'रामगिर्याश्रमेष्वि'ति रामगिरिः समास उपसर्जनीभूतो बुद्धावुद्रेकेणानवभासात् कथं सर्वनाम्ना परामृश्यते 'सर्वनाम्नानुसन्धिर्वृत्तिच्छन्नस्ये'ति प्रधानभूतपरामृश्याभिप्रायेण स्थितं यथा 'सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति, तद् व्युत्पाद्यते' इति। अत्राद्राविति निर्दिश्यमानेऽद्रिमात्रप्रतीतेर्न प्रकृतमद्रिं गमयेत्। तस्मादुभयमत्रोपादेयं यथा 'अथ शब्दानुशासनम्। केषां शब्दानाम्' इति। गिरिशब्देन गिरौ प्रक्रान्त अद्रिशब्देन पर्यायान्तरेण त्वागतमसामञ्जस्यं दुष्परिहरमेवेति। उदन्वच्छिन्ना भूरित्यत्र तु उदन्वतः परामृश्यस्य नैकट्याद् योग्यत्वाच्च भुवः स्त्रीत्वेन स इति परामर्शानर्हत्वाच्च सर्वनामपरामर्श एव युक्तो न पुनः स्वशब्दगोचरत्वमित्यत्र दुष्टतैव।

इसी प्रकार—'रामगिर्याश्रमेषु' ऐसा आरंभ कर 'तस्मिन्नद्रौ' इस प्रकार के कथन में (दुष्टता) समझना चाहिए। पर यहाँ तो कुछ लोग समर्थन करते हैं। पर 'रामगिर्याश्रमेषु' इस प्रकार रामगिरि तो समास में गुणीकृत है। वह स्पष्ट रूप से बुद्धि में नहीं आता। अतः उसका सर्वनाम द्वारा परामर्श कैसे किया जा रहा है। और यह जो नियम है कि जो समास में गुणीभूत हो उसका अनुसंधान भी सर्वनाम द्वारा किया जा सकता है उसका तात्पर्य यह है कि जब परामृश्य प्रधान हो तभी वह सर्वनाम द्वारा परामृष्ट हो सकता है। जैसे—सभी पुरुषार्थों की सिद्धि सम्यग् ज्ञानपूर्वक होती है। अतः उसका निरूपण किया जाता है। इसमें यहाँ (तस्मिन्नद्रौ-में) अद्रिमात्र का कथन होता तो उससे सभी अद्रियों का बोध होता, फलतः वह (अद्रि शब्द) केवल प्रकृत अद्रि का बोध न कराता। इसलिए दोनों (स्ववाचक शब्द परामृश्यवाचक शब्द और तत्परामर्शक सर्वनाम) ही का उपादान यहाँ ठीक है। जैसे—'अथ शब्दानुशासनम्—केषां शब्दानाम्' यहाँ।

तब भी गिरि का उपक्रम गिरिशब्द से किया और उपसंहार में आ गया अद्रि उसका पर्याय—वाचीशब्द । यह जो असामञ्जस्य हुआ—यह—दुष्परिहार्य ही है ।

'उदन्वच्छिन्ना भूः' में परामृश्य—'उदन्वान्' निकटस्थ है और परामर्श के योग्य है, साथ ही 'सः' इस पुंलिङ्ग सर्वनाम से 'भू' इस स्त्रीलिङ्ग अर्थ का परामर्श संभव नहीं, इसलिए केवल सर्वनाम द्वारा ही वस्तु का परामर्श उचित था—अपने वाचक शब्द द्वारा उसका स्पष्ट उल्लेख नहीं । इसलिए यहाँ तो दोष है ही ।

किञ्च समुदायस्य कस्यचित् केनचिद्वाक्येन निर्देशे वाक्यान्तरे तदवयवस्य निर्धारणे तस्य समुदायस्य निर्धारणविषयप्रतीतये यच्छब्देन निर्देशे कर्त्तव्ये निर्धार्यमाणस्यावयवस्य निर्देशो दुष्ट एव । यथा—

'तस्मादजायत मनुर्नवराजबीजं यस्यान्वये स सगरः स भगीरथश्च ।
एकेन येन जलधिः परिखानितोऽयमन्येन सिद्धसरिता परिपूरितश्च ॥'

अत्र स सगरः स भगीरथश्चेति यन्निर्दिष्टं तस्यैकेत्यादिना निर्धारणं विहितम् । निर्धारणं च जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणम् । नचात्र समुदायः केनचित्पदेन निर्दिष्टः । यच्चैकेनेति निर्दिष्टं तन्न समुदायः, अपि त्वेकदेशः । ततश्च निर्देश्यानिर्देशाद्निर्देश्यनिर्देशाच्चात्र दुष्टत्वम् । एवञ्च समुदायस्यैव निर्धारणविषयस्य यच्छब्देन निर्देशे कर्त्तव्ये 'एको ययोर्जलनिधीन् निचखान सप्त, गाङ्गैः पयोभिरभिवर्षितवान् द्वितीयः' इति पाठः श्रेयान् ।

और यदि किसी वाक्य द्वारा किसी समुदाय का निर्देश हो—और दूसरे वाक्य में निर्धारण किया जाय उसके अंशविशेष का—तो वह भी दोष है । कारण कि यत् शब्द तो वहाँ समुदाय की प्रतीति कराएगा । उस जगह—समुदाय के अंश का निर्देश—ठीक नहीं होगा । यथा—

'उससे—नए राजाओं के बीजभूत मनु पैदा हुए, जिनके वंश में वे प्रसिद्ध सगर हुए और वैसे ही वे भगीरथ । जिस एक ने यह समुद्र खोदा और दूसरे ने सिद्धसरित (गंगा) द्वारा उसे भरा ।'

यहाँ 'स सगरः', 'स भगीरथः' इस प्रकार जिसका निर्देश किया उसका 'एक' इत्यादि द्वारा निर्धारण कर दिया । निर्धारण का अर्थ होता है जाति गुणक्रिया द्वारा समुदाय से उसके एक देश को अलग करना । पर यहाँ समुदाय किसी भी पद द्वारा नहीं बतलाया गया । 'एकेन' इसप्रकार जिसका निर्देश किया गया है वह समुदाय नहीं है, अपितु उसका एक देश है । इसलि जिसका निर्देश करना था उसके अनिर्देश से और जिसका निर्देश नहीं करना था उसके निर्देश स यहाँ सदोषता आ गई । इसलिए यहाँ समुदाय ही निर्धारणविषय होना चाहिए, और उसीका यत् शब्द द्वारा निर्देश किया जाना चाहिए इसलिए ऐसा पाठ अधिक अच्छा होगा—

'एको ययोर्जलनिधीन् निचखान सप्त गाङ्गैः पयोभिरभिवर्षितवान् द्वितीयः ॥'

अर्थात जिनमें से एक ने सात समुद्र खोदे और दूसरे ने गङ्गाजल से उन्हें भरा ।

विमर्श : व्याख्यानकार ने जो पाठ दिया है उसमें 'अभिवर्षितवान्' की जगह 'अभिपूरितवान्' पाठ अच्छा होता ।

तथा—गाङ्गैः पयोभिरभिवर्षितवान् द्वितीयः' की जगह–गाङ्गैः परश्च सलिलैः कृतवानशून्यान् । पाठ अधिक अच्छा होता ।

क्वचिद्यत्तच्छब्दावग्रहणेन विध्यनुवादभावेन वाक्यार्थप्रस्तावे यदन्तरान्यथाकरणं तत्र दुष्टत्वं यथा—

'यत् त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्' इति।

अत्र प्रथमतृतीययोः पादयोर्यत्तच्छब्दपरिग्रहेण विध्यनुवादभावेनोपनिबन्धः। द्वितीयपादगतत्वेन तदुल्लङ्घनं दोषः। इन्दीवराणां राजहंसानां च बहुत्वात् सीतासम्बन्धिवस्तूपमितयोरिन्दीवरराजहंसयोर्व्यावृत्त्यर्थं विध्यनुवादभावपरिग्रहः। चन्द्रस्य त्वेकत्वात् तदकारणमिति केचित्। तदसत्। चन्द्रस्यापि द्वितीयाचन्द्रादिभेदेन बहुत्वसम्भवात् तत्रापि विध्यनुवादभावो युक्तः। इन्दीवराणां व्यक्तिभेदेन मुख्यो भेदः। चन्द्रस्य पुनरेकव्यक्तिरूपस्य कालभेदादवस्थाभेदाच्च भिन्नत्वममुख्यमिति चेन्न। भिन्ना एव चन्द्रव्यक्तयः। अन्यो हि द्वितीयाचन्द्रोऽन्यश्च पूर्णाचन्द्रः। अतश्चैवं द्वितीयाचन्द्रादिव्यावृत्त्या पूर्णाचन्द्रप्रतीत्यर्थं मुखच्छायानुकारीति विशेषणं दत्तम्। नहि शशिशब्दः पूर्णाचन्द्राभिधायी तस्य चन्द्रमात्रवाचकत्वात्। सङ्ख्याव्यवहारेषु चन्द्रस्यैकत्वप्रतीतिरिति चेत् क्वचिज्जातिव्यवहारेष्वपीन्दीवरादीनामेकत्वं सिद्धम्। तस्मात् कविव्यवहारे चन्द्रगतत्वेनानेकत्वस्य व्यवहारात् तदाश्रयेणेह विध्यनुवादभावः श्रेयान्।

किञ्चास्थानविनिवेशनं तच्छब्दस्य प्रतीतिविप्रकर्षायैव। यथा—

'मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः।' इति

अत्र 'विरचय सिचयान्तमि'त्यत्र तच्छब्दो हेत्वर्थो विनिवेशयितव्यस्तृतीयपादादौ निवेशितः। नच तत्र तस्योपयोगः। अतस्तत्र प्रतीतिकुण्ठत्वमुत्पादयतीति।

कहीं-कहीं यद् तद् शब्दों द्वारा वाक्यार्थ का आरंभ विध्यनुवाद-भाव से होने पर बीच में उसे बदल देना दोषावह होता है। यथा—

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्।'

'तुम्हारे नेत्र के समान कान्ति वाला जो नील कमल था वह जल में डूब गया।' इस पद्य में प्रथम और तृतीय पादों में तो यत् और तत् शब्द के द्वारा—विध्यनुवाद भाव के साथ—कथन हुआ है, पर दूसरे पाद में उसका अभाव है। अतः वह दोष है। कुछ लोगों का कहना है कि 'इन्दीवर' और चंद्र अनेक हैं। उनमें से केवल सीता के अंगों से मेल रखने वालों की ही व्यावृत्ति हो सके इसलिए—यहाँ विध्यनुवाद भाव से काम लिया। चंद्र तो एक ही है अतः उसमें 'वह नहीं किया गया।'—पर यह ठीक नहीं। चंद्र भी द्वितीया आदि तिथि भेद से अनेक प्रकार का हो सकता है, अतः उसमें भी विध्यनुवादभाव चाहिए। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि 'इन्दीवरों में तो व्यक्तिभेद से भेद है अतः वह चन्द्र तो एक व्यक्ति है उसमें भेद केवल काल और अवस्था के भेद से आता है—अतः वह अवास्तविक और नगण्य है, क्योंकि चंद्र भी व्यक्तिशः भिन्न है। द्वितीया का चंद्र अलग है और पूर्णिमा का अलग। अत एव—यहाँ द्वितीया चन्द्र को हटाकर पूर्णिमा के चंद्र की प्रतीति करने के लिए 'मुखच्छायानुकारी' कहा। शशी—शब्द पूर्णिमा के चंद्र का वाचक नहीं है। वह केवल चंद्र सामान्य का वाचक है। यदि यह कहा जाय कि गिनने में तो चंद्र को एक ही कहा जाता है—तो इन्दीवरों में भी वह बात लागू हो सकती है। इन्दीवरों को भी जाति द्वारा एक मानकर एक कह दिया जाता है। अतः कवियों के व्यवहार में चंद्रमा के अनेक होने से उसके लिए भी यहाँ विध्यनुवाद चाहिए।

इसी प्रकार तच्छब्द यदि ठीक जगह न रखा जाय तब भी वाक्यार्थ प्रतीति में विप्रकर्ष = देरी ला देता है। यथा—

'पैर सम्हालकर रखो, जमीन में कुश हैं, सिर पर पल्ला डाल लो—घाम तेज है।' यहाँ—हेत्वर्थक तच्छब्द का प्रयोग—'विरचय सिचयान्तम्' इस वाक्य में होना चाहिए, पर उसका प्रयोग तृतीय चरण के आरंभ में किया गया है। वस्तुतः उसका वहाँ कोई उपयोग नहीं है इसलिए वह वाक्यार्थप्रतीति को रोकता है।

विमर्श : पूरा श्लोक इस प्रकार है—

'मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः।
नदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च॥'

क्वचित् प्रधानक्रियायां तदादिसर्वनाम्ना परामृष्टस्य गुणक्रियायां स्वशब्देनोपादानं दुष्टमेव। यथा 'प्रत्यासन्ने नभसी'ति। अत्र तस्मै इति सर्वनाम्ना पूर्वप्रक्रान्तो मेघः परामृश्यत उतैतच्छ्लोकगतो जीमूतः। तत्राद्ये पक्षे जीमूतग्रहणमनर्थकं प्रधानक्रियायां तदा परामृष्टस्य पूर्वप्रक्रान्तस्यैव मेघस्यार्थतः सम्बन्धयोग्यत्वात्। न हि यावतां येन सम्बन्धस्तावतां प्रत्येकं निर्देशः क्रियते। एकत्र कृतोऽन्यत्राकाङ्क्षादिनोपजीव्यते। तस्माज्जीमूतग्रहणं न कर्त्तव्यं, कृतं प्रत्युत वस्त्वन्तरप्रतीतिं जनयद्वैरस्यमावहति। अथ तच्छब्देनैतच्छ्लोकगतो जीमूतः प्रत्यवमृश्यते। तदसत्। सर्वत्रात्र प्रकरणे पूर्वप्रक्रान्तस्यैव मेघस्य परामर्शः स्थित इतीहापि तथैव परामर्शो न्याय्य इति पुनरपि जीमूतग्रहणमनर्थकमेव।

कहीं—प्रधान क्रिया में तदादि सर्वनाम द्वारा परामृष्ट पदार्थ का अप्रधान क्रिया में स्ववाचक शब्द द्वारा कथन—होता है वह भी दुष्ट ही है। यथा—

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन् प्रवृत्तिम्।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार॥ (मेघदूत)

'श्रावण मास के पास आ जाने पर प्रियतमा के प्राणों को सहारा देने के लिए—मेघ द्वारा अपनी कुशलता की खबर भेजने के इच्छुक—उस यक्ष ने—नवीन कुटज पुष्पों से अर्घ देकर उससे—प्रीतिपूर्ण स्वागत शब्द कहे।'

यहाँ—(यह प्रश्न उठता है कि) 'तस्मै—उससे' इस सर्वनाम द्वारा पहले के श्लोकों में कहे मेघ का परामर्श कराया जा रहा है अथवा इसी श्लोक में जीमूत शब्द से कहे गए मेघ का? पहले पक्ष में (पूर्व श्लोकों में आए मेघ को परामर्श विषय मानने पर) जीमूतशब्द का उपादान व्यर्थ होता है। कारण कि प्रधान क्रिया—'व्याजहार' में तत्पद (तस्मै) द्वारा जिसका संबन्ध बताया जा रहा है वह पूर्वप्रक्रान्त मेघ ही है, उसका अपने आप संबन्ध हो जाएगा। एक वस्तु से जिन-जिन का संबन्ध हो वे सभी नहीं 'कही जातीं'। कारण कि उनका निर्देश एक जगह कर दिया जाता है और दूसरी जगह आकांक्षा आदि के द्वारा उनका बोध हो जाता है। इसलिए जीमूत का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। करने पर उलटे विरसता पैदा करता है, कारण कि उससे दूसरे मेघ की कल्पना होने लगती है। यदि (दूसरे पक्ष के अनुसार) इसी श्लोक का जीमूत लिया जाय तो वह ठीक नहीं कारण इस प्रकरण में सर्वत्र, पहले से चले आ रहे मेघ का ही निर्देश है, इसलिए यहाँ भी वैसे ही निर्देश करना ठीक है। इसलिए अब भी जीमूत ग्रहण व्यर्थ ही ठहरता है।

विमर्श : 'प्रत्यासन्ने' यह पद्य मेघदूत का चौथा पद्य है। इसके पहले दूसरे पद्य में 'मेघं ददर्श' आता है, और तीसरे में 'मेघालोके सुखिनोऽपि चेतः अन्यथावृत्ति भवति' आता है। चतुर्थ पद्य में

पुनः मेघ का वाचक जीमूत-पद व्य० व्या० की दृष्टि में व्यर्थ है। उसकी जगह 'तत्' इस प्रक्रान्त परामर्शक सर्वनाम का प्रयोग करने से प्रसङ्ग निर्वाह हो सकता था। जैसा कि उत्तरार्ध में कवि ने 'तस्मै' द्वारा किया भी है। परन्तु कवि ने ऐसा न कर पूर्वार्ध में जीमूत और उत्तरार्ध में उसका परामर्शक—'तस्मै' दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया। व्य० व्या० की शंका है कि यहाँ तस्मै से दो बातों का बोध हो सकता है पहले तो द्वितीय और तृतीय पद्य में आए मेघ का और— दूसरे इसी पद्य में आए जीमूत का। प्रथम पक्ष में इस पद्य का जीमूत शब्द व्यर्थ होता है। कारण कि तत्पद द्वारा 'जीमूत अर्थ' प्रकरण से खींच लिया जाएगा। दूसरे पक्ष में—व्य० व्या० का कहना है कि इस प्रकरण में सब जगह प्रकरणप्राप्त मेघ का परामर्श कराया गया है। जैसा कि— दूसरे और तीसरे पद्य में दिखाई देता है। दूसरे पद्य में कहा गया—'मेघं ददर्श' और तीसरे पद्य में मेघ को तत्पद से बतलाते हुए कहा गया—'तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः'। अतः यहाँ चतुर्थ पद्य में कवि को वैसा करना चाहिए। न करने से प्रक्रमभङ्ग दोष होता है।

इत्थं द्वितीयं विधेयाविमर्शं विविच्य तृतीयमप्यत्रैव श्लोके प्रपञ्चयितुमुपक्रमते अपि चेत्यादिना।

इस प्रकार द्वितीय विधेयाविमर्श का विवेचन कर चुकने पर तीसरे विधेयाविमर्श को भी इसी श्लोक में बतलाने चलते हैं—अपितु इत्यादि।

अपि च अम्बिकाकेसरीत्यत्र षष्ठीसमासो नोपपद्यते, यतः सर्वेषामेव समासानां तावत् प्रायेण विशेषणविशेष्याभिधायिपदोपरचितशरीरत्वं नाम सामान्यं लक्षणमाचचक्षिरे विचक्षणाः। इतरथा तेषां समर्थतानुपपत्तेः।

स च विशेषणविशेष्यभावो द्विधैव सम्भवति—समानाधिकरणो व्यधिकरणश्चेति। तत्राद्यः कर्मधारयस्य विषयः। यत्र तु द्वे बहूनि वा पदान्यन्यस्य पदस्यार्थे विशेषणभावं भजन्ते सा बहुव्रीहेः सरणिः। तत्रैव यदा सङ्ख्यायाः प्रतिषेधस्य च विशेषणभावो भवेत् तदा स द्विगोर्नञ्समासस्य च विषयः।

और यहाँ 'अम्बिकाकेसरी' में षष्ठी समास ठीक नहीं है। क्योंकि विद्वानों ने प्रायः सभी समासों को विशेषणविशेष्यों के वाचक शब्दों द्वारा घटित माना है। कारण कि इसके बिना उनमें समर्थता नहीं बनती।

वह विशेषणविशेष्यभाव दो ही प्रकार का हो सकता है। समानाधिकरण और व्यधिकरण। इनमें पहला कर्मधारय में होता है। जहाँ दो या दो से अधिक पद किसी अतिरिक्त पद के अर्थ में विशेषण बनते हैं—वहाँ बहुव्रीहि होता है। उसमें भी संख्या या प्रतिषेध (Negation) विशेषण बनते हैं तब वह द्विगु या नञ् समास का विषय होता है।

प्रायेणेति **द्वन्द्वं वर्जयित्वा तत्र युगपदधिकरणवचनतया सामर्थ्यं प्रकारान्तरेण समर्थितम्।**

तत्राद्य इति **'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारय' इति (१–१–४२) वचनात्। 'बहुव्रीहिः समानाधिकरणानाम्' इति वचनात् प्रायेण बहुव्रीहिः समानाधिकरणविषय एव। सुसूक्ष्मजटकेशादौ तु व्यधिकरणानामपीष्यते।** तत्रैव **समानाधिकरणे पदार्थे। यदा**

सङ्ख्याया इति 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः' (२–१–५२) इति वचनात्। प्रतिषेधस्येति 'नञ्' (२–२–६) इति नञ्सूत्रारम्भात्।

'प्रायेण' का अभिप्राय यह कि द्वन्द्व को छोड़ कर अन्य समासों में विशेषण विशेष्यभाव होता है। वहाँ सामर्थ्य की सिद्धि दूसरे प्रकार से की जाती है। वह है—'युगवदधिकरणवचनता' अधिकरण द्रव्य अर्थ में पारिभाषिक शब्द है। अतः इसका अर्थ हुआ दो द्रव्यों को एक साथ बतलाना हो तो द्वन्द्व समास का प्रयोग होता है। अतः इसमें सामर्थ्य की सिद्धि उक्त ढंग से नहीं होती।

तत्राद्ये—'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १।१।४२' इस वचन के आधार पर। 'बहुव्रीहिः समानाधिकरणानाम्' इस वचन से प्रायः बहुव्रीहि समानाधिकरण पदार्थों में ही होता है—कभी-कभी 'सुसूक्ष्मकेश' आदि में व्यधिकरणों में भी वह हो जाता है।

तत्रैव—समानाधिकरण पदार्थ में।

यदा संख्यायाः—'संख्यापूर्वो द्विगुः' इस वचन के आधार पर।

प्रतिषेधस्य—'नञ्' इस सूत्र के आधार पर।

द्वितीयः प्रकारः कारकाणां सम्बन्धस्य च विशेषणत्वाद् बहुविधः। स तत्पुरुषस्य पन्थाः। तत्रापि यदाऽव्ययार्थस्य विशेष्यता स्यात् तदाऽसावव्ययीभावस्य मार्गः।

दूसरा प्रकार अनेक प्रकार का होता है। कारण कि उसमें कारक और सम्बन्ध विशेषण बनते हैं। वह तत्पुरुष का विषय है। उनमें भी जहाँ अव्ययार्थ का प्रधानत्व हो वहाँ अव्ययीभाव समास होता है।

द्वितीय इति व्यधिकरणः। कारकाणामिति 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इत्यादिना। सम्बन्धस्येति षष्ठी इत्यादिना तत्रापि कारकसम्बन्धयोगे अधिस्त्रि उपकुम्भमित्यादौ।

द्वितीयः—अर्थात् व्यधिकरण।

कारकाणाम्—'कर्तृकरणेकृत्य बहुलम्' इत्यादि द्वारा।

सम्बन्धस्य—'षष्ठी' इत्यादि द्वारा।

तत्रापि—अर्थात् कारक और सम्बन्ध के योग में जैसे—अधिस्त्रि और उपकुम्भ।

तदेवमेषां समासानां विशेषणविशेष्योभयांशसंस्पर्शित्वेऽपि यदा विशेषणांशः स्वाश्रयोत्कर्षाधानमुखेन वाक्यार्थचमत्कारकारणतया प्राधान्येन विवक्षितो विधेयधुरामधिरोहेद् इतरस्त्वनूद्यमानकल्पतया न्यग्भावमेव भजेत् तदासौ न वृत्तेर्विषयो भवितुमर्हति। तस्यां हि स प्रधानेतरभावस्तयोरस्तमियादित्युक्तम्। तच्चैतद्विशेषणमेकमनेकं वाऽस्तु न तयोर्विशेषः कश्चित्।

इस प्रकार यद्यपि समास विशेषण और विशेष्य दोनों में होता है तथापि जब विशेषणांश अपने आश्रय (विशेष्य) में उत्कर्ष दिखलाते हुये वाक्यार्थ में चमत्कार का कारण होने से प्रधान हो अतः विधेय बनने लायक हो साथ ही विशेष्य केवल उद्देश्य रूप से विशेषण की अपेक्षा घटकर उपस्थित हो रहा हो, तब वहाँ समास नहीं किया जाना चाहिये। समास होने पर विशेषण विशेष्य

की प्रधानता और अप्रधानता अस्तमित हो जायेगी। (ऐसा हमने पहले कह दिया है)। और यह विशेषण एक हो या अनेक उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

स्वाश्रयो विशेष्यम्। विधेयधुरामिति शब्दवृत्ते यो विधेयः तस्य कक्ष्यां वास्तवीं विधेयतामित्यर्थः। अनूद्यमानकल्पतयेति। शाब्दं प्राधान्यमनपेक्ष्य वास्तवेन प्राधान्येनेत्यर्थः। अस्तमियादिति एकार्थीभावात् विभक्तत्वेनाप्रतीतेरित्यर्थः।

स्वाश्रयः—विशेष्य।
विधेयधुराः—शब्द वृत्ति का जो विधेय उसकी कक्षा वास्तविक विधेयता को।
अनूद्यमान कल्पतया—शब्दगत प्रधानता को छोड़कर वास्तविक प्रधानता के कारण।
अस्तमियात्—एकार्थीभाव हो जाने के कारण, अलग-अलग प्रतीत न होने से।

ननु च विशेषणत्वमवच्छेदकत्वाद् गुणभावः विधेयत्वं च विवक्षितत्वात् प्राधान्यं तत्कथमनयोर्भावाभावयोरिवान्योन्यं विरोधादेकत्र समावेश उपपद्यते येनैकत्र नियमेन समासो निषिध्येत अन्यत्र चोपकल्प्येत।

नैष दोषः। विरोधस्योभयवस्तुनिष्ठत्वात् शीतोष्णादिवत्। न चेह वस्तुत्वमुभयोः सम्भवति, एकस्यैव वास्तवत्वाद्। अन्यस्य च वैवक्षिकत्वेन विपर्ययात्। न च वस्त्ववस्तुनोर्विरोधः। न हि सत्यहस्तिनः कल्पनाकेसरिणश्च कश्चिदन्योन्यं विरोधमवगच्छति। फलभेदस्त्वनयोर्निर्विवाद एव।

एकस्य हि सकलजगद्गम्यं शाब्दिकैकविषयः पदार्थसम्बन्धमात्रम्। अपरस्य पुनः कतिपयसहृदयसंवेदनीयः सन् कवीनामेव गोचरो वाक्यार्थचमत्कारातिशय इति।

(शंका) विशेषणत्व—तो (विशेषण के) अवच्छेदक होने से अप्रधानता रूप होता है और विधेयत्व—विवक्षितता रूप होने से प्रधानता रूप। इस प्रकार भावऔर अभाव के समान परस्पर विरुद्ध होने से इनका एक जगह समावेश कैसे सम्भव है जिससे एक विषय में (प्राधान्य के विषय में) नियमतः समास का निषेध किया जाय और दूसरे के लिये (अप्रधान के लिये) विधान।

उत्तर—यह दोष नहीं उठता। विरोध सदा दो (वास्तविक) वस्तुओं में रहता है शीत और उष्ण आदि के समान। यहाँ दोनों (अप्राधान्य और प्राधान्य) का वस्तुत्व सिद्ध नहीं होता। कारण कि उनमें से एक ही वास्तविक है। दूसरा तो विवक्षामात्राधीन होने (इच्छा द्वारा कल्पित विषय है। अतः) उलटा (अवास्तविक) है। वस्तु और अवस्तु का कभी विरोध नहीं होता। कोई भी सच्चे और कल्पित शेर का परस्पर विरोध नहीं मानता। जहाँ तक फलभेद का सम्बन्ध है वह तो दोनों में निर्विवाद ही है। एक का फल पदार्थ सम्बन्ध मात्र है, जो सारे संसार में दिखाई देता है और जिसका ज्ञान शाब्दिकों का ही प्रधान विषय है। जो दूसरा है वह है वाक्यार्थ चमत्कारातिशय। उसे कुछ ही सहृदय जान पाते हैं, अतः वह कवि गणों (की प्रतिभा) का ही विषय है।

एकत्रेति विधेयानुवाद्यगर्भत्वे। अन्यत्रेति सम्बन्धमात्रप्रतिपादने। उपकल्प्येतेति महाविभाषया व्यवस्थितविभाषात्वादिति भावः।

एकस्यैवेति विशेषणगतस्य प्राधान्यस्य अन्यस्य तद्गतस्यैवाप्राधान्यस्य । एकस्य हीति, अपरस्य पुनरिति च । अत्र फलभेद इत्यत्र प्रक्रान्तं फलं सम्बन्धनीयम् ।

अत्र चोदयति—'विरोधस्योभयवस्तुनिष्ठत्वासिद्धेरत्राभाव उक्तः । तदसत् । न हि सहानवस्थानलक्षणो वस्तुगत एक एव विरोधभेदो, यः शीतोष्णादौ लब्धवृत्तिः । किन्तर्हि परस्परपरिहारस्थितताल‌क्षणो वस्त्ववस्त्वाश्रयो द्वितीयोऽप्यस्ति विरोधप्रकारः । तदा हि यदि वस्त्वाश्रयो न सम्भवति विरोधो वस्त्ववस्त्वाश्रयस्तु कथं न स्याद् । अतश्च स्यात् पूर्वपक्षवेलायां 'भावाभावयोरिवे' त्युक्तम् । नैष दोषः । वस्त्ववस्त्वाश्रयस्य विरोधस्य तादात्म्यनिषेधे व्यापारात् । यदि नाम प्राधान्यं, तस्यामेव कक्ष्यायां स्वयमप्राधान्यं न स्याद् अप्राधान्ये वा प्राधान्यम् । प्राधान्यविधेये पुनरपेक्षान्तरेणाप्राधान्यं कथं न स्यात् ? न स्याद्, यदि शीतोष्णवद् द्वयोर्वस्तुत्वं स्यात् । न चात्रैतदस्ति वैवक्षिकस्यावस्तुत्वात् । यथा राजपुरुष इत्यत्र राज्ञो वैवक्षिकमेव प्राधान्यं वास्तवं पुनरप्राधान्यमेव तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् । तदयमत्र पिण्डार्थः संसर्गनिषेधोऽत्र कर्तव्यः । स च वस्तुद्वयनिष्ठ इति द्वयोरत्राभावान्नैकेनापरत्र प्रतिषेध इति ।

एकत्र—विधेयता और अनुवाद्यता दोनों से युक्त होने पर ।

अन्यत्र—सम्बन्धमात्र प्रतिपादन होने पर ।

उपकल्प्येत—महाविभाषा द्वारा व्यवस्थित विभाषात्व के कारण ।

एकस्यैव—विशेषणगत प्रधानता का ।

अन्यस्य—उसी में स्थित अप्रधानता का ।

एकस्य—अपरस्य इनमें फल का सम्बन्ध समझना चाहिये । जिसे 'फलभेदः' इत्यादि द्वारा इसी प्रकरण में ऊपर कहा जा चुका है ।

अत्र क्रमेणोदाहरणानि तत्र कर्मधारये यथा—

'उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
धृत्वा चान्येन वासो विगलितकबरीभारमंसे वहन्त्याः ।
भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः
शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु ॥'

इत्यत्र विगलितकबरीभारत्वमलसलसद्बाहुत्वं चांसवपुषोर्विशेषणे रतेरुद्दीपनविभावतापादनेन वाक्यार्थस्य कामपि कमनीयतामावहत इति प्राधान्येन विवक्षितत्वाद् न ताभ्यां सह समासे कविना न्यग्भावं गमिते । यथा चात्रैव तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतित्वं हेतुभावगर्भं विशेषणं शौरेरुचिताचरणलक्षणमतिशयमादधद्विधेयतया प्राधान्येन विवक्षितमिति न तेन सह समासे निमीलितम् ।

पदमेकमनेकं वा यद्विधेयार्थतां गतम् ।
न तत्समासमन्येन न चाप्यन्योन्यमर्हति ॥ ११ ॥

तत्रैकमुदाहृतमेव ।

इस विषय में क्रम से उदाहरण (भी मिलते हैं ।) पहले कर्मधारय का जैसे—

'सुरत के बाद लक्ष्मी उठने लगीं। उन्होंने एक हाथ टेककर शेष भाग पर वजन डाला, और दूसरे हाथ से अपना वस्त्र सम्हाला। उनके केश कन्धे पर बिखरे हुये थे। उस समय लक्ष्मी की ऐसी शोभा देख विष्णु की कामेच्छा दुगुनी हो गई और उन्होंने लक्ष्मी का आलस से झुके हाथों वाला शरीर पहले अपनी छाती से लगाया (आलिङ्गन किया) और फिर उसे पुनः बिस्तर पर लिटा लिया। लक्ष्मी का ऐसा शरीर आपको पवित्र करे।'—

यहाँ 'विगलितकबरीभारता' और—'अलसलसद्बाहुता' क्रमशः कन्धे और शरीर के विशेषण हैं। उनसे रति का उद्दीपन होता है। इसलिये वे वाक्यार्थ की शोभा बढ़ाते हैं, इसीलिये वे प्रधान रूप से कवि को विवक्षित भी हैं, अतएव कवि ने उन्हें समास में डालकर अप्रधान नहीं बनाया।'

इसी प्रकार यहीं—विष्णु का विशेषण है 'तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिता'। वह हेतु रूप है। उससे विष्णु द्वारा किये गये कार्य में (लक्ष्मी को पुनः लिटाने) में औचित्य रूप अतिशय की प्रतीति होती है। इसलिये वह विधेय है और इसलिये प्रधान रूप से विवक्षित होने के कारण विष्णु (रूप विशेष्य) के साथ समास करके कवि ने उसे अप्रधान नहीं होने दिया।

'एक या अनेक जो भी पद विधेयता को पहुँच चुका हो उसे दूसरे (विशेष्य) के साथ समास नहीं करना चाहिये, और न परस्पर (विशेषण के साथ)।

इनमें से एक पद का तो उदाहरण दे ही दिया गया।

अन्येनेति **विशेष्याभिधायिनेत्यर्थः। अन्योन्यमिति। परस्परविशेषणानां यद्यपि 'विशेषणं विशेष्येण' (२–१–५७) इति विशेष्येणैव समास उक्तः, तथापि 'काणखञ्जादिषु सिद्धं विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वाद्' इति वचनेनैकस्य विशेष्यत्वविवक्षामाश्रित्य परस्परं विशेषणानां समासः समर्थितः। तदभिप्रायेणान्योन्यमिति सम्भावना।**

अन्येन—विशेष्य वाचक पद के साथ।

अन्योन्य—परस्पर विशेषणों का। यद्यपि 'विशेषणं विशेष्येण' इस सूत्र के द्वारा समास विशेषण और विशेष्यों में बतलाया गया है, तब भी 'कालखञ्जादिषु सिद्धं विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वात्' द्वारा विशेषणों में किसी एक को विशेष्य मान लेने से विशेषणों में भी परस्पर समास बतलाया गया है। इसी अभिप्राय से 'अन्योन्य' यह कहा गया।

अनेकं यथा—

'अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति॥' इति।

अनेक (पदों) के उदाहरण—यथा—

लम्बी भुजा, चौड़ी छाती, और गोल तथा मोटी कमर का यह (व्यक्ति) अवन्तिनाथ (है जो) त्वष्टा ऋषि द्वारा चाक पर चढ़ाकर यत्नपूर्वक सुधारे गए सूर्य सा लगता है।

विमर्श: यहाँ सभी विशेषण अलग-अलग हैं।

यथा च—

'विद्वान् दारसखः परं परिणतो नीवारमुष्टिंपचः
सत्यज्ञाननिधिर्दधत् प्रहरणं होमार्जुनीहेतुतः।

रे दुःक्षत्रिय ! किं त्वया मम पिता शान्तं मया पुत्रवान्
नीतः कीर्त्यवशेषतां तदिह ते धिग् धिग् सहस्रं भुजान् ॥' इति ।

और जैसे—

रे दुष्ट क्षत्रिय ! तेरी हजार भुजाओं को धिक्कार है। तूने मेरे पिता को किस बात पर मारा। वे विद्वान् थे, सपत्नाक थे, काफी बूढ़े थे। जंगली धान से काम चलाते थे। सत्य और सच्चे ज्ञान की वे निधि थे। उन्होंने शस्त्र धारण किया था हविष्यार्थ अपनाई गौ के लिये। मुझ जैसा उनका पुत्र था।

विमर्श : यहाँ पिता के सभी विशेषण स्वतन्त्र रूप से उपस्थित किये गये हैं।

यथा वा—

'राज्ञो मानधनस्य कार्मुकभृतो दुर्योधनस्याग्रतः
प्रत्यक्षं कुरुबान्धवस्य मिषतः कर्णस्य शल्यस्य च ।
पीतं तस्य मयाद्य पाण्डववधूकेशाम्बराकर्षिणः
कोष्णं जीवत एव तीक्ष्णकरजक्षुण्णादसृग् वक्षसः ॥'

और जैसे—

मान को ही धन मानने वाले, धनुष हाथ में लिये हुये, उस राजा दुर्योधन के आगे, कुरुओं में हितैषी कर्ण और शल्य की आँखों के सामने (दुःशासन की) छाती आज मैंने तीखे नाखूनों से फाड़कर, उस पाण्डवों की पत्नी के बाल और वस्त्र खींचने वाले की छाती का खून उसके जीते जी पी लिया।

विमर्श : दुर्योधन के सभी विशेषण स्वतन्त्र हैं।

यथा च—

'हे हस्त ! दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ॥'

'एवमङ्गराज ! सेनापते ! राजवल्लभ ! द्रोणापहासिन् ! रक्ष भीमाद् दुश्शासनम्' इत्यादौ द्रष्टव्यम् ।

और जैसे—

ओ मेरे हाथ, दाहिने हाथ ! ब्राह्मण के मृत पुत्र के प्राणों के लिये शूद्र मुनि पर कृपाण छोड़। तू राम का हाथ है। परिणत गर्भ से खिन्न सीता को जंगल में छुड़वा देने वाले तुझे करुणा कहाँ।

इसी प्रकार-ओ अङ्गदेश के राजा, सेना के पति, राजा को प्यारे, द्रोण का उपहास करने वाले (कर्ण) बचा ले भीम से दुःसाशन को'—इत्यादि में देखना चाहिये।

दारसख इति दाराणां सखेति तत्पुरुषः कर्तव्यः । बहुव्रीहौ 'राजाहस्सखिभ्य' (५–४–९१) इति टच् न स्यात् ।

हे हस्तेति। 'मृतस्य शिशोर्द्विजस्ये' त्यत्र समासः शङ्कितः। 'रामस्य पाणिरसी' ति तु षष्ठीसमास उदाहरणम्।

अत्र कश्चित् कर्तॄणां कर्मणाञ्च प्रथमान्तानां क्वापि सम्बन्धिनां कर्मणाञ्च षष्ठ्यन्तानां कुत्राप्यामन्त्रणानां समासः शङ्कितः।

वक्ष्यमाणनयेनेति। 'व्यासः पाराशर्यः' इत्यादिविचारेषु। चापाचार्य इति। अत्र हि त्रिपुरविजयित्वाद्यनुवादेन चापाचार्यत्वादिविधिः। अनूद्यमानश्चार्थो विधेयस्योत्कर्षमावहन् प्रतीयते।

दारसख—दाराणां सखेति तत्पुरुषः कर्त्तव्यः अर्थात् 'दारा का सखा' इस प्रकार तत्पुरुष यहाँ करना चाहिये। बहुव्रीहि करने पर ('दारा है सखा जिसका'—इस प्रकार)—'राजाहःसखिभ्यष्टच्' सूत्र द्वारा टच् प्रत्यय नहीं होगा। (फलतः 'दारसख' इस प्रकार ह्रस्व अकारान्त रूप नहीं बनेगा।)

हे हस्त—यहाँ 'मृतस्य शिशोर्द्विजस्य' में 'द्विजशिशोः' इस प्रकार समास हो सकता था। 'रामस्य पाणिरसि' में भी 'रामपाणिः' समास हो सकता था।

विध्यनुवादभावोऽपि वक्ष्यमाणनयेन विशेषणविशेष्यभावतुल्यफल इति तत्रापि तद्वदेव समासाभावोऽवगन्तव्यः। यथा—

'चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्त्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः॥' इति।

विध्यनुवादभाव का फल भी वैसा ही होता है जैसे विशेषण-विशेष्यभाव का जैसा कि आगे बतलाया जाएगा इसलिए वहाँ (विध्यनुवादभाव में) भी उसी (विशेषणविशेष्यभाव) के समान नहीं किया जाना चाहिए। जैसे—

धनुर्विद्या के आचार्य हैं—त्रिपुरासुर के विजेता-शंकर, जिसे जीता है वह है कार्त्तिकेय, निवासस्थान है—वह समुद्र जिसे शस्त्र से दूर हटा दिया है, यह पृथिवी है हन्तकार (अतिथि को सोलह ग्रास करने योग्य अन्नदान)—यह सब कुछ है तो भी रेणुका का गला काटने वाले तुम्हारे इस—परशु से होड़ लगाते हुए मेरा चन्द्रहास (तलवार) लज्जित होता है।

विमर्श: यहाँ 'त्रिपुरविजयिचापाचार्यकस्य'-'विजितकार्त्तिकेयस्य' 'शस्त्रव्यस्तोदधिसदनस्य'—भूहन्तकारस्य—तव रेणुकाकण्ठबाधां कृतवता परशुना बद्धस्पर्धश्चन्द्रहासो लज्जते'—इस प्रकार विशेषणों का समास किया जा सकता था परन्तु वैसा करने पर 'त्रिपुरारि' 'कार्त्तिकेय' और 'उदधि' और-'भू' की व्यक्तिप्रतिष्ठा दब जाती। पृथक् करके प्रयोग करने से जिसे जीता वह है—कार्त्तिकेय अर्थात् संपूर्ण सुरसमुदाय का सेनानी सेनानायक इत्यादि अभिप्राय द्योतित होते हैं।

उलटा उदाहरण जैसे (प्रत्युदाहरण)

प्रत्युदाहरणं यथा—

'तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि।
स्वञ्च संहितममोघसायकं व्याजहार हरसूनुसन्निभः॥' इति।

तत्राप्यमोघमाशुगमिति युक्तः पाठः ।

यथा वा—

'स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरपुष्पकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ॥' इति ।

अत्र मौर्वीं द्वितीयामिति युक्तः पाठः । न चैवं वृत्तभङ्गाशङ्का कार्या । तस्य श्रव्यतामात्रलक्षणत्वात् । तदपेक्षयैव वसन्ततिलकादाविव गुर्वन्ततानियमस्य सकर्णकैरत्राप्यनादृतत्वात् । अत एव यमकानुप्रास-योरिव वृत्तस्यापि शब्दालङ्कारत्वमुपगतमस्माभिः ।

यथा च—

'कारणगुणानुवृत्त्या द्वौ ज्ञाने तपसि चातिशयमातौ ।
व्यासः पाराशर्यः स च रामो जामदग्न्य इह ॥' इति ।

कृपा से कोमल राघव (राम) ने उन परशुराम को अपने आप में शक्तिशून्य देखा और अपने अमोघ बाण को धनुष पर चढ़ा तो कार्त्तिकेय के समान—वे बोले (रघुवंश ११ सर्ग) यहाँ भी (अमोघसायकम् की जगह) अमोघम् आशुगम् पाठ होना था या जैसे—

'कमर से बार बार खिसकती जा रही केसरपुष्पनिर्मित करधनी को बार बार सम्हालती जा रही थीं (पार्वती) मानो वह कामदेव के धनुष की अतिरिक्त प्रत्यंचा थी जिसे उसने उचित स्थान पर धरोहर के रूप में रख दिया था ।'

यहाँ मौर्वीम्-द्वितीयाम् यह पाठ ठीक है । इस प्रकार छन्दोभङ्ग की शंका नहीं करनी चाहिए । छन्द का लक्षण (असाधारण धर्म) है—श्रव्यता । उसी के आधार पर परिपक्व कान वाले श्रोताओं ने वसन्ततिलका आदि के अन्त में गुरु आने का नियम नहीं माना है । इसीलिए हमने यमक और अनुप्रास आदि के समान छन्द को भी शब्द का अलकार माना है ।

और जैसे—

'कारण के गुण आजाने से दो व्यक्ति ज्ञान और तप में बहुत कुछ हो गए । एक तो वह पराशर का पुत्र व्यास और वह जमदग्नि का पुत्र परशुराम ।'

नचैवमिति उपेन्द्रवज्रस्थाने इन्द्रवज्रप्रयोगात् । उपगतमस्माभिरिति । 'दुःश्रवत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव । तस्याप्यनुप्रासादेरिवे'त्यादि वदद्भिः ।

न चैवम्—उपेन्द्रवज्रा के स्थान पर इन्द्रवज्रा के प्रयोग से ।

उपगतमस्माभिः—'वृत्त का दुःश्रवत्व भी शब्ददोष ही है । वह भी अनुप्रासादि के समान' इत्यादि आरंभ में कहते हुए ।

विमर्श : स्रस्ताम्० यह उपजाति छन्द है । क्योंकि यहाँ प्रथम तथा तृतीय चरण में इन्द्रवज्रा का प्रयोग किया है और द्वितीय तथा चतुर्थ में उपेन्द्रवज्रा का । उपेन्द्रवज्रा में आरंभिक स्वर ह्रस्व होता है । वह द्वितीय मौर्वीं इस मूल पाठ में ही संभव है । मौर्वीं द्वितीयाम् पाठ करने पर 'मौ' का भी प्रथम स्वर दीर्घ हो जाता है । वह नित्यदीर्घ माना गया है । अतः चतुर्थ चरण भी इन्द्रवज्रा का ही हो जाता है । इस प्रकार १, ३ और ४ चरण इन्द्रवज्रा के हो जाते हैं, एक मात्र द्वितीय—उपेन्द्रवज्रा का एक चरण के भेद से कर्णमधुर उपजाति बनना संभव नहीं, अतः

द्वितीयमौर्वीम् की जगह 'मौर्वीं द्वितीयाम्' पाठ करने से छन्दोभङ्ग होता है। यह टीकाकारों की मान्यता है। इसके अतिरिक्त एक और कठिनाई आती है। इन्द्रवज्रा में अन्तिम स्वर गुरु होने का नियम है। 'स्मरेण द्वितीय' इस प्रकार जहाँ तृतीय तथा चतुर्थ चरणों का योग होता है वहाँ चतुर्थ चरण के आरंभ में आए 'द्वि' 'के' 'द्' तथा 'व्' इन दो व्यञ्जनों के संयोग से उसके नकट पूर्व का 'ण' का ह्रस्व अ गुरु हो जाता है। पर जब 'स्मरेण-मौर्वीम्' ऐसा पाठ होता है तब 'ण' का 'अ' ह्रस्व ही रहा आता है कारण कि 'मौ' तो 'द्वि' के समान संयुक्त व्यञ्जनों का समुदाय नहीं है। उसमें एक व्यञ्जन है—'म्' और एक स्वर है 'औ'। इस प्रकार दो कारणों से वृत्तभंग की शंका की जाती है। ग्रन्थकार का जोर द्वितीय कारण पर दिखाई देता है, क्योंकि उन्होंने—'गुर्वन्तता' का उल्लेख किया है। उत्तर में उनका कहना है कि वस्तुतः इतनी सी (छन्दगत-) कमी से छन्दोभङ्ग नहीं माना जाना चाहिए। उससे छन्द का उद्देश्य भंग नहीं होता। छन्द का उद्देश्य है—श्रव्यता अर्थात् श्रुतिसुखदता—कानों को प्रिय लगना। वह यदि इन्द्रवज्रा के अन्त में गुरु न हो और उपजाति में किसी एक ही छन्द के तीन चरण हो जायें तब भी बिगड़ता नहीं है। इसे वे लोग मानते भी हैं जिनके कान छन्द सुनने में अभ्यस्त और कुशल हो चुके हैं। उन्होंने इसीलिए छन्दःशास्त्र के नियमों में कुछ संशोधन भी किया है। 'वसन्ततिलका' वृत्त में अन्तिम स्वर दीर्घ चाहिए। सहृदय लोग ह्रस्व होने पर भी उसे सदोष नहीं मानते। वस्तुतः छन्द या वृत्त भी शब्द का एक अलंकार है। वह भी अनुप्रास और यमक आदि के समान ही शब्द में चारुता का आधान करता है। यदि कुछ हेरफेर से भी शब्द का चारुत्व छन्द द्वारा संभव हो रहा हो तो उसे सदोष नहीं मानना ही समझदारी है।

ननु यदा विशेषणविशेष्ययोर्विध्यनुवादभावो नाभिमतस्तदा स्वरूपमात्रविवक्षायां नीलोत्पलादिवदत्रापि समासः प्रसज्येत, न चेष्यत इत्यत्र हेतुर्वाच्यः।

उच्यते। पाराशर्यत्वाद्यसाधारणविशेषणसामर्थ्यावसिता व्यासादय इति तेषां पर्यायरूपत्वात् प्रयोग एव तावदनुपपन्नः किं पुनः समास इति पर्यायत्वमात्रं तदभावे हेतुर्नान्यः।

तद्यथा—

'शशाङ्कशेखरः शम्भुः पद्मजन्मा पितामहः' इत्यत्र।

एवं तक्षकसर्प इत्यादाववगन्तव्यम्।

(शंका)—जब विशेषण और विशेष्य में विध्यनुवाद भाव अभीष्ट न हो, केवल स्वरूप मात्र कहना अभीष्ट हो तब तो नीलोत्पल आदि के समान यहाँ भी समास हो सकता है, पर नहीं मानते, इसमें कारण क्या है? (उत्तर देते हैं) पाराशर्यत्व आदि विशेषण व्यासादि के असाधारण विशेषण हैं, उन्हीं विशेषणों के आधार पर वे (व्यास आदि) सर्वविदित हैं। इस प्रकार 'पाराशर्य' आदि शब्द व्यास आदि के पर्याय सिद्ध होते हैं, अतः उनका तो व्यासादि के साथ प्रयोग ही नहीं होना चाहिए। समास की तो बात ही अलग है। इस प्रकार समास के अभाव में पर्यायत्व मात्र हेतु है अन्य कोई वस्तु नहीं। जैसे शशांकशेखर शिव और कमलयोनि ब्रह्मा। इसी प्रकार 'तक्षक सर्प, आदि समझना चाहिए।

विमर्श : पहले यह कहा गया है कि उन विशेषणों का विशेष्य के साथ समास नहीं करना चाहिए जो विधेय होते हैं। परन्तु यदि विशेषण विधेय न होकर केवल (विशेष्य के) स्वरूप—मात्र के परिचय की दृष्टि से कहा गया हो तो उसका समास विशेष्य के साथ किया जाय या नहीं यह प्रश्न है। ग्रन्थकार का कहना है कि ऐसा विशेषण कहा ही नहीं जाना चाहिए जो विशेष्यगत विशेषता के ज्ञापन में आवश्यक न हो—विशेष्य का परिचय मात्र कराना ही उसे अभीष्ट हो। ऐसा विशेषण प्रत्युत पुनरुक्तिजनक होता है। 'कारणगुणानुवृत्त्या' में 'पाराशर्य' यह विशेषण-विशेष्य के समान ही अर्थ के ज्ञान की शक्ति रखता है—कारण कि पराशर के पुत्र रूप में केवल वही व्यक्ति प्रसिद्ध है जो व्यास रूप में है। अतः यदि 'पाराशर्य व्यास' कहा जाय तो दोनों में से एक शब्द व्यर्थ होगा। समास न करने पर यह प्रतीत होगा कि पराशर जो ज्ञान और तप की परम काष्ठा तक पहुँचे हुए थे—उनके पुत्र होने से व्यास महाज्ञानी हुए। इस प्रकार विशेषण साभिप्राय सिद्ध होता है। और साभिप्रायता में ही विशेषण की सार्थकता है। नहीं तो वह च, हि, तु, खलु, किल आदि के समान निरर्थक ही है।

लोहितस्तक्षक इति समासोऽत्रापि नेष्यते।
लौहित्यस्य विधावुक्तन्यायात्तस्याप्रवृत्तितः॥ १२॥
स्वरूपमात्रस्योक्तौ तु लौहित्याव्यभिचारतः।
उष्णोऽग्निरितिवत् पक्षो न चास्त्यन्यस्तदत्यये॥ १३॥

इत्यन्तरश्लोकौ।

'लोहित (लाल) तक्षक—यहाँ भी समास मान्य नहीं है। क्योंकि यहाँ लौहित्य (लालगुण) का विधान है, फलतः उपर्युक्त न्याय से वह (समास) हो ही नहीं सकता॥ १२॥

यदि स्वरूपमात्र का कथन अभीष्ट हो तो 'उष्ण अग्नि' इत्यादि के समान उसका (लौहित्य विशेषण का) प्रयोग ही नहीं होना चाहिए, कारणकि लौहित्य विशेषण विशेष्य (तक्षक) से कभी अलग नहीं होता और इन दो पक्षों को छोड़कर कोई तीसरा तो (विशेषण विशेष्य के प्रयोग का) पक्ष ही नहीं है।'

अत्र 'यथा च कारकगुणे'त्यादिग्रन्थः अन्तरश्लोकपर्यन्तः 'प्रत्युदाहरणं यथा तं कृपामृदुरि'त्यतः पूर्वं पठितः सामञ्जस्यं भजते, प्रत्युदाहरणं चेति उदाहरणग्रन्थः समञ्जस एव स्यात्। दृश्यते च पुस्तकेष्वेवं पाठः। तस्मादत्र जागरणीयम्।

'अत्र यथा च कारकगुणे'—इस प्रसंग में 'यथा च कारकगुण' यहाँ से लेकर इन संग्रह कारिकाओं तक का ग्रन्थांश यदि 'प्रत्युदाहरणं यथा–तं कृपामृदु०' इसके पहले पढ़ा जाय तो ठीक बैठता है। और उदाहरणों के बीच जो 'प्रत्युदाहरणं यथा' यह जो ग्रन्थांश है वह भी समन्वित हो जाता है। कुछ पुस्तकों में ऐसा पाठ मिलता भी है। इसलिये इस प्रसंग में जागरूक होना चाहिये।

विमर्श : ग्रन्थांशों के परिवर्तित पाठ की जो चर्चा यहाँ की गई है—उसमें असामञ्जस्य का कोई हेतु उपस्थित नहीं किया गया। ऐसा लगता है कि—'सभी उदाहरण एक साथ रखे जायँ और प्रत्युदाहरण उनके बाद'—व्य० व्या० को यह क्रम अच्छा लगता है। ग्रन्थकार ने कर्मधारय के इस प्रसङ्ग में समास न करने के ९ उदाहरण दिये हैं और एक प्रत्युदाहरण। प्रत्युदाहरण को ७ उदाहरणों के बाद बीच में दे दिया। उसे शेष दो उदाहरणों को भी बतला देने के बाद उपस्थित किया जाता तो ठीक था।

व्य० व्या० की इस बात पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता, कारण कि उन्होंने स्वयं मूल का संशोधन नहीं किया जब कि वे पाठान्तर में वैसा पाठ पा चुके थे, इसका कारण सम्भवतः ग्रन्थकार के प्रति व्य० व्या० कार की घृणा हो। जो कभी-कभी उनमें दोष निकालने से स्पष्ट है। वस्तुतः अन्य ग्रन्थकारों के समान व्यक्तिविवेककार अपनी प्रज्ञा को रोकना नहीं जानते। प्रत्युदाहरण के बाद पुनः दो उदाहरण सूझ आये होंगे और उन्होंने उन्हें भी जोड़ दिया होगा। अथवा और कोई कारण सोचा जा सकता है।

कारणमत्र पराशरो **जमदग्निश्च।**

तदभावे हेतु**रिति तच्छब्देन समासः परामृष्टः। ततश्चात्र पाराशर्यादिपदं व्यासादावुत्कर्षमर्पयत् पुनरुक्तम्।**

कारणमत्र—यहाँ कारण हैं पराशर और जमदग्नि।

तदभावे हेतु—यहाँ 'तत्' शब्द से समास का परामर्श किया गया है। तब (समास होने पर) यहाँ पाराशर्यादि शब्द व्यास आदि में उत्कर्षाधान करते हुये पुनरुक्त नहीं हैं।

विमर्श : तदभावे ततश्चात्र—इस व्याख्यांश में पुनरुक्तम् के पहले 'न' और चाहिए।

तक्षकसर्प इति तक्षकशब्दादेव सर्पपदमुत्कर्षसमर्पणप्रवणमेवेति **तदर्थस्य विधेयत्वम्।**

लोहितस्तक्षक **इति यथा तक्षकशब्दादेव सर्पत्वजातिः प्रतीता तद्वल्लोहितलक्षणो गुणोऽपि तत एवाव्यभिचारात् प्रतीतः। ततस्तौ जातिगुणौ विधेयताभिप्रायेणोक्तौ न समासे न्यग्भावनीयौ।** उक्तन्यायादिति विधेयत्वान्न **समासः प्रवर्तत इत्यर्थः।**

पक्षो न चास्त्यन्यस्तदत्यये इति। **इह द्वौ पक्षावुल्लिखितौ तक्षकस्य स्वरूपमात्रप्रतिपादनं वा लोहिताख्यगुणविधिर्वा। उभयत्रापि कृता चर्चा।** तदत्यये च **कथितपक्षद्वयातिक्रमे चान्यस्तृतीयपक्षो नास्तीत्यर्थः।**

तक्षकसर्प—यहाँ केवल तक्षक से ही सर्प शब्द (अपने अर्थ में) उत्कर्ष ज्ञान करा सकता है, अतः उसका अर्थ विधेय हो सकता है।

लोहितस्तक्षक—जिस प्रकार तक्षक शब्द से सर्पत्व जाति का ज्ञान हो जाता है वैसे ही 'लोहित' रूप गुण का भी उसी से ज्ञान हो जाता है कारण कि वह (लोहित गुण) उस (तक्षक) से अब दूर नहीं होता। इतने पर भी अलग अलग रख कर अपने वाचक शब्दों द्वारा उनका प्रयोग होने से वे दोनों 'जाति' और 'गुण' विधेय रूप से उपस्थित किए गये हैं, अतः समास में उन्हें दबाना नहीं चाहिए।

उक्तन्यात्—विधेय होने से समास नहीं लगता।

पक्षो न चास्त्यन्यः—इस प्रसंग में दो पक्षों का उल्लेख किया है या तो तक्षक का स्वरूपमात्र प्रतिपादन या लोहित का विधान। दोनों पर विवेचन कर दिया गया।

तदत्ययेच—इन दोनों पक्षों के अभाव में अन्य अर्थात् तृतीय पक्ष नहीं है।

एवमियता—इस प्रकार यहाँ तक के विवेचन से कर्मधारय का विचार कर बहुव्रीहि के निरूपण में कहा—

बहुव्रीहौ यथा—

येन स्थलीकृतो विन्ध्यो येनाचान्तः पयोनिधिः।
वातापिस्तापितो येन स मुनिः श्रेयसेऽस्तु वः॥' इति।

अत्र विन्ध्यादिविषयत्वेन स्थलीकरणादि यद्विशेषणतयोपात्तं तत्तत्कर्मकर्त्तुर्मुनेरतिदुष्करकारितया कमपि प्रभावप्रकर्षमवद्योतयति विन्ध्यस्य प्रतिदिवससमुच्छ्रायाच्छादितार्कप्रकाशस्य जगदान्ध्यविधायित्वात्, पयोनिधेरगाधत्वादपारत्वाच्च, वातापेः स्वमायापरिग्रहग्रस्तसमस्तलोकत्वात्। ततस्तत् प्राधान्येन विवक्षितमिति न तैः सह समासे निर्जीवीकृतम्।

बहुव्रीहि में जैसे—

जिसने विन्ध्य को मैदान जैसा बना दिया और जिसने समुद्र को आचमन कर लिया, (साथ ही) जिसने वातापी को (जठराग्नि में) पचा लिया वह मुनि आपके और हमारे लिए कल्याणकर हो।

यहाँ विन्ध्य आदि में 'स्थल बना देने' आदि को जो विशेषण रूप से कहा गया उससे उस काम को करने वाले मुनि का अत्यन्त दुष्कर कार्य करने का शौर्य व्यक्त होता है और उससे प्रकृष्ट अलौकिक प्रभाव। कारण कि विन्ध्य रोज रोज ऊँचा होता जाता था, उसने सूर्य प्रकाश छिपा दिया था अतः संसार को अन्धकारमय बना दिया था। समुद्र की कोई थाह नहीं और न पार। वातापी ने अपनी माया से सम्पूर्ण विश्व को ग्रस लिया था। इसलिए वे विशेषण प्रधान रूप से कहे गए हैं और इसीलिए उनके साथ समास न करके उन्हें निर्जीव नहीं होने दिया।

एवमियता कर्मधारयं विचार्य बहुव्रीहिनिरूपणायाह बहुव्रीहौ यथेति। ततस्तदिति स्थलीकरणादि यद् विशेषणतयोपात्तं तत् परामृश्यते। तैर्विंध्यादिभिः।

तदप्रतीतिः उत्कर्षापकर्षाप्रतीतिः।

ततस्तत् (१९३) से—स्थलीकरण आदि जो विशेषण दिए गए हैं उन्हें कहा। तैः का अर्थ है विन्ध्यादि द्वारा।

प्रत्युदाहरणं यथा—

'यः स्थलीकृतविन्ध्याद्रिराचान्तापारवारिधिः।
यश्च तापितवातापिः स मुनिः श्रेयसेऽस्तु वः॥' इति।

केचित् पुनः अनयोरुदाहरणप्रत्युदाहरणयोरर्थस्योत्कर्षापकर्षप्रतीतिभेदो न कश्चिदुपलक्ष्यत इति मन्यन्ते। त इदं प्रष्टव्याः। किं सर्वेष्वेव समासेष्वियं तदप्रतीतिः उत बहुव्रीहावेवायं शाप इति। तत्र यदि सर्वेष्वेवेत्यभ्युपगमस्तर्हि सहृदयाः पृच्छ्यन्तां वयं तावन्महदन्तरमेतयोः प्रतीत्योः पश्यामः।

अथ बहुव्रीहावेवेत्युच्यते, तदयुक्तम्। न हि प्रतीतिभेदहेतौ प्रतीतिसामर्थ्ये सति अकस्मात् तदसम्भवो भणितुं न्याय्यः। एवं हि क्षित्यादिसामग्र्यामविकलायामङ्कुरादिकार्योत्पादाभावाभ्युपगमोऽपि प्रसज्येतेति सर्वत्रै-

वायं प्रतीतिभेदोऽभ्युपगन्तव्यः। नैव वा कुत्रचित्। न पुनरिदमर्धजरतीयं लभ्यते।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'जो स्थलीकृतविन्ध्यादि है, जो आचान्तापारवारिधि है, जो तापितवातापि—है—वह मुनि आपके लिए श्रेयोजनक हों।'

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि यहाँ उदाहरण और प्रत्युदाहरण में कोई उत्कर्षापकर्ष नहीं भासता, उनसे यह पूछना चाहिए कि यह जो उत्कर्षापकर्ष का ज्ञान नहीं होता वह सभी समासों में नहीं होता या केवल बहुव्रीहि के लिए ही यह अभिशाप है। यदि सभी समासों में मानते हों तो इसके साक्षी सहृदय हैं उनसे पूछना चाहिए। हम तो इन ज्ञानों में बहुत बड़ा अन्तर देखते हैं।

और यदि केवल बहुव्रीहि ही में (यह माना जा रहा हो) तो ठीक नहीं। जब कर्मधारय आदि समास के ज्ञानों में समास ज्ञान और समासाभाव ज्ञान में भेद दिखलाने की शक्ति है तो निष्कारण उसे संभव न मानना युक्ति संगत नहीं। क्योंकि ऐसे तो भूमि आदि कारण समुदाय के रहते हुए भी अङ्कुरादि कार्य की उत्पत्ति का अभाव माना जाना भी संभव हो सकता है। इसलिए यह प्रतीतिभेद (समास और समासाभाव में) या ज्ञानगत भिन्नता माननी ही चाहिए। नहीं माननी हो तो कहीं भी नहीं मानी जानी चाहिए। इस अर्धजरतीय रीति से कोई लाभ नहीं।

प्रतीतिभेदहेतौ समासासमासयोगे। प्रतीतिसामर्थ्ये कर्मधारयादिविषये। तदसम्भवः प्रतीतिभेदासम्भवः। अन्त्यावस्थाप्राप्तकारणेषु युक्तैव कार्योत्पत्तिरित्यर्थः।

एतदभ्युपगमे दृष्टविरोधमाह। एवं हीति। नैव वेति न्यायविशेषात्। अर्धजरतीयमिति अर्धं जरत्या इति 'समासाच्च तद्विषयात्' (५-३-१०६) इति च्छप्रत्ययः। यथा जरत्याः वराङ्गं कामयते मुखं न कामयते तद्वदेवेत्यर्थः।

प्रतीतिभे०—समास होने और समास होने पर।

प्रतीतिसा०—कर्मधारय आदि जिसके विषय हैं उन ज्ञानों में।

तदसंभव—प्रतीतिभेद का अभाव। जब कारण अन्तिम अवस्था तक पहुँच जाते हैं तब कार्य की उत्पत्ति मानना ठीक ही है।

एतदभ्युप०—ऐसा मानने पर दृष्ट अनुभूत वस्तु का विरोध दिखलाते हैं एवं हि इस प्रकार।

'नैव वा—किसी भी समास में०' इत्यादि न्याय के आधार पर। (जिस किसी उपाय से एक समास में प्रतीतिभेद नहीं माना उसीसे अन्य सभी समासों में प्रतीतिभेद नहीं मानना चाहिए।

अर्धजरतीय—'जरती का आधा' इस विग्रह के अनुसार 'अर्धजरती'—ऐसा समास होने पर 'समासाच्च तद्विषयात्' इस सूत्र से छ प्रत्यय हुआ (तब अर्धजरतीय शब्द बना)। जराजीर्ण, वृद्ध स्त्री का वराङ्ग (योनि) तो कामना करता है, पर चेहरा नहीं वैसे ही।

विमर्श : यहाँ अर्धजरतीय न्याय का स्वरूप 'यथा स्त्री न तरुणी श्लथस्तनत्वात् कृष्णकेशत्वान्न जरती वक्तुं शक्यते तद्वत्' यह होना चाहिए। व्या० महाभाष्य में ४।१।७८ सूत्र पर 'अर्धं जरत्याः कामयतेऽर्धं न' ऐसा अर्धजरतीय न्याय दिया है। व्याख्यानकार ने कदाचित् यही मान लिया है। अर्धजरतीयन्याय को 'अर्धवैशसन्याय' भी कहा जाता है।

[द्र० लौकिकन्यायाञ्जलि : निर्णयसागर भाग—१]

इह वा प्रतीतिवैचित्र्यं स्पष्टतरमवधारयतु मतिमान्, यत्र विध्यनुवादभावाभिधित्सयैव पदार्थानामुपनिबन्धस्तत्रापि हि प्रधानेतरभावविवक्षानिबन्धनौ समासस्य भावाभावावुपगतावेव। यथा—

"सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।
स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः॥" इति।

अथवा बुद्धिमान् जी आप यहाँ भी प्रतीतिभेद मानिए (कहाँ-उत्तर) जहाँ पदार्थों का कथन विध्यनुवादभाव की विवक्षा से होता है। वहाँ भी तो प्रधानता-अप्रधानता की विवक्षा के आधार पर समास का होना न होना स्वीकार किया गया है। (उदाहरण) जैसे—

'जिसके मातामह (नाना) और पितामह (आजा) सूर्य तथा चंद्र हैं, जो दो के द्वारा स्वयं वरण किया गया पति है—उर्वशी द्वारा और पृथिवी द्वारा।'

अत्र हि त्रैलोक्यैकालङ्कारभूतौ चराचरस्य जगतो जीवितायमानौ भगवन्तौ सूर्याचन्द्रमसौ प्रसिद्धावनूद्य यन्मातामहपितामहभावो विहितस्ततोऽस्य पुरूरवसस्तौ लोकोत्तराभिजनजनितं महिमानं कामपि काष्ठामधिरोपयतः यतो विशेषणविशेष्यभावाभिहितेनैव न्यायेनात्राप्यनूद्यमानगतोऽतिशयो विधीयमानाकारसङ्क्रमणक्रमेण तत्सम्बन्धिनः पर्यवस्यति। तयोर्हि स्वरूपमात्रं भिन्नं फलं पुनः पारम्पर्येण वाक्यार्थोत्कर्षलक्षणमविलक्षणमिति प्राधान्येन विवक्षितत्वात् न तौ ताभ्यां सह समासे म्लानिमानीतौ।

यहाँ तीनों लोकों के आभूषण और चराचरात्मक विश्व के प्राणरूप प्रसिद्ध भगवान् सूर्य और चंद्र को शब्दतः कहकर (उनका) जो मातामहत्व और पितामहत्व बतलाया गया (विहित किया गया) उससे वे इस पुरूरवा के महत्त्व को जो सर्वोत्कृष्ट कुल के संबन्ध से उत्पन्न हुआ है, अद्भुत पराकाष्ठा को पहुँचा देते हैं। क्योंकि जो न्याय विशेषणविशेष्यभाव के लिए (समास या असमास का) बनाया गया है उसीसे इस पद्य में भी अनूद्यमान (सूर्य-चन्द्र आदि) में अवस्थित अतिशय (महत्त्व) उसके अपने विधीयमान (मातामह-पितामह) रूप में पहुँचता है और फिर वहाँ से उसके संबन्धी (पुरूरवा) में। उन दोनों का स्वरूप भर भिन्न है, जहाँ तक फल का संबन्ध है वह है-परंपरा से वाक्यार्थ का उत्कर्ष, वह दोनों में समान है। अतः प्रधान रूप से विवक्षित होने के कारण उनके साथ (विशेष्यों के साथ) समास में म्लान नहीं किए गए।

तत्तस्य इति तदिति तस्मात्। तौ सूर्याचन्द्रमसौ। तयोरिति अनुवाद्ययोस्सूर्याचन्द्रमसोः। पारम्पर्येणेति विधेयमातामहपितामहत्वद्वारेण। अत एव सूर्याचन्द्रमसाविति द्वन्द्वनिर्देशो द्वयोः स्पर्धितां प्रकाशयति। उर्वश्या च भुवा चेति समासाभावो वरणस्य मुख्यामुख्यत्वप्रदर्शनार्थम् एकस्य वास्तवत्वादपरस्य कविप्रौढोक्तिनिष्पादितत्वात्।

तत्तस्य—तत् अर्थात् तस्मात्।
तौ—सूर्य-चन्द्र।
तयोः—अनुवाद्य सूर्य और चन्द्र का।

पारम्पर्येण—विधेयभूत माता-पिता के महत्त्व के द्वारा। अत एव 'सूर्याचन्द्रमसौ' से, यह द्वन्द्व का निर्देश दोनों के स्पर्धाभाव को व्यक्त करता है।

उर्वश्या च भुवा—इस प्रकार समास का अभाव-वरण की मुख्यता और अमुख्यता के प्रतिपादन के लिए है। कारण कि उनमें से एक (उर्वशी द्वारा किया गया) वरण वास्तविक है और दूसरा (भू द्वारा किया गया) कविप्रौढोक्तिमात्र से संपादित है।

विमर्श : १. अन्य समासों के समान बहुव्रीहि में विशेषण का समास विशेषण की विधेयता को नष्ट नहीं होने देता। कारण कि बहुव्रीहि में अन्य पुरुष की प्रधानता रहती है।

स्थलीकृतविन्ध्याद्रि में स्थलीकरणविशिष्ट विन्ध्याद्रि स्वनिष्ठ-स्थलीकृतिजनकत्व संबन्ध से-मुनि में विशेषण है। मुनि स्वतंत्र रूप से पठित है। विशेषण अलग है और विशेष्य अलग। फलतः विशेषण की प्रधानता आहृत नहीं होती। परन्तु

स्थलीकृतविन्ध्याद्रि में स्थलीकरणविशिष्ट विन्ध्याद्रि स्वनिष्ठ-स्थलीकृतिक्रियाजनकत्व संबन्ध से (अर्थात् विध्न्याद्रि में दिखाई स्थलीकरण-क्रिया का जनक होने से) मुनि पदार्थ में विशेषण है। मुनि अलग पठित है। विशेषण अलग है विशेष्य अलग। अतः कहा जा सकता है कि विशेषण की प्रधानता नहीं होती।

परन्तु वस्तुतः—विन्ध्याद्रिकर्मक स्थलीकरणक्रिया मुनि में विशेषण है। इसलिए उसी स्थलीकरण की प्रधानता इस वाक्य से प्रतीत होती है। विन्ध्य की नहीं। वस्तुतः यहाँ मुनि में महत्त्व स्थली-करण द्वारा नहीं दिखाया जा रहा, प्रत्युत, स्थलीकरण में कर्म रूप से विन्ध्य के संबन्ध से दिखलाया जा रहा है, विन्ध्य से मुनि में महत्त्व तब आसकता है जब स्वयं विन्ध्य का महत्त्व सामने आए। वह तभी आ सकता है जब विन्ध्य को स्थलीकरण से अलग रखा जाय। ऐसा इस स्थलीकृत विन्ध्याद्रि में नहीं होता। वह होता है 'येन स्थलीकृतो विन्ध्यः' में ही। फलतः-यह कहना ठीक नहीं कि बहुव्रीहि में समासगत विशेषण प्रधान रहता है।

हमारी दृष्टि में जहाँ दो या एकाधिक वस्तु मिलकर अन्य पदार्थ में विशेषण बन रही हों—वहाँ यदि दोनों या एक का प्राधान्य बतलाना हो तो समास नहीं किया जाना चाहिए, पर यदि केवल उत्तर पदार्थ का प्राधान्य दिखलाना हो बहुब्रीहि समास करना दोष नहीं है। इतना अवश्य है कि वहाँ उस उत्तर पदार्थ की विधेयता विगृहीत वाक्य के समान पुष्ट न होगी, अतः अपुष्टि दोष आएगा ही। यह अपुष्टि भी अन्य समासों की अपेक्षा कम होगी। अतः प्रतीतिभेद तो बहुब्रीहि और अन्य समासों में रहेगा ही। उसे सर्वात्मना अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। ग्रन्थकारका मत यह है कि दोष तृण भर भी न रहे तो अच्छा। फिर बहुव्रीहि के एक देश में अपुष्ट प्रधानता को लेकर विशेषणगत विधेयता लिए सभी समासों को मान्य ठहराना युक्तिसंगत नहीं। जब बहुव्रीहि में पूर्वपदार्थगत विधेयता की प्रतीति समास द्वारा नहीं हो पाती तब अन्य समासों में उसे कैसे माना जा सकता है। एक अंश में मानना और दूसरे अंश में नहीं यह सिद्धान्त सिद्धि का प्रकार नहीं। विषमता से सिद्धान्त नहीं बनाए जा सकते।

२. यन्मातामह—पितामहभावो विहितस्ततोऽस्य—में आए ततोऽस्य के स्थान पर व्य० व्या० कार तत्तस्य पाठ मानते हैं। वस्तुतः ततोऽस्य ही अधिक अच्छा है। परन्तु और किसी प्राचीन प्रति में भी है या नहीं—यह देखने की आवश्यकता है यह पाठ संभवतः किसी आधुनिक ने बदला हो।

३. तयोः का अर्थ अनूद्यमान—दोनों टीकाकारों ने किया है। सचमुच यदि यही अर्थ हो तो 'तयोः स्वरूपमात्रं भिन्नम्' कहना व्यर्थ है। उसे हटा देने से कोई हानि नहीं होती।

इह च—

"जनको जनको यस्या या तातस्योचिता वधूः ।
आर्यस्य गृहिणी या च स्तुतिस्तस्यास्त्रपास्पदम्" ॥ इति ।

अथवा यहाँ (प्रतीतिभेद मानिये ।)

'जनक जिसके जनक हैं, जो पिता जी की मान्य पुत्रवधू हैं बड़े भैया रामचन्द्र जी की जो धर्मपत्नी हैं, उनकी स्तुति करना लज्जा की बात है ।'

विमर्श : यहाँ 'जनकजनका जानकी' इस प्रकार समास कर देने पर जनक (विदेह) का महत्त्व सामने नहीं आता । वह समास न करने पर ही प्रतीत होता है । इसी प्रकार तात और आर्य का । फलतः बहुव्रीहि में भी विशेषण का प्रधानता के लिये समास न करना ही ठीक है ।

इह चेति **प्रतीतिवैचित्र्यं स्पष्टतरमवधारयतु मतिमानिति पाश्चात्यं सम्बन्धनीयम् ।** जनक **इति । अत्र जनकाख्यराजर्षिप्रभृतयः पितृत्वादेरुत्कर्षमर्पयन्ति ।**

एवं बहुव्रीहिं विचार्य द्विगुं व्याचष्टे द्विगौ यथेति ।

इस प्रकार बहुव्रीहि का विचार कर द्विगु का विचार आरम्भ करते हैं—

द्विगौ यथा ।

"उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्ता त्वमापदाम् ॥" इति ।

अत्र हि संख्यायाः संख्येयेष्वङ्गेषु निरवशेषताप्रतिपत्तिफलमतिशयमादधानायाः प्राधान्येन विवक्षा । तत एव हि तेषु द्विविधापत्प्रतीकारेण राज्ञः शिवोपपत्तिं परिपुष्यतीति तस्यास्तैः सह समासो न विहितः ।

(राष्ट्र) के सातों अङ्गों में कुशलता है, सो ठीक ही है, आप जो मेरी दैवी और मानुषी आपत्तियों के निवारक हैं ।

यहाँ संख्या की प्रतीति प्रधानता लिये हैं । उसमें एक विशेषण है जिससे सभी अङ्गों में कुशलता की प्रतीति होती है और उसीसे (विवक्षा से) दो प्रकार की आपत्ति के प्रतीकार द्वारा राजा की कुशलता में युक्तता सिद्ध होती है । इसीलिये उसका (संख्या) उन (अङ्गों) के साथ समास नहीं किया ।

विमर्श : यहाँ ऐसा लगता है कि ग्रन्थकार को उक्त श्लोक का अन्वय—'यस्य मे शिवम् उपपन्नम्' ऐसा मान्य है । मल्लिनाथ ने—शिवम् उपपन्नम् , यस्य मे—आपदां प्रतिहर्त्ता त्वम्' ऐसा अन्वय माना है ।

यथा च—

"निग्रहात् स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः ।
रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु ॥" इति ।

प्रत्युदारणमेतदेवोदाहरणं कृतसमासवैशसं द्रष्टव्यम् ।

और जैसे—

बहिन के निग्रह से और अपने पूज्यों के वध से रावण ने अपने दसो सिरों पर राम का पैर रखा माना ।

यहाँ भी दशसु अलग ही है। वह भी ऊपर के श्लोक के अनुसार निरवशेष प्रतीति करती है। प्रत्युदाहरण के लिये उन्हीं उदाहरणों में समास द्वारा—संख्या को संख्यावान् से जोड़ा जा सकता है।

निरवशेष इति सप्तत्वसङ्ख्यायां विधेयत्वेन संरम्भास्पदत्वं समासे तु न्यग्भावात्।

दशस्विति दशत्वसंख्याया विधेयत्वं रावणस्य परिभवातिशयं प्रकाशयति। एकस्मिन्नपि मूर्धनि पदन्यासः परिभवास्पदं किं पुनर्दशस्विति। प्रत्युदाहरणं सप्ताङ्ग्यामिह यस्य स इतीत्यादिपाठे। वैशसं बाधः।

एवं द्विगुं व्याख्याय नञ्समासं व्याचष्टे नञ्समासेति।

निरवशेष—सप्तत्व संख्या का विधेय रूप से प्रयोग करना। समास में वह दब जाती।

दशत्व—दशत्व संख्या में दिखाई विधेयता रावण के अत्यन्त पराभव को प्रकाशित करती है। एक सिर पर भी पैर का रखा जाना परिभव की बात है, दस पर पैर रखना तो दूर की बात है।

प्रत्युदाहरण—'सप्ताङ्ग्याम्' (इह यस्य सः)—इत्यादि पाठ करने पर।

वैशस—बाध।

इस प्रकार द्विगु की व्याख्या कर अब नञ्समास की व्याख्या करते हैं।

नञ्समासोदाहरणं यथा—"नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः। इत्येवमादि पूर्वमेवोपदर्शितमुपपादितं च। प्रत्युदाहरणं यथा—

"वाच्यवैचित्र्यरचनाचारु वाचस्पतेरपि।
दुर्वचं वचनं तेन बहु तत्राप्यनुक्तवान्॥" इति।

नञ्समास का उदाहरण जैसे—

'नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः'—इत्यादि। पहले ही दिखलाया जा चुका है और उसका उपपादन भी किया जा चुका है। प्रत्युदाहरण जैसे—

'वाच्यगत विचित्रता और रचना से सुन्दर कथन वाचस्पति के लिए भी कठिन है। इससे उस जगह भी बहुत नहीं कहा।'

उपदर्शितमिति असंरब्धवानित्यत्र विधेयाविमर्शविचारे अनुक्तवानिति नोक्तवानिति वाच्यम्।

तत्पुरुषे कर्त्रादीनां षण्णां कारकाणां सम्बन्धस्य च क्रमेणोदाहरणान्याह देशेत्यादिना। सोऽयमिति। अत्र स एवायमिति व्याख्या। आहितसम्बन्धिनां शस्त्राणां घस्मराणि ग्रसनशीलानि अत एव गुरूणि।

उपदर्शितम्—असंरब्धवत् इस विधेयाविमर्श के विचार युक्त में।

अनुक्तवान्—'नोक्तवान्' यह कहना चाहिये।

तत्पुरुष में कर्त्ता आदि छ कारक और सम्बन्ध के स्वतन्त्र उदाहरण देते हैं—

तत्पुरुषे कर्तुर्यथा—

"देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः।
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
यद् रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः क्रोधनः॥" इति।

अत्र रामेणेति रामस्य कर्तृभावेन करणं प्रति यद्विशेषणत्वं, तत् तस्य दारुणतातिरेकात्मकमुत्कर्षं रौद्ररसपरिपोषपर्यवसायिनं समर्पयति, तस्य निरतिशयशौर्यशालित्वेन घोरतरनैर्घृण्यनिघ्नतया च प्रसिद्धेः। तेन तत्प्राधान्यान्न विशेष्येण सह समासे गुणतां नीतम्।

कर्त्रादीनां कारकाणामनेकेषां समशीर्षिकया विशेषणभावेन यदुपादानं स द्वन्द्वस्य विषय इति तत्स्वरूपनिरूपणावसर एव तेषां प्राधान्यमप्राधान्यं चाभिधास्यत इति न तदुदाहरणमिह प्रदर्शितम्। नापि विध्यनुवादभावोदाहरणं, तस्य विशेषणविशेष्यभावतुल्यफलतया तत्समानवृत्तान्तत्वोपपादनात्।

प्रत्युदाहरणं यथा—'यस्यावमत्य गुरुदत्तमिदं कुठारं डिम्भोऽपि राम इति नाम पदस्य हर्त्ता' इति।

तत्पुरुष में जैसे कर्त्ता का—

'यह वही स्थान है जहाँ शत्रुओं के रक्तरूपी जल से तालाब भर गये थे, पिता जी का केशग्रह—वैसा ही क्षत्रिय (धृष्टद्युम्न) से अपमान हुआ, मेरे चमचमाते हुये बड़े-बड़े अस्त्र भी शत्रुओं के शस्त्रों के भक्षक है।' इस प्रकार जो परशुराम ने किया था, वही क्रोधी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा करने जा रहा है।'

यहाँ—'राम द्वारा' इस प्रकार राम का 'उसने' इस शब्द की करण क्रिया में कर्त्ता रूप से जो विशेषणभाव है वह उसकी (करण क्रिया की) दारुणता के अतिरेक रूपी उत्कर्ष को बतलाता है, जिससे अन्ततः रौद्ररस की परिपुष्टि होती है, कारण कि उसकी (अश्वत्थामा) असामान्य शौर्य से युक्त होने और घोरतर निर्दयता के अधीन होने के लिये प्रसिद्धि है। इसलिये उस (कर्त्ता) की प्रधानता होने से उसे विशेष्य (क्रिया) के साथ समास करके गौण नहीं बनाया।

कर्त्ता आदि अनेक का तुल्य रूप से विशेषण भाव से जो कथन (होता है) वह द्वन्द्व का विषय (माना जाता है) इसलिये उसके स्वरूप के निरूपण के मौके पर भी उन (कर्त्ता आदि) की प्रधानता और अप्रधानता बतलायेंगे, इसलिये उसका उदाहरण यहाँ नहीं दिया। और न विध्यनुवाद भाव का उदाहरण ही दिया। कारण कि फल में उस (विध्यनुवादभाव के विशेषणविशेष्यभाव के बराबर होने से—स्थिति में भी समास का उपपादन किया गया है।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'जिसके—(परशुराम के) इस गुरुप्रदत्त कुठार तक का अपमान कर बच्चा होते हुये भी 'राम' इस नाम का हरण करने वाला है।'

करणं प्रतीति क्रियां प्रतीत्यर्थः। तत्तस्येति प्रक्रान्तस्य विशेष्यस्य करणस्य। तस्येति रामस्य। शौर्यं बलम्। निघ्नः परवशः। तेन तदिति रामेणेतिविशेषणम्।

अनेकेषामिति। अनेकशब्दस्य नञ्समासे उत्तरपदार्थप्राधान्यादेकत्वप्रसङ्गः। सत्यम् किन्तु नञ्प्रयोगविषये एकशब्दस्यैकव्यतिरिक्तवस्तुविषयत्वं यथा अब्राह्मण इत्यत्र ब्राह्मणशब्दस्य क्षत्रियादिगोचरत्वम्। एकव्यतिरिक्तं च वस्तु कदाचिदेकत्वोपरक्तं प्रतीयते, कदाचिन्निजेनैव स्वरूपेण। आद्ये पक्षे अनेकमिति भवति द्वितीये त्वनेकानीति। यथा च

पतञ्जलिः—'प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्' इति। गुरुदत्तमिति गुरुणा दत्तमिति वाच्यम्।

करणं प्रति—अर्थात् क्रिया के प्रति।

तत्तस्य—प्रकरणप्राप्त विशेष्य = करण का।

तस्य—राम का।

शौर्यम्—बल।

निघ्न—परवश।

तेन तस्य—'रामेण' यह विशेषण।

अनेकेषाम्—(शंका) अनेक शब्द में जो नञ्समास है उसमें उत्तर पदार्थ प्रधान होने से एकत्व की आपत्ति है। (उत्तर) ठीक है, पर जहाँ 'नञ्' का प्रयोग हुआ रहता है, वहाँ एक शब्द का अर्थ एक से भिन्न वस्तु होता है, जैसे 'अब्राह्मण' यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द क्षत्रिय आदि का वाचक है। एक से भिन्न वस्तु कभी एकत्व से युक्त भी दिखाई देती है, कभी अपने ही स्वरूप से। प्रथम पक्ष में 'अनेकम्' एक वचन होता है और द्वितीय पक्ष में अनेकानि : बहुवचन। जैसा कि पतञ्जलि ने कहा है—

अनेक लोगों की प्रवृत्ति के भेद में एक ही कारण है।

गुरुदत्तम्—गुरुणा दत्तम् इस प्रकार कहना चाहिये।

कर्मणो यथा—

"कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितै-
र्वनमसि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाम्बया।
नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये! स तव प्रियः॥" इति।

अत्र वनमिति यद् गमनक्रियायाः सीताविशेषणभूतायाः कर्मभावेन विशेषणं तत् तस्या रामप्रीतिप्रकर्षयुक्ताया अन्यकुलमहिलादुर्लभं दुष्करकारित्वं नामोत्कर्षमर्पयति वनवासदुःखस्यातिकष्टत्वात्। स चोत्कर्षो रामस्य रतेरुद्दीपनतां प्रतिपद्यत इति प्रधानं, न गतेत्यनेन सह समासे तिरस्कृतम्।

यथा च—'गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्' इति। अत्र गुर्वर्थमित्यर्थिनोऽर्थनक्रियामुखेन यद्विशेषणं, तत् तस्य श्लाघ्यतातिशयाधानद्वारेण रघोरुत्साहपरिपोषे पर्यवस्यतीति प्राधान्येन विवक्षितत्वान्नार्थिना सह समासे सतामवमततां गमितम्।

यथा च—"संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम्" इति।

कर्म का उदाहरण जैसे—

'जिसके प्रेम में—ऊपरी क्रोध, आँसुओं और दीनता युक्त दृष्टियों द्वारा माँ के रोकने पर भी तुम वन आईं, हे प्रिये—वही तुम्हारा कठोर हृदयवाला प्रिय नये मेघों से बीती दिशाएँ देखता हुआ भी जी ही रहा है।'

यहाँ—गमनक्रिया सीता में विशेषण है। उसमें (गमन क्रिया में) 'वन' जो कर्म रूप से विशेषण बनाया गया है वह राम की उत्कृष्टप्रीति से युक्त सीता के दुष्कर कार्य के लिये साहस रूपी उत्कर्ष का ज्ञान कराता है, जो अन्य कुलललनाओं में कठिनाई से मिल सकता है, कारण कि बनवास का दुःख अतीव कष्टकर है। वह उत्कर्ष भी राम के रतिरूपी स्थायी भाव में उद्दीपन बनता है—अतः प्रधान है, अतः 'गता' इसके साथ समास करके उसे अप्रधान नहीं किया गया।'

और जैसे—'गुरु के लिये याचना करने वाला, जो सुना उसके उस पार पहुँचा हुआ (कौत्स-ऋषि) रघु के पास से ईप्सित वस्तु न पाकर। (दूसरे—दाता के पास गया—अपयश का ऐसा नया अवतार न हो।)

यहाँ—'गुर्वर्थम्' यह पदार्थ अर्थी (याचकरूपी) पदार्थ में अर्थन क्रिया द्वारा—विशेषण है। इससे अर्थी में—

अतिशय—श्लाघ्यता की प्रतीति कराता है और उसके द्वारा रघु के उत्साह को बढ़ाने वाला ठहरता है इसलिये प्रधान रूप से कथित है, और अर्थी के साथ समास करके विद्वानों की दृष्टि में हेय नहीं बनाया गया है।

और जैसे—'पुत्रवत् पाले गये।'

विमर्श : यहाँ सुतनिर्विशेष अलग है। अतः सम्वर्धन क्रिया में अतिशयाधान करता है।

तत् तस्या **इति सीताया विशेषणभूतायाः सीताकर्तृकाया गमनक्रियाया इत्यर्थः।** गुर्वर्थमिति **गुरवे इदं गुर्वर्थमिति क्रियाविशेषणमेतत्। क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकलिङ्गत्वं च। ईप्सिततमत्वे तु षष्ठी स्यात्।** अर्थनक्रियामुखेनेति **अर्थयत इति निगमनात्।** तत् तस्येति **तद् गुर्वर्थमिति विशेषणम्। तस्यार्थिनः।** अवमतताम् **अनभिप्रेतताम्। अवमतत्वं गर्हितत्वम्।**

तत् तस्याः—सीता में विशेषण बनी-सीताकर्तृक गमनक्रिया का।

गुर्वर्थम्—गुरवे इदम्-गुर्वर्थम्—यह क्रिया विशेषण है, क्रियाविशेषण सदा कर्म होता है और नपुंसक लिङ्ग। यदि अत्यन्त 'इप्सितता' होती तो षष्ठी होती।

अर्थनक्रियामुखेन—अर्थयते इस प्रकार का कथन होने से।

तत् तस्य—तत् गुर्वर्थम् के लिये।

तस्य—अर्थी के लिये।

अवमतताम्—गर्हितता को।

प्रत्युदाहरणं यथा—'प्रदक्षिणक्रियातीतस्तस्याः कोपमजीजनः' इति, 'तमभ्यनन्दत् प्रथमप्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः' इति, 'यथाकामार्चितार्थिनाम्' इति, यथाकालप्रबोधिनामिति च।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'प्रदक्षिणक्रियाशून्य तुमने उसका क्रोध जगा दिया और इन्द्र के सम्वाददाता द्वारा पहले ही से जान चुके—दिलीप ने ही उसका पहले अभिनन्दन किया।

और—'यथाकामार्चितार्थी।' 'यथाकालप्रबोधी।'

सुतनिर्विशेषमिति। **क्रियाविशेषणमेव।** प्रदक्षिणक्रियेति। **अत्र प्रदक्षिणक्रियाया अत्ययक्रियाकर्मभूताया अन्तरायहेतुकोपनिमित्तत्वात् प्राधान्यम्। एवं** प्रथमबोधित **इति** प्राथ

स्यस्य । तथा यथाकामत्वयथाकालत्वयोर्ज्ञेयम् । यदवलोकनेति रूपसम्पत् परामृष्टा । स्वहस्तेनेति करणपदम् ।

सुतनिर्विशेष—क्रियाविशेषण है।

प्रदक्षिणक्रिया—प्रदक्षिण क्रिया अत्यय (लंघन) क्रिया में कर्म है । वही (सन्तानोत्पत्ति में) विघ्नभूत कोप का कारण है, अतः प्रधान है। इसी प्रकार प्रथम-प्रबोधितः यहाँ 'प्रथम की प्रधानता होनी चाहिये (पर वह समास में दब गई है—'प्रथमं प्रबोधितः'—होने से वह उभर सकती है।) इसी प्रकार यथाकामत्व और यथाकालत्व के विषय में जानना चाहिये। (उनमें भी प्रधानता होती थी, पर समास द्वारा उसे दबा दिया गया है।)

यदवलोकन—में 'यत्' से रूप-सम्पत् का परामर्श किया गया।

स्वहस्तेनेति—करण पद यहाँ प्रधान रखा गया।

करणस्य यथा—

"आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत् करेण रुद्धोऽपि न केशहस्तः ॥" इति ।

अत्र करेणेति यत् केशहस्तकर्मकस्य सम्भावितस्य रोधनस्य करणभावेन विशेषणं तत् तस्याः कस्याश्चिद्रभसौत्सुक्यप्रहर्षप्रकर्षरूपमतिशयं प्रतिपादयद् वधूवरयो रूपसम्पदमसाधारणीमभिव्यनक्ति यदवलोकनव्यवधानाधायिनीं तावतीमपि कालकलां विघ्नायमानां मन्यमानयानया सततं स्वाधीनेनैकेन करकमलेन रोधोऽप्यस्य न कृतः । तेन तत् प्रधानमिति न रुद्ध इत्यनेन सह समासेऽस्तमुपनीतम् ।

यथा च—

"कर्त्तुमक्षमया मानं प्राणेशः प्रत्यभेदि यत् ।
सोऽयं सखि ! स्वहस्तेन समाकृष्टस्त्वयानलः ॥"

करणकारक का जैसे—

'झरोखे के रास्ते पर तेजी से चल रही किसी का जूड़ा खुल गया और उसकी माला गिर गई। ऐसी अवस्था में उसने उसे बाँधा तो नहीं ही, हाथ से रोका भी नहीं।

यहाँ—केशहस्त को कर्म बनाकर सम्भावित रोधन क्रिया में कर 'करेण' इस प्रकार करणकारक न कर विशेषण बना । उससे उस (स्त्री) की उत्कृष्ट शीघ्रता, उत्सुकता, और प्रसन्नता में प्रकर्षरूपी अतिशय प्रतीत होता है । उससे वधू और वर की आसाधारण रूप-संपत्ति का बोध होता है। जिसे देखने में रुकावट डालने वाली उतनी सी घड़ी को भी उसने विघ्न मानकर हमेशा अपने अधीन कर कमल से उसे रोका भी नहीं। इसलिये उस (करण) की यहाँ प्रधानता है—इसलिये 'न रुद्धः' इसके साथ समास में उसे गुणीभूत नहीं बनाया।

और जैसे—

मान करने में तुम समर्थ हो नहीं, और प्राणेश का मन खट्टा कर दिया। सखी—यह तुमने अपने हाथ से आग लगा ली।

प्रत्युदाहरणं यथा—

"धात्रा स्वहस्तलिखितानि ललाटपट्टे।
को वाऽक्षराणि परिमार्जयितुं समर्थः॥" इति।

प्रत्युदाहरण जैसे—

ललाटपट्ट पर विधाता द्वारा अपने हाथ से लिखे अक्षरों को कौन भला मिटा सकता है।

स्वहस्तलिखितानीति **स्वहस्तशब्दोऽत्रादरप्रतीतिहेतुकत्वेन लेखनं प्रति उत्कर्षनिमित्तमपि समासे गुणीकृतः।**

स्वहस्तलिखितानीति—यहाँ स्वहस्त शब्द आदर-ज्ञान कराता और लेखन के प्रति उत्कर्ष का कारण बनता है—इतने पर भी उसे समास में दबा दिया।

सम्प्रदानस्य यथा—

"पौलस्त्यः स्वयमेव याचत इति श्रुत्वा मनो मोदते
देयो नैष हरप्रसादपरशुस्तेनाधिकं ताम्यति।
तद् वाच्यः स दशाननो मम गिरा दत्ता द्विजेभ्यो मही
तुभ्यं ब्रूहि रसातलत्रिदिवयोर्निर्जित्य किं दीयताम्॥" इति।

द्विजेभ्य इति निर्जयपूर्वकस्य भार्गवकर्तृकस्य महीदानस्य सम्प्रदानत्वेन यद्विशेषणं तन्मह्याः पात्रसात्करणोत्कर्षमादधद् भार्गवशौर्यातिरेकस्य व्यञ्जनेन दशाननस्य कोपोद्दीपनपर्यवसायि भवतीति प्राधान्येन विवक्षितत्वान्न दत्तेत्यनेन सह समासे कविना विच्छायीकृतम्। प्रत्युदाहरणमेतदेव पूर्ववद् द्रष्टव्यम्।

सम्प्रदान का जैसे—

'पुलस्त्य का वंशज रावण स्वयं माँग रहा है यह सुनकर मन प्रसन्न होता है और शिवप्रसाद से प्राप्त परशु देने लायक नहीं है इससे अधिक दुःखी भी होता है। इसलिए मेरे शब्दों में उस दस सिर वाले (रावण) से कहो कि—पृथिवी तो ब्राह्मणों को दे दी, बोलो पाताल और स्वर्ग में से तुम्हें क्या जीतकर दे दिया जाय?'

यहाँ—भार्गव (परशुराम) द्वारा जीत कर किए गए पृथिवीदान में 'द्विजेभ्यः' यह सम्प्रदान रूप से विशेषण है, उससे पृथिवी में सत्पात्र को दिए जाने का गौरव आता है, और उसके द्वारा परशुराम के शौर्यातिरेक की व्यञ्जना होती है—इस प्रकार वह (विशेषण) रावण के कोप को जगानेवाला ठहरता है—इसलिए वह प्रधानरूप से कहा गया है और इसलिए 'दत्ता' के साथ समास करके उसे कवि ने श्रीहीन नहीं बनाया।

पहले के समान—('विप्रप्रदत्ता मही' इस प्रकार समास करने पर) यही प्रत्युदाहरण बन जाता है।

पूर्ववदि**ति कृतसमासवैशसम्। तच्च विप्रप्रदत्ता महीति पाठे।**

पूर्ववद्—समासजनित हानि कर देने पर। वह 'विप्रप्रदत्ता मही' इस पाठ में सम्भव है।

अपादानस्य यथा—

'ताताज्जन्म वपुर्विलङ्घितवियत् क्रौर्यं कृतान्ताधिकं
शक्तिः कृत्स्नसुरासुरोष्मशमनी नीता तथोच्चैःपदम्।
सर्वं वत्स! तवातिशायि निधनं क्षुद्रात्तु यत् तापसात्
तेनाहं त्रपया शुचा च विवशः कष्टां दशामागतः॥'

अत्र तातादिति क्षुद्रात्तु यत्तापसादिति च ये जन्मनिधनयोरपादानभावेन विशेषणे ते तातस्य पितामहपितामहतया महामुनेः पुलस्त्यस्यापत्यतया च क्षुद्रतापसस्य च गणनानर्हतया तयोरुत्कर्षापकर्षद्वारेण तद्वतः कुम्भकर्णस्य कामपि कुलीनतां शौर्यापकर्षं चादधाने भ्रातुर्दशाननस्य शोकत्रपापावकेन्धनभावेन परिणमत इति प्राधान्येन विवक्षिते न ताभ्यां सह समासे गुणतां गमिते।

प्रत्युदाहरणं यथा—अत्रैव 'क्रौर्यं कृतान्ताधिकम्' इति। यथा च 'आसमुद्रक्षितीशानामिति'।

अपादान का जैसे—

'पिताजी से जन्म, आकाश नाप लेने वाला शरीर, यम से भी ज्यादा क्रूरता, और सभी देव और दानवों की गरमी उतार देनेवाली—उतनी ऊँची पहुँची हुई शक्ति, इस प्रकार हे वत्स! तुम्हारा सब कुछ सर्वातिशायी था, किन्तु केवल निधन क्षुद्र तपस्वी से हुआ, इसलिए मैं लाज और शोक से विवश हो बड़ी बुरी हालत में आ पड़ा हूँ।'

यहाँ 'तात से' और 'क्षुद्र तापस से' ये जो दो अपादान रूप से जन्म तथा निधन के विशेषण बनाए गए हैं, वे उत्कर्ष और अपकर्ष द्वारा उनसे युक्त कुम्भकर्ण की अत्यधिक कुलीनता तथा शक्तिहीनता का ज्ञान कराते हैं, पिता (ब्रह्मा) के पौत्र होने तथा महामुनि पुलस्त्य के पुत्र होने से—(तातात्—यह अपादान कुलीनता का ज्ञान कराता है) तथा क्षुद्र तापस की नगण्यता से (तापसाद्—यह अपादान—शौर्यापकर्ष का)। उसके बाद वे ही—भाई दशानन (रावण) के शोक और लज्जा की आग में ईंधन बनते हैं, अतः प्रधानरूप से विवक्षित हैं, इसीलिए—उन (जन्म और निधन) के साथ समास में गुणीभूत नहीं किए गए।

प्रत्युदाहरण जैसे—इसी पद्य में 'क्रौर्यं कृतान्ताधिकम्'।

और जैसे—'आसमुद्रक्षितीशानाम्'।

पितामहपितामहतयेति **पितामहो ब्रह्मा पितामहः पूर्वपुरुषो यस्य।** तयोर्**जन्मनिधनयोः।** तद्वतो **जन्मनिधनवतः।** ताभ्यां **जन्मनिधनाभ्याम्।** कृतान्तादधिकमिति **आ समुद्रात् क्षितीशानामिति च वाच्यम्। अपादानसमानन्यायत्वादवधिरपि पञ्चम्यन्तोऽत्र गृह्यत इति प्रत्युदाहरणोपपत्तिः।**

पितामहपितामहतया—पितामह ब्रह्मा है पितामह पूर्वपुरुष जिसका।

तयोः—जन्म और निधन का।

तद्वतोः—जन्म और निधन युक्त का।

ताभ्याम्—जन्म और निधन से।

कृतान्तात्—अधिकम्' और 'आसमुद्रात् क्षितीशानाम्' ऐसा पाठ चाहिए।

अपादान के समान अवधि (अभिविधि भी) पञ्चम्यन्त—मानी जाती है, इस प्रकार उदाहरण की संगति होती है।

विमर्श: अपादान का अर्थ होता है वह पदार्थ जहाँ से विश्लेष हो, जैसे—वृक्ष से पत्र गिरता है में—विश्लेष वृक्ष से होता है अतः वह अपादान है। अवधि का अर्थ है सीमा। सीमा से किसी का विश्लेष नहीं होता, प्रत्युत विश्लिष्ट वस्तु में सीमा भी गिन ली जाती है। अतः वस्तुतः उसमें पञ्चमी होना नहीं चाहिए, तथापि सीमारूप अवधि अपादानरूप पदार्थ से अधिक भिन्न नहीं है अतः उसमें पञ्चमी हो सकती है।

अधिकरणस्य यथा—

'तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या ॥'
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः। इति।

अत्र रणाश्वमेध इति यत् पशुताया यशस्विकर्तृकोपागमकर्मभूताया अधिकरणभावेन विशेषणं तत् तस्या इतरपशुवैलक्षण्यलक्षणमतिशयमादधानं शूराणां समरमरणोत्साहमुद्दीपयतीति प्राधान्येन विवक्षितत्वान्न तया सह समासे समशीर्षिकतां नीतम्।

यथा च—

'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥' इति।

जैसे— अधिकरण का—

'तपस्वी लोग जिसे देर से पाते हैं, याज्ञिक जिसे पर्याप्त श्रम के पश्चात् प्राप्त करते हैं, उस गति को रणरूपी अश्वमेध में पशुता को प्राप्त हुए यशस्वी वीर तत्काल पा जाते हैं।'

यहाँ 'रणाश्वमेधे' यह जो यशस्वी की प्रगति रूप क्रिया के प्रति कर्म बनी पशुता का अधिकरण रूप से—विशेषण है वह उसके अन्य पशुओं से विलक्षणतारूपी अतिशय को साधता है। अतः प्रधानरूप से विवक्षित है। और इसीलिए समास में बराबरी तक नहीं लाया गया।

और जैसे—

'बचपन में विद्याभ्यास कर लेने वाले, यौवन में विषय की चाह रखने वाले, वृद्धावस्था में मुनियों के समान रहनेवाले तथा अन्त में योग से शरीर छोड़नेवाले—रघुवंशियों का…'।

विमर्श : यहाँ सभी अधिकरण विधेय रूप से कथित हैं।

उपागमेति **उपागता इति निर्दिष्टा उपागमक्रिया।** रणभूषित **इति। अत्र रणभुवीति वाच्यम्।**

उपागम—उपागता इसमें निर्दिष्ट उपागम क्रिया।

रणभूषित—यहाँ 'रणभुवि' इस प्रकार अधिकरण को पृथक्रूप से बतलाना चाहिए।

प्रत्युदाहरणं यथा—

रेणुरक्तविलिप्ताङ्गो विकृतो व्रणभूषितः।
कदा दुष्प्रत्यभिज्ञानो भवेयं रणभूषितः ॥ इति।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'धूल और खून से विलिप्त शरीर वाला, विकृत घावों से अलंकृत—इस प्रकार रणभूषित होकर मैं कब कठिनाई से पहचानने लायक बनूँगा।

सम्बन्धस्य यथा—

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।' इति।

अत्र कपालिन इति यत् समागमप्रार्थनायाः शोचनीयतागतौ हेतुत्वेनोपात्तायाः सम्बधिद्वारेण विशेषणं तत् तस्यास्तत्र यत् सामर्थ्यं तत् सुतरामुपबृंहयति तस्य सकलामङ्गलनिलयतया निन्दिताचारनिरततया च दर्शनसम्भाषणादीनामपि प्रतिषिद्धत्वात्। अतो विधेयार्थतया प्राधान्येन विवक्षितं विशेष्येण सह समासे न प्रत्यवरीकृतम्।

यथा च—

'जनको जनको यस्या या तातस्योचिता वधूः।
आर्यस्य गृहिणी या च स्तुतिस्तस्यास्त्रपास्पदम्॥' इति।

'स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञ' इति। 'कः क्षमेत तवानुज' इति।

संबन्ध का जैसे—

'उस कपालधारी के लिए दुराग्रह से—अब दो—शोचनीय बन गए—'

यहाँ—शोचनीयता को प्राप्त होने के प्रति हेतु रूप से जो समागम—की प्रार्थना है उसमें सम्बन्धिद्वारा 'कपालिनः' यह विशेषण है। वह उस (समागम-प्रार्थना) का (शोचनीयताप्राप्ति) के प्रति जो सामर्थ्य है उसे और बढ़ा देता है। कारण कि जो कपालधारी है वह सब प्रकार के अमंगल का घर है, वह निन्दित आचरण में लगा हुआ है, अतः उसके दर्शन और संभाषण आदि भी निषिद्ध है। अतः विधेय होने से—प्रधानतया वह (विशेषण), विवक्षित है, फलतः उसे समास में बटने नहीं दिया।

और जैसे—

'जनक जिसके जनक हैं, जो पिताजी की अनुरूप स्नुषा (पुत्रवधू) है, जो बड़े भैया की धर्मपत्नी है, उसकी स्तुति लज्जास्पद है।'

'स्कन्द की मा के दूध का स्वाद जाननेवाला है। 'कौनसा तुम्हारा—छोटा भाई सह सकता है।

शोचनीयतागतिः क्रिया। **अत्र समागमप्रार्थना हेतुत्वेनोपात्ता। तस्याः** सम्बन्धिद्वारेण **सम्बन्धित्वमुखेन कपालिन इति विशेषणम्। अत्र सम्बन्धिशब्दो भाववृत्तिः सम्बन्धित्वे वर्त्तते, यथा 'द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने' (१-४-२२) इति, सधीरमुवाचेति।** तत्तस्या **इति। तद्विशेषणम्। तस्यास्समागमप्रार्थनायाः। तत्र शोचनीयतागतौ।** सामर्थ्य**मव्यभिचारेण सम्पादकत्वम्।** तस्य सकलेति **तच्छब्दः कपालिन इत्यस्य परामर्शकः।** विशेष्येण **समागमप्रार्थनयेत्यनेन** प्रत्यवरं **गुणभूतम्।**

एवं तातस्येति, आर्यस्येति, स्कन्दस्येति, तवेति **चेत्येषां विशेषणानामुत्कर्षसमर्पकत्वं ज्ञेयम्।**

शोचनीयतागतिः—यह क्रिया है। उसमें समागम की प्रार्थना हेतुरूप से कही गई है। उसका सम्बन्धित्व द्वारा 'कपालिनः' यह विशेषण है। यहाँ सम्बन्धी शब्द भावार्थक है, उसका तात्पर्य है

सम्बन्धित्व, जैसे—द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने—में (द्वि का द्वित्व और एक का एकत्व अर्थ माना जाता है।) इसलिए उसे धैर्य के साथ (?) (सधीरम्) कहा।

तत्तस्याः—तत्—विशेषण, तस्याः—समागम-प्रार्थना का। तत्र—शोचनीयतागति में।

सामर्थ्यम्—नियमतः (बिना चूके) कार्य करने की शक्ति।

तस्य सकलेति—तत् शब्द कपालिनः का परामर्शक है।

विशेष्येण—समागम-प्रार्थना (रूपी विशेष्य) से।

प्रत्यवरम्—गुणीभूत—अप्रधान।

तातस्य, आर्यस्य, स्कन्दस्य, तव—ये विशेषण उत्कर्षाधायक हैं।

विमर्श : जनको जनको यस्याः—की जगह 'जनकस्यात्मजाता या' यह पाठ प्रक्रमानुरोधी होता।

प्रत्युदाहरणं यथा—

'पृथ्वि ! स्थिरीभव भुजङ्गम ! धारयैनां
त्वं कूर्मराज ! तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुञ्जराः ! कुरुत तत्रितये दिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥' इति।

यत्र हि हरसम्बन्धनिबन्धनः कार्मुकस्य गौरवातिरेको दुरारोपता चेति तस्यैव विधेयतया प्राधान्यं न कार्मुकमात्रस्य, तच्च तस्य वृत्तावन्तरितं, तेन 'देवो धनुः पुररिपोर्विदधात्यधिज्य'मित्यत्र युक्तः पाठः। अस्मिंश्च पाठे कल्पितार्थस्याप्रयुक्तस्य वाततज्यस्य प्रयोगपरिहाराद् गुणान्तरलाभ इति। यथा—

'किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
मात्रा, स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥'

अत्र ह्यार्यस्यानुज इति तातस्य कलत्रमित्युचितं वक्तुम्।

यथा च—

'जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा।
हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्क इवार्पितः ॥' इति।

अत्र हरेः सम्बन्धेन चक्रस्य जयाशास्पदत्वमिति हरेरेव प्राधान्यविवक्षा न चक्रमात्रस्य, तच्च तस्य समासेऽस्तमुपगतम्। विभक्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी हि विशेषणानां विधेयतावगतिः। तत एव चैषां विशेष्ये प्रमाणान्तरसिद्धस्वोत्कर्षाधायिनां शाब्दे गुणभावेऽप्यार्थं प्राधान्यं विशेष्याणां च शाब्दे प्राधान्ये आर्थो गुणभावोऽनूद्यमानत्वादित्युक्तम्। वक्ष्यते च।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'हे—पृथिवी ! स्थिर हो जा, शेषनाग—इसे धरे रहो, और कूर्मराज तुम—इन दोनों को

सम्हाले रहो, दिग्गजो ! तुम लोग इन तीनों को धारण करने में तत्पर रहो, (हमारे) आर्य— (रामचन्द्र) शिवधनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा रहे हैं।'

यहाँ धनुष में गौरव और ताने जाने में कठिनाई शिव के सम्बन्ध से चढ़ी-बढ़ी दिखाई देती है। इसलिए वही (हरसम्बन्ध) विधेय है और इसलिए वही प्रधान, न कि केवल धनुषमात्र। पर वह [हररूपी विशेषण] समास में अप्रधान बना दिया गया। अतः—देवो धनुः पुररिपोर्विदधात्यधिज्यम्' पाठ ठीक है। इस पाठ में एक और लाभ है—कि जिसका अर्थ कल्पित है जिसका प्रयोग भी नहीं होता उस 'आततज्य' शब्द का परिहार भी हो जाता है।

जैसे—

क्या भरत को लोभ ने अन्धा बना दिया, जिससे वे माँ के कहने पर ऐसा कर बैठे, या मेरी मझली माँ ही नारीसुलभ तुच्छता में आ गईं ? नहीं मेरे ये दोनों वितर्क झूठे हैं, भैया भरत—आर्यानुज (बड़े भैया राम के अनुज) हैं, और माँ तात (पिता) पत्नी हैं। अतः मैं सोचता हूँ यह अनुचित कार्य विधाता ने किया।'

यहाँ—आर्यस्य अनुजः, और तातस्य कलत्रम्' कहना उचित था। और जैसे—

'और जिस पर हमारी जयाशा थी उस टक्कर से चिनगारी उड़ा रहे हरिचक्र (सुदर्शन) ने इसके कण्ठ में निष्क (गले का हार) मानो पहना दिया।

यहाँ हरि के सम्बन्ध से चक्र के विषय में जयाशा हो सकती सकती है इसलिए प्राधान्य हरि में ही चाहिए, केवल चक्र में नहीं, पर उसका (हरि का) वह (प्राधान्य) समास में डूब गया।

विशेषणों में विधेयता की जो प्रतीति होती है वह विभक्ति के रहने पर ही, विभक्ति के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होती। और उसी से इनमें (विशेषणों में) शब्दतः तो अप्रधानता रहती है पर अर्थतः प्रधानता ही, कारण कि ये विशेष्य में—दूसरे प्रमाणों से सिद्ध अपने (विशेषणों के) गुणों का उत्कर्ष डालते हैं। और उसी से विशेष्यों में शब्दतः प्रधानता तथा अर्थतः अप्रधानता की प्रतीति होती है। क्योंकि उन (विशेष्यों) का तो केवल अनुवाद होता है। यह हमने कहा है और आगे भी कहेंगे।

तस्यैवेति **गौरवदुरारोपत्वनिबन्धनस्य हरस्य।** तच्चेति **प्राधान्यम्।** तस्येति **हरस्य।** कल्पितार्थस्येति **विस्तारितकृत्रिमत्वमात्रवाचिनोऽधिज्यत्वमात्रलक्षणार्थारोपात्** अप्रयुक्तस्येति **उक्तनयेनास्मिन्नर्थे कविभिरप्रयुज्यमानस्य।** गुणान्तरलाभ **इति वक्ष्यमाणलक्षणस्य वाच्यावचनस्य परिहारात्।**

मात्रेति **'एवं कृतम्' इत्यत्र करणम्।**

निष्क **आभरणविशेषः।** विभक्त्यन्वयेति **श्रूयमाणाया विभक्तेरित्यर्थः।**

तथा च 'षष्ठ्या आक्रोशे' (६-३-२१) इति ज्ञापकमुपदेश इष्यत इति प्रमाणान्तरेण 'लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधमि' त्युक्तरूपेण सिद्धौ यौ स्वस्य विशेषणस्योत्कर्षापकर्षौ तदाधायिनाम् अर्थाद्विशेष्यं प्रतीत्यर्थः। आर्थं **वास्तवम्।**

विभक्त्यन्वयव्यतिरेक०—अर्थात् अपने स्वरूप में दिखाई दे रही विभक्ति के साथ।

तथा च षष्ठ्याः—इसके लिए 'षष्ठ्या आक्रोशे'—(निन्दा व्यक्त होती हो तो षष्ठी का लोप समास में नहीं होता')—इस सूत्र का ज्ञापक—माना जाता है।

प्रमाणान्तरे०—'लोको वेदस्तथाध्यात्म्यं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्' इस प्रकार जो पहले कहा गया

है उससे सिद्ध हुए जो अपने उत्कर्ष तथा अपकर्ष उनका आधान करने वाले अर्थात् विशेष्य में (उनका आधान करने वाले)।

अर्थ—वास्तव।

विमर्श : १. विशेषण विशेष्य में उत्कर्ष की प्रतीति तभी करा पाते हैं जब उनके शब्दों में विभक्ति का उपयोग किया जाय। कारण कि ऐसा करने से विशेषण अपने उत्कर्ष का आधान विशेष्य में कर सकते हैं, यदि यह शंका की जाय कि विशेष्य में उत्कर्ष विशेषणों द्वारा प्रतीत होता है, पर विशेषण में उसकी प्रतीति कैसे होती है तो उसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं विशेषणों में उत्कर्ष की प्रतीति लोक-वेद तथा अध्यात्म-इन प्रमाणों से हो जाती है।

२. यहाँ एक बात ध्यान देने की है मूल में प्रमाणान्तरसिद्ध स्वोत्कर्षाधा० इतना ही पाठ है। उसमें अपकर्ष शब्द का उल्लेख नहीं है। परन्तु व्य० व्या० और मधुसूदनी विवृति दोनों में उत्कर्ष, अपकर्ष दोनों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः उत्कर्षमात्रपाठ ठीक है। विशेषण उत्कर्ष की ही प्रतीति कराते हैं अपकर्ष की नहीं यदि विशेष्य में अपकर्ष होता भी है तो विशेषण वहाँ उसी अपकर्ष में उत्कर्ष दिखलाते हैं।

३. विशेष्य शब्दतः तो वाक्य में प्रधान होता है, क्योंकि सभी विशेषण उसी में संमिलित होते हैं, परन्तु 'श्वेत कमल' कह देने के बाद 'नील कमल' कहते समय विशेष्य कमल ही प्रधान होगा, कारण कि विशेषण ठीक उसी में संमिलित होता है, इतने पर भी प्रधान होगा नील ही, कमल तो पहले के वाक्य श्वेत कमल (श्वेत कमल) से ही विदित है, अब जो 'नील कमल' वाक्य कहा जा रहा है उसका अभिप्राय कमल का ज्ञानकराना नहीं प्रत्युत उसमें 'नीलिमा' का ज्ञान कराना ही है। अतः तात्पर्यभूत ज्ञान का विषय होने से अर्थात् = नील कमल में नील ही प्रधान माना जाना चाहिए। पूर्व वाक्य से ज्ञात पदार्थ को दूसरे वाक्य में उसका अनुवाद कहा जाता है, जिसका अनुवाद होता है वह प्रधान नहीं होता, वह पूरक होता है। अतः इस दृष्टि से 'नील कमल' का कमल अनुवाद का विषय है अनूद्यमान है वह प्रधान नहीं कहा जा सकता।

एतदाचार्यस्याप्यनुमतमेवेति ज्ञायते, यदयं 'वृषल्याः कामुको' 'दास्याः पुत्र'इत्यादौ कामुकादेराक्रोशादपकर्षप्रतिपत्तये समासेऽपि विभक्तेरलुकमाह। कुतस्तर्हि दासीपुत्र इत्यतः पुत्रस्याक्रोशावगतिः, न ह्यत्र विभक्तिरस्ति। को वा मन्यते। स्वरूपमात्रमेवातः पुत्रस्य प्रतीयते नाक्रोश इति सूत्रारम्भप्रयोजनमेव चिन्त्यम्।

समासे च विभक्तिलोपान्नोत्कर्षापकर्षावगतिरिति न तन्निबन्धना रसादिप्रतीतिरिति तदात्मनः काव्यस्यायं विधेयाविमर्शो दोषतयोक्त इति।

यह आचार्य को भी मान्य है ऐसा लगता है। क्योंकि उन्होंने 'वृषल्याः कामुकः' 'दास्याः पुत्रः' इत्यादि स्थलों में कामुक आदि में आक्रोश [निन्दा] जनित अपकर्ष की प्रतीति के लिये समास में भी विभक्ति का लोप नहीं माना। [शंका]—तो फिर 'दासीपुत्र' [इस प्रकार के समासयुक्त शब्द] से आक्रोश की प्रतीति कैसे होती है ? यहाँ तो विभक्ति है नहीं [उत्तर] मानता ही कौन है ? [कि यहाँ आक्रोश की प्रतीति होती है]। इससे केवल पुत्र के स्वरूपमात्र की प्रतीति होती है, आक्रोश की नहीं। यही बात तो 'सूत्र' [षष्ठ्या आक्रोशे] के निर्माण का प्रयोजन है। विभक्ति

के लोप होने से आक्रोश की प्रतीति नहीं होती [इसी तथ्य को बतलाने के प्रयोजन से यह सूत्र बनाया गया है]

समास में विभक्ति का लोप हो जाता है इसलिए उत्कर्ष-अपकर्ष का ज्ञान नहीं होता। इसीलिए उस [उत्कर्षापकर्ष] आश्रित रस आदि की प्रतीति नहीं होती इसलिए वह [रस] जिसकी आत्मा है ऐसे काव्य के विधेयांश का यह [उत्कर्ष] प्रतीत न होना दोष समझा गया।

अलुकमाह **'षष्ठ्या आक्रोश' (६-३-२१) इत्यनेन** चिन्त्यमिति। **एतदवगमाय विचार्य-मित्यर्थः।**

अलुक् समास बतलाते हैं—**(षष्ठ्या अक्रोशे)** इससे।

चिन्त्यम्—यह समझने के लिए विचारना चाहिए।

समासे च विभक्तिलोपादिति। **इह हि विभक्तिश्रवणाश्रवणे अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विशे-षणगतयोर्वास्तवयोः प्रयोजकतां भजेते। ते तु प्रायेण वाक्यसमासगतत्वेनोपलभ्यमाने समासस्य विभक्त्यश्रवणाद्विधेयाविमर्शतामुत्पादयतः। अत एव समासेऽपि यदि विभक्तिः श्रूयते तदा न विधेयाविमर्शो यथा दास्याः कामुक इत्यादौ। समासस्तु तत्रैकपद्यादिप्रयो-जनत्वेन कृतः।** तन्निबन्धनेति **उत्कर्षापकर्षनिबन्धना। एवञ्च विभक्त्यश्रवणान्वयव्यतिरेका-नुविधायित्वं विधेयाविमर्शस्य व्याप्त्या प्रदर्शितं भवति।**

वाक्य-प्रयोग में विभक्ति का सद्भाव या अभाव अन्वय-व्यतिरेकसे विशेषणों में विद्यमान वास्तविकताओं का कारण बनते हैं। और वे [विभक्ति के सद्भाव और अभाव] क्रमशः = वाक्य और समास में पाये जाते हैं। समास में विभक्ति का अभाव होता है, अतः विधेयाविमर्श दोष को पैदा करते हैं। इसीलिए समास में भी जब विभक्ति रहती है तो विधेयाविमर्श दोष नहीं होता। जैसे दास्याः कामुकः = इत्यादि में। वहाँ समास सिर्फ दोनों पदों को एक पद मानने के लिए किया जाता है।

तन्निबन्धना—उत्कर्ष-अपकर्ष पर निर्भर। इस प्रकार विधेयाविमर्श का अन्वयव्यतिरेक विभक्ति के सद्भाव और अभाव के साथ दिखलाया गया। उससे विधेयाविमर्श और विभक्ति के अभाव का व्याप्यव्यापकभाव बतलाया गया।

विमर्श : विशेषणों में रहने वाले वास्तवयोः 'दो वास्तवों' के स्थान पर हमें लगता है—'वास्तवावास्तवयोः' पाठ होना चाहिए। इसमें वास्तव का अर्थ साभिप्राय होगा और अवास्तव का निरभिप्राय या निरर्थक। विभक्ति का सद्भाव विशेषण को साभिप्राय सिद्ध करना है और अभाव निरभिप्राय। 'वे' का अर्थ विभक्ति का श्रवण, अश्रवण ही ठीक है। वे विधेयाविमर्श दोष को जन्म देते हैं इस कथन में अरुचि यह आती है कि विभक्ति का सद्भाव तो उलटे विधेया-विमर्श को दूर करता है तब विभक्ति के अभाव के समान उसे भी विधेयाविमर्श जनक कैसे बतलाया गया? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि समूहालम्बन द्वारा पहले दोनों में विधेयाविमर्शजनकता कहकर बाद में स्पष्टीकरण करते हुए समास मात्र में विभक्ति के अभाव को विधेयाविमर्श का कारण बतलाया गया। जैसा कि—आनन्दवर्धन ने भी—'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यस्यात्मा व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ' में किया है। इतने पर भी 'समूहालम्बन' का कोई अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। इसलिए बात बनती नहीं है। इसके लिए 'समासस्य = विभक्त्यश्रवणात्',—इस अंश को 'उत्पादयतः' के बाद पढ़ना

चाहिए। इतने पर भी समूहालम्बन और उसके लिए पंक्ति का अन्वय आगे करना अनावश्यक है, वस्तुतः यह ग्रन्थांश साफ नहीं है।

एवञ्च सप्तप्रकारं तत्पुरुषं निरूप्याव्ययीभावं निरूपयति अव्ययीभाव **इति।**

इस प्रकार सात प्रकार के तत्पुरुष का निरूपण कर अब अव्ययीभाव का निरूपण करते हैं—

अव्ययीभावे यथा—

'सा दयितस्य समीपेऽवस्थातुं नापि चलितुमुत्सहते।
ह्रीसाध्वसरसविवशा स्पृशति दशां कामपि नवोढा॥' इति

अत्र दयितस्येति सम्बन्धितया यत् समीपस्य विशेषणं तत् तस्य सुकृतशतलभ्यतालक्षणमुत्कर्षमादधद्रतेरुद्दीपने पर्यवस्यतीति प्राधान्येन विवक्षितत्वान्नोपदयितमितिवत् समीपार्थेनाव्ययेन सह समासेऽवसादं गमितम्।

अव्ययीभाव में जैसे—

'वह प्रिय के पास न तो ठहर पाती है न हट ही पाती। नई व्याही वह लाज और भय दोनों के मारे एक विचित्र दशा का अनुभव कर रही है।'—यह।

यहाँ—जो 'दयितस्य' यह सम्बन्ध तत्त्व द्वारा—'समीप' का विशेषण है वह दयित में यह उत्कर्ष सिद्ध करता है कि वह (दयित) अनगिनत अच्छे कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है, अतः वह रति का उद्दीपक बन जाता है। इसीलिए वह प्रधान रूप से विवक्षित है। और इसीलिए 'उपदयितम्' इस प्रकार समीपार्थक अव्यय (उप) के साथ समास में रख कर अप्रधान नहीं बनाया गया।

समीपं विशेष्यं प्रति दयितस्येति यद्विशेषणं तत् तस्य समीपस्येति योजना।

'अत्र दयितस्य—तत् तस्य' इस वाक्यांश की पद योजना इस प्रकार करनी चाहिए—'समीपं विशेष्यं प्रति दयितस्येति यद् विशेषणं तत् तस्य समीपस्य'—अर्थात् समीपरूपी विशेष्य के प्रति जो दयितरूपी विशेषण है वह उस समीप का''' ।

विमर्श : यहाँ 'तस्य' का अर्थ 'समीपस्य' नहीं होना चाहिए अपि तु दयित ही होना चाहिए।

प्रत्युदाहरणं यथा—

'मध्येव्योम त्रिशङ्कोः शतमखविमुखः स्वर्गसर्गं चकार'। इति

अत्र हि भगवतो विश्वामित्रस्य तपसः प्रभावप्रकर्षप्रतिपादनं प्रस्तुतम्। स च तस्य निरुपकरणस्य सतः शून्ये व्योम्नि स्वर्गसर्गसामर्थ्येनैव प्रतिपादितो भवतीति व्योमैव प्राधान्येन विवक्षितं, न तन्मध्यम्। तेनाविषय एवायं समासः कविना कृत इति मध्ये व्योम्न इति युक्तः पाठः।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'सौ यज्ञ करने वाले इंद्र से बिगड़ कर जिसने त्रिशंकु के लिए आकाश के बीच नया स्वर्ग बना दिया'—यह।

यहाँ भगवान् विश्वामित्र के तप के प्रभाव का प्रकर्ष बतलाया जा रहा है। और वह बिना सामग्री के सूने आकाश में स्वर्गसृष्टि से प्रतिपादित होता है इसलिए वही [आकाश ही] प्रधान

रूप से विवक्षित है, न कि उसका मध्यभाग। इसलिए कवि ने [मध्येव्योम इस प्रकार] यह समास बेमौके किया, अतः [यहाँ] 'मध्ये व्योम्नः' ऐसा पाठ ठीक होता।

मध्येव्योमेति **'पारे मध्ये षष्ठ्या वा (२-१-१८) इत्यव्ययीभावः। स चेति प्रकर्षः।**

'मध्येव्योम'—इसमें 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' २।१।१८ इस सूत्र से अव्ययीभाव समास हुआ।

स च = प्रकर्ष।

एवमियता द्वन्द्ववर्जं समासवृत्तिर्विचारिता। इदानीमतिदेशमुखेन कृत्तद्धितवृत्तिर्निरूप्यते अनेनैवेत्यादिना।

इस प्रकार यहाँ तक द्वन्द्व समास पर विचार किया गया। अब अतिदेश द्वारा कृत् और तद्धित वृत्तिका विचार—'अनेनैव' इत्यादि ग्रन्थ से आरम्भ करते हैं—

अनेनैव न्यायेन कृत्तद्धितवृत्त्योरपि प्रतिषेधोऽवगन्तव्यः तत्राप्युक्तक्रमेण प्राधान्येतरभावविवक्षाविशेषात्।

इसी प्रकार कृत् और तद्धित वृत्तियों का प्रतिषेध भी समझ लेना चाहिए। क्योंकि उनमें भी उक्त प्रकार से प्रधानता और अप्रधानता की विवक्षा रहती ही है।

विवक्षाविशेषादि**त्यकारप्रश्लेषः।**

विवक्षाविशेषात्—में ('विवक्षा अविशेषात्' इस प्रकार) अकार—की सवर्णदीर्घसंधि है।

तयोरुदाहरणं यथा—

'यः सर्वं कषति खलो, बिभर्त्ति यः कुक्षिमेव सत्यतिथौ।
यश्च विधुं तुदति सदा, शीर्षच्छेदं त्रयोऽपि तेऽर्हन्ति॥' इति।

अत्र सर्वादीनां कषणादिषु कर्मभावेन विशेषणतयोपात्तानामुत्कर्षाधायितया प्राधान्येन विवक्षितत्वान्न तैः सह वृत्तौ न्यग्भावो विहितः। सर्वार्थस्य भुवनाभयदानदीक्षाबद्धकक्ष्याणां बोधिसत्त्वानामपि चरितस्य तदन्तःपातित्वात्। खलाः खलु दम्भादिदोषारोपेण तदपि तेषां कषन्त्येव। कायोपलक्षणस्य कुक्षेः कायस्य सर्वाशुचिनिधानत्वाद्विनश्वरत्वाच्च। विधोश्च सकलजगदानन्दहेतुत्वात्, कषणादिकर्तृष्वकार्यकारितयापराधातिरेकलक्षणमुत्कर्षमादधतां प्राधान्येन विवक्षा शीर्षच्छेदस्य च शारीरेषु निग्रहेषु तदतिरिक्तस्यान्यस्य निग्रहस्याऽसम्भवात्।

उन दोनों—(कृत् और तद्धित) के उदाहरण जैसे—'जो खल सब को दुःख देता है, जो अतिथि उपस्थित रहने पर भी अपना ही पेट भरता है, और जो चंद्रमा को ग्रसता है—वे तीनों शिरश्छेद के पात्र हैं।'

यहाँ 'सर्व' आदि 'कषण' आदि के प्रति कर्मभाव से ग्रहण किए गए हैं। वे उनमें उत्कर्ष का आधान करते हैं। इसलिए प्रधान रूप से विवक्षित हैं। इसलिए उनके साथ ('सर्वंकषः', 'कुक्षिम्भरिः', और 'विधुन्तुदः') इस प्रकार कृत् वृत्ति करके उन्हें गौण नहीं बनाया।

'सर्व' शब्द के अर्थ के अन्तर्गत संपूर्ण संसार को अभय दान की दीक्षा में जो कटिबद्ध रहते हैं उन बोधिसत्त्वों के चरितों का भी संग्रह हो जाता है। जो खल होते हैं, वे दम्भ आदि दोष का आरोप कर उनके भी चरित को लाञ्छित करते हैं।

यहाँ कुक्षि शरीर का उपलक्षण (प्रतिनिधि) है और वह सर्वथा अशुचि है और विनश्वर है।

विधु सकल जगत् को आनन्द देता है।

इस लिए ये सब कषण आदि के कर्त्ताओं में अकार्य करने के कारण जो अपराध सिद्ध होता है—उसमें उत्कर्ष—लाते हैं, अतः प्रधान रूप से विवक्षित है। शीर्षच्छेद भी उनमें उत्कर्ष का आधान करता है, कारण कि शारीर दण्डों में उससे बड़ा दण्ड संभव नहीं।

सर्वं कषतीति **'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' (३-२-४२) इति खचोऽयं विषयः।** बिभर्त्ति यः **इति 'कुक्षिम्भरिश्चे'ति निपातितस्य कुक्षिम्भरिशब्दस्यायं गोचरः।** विधुन्तुद **इति 'विध्वरुषोस्तुद' (३-२-३५) इति खशप्रत्ययस्थानम्।** शीर्षच्छेदमि**ति 'शीर्षच्छेदाद्यच्च' (५-२-३५) इति तद्धितस्य यत्प्रत्ययस्येदं पदम्।** तै**रिति कषणादिभिः।** सर्वार्थस्ये**ति,** कायोपलक्षणस्य कुक्षेरि**ति,** विधोश्चेति उत्कर्षमादधतां प्राधान्येन विवक्षे**त्यत्र सामस्त्येन योजनीयम्।** शीर्षच्छेदस्य चे**ति उत्कर्षमादधतः प्राधान्येन विवक्षेति सम्बन्धनीयम्। पूर्वेभ्योऽस्य पृथङ्निर्देशस्तद्धितवृत्तिविषयत्वेन भिन्नजातीयत्वात्। अत्र च सर्वार्थादीनां चतुर्णामुत्कर्षाधाने समनन्तरनिर्दिष्टभुवनाभयेत्यादिचतुष्टयं क्रमेण हेतुत्वेन द्रष्टव्यम्।** तदपी**ति चरितम्।** कषणादिकर्तृष्वि**ति खलौदरिकराहुष्वित्यर्थः।**

सर्वं कषतीति = 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' (३।२।४२) इस सूत्र से होनेवाला खच् प्रत्यय यहाँ हो सकता है।

बिभर्त्ति यः—में 'कुक्षिम्भरिश्च' द्वारा निपातनात् सिद्ध किए गए 'कुक्षिम्भरि' रूप का यह विषय है।

विधुन्तुदः—यह 'विध्वरुषोस्तुदः' इससे हुए खश् प्रत्यय का विषय है।

शीर्षच्छेदम् = यह 'शीर्षच्छेदाद्यच्च' (५।२।६५) इस सूत्र से हुए तद्धित के यत् प्रत्यय का विषय है।

तैः = कषणादि द्वारा।

सर्वार्थ—सर्व शब्द का अर्थ कायोपलक्षण कुक्षि और विधु इनका एकवचन वाले शब्दों का "उत्कर्षम् आदधताम्—इस बहुवचन वाले शब्द में समूहरूप से अन्वय करके—'उनकी प्रधान रूप से विवक्षा है'—इस बचे वाक्य में अन्वय करना चाहिए।

शीर्षच्छेदस्य—उसका सम्बन्ध भी उत्कर्षाधान करते हुए प्रधान रूप से विवक्षित है—इस प्रकार संबन्ध करना चाहिए।

सर्व, कुक्षि और विधु इन तीनों पूर्ववर्त्तियों से शीर्षच्छेद का निरूपण अलग किया गया। कारण कि वह शब्द तद्धितवृत्ति का है (पूर्ववर्ती तीनों कृत् वृत्ति के)। इसलिए उसकी वृत्ति में विजातीयता है।

यहाँ सर्वार्थादि जो चार शब्द हैं वे उनके द्वारा उत्कर्ष का आधान करने में—उन्हीं के तुरन्त बाद बतलाए गए—'भुवनाभयदानदीक्षाबद्धकक्ष्या०, सर्वाशुचिनिधानत्वात् विनश्वरत्वात्, जगदानन्दहेतुत्वात्, ये—चार—हेतु समझे जाने चाहिए।

तदपि—चरितम्।

कषणादिकर्तृषु—अर्थात् खल—पेटभरू, राहु = इनमें।

विमर्श : सर्वकषः, कुक्षिम्भरिः, और विधुन्तुदः कहने से जो कृत् प्रत्यय द्वारा समास सा हो जाता—उससे सर्व, कुक्षि और विधु—दब जाते, फलतः खल, पेटू और राहु—में अपराध की मात्रा बड़ी साबित न होती। उनके अलग रहने से उनकी स्वगत विशेषताओं का बोध होता है

और उनके सहारे उनपर किए जाने वाले अत्याचारों द्वारा खल आदि के अपराध में उत्कर्ष आता है।

'सर्व' को प्रधान रखने से उसके भीतर जगद्हितैषी लोग भी चले आते हैं। उन्हें सताने से खल का अपराध अक्षम्य हो जाता है। अतिथि-सत्कार से उत्पन्न धर्म जैसे पवित्र तत्त्व की उपेक्षा कर अशुचि और विनश्वर शरीर के पोषण से—उसके पोषक व्यक्ति का अपराध अक्षम्य साबित होता है और इसी प्रकार विधु—चंद्रमा—जगत् को सुख देता है, उसे पीड़ा पहुँचाने से राहु का अपराध अक्षम्य है। इसलिए उन्हें—सबसे बड़ा दण्ड—शिरश्छेद देना उपयुक्त सिद्ध होता है। शिरश्छेद दण्ड से भी उनके अपराधों की घोरता प्रतीत होती है।

यथा 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति 'उचितकारित्वं प्रति किमुच्यते रामभद्रस्य दशरथस्य हि प्रसूतिरसावि' ति च।

और जैसे—राम हूँ, सब सह रहा हूँ, राम की उचित कार्य करने की मनोवृत्ति के लिए क्या कहना है—वे दशरथ के न पुत्र हैं?

रामोऽस्मि सर्वं सह **इति। 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः (३-२-४१) इति खचोऽयं विषयः।** दशरथस्य हि प्रसूतिरसावि**ति 'तस्याऽपत्यमि'ति इञ् प्रत्यये तद्धिते कृते दाशरथिशब्दस्यायं गोचरः।**

रामोऽस्मि सर्वं सहे = —यहाँ 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' सूत्र से खच् प्रत्यय हो कर—सर्वंसहः-रूप बनाया जा सकता था।

दशरथस्य प्रसूतिः = यहाँ 'तस्यापत्यम्' द्वारा तद्धित में इञ् प्रत्यय होने से दाशरथि शब्द बनाया जा सकता था।

प्रत्ययोत्पत्तौ पुनर्न्यग्भूतसर्वादिकर्मभावः कषणादिषु कर्त्रंश एवोन्मग्नतया प्रकाशते न कर्मांशः तत्रैव प्रत्ययोत्पत्तेः।

वाक्ये तु यद्यपि शब्दवृत्तौ क्रियायाः प्रधानभावेन प्रतीतिस्तथापि तत्रान्यो विवक्षाकृतः साधनानामपि स प्रतीयत एव।

न चैकस्मिन्नेव वाक्ये द्वयोः साध्यसाधनयोर्युगपत्प्रधानभावोऽनुपपन्न इति शक्यं वक्तुं शब्दार्थसामर्थ्यविवक्षाकृतानां त्रयाणामप्येकस्यैव विवक्षाकृतस्य प्राधान्यस्य बलीयस्तया तयोः समशीर्षिकाभावात्।

प्रत्यय लग जाने पर तो कषण आदि में सर्व आदि का कर्मांश दबा कर स्वयं कर्तृ-अंश ही प्रधान रूप से दिखाई देने लगता है; सर्व आदि का कर्मांश इसलिए प्रधान नहीं हो पाता, क्योंकि उसी [कर्तृ] अर्थ में प्रत्यय का विधान होता। वाक्य में यद्यपि शाब्दबोध में क्रिया की ही प्रतीति प्रधान रूप से होती है, तब भी कारकों में भी प्रधानता प्रतीत होती ही है, उसका एक दूसरा ही हेतु है—[वह है] विवक्षा। ऐसा कहना ठीक नहीं कि—'एक ही वाक्य में साध्य (क्रिया) और साधन (कारक) दोनों का एक साथ प्राधान्य संभव नहीं', क्योंकि प्राधान्य तीन प्रकार से होते हैं—शब्दसामर्थ्यकृत, अर्थसामर्थ्यकृत और विवक्षाकृत। तीनों में विवक्षाकृत प्राधान्य बलवत्तर होता है। अन्य प्राधान्य उसके बराबर होते नहीं।

वाक्ये तु यथपीति। तदुक्तम्—'क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते' इति। अन्य इति वक्ष्यमाणन्यायेन शब्दकृतसामर्थ्योक्तिः। स इति प्रधानभावेनेत्यत्र निर्दिष्टः प्रधानभावः।

शब्दार्थसामर्थ्यविवक्षाकृतानां त्रयाणामपीति शब्दकृतं शब्दसंस्कार-महिम्ना निष्पन्नं यथा कर्मधारयादुत्तरपदस्य। अर्थसामर्थ्यकृतं वस्तुवृत्तनिष्पादितं यथा 'गृहं सम्मार्ष्टी'त्यादौ गृहादेः' तस्य संस्कार्यत्वेन वस्तुतः प्राधान्यम्। विवक्षाकृतं यथा 'रामस्य पाणिरसी'त्यादौ रामादेः। तत्र त्रिषु प्राधान्येषु विवक्षाकृतमेव प्राधान्यं प्रधानम्। तत्कृतत्वात् काव्यार्थचमत्कारस्य। अत एवोक्तं तयोः समशीर्षिकाभावादिति। तयोरिति शब्दार्थसामर्थ्यकृतयोः विवक्षाकृतेन सहेत्यर्थात्।

ननु पूर्वं शाब्दस्यैव प्राधान्यस्य वैवक्षिकत्वमुक्तम्, अन्यस्य तु वास्तवत्वम्। तत् कथमिह शाब्दवैवक्षिकयोरन्यत्वमुच्यते। अन्यत्वे वा प्राधान्यत्रयप्रतिपादनेऽर्थसामर्थ्यकृतविवक्षाकृतयोः को विशेषः। शब्दकृताद्धि प्राधान्यादन्यदर्थसामर्थ्यमुच्यते। तेन विवक्षाकृतस्य उक्तत्वात्। तत् किमर्थसामर्थ्यकृतमवशिष्यत इति। नैष दोषः। पूर्वं हि शाब्दिकैकगोचरस्य शाब्दिकविवक्षाकृतत्वाद् वैवक्षिकत्वम्। अन्यस्य तु कविगोचरस्य वास्तवत्वं तदेवार्थत्वम्। इह पुनः सहृदयैकगोचरस्य कविविवक्षावशाद्वैवक्षिकत्वमुच्यते। शाब्दिकैकविषयस्य शाब्दत्वमित्यपेक्षाभेदात् पूर्वस्तावन्न विरोधः।

यदपि प्राधान्यत्रयप्रतिपादनेऽर्थसामर्थ्यविवक्षाकृतयोर्भेद उक्तस्तत्रायं भावः—इह शाब्दं वास्तवं चेति द्विविधमेव प्राधान्यम्। वास्तवत्वस्य च विवक्षानपेक्षत्वेन वस्तुसामर्थ्यप्रयोजकाधीनत्वादर्थसामर्थ्यकृतत्वमुक्तम्। सत्यपि शब्दकृतादन्यत्व उत्कर्षापकर्षप्रतिपादनप्रयुक्तविविक्षाकृतत्वं वास्तवमेव विवक्षाकृतं प्रतिपादितम्। तथा च 'गृहं सम्मार्ष्टी'ति वैदिकं विवक्षानपेक्षमर्थसामर्थ्यकृतस्योदाहरणं दत्तमिति विषयविभागव्यवस्थितेर्न द्वितीयोऽपि विरोध इति समञ्जसं सर्वम्।

वाक्ये तु यद्यपीति = जैसे कहा है—जिसमें क्रिया प्रधान हो जो अप्रधान कारकों से युक्त हो और सभी शब्दों का अर्थ परस्पर समन्वित हो वह वाक्य कहलाता है।

अन्य इति—आगे कहे जाने वाले ढंग से अन्य का अर्थ है—शब्दकृत सामर्थ्य।

स—वह अर्थात् 'प्रधानभावेन' इसमें बतलाया गया प्रधानभाव।

शब्दार्थसंस्कारकृत—शब्दकृत प्राधान्य अर्थात् शब्द-संस्कार से उत्पन्न प्रधानता जैसे कर्मधारय से उत्तरपद की। अर्थसामर्थ्यकृत प्राधान्य अर्थात् वस्तु की स्थितिविशेष से निष्पादित प्राधान्य—जैसे—'घर में झाड़ू देता है' इत्यादि में घर आदि का। उस (घर आदि) की प्रधानता संस्कार्य होने से वस्तुजनित है। विवक्षाकृत-प्राधान्य—जैसे—'रामस्य पाणिरसि' इत्यादि में राम आदि का। इन तीनों प्राधान्यों में विवक्षाकृत प्राधान्य ही प्रधान प्राधान्य है। कारण कि काव्यार्थ में चमत्कार उसी से आता है। इसी से कहा कि अन्य दो (प्राधान्य) इसके बराबर नहीं होते। अन्य दो का अर्थ है = शब्दसामर्थ्यकृत और अर्थसामर्थ्यकृत। इन दोनों का अप्राधान्य जिससे है उस तृतीय विवक्षाकृत प्राधान्य का ज्ञान अपने आप हो जाता है।

शंका होती है कि—'पहले तो [१७३ तथा २३० पृष्ठ पर] शब्दसामर्थ्यकृत प्रधानता को ही विवक्षाकृत प्रधानता बतलाया है अर्थकृत प्राधान्य को वास्तविक (अर्थात् इच्छा न होने पर भी होने वाला) तो यहाँ शब्दकृत और विवक्षाकृत प्राधान्यों में भेद कैसे बतलाया जा रहा है। भेद होने पर भी अर्थकृत प्राधान्य और विवक्षाकृत प्राधान्य में अन्तर क्या?

शब्दकृत प्राधान्य से भिन्न प्राधान्य एकमात्र अर्थ का प्राधान्य होता है। उसीमें विवक्षाकृत प्राधान्य अन्तर्भूत हो जाता है। तो अर्थसामर्थ्यकृत प्राधान्य (विवक्षाकृत प्राधान्य से भिन्न) रह ही क्या जाता है।

(उत्तर)—यह दोष नहीं बनता। कारण कि पहले जो विवक्षाकृत प्राधान्य बतलाया गया है वहाँ की विवक्षा में और यहाँ की विवक्षा में भेद है। वहाँ की विवक्षा व्याकरण के विद्वान् की विवक्षा है इसलिए केवल वैयाकरण तक वह सीमित है। यहाँ की विवक्षा कवि की विवक्षा है। वह सहृदयजनों से संबंधित है। जहाँ शाब्दिक, वैयाकरण की विवक्षा होती है वहाँ उससे भिन्न कवि-विवक्षाकृत प्राधान्य ही वास्तविक प्राधान्य है। वही अर्थतः प्राप्त प्राधान्य है। इसलिए एकमात्र शाब्दिक की विवक्षा का विषय होने से यहाँ प्राधान्य शाब्द माना गया है। इस प्रकार विवक्षागत अपेक्षा के भेद से प्रथम जो विरोधरूपी दोष है, वह नहीं बनता।

तीन प्राधान्यों में से अर्थकृत प्राधान्य और विवक्षाकृत प्राधान्य—में जो भेद बतलाया गया है—उसमें प्रस्तुतः रहस्य यह है कि—वस्तुतः वाङ्मय में प्राधान्य दो प्रकार का ही है—शाब्द और वास्तविक। इनमें जो वास्तविक है उसे विवक्षा की अपेक्षा नहीं होती वह वस्तु-सामर्थ्य से आता है अतः उसके अधीन है। इसलिए वह अर्थसामर्थ्यकृत कहा गया है। इनमें वास्तविक भी दो प्रकार का होता है। विवक्षानिरपेक्ष और विवक्षासापेक्ष। विवक्षा का अर्थ है—उत्कर्ष-अपकर्ष के आधान की इच्छा। 'गृहं संमार्ष्टि' जो यह उदाहरण दिया गया है, वह उत्कर्ष-अपकर्ष की विवक्षा से शून्य शुद्ध वास्तविक अर्थकृत प्राधान्य का उदारण है, कारण कि वह वैदिक प्रयोग है। इस प्रकार वास्तविक प्राधान्य में भी विषय-विभाग में भी व्यवस्था बन जाती है, अतः दूसरा दोष भी कोई महत्त्व नहीं रखता।

एवं कृत्तद्धितवृत्तिविषये आतिदेशिकं गुणप्रधानभावं विचार्य समासगतत्वेनौपदेशिकं प्रकृतमनुसन्धत्ते तदिदमत्रेति।

इस प्रकार तद्धित वृत्तियों में प्रसङ्गागत गुण-प्रधानभाव पर विचार कर प्रकृत समासकृत की ही ओर ध्यान दिलाते हैं—'तदिदमत्र' इत्यादि द्वारा—

तदिदमत्र तात्पर्यं यत् कथञ्चिदपि प्रधानतया विवक्षितं न तन्नियमेनेतरेण सह समासमर्हतीति। इतरत्तु विशेष्यमन्यद् वाऽस्तु न तत्र नियमः। तेन द्वन्द्वपदानां सरूपाणां च पदानामर्थस्यान्योन्यं विशेषणविशेष्यभावाभावेऽपि यदा प्रत्येकं क्रियाभिसम्बन्धोपगमलक्षणं प्राधान्यं विवक्ष्यते तदा तेषामपि समास एकशेषश्च नेष्यत एव। यथा—

'किमञ्जनेनायतलोचनाया हारेण किं पीनपयोधरायाः।
पर्याप्तमेतन्ननु मण्डनं ते रूपं च कान्तिश्च विदग्धता च॥'

इत्यत्र रूपादीनां प्रत्येकं मण्डनक्रियाभिसम्बन्धकृतं प्राधान्यं रत्युद्दीपनपर्यवसायि विवक्षितमिति न तत् तेषां समासेऽवसादितम्। यथा च—

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः॥' इति।

तो इस प्रसंग का तात्पर्य यह निकला कि जो भी कोई किसी भी तरह प्रधानरूप से विवक्षित हो वह दूसरे के साथ समास में नहीं डाला जा सकता। और यह भी कोई नियत नहीं है कि दूसरा विशेष्य ही हो। वह और भी कुछ हो सकता है। इस नियम के अनुसार द्वंद्व पद और सरूप पदों के अर्थ में विशेषण-विशेष्यभाव न होने पर भी जब क्रिया के साथ संबन्ध की विवक्षा-रूप प्रधानता विवक्षित हो तो उनका भी समास और एकशेष नहीं माना जाता। जैसे—

तुम्हारी आँखों में विशालता है अतः अब अञ्जन व्यर्थ है (इसी भाँति) तुम्हारे स्तनों में स्थूलता है अतः हार अनावश्यक है। अन्य आभूषण भी अपेक्षित नहीं क्योंकि सुडौल अंग (रूप) चमक और विदग्धता तुम्हारे पास हैं ही।

यहाँ रूप आदि प्रत्येक का एक मण्डन-क्रिया से संबन्ध दिखलाया गया है अतः उससे उनकी प्रधानता सिद्ध होती है। वह रति के उद्दीपन के लिए यहाँ विवक्षित भी है। इसलिए उन रूप आदि की वह प्रधानता उन्हें समास में डालकर नष्ट नहीं की। और जैसे—

वह—उलटा कर तिरछे किए गए वृन्त पर लगे शतदल कमल के समान अपना चेहरा गर्दन कुछ टेढ़ीकर के मेरे ओर किए जा रही थी। उस घनी बरौनी वाली पलकों की आँखों से युक्त सुन्दरी ने अमृत और विष से बुझा अपना कटाक्ष मेरे हृदय में बुरी तरह गड़ा दिया है।

सरूपाणामिति **द्वन्द्वसमाससमानन्यायत्वादेकशेषवृत्तिरपि स्वीकृता।** विशेषणविशेष्य-भावाभावेऽपीति **समासोट्टङ्कनिकायां प्रायग्रहणप्रयोजनं प्रकाशयति।**

रूपं च कान्तिश्च विदग्धता चेति, अमृतेन विषेणेति च **अभिहितानभिहितकर्तृविभागेनोदाहरणद्वयम्। रूपमित्यादौ हि गम्यमानभवनक्रियापेक्षं रूपादीनां कर्तृत्वम्। एतेन तत्पुरुषस्य कर्त्रुदाहरणप्रस्तावे कर्त्रादीनां कारकाणाम् अनेकेषामिति यदुक्तं, तत् समाहितम्।**

सरूपाणामिति—द्वन्द्व समास के समान होने से एकशेष वृत्ति भी अपना ली गई है।

विशेषणविशेष्यभावाभावेऽपि—इससे समास वाले इस प्रकरण के आरम्भ में जो प्रायः शब्द कहा है उसका प्रयोजन स्पष्ट किया।

रूपं च कान्तिश्च—एक यह और—अमृतेन विषेण—एक यह=इस प्रकार जो दो उदाहरण दिए उनमें एक [प्रथम] में कर्त्ता का उल्लेख नहीं है, दूसरे में है। रूपम्—इत्यादि में ऊपर से आने वाली 'भू' भवन (होना) क्रिया को लेकर रूप आदि कर्त्ता हैं। इससे तत्पुरुष के कर्त्ता के उदाहरण-के प्रसंग में 'कर्त्ता-आदि अनेक कारकों का' इत्यादि जो कहा है उसका समाधान किया।

एकशेषे यथा—

'प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः।
कश्च कश्च ?
अर्जुनश्च स कर्णारिः स च क्रूरो वृकोदरः॥'

प्रत्युदाहरणमेतदेव कृतैकशेषमवगन्तव्यम्।

एक शेष में जैसे—
'तुम्हें' इधर-उधर पूछते हुए एक ही रथ पर बैठे वे दोनों आए।
[प्रश्न] कौन कौन ?
[उत्तर] कर्ण का शत्रु वह अर्जुन, और वह क्रूर भीम।
यही उदाहरण एकशेष कर देने पर प्रत्युदाहरण समझा जा सकता है।

कश्च कश्चेति। अत्रैकशेषो न कृतः। कृतैकशेषमिति काविति प्रयोगे।

अधुना प्रधानेतरभावापत्तिं दर्शयति यत्र पुनरिति।

कश्च कश्च = यहाँ एकशेष नहीं किया।

वृत्तैकशेषम्—अर्थात् 'कौ' इस तरह प्रयोग करने पर।

अब प्रधानेतरभाव में छूट दिखलाते हैं—यत्र पुनः इत्यादि द्वारा—

यत्र पुनरेष प्रधानेतरभावो न विवक्षितः स्वरूपमात्रप्रतिपत्तिफलश्च विशेषणविशेष्यभावस्तत्र समासासमासयोः कामचारः। यथा—

'स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्॥

इत्यत्र तु भवत इति रिपुस्त्रीणामिति च रिपुस्त्रीणां स्तनयुगस्य च सम्बन्धित्वेन यद्विशेषणं न ततस्तेषामुत्कर्षयोगः कश्चिद्विवक्षितः, अपि तु तत्सम्बन्धप्रतीतिमात्रम्। तच्च व्रतमिव भवदरिवधूस्तनद्वितयमित्यतः समासादपि तुल्यमेव। यथा चात्रैव रिपुस्त्रीणामिति रिपुसम्बन्धमात्रप्रतीतिः स्त्रीणामिति।

जहाँ यह प्रधानेतरभाव विवक्षित नहीं होता विशेषण-विशेष्यभाव केवल स्वरूप मात्र की प्रतीति कराता है, वहाँ समास करना न करना अपनी इच्छा पर है। जैसे—

'आपकी शत्रु-स्त्रियों के दोनों स्तन व्रत सा कर रहे हैं। वे आँसू से नहाए हुए हैं। हृदय शोक की अग्नि के अत्यधिक समीप हैं 'और विमुक्ताहार (विमुक्त = त्यक्त आहार वाले, मुक्ताहार विरहित) हैं।'

यहाँ जो रिपुस्त्री के प्रति भवतः और स्तनयुग के प्रति रिपुस्त्री—संबन्ध के विशेषण रूप से—उपस्थित किए गए हैं उससे उनका कोई उत्कर्ष बतलाना अभीष्ट नहीं है। केवल उनके सम्बन्ध भर की उससे प्रतीति होती है। वह सम्बन्ध-प्रतीति 'व्रतमिव भवदरिवधूस्तनद्वयम्' इस समास से भी उसी स्तर की होती है। जैसा कि उसी पद्य में—रिपुस्त्रीणाम् में स्त्री के साथ रिपु का संबन्ध मात्र अभीष्ट है और समास भी प्रतीत हो रहा है।

भवत **इति रिपुस्त्रीणां सम्बन्धित्वेन,** रिपुस्त्रीणामिति **च स्तनयुगस्य सम्बन्धित्वेनेति योजना। रिपुस्त्रीणामिति समासस्योदाहरणम्। न चात्र सम्बन्धमात्रादतिरिक्तं प्रतीयते।**

यहाँ भवतः यह 'रिपुस्त्रीणाम्' = के सम्बन्धी रूप से और 'रिपुस्त्रीणाम्'—यह—स्तनयुग के संबन्धी रूप से—(विवक्षित) है।

रिपुस्त्रीणाम्—यह समास का उदाहरण है। यहाँ समास से सम्बन्ध के अतिरिक्त कुछ भी प्रतीत नहीं होता।

विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलङ्कारान् पर्युपासते॥ १४॥
तौ विधेयानुवाद्यत्वविवक्षैकनिबन्धनौ।
सा समासेऽस्तमायातीत्यसकृत् प्रतिपादितम्॥ १५॥

अत एव च वैदर्भीरीतिरेकैव शस्यते ।
यतः समाससंस्पर्शस्तत्र नैवोपपद्यते ॥ १६ ॥
सम्बन्धमात्रमर्थानां समासो ह्यवबोधयेत् ।
नोत्कर्षमपकर्षं वा—

यथा—

'ऊर्ध्वाक्षितापगलितेन्दुसुधालवाक्तजीवत्कपालचयमुक्तमहाट्टहास-
सन्त्रस्तमुग्धगिरिजावलिताङ्गसङ्गहृष्टं वपुर्जयति हारि पिनाकपाणेः ॥' इति ।

उत्कर्ष और अपकर्ष के बिना पदार्थ कदापि चमत्कारी नहीं लगते । उस चमत्कार के लिए ही कविलोग अलंकारों का प्रयोग करते हैं । वे (उत्कर्ष-अपकर्ष) विधेय और अनुवाद्य रूप से की गई विवक्षा पर निर्भर होते हैं । और वह (विवक्षा) समास में डूब जाती है यह कई बार बतलाया जा चुका । इसीलिए एक वैदर्भी रीति ही अच्छी मानी जाती है । क्योंकि उसमें समास का स्पर्श भी नहीं रहता । समास तो अर्थों का संबन्ध भर बतला सकता है । उत्कर्ष-अपकर्ष को नहीं । जैसे—

'शंकर का ऊपरी आँख (के) ताप (से) गले चंद्र (के) अमृतकण (से) सिंचित (होने से) जीवित कपालवृन्द (के द्वारा किये गये) अट्टहास (से) डरी हुई भोली पार्वती (द्वारा) सिकोड़े गये अङ्गों (के) सङ्ग (से) प्रसन्न शरीर सर्वोत्कृष्ट है । यहाँ

तदर्थमेवेति उपमोत्प्रेक्षादयोऽप्यलङ्काराः उपमेयोत्प्रेक्ष्यादीनामुत्कर्षमपकर्षं वा प्रतिपादयितुं विधीयन्ते । अन्यथा तद्विरचनं निष्प्रयोजनं स्यात् । तौ विधेयेति । उत्कर्षापकर्षौ । सा समास इति विवक्षा परामृश्यते । वैदर्भीति यद्यपि वामनमते असमासा पाञ्चाली, मध्यसमासा तु वैदर्भी, तथापि मतान्तरे विपर्ययः स्थित इति तदभिप्रायेणेहासमासा वैदर्भी कथिता ।

तदर्थमेवेति—उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलंकार उपमेय और उत्प्रेक्ष्य (संभावना विषय) आदि के उत्कर्ष या अपकर्ष के प्रतिपादन के लिए रचे जाते हैं, नहीं तो उनकी योजना निरर्थक हो जाय । तौ विधेयेति—उत्कर्ष और अपकर्ष । सा समास—यहाँ ('सा' इस सर्वनाम द्वारा) विवक्षा का परामर्श किया जा रहा है । वैदर्भीति—यद्यपि (रीतिसंप्रादयप्रवर्त्तक) वामन के अनुसार समास का अभाव पांचाली में होता है और वैदर्भी में छोटे-छोटे समास, तथापि कुछ मतों में इससे उलटा भी है । यहाँ उन्हीं (मतों) के अनुसार वैदर्भी को समासरहित कहा गया है ।

विमर्श : वामन ने वैदर्भी रीति के दो भेद माने हैं—१. शुद्ध वैदर्भी और २. सामान्य वैदर्भी । इनमें 'समास का अभाव होने पर वैदर्भी को शुद्ध वैदर्भी कहा है तथा गौडी और पाञ्चाली की छटा वाली वैदर्भी को सामान्य वैदर्भी । मूलकार का इंगित शुद्ध वैदर्भी की ओर है, अतः मतान्तरों का आधार लेना अनावश्यक है [द्र० का० सू० वृ० १।२।११, १९] सामान्य शब्द हमने जोड़ा है ।

कारिकामध्य एव सम्बन्धमात्रप्रतीतौ समासस्योदाहरणम् । ऊर्ध्वाक्षितापेति । अत्र चतुर्थपादैकदेशयुक्तस्य पादत्रयस्य समासे सम्बन्धमात्रं प्रतीयते नोत्कर्षापकर्षौ ।

कारिका के बीच ही सम्बन्ध मात्र की प्रतीति कराने वाले समास का उदाहरण दिया—ऊर्ध्वाक्षितापेति । यहाँ तीन चरण चौथे चरण के प्रथम पाद तक समासयुक्त है । इससे केवल सम्बन्ध भर की प्रतीति होती है । उत्कर्ष-अपकर्ष की नहीं ।

वाक्यात्तूभयमप्यदः ॥ १७ ॥

यथा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥' इति।

'वाक्य से तो ये दोनों ही प्रतीत हो जाते हैं। यथा—

पहला अपमान तो मेरा यही है कि मेरे भी शत्रु हैं, तिस पर भी यह तपस्वी (मेरा शत्रु है) और वह (तपस्वी) भी यहीं (मेरे क्षेत्र में) राक्षसकुल को मारता जा रहा है। आश्चर्य है कि इतने पर भी रावण जीता बचा है। इन्द्र के विजेता मेघनाद को धिक्कार है। जगाये गये कुम्भकर्ण से भी क्या और स्वर्ग रूपी गाँवड़े को लूटने से वृथा मोटी मेरी इन भुजाओं से भी क्या ?

वाक्यात्तूभयमिति। उभयं सम्बन्धरूपमुत्कर्षापकर्षरूपं च वस्त्वित्यर्थः।

अत्रोदाहरणं मे यदरय इति। समासे हि मदरय इति स्यात्। न चास्मादतिशयः प्रतीतः। ननु पदादुत्तरपदयोर्युष्मदस्मदोः 'तेमयावेकवचनस्य' (८-१-२२) इति तेमयावादेशावुक्तौ। न चात्र पदात् परोऽस्मच्छब्दः। एवशब्दः पदमिति चेन्न। तत्प्रयोगे 'नचवाहाहैवयुक्ते' (८-१-२४) इति निषेधाद् भिन्नवाक्यगतत्वाच्च। समानवाक्ये हि निपाताद् युष्मदस्मदादेशाः। एतेन 'नैव 'मे' इति व्यतिरिक्तं पदान्तरमिति' प्रत्युक्तम्। उत्तरपद एव मे इति शब्दादेशः।

अत्र केचिदाहुः वाच्ये तावद्रसप्रतीतिर्निर्व्यूढा। तामनुपमर्दयन् काव्ये यद्यसाधुशब्दोऽपि स्यान्न तदा स्थूलः कश्चिद् दोषः। काव्ये हि रसप्रतीतिः प्रधानम्। तदनिर्वाहे काव्यमेव न स्यात्। अपशब्दप्रयोगे तु लक्षणास्मरणमात्रम्। तदुक्तम्—

'नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥' इति।

अन्ये त्वाहुः। भवतु रसापेक्षयापशब्दस्य स्वल्पदोषत्वं तथापि महाकवीनामपशब्दप्रयोगो महान् दोषः। तेनात्र 'ते-मेशब्दौ निपातेष्वि'ति सदृशो विभक्तिप्रतिरूपको मेशब्दो निपातः, यथा—अहन्ता अहंयुरित्यादौ 'अहं' शब्दः। ततश्च नात्र कश्चिद् विशेष इति।

वाक्यात्तूभयमप्यदः—उभय अर्थात् सम्बन्ध और उत्कर्षापकर्ष रूपी पदार्थ। इसमें उदाहरण है 'मे यदरयः'। समास में तो 'मदरयः' इस प्रकार का रूप होता और इससे विशेषता की प्रतीति नहीं होती। (शंका) युष्मद् और अस्मद् शब्द जब किसी पद से परे होते हैं तभी 'तेमयावेकवचनस्य' सूत्र के अनुसार उनके स्थान पर 'ते' और 'मे' आदेश होते हैं। यहाँ—'००मेव मे यद००' में अस्मद् शब्द पद से परे नहीं है। 'एव' शब्द पद है—ऐसा यदि कहा जाय तो भी बात नहीं बनती, कारण कि एक तो 'नचवाहाहैवयुक्ते' सूत्र द्वारा 'च वा हा ह एव' इन पाँच के योग में 'ते मे' आदेश की मनाही की गई है और दूसरे 'एव' दूसरे वाक्य में है, 'मे' से नया वाक्य शुरू होता है। वाक्य यदि एक ही हो तो उसमें पद से परे युष्मद् और अस्मद् को 'ते मे' आदेश निपातन से होते हैं। इसीलिये यह भी बात नहीं उठती कि 'मे' यह एक स्वतन्त्र पद है। 'मे' शब्द एक आदेश द्वारा बना शब्द है, वह आदेश सदा उत्तरपद में होता है।

इस विषय में कुछ लोगों का कहना है कि [इस पद्य के] वाच्यार्थ (या वाक्यार्थ) में रस की प्रतीति (अनुभूति) का निर्वाह किया गया है उसकी रक्षा में यदि काव्य में कोई असाधु (व्याकरण से असिद्ध) शब्द भी आ जाये तो कोई बड़ा दोष नहीं होता। काव्य में प्रधान होती है रस की प्रतीति। बिना उसके निर्वाह के काव्य काव्य ही नहीं होता। अपशब्द के प्रयोग में केवल इतना ही होता है कि लोग कवि का नाम रखते हैं।—कहा भी है—नीरस रचना कवि की बहुत बड़ी कुकीर्ति है। उससे तो वह कवि 'ही' न हो, जिससे दूसरे नाम न रखें।'

दूसरे लोग कहते हैं—यह ठीक है कि रस को सुरक्षित रखने के लिये किया गया अपशब्द का प्रयोग कुछ ही दोषपूर्ण होता है, इतने पर भी जो महाकवि हैं उनके लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग बहुत ही बड़ा दोष है। इसलिये यहाँ यह मानना उचित है कि 'ते-मे-शब्दौ निपातेषु' इस नियम के अनुसार 'मे' शब्द और यहाँ विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है। वह निपात से सिद्ध है। जैसे 'अहंता' और 'अहंयु' आदि शब्दों में अहम्। इसलिये यहाँ कोई खास बात नहीं।'

विमर्श : अस्मद् शब्द को 'मे' बना दिया जाता है जब वह वाक्य के बीच में आता है। किन्तु यदि च, वा, हा, ह और एव के साथ आता है तो 'मे' नहीं होता। यहाँ 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' में 'मे' शब्द 'एव' के साथ है और भिन्न वाक्य में है। 'मे यदरयः' यह इस श्लोक का दूसरा वाक्य है। अपने में पूर्ण है। उसके बीच में न आकर यह शब्द उसके आरम्भ में आया है, अतः ठीक नहीं है। उत्तर में यह कहा गया है कि काव्य में प्रधान वस्तु है रस। इस पद्य में उसका निर्वाह भलीभाँति हुआ है अतः इतना दोष नगण्य है। यह भी उत्तर दिया जाता है कि वस्तुतः यहाँ जो 'मे' शब्द आया है वह एक स्वतन्त्र शब्द है, अस्मद् का स्थानापन्न नहीं, जैसे 'अहंयु' में अहं शब्द स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार कोई दोष नहीं उठता। हमारी दृष्टि में दो समाधान आते हैं—एक तो यह कि वस्तुतः 'न्यक्कारो०' पद्य का अन्वय वाक्य इस तरह का बनता है—न्यक्कारः हि अयमेव यत् मे अरयः—धिक्कार की बात तो पहले यही है कि मेरे भी शत्रु हैं। इसमें 'यत्' यह वाक्ययोजक अव्यय है, इससे 'न्यक्कारो ह्ययमेव' और 'मे अरयः' दोनों वाक्य सम्बन्धित वाक्य होकर एक बन जाते हैं।–जैसे–'विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य 'गृहे भुक्थाः' में एकवाक्यता 'च' के आधार पर काव्यप्रकाश (५ उल्लास) में मानी गई है। दूसरे यह कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से 'मे' शब्द अस्मद् का विकार न मानकर स्वतन्त्र भी माना जा सकता है। यह आग्रह अब मान्य नहीं कि अत्यन्त विरूप शब्द किसी से उत्पन्न मान लिया जाय। आदेश का अर्थ ही यह है कि एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द का हठात् प्रयोग। यदि 'मे' शब्द स्वतन्त्र न होता और वह सार्थक न होता तो वह किसी स्थान पर लाया ही कैसे जाता। बात रही प्रयोग की—कि उसका ('मे' का) प्रयोग वाक्य के आरम्भ में नहीं होना चाहिये तो इसका उत्तर 'विषं भुङ्क्ष्व' वाली पद्धति से मिल जाता है। आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि रावण जो इसका वक्ता है वह आविष्ट है। आविष्ट के कथन में दोष रसापकर्षक नहीं प्रत्युत चमत्कृतिजनक होते हैं।

इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि व्य० व्याख्यान में—'अपशब्दप्रयोगे तु लक्षणास्मरणमात्रम्'—कहकर प्रमाणरूप से ध्वनि-कारिका 'नीरसस्तु प्रबन्धो यः'··· प्रस्तुत की गई है। इनमें दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं। कारिका में अपशब्द का अर्थ गाली है। मूल में अपशब्दों का प्रयोग—अशुद्ध शब्द के लिये है। ध्वनिकारिका में लक्षणास्मरण (नामरखाई से बचाव) को नीरस कवि के लिये काव्य न बनाने में गौरवास्पद तथ्य बतलाया गया है। उसका अपशब्द से सम्बन्ध नहीं है।

किं सर्वात्मना करणस्य दुष्टत्वमेव ? नेत्याह किन्त्विति।

'क्या समास करना हर हालत में दोषावह ही है?' 'किन्तु' इत्यादि द्वारा इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं—

किन्तु प्रवृत्तिरेतस्य रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
शान्तशृङ्गारकरुणानन्तरेण प्रशस्यते ॥ १८ ॥
यतः समासो वृत्तं च वृत्तयः काकवस्तथा।
वाचिकाभिनयात्मत्वाद्रसाभिव्यक्तिहेतवः ॥ १६ ॥
स चार्धान्तावधिः कार्यो नाधिको गद्यताश्रितः।
गद्ये हि वृत्तवैकल्ये न्यूना तद्व्यक्तिहेतुता ॥ २० ॥

यथानन्तरोक्त उदाहरणे।

तस्याच्छिन्नः पदार्थानां सम्बन्धश्चेत् परस्परम्।
न विच्छेदोऽन्तरा कार्यो रसभङ्गकरो हि सः ॥ २१ ॥

इत्यन्तरश्लोकाः।

यथा—

'माद्यद्दिग्गजगण्डभित्तिकषणैर्भग्नस्रवच्चन्दनः'। इति

अत्र हि क्षुण्णद्रवच्चन्दन इति युक्तः पाठः। क्वाप्ययमपि पाठो दृश्यते।

किन्तु इस (समास) का प्रयोग शान्त, शृङ्गार, करुण रसों को छोड़कर (अन्य वीर आदि रसों में) अच्छा माना जाता है। इसलिये कि ऐसा ही करने पर रस की अभिव्यक्ति होती है [अर्थात् शान्त आदि में समास न करने से रस की अभिव्यक्ति होती है और वीर आदि में समास करने से] कारण कि समास, छन्द (कैशिकी, उपनागरिका आदि) वृत्ति और काकु ये रस की अभिव्यक्ति के हेतु हैं, कारण कि यह वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आते हैं।

और वह [समास भी] आधे पद्य तक करना चाहिये [अर्थात् द्वितीय और तृतीय चरण में नहीं, प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरण में ही समास किया जाना चाहिये] कारण कि [वैसा न करने से श्लोक एक प्रकार से] गद्य सा बन जाता है। गद्य में छन्द नहीं रहता, इसलिये उस (छन्द) से होनेवाली रस की अभिव्यक्ति में एक कारण कम पड़ जाता है। जैसा कि अभी-अभी पीछे दिये उदाहरण [ऊर्ध्वाक्षिताप···] से स्पष्ट है। यदि समास से उस [में आए पदों के अर्थों] के सम्बन्ध आपस में न टूटते हों तो उस (समास) को बीच में न तोड़ना चाहिये। वैसा करना रसभङ्गकारक होता है। जैसे:—

'माद्यद्दिग्गजगण्ड०' [इत्यादि में] अर्थात् मदमाते दिग्गजों के कपोलतल के घर्षण से टूटे और रस चुआते हैं चन्दन जहाँ। यहाँ 'क्षुण्णद्रवच्चन्दनः' इस प्रकार पाठ चाहिये। कहीं-कहीं यह पाठ भी देखा जता है।

एतस्य समासस्य। अन्तरेणेति वीररौद्रादेः समासेन प्रकाश्यत्वात्।

वृत्तं वसन्ततिलकादि। वृत्तयः कैशिक्याद्याः उपनागरिकाद्याश्च। काकुः काकध्यायलक्षितो ध्वनिविकाररूपो वा। वाचिकाभिनयो वाग्विकाररूपोऽनुभावः। अर्धान्तावधिरिति श्लोकापेक्षया अर्धमन्तावधिः। न्यूनेति पद्यापेक्षया न्यूनं रसाभिव्यक्तिहेतुत्वमित्यर्थः। यथा पूर्वोक्त इति 'ऊर्ध्वाक्षिताप'त्यादौ। समासोऽर्धान्तावधिः कार्यो नाधिक इत्यनेन व्याव-

त्वस्याधिकस्य तदुदाहरणम् । तस्येति पदार्थानां परस्परसम्बन्धश्चेन्न विच्छिद्यते तदा तस्य समासस्य मध्ये विच्छेदो न कार्य इत्यर्थः ।

एतस्य = इसकी = समास की ।

अन्तरेण—वीर रौद्र आदि समास से ही अभिव्यक्त होते हैं इसलिये ।

वृत्तम् = वसन्ततिलक आदि छन्द ।

वृत्तयः = कैशिकी आदि और उपनागरिका आदि ।

काकुः =(भरतनाट्यशास्त्र के) काकु अध्याय में बतलाया गया, या फिर स्वरगत अथवा उच्चारणगत विशेषतास्वरूप ।

वाचिकाभिनयः—एक अनुभाव जो उच्चारण तथा वाक्प्रयोग की विशेषता से अभिन्न माना जाता है ।

अर्धान्तावधि—श्लोक में आधा अंश = (समास की) अन्तिम सीमा । अर्थात् पूर्वार्ध का समास जहाँ नियमतः समाप्त हो जाता है, आगे नहीं बढ़ता ।

न्यूने—श्लोक वाक्य में छन्दः से होनेवाली रसाभिव्यक्ति की कमी [अर्थात् श्लोकवाक्य = रस की अभिव्यक्ति कई कारणों से करता है । उनमें छन्द भी एक है । चारों चरणों में एक ही समास होने से छन्द का छन्दस्त्व नहीं रहता । अतः वाक्य में रसाभिव्यक्ति का एक हेतु समाप्त हो जाता है । उतने अंश में वाक्य में रसाभिव्यक्ति के प्रति क्षमता की कमी रहती है ।]

यथापूर्वोक्त—जैसे—ऊर्ध्वाक्षिताप—इत्यादि श्लोक में । वह उदाहरण समास की अधिकता का, जिसका व्यावर्त्तन = निषेध०—'समासोऽर्धान्तावधिः कार्यः, नाधिकः' इसके द्वारा किया गया है ।

तस्य—यदि पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध टूटता न हो तो उस समास का बीच में विच्छेद नहीं करना चाहिये ।

विधेयत्वं चैतत् प्राधान्योपलक्षणमव्यभिचारात् । ततश्च प्रधाना-विमर्शोऽपि दोषतयावगन्तव्यः । यथा—

'स्नेहं समापिबति कज्जलमादधाति
सर्वान् गुणान् दहति पात्रमधः करोति ।
योऽयं कृशानुकणसञ्चयसम्भृतात्मा
दीपः प्रकाशयति तत् तमसो महत्त्वम् ॥'

अत्र हि प्रकाशनक्रियाया एव प्राधान्यविवक्षा नान्यासामिति तासां तत्समशीर्षिकया निर्देशो दोष एव । स हि तत्र शत्रादिभिरेव वक्तुं न्याय्यो नाख्यातेन । यथा—

'बिभ्राणः शक्तिमाशु प्रशमितबलवत्तारकौर्जित्यगुर्वीं
कुर्वाणो लीलयाधः शिखिनमपि लसच्चन्द्रकान्तावभासम् ।
आधेयादन्धकारे रतिमतिशयिनीमावहन् वीक्षणानां
बालो लक्ष्मीमपारामपर इव गुहोऽहर्पतेरातपो वः ॥' इत्यादौ ।

और यह जो विधेयत्व है वह प्राधान्य का उपलक्षण है । कारण कि ऐसी बात नहीं देखी जाती

कि जहाँ प्राधान्य हो वहाँ विधेयत्व न हो। इसलिये—प्रधान पदार्थ का प्रधान रूप से उपस्थित न होना भी दोष मानना चाहिये। जैसे:—

'स्नेह (तैल और प्रीति) को पीता है। कज्जल = कालौंच चढ़ाए रहता है, गुणनाम की चीज (बत्ती और शील आदि गुण) को पूर्णरूप से जला डालता है और पात्र (बरतन और योग्य व्यक्ति) को नीचे रखता है। इस प्रकार आग के कणों से बना जो यह दीपक प्रकाश करता है वह महत्त्व है—तम का।'

यहाँ प्रकाशन क्रिया की ही प्रधानता विवक्षित है, अन्य क्रियाओं की नहीं। इसलिये उन क्रियाओं का उस (प्रकाशन) क्रिया के साथ बराबरी से जो निर्देश है—वह दोष ही है। उन क्रियाओं का निर्देश शतृ आदि प्रत्ययों से करना ठीक था, आख्यात से नहीं। जैसे—

'तत्काल बलवान् तारक (तारकासुर, और तारों) के पराक्रम को शान्त करने से महती-शक्ति (एक अस्त्र और सामर्थ्य) लिये हुए, खेल-खेल में शिखी (मयूर-अग्नि) को नीचे करते हुए और चमचमाती चन्द्रकान्तमणि को भी नीचे करते हुए, अन्धकारि शिव की आँखों के समान अन्धकार में आँखों को अत्यधिक सुख देने वाला दूसरे कार्तिकेय के समान दिनपति सूर्य का बाल आतप (घाम) आपको अपार लक्ष्मी (श्री सौन्दर्य) प्रदान करे।'

विमर्श : यहाँ—दो अर्थ निकलते हैं—एक सूर्यतेज के पक्ष में और दूसरा गुह = कार्त्तिकेय के पक्ष में। दोनों में—शक्ति, तारक, शिखी, चन्द्रकान्त, अन्धकारे रति बराबर लगते हैं।

शक्ति = १. गुह—एक अस्त्र। २. सूर्य—अधिक वर्चस्व।

तारक—१. गुह—तारकासुर। २. सूर्य—तारे, सितारे।

शिखी—१. गुह—मयूर, २ सूर्य—अग्नि। चन्द्रकान्त—१. गुह—मयूरपिच्छ का सुन्दर चँदोवा, २. सूर्य—चन्द्रकान्तमणि। अन्धकारे रति—१. गुह—अन्धकारेः रति, अन्धकासुर के शत्रु शिव की रति, २. सूर्य०—अन्धकारे, रति = अन्धरे में रति।

अव्यभिचारादि**ति विधेयत्वं हि प्राधान्याविनाभावः।**

स्नेहमि**ति। अत्र पानादीनां प्रकाशनस्य च विध्यनुवादलोपित्वैककर्तृकाणां प्राधान्य-भावो नापस्मर्तव्यम् (?)। अत्र च** योऽयमिति **यच्छब्देन दीपस्य पदार्थस्य परामर्शोपक्रमे** तत्तमस **इति तच्छब्देन वाक्यार्थस्य परामर्शो दुष्ट इत्युपपादितं प्राक्।**

बिभ्राण इति। **शक्तिः सामर्थ्यम् आयुधभेदश्च। तारकाः** ज्योतींषि **दैत्यविशेषश्च तारकः** अधो **निस्तेजस्त्वेन वाहनत्वेन च। शिखी वह्निर्मयूरश्च। चन्द्रस्य सुवर्णस्य सम्बन्धी कान्ता-वभासो लसन् देदीप्यमानो यस्मिन्। चन्द्रकाणां मेचकानामवभासो लसन् स्फुरद् यस्य।** अन्धकारे **तमसि** अन्धका**रेर्हरस्य।** गुहः **कुमारः।** अपर इवे**ति अत्रापरशब्दसामर्थ्याद् गुहे द्वितीयगुहत्वप्रतीतौ वस्तुतस्तदसम्भवे तत्सम्भावनायामुत्प्रेक्षा। अपरशब्दाभावे तु स्वस्व-रूपस्थितस्यैव वास्तवस्य गुहस्य प्रतीतावियमुपमा स्यात्। एवम् 'अपर इव पाकशासनो' 'मौर्वी द्वितीयामि'त्यादौ च मन्तव्यम्।** अहर्पते**रिति। 'अहरादीनां पत्यादिषु' इति वचनाद् रेफः। अत्र धारणादीनां गुणभावः। आधानस्य तु प्राधान्यम्।**

अव्यभिचारात् = विधेयत्व यानी = प्राधान्य के बिना जिसका अभाव हो (अर्थात् = प्राधान्य के साथ व्याप्ति)।

स्नेहम्—पानादीनाम्—नापस्मर्तव्यम्—[पंक्ति स्पष्ट नहीं होती]

अत्र योऽयमिति = यहाँ योऽयम् इस प्रकार शुरू में यत् शब्द से दीपरूपी पदार्थ का परामर्श

करके अन्त में 'तत्तमसः' इस प्रकार 'तत्' शब्द से वाक्यार्थ का परामर्श करना दोष है—ऐसा स्पष्ट कर दिया गया है।

बिभ्राणः—शक्ति = सामर्थ्य और एक खास तरह का औजार।

तारकाः = नक्षत्र और तारक नाम का एक दैत्य।

अधः = निस्तेज बनाने से और वाहन बनाने से।

शिखी = अग्नि और मयूर।

चन्द्रकान्तावभास = चन्द्र = सोने का उजला प्रकाश देदीप्यमान है जिसमें। और चन्द्रक—मेचकों (मयूरपिच्छ के चँदोवे) का प्रकाश है झिलमिलाता जिसमें।

अन्धकारे = अन्धेरे में, अन्धकारेः = शिव की।

गुहः = कुमार (नामक कार्त्तिकेय)।

अपर इव—यहाँ अपरशब्द के बल पर गुह में द्वितीय गुहत्व की प्रतीति होती है, अतः यहाँ ऐसा उत्प्रेक्षालंकार है जिसका विषयी कल्पित है [ऐसी उत्प्रेक्षा के लिए द्रष्टव्य-अलंकारसर्वस्व] अपरशब्द न होता तो अपने प्रसिद्ध रूप मात्र से गुह का ज्ञान होता है। तब यहाँ उपमा होती।—इसी प्रकार—अपर इव पाकशासनः—दूसरे इन्द्र जैसा, 'मौर्वी द्वितीयाम्' दूसरी सी प्रत्यंचा = इत्यादि में मानना चाहिये।

अहर्पतेः—यहाँ—'अहरादीनां पत्यादिषु' इस नियम से रेफ हुआ। यहाँ धारण आदि अप्रधान है। आधान मात्र प्रधान है।

विमर्श : व्य० व्याख्यान में चन्द्रकान्तावभास को तीन खण्डों में विभक्त किया गया है—चन्द्र, कान्त और अवभास इस प्रकार, तथा चन्द्रक—अन्त और अवभास। प्रथम पदच्छेद में चन्द्र का अर्थ सुवर्ण अर्थात् सोना किया गया है। मेदिनी और अमर में—चन्द्र को सोने का वाचक माना भी गया है—चन्द्रः कर्पूरकाम्पिल्लसुधांशुस्वर्णवारिषु—[मेदिनी] स्वर्णेऽपि भूरिचन्द्रौ द्वौ। [अमर]—यहाँ अर्थ यह निकलता है कि सोने के समान कान्तिवाले अग्नि को सूर्यतेज ने दबा दिया। अर्थ में कोई—चमत्कार नहीं। कारण कि इससे सूर्यतेज से अग्नि का दब जाना भर सिद्ध होता है। दबने से जो विकार अग्नि में आता है इससे ज्ञात नहीं होता। चन्द्रकान्तमणि के समान अवभास वाला अर्थ करने में उसका ज्ञान होता है। सूर्य के प्रकाश में अग्नि की ज्योति चन्द्रकान्तमणि की ज्योति के समान क्षीण रहती है। वेद में सूर्यप्रकाश में अग्नि का अभाव बतलाया जाता है। सायण ने मीमांसा की पद्धति से उसे समझाते हुए लिखता है—धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः, तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः—तै० ब्रा० २।१।२। सायण = दूरभूयस्त्वात् = 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिति सायं जुहोति। सूर्यो ज्योतिः सूर्य इति प्रातः—इत्येतौ विधी स्तोतुं सोऽर्थ-वादः। यस्मादर्चिर्न दिवा ज्ञायते तस्मात् सूर्यमन्त्र एव प्रातः प्रयोक्तव्यः।' [ऋग्वेद-भाष्य भूमिका पृ० ३० चौ० सं०]

यहाँ व्य० व्याख्यान में 'अपरशब्दसामर्थ्यात्' के बाद आए 'गुहे' इस पद के स्थान पर त्रिवेन्द्रम् तथा चौखम्बा दोनों से प्रकाशित प्रतियों में 'भूपे' पद छपा है, और एक टिप्पणी देकर इसके स्थान पर 'आतपे' पद की सम्भावना व्यक्त की है। वस्तुतः उत्प्रेक्षा का विषय तो आतप ही है किन्तु उस पर द्वितीय गुहत्व की सम्भावना की जा रही है न कि द्वितीयत्व की, द्वितीयत्व की सम्भावना का विषय तो गुह ही है। अतः हमने अपनी ओर से 'भूपे' को बदलकर 'गुहे' पाठ बना दिया है।

प्रस्तुत पद्य मयूरकृत सूर्यशतक का २५वाँ पद्य है। उसके प्राचीन टीकाकार त्रिभुवनपाल ने चन्द्रकान्त का एक अर्थ—चन्द्रकान्तमणि भी किया है। पर उसे शिखी का विशेषण नहीं माना। उन्होंने चन्द्र को वसु, सुवर्ण, रत्न, मणि चार अर्थ में माना है और उसके समान जिसकी कान्ति है—इस प्रकार बहुब्रीहि द्वारा शिखी का विशेषण भी बनाया है। चन्द्रक का अर्थ—मेचक [मोरंगा] वे भी करते हैं।

सर्वासां पुनः प्राधान्यविवक्षायां नाख्यातवाच्यत्वं दोषः। यथा—

'सौधादुद्विजते, त्यजत्युपवनं, द्वेष्टि प्रभामैन्दवीं
द्वारान्नश्यति चित्रकेलिसदसो, वेषं विषं मन्यते।
आस्ते केवलमब्जिनीकिसलयप्रस्तारशय्यातले
सङ्कल्पोपनतत्वदाकृतिरसायत्तेन चित्तेन सा॥'

जब सभी (क्रियाओं) का प्राधान्य विवक्षित हो तो उन्हें आख्यात से कहने में कोई दोष नहीं है। जैसे—भावनामात्र से मन में चढ़े तुम्हारे सूरत के अधीन जब से उसका चित्त हुआ—वह चूने से पुती अटारी की ऊपरी मंजिल से डरती है, बगीचे को नहीं जाती, चन्द्रमा की ज्योति से नफरत रखती है, चित्रक्रीड़ा के कमरे के दरवाजे तक जाकर छिप जाती है, वेष को जहर मानती है, बैठती है केवल कमलिनी की बिछी हुई कोंपलों की सेज पर।

कर्त्ता हि गुणक्रियां **निष्पादयन् प्रधानक्रियामैदम्पर्येण निष्पादयति, न तु तास्वैदम्पर्यम्। यत्र सर्वास्वैदम्पर्यं तत्र भवत्येव सर्वासामाख्यातवाच्यत्वम्। यथा**—सौधादित्यादि।

कर्त्ता का स्वभाव है कि वह तात्पर्य रूप से प्रधान क्रिया को निष्पन्न करता है, साथ ही साथ अप्रधान क्रिया को भी निष्पन्न करता जाता है, किन्तु इन अप्रधान क्रियाओं में उसका तात्पर्य नहीं रहता। किन्तु जहाँ सभी क्रियाओं में तात्पर्य होता है वहाँ सभी आख्यात द्वारा कही जाती हैं। जैसे—सौधादुद्विजते-में। [इस तथ्य को पद्यबद्ध करते हैं]—

यत्रैककर्तृकानेका प्राधान्येतरभाक् क्रिया।
तत्राख्यातेन वाच्याद्या शत्राद्यैरपरा पुनः॥ २२॥

इत्यन्तरश्लोकः।

'जहाँ कर्त्ता एक हो और उसकी क्रिया एकाधिक, वहाँ यदि क्रिया में प्राधान्य अप्राधान्य हो तो प्रधान क्रियायें आख्यात द्वारा बतलायी जाती हैं और अन्य अप्रधान क्रियाएँ शतृ आदि प्रत्ययों द्वारा।'

इतरदप्राधान्यम्। आद्या **प्रधानभूता।** अपरा **अप्राधान्यवती।**

इतरत्—(प्राधान्य से भिन्न) अप्राधान्य।

आद्या—प्रधानभूत।

अपरा—अप्रधानभूत क्रिया।

ननु च, आचार्येणैवानिष्टनिवृत्त्यर्थं समासविधौ बहुलग्रहणं कृतम्। अतस्तेनैव क्वचिदेवंविधे विषये वृत्तिर्न भविष्यति, अन्यत्र भविष्यतीति किमनेन प्रधानेतरभावपरिकल्पनप्रयासेन?

सत्यम्। किन्तु समासविधेः प्रधानेतरभावविवक्षानिबन्धनस्य च

तत्प्रतिषेधस्योत्सर्गापवादभावेनावस्थानं द्रष्टव्यमित्यपवादस्यैवायं विषयो भवितुमर्हति न बहुलग्रहणस्य।

यत्र तु क्वचिदुत्सर्गापवादयोर्विषयव्यवस्थानियमः कथञ्चनापि कर्तुमशक्यः स तस्य विषयो वेदितव्यः। अन्यथा गोदः कम्बलद इत्यत्राणभावोऽपि तद्विषयः स्यात्। इह तूक्तक्रमेण नियमः शक्यक्रिय एवेति नायं बहुलग्रहणस्य विषयः कल्पनीयः।

(शंका) इस प्रधान अप्रधान की लम्बी-चौड़ी कल्पना की मेहनत से क्या? स्वयं आचार्य (पाणिनि) ने ही गड़बड़ी दूर करने के लिये समास-विधान करते समय बहुल शब्द का प्रयोग किया है। (अर्थात् समास हो तो ठीक न हो तो कोई बात नहीं)। उसीसे इस तरह के जो कोई विषय होंगे उनमें समास नहीं होगा, अन्यत्र होगा।

(उत्तर) ठीक है। किन्तु समास-विधान और प्राधान्य-अप्राधान्य-विवक्षा को लेकर उसका होने वाला निषेध इन्हें उत्सर्ग और अपवाद रूप मानना चाहिये। इसलिये यह (प्रधानाप्रधान-भाव) केवल अपवाद का ही विषय हो सकता है। बहुल-ग्रहण का नहीं। हाँ, जहाँ कहीं उत्सर्ग और अपवाद के क्षेत्र-विभाजन का ठीक-ठिकाना किसी भी तरह करना सम्भव न हो—उसे उस (बहुल) का विषय मानना चाहिये। नहीं तो 'गोदः' और 'कम्बलदः' आदि में अण् प्रत्यय का अभाव भी 'बहुल' का विषय बन जाएगा। पर यहाँ (विध्यनुवादभाव में या प्रधानेतरभाव में) तो उक्त क्रम से नियम (ठीक-ठिकाना) किया ही जा सकता है इसलिये इसे बहुल-ग्रहण का विषय नहीं मानना चाहिये।

बहुलग्रहणमिति। **'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२-१-५७) इत्यत्र।** क्वचिदित्यादि। **क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिरिति बहुलग्रहणप्रयोजनस्य व्यवस्थितत्वात्।** उत्सर्गेति **समासविधिः सामान्यरूपत्वादुत्सर्गः प्राधान्यादिविवक्षानिमित्तश्च तत्प्रतिषेधो विशेषरूपत्वादपवादः।**

अपवादस्यैवेति। **'अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य प्रवृत्ति'रिति न्यायात्।** कर्तुमशक्य इति। **व्यवस्थितविषयत्वात्। यथा 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (६-३-१२२) इत्यत्र। परिशब्दे त्वयं भवति—परिवादः, परीवाद इति। विवाद इत्यत्र नैव भवति।**

तद्विषयः स्यादिति **'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३-३-११३) इत्यादिगतस्य बहुलग्रहणस्य विध्यनुवादभावविषये सामर्थ्याभावात् समासाभाव इति भावः।**

बहुलग्रहणम्—'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इस सूत्र में।

क्वचिदित्यादि—कहीं लगना, कहीं न लगना—इस प्रकार बहुल शब्द को देने का प्रयोजन माना गया है [यथा—क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥]

उत्सर्ग—समास-विधान सामान्य विधान है अतः उत्सर्गात्मक है, उसका प्रतिषेध जो प्राधान्यादि की विवक्षा के अधीन है वह विशेष है अतः वह अपवादात्मक है।

अपवादस्यैव—'यह एक नियम है कि उत्सर्ग-नियम अपवाद-नियम के क्षेत्र से अतिरिक्त क्षेत्र में लगता है। कर्तुमशक्यः—कारण कि उसका क्षेत्र निश्चित है। जैसे—'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (६।३।१२२)। इसमें (दीर्घ करने का)। परि उपसर्ग में तो यह (दीर्घ-विधान) होता है, परिवाद-परीवाद इत्यादि। किन्तु विवाद में नहीं होता।

तद्विषयः स्यात्—'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) इत्यादि में आये बहुल ग्रहण का विध्यनुवादभाव के विषय में सामर्थ्य नहीं है। अतः समास नहीं होता।

विमर्श: व्यक्तिविवेककार ने—इस प्रकरण में यह सिद्ध किया था कि जहाँ विशेषण में प्रधानता हो वहाँ उसका विशेष्य के साथ समास नहीं होना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि महिमभट्ट को समास का वैकल्पिक होना अभिमत है। महर्षि पाणिनि ने भी अपने सूत्र 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' में बहुल शब्द देकर यही सिद्ध किया था कि विशेषण-विशेष्यों का समास कहीं हो सकता है कहीं नहीं। महिमभट्ट ने पाणिनि के सिद्धान्त से अपने सिद्धान्त की भिन्नता बतलाते हुये कहा है कि बहुल का अर्थ है विकल्प। जहाँ विशेषण में प्रधानता रहती है और विशेष्य में अप्रधानता वहाँ समास कदापि नहीं होता। वहाँ समास विकल्प से भी सम्भव नहीं। इसलिये पाणिनि से इनका मत एक डग आगे है। पाणिनि जी (जैसी कि व्याख्याकारों की मान्यता है) विशेषणसमास को विकल्प द्वारा सर्वत्र मानते हैं। महिमभट्ट प्रधानेतरभाव विवक्षा होने पर कहीं भी नहीं। इस प्रकार प्रधानेतर समास का अपवाद या बाधक सिद्ध हुआ। जैसे गोदः, कम्बलदः में 'कर्मण्यण्' से अण् प्रत्यय प्राप्त होता है, उसका अपवाद या बाध 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र से होता है और अण् के बजाय 'क' प्रत्यय होता है। फलतः अण् कहीं एक भी जगह नहीं हो पाता जहाँ 'आतोऽनुपसर्गे कः' लगता है किन्तु विकल्प जहाँ होता है वहाँ की स्थिति भिन्न होती है। 'उपसर्गे घञ्यमनुष्ये बहुलम्'—में विकल्प होता है अर्थात् घञ् प्रत्ययान्त उत्तरपद होने पर उपसर्ग को विकल्प से दीर्घ होता है। इसके उदाहरण हैं परीवाद और परिवाद, परीरम्भ और परिरम्भ। कहीं यह नहीं भी लगता जैसे विवाद में जिस प्रकार उक्त स्थलों में जहाँ अपवाद होता है वहाँ पूर्व नियम कदापि नहीं लगता—उसी प्रकार जहाँ ठीक विशेषण में प्रधानभाव होता है वहाँ समास कदापि नहीं होता। फलतः पाणिनि जी का समास के लिये जो नियम है वह विकल्पस्वरूप है और महिमभट्ट का उत्सर्ग और अपवाद रूप। उत्सर्ग का अर्थ होता है सामान्य और अपवाद का विशेष। सामान्य को विशेष बाध देता है। जैसे 'हिंसा न करना' सामान्य नियम है। इसे 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह विशेष नियम तोड़ता है।

न चायमर्थः स्वमनोषिकयैवास्माभिरुपकल्पितः किन्तर्हि, आचार्यस्याप्यभिमत एव, यदयं समासविधौ समर्थग्रहणं कृतवान्। केवलं तदभिप्रायमनवगच्छद्भिर्व्याख्यातृभिः सापेक्षतादिदोषान्तरव्यावृत्तिपरतयैव तद् व्याख्यातं न पुनरेतद्व्यावृत्तिपरतयापीति तदभिप्रायमेवास्माभिः प्रकटयद्भिस्तस्येहार्थत्वमपि प्रतिपादितं न त्वपूर्वं किञ्चित्।

ऐसी भी बात नहीं है कि यह विषय हमने अपनी बुद्धि से गढ़ा है, आचार्य को भी यह मान्य है, क्योंकि समास-विधान करते समय उन्होंने 'समर्थः' शब्द का प्रयोग किया। किन्तु हुआ यह कि व्याख्याता लोगों ने उनका मूल अभिप्राय नहीं समझा और उसका फल (समर्थ शब्द का ग्रहण) केवल सापेक्षता आदि मान्य दोषों की व्यावृत्तिमात्र बतलाया, इस प्रधानेतरभाव की व्यावृत्ति को नहीं, इसलिये उसी का अभिप्राय स्पष्ट करते हुये हमने उसका अर्थ यह—फल (प्रधानेतर की व्यावृत्ति) भी बतलाया है कोई नई बात नहीं।

तदभिप्रायमि**ति आचार्याभिप्रायम्।** साक्षेपतादी**ति ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इत्यादौ।** तत् **समर्थग्रहणम्।** एतद्व्यावृत्तीति **एतच्छब्देन प्रधानेतरभावः परामृष्टः।** तस्येहार्थत्वमपीति **समर्थग्रहणं प्रधानेतरभावविषयनिवृत्त्यर्थमपीत्यर्थः।**

तदभिप्रायमिति—प्रधानेतरभावविषय की भी निवृत्ति के लिए।

तदभिप्राय = आचार्य का अभिप्राय।

सापेक्षता आदि = ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः इत्यादि में।

तत् = समर्थ-ग्रहण।

एतद्व्यावृत्ति—यहाँ एतद् शब्द से प्रधानेतरभाव का परामर्श किया गया ('समर्थः पदविधिः सूत्र में।)

तस्येहार्थत्वमपि—समर्थ शब्द का ग्रहण प्रधानेतरभाव के क्षेत्र में समास न होने देने के लिये भी है।

विधेयोद्देश्यभावोऽयं वक्तुं वृत्त्या न पार्यते।
यत् तेनानभिधानं वा समर्थग्रहणं च वा ॥ २३ ॥
कारणद्वयमेवेष्टं बहुलग्रहणं न तु।
अशक्यनियमो ह्यर्थो विषयस्तस्य नेतरः ॥ २४ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकौ।

विधेयोद्देश्यभाव समास द्वारा नहीं कहा जा सकता। इसलिये दो ही कारण (समासाभाव में) माने जा सकते हैं—(प्रधानेतरभाव का) न कहा जाना या ('समर्थः पदविधिः' सूत्र में) समर्थ शब्द का अपनाया जाना ('विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' में आया) बहुल (शब्द) का ग्रहण (उसका कारण नहीं माना जाना चाहिये) कारण कि उसका क्षेत्र वही अर्थ है जिसमें कोई नियम न हों, और कोई नहीं।

विधेयोद्देश्येति **उद्देश्योऽत्रोर्ध्वदेशार्हत्वादनुवाद्यः।** यत् तेनेति **यच्छब्दः पूर्वार्धसम्बद्धः। तेनापारणेन** अनभिधानं वेति **अनभिधानलक्षणा हि कृत्तद्धितसमासा इति।** समर्थग्रहणं च वेति **चशब्दोऽत्रातिरिक्तः, समुच्चयविकल्पयोर्विरोधात्। एवञ्च—**

'दृष्टिर्नामृतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न त-
न्नार्द्रार्द्रं हृदयं न चन्दनरसस्पर्शानि चाङ्गानि वा ॥'

इत्यत्र च-वाशब्दद्वयं प्रयुक्तं, च-वाशब्दार्थयोरेकत्र विरोधात्।

विधेयोद्देश्य—यहाँ उद्देश्य ही ऊर्ध्व (वाक्य में पहले) देश (स्थान) योग्य होने से—अनुवाद्य हुआ।

यत् तेन—यहाँ यत् शब्द पूर्वार्ध से सम्बन्धित है। तेन अर्थात् न हो सकने से।

अनभिधानं वा—कृत, तद्धित और समास का स्वभाव (प्रधानेतरभाव का) अनभिधान है।

समर्थग्रहणं च—यहाँ 'च' शब्द अधिक है, समुच्चय और विकल्प का विरोध होने से। 'दृष्टिर्नामृत०' इस पद्य में भी 'च' और 'वा' दोनों का एक साथ प्रयोग है, उन दोनों 'च' और 'वा' शब्दों का एक ही वाक्य में विरोध होता है।

यद्वा कवीनामेवैष विषयो न खण्डिकोपाध्यायानामित्यनवगततदभिप्रायैस्तैरुपेक्षितमेतत्। ते हि स्वप्नेऽप्यनासादितसाहित्यसुधारसास्वादचमत्काराः शुष्कशब्दव्युत्पत्तिमात्रोपजनिताभिमानदुर्विग्धा विविधाभिधानाधानोद्धारा अभिधेयप्रतीतिवैचित्र्यविवेककौशलशालीनाः लक्षणमस्तीत्येव रसाभिव्यक्तिविघ्नभूतमपरमपि बहुतरमवकरप्रायं प्रयुञ्जत इति रसास्वादानु-

गुणप्रयोगावहितचेतसां कवीनामेव तच्चिन्तोचिता नान्येषाम्। अस्माभिस्तु वितस्तरतस्तत् पुरस्तादभिधास्यते।

प्रकरणकाकादिसखो यस्यार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
इष्टार्थभङ्गभीतेः शब्दो न समासमर्हति सः॥ २५॥

इति सङ्ग्रहार्या।

अथवा यह विषय कवियों के लिये है खण्डिकोपाध्यायों का नहीं, इसलिये उन्होंने इसकी उपेक्षा की। वे इसका अभिप्राय नहीं समझ सके। उन्होंने साहित्य के अमृत रस का आस्वाद करके सपने में भी आनन्द नहीं पाया। उन्हें केवल शुष्क शब्दों की व्युत्पत्ति भर का अभिमान है, जिससे वे बिगड़ गये हैं। उनका काम केवल भांति-भांति के शब्दों का हेर-फेर ही है। उनमें कौशल है केवल अभिधावृत्ति से ज्ञात अर्थ की प्रतीति के वैचित्र्य का। वे रसाभिव्यक्ति में विघ्न बनने वाले हैं और अनेक शब्दों के कचरे-कूड़े को काम में लाते रहते हैं—केवल इसलिये कि वे प्रयोग व्याकरण-सम्मत हैं। इसलिये उन कवियों को ही इस प्राधनेतरभाव की चिन्ता शोभा देती है जिनका चित्त रसास्वाद के अनुरूप प्रयोग पर लगा रहता है, और लोगों को नहीं। हम इस विषय को आगे और अधिक विस्तार से उपस्थित करेंगे।

संक्षेप में—प्रकरण, काकु आदि की सहायता से जिस शब्द का अर्थ दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है, अभिमत अर्थ के प्रतीत न होने के भय से वह शब्द समासयोग्य नहीं होता।

खण्डिके**ति खण्डो ग्रन्थसम्बन्धी न तु समस्तो ग्रन्थः स विद्यते येषाम्।** अनवगततदभिप्रायैरि**ति। समर्थग्रहणं प्रति आचार्यस्य हि तैरभिप्रायो नावगतः।** अभिधानाधानोद्धारे**ति। अभिधानानां शब्दानामाधानमभिनवानां न्यसनम् उद्धारः पूर्वकाणामुद्धरणम्।** शालीना **अधृष्टा अविचारका इत्यर्थः।** अपरमपी**ति पुनरुक्तादिकम्।** तच्चिन्ते**ति। प्रधानेतरभावेन समासासमासचिन्ता।**

प्रकरणे**ति। यत्रार्थप्रकरणादिना शब्दस्य वाच्योर्थः प्रकर्षाप्रकर्षादिकमर्थान्तरं प्रकाशयति तत्राभिप्रेतार्थविनाशभयात् समासो न कर्त्तव्यः। यथा 'रामस्य पाणिरसी'ति। प्रकरणशब्दादिसख इति पाठः। तथा काकुग्रहणेन स्वरविशेष उच्यते यः 'कालो व्यक्तिस्वरादयः' इति काव्यगतत्वेन स्वीकृतः।**

खण्डिकेति, खण्ड = किसी ग्रन्थ का अंश, न कि पूरा ग्रन्थ। उतना ही जिनकी थाती हो।

अनवगततदभिप्रायैरिति—आचार्य के समर्थ शब्द का अभिप्राय उन्होंने नहीं जाना।

अभिधानाधानोद्धार—अभिधान = शब्द—उसका आधान = प्रयोग अर्थात् नवीन शब्दों का प्रयोग, उद्धार = हटाना अर्थात् पुराने शब्दों का त्याग।

शालीनाः—अधिक चतुर नहीं। अर्थात् अधिक विचार न कर सकने वाले।

अपरमपि—अर्थात् और भी किसी पुनरुक्त द्विरुक्त आदि को।

तच्चिन्ता—उस प्रधानेतरभाव से समास के होने न होने की चिन्ता।

प्रकरण = जहाँ प्रयोजन और प्रकरण आदि से शब्द का वाच्य अर्थ प्रकर्ष और अपकर्षादि दूसरे अर्थों को प्रकाशित करना हो वहाँ विवक्षित अर्थ की प्रतीति के अभाव के भय से समास नहीं करना चाहिये। जैसे—'राम का पाणि है' इत्यादि में। 'कहीं' 'प्रकरण-शब्दादिसखः' यह (भी) पाठ है। काकु शब्द से एक विशेष प्रकार का स्वर कहा गया जो—'कालो व्यक्तिः' (इत्यादि) करके काव्य में माना गया है।

विमर्शः यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि—'कालो व्यक्तिः स्वरादयः' में 'स्वर' शब्द आया है—उसे व्याख्याकार काकुवाचक मानते हैं। मम्मटाचार्य, विश्वनाथ राज और जगन्नाथ पण्डितराज ने इस जगह के स्वर शब्द को उदात्त आदि का वाचक है। मम्मटाचार्य और विश्वनाथ कविराज ने तो यह भी कहा है कि ये स्वर काव्य-मार्ग में गिने जाते, काव्य में उनका उपयोग नहीं होता।

एवं प्रसक्तानुप्रसक्तिकया समासगतत्वेन तदतिदेशेन समग्रवृत्तिगतत्वेनापि गुणप्रधावविवक्षां महता प्रपञ्चेन परिघटय्य प्रकृतोदाहरणे षष्ठीतत्पुरुषगतत्वेन योजयितुमाह— इत्थमवस्थित इति।

इस प्रकार लगे में लगे—गुणप्रधानभाव का समास में और उससे आगे सभी वृत्तियों में विस्तार से विचार कर प्रकृत उदाहरण में षष्ठी तत्पुरुष समास में उसे दिखलाने के लिये शुरू करते हैं—इत्थमवस्थिते इत्यादि।

इत्थमवस्थिते समासासमासयोर्विषयविभागप्रतिनियमे सति यदेतदिहाम्बिकायाः केसरिणो विशेषणभावेनोपादानं तत् किमितरकेसरिव्यावृत्तिफलम् आहोस्विदसमासे वा समासादितभगवतीपादार्पणप्रसादोपचितविश्वातिशायिशौर्यातिरेकप्रतिपादनप्रयोजनम्।

इस प्रकार समास और असमास दोनों का विषय-विभाग निश्चित हो जाने पर केसरी के अम्बिका का जो विशेषण रूप से उपादान है वह क्या—दूसरे केसरियों की व्यावृत्ति के लिये या समास न कर उस (केसरी) के ऐसे शौर्य को बतलाने के लिये जो भगवती के चरण ने की कृपा से उसे प्राप्त है और जो सम्पूर्ण विश्व को मात करता है।

अम्बिकाया उपादानमिति सम्बन्धः। तत् किमिति। **विशेषणस्यान्यकेसरिव्यावृत्तिर्वा, केसरिगतप्रकर्षप्रतिपादनं वा फलम्। आद्ये पक्षे निर्दिष्टचमत्कारासम्भावना। द्वितीये तु समासानुपपत्तिरिति तात्पर्यम्।**

'अम्बिका का उपादान' इस प्रकार अन्वय करना चाहिये।

तत् किम् = विशेषण का फल क्या है—१-इतर केसरी की व्यावृत्ति या २-केसरी में उत्कर्ष की प्रतीति। प्रथम पक्ष में दिखाये जा रहे चमत्कार का असम्भव होगा और द्वितीय में—समास न होना।

तत्र प्रथमपक्षे तस्य केसरिणो विवक्षितजातिमात्रविहितचेष्टाकातिरिक्तचमत्कारातिशयाभावोऽन्यकेसरिण इव निर्निबन्धन एव स्यात्।

न हि इतरेभ्योऽन्यसम्बन्धिभ्यः स्वतन्त्रेभ्योऽपि वा व्यावृत्तस्य तस्याम्बिकासम्बन्धमात्रात् तस्याः कामप्युपकारकणिकामनासादयत एवाकस्मात् तथाविधचमत्काराविर्भावः सम्भाव्यते।

'दोनों में से प्रथम पक्ष मानने पर इस सिंह में जो उत्कृष्ट (चमत्कारी) शौर्य का आविर्भाव दिखलाया गया है—जो सिंहजातिमात्र में प्राप्त होने वाली चेष्टाओं से भिन्न है, अन्य सिंहों के समान, उसके लिये कोई हेतु नहीं रह जाता। ऐसा सम्भव नहीं कि—दूसरों के सम्बन्धी या असम्बन्धी—स्वतन्त्र सिंहों से अलग करके दिखलाये गये इस सिंह में अम्बिका के सम्बन्धमात्र से, उसका थोड़ा भी अनुग्रह बिना पाये, ऐसे ही—उतना बड़ा शौर्य आ जाय।

गुणप्रयोगावहितचेतसां कवीनामेव तच्चिन्तोचिता नान्येषाम्। अस्माभिस्तु वितस्तरतस्तत् पुरस्तादभिधास्यते।

प्रकरणकाक्वादिसखो यस्यार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
इष्टार्थभङ्गभीतेः शब्दो न समासमर्हति सः॥ २५॥

इति सङ्ग्रहार्या।

अथवा यह विषय कवियों के लिये है खण्डिकोपाध्यायों का नहीं, इसलिये उन्होंने इसकी उपेक्षा की। वे इसका अभिप्राय नहीं समझ सके। उन्होंने साहित्य के अमृत रस का आस्वाद करके सपने में भी आनन्द नहीं पाया। उन्हें केवल शुष्क शब्दों की व्युत्पत्ति भर का अभिमान है, जिससे वे बिगड़ गये हैं। उनका काम केवल भांति-भांति के शब्दों का हेर-फेर ही है। उनमें कौशल है केवल अभिधावृत्ति से ज्ञात अर्थ की प्रतीति के वैचित्र्य का। वे रसाभिव्यक्ति में विघ्न बनने वाले हैं और अनेक शब्दों के कचरे-कूड़े को काम में लाते रहते हैं—केवल इसलिये कि वे प्रयोग व्याकरण-सम्मत है। इसलिये उन कवियों को ही इस प्राधनेतरभाव की चिन्ता शोभा देती है जिनका चित्त रसास्वाद के अनुरूप प्रयोग पर लगा रहता है, और लोगों को नहीं। हम इस विषय को आगे और अधिक विस्तार से उपस्थित करेंगे।

संक्षेप में—प्रकरण, काकु आदि की सहायता से जिस शब्द का अर्थ दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है, अभिमत अर्थ के प्रतीत न होने के भय से वह शब्द समासयोग्य नहीं होता।

खण्डिकेति खण्डो ग्रन्थसम्बन्धी न तु समस्तो ग्रन्थः स विद्यते येषाम्। अनवगततदभिप्रायैरिति। समर्थग्रहणं प्रति आचार्यस्य हि तैरभिप्रायो नावगतः। अभिधानाधानोद्धारेति। अभिधानानां शब्दानामाधानमभिनवानां न्यसनम् उद्धारः पूर्वकाणामुद्धरणम्। शालीना अधृष्टा अविचारका इत्यर्थः। अपरमपीति पुनरुक्तादिकम्। तच्चिन्तेति। प्रधानेतरभावेन समासासमासचिन्ता।

प्रकरणेति। यत्रार्थप्रकरणादिना शब्दस्य वाच्योर्थः प्रकर्षाप्रकर्षादिकमर्थान्तरं प्रकाशयति तत्राभिप्रेतार्थविनाशभयात् समासो न कर्त्तव्यः। यथा 'रामस्य पाणिरसी'ति। प्रकरणशब्दादिसख इति पाठः। तथा काकुग्रहणेन स्वरविशेष उच्यते यः 'कालो व्यक्तिस्वरादयः' इति काव्यगतत्वेन स्वीकृतः।

खण्डिकेति, खण्ड = किसी ग्रन्थ का अंश, न कि पूरा ग्रन्थ। उतनी ही जिनकी थाती हो।

अनवगततदभिप्रायैरिति—आचार्य के समर्थ शब्द का अभिप्राय उन्होंने नहीं जाना।

अभिधानाधानोद्धार—अभिधान = शब्द—उसका आधान = प्रयोग अर्थात् नवीन शब्दों का प्रयोग, उद्धार = हटाना अर्थात् पुराने शब्दों का त्याग।

शालीनाः—अधिक चतुर नहीं। अर्थात् अधिक विचार न कर सकने वाले।

अपरमपि—अर्थात् और भी किसी पुनरुक्त द्विरुक्त आदि को।

तच्चिन्ता—उस प्रधानेतरभाव से समास के होने न होने की चिन्ता।

प्रकरण = जहाँ प्रयोजन और प्रकरण आदि से शब्द का वाच्य अर्थ प्रकर्ष और अपकर्षादि दूसरे अर्थों को प्रकाशित करता हो वहाँ विवक्षित अर्थ की प्रतीति के अभाव के भय से समास नहीं करना चाहिये। जैसे—'राम का पाणि है' इत्यादि में। 'कहीं' 'प्रकरण-शब्दादिसखः' यह (भी) पाठ है। काकु शब्द से एक विशेष प्रकार का स्वर कहा गया जो—'कालो व्यक्तिः' (इत्यादि) करके काव्य में माना गया है।

विमर्श: यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि—'काल्लो व्यक्तिः स्वरादयः' में जो 'स्वर' शब्द आया है—उसे व्याख्याकार काकुवाचक मानते हैं। मम्मटाचार्य, विश्वनाथ कविराज और जगन्नाथ पण्डितराज ने इस जगह के स्वर शब्द को उदात्त आदि का वाचक माना है। मम्मटाचार्य और विश्वनाथ कविराज ने तो यह भी कहा है कि ये स्वर काव्य-मार्ग में नहीं गिने जाते, काव्य में उनका उपयोग नहीं होता।

एवं प्रसक्तानुप्रसक्तिकया समासगतत्वेन तदतिदेशेन समग्रवृत्तिगतत्वेनापि गुणप्रधानभावविवक्षां महता प्रपञ्चेन परिघट्य प्रकृतोदाहरणे षष्ठीतत्पुरुषगतत्वेन योजयितुमाह– इत्थमवस्थित **इति।**

इस प्रकार लगे में लगे—गुणप्रधानभाव का समास में और उससे आगे सभी वृत्तियों में काफी विस्तार से विचार कर प्रकृत उदाहरण में षष्ठी तत्पुरुष समास में उसे दिखलाने के लिये कहना शुरू करते हैं—इत्थमवस्थिते इत्यादि।

इत्थमवस्थिते समासासमासयोर्विषयविभागप्रतिनियमे सति यदेतदिहाम्बिकायाः केसरिणो विशेषणभावेनोपादानं तत् किमितरकेसरिव्यावृत्तिमात्रफलम् आहोस्विदसमासे वा समासादितभगवतीपादार्पणप्रसादोपनतविश्वातिशायिशौर्यातिरेकप्रतिपादनप्रयोजनम्।

इस प्रकार समास और असमास दोनों का विषय-विभाग निश्चित हो जाने पर प्रति अम्बिका का जो विशेषण रूप से उपादान है वह क्या—दूसरे केसरियों की व्यावृत्ति है या समास न कर उस (केसरी) के ऐसे शौर्य को बतलाने के लिये जो भगवती रखने की कृपा से उसे प्राप्त है और जो सम्पूर्ण विश्व को मात करता है।

अम्बिकाया उपादानमिति सम्बन्धः। तत् किमिति। **विशेषणस्यान्यकेसकेसरिगतप्रकर्षप्रतिपादनं वा फलम्। आद्ये पक्षे निर्दिष्टचमत्कारासम्भावना समासानुपपत्तिरिति तात्पर्यम्।**

'अम्बिका का उपादान' इस प्रकार अन्वय करना चाहिये।

तत् किम् = विशेषण का फल क्या है—१-इतर केसरी की व्यावृत्ति या २-केसरी प्रतीति। प्रथम पक्ष में दिखाये जा रहे चमत्कार का असम्भव होगा और द्वितीय का न होना।

तत्र प्रथमपक्षे तस्य केसरिणो विवक्षितजातिमात्रा चमत्कारातिशयाभावोऽन्यकेसरिण इव निर्निबन्धन एव न हि इतरेभ्योऽन्यसम्बन्धिभ्यः स्वतन्त्रेभ्योऽपि वाम्बिकासम्बन्धमात्रात् तस्याः कामप्युपकारकणिकामना तथाविधचमत्काराविर्भावः सम्भाव्यते।

'दोनों में से प्रथम पक्ष मानने पर इस सिंह में जो उत्कृष्ट (च ... दिखलाया गया है—जो सिंहजातिमात्र में प्राप्त होने वाली चेष्टाओं से भिन्न है, अन्य सिंहों के समान, उसके लिये कोई हेतु नहीं रह जाता। ऐसा सम्भव नहीं कि—दूसरों के सम्बन्धी या असम्बन्धी—स्वतन्त्र सिंहों से अलग करके दिखलाये गये इस सिंह में अम्बिका के सम्बन्धमात्र से, उसका थोड़ा भी अनुग्रह विना पाये, ऐसे ही—उतना बड़ा शौर्य आ जाय।

गुणप्रयोगावहितचेतसां कवीनामेव तच्चिन्तोचिता नान्येषाम्। अस्माभिस्तु वितस्तरतस्तत् पुरस्तादभिधास्यते।

प्रकरणकाक्वादिसखो यस्यार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
इष्टार्थभङ्गभीतेः शब्दो न समासमर्हति सः॥ २५॥

इति सङ्ग्रहार्या।

अथवा यह विषय कवियों के लिये है खण्डिकोपाध्यायों का नहीं, इसलिये उन्होंने इसकी उपेक्षा की। वे इसका अभिप्राय नहीं समझ सके। उन्होंने साहित्य के अमृत रस का आस्वाद करके सपने में भी आनन्द नहीं पाया। उन्हें केवल शुष्क शब्दों की व्युत्पत्ति भर का अभिमान है, जिससे वे बिगड़ गये हैं। उनका काम केवल भांति-भांति के शब्दों का हेर-फेर ही है। उनमें कौशल है केवल अभिधावृत्ति से ज्ञात अर्थ की प्रतीति के वैचित्र्य का। वे रसाभिव्यक्ति में विघ्न बनने वाले हैं और अनेक शब्दों के कचरे-कूड़े को काम में लाते रहते हैं—केवल इसलिये कि वे प्रयोग व्याकरण-सम्मत हैं। इसलिये उन कवियों को ही इस प्राधनेतरभाव की चिन्ता शोभा देती है जिनका चित्त रसास्वाद के अनुरूप प्रयोग पर लगा रहता है, और लोगों को नहीं। हम इस विषय को आगे और अधिक विस्तार से उपस्थित करेंगे।

संक्षेप में—प्रकरण, काकु आदि की सहायता से जिस शब्द का अर्थ दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है, अभिमत अर्थ के प्रतीत न होने के भय से वह शब्द समासयोग्य नहीं होता।

खण्डिकेति **खण्डो ग्रन्थसम्बन्धी न तु समस्तो ग्रन्थः स विद्यते येषाम्।** अनवगततदभिप्रायैरि**ति। समर्थग्रहणं प्रति आचार्यस्य हि तैरभिप्रायो नावगतः।** अभिधानाधानोद्धारे**ति। अभिधानानां शब्दानामाधानमभिनवानां न्यसनम् उद्धारः पूर्वकाणामुद्धरणम्।** शालीना **अधृष्टा अविचारका इत्यर्थः।** अपरमपी**ति पुनरुक्तादिकम्।** तच्चिन्तेति**। प्रधानेतरभावेन समासासमासचिन्ता।**

प्रकरणे**ति। यत्रार्थप्रकरणादिना शब्दस्य वाच्योर्थः प्रकर्षाप्रकर्षादिकमर्थान्तरं प्रकाशयति तत्राभिप्रेतार्थविनाशभयात् समासो न कर्त्तव्यः। यथा 'रामस्य पाणिरसी'ति। प्रकरणशब्दादिसख इति पाठः। तथा काकुग्रहणेन स्वरविशेष उच्यते यः 'कालो व्यक्तिस्वरादयः' इति काव्यगतत्वेन स्वीकृतः।**

खण्डिकेति, खण्ड = किसी ग्रन्थ का अंश, न कि पूरा ग्रन्थ। उतनी ही जिनकी वार्ता हो।

अनवगततदभिप्रायैरिति—आचार्य के समर्थ शब्द का अभिप्राय उन्होंने नहीं जाना।

अभिधानाधानोद्धार—अभिधान = शब्द—उसका आधान = प्रयोग अर्थात् नवीन शब्दों का प्रयोग, उद्धार = हटाना अर्थात् पुराने शब्दों का त्याग।

शालीनाः—अधिक चतुर नहीं। अर्थात् अधिक विचार न कर सकने वाले।

अपरमपि—अर्थात् और भी किसी पुनरुक्त द्विरुक्त आदि को।

तच्चिन्ता—उस प्रधानेतरभाव से समास के होने न होने की चिन्ता।

प्रकरण = जहाँ प्रयोजन और प्रकरण आदि से शब्द का वाच्य अर्थ प्रकर्ष और अपकर्षादि दूसरे अर्थों को प्रकाशित करता हो वहाँ विवक्षित अर्थ की प्रतीति के अभाव के भय से समास नहीं करना चाहिये। जैसे—'राम का पाणि है' इत्यादि में। 'कहीं' 'प्रकरण-शब्दादिसखः' यह (भी) पाठ है। काकु शब्द से एक विशेष प्रकार का स्वर कहा गया जो—'कालो व्यक्तिः' (इत्यादि) करके काव्य में माना गया है।

विमर्श: यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि—'काले व्यक्तिः स्वरादयः' में जो 'स्वर' शब्द आया है—उसे व्याख्याकार काकुवाचक मानते हैं। मम्मटाचार्य, विश्वनाथ कविराज और जगन्नाथ पण्डितराज ने इस जगह के स्वर शब्द को उदात्त आदि का वाचक माना है। मम्मटाचार्य और विश्वनाथ कविराज ने तो यह भी कहा है कि ये स्वर काव्य-मार्ग में नहीं गिने जाते, काव्य में उनका उपयोग नहीं होता।

एवं प्रसक्तानुप्रसक्तिकया समासगतत्वेन तदतिदेशेन समग्रवृत्तिगतत्वेनापि गुणप्रधानभावविवक्षां महता प्रपञ्चेन परिघट्य प्रकृतोदाहरणे षष्ठीतत्पुरुषगतत्वेन योजयितुमाह— इत्थमवस्थित इति।

इस प्रकार लगे में लगे—गुणप्रधानभाव का समास में और उससे आगे सभी वृत्तियों में काफी विस्तार से विचार कर प्रकृत उदाहरण में षष्ठी तत्पुरुष समास में उसे दिखलाने के लिये कहना शुरू करते हैं—इत्थमवस्थिते इत्यादि।

इत्थमवस्थिते समासासमासयोर्विषयविभागप्रतिनियमे सति यदेतदिहाम्बिकायाः केसरिणो विशेषणभावेनोपादानं तत् किमितरकेसरिव्यावृत्तिमात्रफलम् आहोस्विदसमासे वा समासादितभगवतीपादार्पणप्रसादोपनतविश्वातिशायिशौर्यातिरेकप्रतिपादनप्रयोजनम्।

इस प्रकार समास और असमास दोनों का विषय-विभाग निश्चित हो जाने पर केसरी के प्रति अम्बिका का जो विशेषण रूप से उपादान है वह क्या—दूसरे केसरियों की व्यावृत्ति के लिये है या समास न कर उस (केसरी) के ऐसे शौर्य को बतलाने के लिये जो भगवती के चरण रखने की कृपा से उसे प्राप्त है और जो सम्पूर्ण विश्व को मात करता है।

अम्बिकाया उपादानमिति सम्बन्धः। तत् किमिति। **विशेषणस्यान्यकेसरिव्यावृत्तिर्वा, केसरिगतप्रकर्षप्रतिपादनं वा फलम्। आद्ये पक्षे निर्दिष्टचमत्कारासम्भावना। द्वितीये तु समासानुपपत्तिरिति तात्पर्यम्।**

'अम्बिका का उपादान' इस प्रकार अन्वय करना चाहिये।

तत् किम् = विशेषण का फल क्या है—१-इतर केसरी की व्यावृत्ति या २-केसरी में उत्कर्ष की प्रतीति। प्रथम पक्ष में दिखाये जा रहे चमत्कार का असम्भव होगा और द्वितीय में—समास का न होना।

तत्र प्रथमपक्षे तस्य केसरिणो विवक्षितजातिमात्रविहितहेवाकातिरिक्तचमत्कारातिशयाभावोऽन्यकेसरिण इव निर्निबन्धन एव स्यात्।

न हि इतरेभ्योऽन्यसम्बन्धिभ्यः स्वतन्त्रेभ्योऽपि वा व्यावृत्तस्य तस्याम्बिकासम्बन्धमात्रात् तस्याः कामप्युपकारकणिकामनासादयत एवाकस्मात् तथाविधचमत्काराविर्भावः सम्भाव्यते।

'दोनों में से प्रथम पक्ष मानने पर इस सिंह में जो उत्कृष्ट (चमत्कारी) शौर्य का आविर्भाव दिखलाया गया है—जो सिंहजातिमात्र में प्राप्त होने वाली चेष्टाओं से भिन्न है, अन्य सिंहों के समान, उसके लिये कोई हेतु नहीं रह जाता। ऐसा सम्भव नहीं कि—दूसरों के सम्बन्धी या असम्बन्धी—स्वतन्त्र सिंहों से अलग करके दिखलाये गये इस सिंह में अम्बिका के सम्बन्धमात्र से, उसका थोड़ा भी अनुग्रह विना पाये, ऐसे ही—उतना बड़ा शौर्य आ जाय।

विविक्षितपदं चमत्कारातिशयपदेन योजनीयम्।

तस्या इत्यम्बिकायास्सकाशात्।

विवक्षित पद को चमत्कारातिशय के साथ जोड़ना चाहिये।

तस्याः = अर्थात् अम्बिका के पास से।

विमर्श : यहाँ मूल में यह कहा गया है—कि अम्बिका के सिंह—में दिग्गज और प्रलयघटा को देखकर भी चमत्कृत न होने का जो एक सर्वातिशायी शौर्य आया है उसका हेतु अम्बिका का प्रसाद ही है, जो अन्य सिंहों को प्राप्त नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि यहाँ अम्बिका-केसरी शब्द में अम्बिका का ग्रहण अम्बिका-सिंह से भिन्न सिंहों से अलग कर अम्बिका-सिंह को बतलाने भर के लिये किया गया है, तो अम्बिका-सिंह में अधिक शौर्य होते हुए भी उसका कोई हेतु प्रतीत नहीं होता जैसे इतर सिंहों में अधिक शौर्य के हेतु का अभाव है। फलतः जिस प्रकार अन्य सिंहों में अधिक शौर्य प्रतीत नहीं होता केवल जातिसुलभ शौर्य ही प्रतीत होता है—अम्बिका-सिंह में भी उतना ही शौर्य प्रतीत होगा। अधिक नहीं जो कि विवक्षित है। इस प्रकार अम्बिका इस विशेषण को केवल इतरव्यावर्तक मानने पर अम्बिकाकेसरी में विवक्षित शौर्याधिक्य की प्रतीति नहीं होती, जो वस्तुतः दोष है। यहाँ 'चमत्कारातिशयाविर्भावः' पाठ मानने पर चमत्कारातिशय शब्द का अर्थ संरम्भ = करिकीट……चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेशरी—में आए चमत्कारातिशय-शब्द के अर्थ से भिन्न मानना होगा। श्लोक में काकु द्वारा चमत्कारातिशय का अभाव उस सिंह में बतलाया गया है, आविर्भाव नहीं। इस प्रकार यहाँ चमत्कारातिशय का अर्थ शौर्याधिक्य करना उचित है। इस अर्थ में 'अन्यकेसरिण इव निर्निबन्धन एव स्यात्'—इस अंश का अर्थ कठिनाई से निकलता है। 'चमत्कारातिशयाभाव' पाठ मानने पर 'अधिक चमत्कार के अभाव का हेतु जैसे अन्य सिंहों में नहीं वैसे ही इस सिंह में भी नहीं मिलता' यह अर्थ बैठ जाता है। और चमत्कारातिशय शब्द का श्लोक के चमत्कारातिशय शब्द से समन्वय भी हो जाता है। व्याख्यान में केवल चमत्कारातिशय शब्द दिया है—उसका आविर्भाव नहीं।

अथ जात्यन्तरावच्छिन्नो विशिष्ट एव केसरी केसरिशब्देनात्राभिमतः यत्र स्वजातिनियत एव स तादृशोऽतिशयो येनासावितरकेसरिसाधारणेन हेवाकलवेन लज्जमानः करकीटजलदशकलावज्ञया दिग्द्विरदप्रलयपयोदघटाबन्धेऽपि न संरभते, यथा 'मोहन्तु हरेर्विहङ्गमो हन्तु' इत्यत्र विहङ्गमशब्देन विहङ्गमविशेषो गरुडजात्यवच्छिन्नः कश्चिदेव प्रत्याय्यते।

तत्र च यथा भगवतो हरेरतिशयाधानानपेक्षयैव सम्बन्धमात्राद् विशेषणभावस्तद्वदिहापि भविष्यतीत्युच्यते, तदप्ययुक्तम्। भगवत्यनुग्रहसम्पत्सम्पर्कशून्यस्य कस्यचिदेवंविधस्य केसरिविशेषस्य भगवतीवाहनत्वेनाप्रसिद्धेः।

और यदि 'दूसरी जाति का कोई अन्य केसरी यहाँ केसरी शब्द से मान्य हो, जिसमें अपनी जाति के गुण से ही वैसा कोई वैशिष्ट्य है जिससे वह अन्य सिंहों में प्राप्त तनिक से चमत्कार से लज्जित होता है और छोटे हाथी तथा मेघखण्डों को कुछ न समझकर दिग्गज तथा प्रलयकाल की मेघघटा को भी कुछ नहीं समझता। जैसे—'मोह को हरि का विहङ्गम दूर करे।' यहाँ विहंगम शब्द से एक विशिष्ट विहङ्गम जो गरुड जाति का होता है, बतलाया जाता है।'

और वहाँ ('मोहं तु—हन्तु'-में) जैसे भगवान् विष्णु को किसी अतिशयाधान की दृष्टि से नहीं, अपितु संबन्धमात्र से विशेषण बनाया जाता है—उसी प्रकार यहाँ (अम्बिकाकेसरी) भी—माना जा सकता है—ऐसा कहते हैं—तो वह भी ठीक नहीं। कारण की अम्बिका के अनुग्रह की संपत्ति से रहित इस प्रकार का अन्य कोई भी सिंह अम्बिका के वाहन रूप से प्रसिद्ध नहीं है।

जात्यन्तरं **विशिष्टावान्तरकेसरिजातिः तयावच्छिन्नो विशिष्टः।** विशिष्ट एवेति **लोकोत्तरः।** मोहन्त्विति **हरेर्विहङ्गमो गरुडः मोहमज्ञानं हन्त्वित्यर्थः।** गरुडजात्यवच्छिन्न **सौगतदृशा गरुडानां बहुत्वादिति भावः। विहङ्गमविशेषत्वं तु जात्यादिवैलक्षण्यात्।**

जात्यन्तरम् = किसी विशिष्ट केसरी की ही कोई अवान्तर जाति, उससे युक्त।

विशिष्ट एव = असाधारण।

मोहं तु०—हरि का पक्षी मोह = अज्ञान को नष्ट करे।

गरुडजात्यवच्छिन्न—बौद्धमत के अनुसार गरुड अनेक हैं। विहङ्गमविशेषत्वम्—जाति आदि की विशिष्टता से पक्षी की विशिष्टता।

न चायमर्थः कवेरभिप्रेतः। तथा ह्यसमाभियोगाभिमुखीभूतभगवत्सरस्वतीप्रसादासादितासामान्यवैदुष्यातिशयशालिनमात्मानं मन्यमानस्य कस्यचित् कवेरितरमनीषिमात्रसमुचितेनाचरितेन लज्जमानस्य महतोऽपि तज्जातीयानगणयतो निजगुणगरिमोद्दामकण्डूविनोदसुखसमाश्रयमनुरूपमपरमपश्यतः सहृदयचूडामणिमानिनो विमनसः समानधर्माणमप्रकृतमेवाम्बिकाकेसरिणं पुरस्कृत्य स्वाभिप्रायाविष्करणमेतत्।

न च तत्र स्वाभाविक एव कवेर्विद्याचमत्कारातिशयलाभोऽभिमतः अपि तु सरस्वतीपादप्रसादजनित एव। तस्याश्चात्मनश्चोभयोरपि बिम्बप्रतिबिम्बभावेनाम्बिकाकेसरिणोरुपादानात्।

और न कवि को यह अर्थ अभिप्रेत ही है, क्योंकि यह अपने जैसे सिंह को आगेकर किसी ऐसे कवि ने अपना अभिप्राय व्यक्त किया है जो निज को असाधारण उपासना से प्रसन्न भगवती सरस्वती की कृपा से असामान्य और चमत्कारपूर्ण वैशिष्ट्य से युक्त मानता था, जो अन्य सभी विद्वानों के जैसे आचरणों से लज्जित होता था, और बड़े-बड़े प्रसिद्ध विद्वानों को जो नहीं गिनता था जिसे अपनी गुणगरिमा की उद्दाम खुजलाहट शांत करने का कोई दूसरा अपने जैसा आश्रय नहीं दीखता था, और जो अपने आपको सहृदयों में भी शिरोमणि मानता था, इसलिये जो उदास था। कवि के इस कथन में कवि की विद्या का अतिशयित चमत्कार—(विना कुछ किए सहज रूप से) स्वभावतः प्राप्त है ऐसा मान्य नहीं, अपितु उसे वह सरस्वती के प्रसाद से प्राप्त है—ऐसा मान्य है। क्योंकि इसलिये—सरस्वती और खुद दोनों के लिये बिम्बप्रतिबिम्बभाव से यहाँ अम्बिका और केसरी का उपादान किया गया।

स्वाभिप्रायाविष्करणमिति। **सादृश्यमूलयाऽप्रस्तुतप्रशंसयेति भावः।** तस्याश्चेति **तच्छब्देन सरस्वती परामृष्टा। सरस्वत्या अम्बिका प्रतिबिम्बम् आत्मनश्च केसरीत्यर्थः।**

स्वाभिप्रायाविष्करणमिति—सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा द्वारा।

तस्याश्च = तत् शब्द से यहाँ सरस्वती का निर्देश किया गया। सरस्वती का प्रतिबिम्ब है अम्बिका और अपना (कवि का) सिंह।

द्वितीयपक्षपरिग्रहे पुनर्न भवितव्यमेव समासेन, अम्बिकाया विशेषणभूताया उत्साहपरिपोषपर्यवसायिकेसरिचमत्कारातिशयाधाननिबन्धनभावेन विधेयतया प्राधान्येन विवक्षितत्वात् समासे चास्य विध्यनुवादभावस्य निमज्जनादित्युक्तमेव ।

द्वितीय पक्ष (समास न करके सिंह पर अम्बिका के अनुग्रह से शौर्यातिरेक बतलाने के लिये अम्बिका पद का उपादान)—स्वीकार करने पर तो समास यहाँ नहीं ही होना चाहिये। कारण कि (केसरी के प्रति) विशेषणभूत अम्बिकारूपी अर्थ प्रधान रूप से विवक्षित होगा, और वही विधेय होगा, इसलिये कि उत्साह को परिपुष्ट करने वाला केसरीगत जो अतिशय चमत्कार = शौर्य है उसका वह (अम्बिका पदार्थ) कारण है। समास करने पर यह विध्यनुवादभाव स्फुट नहीं होता। ऐसा पहले कहा ही जा चुका है।

द्वितियपक्ष **इति । केशरिगतप्रकर्षप्रतिपादनपक्षे ।**

द्वितीयपक्ष = केसरी के प्रकर्ष का प्रतिपादन।

ननु च यदि विशेषणस्य विवक्षितत्वे सति विशेष्यस्य कोऽपि चमत्कारः समुन्मिषति स च तस्य समासेऽस्तमुपयातीत्युच्यते तर्हि समासादसौ न प्राप्नोति, इष्यते च कैश्चित् ततोऽपीति वृत्तिवाक्ययोस्तस्य यदेतदुदयास्तमयपरिकल्पनं तदयुक्तमेव ।

उच्यते । उदयास्तमययोर्यत् तावदर्थस्य वैचित्र्यं तदुपदर्शितमेव प्राक् । यत् पुनः समासचमत्काराभावप्राप्तिप्रसञ्जनं, न तच्चोद्यम्, इष्टं हि नामाप्रात्या चोद्यते । न चास्माभिरसौ समासादपीष्यते, वाक्यादेव तत्सिद्धेरिष्टत्वात् यैस्तु ततोऽपीष्यते तेषां वृत्तिवाक्ययोर्नूनमिदमर्थवैचित्र्यं न प्रतिभातमेव ।

(शंका) यदि यह कहा जाता है कि 'विशेषण विवक्षित हो तो उससे विशेष्य में विशेषता दिखाई देती है—पर समास करने पर नहीं'—तो (इसका अर्थ यह हुआ कि) समास से वह (विशेषता) व्यक्त नहीं होती, पर कुछ लोग उसे उस समास से भी मानते हैं—इसलिये (उनकी दृष्टि से) वृत्ति (समास) में इस (चमत्कार या विशेषण द्वारा विशेष्य में आई विशेषता) के अस्त और वाक्य में उदित होने की बात ठीक नहीं।

(समाधान) उदय और अस्त में जो पदार्थगत विशेषता दिखाई देती है—उसे पहले ही देखलाया जा चुका है, और जहाँ तक 'समास में चमत्कार नहीं रहता' इस सिद्धान्त पर आपत्ति की बात है—उसे (हमारे सामने) नहीं उठाना चाहिये, कारण कि जो तथ्य अभिमत होता है—यदि वह प्राप्त (सिद्ध) नहीं हो रहा हो तो उसके लिये तर्क उठाया जाता है, यह (चमत्कार) समास से भी प्राप्त होता है—ऐसा हमें मान्य नहीं। उसकी प्राप्ति वाक्य से ही होती हुई मान्य है। जिन्हें उस (समास) से भी चमत्कार-प्राप्ति होती है उन्हें निश्चित ही समास और वाक्य का यह अर्थभेद नहीं सूझा।

समासादसाविति **अम्बिकाकेसरिशब्दाद् उन्मिषत्येव स चमत्कार इत्यर्थः ।**

उदयास्तमयेति **। वृत्तौ चमत्कारस्यास्तमयता, वाक्ये उदय इति चूलिकाक्रमेण योगः ।**

उपदर्शितमेव प्रागिति **उदाहरणप्रत्युदाहरणप्रदर्शनद्वारेण । इष्टं हीति अभिप्रेतस्या-**

प्राप्तिर्या, सा चोदनार्हा इष्टमेतन्न सिध्यतीति। यत्तु नाभिप्रेतं तस्याप्राप्तिर्भूषणं न तु दूषणमित्यर्थः। अस्माभिरसाविति **असौ चमत्कारः।**

समासादसा०—अर्थात् अम्बिकाकेसरी—इस (समासयुक्त) शब्द से भी वह चमत्कार मिलता ही है।

उदयास्तमय—वृत्ति (समास) में चमत्कार अस्त होता है, और वाक्य में उदित,—इस प्रकार उलटकर पदार्थों का योग करना चाहिये।

उपदर्शितमेव प्राक्—अर्थात् उदाहरण प्रत्युदाहरण-दिखलाकर।

इष्टं हि—मान्य अर्थ का न मिलना। उस पर कहा जा सकता है—यह मान्य है और स्पष्ट नहीं हो रहा है। जो अमान्य नहीं है—उसका न मिलना अच्छा ही है, दोषावह नहीं।

अस्माभिरसौ—हमने यह—अर्थात् चमत्कार।

या पुनरेषां वृत्तेरपि चमत्कारातिशयावगतिः यथा—

"मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम्" इति।

अत्रार्यानुज इत्यतस्तातकलत्रमित्यतश्च सा भ्रान्तिरेवाभिमानिकी शुक्तिरजतप्रतीतिवत्। परमार्थतस्तु सा व्याख्यावाक्यादेव तेषां, न समासात्, केवलं तत्रारोपितेत्युदयास्तमयपरिकल्पनमुपपन्नमेवेति सिद्धम्।

इन लोगों की जो समास में भी चमत्कार-प्राप्ति की बात है—जैसे—'मिथ्यैतन्मम चिन्तितम्' इस पद्य में 'आर्यानुज' इस शब्द से और 'तातकलत्र' इस शब्द से वह उनकी आभिमानिकी भ्रान्ति है, जैसे शुक्ति में रजत की प्रतीति। सच पूछिए तो वह व्याख्या वाक्य से ही (प्राप्त होती है)। समास से नहीं। केवल समास पर वह लाद दी गई है। इसलिये (वृत्ति से चमत्कार के) अस्त और (वाक्य से चमत्कार के) उदय को जो बतलाया है वह ठीक ही है—यह सिद्ध होता है।

सा भ्रान्तिरेवेति **निर्विकल्पाविकल्पभेदेन द्विविधा भ्रान्तिः। तत्राद्या तिमिराद्युपप्लुतेन्द्रियस्य द्विचन्द्रादिप्रतीतिरूपा। द्वितीया त्वभिमानरूपा शुक्तिरजतादिप्रतीतिस्वरूपा।** सेति **चमत्कारावगतिः।** व्याख्यावाक्यादेवेति **अम्बिकायाः केसरीति समासविवरणवाक्यात्।** तेषामिति **प्रतीतिवैचित्र्यानभ्युपगमवादिनाम्।** तत्रारोपितेति **तत्र समासे शुक्तिस्थानीये रजतमिवारोपिताऽवास्तवीत्यर्थः। उदयास्तमयपक्षौ क्रमाद् वाक्यसमासगतौ।**

सा भ्रान्तिः—भ्रान्ति दो प्रकार की होती है, निर्विकल्प और अविकल्प। दोनों में प्रथम है—रतौंधी आदि रोग से मारी गई आँख वाले को दो चन्द्रों की प्रतीति, दूसरी है अभिमान रूप—जैसे—शुक्ति में रजत की प्रतीति।

सा—चमत्कार की अवगति।

व्याख्यावाक्यादेव—अम्बिका का केसरी इस प्रकार से समास को तोड़ने से बने वाक्य से।

तेषाम्—अर्थात् जिन्हें प्रतीति में भेद मान्य नहीं है।

तत्रारोपिता—तत्र समास में अर्थात् शुक्ति के समान समास पर रजत के समान आरोपित अर्थात् अवास्तविक। उदय और अस्तमय की बात क्रमशः वाक्य और समास से लागू होती है।

विमर्श : व्याख्याकार द्वारा यहाँ दो प्रकार की भ्रान्तियों का निरूपण किया गया है एक निर्विकल्प और दूसरी अविकल्प। दोनों के उदाहरण दिए गए हैं। क्रमशः तिमिर (रतौंधी) रोग आदि

से विकृत नेत्रवाले को दो चन्द्रों आदि की प्रतीति तथा सीप में चाँदी की प्रतीति । इनमें द्वितीय को आभिमानिकी भ्रान्ति कहा गया है । उदाहरणों से स्पष्ट है कि—आभिमानिकी भ्रान्ति वह है जिसमें दोष विषयगत हो प्रमाणगत नहीं । उदाहरण 'शुक्तिकारजत' में चाकचक्यरूपी दोष शुक्तिका में रहता है द्रष्टा की आँखों में नहीं । समास में विधेयताकृत चमत्कार की प्रतीति भी आभिमानिकी भ्रान्ति ही है, कारण कि दोष वस्तुतः कवि की समासपूर्ण वाक्ययोजना में ही है, पढ़नेवाले की बुद्धि में नहीं । वस्तुतः यहाँ आभिमानिकी भ्रान्ति का अर्थ प्रातिभासिकी प्रतीति करना चाहिये, जैसे भूत प्रेत की प्रतीति होती है । उसका स्थूल शरीर नहीं रहता किन्तु द्रष्टा कभी-कभी देखता है । वस्तुतः वह द्रष्टा द्वारा ही कल्पित आकार है । इसी प्रकार समास में चमत्कार कतई रहता ही नहीं । इतने पर भी जिन्हें समास में भी चमत्कार की प्रतीति होती है उनकी यह प्रतीति भ्रान्ति ही है और उसका कोई आधार न होने से वह आभिमानिकी है 'भ्रान्तिरेवाभिमानिकी' को बदलकर 'प्रतीतिरेवाभिमानिकी' पाठ बनाना, जैसा कि चौखम्भा के पिछले संस्करण में दिखाई देता है, सर्वथा अनुचित है ।

तस्मादेवमत्र पाठः कर्तव्यः—

"उद्योगः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल ।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽपि नोद्युक्तवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं गौर्या हरिर्यातु सः ॥" इति ।

इत्थञ्चोक्तदोषत्रयावकाशः प्रतिविहतो भवति ।

इसलिए यहाँ ऐसा पाठ बना लेना चाहिए—[उद्योगः—हरिर्यातु सः]

'करिकीट (छोटे हाथी) और मेघशकल (छोटे मेघ) के प्रति सिंह का जो अभियोग है वह एक ऐसी तुच्छ चेष्टा है जो प्रत्येक सिंह में सहज (जन्मसिद्ध) है, ऐसा सोचकर जो दिग्गजों तथा प्रलयघटाओं पर भी अभियोग नहीं करता वह भगवती पार्वती का सिंह, अतिशय चमत्कृत होना तो दूर रहा थोड़ा भी चमत्कृत किसे देखकर हो ।'

इस प्रकार (का पाठ बनाने से) तीनों दोषों की जड़ कट जाती है (उनका निराकरण हो जाता है) ।'

उद्योग **इति । संरम्भपदं निरस्योद्योगपदकरणं प्रक्रम्यमाणोद्युक्तवत्पदक्रमाभेदाय । योऽसावित्यदः शब्दःप्रसिद्धिपरामर्शकः यच्छब्दप्रतिनिर्देशस्य तच्छब्देन करिष्यमाणत्वात् ।**

उद्योग—यहाँ संरम्भ-पद हटाकर उद्योग-पद आगे आनेवाले 'उद्युक्तवत्' से मेल रखने के लिए रखा गया है ।

योऽसौ—इसका 'अदः' शब्द प्रसिद्धि का परामर्शक है क्योंकि 'यत्' शब्द का प्रतिनिर्देश 'तत्' शब्द से किया जानेवाला है ।

यद्यपि च योऽसावित्यत्र प्रतिपादिताभिसम्बन्धक्रममेकमेव तदमुपादाय सोऽयमिपि पाठे विपर्यासिते सत्येकवाक्यतायां न यथोक्तयत्तदभिसम्बन्ध-दोषावकाशः, यथा—

"तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।
वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥" इत्यत्र ।

तथापि तत्रार्थस्य चमत्कारातिशयो न्यग्भवत्येव। स हि भिन्नवाक्यतायामेव सहृदयैकसंवेद्यः समुन्मिषतीति तदनुगुणार्थोऽयमेव पाठः श्रेयानिति ।

यद्यपि 'योऽसौ' की जगह जिसके अभिसम्बन्ध का प्रकार बतलाया जा चुका है (केवल तच्छब्द के प्रयोग से भी आर्थ उपक्रमोपसंहार क्रम बतलाया गया है) ऐसे एक ही तद् शब्द को दे देने से पाठ बदलकर 'सोऽयम्' किया जा सकता है, उससे वाक्य एक ही रहेगा और कोई यद्-तद् के अभिसम्बन्ध का दोष भी नहीं रहेगा, जैसा कि—

'चल पड़े उस (कुश) की सेनाओं की पीड़ा को सहने में असमर्थ होती हुई सी पृथिवी धूल के बहाने आकाश में चढ़ गई।' (१६।२८ रघु०) में है, तथापि इस पाठ में अर्थ का चमत्कारातिरेक छिप ही जाता है। वह भिन्न वाक्य में ही उभरता है और केवल सहृदय-जन को दिखाई पड़ता है। इसलिए इसके अनुरूप यही पाठ अधिक उपयुक्त है।

प्रतिपादितेति। **आर्थो हि केवलतच्छब्दस्य प्रयोगनिबन्धन उपक्रमोपसंहारक्रमः प्रतिपादित एव।**

रजश्छलेनेति। **छलेवशब्दप्रयोगे सापह्नवेयमुत्प्रेक्षा। केवलच्छलशब्दप्रयोगेऽपह्नुतिः। केवलेवशब्दप्रयोगे च सम्भावनप्रतीतावुत्प्रेक्षा। द्वयप्रयोगे तु शबला प्रतीतिः। न चात्रापह्नुत्युत्प्रेक्षयोः सङ्करः। उत्प्रेक्षा ह्यपह्नुत्यविनाभाविनी। सोऽपह्नवः क्वचित् गर्भीकृतो यथा 'नखक्षतानीव वनस्थलीनामि'त्यत्र, न पलाशानि किन्तु सम्भावयामि नखक्षतानीति प्रतीतेः। क्वचित्तु शब्देन प्रतिपाद्यते यथा 'अध्यारुरोहेवे'ति। एवञ्चास्या अपह्नुत्यविनाभाविन्या अपह्नुतिबाधकत्वं, न तया सह सङ्करः।**

भिन्नवाक्यतायामेवेति। **तत्र हि विध्यनुवादभाव आञ्जस्येन क्रमेण प्रतीयते।**

प्रतिपादितेति = केवल तत् शब्द के प्रयोग से होने वाला आर्थ उपक्रमोपसंहारक्रम बतलाया ही जा चुका है।

रजश्छलेन—'छल' और 'इव' शब्द के प्रयोग से यहाँ यह अपह्नव से युक्त उत्प्रेक्षा हुई। केवल 'छल' शब्द के प्रयोग में अपह्नुति होती, और केवल 'इव' शब्द के प्रयोग में सम्भावनामूला उत्प्रेक्षा, दोनों के प्रयोग में जो प्रतीति हो रही है वह दोनों (अपह्नव और सम्भावना) से मिश्रित है।

यहाँ अपह्नुति और उत्प्रेक्षा का संकर भी नहीं माना जा सकता उत्प्रेक्षा तो अपह्नुति से कभी भी अलग नहीं रहती। यह अपह्नव कहीं उत्प्रेक्षा में छिपा रहता है जैसे—'नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्' में, कारण कि—'पलाश नहीं, ऐसा लगता है कि नखक्षत है' ऐसी प्रतीति होती है। कहीं (वह = अपह्नव) शब्दतः कथित होता है जैसे—यहीं 'अध्यारुरोहेव' में। इसलिए उत्प्रेक्षा अपह्नुति के बिना नहीं होती अतः उसे अपह्नुति की बाधिका मानना चाहिए, अपह्नुति के साथ उसका संकर नहीं।

भिन्नवाक्यतायामेवेति—वाक्य भिन्न होने पर विध्यनुवादभाव साफ-साफ और यथाक्रम सामने आता है।

विमर्श : इस स्थल में व्यक्तिविवेक-व्याख्यानकार ने एक अप्रासंगिक विवेचन किया, उन्हें विवेचन तो करना था 'तस्य प्रयातस्य' पद्य में आई एक व्याख्या पर, किन्तु वे विवेचन कर गए इस पद्य के अलंकार पर। इस पद्य में—शुरू से आखीर तक एक ही वाक्य है। जैसे यहाँ यत् और तत् को नहीं दिया, अतः अनेक सम्बन्ध के बनने-बिगड़ने की बात ही नहीं रही—ठीक

वैसे है 'उद्योगः करिकीट' इसके संशोधित पाठ में भी 'योऽसौ' की जगह 'सोऽयं' पाठ में वह यत्-तत् का दोष नहीं रहता। दोषपरिहार की दृष्टि से यह पाठ भी अच्छा था। परन्तु मूलकार का कहना है कि उद्देश्यविधेयभाव एक वाक्य में उभरता नहीं है, वह सदा भिन्न वाक्यों में ही उभरता है इसलिए 'योऽसौ—सः' ऐसा ही पाठ ठीक है। व्याख्यानकार—यहाँ उत्प्रेक्षासिद्धि करते हैं। उनका कहना है कि छल शब्द के आधार पर अपह्नुति भी मानी जा सकती है केवल अपह्नुति नहीं। और न दोनों का संकर। अपह्नुति तो सर्वत्र भासित होती है कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट अतः सादृश्य के समान वह भी उत्प्रेक्षा द्वारा बाध्य है। विवृतिकार ने प्रस्तुत पद्य—का अर्थ करते हुए लिखा है—'प्रयातस्य युद्धार्थमभिगच्छतः तस्य राज्ञः' यहाँ एक तो प्र—पूर्वक 'या' धातु का पर्याय 'अभि' पूर्वक 'गम्' धातु नहीं होती, निर्—उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु हो सकती है। इसके अतिरिक्त यह पद्य रघुवंश में कुश के लिए लिखा गया है, जब वह कुशावती से राजधानी हटाकर अयोध्या ले जा रहा था, इसलिए 'योद्धुं गच्छतः' यह असंगत है। कदाचित् उन्हें यह विदित नहीं कि यह पद्य कहाँ का है। इसीलिए उन्होंने 'तस्य' का पर्याय 'राज्ञः' दिया 'कुशस्य' नहीं।

मूलकार ने 'संरम्भः करिकीट' को सुधार कर जो पद्य उपस्थित किया उस पर अधिक विवेचन किया जाये तो और भी कई दोष दिखाई देते हैं जैसे—

'न उद्युक्तवान् यः' इसमें विधेयाविमर्श। विधेय उद्देश्य के बाद आना चाहिए। उद्युक्तवान् यत्पदार्थ में विधेय है अतः 'यो नोद्युक्तवान्' पाठ होना चाहिए। जैसा कि स्वयं ग्रन्थकार ने—'शय्या शाद्वलम्' पद्य में आगे स्थिर किया है

इसी प्रकार अतिशय पद के प्रयोग में अवाच्यवचन दोष है। उसके बिना भी चमत्कारमात्र से काम चल सकता है। अथवा उसे पुनरुक्त कहा जा सकता है जैसे कि 'प्रयुक्ते चाप्रयुक्ते च यस्मिन्' से स्पष्ट किया है। यदि चमत्कार में कोई विशेषता लानी है और उससे सिंह में तो उसके साथ लव और लेश आदि शब्द जोड़ने में अतिशय नहीं। कहना था कि जब प्रलयघटा और दिग्गजों पर भी उसे चमत्कार नहीं हुआ तो अब ऐसी कौन सी जगह है जहाँ उसे थोड़ा भी चमत्कार हो। अतिशय से यह अर्थ निकलता है कि वह दिग्गज आदि में थोड़ा बहुत तो चमत्कृत होता ही है—ऐसा करने पर—'नोद्युक्तवान्' का विरोध होता है। चमत्कृत होना भी एक मानस उद्योग है।

फिर नोद्युक्तवान् की जगह—'नोद्योगवान्' पाठ चाहिए। 'करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य १ उद्योगः स जातिमात्रनियतः हेवाकलेशः, इति आशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽपि योऽसौ उद्योगवान् १'—इस प्रकार कहने से छोटे सिंहों में जिस उद्योग का अस्तित्व दिखलाया गया—उसका स्पष्ट अभाव इस सिंह में भासित होता है। उद्युक्तवान्—में उद्योग अत्यधिक प्रच्छन्न हो जाता है। और भी कई दोष इस संशोधित पद्य में भी है जैसे द्वितीय चरण का अन्तिम स्वर लघु है। गुरु होना चाहिए। वस्तुतः पाठ ऐसा कुछ होना चाहिए—

'संरम्भो गजजाति-मेघनिवहोद्देशेन सिंहेषु यः
सर्वेष्वेव स तेषु हन्त सहजो नो मादृशां कीर्त्तये।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽप्युपेक्षाञ्चितो
गौर्यां यः किल सिंहराट् स लभतां संरम्भलाभं क वा॥'

यत्रोत्कर्षोऽपकर्षो वा विशेष्यस्य विशेषणात्।
तदेव वा विधेयं स्यात् समासस्तत्र नेष्यते॥ २६॥

अन्यत्र त्वर्थसम्बन्धमात्रे वक्तुमभीप्सिते।
कामचारस्तदर्थं हि समर्थग्रहणं मतम् ॥ २७ ॥
न तु सापेक्षताद्यन्यदोषजातनिवृत्तये।
पित्रोः स्वतेव वन्द्यत्वे सा हि न्यायेन सिध्यति ॥ २८ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः

जहाँ विशेषण से विशेष्य का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है अथवा वही (विशेषण) विधेय होता हो तो वहाँ समास नहीं किया जाता और जहाँ कहीं केवल अर्थों का सम्बन्धमात्र अभीष्ट हो वहाँ समास करने न करने की छूट है, इसके लिए ही (समर्थः पदविधिः' सूत्र में) समर्थ-ग्रहण किया गया है, न कि सापेक्षता आदि अन्य दोषों की निवृत्ति के लिए। वह (अन्य दोषों की निवृत्ति) तो अपने आप सिद्ध हो जाती है जैसे माता-पिता के पूज्यत्व में स्वता (अर्थात् पुत्र का निजत्व = उसके अपने ही माता-पिता—उसके लिए पूज्य हो सकते हैं)।

तदेव वेति **विशेषणम् , विध्यनुवादभावविवक्षायां विधेयम्। अन्यत्रेति उत्कर्षापकर्षयोर्विधेयत्वस्य चाभावे।** कामचार **इति समासासमासयोः।** तदर्थमिति **उत्कर्षादिविषयो हि समासनिषेधार्थम्।** सापेक्षेति **सापेक्षमसमर्थं भवतीत्येतावन्मात्रप्रतीतये।** पित्रोः स्वतेवेति **यथा पितरौ वन्दनीयाविति नित्यसंबन्धन्यायाद् निजावेव पितरौ प्रतीयेते, तद्वत् सापेक्षाणामनभिधानाख्येन न्यायेन समासाभावः प्रत्येष्यते।** स्वता **आत्मीयत्वमिव। सा** दोषप्र**कारनिवृत्तिः।**

तदेव वेति = अर्थात् विशेषण। वह (विशेषण) विध्यनुवादभाव की विवक्षा में विधेय होता है।

अन्यत्र—उत्कर्ष, अपकर्ष और विधेयता के अभाव में।

कामचारः—अर्थात् समास और समासाभाव से।

तदर्थम्—उत्कर्ष आदि के लिये, समास-निषेध करने के लिये।

सापेक्ष०—जो सापेक्ष होता है वह असमर्थ होता है—इतने ही को बतलाने के लिये।

पित्रोः स्वतेव—जैसे माता-पिता पूज्य हैं ऐसा कहने पर नित्य सम्बन्ध होने से अपने ही माता-पिता का (पूजाविषयरूप से) भान होता है उसी प्रकार 'सापेक्ष पदार्थों का अभिधान नहीं होता' इस न्याय से समास की अप्राप्ति भी भासित हो जायेगी।

स्वता = आत्मीयता—अपनापन।

सा—अन्य दोषों की निवृत्ति (पूर्वार्ध में कथित।)

अधुना सर्वोत्कर्षशालिताप्रकटनार्थं स्वपरिश्रमं पिण्डीकृत्य श्लोकेन दर्शयितुमाह काव्यकाञ्चनेति।

अब अपनी सर्वोत्कृष्टता जतलाने के लिये अपने परिश्रम को इकट्ठा कर श्लोक द्वारा दिखलाने के लिये कहते हैं—

काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया ॥ २९ ॥

'अपने आपको काव्यरूपी सुवर्ण के लिए कसौटी मानने वाले कुन्तक ने अपने 'काव्यलक्षण' ग्रन्थ (वक्रोक्तिजीवित) में जिसे सब प्रकार से निर्दोष बतलाया था—वही यह श्लोक मैंने भी उपस्थित किया।

काव्यमेव परीक्षणीयत्वात् सुवर्णं तत्र परीक्षास्थानं निकषोपलमात्मानं मन्यते, न पुनरुक्तक्रमेण परमार्थतस्स निकषोपलः। अत एव कुन्तकेनेति ख्यातस्याप्युल्लुण्ठवचनम्। श्लोक एष इति। यः सर्वसारतया प्रदर्शितस्तत्रेयती दूषणवृष्टिर्मुक्ता। तत्रान्यस्य ग्रन्थस्य का गणनेति सूचितम्। निदर्शितः स्थालीपुलाकन्यायेनोदाहृतः।

अत्र श्लोके वक्ष्यमाणैतदीयन्यायानुसारेण कषेण नियमेन काञ्चनपदं पौनरुक्त्यदोषदुष्टम्। निजकाव्यलक्षणोंतात्यत्र निजार्थस्य संरम्भास्पदत्वेन विधेयत्वात् समासकरणं विधेयाविमर्शदूषितं केचिदाचक्षते विचक्षणाः। तत्त्वनेनैव ग्रन्थकृता 'स्वकृतिस्वयन्त्रित' इत्यादिना दत्तोत्तरमेव। अस्य च विधेयाविमर्शस्यानन्तेतरप्रसिद्धलक्ष्यपातित्वेनास्माभिर्नाटकमीमांसायां साहित्यमीमासायां च तेषु तेषु स्थानेषु प्रपञ्चः प्रदर्शित इति ग्रन्थविस्तरभयादित एवोपरम्यते।

काव्य ही परीक्षणीय होने से सुवर्ण हुआ। उसके लिए परीक्षा का स्थान हुआ कसौटी का पत्थर, कुन्तक स्वयं को तद्रूप (कसौटीरूपी पत्थर रूप) मानता है, वस्तुतः उक्त ढंग से वह सच्चा निकषोपल नहीं है। इसीलिए—'कुन्तकेन', इस प्रकार प्रसिद्ध व्यक्ति को भी भर्त्सना की दृष्टि से नाम द्वारा बतलाया।

श्लोकस्य—जिसे सब प्रकार से सुन्दर कहकर उदाहरण रूप उपस्थित किया उसमें इतनी बड़ी दोषों की झड़ी लगाई। तब और (शेष)—ग्रन्थ की तो बात ही क्या।

निदर्शितः—स्थालीपुलाकन्याय से दिखलाया (जैसे अंदाज के लिए बटलोई का एक कण टटोला जाता है—वैसे एक अंश देखा)।

'इस श्लोक में इन्हीं के आगे बतलाये नियम के अनुसार 'कष' कहते ही नियमतः कांचन की प्रतीति हो जाती है अतः कांचन पद पौनरुक्त्य दोष से युक्त है। निज काव्य-लक्षण में निजपदार्थ पर कवि का संरंभ है। अतः वह विधेय है। इसलिए उसके साथ किया समास विधेयाविमर्श दोष से युक्त है।' ऐसा कुछ बुद्धिमान् लोग कहते हैं किन्तु उन्हें तो स्वयं ग्रन्थकार ने 'स्वकृतिस्वयन्त्रितः०' इस प्रकार पहले ही उत्तर दे दिया है। यह विधेयाविमर्श दोष दूसरे अनेक पद्यों में आता है। उसे हमने नाटकमीमांसा और साहित्यमीमांसा में स्थान-स्थान पर विस्तारपूर्वक दिखलाया है इसलिए ग्रन्थ के विस्तार के भय से हम इसे यदि छोड़ते हैं।

विमर्श : राजानक कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ में 'संरम्भः करिकीट०' पद्य पर इस प्रकार विवेचन किया है—

'अत्र करिणां 'कीट'—व्यपदेशेन तिरस्कारः, तोयदानां च शकलशब्दाभिधानेनानादरः। 'सर्वस्य' इति यस्य कस्यचित् तुच्छतरप्रायस्येत्यवहेला, जातेश्च मात्रशब्दविशिष्टत्वेनावलेपः। हेवाकस्य लेशशब्दाभिधानेनाल्पताप्रतिपत्तिरित्येते विवक्षितार्थैकवाचकत्वं द्योतयन्ति। घटाबन्धशब्दश्च प्रस्तुतमहत्त्वप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तत्वात्तन्निबन्धनतां प्रतिपद्यते।'

अर्थात् यहाँ (इस श्लोक में) 'कीट' कहने से हाथियों का तिरस्कार दिखलाया गया, और 'शकल'शब्द कहकर मेघों का अनादर। 'सर्वस्य' अर्थात् हर किसी—अत्यंत तुच्छ का भी (उद्योग) इस प्रकार अवहेलना (बतलाई गई)। 'जातिमात्र' इस प्रकार 'जाति' शब्द के साथ मात्र शब्द देने से—(अम्बिकाकेसरी का) अभिमान व्यक्त होता है। लेश शब्द के कथन से हेवाक में अल्पता की प्रतीति होती है। इस प्रकार ये (शब्द) एकमात्र विवक्षित अर्थ को कह सकने का सामर्थ्य सिद्ध करते हैं। और 'घटाबन्ध' शब्द प्रस्तुत (मेघ और अम्बिका

केसरी) के महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए अपनाया गया है, अतः भलीभाँति उसका कारण बन रहा है। [वक्रोक्तिजीवित, दिल्लीसंस्करण उदाहरण सं० २८]

इस प्रकार वक्रोक्तिजीवितकार ने इस पद्य के शब्दविन्यास पर आंशिक प्रकाश डाला था। उन्होंने इसकी सर्वनिरवद्यता बिलकुल नहीं बतलाई। यह महिमाचार्य की ही महिमा है। महिमभट्ट ने जो श्लोक दिया है उससे वक्रोक्तिजीवित में दिया श्लोक भिन्न है। वक्रोक्तिजीवित में 'नियतो' की जगह 'विहितो' है और 'असंरब्धवान्' की जगह 'असंरम्भवान्'। संभव है कुन्तक ने कोई दूसरा भी ग्रन्थ इस विषय पर लिखा हो।

'काव्यकांचन०' पद्य में कुछ दोष व्याख्यानकार ने दिखलाए हैं, कुछ दोष इस प्रकार समझे जा सकते हैं—

१. काव्यलक्ष्मणि = के बजाय काव्यलक्षणे और २. 'निदर्शितः' की जगह 'समीक्षितः' पाठ करने पर अन्त का लघु गुरु हो जाता है और निदर्शितः की जगह समीक्षितः अधिक साफ अर्थ देता है। यदि 'दृश्' धातु पर ही आग्रह हो तो इस प्रकार पाठ करना चाहिए—'यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता पद्यमेतदुपदर्शितं मया।' इसमें भवभूतिके 'अन्तर्व्यापृतविद्युदम्बुद इव द्यामभ्युदस्थादरिः' के समान नादसौन्दर्य भी आ जाता है।

२ प्रक्रमभेद

एवं विधेयाविमर्शं प्रकारवैचित्र्येण लक्षयित्वा प्रक्रमभेदं लक्षयितुमाह-प्रक्रमभेदोऽपीति।
इस प्रकार कई प्रकार से विधेयाविमर्श को बतलाकर अब प्रक्रमभेद को बतलाते हैं—

प्रक्रमभेदोऽपि शब्दानौचित्यमेव। स हि यथाप्रक्रममेकरसप्रवृत्तायाः प्रतिपत्तृप्रतीतेरुत्खात इव परिस्खलनखेददायी रसभङ्गाय पर्यवस्यति। किञ्च सर्वत्रैव शब्दार्थव्यवहारे विद्वद्भिरपि लौकिकक्रमोऽनुसर्त्तव्यः। लोकश्च मा भूद्रसास्वादप्रतीतेः परिम्लानतेति यथाप्रक्रममेवैनमाद्रियते नान्यथा।

प्रक्रमभेद भी शब्द का ही अनौचित्य (दोष) है। वह रसभङ्ग का कारण बनता है (कारण कि) वह उपक्रम के अनुसार एक रूप से बढ़ती जा रही ज्ञाता की ज्ञानधारा को गिराकर गड्ढे के समान दुःख देता है। और शब्द और अर्थ का जो व्यवहार है उसमें सभी जगह विद्वानों को लोकसंमत-क्रम को ही मानना चाहिये। और लोक की यह प्रवृत्ति है कि वह रसास्वाद की प्रतीति फीकी न पड़े इसलिये उपक्रम के अनुसार होने पर ही इसे (शब्दार्थ-व्यवहार को) आदर देता है, नहीं तो नहीं।

प्रतिपत्तृप्रतीतेरिति **रथस्थानीया प्रतिपत्तृप्रतीतिः**। उत्खातो **विषमोन्नतः प्रदेशः**। एनमिति **शब्दार्थव्यवहारम्**।

प्रतिपत्तृ—प्रतिपत्ता = (ज्ञाता) की प्रतीति (= ज्ञान धारा।) हुई रथ-स्थानीय।
उत्खात—नीची-ऊँची जगह।
एनम्—शब्दार्थ-व्यवहार को।

स चायमनन्तप्रकारः सम्भवति। प्रकृतिप्रत्ययपर्यायादीनां तद्विषयभावाभिमतानामानन्त्यात्।

तत्र प्रकृतिप्रक्रमभेदो यथा—

"सततमनभिभाषणं मया ते परिपणितं भवतीमनानयन्त्या।
गतधृतिरवलम्बितुं बतासूननलमनालपनादहं भवत्याः॥"

अत्र हि भाषतिलपत्योरुभयोरपि वचनार्थाविशेषेऽपि यदा भाषतिप्रयोगक्रमेण वस्तु वक्तुमुपक्रान्तं तदा तेनैव निर्वाहः कर्तुमुचितो नेतरेण। एवंविधस्य प्रक्रमाभेदाख्यस्य शब्दौचित्यस्य विध्यनुवादभावप्रकारत्वोपगमात् यथा—

"ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति।
रइकिरणाणुग्गहिआइ होन्ति कमलाइ कमलाइ॥"

यथा च—

"एमेअ जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाइ शशिबिम्बम्।
परमत्थविआरे उण चन्दो चन्दो विअ वराओ॥"

अत्र ह्युत्कर्षमात्रविवक्षया परिकल्पितभेदेऽप्येकस्मिन्नर्थे विधेयानुवाद्यविषयेण एकेनैवाभिधानेन विध्यनुवादभावो भणित इति प्रक्रमाभेदप्रकार एवायमिति मन्तव्यम्। केवलं पर्यायप्रक्रमभेदनिवृत्तये शशिबिम्बमित्यत्र चन्दमिणमिति पाठः परिणमयितव्यः।

और वह (प्रक्रमभेद) अनेक प्रकार का हो सकता है कारण कि प्रकृति, प्रत्यय, पर्याय आदि उसके क्षेत्र में आने वाले (तत्त्व) अनेक हैं। इनमें से प्रकृति-प्रक्रमभेद जैसे—

तुम उन्हें नहीं लाई, इसलिये अब तुमसे मेरा सदा के लिये सम्भाषण बन्द। मेरा धैर्य छूट चुका है, इसलिये मैं उनकी बोली सुने बिना जी नहीं सकता।

यहाँ 'भाष्' और 'लप्' दोनों क्रियाओं का बोलना अर्थ बराबर है, तब भी वाक्य का आरम्भ 'भाष्' क्रिया से किया गया इसलिये निर्वाह भी उसीसे करना उचित था, और किसी से नहीं। कारण कि ऐसी जो 'प्रक्रम का अभेद' कहा जाने वाला शब्दगत औचित्य है, वह भी—विध्यनुवादभाव के ही समान माना गया है। जैसे—

(गुण) गुण तब होते हैं जब वे सहृदयों द्वारा अपना लिये जाते हैं। कमल तब होते हैं जब वे रविकिरणों का अनुग्रह पा लेते हैं। और जैसे—

लोग उसके कपोलों की उपमा में शशिबिम्ब को ऐसे ही [उपमान रूप से] देते रहते हैं—सच बात तो यह है कि चन्द्र तो बेचारा चन्द्र ही है। (दोनों पद्यों की छाया व्याख्यान में देखिए)।

यहाँ केवल उत्कर्ष और अपकर्ष की विवक्षा के कारण एक ही शब्द का (दो बार) प्रयोग कर विध्यनुवादभाव स्वरूप बतलाया गया, इसके लिये अर्थ में भेद की कल्पना की, यद्यपि वह एक ही था। इसलिये इसे प्रक्रम के अभेद (न टूटने) का ही प्रकार मानना चाहिये। केवल पर्यायगत प्रक्रम में भेद आ गया है, उसे हटाने के लिये शशिबिम्ब की जगह 'चन्दमिण' यह पाठ कर लेना चाहिये।

तद्विषयभावः प्रक्रमभेदविषयत्वम् ।

अनभिभाषणं तत्कर्तृकभाषणाभावः । एवमनालपनं ज्ञेयम् । अनलमसमर्था ।

विध्यनुवादभावप्रकारतोपगमादिति प्रकारः सादृश्यम् । उपक्रान्तं ह्यनुवादस्थानीयम् । निर्वाहकं च विधेयप्रख्यम् । तत्र स्पष्टं विधेयानुवाद्यप्रकारमुदाहरति यथेति ।

'तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥'
'एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम् ।
परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराकः ॥'

उत्कर्षापकर्षमात्रेति कमलानामुत्कर्षविवक्षा । अत एवोदाहरणद्वयं दत्तम् । प्रक्रमाभेदप्रकार इति प्रकारोऽत्र विशेषः । पर्यायप्रक्रमेति । चन्द्रशब्दार्थस्य शशिशब्देन पर्यायान्तरनिर्देशो न युक्तो वक्ष्यमाणप्रक्रमभेदप्रसङ्गात् ।

तद्विषय—प्रक्रमभेदविषय । अनभिभाषणम् = उसके द्वारा किये जाने वाले भाषण (बोलने) का अभाव । इसी प्रकार अनपलपन समझ लेना चाहिये ।

अनलम् = असमर्थ ।

प्रकारः—सादृश्य । उपक्रान्त जो है वह अनुवाद स्थानीय है और निर्वाहक विधेय स्थानीय । इस प्रकार स्पष्ट रूप से विधेयानुवाद्य प्रकार उदाहरण देकर सिद्ध करते हैं । यथा—'तदा जायन्ते—इव वराकः ।'

उत्कर्षापकर्ष—कमलों के उत्कर्ष की विवक्षा । इसलिए दो उदाहरण दिये । प्रक्रमाभेदप्रकारः—इसमें प्रकार का अर्थ विशेष है ।

पर्यायप्रक्रम—चन्द्रशब्द के अर्थ के लिए शशिशब्द द्वारा दूसरे पर्याय का निर्देश करना ठीक नहीं, ऐसा करने से आगे बतलाए जाने वाले प्रक्रमभेद दोष की संभावना रहती है ।

विमर्श : सततम् = इत्यादि पद्य में वक्ता पुरुष है । श्रोता = उसकी भेजी दूती, जो उसकी प्रेयसी को नहीं लाई । उस पुरुष का कहना है कि मैं तुमसे नहीं बोलूँगा क्योंकि तुम प्यारी को बिना लाये चली आई, मैं प्यारी से बातचीत किये बिना क्षण भर नहीं जी सकता । इस प्रकार प्रकार 'अनलम्' यह पुरुष का विशेषण है । व्याख्यानकार ने उसे स्त्री का मान कर उसका अर्थ 'असमर्था' किया है । प्रक्रमा भेद गुण है और प्रक्रम भेद दोष । प्रक्रम भेद विध्यनुवाद भाव मूलक होता है, इसलिये वह विधेयाविमर्श का ही एक प्रकार साबित होता है, परन्तु जहाँ तक दोष का सम्बन्ध है वह विधेय के अविमर्श से अधिक प्रक्रम के भेद पर निर्भर है । अतः ग्रन्थाकार ऐसी जगह विधेया विमर्श न मानकर प्रक्रम भेद ही मानना ठीक समझते हैं । उदाहरणार्थ—'कमल कमल तब होते हैं जब वे रविकिरणों के द्वारा अनुगृहीत होते हैं'—इसमें एक ओर प्रथम कमल उद्देश्य है, दूसरा विधेय और दूसरी ओर रविकिरणों के अनुग्रह का जिसमें विधान करना था उसे (प्रथम) कमल शब्द से (उद्दिष्ट किया) कहा गया इसलिए अनुग्रह प्राप्त होने पर उसे पुनः (द्वितीय) कमल शब्द से ही कहा । इससे जिस ढंग से आरंभ किया था अंत भी उसी ढंग से हुआ । भवन्ति कमलानि पद्मानि कहने पर वह एकता की प्रतीति न होती और ऐसा लगता जैसे कमल रविकिरण का अनुग्रह या कुछ और ही हो गया अभिन्नता की प्रतीति देर से होती । इतने पर भी उद्देश्यविधेयभाव में कोई भी कमी न आती । कमल उद्देश्य और पद्म विधेय बन जाता । इसलिए दोष का आधार प्रक्रम का भेद ही हुआ । अतः प्रक्रम भेद को दोष मानना ठीक है—उसे विधेयाविमर्श के भीतर डालना ठीक नहीं । व्याख्यानकार ने—'प्रक्रमाभेदाख्यस्य

शब्दौचित्यस्य विध्यनुवादभावप्रकारतोपगमात्' में प्रकार शब्द का अर्थ सादृश्य किया है। हमारे विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार गुण रूप में प्रक्रमाभेद और विधेया विमर्श को अभिन्न मानते हैं, दोष रूप में भिन्न। अतः प्रकार का अर्थ अवान्तर भेद मानना भी अनुचित नहीं है।

यथा—

"एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत।" इति।

तेन प्रत्यवोचत इति अत्र पाठो युक्तः।

यथा च—

"नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तं गते हन्त निशापि याता।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति॥" इति।

अत्र हि 'गता निशापी'ति युक्तः पाठः।

न चैवं शब्दपुनरुक्तिदोषप्रसङ्गः-यथान्ये मन्यन्ते 'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' (वामनस्य का० सू० ५।१।१) इति, तयोर्भिन्नविषयत्वात्। यथोद्देशं हि प्रतिनिर्देशोऽस्य विषयः। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावाभावविषयस्तु शब्दपुनरुक्तिदोष इति कुतस्तस्य प्रसङ्गः।

"व्रजतः क तात ! वजसीति परिचयगतार्थमस्फुटम्।
धैर्यमभिनदुदितं शिशुना जननीनिभर्त्सनविवृद्धमन्युना॥"

इत्यत्र शिशुना व्रजतिरेव प्रयुक्तो न वजतिः, तत्रैव परिचयगतार्थत्वास्फुटत्वधैर्यभेदत्वसम्भवात्। केवलं शक्तिवैकल्याद्रेफोऽऽनेन नोच्चारित इति प्रत्युदाहरणमेतत्।

और जैसे—

'मंत्रियों द्वारा इस प्रकार कहा गया रावण बोला।' यहाँ प्रत्यवोचत (कहने लगा) पाठ करना चाहिए। और जैसे—

'विधिवशात्—जब रात्रि का स्वामी अस्ताचल को चला गया तो वह भी चल बसी। कुल-बालाओं की दशा के अनुरूप इससे अच्छा और कुछ नहीं।'

यहाँ निशा भी 'गता' = (चली गई), यही पाठ चाहिये।

ऐसा करने पर पुनरुक्ति दोष की शंका भी नहीं उठती—जैसा कि दूसरे लोग (वामन) मानते हैं—'प्रायः एक शब्द दो बार नहीं कहा जाना चाहिए, कारण कि—दोनों के विषय भिन्न होते हैं। इस (प्रक्रमाभेद) का विषय है—आरम्भ में जिस प्रकार की उक्ति हो अन्त में भी उसी प्रकार की उक्ति होना। शब्दपुनरुक्ति दोष वहाँ होता है जहाँ 'उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभाव' नहीं रहता, इसलिए उसकी यहाँ संभावना ही कैसी ?

'माँ के डाँटने से अधिक चिढ़े बच्चे ने 'तात क वजसि'—'हे तात कहाँ जा रहे हो'—इस प्रकार (बच्चे की बोली में रेफ आदि के न रहने पर भी उन्हें सुनने का) अभ्यास होने से जिसका अर्थ समझा जा सकता था और जो वस्तुतः साफ उच्चारित न था ऐसा जो कहा, उससे जाने वाले का धैर्य छूट गया।'

['जननीनिर्भर्त्सनविवृद्धमन्युना परिचयगतार्थम् अस्फुटम् 'तात क व्रजसि—इति उदितं व्रजतः धैर्यम् अभिनत्' इत्यन्वयः]।'

यहाँ शिशु ने व्रज धातु का ही प्रयोग किया था, वज धातु का नहीं, कारण कि परिचय होने से अर्थ समझ में आने की बात उसी (व्रज) से बन सकती है और उससे अर्थ की (उसी के रेफ का उच्चारण न करने से) अस्फुटता तथा धैर्य छूटने की बात भी। यहाँ सिर्फ (रेफ के उच्चारण की) शक्ति न होने से इस (शिशु) ने रेफ न बोला—इतने से ही यह पद्य (प्रक्रमाभेद का) प्रत्युदाहरण हो गया (अर्थात् इसमें प्रक्रमभेद नहीं हुआ)।

न चैवमिति तेनैव शब्देनोपसंहार इत्यर्थः।

तयोरिति **प्रक्रमाभेदपुनरुक्तयोः।** अस्येति **प्रक्रमाभेदस्य परामर्शः। तत्र हि यथोद्देशं प्रतिनिर्देशेन पौनरुक्त्यम्, ऐकरस्येन प्रतीतिप्रसरणात्। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावो न पौनरुक्त्यस्य विषयः। यथा—**

'क्षामाङ्ग्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्बाष्पाम्बुधौताननाः'। इति।

अत्र गलच्छब्दद्वयं निर्दिष्टं यथोद्देशं प्रतिनिर्देशोऽस्य विषय इति समञ्जसम्।

न चैवम्—उसी सब्द से उपसंहार करना।

तयोः—अर्थात् प्रक्रमाभेद और पुनरुक्त का।

अस्य—इससे प्रक्रमाभेद का परामर्श किया। प्रक्रमाभेद में उद्देश्य के अनुसार ही प्रतिनिर्देश करने से पुनरुक्तता आती है ऐसा करने से प्रतीतिधारा एकरस बहती चलती है। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभाव में (शब्द) पुनरुक्ति दोष नहीं होती जैसे—

क्षामाङ्ग्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्बाष्पाम्बुधौताननाः

यहाँ 'गलत्' शब्द दो बार प्रयुक्त किया गया है, इसका अभिप्राय उद्देश्य के अनुसार प्रतिनिर्देश करना है। अतः ठीक है।

विमर्श : प्रस्तुत पद्य, ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश में भी आया है। दोनों जगह इसका पाठ भिन्न है।

ध्वन्यालोक	काव्यप्रकाश	व्यक्तिविवेकव्याख्यान
१. क्रामन्त्यः…वलद्रक्तैः	१. क्रामन्त्यः…गलद्रक्तैः	१. क्षामाङ्ग्यः-गल०
२. पतद्बाष्पाम्बु	२. गलद्बाष्पाम्बु०	२. गलद्बाष्पाम्बु

साहित्यदर्पण, वक्रोक्तिजीवित और स्वयं व्यक्तिविवेक मूल में यह पद्य नहीं है। काव्यप्रकाश की टीका काव्यप्रदीप में भी वही पाठ है जो काव्यप्रकाश में और उदाहरणचन्द्रिका में भी वही। 'क्रामन्त्यः' पाठ अर्थ की दृष्टि से उचित है। क्षामाङ्ग्यः पाठ में 'क्षामाङ्ग्यः' कर्त्ता बनता है और स्थली कर्म। क्रिया का अभाव रहता है। 'क्षामाङ्ग्यः' पाठ वस्तुतः भ्रान्तिपूर्ण है। व्याख्यानकार को केवल इतना ही बतलाना था कि इस पद्य में आरम्भ में गलत् शब्द दिया गया है उसी प्रकार अन्त में भी गलत् शब्द। यहाँ आरम्भ और अन्त दोनों में अभिन्नता दिखलाना अभीष्ट होने से एक ही 'गलत्' के दो बार प्रयोग होने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं हुआ।

ननु 'व्रजतः क्व तात! वजसी'त्यत्र व्रजिना प्रक्रमे वजिना च निर्वाहे कथं न प्रक्रमभेदः (यतो हि) वजतिरपि धातुरस्ति, 'वज व्रज गता'विति पाठाद् इत्याशङ्क्योक्तं व्रजत इति। उदितं शिशु नेति **उदितमित्यस्य विशेषणम्** परिचयगतार्थमिति अस्फुटमिति **च। भावे चात्र प्रत्ययः।**

कार्यार्थं पथि गच्छतः पश्चान्नामोदीरणं विरुद्धमिति शिशुना ललितवचसा नामन्युदीरिते जनन्यास्य भर्त्सनं कृतमिति ततोऽस्य मन्युर्विवृद्ध इत्यत्र तात्पर्यार्थः।

शंका—बतलाइये कि 'व्रजतः क्व तात वजसि' यहाँ आरम्भ में है 'व्रज' धातु और अन्त में 'वज', इसलिये यहाँ प्रक्रम भेद क्यों न माना जाय ? यह शंका इसलिये की गई है कि व्रज के समान जाने अर्थ में 'वज' धातु भी है। धातु पाठ में 'वज व्रज गतौ' ऐसा पाठ मिलता है।

व्रजतः परिचयगतार्थम्—यह शब्द 'उदितं शिशुना' में आये उदित शब्द का विशेषण है और 'अस्फुटम्' यह भी। यहाँ जो प्रत्यय हुआ है वह भाव में है।

यहाँ यह भाव है—किसी काम से रास्ते में जा रहे व्यक्ति का पीछे से नाम पुकारना (अथवा 'कहाँ जा रहे हो' ऐसा पूछना—आचार) विरुद्ध होता है। इसलिये शिशु ने आड़ में जब नाम ले दिया (या पूछ दिया) तो माँ ने उसे डाँटा। उससे इस (बच्चे) का क्रोध और बढ़ गया।

एवं धातुरूपायाः प्रकृतेः प्रक्रमभेदं प्रदर्श्य सम्प्रति प्रातिपदिकरूपायास्तस्या मध्ये च सर्वनामादीनां प्रकारवैचित्र्येण तं दर्शयति सर्वनामेति।

इस प्रकार धातुरूप प्रकृति का प्रक्रमभेद दिखला कर अब प्रातिपदिकरूप प्रकृति का और उसके बीच सर्वनाम आदि का प्रक्रमभेद भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखलाते हैं।

सर्वनामप्रक्रमभेदो यथा—

"ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः॥"

अत्र हि भगवन्तं शूलिनं प्रक्रान्तमिदमा परामृश्य तेनैवोक्तरीत्या तत्परामर्शः कर्तुं युक्तो न तदा तयोर्देवदत्तयज्ञदत्तशब्दयोरिव भिन्नार्थत्वात्। न चासौ कृत इति सर्वनामप्रक्रमभेदः।

न चैवं यत्तदोरिदमेतददसां चाभिन्नार्थत्वेऽप्येतद्दोषविषयत्वप्रसङ्गः। तेषामुक्तप्रकारेण स्वभावतोऽन्योन्यापेक्षसम्बन्धोपपादनात्। तेनेदमादिभिस्त्रिभिस्तस्य परामर्शो, न तदेति स्थितम्।

सर्वनाम का प्रक्रम भेद जैसे—

'हिमालय से जाने की अनुज्ञा लेकर फिर से शंकर जी के दर्शन कर और उन्हें कार्य सिद्धि की सूचना दे—उनके द्वारा विसर्जित किये गये वे (सप्तर्षि)—आकाश में उड़ गये।' (कुमार सम्भव ६।९४)

यहाँ भगवान् शंकर प्रकरण प्राप्त है। उनका इदम् (अस्मै) द्वारा निर्देश कर पुनः उसीसे (इदम् ही से) परामर्श करना उचित था, जैसा कि पहले बतलाला गया है, न कि तद् शब्द द्वारा, क्योंकि उन (इदम् तद्) दोनों के अर्थों में उतना भेद है जितना देवदत्त और यज्ञदत्त के अर्थों में। ऐसा किया नहीं गया, अतः सर्वनाम का प्रक्रम टूट गया।

ऐसा करने पर यह बात नहीं है कि—अभिन्नार्थक इदम् एतद् अदस् शब्दों में भी यह दोष होने लगे, कारण कि जैसा पहले बतलाया जा चुका है—वे (इदम् एतद् और अदस्) स्वभावतः एक दूसरे में सापेक्ष सम्बन्धों का प्रतिपादन करते हैं। इसलिये 'उसका (शिव का) परामर्श इदम् आदि तीनों में किसी एक के द्वारा करना चाहिये। तद् के द्वारा नहीं' यही बात स्थिर रही।

स्तकेषु प्रकृतिप्रक्रमभेदादनन्तरं प्रत्ययप्रक्रमभेदोदाहरणं तत्पश्चात् सर्व-
गो दृश्यते। तत्र च प्रकृतेरनन्तरं प्रत्ययस्यैव निर्देश उचित इति स
ङ्गतिः। ततः परं प्रकृतिविशेषाणां प्रत्ययविशेषाणां तत्समुदायानां च
र्शयिष्यते।

'यस्त्वेकवाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभिरि'त्यत्रोक्तेन क्रमेणेत्यर्थः।
म्भे तच्छब्देनेदमादिभिर्वा कथमुपसंहार इत्याह न चैवमिति। अन्योन्यापेक्षे
ाभिसम्बन्ध इत्युक्तम्। एवं तच्छब्दाद् दूरविप्रकृष्टार्थेष्विदमादिषु प्रागुक्ते
याद‍ौ ज्ञेयम्। तेनेति प्रकृतोपसंहारः। इदमादीनां परस्परावान्तरवैचित्र्ये-
कार्थत्वम्।

कों में प्रकृतिप्रक्रमभेद के बाद प्रत्ययप्रक्रमभेद का उदाहरण मिलता है—
यक्रमभेद का निर्देश दिखाई देता है। उस पाठ में इस प्रकार संगति लगानी
े बाद प्रत्यय का ही निर्देश करना उचित है। उसके बाद विशेष प्रकार की
के प्रत्यय और उनके समुदाय का प्रक्रम भेद दिखलाया जायगा।

र्थात् 'यस्त्वेकवाक्ये कर्तृत्वे०' इत्यादि जो कहा गया है—उसी रीति से।
: से जहाँ आरम्भ हो वहाँ तद् पद के द्वारा या इदम् आदि द्वारा उपसंहार
? इस पर उत्तर देते हैं न चैवम्—इत्यादि। क्योंकि यद् और तद् का नित्य
के कहा जा चुका है। इसी प्रकार तद् शब्द से दूर या विप्रकृष्ट अर्थों में प्रयुक्त
नित्य सम्बन्ध होता है जो कि 'योऽविकल्प' इत्यादि में दिखलाया गया।

ा उपसंहार करते हैं। इदम् आदि में परस्पर में अवान्तर भेद है, तब भी मोटे
ही होते हैं।

ाद्यो यथा—

ता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतेरवाप्यते।
लोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथाः शरीरिणाम्॥" इति।
कुत एव तु सानुरोदना'दिति युक्तः पाठः।

भेद यथा—
स (इन्दुमती) के पीछे मर कर भी आप उसे नहीं पा सकते। जो शरीर धारी
हैं, उनकी गति के पथ अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं।'
तु सानुरोदनात्' ऐसा पाठ करना ठीक है।

त्र हि कर्तृविशेषणद्वारेणैकस्य हेतुत्वमपरस्य साक्षादिति प्रक्रमभेदः।
य (रुदता का शतृ) तो कर्ता का विशेषण बनाकर क्रिया में अन्वित होता
नुमृति का क्ति) साक्षात्। इसलिये यहाँ प्रक्रम भिन्न हुआ।

तुत पद्य रघुवंश ८।८५वाँ पद्य है। इसके द्वितीय चरण के तीन पाठ हैं—
क के अनुसार—अनुमृतेरवाप्यते।
ौर मल्लिनाथ के अनुसार—अनुमृतापि लभ्यते और
नुमृतेन लभ्यते।

कार्यार्थं पथि गच्छतः पश्चान्नामोदीरणं विरुद्धमिति शिशुना ललितवचसा नामन्युदीरिते जनन्यास्य भर्त्सनं कृतमिति ततोऽस्य मन्युर्विवृद्ध इत्यत्र तात्पर्यार्थः।

शंका—बतलाइये कि 'व्रजतः क तात वजसि' यहाँ आरम्भ में है 'व्रज' धातु और अन्त में 'वज', इसलिये यहाँ प्रक्रम भेद क्यों न माना जाय ? यह शंका इसलिये की गई है कि व्रज के समान जाने अर्थ में 'वज्' धातु भी है। धातु पाठ में 'वज व्रज गतौ' ऐसा पाठ मिलता है।

व्रजतः परिचयगतार्थम्—यह शब्द 'उदितं शिशुना' में आये उदित शब्द का विशेषण है और 'अस्फुटम्' यह भी। यहाँ जो प्रत्यय हुआ है वह भाव में है।

यहाँ यह भाव है—किसी काम से रास्ते में जा रहे व्यक्ति का पीछे से नाम पुकारना (अथवा 'कहाँ जा रहे हो' ऐसा पूछना—आचार) विरुद्ध होता है। इसलिये शिशु ने आड़ में जब नाम ले दिया (या पूछ दिया) तो माँ ने उसे डाँटा। उससे इस (बच्चे) का कोप और बढ़ गया।

एवं धातुरूपायाः प्रकृतेः प्रक्रमभेदं प्रदर्श्य सम्प्रति प्रातिपदिकरूपायास्तस्या मध्ये च सर्वनामादीनां प्रकारवैचित्र्येण तं दर्शयति सर्वनामेति।

इस प्रकार धातुरूप प्रकृति का प्रक्रमभेद दिखला कर अब प्रातिपदिकरूप प्रकृति का और उसके बीच सर्वनाम आदि का प्रक्रमभेद भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखलाते हैं।

सर्वनामप्रक्रमभेदो यथा—

"ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः॥"

अत्र हि भगवन्तं शूलिनं प्रक्रान्तमिदमा परामृश्य तेनैवोक्तरीत्या तत्परामर्शः कर्तुं युक्तो न तदा तयोर्देवदत्तयज्ञदत्तशब्दयोरिव भिन्नार्थत्वात्। न चासौ कृत इति सर्वनामप्रक्रमभेदः।

न चैवं यत्तदोरिदमेतददसां चाभिन्नार्थत्वेऽप्येतद्दोषविषयत्वप्रसङ्गः। तेषामुक्तप्रकारेण स्वभावतोऽन्योन्यापेक्षसम्बन्धोपपादनात्। तेनेदमादिभिस्त्रिभिस्तस्य परामर्शो, न तदेति स्थितम्।

सर्वनाम का प्रक्रम भेद जैसे—

'हिमालय से जाने की अनुज्ञा लेकर फिर से शंकर जी के दर्शन कर और उन्हें कार्य सिद्धि की सूचना दे—उनके द्वारा विसर्जित किये गये वे (सप्तर्षि)—आकाश में उड़ गये।' (कुमार सम्भव ६।९४)

यहाँ भगवान् शंकर प्रकरण प्राप्त है। उनका इदम् (अस्मै) द्वारा निर्देश कर पुनः उसीसे (इदम् ही से) परामर्श करना उचित था, जैसा कि पहले बतलाला गया है, न कि तद् शब्द द्वारा, क्योंकि उन (इदम् तद्) दोनों के अर्थों में उतना भेद है जितना देवदत्त और यज्ञदत्त के अर्थों में। ऐसा किया नहीं गया, अतः सर्वनाम का प्रक्रम टूट गया।

ऐसा करने पर यह बात नहीं है कि—अभिन्नार्थक इदम् एतद् अदस् शब्दों में भी यह दोष होने लगे, कारण कि जैसा पहले बतलाया जा चुका है—वे (इदम् एतद् और अदस्) स्वभावतः एक दूसरे में सापेक्ष सम्बन्धों का प्रतिपादन करते हैं। इसलिये 'उसका (शिव का) परामर्श इदम् आदि तीनों में किसी एक के द्वारा करना चाहिये। तद् के द्वारा नहीं' यही बात स्थिर रही।

क्वचित् पुनः पुस्तकेषु प्रकृतिप्रक्रमभेदादनन्तरं प्रत्ययप्रक्रमभेदोदाहरणं तत्पश्चात् सर्वनामप्रक्रमभेदनिर्देशो दृश्यते। तत्र च प्रकृतेरनन्तरं प्रत्ययस्यैव निर्देश उचित इति स एव कथित इति सङ्गतिः। ततः परं प्रकृतिविशेषाणां प्रत्ययविशेषाणां तत्समुदायानां च तत्प्रक्रमभेदो निरूपयिष्यते।

उक्तरीत्येति। 'यस्त्वेकवाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभिरि'त्यत्रोक्तेन क्रमेणेत्यर्थः। ननु यच्छब्देन प्रक्रमे तच्छब्देनेदमादिभिर्वा कथमुपसंहार इत्याह न चैवमिति। अन्योन्यापेक्षे इति। यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्ध इत्युक्तम्। एवं तच्छब्दाद् दूरविप्रकृष्टार्थेष्विदमादिषु प्रागुक्ते 'योऽविकल्पम्' इत्यादौ ज्ञेयम्। तेनेति प्रकृतोपसंहारः। इदमादीनां परस्परावान्तरवैचित्र्येऽपि स्थूलदृष्ट्या एकार्थत्वम्।

कहीं कहीं पुस्तकों में प्रकृतिप्रक्रमभेद के बाद प्रत्ययप्रक्रमभेद का उदाहरण मिलता है—उसके बाद सर्वनामप्रक्रमभेद का निर्देश दिखाई देता है। उस पाठ में इस प्रकार संगति लगानी चाहिये कि प्रकृति के बाद प्रत्यय का ही निर्देश करना उचित है। उसके बाद विशेष प्रकार की प्रकृति विशेष प्रकार के प्रत्यय और उनके समुदाय का प्रक्रम भेद दिखलाया जायगा।

उक्तरीत्या—अर्थात् 'यस्त्वेकवाक्ये कर्तृत्वे०' इत्यादि जो कहा गया है—उसी रीति से।

शंका = यद् पद से जहाँ आरम्भ हो वहाँ तद् पद के द्वारा या इदम् आदि द्वारा उप कैसे किया जाता है? इस पर उत्तर देते हैं, न चैवम्—इत्यादि। क्योंकि यद् और तद् क सम्बन्ध है ऐसा पहले कहा जा चुका है। इसी प्रकार तद् शब्द से दूर या विप्रकृष्ट अर्थ इदम् आदि में भी नित्य सम्बन्ध होता है जो कि 'योऽविकल्प' इत्यादि में दिख

तेन—प्रकृत का उपसंहार करते हैं। इदम् आदि में परस्पर में अवान् तौर से वे एकार्थक ही होते हैं।

प्रत्ययप्रक्रमभेदो यथा—

"रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतेर
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथाः शरी

अत्र हि 'कुत एव तु सानुरोदना'दिति युक्तः पाठः।

प्रत्यय प्रक्रम भेद यथा—

'रोकर क्या उस (इन्दुमती) के पीछे मर कर भी आप उसे नहीं पा सक परलोक चले जाते हैं, उनकी गति के पथ अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भि

यहाँ 'कुत एव तु सानुरोदनात्' ऐसा पाठ करना ठीक है।

अत्र हीति **अत्र हि कर्तृविशेषणद्वारेणैकस्य हेतुत्वमपरस्**

यहाँ एक प्रत्यय (रुदता का शतृ) तो कर्ता का विशेषण है और दूसरा (अनुमृति का क्ति) साक्षात्। इसलिये यहाँ प्रक्रम।

विमर्श: प्रस्तुत पद्य रघुवंश ८।८५वाँ पद्य है। इसके द्वितीय चरण

१. व्यक्तिविवेक के अनुसार—अनुमृतेरवाप्यते।

२. हेमाद्रि और मल्लिनाथ के अनुसार—अनुमृतापि लभ्यते और

३. एक—अनुमृतेन लभ्यते।

एक चौथा पाठ और है जो वल्लभदेव ने अपनाया है—

रुदितेन न सा निवर्तते नृप ! तत्तावदनर्थकं तव ।
न भवाननुसंस्थितोऽपि तां लभते कर्मवशा हि देहिनः ॥

उक्त पाठों में 'अनुमृता' की दो व्याख्यायें हैं । एक अनुम्रियत इति अनुमृत्—क्विप् , तेन,—अनुमृतवता इत्यर्थः । यह अर्थ मल्लिनाथ और हेमाद्रि दोनों ने अपनाया है। हमारी दृष्टि से—'अन्वम्रियत' इति अनुमृत्' तेन—अनुमृता —अनुमृतवता—इत्यर्थः ऐसी व्याख्या उचित प्रतीत होती है । अनुम्रियते इस वर्तमान काल से अनुमृत् बनाकर उसे भूतार्थ निष्ठाप्रत्यय से युक्त 'अनुमृतवत्' इस प्रकार गढ़ना ठीक नहीं । हेमाद्रि ने—अनुमृतं यस्याः सेति प्रथमान्तो वा' इस प्रकार अनुमृता शब्द को टाबन्त स्त्रीलिंग प्रथमा का एकवचन भी बतलाया है । 'अनुमृतेन' पाठ में और मल्लिनाथ के अर्थ में प्रक्रमभेद नहीं होता । उसमें दोनों प्रत्यय कर्त्ता के विशेषण बनकर क्रिया में अन्वित होते हैं । यद्यपि अनुमृता को स्त्रीलिंग मानने पर भी उसका प्रत्यय क्रिया में साक्षात् अन्वित नहीं होता, तथापि उसमें प्रक्रमभेद दूर नहीं होता कारण कि प्रथम रुदता का शतृ प्रत्यय कर्त्राश्रित है—और द्वितीय अनुमृत का टाप् प्रत्यय कर्माश्रित (जो कर्मवाच्य में कर्त्तारूप से प्रयुक्त है) इसलिये आरम्भ में जैसा प्रत्यय दिया गया अन्त में वह—वैसा नहीं रहा, अतः प्रक्रमभेद दोष होने लगता है । 'अनुमृतेः' पाठ में भी वही स्थिति है । अनुमृति—क्रिया में साक्षात् अन्वित होती है, रुदता—में रोदन कर्त्ता के माध्यम से । अतः दोनों प्रत्यय एक प्रकार के नहीं रहे फलतः प्रक्रमभेद हुआ ।

यथा च—

"यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥"

इदं चापरमत्र प्रक्रमभेदानुषङ्गि दोषान्तरमप्याविर्भवति, योऽयं विकल्पार्थवृत्तेर्वाशब्दस्य समुच्चयार्थस्येव चशब्दस्याविषय एव प्रयोग इति वक्ष्यते । तेन 'यशोऽधिगन्तुं सुखमीहितुं वे'ति युक्तः पाठः ।

और जैसे—

यश को पाने के लिये, सुख पाने की इच्छा से या मनुष्य-गणना को पार करने के लिये उत्कंठाशून्य होकर अनवरत कार्य करने वालों की गोद में लक्ष्मी समुत्सुक होकर चली आती है ।—यहाँ ।

यहाँ एक और दोष प्रक्रमभेद के साथ चला आया, जो यह विकल्पार्थक 'वा' शब्द का समुच्चयार्थक च शब्द के समान बेमौके प्रयोग किया गया—इस पर आगे विवेचन करेंगे । इसलिये 'यशोऽधिगन्तुं सुखमीहितुं वा' (अर्थात् यश पाने के लिये या सुख चाहने के लिये) यह पाठ चाहिए (अर्थात् तुमुन् प्रत्यय का ही प्रयोग आगे भी होना चाहिए) ।

यशोधिगन्तुमिति अत्र हि तृतीयातुमुनोः प्रतीतिवैषम्यजनकत्वम् ।
वाशब्दस्येति । वक्ष्यति हि 'तुल्यकक्ष्यतया यत्र पदार्थाः' इति ।
यशोऽधिगन्तुम्—यहाँ तृतीया और तुमुन् ज्ञानधारा में भेद डाल देते हैं ।
वा शब्दस्य—जैसा कि कहेंगे—'जहाँ पदार्थ बराबरी के साथ माने जायँ इत्यादि ।

"पृथ्वि ! स्थिरा भव भुजङ्गम ! धारयैनां
त्वं कूर्मराज ! तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुञ्जराः ! कुरुत तत्रितये दिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥"

इत्यत्र पृथ्व्यादिविषयः प्रैषलक्षणोऽर्थः कविना वक्तुं प्रक्रान्तः। तस्य प्रत्ययभेदेऽपि निर्व्यूढत्वात् प्रैषार्थानां पदानामुद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावेनोपादानं न कृतमिति नैतादृशः प्रत्ययप्रक्रमभेददोषस्य विषयोऽवगन्तव्यः।

'हे पृथिवी तुम स्थिर हो जाओ। हे सर्पराज—तुम इसे सँभाले रहो। हे कूर्मराज तुम इन दोनों को सँभालो। हे—दिग्गजों—तुम लोग इन तीनों को सँभालने में लगे रहो, महाराज राम शिवधनुप पर प्रत्यंचा (डोरी) चढ़ा रहे हैं।'

कवि ने यहाँ पृथिवी आदि के विषय में आज्ञा रूप पदार्थ का विधान शुरू किया। वह प्रत्यय बदल जाने पर भी निवह गया, कारण कि आज्ञार्थक पदों का उपादान उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य-भाव से नहीं किया। इसलिये ऐसे स्थल प्रत्यय प्रक्रमभेद दोष के अन्तर्गत नहीं माने जाते।

पर्यायप्रक्रमभेदो यथा—

"महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥"

इत्यत्र हि पुत्रापत्यशब्दावेव पर्यायत्वात् प्रक्रमभेदविषयौ, न पुष्पचूतशब्दौ, तयोः सामान्यविशेषवचनत्वादित्यपत्यवतोऽपीति युक्तः पाठः।

पर्याय प्रक्रमभेद—जैसे—पुत्र होते हुए भी पर्वतरात हिमाचल की दृष्टि उस अपत्य (शिशु) से छकती न थी। भौंरों की पाँत—वसन्त में अनगिनती फूल होते हैं, तो भी आम पर अधिक दौड़ती है।' यहाँ—पुत्र और अपत्य (शिशु) शब्द ही, क्रमभेद के विषय हैं, कारण कि वे एक दूसरे के पर्याय हैं। पुष्प और चूत (आम) शब्दों में यह बात नहीं है, कारण कि वे सामान्यविशेष-वाची हैं। इसलिये 'अपत्यवतोऽपि' यह पाठ चाहिये।

अपत्यवतोऽपीति युक्तः पाठ **इति**। अत्र केचित् **समर्थयन्ते—'(पितरो हि पुत्रीषु) विशेषतः स्निह्यन्तो दृश्यन्ते, तत् पुत्रशब्दस्यापत्यविशेषवाचित्वे अपत्यशब्दस्य च सामान्यवाचित्वेऽपि सर्वनामवशाद् विशेषपर्यवसाने भवत्येव प्रकृतार्थपरितोष' इति।** तदेत**दस्य ग्रन्थकारस्य हृदयमनालोक्यैव, यस्माद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेनात्र वाक्यार्थद्वयमुपनिबद्धम्। तत्र च द्वयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्देशो युज्यते। दृष्टान्ते चात्र सामान्योपक्रमः, विशेषोपसंहारः, पुष्पशब्दस्य सामान्यवाचित्वाच्चूतशब्दस्य विशेषाभिधायकत्वात्। विशेषस्य चोत्कृष्टतयैवातृप्तिविषयकत्वम्। दार्ष्टान्तिके तु विशेषोपक्रमः सामान्योपसंहारः। सर्वनामवशाद् वा विशेषान्तरनिर्देशो न्याय्यः। स्थितपाठे पुत्रशब्दस्य विशेषवाचित्वम् अपत्यशब्दस्य सामान्यवाचिनो विशेषपर्यवसानम्। यदा त्वपत्यवतोऽपीति पाठस्तदास्य सामान्योपक्रमो विशेषोपसंहारः। द्वितीयस्यापत्यशब्दस्य सर्वनामसम्बन्धेन विशेषपर्यवसानाद्, यथैकीयमते 'तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबले'त्यत्र। अपिशब्दस्यार्थसङ्गतिश्चेदस्यैव भ्राजते। यस्य नैवापत्यसम्बन्धस्तस्य मा भूत् कन्यायामेकस्यामतृप्तिः यस्य त्वनेकापत्ययोगस्तस्य कथमेकस्मिन्नपत्ये स्निग्धत्वमिति विस्मयः, एतदर्थं एव अपिशब्दो जीवति।**

अतृप्तिकारणत्वं च कन्यायाः परसमर्पणीयत्वेन। गुणगौरवेण च स्नेहपात्रता। एतदर्थमस्याश्चूतेन प्रतिबिम्बनम् तदित्थमपत्यवतोऽपीत्येष एव पाठः श्रेयान्।

अपत्यवतोऽपीति—इस पर कुछ लोग (इस प्रकार) समर्थन करते दिखाई देते हैं 'कि (पिता का पुत्री पर) विशेष स्नेह रहता है इसलिए यद्यपि पुत्र शब्द सन्तति विशेष का वाचक है और अपत्यशब्द सन्तति-सामान्य का, तब भी (तस्मिन् अपत्ये इस प्रकार) सर्वनाम के कारण वह भी विशेष में ही आ जाता है। अतः प्रकृत बात बन जाती है।' सो यह सब ग्रन्थकार का आशय न समझने का फल है। क्योंकि यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक रूप से दो वाक्यार्थों का उपयोग किया गया है। उन दोनों का निर्देश विम्बप्रतिविम्बभाव से ही हो सकता है। यहाँ दृष्टान्त में पहले सामान्य कहा गया है अन्त में विशेष। कारण कि पुष्प-शब्द सामान्यवाची है और चूतशब्द विशेषवाची और विशेष में अतृप्ति दिखलाकर उत्कृष्टता दिखलाई है। दार्ष्टान्तिक में आरम्भ विशेष से हुआ और अन्त सामान्य से। अथवा सर्वनाम के कारण दूसरा भी विशेष कहा जा सकता है। (तब भी दोनों विशेष ही रहते हैं) जैसा पाठ है उसके अनुसार पुत्र शब्द विशेषवाची है और अपत्य शब्द सामान्यवाची होते हुए भी अन्त में विशेषवाची हो जाता है। जब 'अपत्यवतः' पाठ कर लिया जाता है तब इसका आरम्भ सामान्य से होता है और उपसंहार विशेष से। द्वितीय अपत्यशब्द सर्वनाम के कारण विशेषवाची हो जाता है। जैसे एक किसी के मत में—'तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबला'—इस (मेघदूत १।२) पद्य में। और अपि शब्द के अर्थ की संगति भी इसी प्रकार सुहाती है। जिसको पुत्र न हो उसे भले ही एक कन्या में अतृप्ति (अधिक स्नेह) हो, किन्तु जिसकी अनेक सन्तान हैं—उसे कैसे एक सन्तान पर अधिक स्नेह होता है—यह एक आश्चर्य की बात है इसी आश्चर्य की अभिव्यक्ति में ही अपि शब्द यहाँ सार्थक है। कन्या में अतृप्ति का कारण है—दूसरे को समर्पित करना, और गुण अधिक होने से स्नेह-पात्रता (कन्या में आती है।) इसलिये आम (पुष्प) को इस (कन्या) का प्रतिबिम्ब बनाया। इस प्रकार (जैसा कि ग्रन्थकार ने बतलाया है) 'अपत्यवतोऽपि' यही पाठ ठीक है।

यथा च—

"उदन्वच्छिन्ना भूः स च निधिरपां योजनशतम्" इति।

अत्र हि 'मिता भूः पत्यापां स च पतिरपां योजनशतम्' इति युक्तः पाठः। एवञ्च छिदिक्रियाकर्त्तुरुदन्वत उक्तनयेन विधेयतया प्राधान्यात् समासानुपपत्तिदोषोऽपि परिहृतो भवति।

और जैसे—

'पृथिवी समुद्र से सीमित है, वह समुद्र भी सौ योजन तक ही'—यहाँ। यहाँ 'मिता भूः त्यायां स च पतिरपां योजनशतम्'—अर्थात् पृथिवी समुद्र से सीमित है और समुद्र भी सौ योजन का है'—यह पाठ ठीक है। ऐसा करने से छिदि (परिच्छेदन) क्रिया का कर्त्ता समुद्र कथित प्रकार से विधेय है,—अतः प्रधान है (इसलिये समास पर जो आपत्ति आती वह दूर हो जाती है।

समासानुपपत्तीति। **अधिकं न तु तद्धानिरिति न्यायेन गुणान्तरलाभ इत्यर्थः।**

समासानुपपत्ति—'एक चीज और अच्छी बन पड़ती है और मूलहानि होती नहीं, इस प्रकार एक गुण और चला आता है।

यथा वा—

"वरं कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुणः पुमान्।
प्रकृत्या ह्यमणिः श्रेयान् नालङ्कारश्च्युतोपलः॥"

एवं—

"खमिव जलं जलमिव खं हंस इव शशी शशीव कलहंसः।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि॥"

इत्यादावपि द्रष्टव्यम्।

और जैसे—

गुणों को अपनाकर छोड़नेवाले की अपेक्षा एकदम गुणहीन आदमी अच्छा। आभूषण, विना मणि का अच्छा, किन्तु एकबार मणियुक्त बनकर उसका पत्थररहित होना ठीक नहीं।'

और इसी प्रकार—

'आकाश के समान जल और जल के समान आकाश है। हंस के समान शशी है और शशी के समान कलहंस। कुमुद जैसे तारे हैं और तारे जैसे कुमुद।' इत्यादि में भी देखना चाहिये।

वरं कृतेति। कृताः शिक्षिताः सन्तो ध्वस्ता नष्टा गुणा यस्य। अमणिरविद्यमानमणिरलङ्कारः। उपलशब्देनात्र मणिरेव विवक्षितः। तन्नात्र मणिशब्दः प्रयुक्त इति पर्यायप्रक्रमभेदत्वम्। खमिवेति। हंसश्चन्द्र इव चन्द्र इव हंस इति युक्तः पाठः।

कृत अर्थात् सीखे जाकर ध्वस्त अर्थात् नष्ट हुए हों गुण जिसके।

अमणिः—अर्थात् ऐसा अलंकार जिसमें मणि न हो।

उपल शब्द से यहाँ मणि ही विवक्षित है, पर मणि शब्द का प्रयोग नहीं किया, इसलिये पर्यायप्रक्रमभेद हुआ।

खमिव—हंस चन्द्र के समान और चन्द्र हंस के समान यह पाठ चाहिये।

विभक्तिप्रक्रमभेदो यथा—

"धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनस्स तेषु न स्थानमवाप शोकः॥"

न चायं समुच्चयस्य विषयः। स हि तुल्यकक्ष्यत्वादभिन्नविभक्तिकानेकार्थविषयो वेदितव्यः यदुक्तम्—

"तुल्यकक्ष्यतया यत्र पदार्थाः स्युर्विवक्षिताः।
समुच्चयो विकल्पो वा तत्रेष्टौ दुष्टतान्यथा॥" इति।

न चात्र तथाविधोऽर्थस्समस्तीति समुच्चयार्थयोश्चशब्दयोरपि प्रयोगोऽनुपपन्नः। तेनात्र 'तीव्रेण विद्वेषिभुवागसा च' 'विद्वत्सु वीर्यं तनये मघोन' इति पाठौ विपरिणमयितव्यौ।

विभक्ति प्रक्रमभेद, जैसे—

(अपना) धैर्य, महर्षि की विश्वसनीयता, शत्रु-जनित तीव्र उद्वेग और अर्जुन की शक्ति जानने वाले उन (पाण्डवों) में शोक नहीं समाया।'

और यहाँ समुच्चय नहीं किया जाना चाहिये। वह वहाँ होता है जहाँ पदार्थ बराबरी के होते हैं, उनमें एक ही विभक्ति होती है और परस्पर में भिन्नता, जैसा कि कहा है—'जहाँ पदार्थ बराबरी में विवक्षित हों वहीं समुच्चय या विकल्प माने जाते हैं। नहीं तो वह दोष होता है। यहाँ वैसी कोई बात नहीं है। इसलिये समुच्चयार्थक दो 'च' शब्दों का प्रयोग भी अयुक्तिक है। इसलिये यहाँ—तीव्रेण विद्धे षिभुवागसा च विद्वत्सु वीर्यं तनये मघोनः' पाठ बना लेना चाहिये।

[यहाँ शोक न समाने में जो हेतु दिये हैं उनमें से धैर्य और विश्वास्यता में तृतीया है और मन्यु में पंचमी। इस प्रकार विभक्ति का निर्वाह ठीक नहीं हो सका]।

मघोन **इन्द्रस्य** सुतेऽर्जुने। वीर्यञ्च विद्वत्स्विति। **वीर्यवेदनञ्चेत्येव हेतुत्वेन विवक्षितम्।**

समुच्चयो विकल्पो वेति। **विकल्पो यशोऽधिगन्तुमित्यत्रोदाहृतः समुच्चयस्य त्विदं वीर्यञ्चेत्युदाहरणम्। 'विद्वत्सु वीर्यं तनये' इति पाठे न वेदनं हेतुत्वेन विवक्षितम् अपि तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादनपरत्वेनेत्ययं मन्यते। एवञ्च विद्वत्स्विति विशेषणस्य नैरर्थक्यमापद्यत इति नानेन विचारितम्।**

मघोनः = इन्द्र के सुत अर्जुन पर।

वीर्यञ्चेति = वीर्य का ज्ञान भी हेतुरूप से अपनाया गया है।

समुच्चयो विकल्पो—विकल्प 'यशोऽधिगन्तुं' में बतलाया गया। समुच्चय का विषय यह ('वीर्यं च' है)। 'विद्वत्सु वीर्यं तनये' इस पाठ में वेदन (जानना) हेतुरूप से प्रयुक्त नहीं है अपितु वस्तु स्वरूप प्रतिपादन मात्र के लिये प्रयुक्त है—ऐसा ग्रन्थकार मानते हैं। पर ऐसा करने पर 'विद्वत्सु' इस विशेषण की निरर्थकता चली आती है। यह इन्होंने नहीं विचारा।

विमर्श: १. 'वीर्येण सूनोः सुरनायकस्य'—पाठ होने पर भी बात बन जाती है। इसलिये 'विद्वत्सु वीर्यम्' में 'विद्वत्सु' शब्द व्यर्थ है।

२. समुच्चय और विकल्प वहाँ होते भी हैं जहाँ अनेक पदार्थ समकक्ष हों। जैसे—'राम, कृष्ण, जयदेव और देवराज' अथवा—'राम, कृष्ण, जयदेव या देवराज। यहाँ राम, कृष्ण आदि समकक्ष (एक विभक्ति वाले) और भिन्नार्थक हैं, अतः उनका 'और' शब्द के द्वारा समुच्चय भी सम्भव है तथा 'या' शब्द के द्वारा विकल्प भी। प्रस्तुत पद्य में 'च' द्वारा जिनका समुच्चय किया जा रहा है वे भिन्न विभक्ति वाले हैं धैर्य आदि। अतः समुच्चय नहीं होना चाहिये।

"बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः।
उपान्तभागेषु च रोचनाङ्कः सिंहाजिनस्यैव दुकूलभावः॥"

अत्रापि 'मृगेन्द्रचर्मैव दुकूलमस्ये'ति युक्तः पाठः। अस्मिंश्च पाठे रोचनाङ्कत्वस्य द्रव्यधर्मत्वाद् दुकूलभावविशेषणत्वानुपपत्तिपरिहाराद् गुणान्तरलाभः।

'भस्म ही सफेद और सुगन्धित अङ्गराग बन गया, कपाल ही उज्ज्वल शिरोभूषण की शोभा और बाघम्बर ही आसपास रोचना से बने हंसादि चिह्नों से युक्त दुकूल बन गया।'

(इसलिये) यहाँ 'मृगेन्द्रचर्मैव दुकूलमस्य' पाठ होना चाहिये। इस पाठ में एक लाभ और है—कि रोचनाङ्कता दुकूलभाव का विशेषण बनने से बच जाती है, कारण कि रोचनाङ्कता गुण है और दुकूलभाव भी गुण है। गुण द्रव्य का ही विशेषण बन सकता है, गुण का नहीं।

दुकूल भाव इति। सामानाधिकरण्येनोपक्रमे वैयधिकरण्येन प्रतिनिर्देशः प्रक्रमभेदावहः अत्र चतुर्थे पादे 'कपालमेवामलशेखरश्रीरि'त्यत्र कपालानां बहुत्वे वाच्ये यदेकत्ववचनम् अमलशेखरश्रीरित्यत्र च शेखरमात्रे धर्मिणि वक्तव्ये यच्छेखरश्रीरिति धर्मवचनं तदनुपपन्नमवगन्तव्यम्। एवञ्चोक्तेषु वक्ष्यमाणेषु चोदाहरणेषु सम्भवन्नपि विचारो ग्रन्थविस्तरभयान्न निरवशेषतया कृत इति तत्रैवाभियोगः कर्त्तव्यः।

यहाँ चौथे चरण में प्रक्रमभेद है। उसका कारण है—आरम्भ में [भस्म सिताङ्गरागः,—'कपालम् अमलशेखरश्रीः' इस प्रकार] सामानाधिकरण और अन्त में [गजाजिनस्य दुकूलभावः इस प्रकार] वैयधिकरण्य। कपाल बहुत हैं अतः कपाल ही अमल शेखर की शोभा' यहाँ कपाल में बहुत्व संख्या होनी थी, उसकी जगह एकवचन और 'अमलशेखरश्रीः' में केवल धर्मी शेखर ही को कहना था सो 'शेखरश्रीः' इस प्रकार जो (श्रीरूपी) धर्म का कथन हुआ वह गड़बड़ है। इसी प्रकार बीते हुये और आने वाले सभी उदाहरणों में विचार हो सकता हैं, तब भी ग्रन्थ गौरव के भय से पूरी तरह उसका विचार नहीं किया, अतः जितना विचार किया उतने पर ही ध्यान देना ठीक है।

विमर्श : शिरःकपाल एक ही होना चाहिये जो मुकुट बन सके, कपाल माला तो ग्रैवेयक बन सकती है शिरोभूषण नहीं। अतः व्याख्यानकार का कपाल में बहुत्व-प्रतिपादन असंगत है।

उपसर्गप्रक्रमभेदो यथा—

"विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः॥" इति।
तेन 'तदुपेतं विजहाति चायति'रिति युक्तः पाठः।

उपसर्ग का प्रक्रम भेद यथा—

उद्योगहीन को विपत्तियाँ दबोच देती हैं और आपत्ति से युक्त को भविष्य या भाग्य छोड़ देता है। भाग्य या भविष्यहीन का ह्रास होना निश्चित है और जो महान् नहीं होता वह नृपश्री का पात्र नहीं बन सकता।

यहाँ (आरम्भ में कहा गया विपद् और अन्त में आपत्) अतः सर्वनाम प्रक्रम भिन्न हो गया। 'तदुपेतं विजहाति चायतिः'—[और उससे युक्त को भविष्य छोड़ देता है] पाठ चाहिये।

तदुपेतमिति। **स्वशब्देन सर्वनाम्ना वा निर्देशस्तुल्यफल इति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।**

स्ववाचक शब्द से कहा जाय या सर्वनाम द्वारा दोनों से प्रतीति में भेद नहीं होता—ऐसा आगे प्रतिपादित करने वाले हैं।

वचनप्रक्रमभेदो यथा—

"काचित् कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-
रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः।
भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत् कम्पमानाः
प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः॥"

अत्र हि 'काश्चित् कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभाः' इति युक्तः पाठः।

वचनप्रक्रमभेद यथा—

किसी का मुखचन्द्र फीका पड़ा हुआ था, उसने पराग से द्यौ (आकाश) को हटाकर अपने जैसा बना दिया [अर्थात्—पराग से रजस्वला बना दिया और चन्द्ररूपी मुख को फीका) कुछ दिशाओं के समान श्रीविहीन थीं, उनके सत्व (मन और प्राण) बुरी तरह डोल रहे थे, और उनमें भीतर आग सी जल रही थी, कुछ पद पद पर वात्या के समान घूम रही थी कुछ जमीन की तरह काँप रही थीं, इस प्रकार राजाओं के प्रस्थान काल में आगे होने वाले अशिव (अमंगल) की सूचना उन नारियों ने (पहले ही) दे दी। यहाँ—'काश्चित् कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्द-वक्त्रेन्दुशोभाः'—ऐसा पाठ ठीक होता।

विमर्श : काश्चित्, अन्याः, अपराः इस प्रकार बाद के तीन शब्द बहुवचनान्त हैं, अतः उनमें मिला हुआ प्रथम शब्द भी बहुवचनान्त ही होना चाहिये। इसलिये यह पाठ बतलाया गया है। वस्तुतः आरम्भिक पद के अनुसार अन्तिम पद बदले जाने चाहिये। प्रक्रमाभेद में आरम्भ का अनुवर्त्तन किया जाता है। उसी का अनुवर्त्तन न होने में प्रक्रम भेद दोष होता है। अतः ग्रन्थकार ने जो पाठ बदला है वह सौकर्य की दृष्टि से, न कि दोष की मौलिकता के आधार पर। ठीक भी है। प्रक्रमगत भेद को दूर करना दोनों प्रकार से सम्भव है आरम्भ को अन्त के अनुसार बदलने से या अन्त को आरम्भ के अनुसार। परन्तु दोष तो आरम्भ के अनुसार अन्त न होने से होता है। अतः दोष कारणों का सम्बन्ध बाद के चरणों से ही मानना चाहिये।

यथा च—

'अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन' इति।

अत्र ह्येकवचनेन भगवतीमेकां सम्बोध्य प्रसादसम्बन्धितया यस्तस्या बहुत्वनिर्देशः स वचनप्रक्रमभेदो दोषः। तेनात्र भवतीप्रसादेनेति युक्तः पाठः।

और जैसे—

हे भगवती, आपके प्रसाद से मेरा मनोवाञ्छित फल पूर्ण हो।

यहाँ भगवती एक है। उसका निर्देश एकवचन के साथ ही हुआ फिर प्रसाद के साथ उसमें (युष्मत्-इस प्रकार) बहुवचन जोड़ दिया गया। उससे वचन प्रक्रम टूट गया। वह दोष हुआ। इसलिये 'भवतीप्रसादेन' पाठ चाहिये।

भगवति युष्मत्प्रसादेने**ति। अनेन न्यायेन 'पश्यत मातः' इति वार्त्तिके धर्मकीर्त्तेः प्रयोगः प्रत्युक्तः।**

इस प्रकार—वार्त्तिक में धर्म कीर्ति ने जो 'पश्यत मातः' प्रयोग किया है उसका निराकरण भी हो जाता है।

तिङन्तप्रक्रमभेदो यथा अत्रैव 'अपरा भूमिवत् कम्पमाना' इति। अत्र हि कम्पमापुरित्युचितः पाठः। एकस्याः क्रियायाः प्राधान्याभावादित्युक्तम्।

तिङन्तप्रक्रम भेद यथा—यहीं 'अपरा भूमिवत् कम्पमानाः' में—यहाँ 'कम्पमापुः' पाठ चाहिये। कारण कि यहाँ कोई एक क्रिया तो प्रधान है नहीं, जैसा कि कहा जा चुका है।

प्राधान्याभावादित्युक्तमि**ति। 'यत्रैककर्तृकानेका प्राधान्येतरभाक् क्रिया' इत्यत्र।**

प्राधान्य—यत्रैककर्तृकानेका प्राधान्येतरभाक् क्रिया इत्यादि द्वारा।

कालविशेषप्रक्रमभेदो यथा—

"सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि
जक्षुर्बिसान्धृतविकासिबिसप्रसूनाः।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्व-
दोषप्रवादममृजन्नगनिम्नगानाम्" ॥

अत्र हि स्नानादौ यः कालविशेषः प्रक्रान्तः स नेजनादौ भेदं नीत इति प्रक्रमभेदो दोषः। तेन

"सस्नुः पयांसि पपुरम्बरमानिनेजु-
र्जक्षुर्बिसान् धृतविकासिबिसप्रसूनाः।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्व-
दोषं वनेषु सरितां प्रसभं ममार्जुः ॥" इति युक्तः पाठः।

कालविशेष के प्रक्रम का भेद—जैसे—

पर्वतीय नदियों का एक अपयश था—कहा जाता था कि उनमें दोष है कि वे काम में न आने से निरर्थक है। सैनिकों ने उसे मिटा दिया। उन्होंने उनमें स्नान किया। पानी पिया। कपड़े धोए। कमलककड़ी खाई। खिले कमलों के आभूषण पहने।' यहाँ स्नान आदि में जो [सस्नुः इत्यादि द्वारा लिट्‌लकार = परोक्षभूतकाल शुरू किया उसे नेजन (धोना) आदि (अनिनेजुः—इस प्रकार अनद्यतन भूतलकार] में बदल दिया। अतः प्रक्रमभेद दोष हुआ। इसलिये इस प्रकार का पाठ चाहिये—सस्नुः पयांसि पपुरम्बरमानिनेजुः—इत्यादि [पूर्ण पद्य मूल में]।

विमर्श : अनिनेजुः = अपाणिनीय है। पाणिनि के अनुसार 'अनेनेक्' अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः, रूप चलते हैं।

अनेनिजुरक्षालयन्। जक्षुरखादन्। बिसप्रसूनं पद्मम्।

नेजनादाविति लिटा भूतानद्यतनपरोक्षप्रक्रमे अनेनिजुरिति तु भूतानद्यतनेन निर्वाहः। तथा 'धृतविकासी'त्यत्र भूतमात्रे क्तप्रत्यय इत्यत्रापि कालप्रक्रमभेदः। तत्रोपरि तिङन्तप्रक्रमभेदो द्वितीयोऽत्र स्थितः। एवञ्चेहादिग्रहणेन धृतविकासीति गृह्यते 'विकचमस्य दधुः प्रसूनमि'ति। अनेनिजुरित्यत्र समाधानं न कृतम् प्रकारान्तरेण समर्थयिष्यमाणत्वात्।

अनेनिजुः—धोया। जक्षुः—खाया। बिसप्रसून—कमल।

नेजनादावितिलिटा—[सस्नुः इस प्रकार]। लिट् लकार द्वारा परोक्षभूत में आरम्भ किया—अनेनिजुः इस प्रकार (लुङ्द्वारा) अनद्यतनभूत से समाप्त किया। इसी प्रकार 'धृतविकासि०' इसमें भी भूतार्थ में प्रत्यय का प्रयोग है। अतः यहाँ भी कालप्रक्रम का भेद है। तिस पर भी यहाँ—दूसरा तिङन्त प्रक्रम भेद है। इस प्रकार [स्नानादौ में जो आदि शब्द ग्रन्थकार ने दिया है—उस] आदि शब्द से 'धृतविकासि०' यही ग्रहण किया जाना चाहिये। (इसका समाधान है) 'विकचमस्य दधुः प्रसूनम्'। अनेनिजुः में समाधान नहीं किया, कारण कि उसका समर्थन दूसरे प्रकार से किया जाने वाला है।

यदि वेत्य.दिनामुं प्रक्रमभेदं निराकरोति।

यदि वा—इत्यादि ग्रन्थ से इस प्रक्रमभेद का निराकरण करते हैं।

यदि वा दोषोऽयमनुद्भावनीय एव। कालविशेषस्य विवक्षामात्रभावितयाऽनवस्थितत्वात्। यदाहुः—

'परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये दर्शनयोग्यत्वात् परोक्षस्याविवक्षायां लङ् भवत्येव। अजयज्जयन्तो भूतानि' इति। सतोऽपि चासतो वापि चाविवक्षा भवति यथा—'अनुदरा कन्ये'ति।

अथवा यह (कालप्रक्रम दोष) दोष नहीं माना जाना चाहिये। क्योंकि काल में विशेषता विवक्षामात्र से होती है, अतः उसका कोई निश्चय नहीं रहता। जैसा कि (भाष्यकार पतञ्जलि ने) कहा है, 'जिसे लोक में परोक्ष माना जाता है या जिस परोक्ष पदार्थ को लोक जानता है यदि प्रयोगकर्त्ता उसे देख सकता हो तो वह परोक्ष प्रयोगकर्त्ता के दर्शन योग्य होने से—विवक्षित नहीं होता, तब अनद्यतनभूत (लङ्) का ही प्रयोग कर दिया जाता है। जैसे—जयन्त ने भूतों को जीता।' इसके अलावा परोक्षतर या दर्शनाविषयता होने पर और न होने पर भी अविवक्षा होती है जैसे—अनुदरा कन्या—'उस कुआँरी लड़की को कमर नहीं है।

अजयदिति अत्र परोक्षोऽपि जयो दर्शनार्हत्वात् परोक्षत्वेन न विवक्षित इति लिट्प्रयोगो न कृतः।

विद्यमानस्याविवक्षायां दृष्टान्तमाह अनुदरा कन्येति। नहि कस्याश्चित् कन्याया उदराभावः, कृशत्वात् पुनः सोऽपि विवक्ष्यते। एवञ्च—

"अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते॥" इत्यादेः
"तात ! त्वं निजतेजसैव गमितः स्वर्गं यदि स्वस्ति ते
किन्त्वन्येन हृता वधूरिति कथां मा सख्युरग्रे कृथाः।
रामोऽहं यदि राघवस्तदखिलं व्रीडानमत्कन्धरं
सार्धं बन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः॥"

इत्यादेश्च महतः काव्यप्रवाहस्य न किञ्चिद् दुष्टत्वम्।

'अजयद्' यहाँ परोक्ष जय को भी दर्शनयोग्य होने से परोक्षरूप से नहीं माना, इसलिये लिट्लकार का प्रयोग नहीं किया।

विद्यमान वस्तु की भी अविवक्षा होती है—इसका उदाहरण दिया—'अनुदरा कन्या' ऐसी कोई कन्या नहीं होती जिसको कमर न हो, पर कृश होने से ऐसा भी कहा जाता है। इसीलिये

'दिति को सूर्य के समान पुत्र हुआ (अभूत) जिस पर शत्रुओं से उत्पन्न भय का कोई प्रभाव नहीं होता था। इन्द्र के इन्द्रशब्द को मिटाने वाले जिसे कशिपु शब्द से पुकारते थे, जिसके पहले हिरण्य शब्द लगा रहता था—इत्यादि और—

हे तात (जटायो) यदि तुम अपने ही पराक्रम से स्वर्ग सिधार गये तो ठीक है, तुम्हारा कल्याण हो, किन्तु अपने मित्र (दशरथ जी) के आगे तुम यह घटना न कहना कि (पुत्र) वधू को दूसरा कोई उठा ले गया। यदि मैं रघुवंश का बालक राम हूँ तो उस सारी घटना को अपने समस्त बन्धुओं और इन्द्रजीत मेघनाद के साथ लज्जा से गरदन झुकाए हुए स्वयं रावण ही वहाँ कहेगा—इत्यादि विपुल काव्य सन्दर्भ में कोई दोष नहीं।

विमर्श : यही आशय रामचरित मानस से गोसाईंजी द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

सीताहरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहि दसानन जाइ॥ [अरण्य का० दो० ३१]

अर्थस्य तदतद्भावो विवक्षामात्रतो भवेत्।
यत्र, प्रक्रमभेदोऽयं न तत्रोद्भाव्यते बुधैः॥ ३०॥
यथा विशेषकालस्य, शीलादिप्रत्ययेषु च।
कर्तुश्च फलवत्तायां, तेन ते नोपदर्शिताः॥ ३१॥

इति सङ्ग्रहश्लोकौ।

अर्थ का सद्भाव या अभाव जहाँ विवक्षामात्र पर निर्भर है—वहाँ विद्वान् लोग कालप्रक्रमभेद नहीं समझते। जैसे—कालगत विशेषताओं का या उन शील अर्थ में हुए प्रत्ययों का जिनका फल कर्तृगामी होता है। इसलिये वे (कालविशेष आदि प्रक्रमभेद के प्रसंग में) नहीं दिखलाए गए।

अर्थस्येति तद्भावोऽर्थस्त्वं सत्ता अतद्भाव असत्त्वम्। यत्रेति पूर्वार्धशेषः।

यथेति। न प्रक्रमभेद इत्यन्वयः। तत्र कालविशेषो दर्शितः। यथा भूतस्य भाविनश्च कालस्याद्यतनानद्यतनत्वे परोक्षापरोक्षत्वे च वैवक्षिके एवेति। ते शीलादयोऽर्थाः आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु' (३-२-१३४) इत्यत्र ·निर्दिष्टाः। तेषां च वैवक्षिके सत्त्वासत्त्वे। एवञ्च कचित्ताच्छीलिकादिप्रत्ययप्रयोगेऽप्यन्यत्र तदकरणमदुष्टम्। यथा—

"जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत॥"

इत्यत्रागृध्नुरिति ताच्छील्याद्यर्थप्रत्ययप्रयोगेऽप्यत्रस्त इत्यत्रात्रस्नुरित्यकरणेऽपि न दुष्टत्वम् अत्रस्नुरिति वा निर्देशे अगृध्नुरिति निर्दोषमेव।

कर्तुः फलवत्ता कर्त्रभिप्रायत्वम्। तदपि वैवक्षिकमेव। एवञ्च 'दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता' इत्यत्र यदि कर्त्रभिप्रायत्वं क्रियाफलस्य, तदा ददातीति परस्मैपदप्रसङ्ग इति प्रक्रमभेदपर्यनुयोगो निरवकाश एव। एवमन्यत्र बोद्धव्यम्। तेन ते इति। ते कालविशेषादयः तेन विवक्षाप्रयुक्तत्वेन कारणेन न दर्शिता इत्यर्थः।

अर्थ का तद्भाव—सत्ता और अतद्भाव असत्त्व।

यत्र—यह पूर्वार्ध का अंश है। यथा—(कालविशेष और कर्तृगामिफल के शीलादि प्रत्ययों का—इस द्वितीय पद्य के वाक्यांश में) प्रक्रमभेद नहीं माना जाता (इतना वाक्यांश मिला लेना चाहिए) इनमें से काल विशेष दिखला दिया गया अर्थात् यह बतला दिया गया कि भूत और और भविष्यत् काल की उपासना, अद्यतनता, अनद्यतनता तथा परोक्षता या अपरोक्षता सब विवक्षा पर निर्भर हैं। शीलादि 'अर्थ' आक्वेस्तच्छील० (३।२।१३४)—इस सूत्र में बतला दिये गये हैं। उनका न होना भी विवक्षाधीन है। इसलिये यदि कहीं ताच्छील्य में प्रत्यय प्रयुक्त हो तब भी कहीं उसका अभाव दोषावह नहीं। जैसे :—

विना डरे अपनी रक्षा की। विना विपत्ति से कातर हुए धर्मपालन किया। विना लालची हुए अर्थ लिया और विना आसक्त हुए सुख भोगा। यहाँ अगृध्नु में प्रत्यय ताच्छील्यार्थक है। इतने पर भी त्रस्त की जगह 'अत्रस्नु' न करने में भी कोई दोष नहीं। 'अत्रस्नु' ऐसा प्रयोग करने पर तो अगृध्नु निर्दोष है ही।

कर्तुःफलवत्ता—कर्त्रभिप्रायता। वह भी विवक्षाश्रित है। इस प्रकार—'देखने पर आँख नीचे

कर लेती है, बोलने पर उत्तर नहीं देती।' इत्यादि में क्रिया का फल कर्त्ता (नायिका) पर आश्रित है; इस स्थिति में ददाति इस प्रकार परस्मैपदी का प्रयोग है। पर यहाँ प्रक्रमभेद दोष नहीं होता। इसी प्रकार अन्य पद्यों में देखा समझा जा सकता है।

तेन ते इति—ते (वे) अर्थात् कालविशेष आदि। तेन=विवक्षाधीनता के कारण नहीं दिखलाए।

कारकशक्तिप्रक्रमभेदो यथा—

'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विस्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥' इति।

अत्र हि 'कुर्वन्त्वस्तभियो वराहततयो मुस्ताक्षतिम्' इत्युपपन्नः पाठः।

कारक शक्ति का प्रक्रमभेद—यथा—

जंगली भैंसे गड्ढों का पानी सींग से पीटें और उसमें लोटें, हिरने झुंड बनाकर छाया में बैठें और जुगाली करें, वाराह पंक्तियाँ द्वारा बेधड़क तलैयों के नागरमोथा काटे जाएँ, और हमारा यह धनुष भी डोरी का बंध ढीला होने से आराम करे।'

यहाँ—'निर्भीक वाराह पंक्ति मोथा कूँचें, पाठ चाहिए।

गाहन्तामिति। **अत्र कर्तुराख्यातेनाभिधानं कर्मणश्चानभिधानं प्रक्रान्तं विस्रब्धैरित्यन्यथा कृतमिति कारकप्रक्रमभेदः।**

गाहन्ताम्=यहाँ आरंभ में कर्त्ता तो आख्यात द्वारा कहा गया है, किन्तु कर्म नहीं कहा गया। उसे 'विस्रब्धैः' इत्यादि द्वारा बिगाड़ दिया, इसलिये यह कारकगत प्रक्रमभेद हुआ।

यथा च—

"कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं च न ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते॥"

अत्रापि 'न च तेऽहं कृतवत्यसम्मतम्' इति। यथा च—

"सजलजलधरं नभो विरेजे विह्रतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम्।
व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने जलगुरुभिः स्तनितैर्दिगन्तरेषु॥"

और जैसे—

तुमने मेरे लिये कोई भी अप्रिय काम नहीं किया। न मेरे द्वारा ही कोई तुम्हारा प्रतिकूल कार्य हुआ। तो बिना कारण ही तुम रो रही रति को दर्शन क्यों नहीं देते।'

यहाँ भी 'मैंने भी तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं किया' पाठ चाहिये।

और जैसे—

पानी भरे मेघों से आकाश सुहावना हो गया। बिजली की बेलें और अधिक डोलने लगीं। जल के कारण काफी भारी और मिलन की फिसादों को मिटाने वाले मेघशब्दों द्वारा चारों ओर दिशाओं में फैल जाया गया।'

विहृतिं विहरणं भङ्गिभाजनत्वमित्यर्थः। विवृतिमिति पाठे विस्तरशालित्वमित्यर्थः। रतौ विग्रहो विरोधः स्तनितैर्व्यवहितस्तत्प्रसादाद्विरोधस्य कर्तुमशक्यत्वात्। वितेने इति भावे प्रत्ययः। स्तनितानि विततीभूतानीत्यर्थः।

विहृति = विहार करना अर्थात् अनेक भंगिमाओं से युक्त होना। 'विवृति'—पाठ में विस्तार युक्त होना। रति में विग्रह अर्थात् विरोध मेघशब्दों ने दूर कर दिया, उनकी कृपा से रति करना सम्भव नहीं।

वितेने = यह भाव में प्रत्यय है अर्थात् मेघशब्द फैल गये।

शाब्दः प्रक्रमभेदो यथा—

"चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसङ्गमभूषः॥" इति।

अत्र हि 'तमपि वल्लभसङ्ग' इति युक्तः पाठः।

शब्दगत प्रक्रमभेद—जैसे—

'इन (बालाओं) के शरीरों को सुन्दरता ने—अलंकृत किया। उस (सुन्दरता) को पूर्ण यौवनागम ने। उस (यौवनागम) को कामकला ने। उस (कामकला) को मद (शराब आदि के नशे) ने जिसका अलंकार प्रिय का संग था।'—यहाँ—'उस (मद) को भी वल्लभ संग ने' पाठ चाहिए।

शाब्दः प्रक्रमभेद इति शब्दविषयत्वाच्छाब्दः। शाब्दप्रक्रमभेद इति तु प्रकृतिप्रक्रमभेदस्यानुक्रमेण ये पठन्ति तैः शाब्दश्चार्थश्चेत्युत्तरो ग्रन्थो नालोचित इत्युपेक्ष्यमेतत्।

सङ्गमभूषेति। अत्र बहुव्रीहावन्यपदार्थोपसर्जनेनार्थेन क्रमेणोपसंहृतमिति—भिद्यमानशब्दविषयत्वाच्छाब्दः प्रक्रमभेदः। एवमार्थः प्रक्रमभेद इत्यत्र प्रथमप्रक्रान्तभिद्यमानार्थविषयत्वादार्थ इति व्याख्येयम्।

शाब्दः—शब्द विषयक होने से शाब्द। जो लोग 'शाब्दप्रक्रमभेद' इस शब्द को प्रकृति प्रक्रमभेद आदि के समान उसी क्रम में लगाते हैं उन्होंने शाब्द और आर्थ इत्यादि आगे के ग्रन्थ पर ध्यान नहीं दिया। इसलिए यह उपेक्षणीय है।

सङ्गमभूष०—यहाँ बहुव्रीहि समास है। उसमें प्रधान है अन्य पदार्थ। इस वाक्य के उपसंहार में जो शब्द आया है उसका अर्थ (उस अन्य पदार्थ के प्रति) गुणीभूत है। गुणीभूत से उपसंहार किया अतः शब्द की विशेषता का प्रक्रम दूर हो जाने से शब्द प्रक्रमभेद दोष हुआ। इसी प्रकार अर्थ प्रक्रमभेद होता है। उसमें पहले कहे अर्थ से अन्त में कहा अर्थ भिन्न ढंग का होता है' ऐसी व्याख्या करनी चाहिये।

विमर्श: इससे विदित होता है कि व्यक्तिविवेक की और भी कोई टीका थी जिसे व्याख्याकार ने देखा था।

यथा च—

"सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि
जक्षुर्बिसान् धृतविकासिबिसप्रसूनाः।" इति।

अत्रापि 'जक्षुर्बिसं विकचमस्य दधुः प्रसूनम्' इति युक्तः पाठः। अस्मिंश्च पाठे बिसशब्दस्य पौनरुक्त्यदोषपरिहाराद् गुणान्तरलाभः।

और जैसे—

'सस्नुः पयः—धृतविकासिविसप्रसूनाः'—(अभी ३०१ पृष्ठ पर अनूदित) इसमें भी 'जग्धुर्बिसं विकचमस्य दधुः प्रसूनम्' पाठ चाहिये। इस पाठ में एक लाभ यह भी होता है कि बिस शब्द की पुनरुक्ति हट जाती है।

धृतविकासीति **पूर्वं कालप्रकरणेनोदाहृतम्, सम्प्रति शाब्दविषयत्वेनोदाह्रियते, तिङन्तगतत्वेनाप्यूहनीयम्।**

धृतविकासीति—इसे पहले कालप्रक्रमभेद के उदाहरण रूप से दिया था। अब शब्द प्रक्रमभेद के उदाहरण रूप में दे रहे हैं। तिङन्त प्रक्रमभेद भी इसमें समझ लेना चाहिये।

यथा च—

"समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा॥"

अत्र हि अनुयातिक्रियाकर्मभावो वरुणस्यार्थः प्रक्रान्त इति तत्रास्य तादृश एव हेतुरुपादातुं युक्तः। यस्त्वसन्नियमनलक्षणः शाब्दो हेतुरस्यान्येषामिवोपात्तः स प्रक्रमभेदो दोषः तस्याप्युक्तयुक्त्या रसभङ्गपर्यवसायित्वात्। तेनायमत्र पाठः पठितव्यः—'नियमयन्नसतः स नराधिप' इति। एवञ्च विभक्तिप्रक्रमभेदश्चशब्दश्चोक्तनयनिरस्तसमुच्चयविषयभावः क्रमभेददुष्टश्च परिहृतौ भवतः। एवमन्येऽप्यवगन्तव्याः।

और जैसे—

'समान रूप से वसु की वृष्टि और विसर्जन तथा असत्पुरुषों के नियंत्रण से उस राजा (दशरथ) ने वरुण सहित यम तथा कुवेर का अनुकरण किया और कान्ति से सूर्य का।'

यहाँ अनुयाति (अनुकरण) क्रिया में वरुण का कर्मभाव अर्थतः बतलाया गया है। इसलिये उसमें (अनुकरण में) हेतु भी वैसा (आर्थ) ही देना चाहिये था। पर अन्य (यम आदि) के समान इसके अनुकरण (वरुण) का हेतु भी शाब्द दे दिया गया—वह प्रक्रमभेद दोष हुआ। वह भी कहे ढंग (एकरसप्रवृत्तायाः प्रतिपत्तृप्रतीतेरुत्खात इव परिस्खलनदुःखदायी) से रसभङ्गकारक बनता है। इसलिये यहाँ यह पाठ बदलना चाहिये—'नियमयन्नसतः स नराधिपः' असत्पुरुषों को नियंत्रित करते हुए उस राजा ने···।' ऐसा करने से विभक्ति प्रक्रमभेद और च शब्द भी हट जाते हैं। च शब्द यहाँ उक्तरीति (तुल्यकक्षतया० पृ० २९७) से यहाँ समुच्चय नहीं कर सकता और गलत क्रम से रखा गया है। इसी प्रकार और भी भेद स्वयं समझ लेने चाहिये।

[वसुवृष्टि = सुवर्णवृष्टि, वसुविसर्जन = द्रव्यदान। स्वर्णं हेमहिरण्यहाटकवसून्यष्टापदं काञ्चनमिति—४।१०९ हेमचन्द्र। 'प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोषगृहे नियुक्ताः। हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः॥ रघु० ५।२०]।

परिहृतौ भवत **इति। विभक्तिप्रक्रमभेदचशब्दयोर्द्वित्वाद् द्विवचनम्। चशब्दस्योभयथा दुष्टता च। चशब्दस्य च समुच्चयो विषयः। तद्भावः उक्तनयेन तुल्यकक्ष्यत्वाभावाख्येन निवारितः। प्रक्रमभेदस्त्वसतामित्यसमुच्चेतव्यनिकटप्रयोगात्। स हि 'नियमनादि'त्यस्यानन्तरं पठनीयः।**

परिहृतौ भवतः = एक विभक्ति प्रक्रमभेद है और दूसरा च शब्द, इसलिये द्विवचन (परिहृतौ) दिया गया। चशब्द दो प्रकार से सदोष है। चशब्द का प्रयोग समुच्चय के लिए होना चाहिए। उसका सद्भाव ऊपर कहे नियम के अनुसार तुल्यकक्ष्यता न होने से अलग कर दिया गया। और क्रमभेद दोष है। 'च' के 'असताम्' इसके पास प्रयोग से जिसका समुच्चय नहीं किया जा रहा है, उसे 'नियमाद्' इसके बाद आना चाहिए।

एषां चान्योन्यासाङ्कर्याल्लोष्टसञ्चारक्रमेण बहवः प्रक्रमभेदप्रकाराः समुद्भवन्ति। ते स्वयमेवाभ्यूह्याः। तद्यथा—

"नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः।" इति।

अत्र हि द्वयोः प्रकृतिप्रत्यययोः प्रक्रमभेदः। तेन 'न लघुर्जातु पदं नृपश्रिय' इति युक्तः पाठः।

इनके परस्पर गुणन से लोष्टसंचारक्रम से प्रक्रमभेद के अनेक प्रकार निकल आते हैं। उनकी कल्पना स्वयं ही कर लेना चाहिए। जैसे—'नियता लघुता—०श्रियः', यहाँ। यहाँ प्रकृति और प्रत्यय दोनों का प्रक्रमभेद है अतः 'न लघुर्जातु पदं नृपश्रियः' पाठ ठीक है।

लोष्टसञ्चार **एकैकस्य भेदस्य भेदान्तरैः सह संयोजनप्रकाराख्यो गणनाविशेषः।**

प्रकृतिप्रत्यययोरिति **लघुशब्दः प्रकृतिः। तस्यां गुरुशब्देन भेदः। गुरुशब्दे चेयसुन्नधिकः प्रयुक्तो यो लघुशब्दे न प्रयुक्तः। तत्प्रत्ययस्य च प्रतिनिर्देशो न कृत इति प्रत्ययप्रक्रमभेदोऽपि। अभिनवपाठे तु तत्प्रत्ययरहितस्यैव लघुशब्दस्य प्रतिनिर्देशः कृतः।**

लोष्टसंचार = एक प्रकार की गणना, जिसमें एक-एक भेद दूसरे-दूसरे भेदों के साथ मिलाए जाते हैं।

प्रकृतिप्रत्यययोः—लघुशब्द प्रकृति है, उसका भेद गुरुशब्द से हुआ, और गुरुशब्द में ईयसुन् प्रत्यय अधिक दिया गया है जो लघुशब्द में नहीं है। उस प्रत्यय (ईयसुन्) का पुनःनिर्देश नहीं किया इसलिए प्रत्ययगत प्रक्रमभेद हुआ। नए पाठ में उस प्रत्यय से रहित ही लघुशब्द प्रदर्शित है।

विमर्श : 'लोष्टसंचारक्रम' शब्द यहाँ लोष्टप्रस्तारन्याय के लिए प्रयुक्त है। लोष्ट ढेले, डिग्गल, मृत्तिकाशकल; उनका प्रस्तार = फैलाव या बिछौना। जैसे मिट्टी के ढेले यहाँ वहाँ से बीन-बीनकर एक ही खेत में फैलाए जाते हैं तो जैसे उनमें परवर्ती ढेले पूर्ववर्ती ढेलों के साथ-साथ फैलते हैं, ऐसा नहीं कि यदि ५०० ढेले फैलाए गए तो आखिरी ढेला पहले के ४९९ ढेलों को हटाकर खेत में आए, वैसे ही जहाँ किसी एक जगह जब गिनाए गए गुण दोष एक, दो, तीन, चार इत्यादि क्रम से एकाधिक संख्या में एकत्रित होते जाएँ तो उस इकट्ठे होने को लोष्टप्रस्तारन्याय से इकट्ठा होना कहा जाता है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक ३।१६ के उदाहरण 'तद्गेहं नतभित्ति' के लोचन में 'एतच्च द्विशः सामस्त्यम्, त्रिशः सामस्त्यमिति…लोष्टप्रस्तारन्यायेनानन्तवैचित्र्यमुक्तम्'—इस प्रकार की गणना के लिए इस न्याय का प्रयोग किया है। छन्दःशास्त्र में गुरु, लघु तथा संगीतशास्त्र में स्वरों के परस्पर संयोजन में यह न्याय अधिक अपनाया जाता है। वहाँ उनका नाम ही छन्दःप्रस्तार और स्वरप्रस्तार है। छन्दःप्रस्तार पर 'प्रस्तार' शब्द का शब्दकल्पद्रुम देखना चाहिए। 'वस्तुतः यहाँ लोष्टसंस्तारक्रमेण' पाठ रहा होगा।' [द्र० संगीतरत्नाकर–१]

आर्थः प्रक्रमभेदो यथा अनन्तरोदाहरणयोराद्यमाहितविपर्ययम् ।
तद्यथा—

"मत्तता दयितसङ्गमभूषा भूषयत्यसमसायकलक्ष्मीम् ।
साप्यनूननवयौवनयोगं तद् वपुस्तदपि चारुतरत्वम् ॥" इति ।

अत्रापि हि 'मत्ततां दयितसङ्गतिरेषा' इत्युचितः पाठः ।

आर्थप्रक्रमभेद, जैसे अभी तुरन्त दिए उदाहरणों में आरम्भ को उलटकर पढ़ने में अर्थात्—

मत्तता दयितसङ्गमभूषा भूषयत्यसमसायकलक्ष्मीम् ।
साप्यनूननवयौवनयोगं तद् वपुस्तदपि चारुतरत्वम् ॥'

अर्थात् प्रियसंगम जिसका भूषण है ऐसी मत्तता कामकला को भूषित करती है, वह (कामकला) भी यौवन के पूर्ण आविर्भाव को और वह (यौवन) शरीर को, वह (शरीर) भी सौन्दर्य को।' यहाँ भी 'मत्ततां दयितसङ्गतिरेषा' ऐसा पाठ उचित होगा।

आर्थः प्रक्रमभेद इति । **अत्रोदाहरणद्वितयं दत्तं** मत्ततेति समतयेति । **तत्र मत्ततेत्यत्र सङ्गमभूषेत्यार्थेन क्रमेण प्रक्रमः, भूषयतीत्यत्र तु शाब्दरूपतया प्रतिनिर्देश इत्यार्थः प्रक्रमभेदः । किन्तु तद्वपुस्तदपि चारुतरत्वमिति पाठः स्थितपरिपाट्यानुगुण्याभावान्न न्याय्यः । 'चारुतां स खलु सापि शरीरमि'ति तु पाठः श्रेयान् । एवञ्च दयितसङ्गतिरेषेत्येतच्छब्दः पठनीयः, न पुनरासामिति पाठः । तत्र हि मत्तता केन शब्देन परामृश्येत ? 'समतये'त्येतत् प्रायेणादर्शेषु शाब्दप्रक्रमभेदे उदाहरणतया दृश्यते । अत्र आर्थप्रक्रमभेदप्रस्तावे 'अनन्तरोदाहरणयोराद्यमाहितविपर्ययम्' इति पाठः । एतच्चायुक्तम्, योजनग्रन्थे वरुणस्यार्थप्रक्रम इति ग्रन्थविरोधात् । किञ्च नियमयन्निति विदग्धम्मन्यतया दत्तोऽपि नो हृदयङ्गमः पाठः, वरुणेनैव तत्सम्बद्धमित्यत्र प्रमाणाभावात् । न हि वरुणस्यान्योपसर्जनत्वेन स्थितस्य स्वातन्त्र्यमस्ति । तस्य नैवंविधसम्बन्धः पुष्टत्वं धत्ते । आर्थप्रक्रमभेदप्रस्तावे इदमेवोदाहरणमाहितविपर्ययमिति पाठः श्रेयान् ।**

आर्थप्रक्रमभेद = यहाँ दो उदाहरण दिए गए हैं—एक 'मत्तता०' और दूसरा 'समतया०' उनमें से 'मत्तता०' इत्यादि में 'सङ्गमभूषः' इस प्रकार आरम्भ किया आर्थप्रक्रम से और प्रतिनिर्देश किया 'भूषयति' इस प्रकार 'शाब्द' से, इसलिए यहाँ आर्थप्रक्रमभेद हुआ, परन्तु 'तद्वपुस्तदपि चारुतरत्वम्' यह पाठ स्थित पद्धति के अनुकूल न होने से ठीक नहीं है। 'चारुतां स खलु सापि शरीरम्' पाठ अधिक अच्छा है।

इसी प्रकार 'दयितसङ्गतिरेषा' इस प्रकार 'एतद्' शब्द पढ़ा जाना चाहिए नकि 'आसाम्' यह (अदस् शब्द) वैसा पाठ होने पर मत्तता का परामर्श किससे होगा ? प्रायः आदर्श प्रतियों से शाब्दप्रक्रमभेद में 'समतया' यही उदाहरण रूप से प्रयुक्त दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में आर्थप्रक्रमभेद के प्रकरण में 'अनन्तरोदाहरणयोराद्यमाहितविपर्ययम्' यह जो पाठ है वह ठीक नहीं है, कारण कि [अत्र हि अनुयातिक्रियाकर्मभावः०' इत्यादि पूर्व ग्रन्थ में] योजना करते समय वरुण का प्रक्रम आर्थ है'—इस ग्रन्थांश का विरोध होता है क्योंकि विपर्यय होने पर आर्थप्रक्रमभेद शाब्दप्रक्रमभेद के रूप में बदल जाता है।

और 'नियमयन्०' इस प्रकार जो अधिक विदग्धता की डींग हाँकते हुए पाठ बदला है वह भी, मन में नहीं बैठता, कारण कि वह निश्चित रूप से वरुण से ही सम्बन्धित होगा इसमें कोई

प्रमाण नहीं है। वरुण दूसरे के प्रति उपसर्जन अर्थात् गौण है। वह स्वतन्त्र नहीं है। उसके साथ ऐसा सम्बन्ध ठीक-ठीक नहीं बैठता। इसलिये 'आर्थप्रक्रमभेदप्रस्तावे इदमेवोदाहरणमाहितविपर्ययम्' ऐसा पाठ अधिक अच्छा है।

विमर्श : प्रस्तुत व्याख्यान का अभिप्राय इस प्रकार है—मूलग्रन्थ के कई संस्करण हैं। किसी में 'मत्तता०' और 'समतया०' ये दोनों पद्य प्रक्रमभेद के लिये आए हैं और किसी में केवल समतया ही। दोनों में प्रथम के अनुसार 'अनन्तरोदाहरणयोराद्यमाहितविपर्ययम्' पाठ ठीक बैठ जाता है। परन्तु, द्वितीय संस्करण में आपत्ति आती है। उस संस्करण में—समतया को बदलना होता है। उस समय एक तो 'आद्यम्' कहना व्यर्थ हो जाता है, दूसरे 'समतया' पद्य को उदाहरणरूप से उपस्थित कर उसमें दोष बतलाते हुए ग्रन्थकार ने वरुण को आर्थ कहा है और बदलने में आर्थ वरुण शाब्द हो जाता है। अतः उसे आर्थप्रक्रमभेद में मिलाना असंगत होगा। व्याख्याकार ने इसका परिहार करते हुए अनन्तरोदाहरणयो···की जगह यह पाठ माना है—'आर्थप्रक्रमभेदप्रस्तावे इदमेवोदाहरणमाहितविपर्ययम्'। इसके अनुसार 'आद्यम्' पाठ की आपत्ति दूर हो जाती है। परन्तु शाब्द प्रक्रमभेद में वरुण की आर्थता का पाठ परिवर्त्तन करने पर शाब्दता से जो विरोध आता है उसका परिहार विचारणीय है। व्याख्याकार ने सम्भवतः इसीलिये 'नियमयन्' इत्यादि परिवर्तन पर अरुचि व्यक्त की है। 'सवरुणौ यमपुण्यजनेश्वरौ' इस प्रकार के पाठ में वरुण यम आदि के साथ बँधा है अतः उसमें किसी को पदार्थ का अन्वय साक्षात् नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में असत् पुरुषों के नियमन का अन्वय उस वरुण से हो ही जाएगा यह निश्चित नहीं। वस्तुतः प्रथम संस्करण ही ठीक है।

क्रमप्रक्रमभेदो यथा—

> **"तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-**
> **र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।**
> **विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-**
> **स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि॥" इति।**

क्रम का प्रक्रमभेद—यथा—

तुम्हारी पुष्पशरता और चन्द्रमा की शीतरश्मिता दोनों मुझ जैसे लोगों पर झूठी लगती हैं। इन्दु—(चन्द्रमा) बर्फीली किरणों से आग बरसा रहा है, और तुम भी अपने फूल के बाणों को वज्रतुल्य कठोर बना रहे हो।

क्रमेति य **उद्देशक्रमः प्रक्रान्तः सोऽनूद्देशे वैपरीत्याद् न कृत इति प्रतीतेरैक्यस्य विगमाद् दुष्टत्वम्।**

तव कुसुमशरत्वमिति। **इदं क्रमप्रक्रमभेदोदाहरणं न युक्तम् चूलिकाक्रमस्यैवात्रोचितत्वात्। तथाह्युद्देशः। स्मरं प्रति साम्मुख्येनाभिधानं विहाय नेन्दुं प्रासङ्गिकं प्रत्ययथार्थज्ञानमुचितमिति स्मरस्य तावत् प्रथमनिर्देशोऽयं यतः अनुद्देशे हित्व विपर्यं(?) त्यक्त्वा न प्रासङ्गिकेन वाक्यार्थपरिसमाप्तिः शोभते इति पार्यवसानिकेन स्मरेणैव सम्मुखीक्रियमाणेन वाक्यार्थः परिसमापनीय इति पाठक्रमापेक्षया चूलिकाक्रम एव सहृदयरञ्जक इति कुशाग्रीयधिषणैर्निपुणं निरूपणीयमेतत्। तथा च 'युष्मदस्मदोः पदस्य पदात् षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ' (८-१-२०) इति चूलिकाक्रमेण व्यवहारो दृश्यते। क्रमप्रक्रमभेदस्य पुनरुदाहरणं वस्तुप्रक्रमभेदविचारप्रस्तावे निरूपयिष्यते।**

क्रम = आरम्भ में जो क्रम अपनाया गया हो दूसरी बार कहते समय विपरीतता के कारण उसे नहीं निवाहना। इससे एकरूपता टूट जाती है, अतः यह सदोष है।

तव कुसुमशरत्वम्०—यह क्रमगत प्रक्रमभेद का उदाहरण है। सो ठीक नहीं। यहाँ यही उलटकर कहने का क्रम (चूलिका क्रम ही) उचित है। वैसा ही कहा भी गया है। स्मर सम्मुख उपस्थित है, इन्दु प्रासंगिक है। इसलिये स्मर के प्रति बिना कुछ कहे इन्दु के प्रति अयथार्थता का ज्ञान उचित नहीं है। इसलिये पहले तो स्मर का निर्देश पहले किया गया है फिर पुनः निर्देश करने में सामने उपस्थित विषय को छोड़कर प्रासंगिक द्वारा वाक्यार्थ की समाप्ति शोभा नहीं देती इसलिये उपसंहार में सामने उपस्थित स्मर से ही वाक्यार्थ की समाप्ति की जानी चाहिये। इसलिये जहाँ तक पढ़ने के क्रम की अपेक्षा है उसमें चूलिकाक्रम ही सहृदयों के हृदयों को सुख देने वाला है। इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धिवालों को थोड़ा ध्यानपूर्वक इसे विचारना चाहिए। ऐसा क्रम 'युष्मदस्मदोः पदस्य पदात् षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ' (८।१।२०) सूत्र में भी (जहाँ द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी यह क्रम होना चाहिये वहाँ षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीया इस क्रम में) उलटे क्रम का व्यवहार देखा जाता है। क्रम प्रक्रमभेद का उदाहरण वस्तु प्रक्रमभेद के विचार के प्रसंग में बतलाया जायगा।

विमर्श : चूलिकाक्रम, हाथ में चूड़ी जिस क्रम से पहनी जाती है उसी क्रम से उतारी नहीं जाती। उतारने का क्रम पहनने के क्रम से ठीक उलटा होता है। पहनते समय जो चूड़ी पहले पहल पहनी जाती है उतारते समय सबके बाद में उतारी जाती है। पदार्थनिर्देश में भी यह क्रम कहीं-कहीं मानना पड़ता है। यहाँ 'प्रथमनिर्देशोऽयमतोऽनूद्देशेऽपि तं विषयम्' ऐसा कुछ पाठ चाहिए।

ननु च प्रकृतिप्रत्ययपर्यायादीनां प्रक्रान्तानां भेदेऽपि प्रधानभूतस्यार्थस्याभेदाच्छब्दमात्रस्य भेदे सति न किञ्चिदेकरसायाः प्रतीतेः परिस्खलनमुपपद्यत इति कथमयं प्रकृत्यादिप्रक्रमभेदो नाम शब्दानौचित्यमित्युक्तम्। उच्यते। सर्व एवायमेवञ्जातीयः प्रक्रमभेदः प्रायेण विध्यनुवादभावप्रकार इत्यवगन्तव्यम्। न च तत्राप्यसत्यप्यर्थभेदे शब्दभेदमाद्रियन्ते वक्तारः। यथा—

"यदधरदलमाश्रितं प्रियाया वदनसरोरुहसाम्यमेति यश्च।
तदमृतममृतं स इन्दुरिन्दुर्विषमितरत् तमसा समस्तथान्यः ॥" इति।

अस्त्वेवम्। यस्त्वयमन्यः शाब्द आर्थश्चेति द्विविधः प्रक्रमभेद उक्तः सोऽनुपपन्नः। यतः 'चारुता वपुरभूषयदासा'मित्यादौ भूषणभूष्यभावादिरूपं किमपि वस्तु प्रत्याय्यं वर्त्तते। तच्च शब्दादर्थादुभाभ्यामपि वा प्रतीयताम्। कस्तत्र प्रक्रमभेदनियमं प्रत्यभिनिवेशः यद्भेदाभेदाभ्यामनौचित्यं स्यात्।

न हि।

'शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलङ्क्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥'

इत्यादावसत्यपि प्रतीतिपरिस्खलनेऽनौचित्यसंस्पर्शः कश्चिदुपलभ्यत इति तदेतदविदितशब्दार्थव्यापारविभागस्यैवाभिधानम् ।

शंका—यह कैसे कहा जाता है कि प्रकृत्यादि का प्रक्रमभेद शब्दानौचित्य है, कारण कि भले ही प्रकृति प्रत्यय और पर्याय आदि के प्रक्रम में भेद हो किन्तु प्रधानभूत अर्थ में जो भेद नहीं होता । केवल शब्द में भेद आ जाने से एकरस प्रतीति में स्खलन मानना ठीक नहीं ।

उत्तर = इस प्रकार का सारा प्रक्रमभेद प्रायः विध्यनुवादभावरूप ही माना जाना चाहिये । विध्यनुवादभाव में भी वक्ता लोग शब्दभेद को तबतक अच्छा नहीं मानते जबतक अर्थ में भेद नहीं आता । जैसे—

"जो प्रिया के अधरदल में है और जो मुखकमल की तुलना में आता है वही अमृत अमृत है और वही चन्द्र चन्द्र । उससे भिन्न विष है, और उसके अतिरिक्त अन्धकार के समान ।'

शंका—ऐसा ही सही । तब भी जो शाब्द और आर्थ इस तरह से दो प्रकार का प्रक्रमभेद बतलाया है—वह ठीक नहीं । क्योंकि 'चारुतावपुः…' इत्यादि में भूषणभूष्यभाव आदिरूप कोई बात बतलानी है । वह शब्द और अर्थ दोनों ही से प्रतीत क्यों न हो । उसमें प्रक्रमभेद के नियम का आग्रह किस काम का ? जिसके—भेद (बिगड़ने) से और अभेद (बनने) से अनौचित्य हो ।

उत्तर = जी नहीं !

'साफ-साफ किया ज्ञानार्जन शरीर को सुशोभित करता है उस (श्रुत) का अलंकार होता है प्रशम, प्रशम का आभरण होता है पराक्रम और वह नीति से प्राप्त सिद्धि द्वारा विभूषित होता है ।' इत्यादि में यद्यपि प्रतीति में परिस्खलन नहीं होता तब भी कुछ तो अनौचित्य दिखाई देता ही है । इसलिये यह सारी शंका शब्दार्थ व्यापार का विभाग न जाननेवाले व्यक्ति की ही है ।

प्रधानभूतस्येति । **अर्थप्रतिपादनाय शब्दप्रयोगाच्छब्दस्योपायमात्रत्वाद् उपायानां च नियमाभावात् । तदुक्तम्—**

> **"उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते ।**
> **उपायानां च नियमो नावश्यमवकल्पते ॥" इति ।**

प्रक्रमभेद इति । **प्रक्रमाभेदविषयस्य विध्यनुवादभावप्रकारत्वात् प्रक्रमभेदोऽप्युपचाराद् विध्यनुवादप्रकार इत्यर्थः । अनेनैव न्यायेन शाब्दश्चार्थश्चेति प्रक्रमाभेदस्य भेदद्वयं शब्दार्थविषयत्वाद् बोद्धव्यम् ।**

शब्दभेदमिति । **एकशब्दाभिधेयत्वेनार्थस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वोपपत्तये । शब्दभेदे तस्यैवार्थस्यान्यस्येव प्रतीतेः नाञ्जसेन प्रकारेण विध्यनुवादभावविषयत्वम् । काव्यगतत्वेन हि चिन्ता प्रस्तुता । न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात् । साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम् ।**

अस्त्वेवमिति । **सामान्येन प्रक्रमभेदाभ्युपगमो विशेषे तु पर्यनुयोग इति भावः ।** प्रक्रमनियमं प्रतीति **हृदयङ्गमः पाठः ।** यद्भेदाभेदाभ्यामिति **हि यच्छब्देन प्रक्रमः परामृश्यते । प्रक्रमभेदनियमं प्रतीति तु पाठे यद्भेदाभेदाभ्यामिति प्रक्रमस्यैवोद्धृतस्य यथाकथञ्चित् परामर्शो** व्याख्येयः ।

शुचि भूषयतीति । **अत्र भूषयतीति शाब्दं भूषणं प्रक्रान्तम् अलङ्क्रियेत्यादावार्थेन रूपेण**

प्रतिनिर्दिष्टम्। अत्र च पर्यायप्रक्रमभेदः स्थितोऽपि न साम्प्रतं चिन्तितः शब्दार्थप्रक्रमभेद-चिन्तनप्रस्तावात्।

अत्र विभागस्यैवेति।

प्रधानभूत = शब्द का प्रयोग अर्थज्ञान के लिये होता है अतः शब्द उपायमात्र होते हैं। और उपायों में कोई निश्चित नियम नहीं होता। जैसा कि कहा है—'अपनाकर भी जो त्यागे जा सकते हैं उन्हें उपाय कहते हैं और उपायों में कोई नियम अनिवार्य रूप से नहीं होता।'

प्रक्रमभेद = प्रक्रम के अभेद का जो विषय है वह विध्यनुवादभाव का अंग है। अतः प्रक्रम का भेद भी—लक्षणया—विध्यनुवादभाव का ही अंग है। इसी प्रकार प्रक्रमाभेद के भी दो भेद—शाब्द और आर्थ, शब्द विषयक और अर्थविषयक मानने चाहिये।

शब्दभेद = देखा जाता है कि अर्थ एक ही शब्द से कहे जाने पर पहचान में आता है। शब्द में अन्तर पड़ जाने से वही अर्थ दूसरा सा प्रतीत होता है। और ठीक से विध्यनुवादभाव का विषय नहीं बनता यहाँ जो विचार चल रहा है वह काव्यगत प्रक्रमभेद का है। काव्य में, शास्त्रादि के समान केवल अर्थ प्रतीति के लिये शब्दमात्र का प्रयोग नहीं होता। वहाँ (काव्य में) सहित शब्दार्थ का प्रयोग होता है। साहित्य का अर्थ है बराबरी के साथ कमबढ़ न होना।

अस्त्वेवम् = भाव यह कि हम प्रक्रमभेद को सामान्यरूप से मान लेते हैं। विशेषरूप से मानने में हमारी आपत्ति है।

प्रक्रमभेदनियमम् = प्रक्रमनियमं प्रति यह पाठ अधिक अच्छा है।

यद्भेदाभेदाभ्याम् = यत् अर्थात् प्रक्रम 'प्रक्रमभेदनियमं प्रति' इस पाठ में 'यदभेदा०' में यद् शब्द के द्वारा 'प्रक्रमभेद नियम' शब्द से प्रक्रम जोड़कर जिस किसी प्रकार उसी का परामर्श मानना चाहिये।

शुचि भूषयति = यहाँ भूषयति—इस प्रकार भूषित करना आरम्भ किया गया है। उसका प्रतिनिर्देश 'अलंक्रिया' इत्यादि आर्थरूप से किया गया। यहाँ पर्यायगत प्रक्रमभेद है तब भी इस समय उस पर विचार नहीं किया कारण कि यह शब्दगत और अर्थगत प्रक्रमभेद का प्रकरण चल रहा है।

अन्यो हि शब्दव्यापारविषयोऽर्थोऽन्यश्चार्थव्यापारविषयः। तत्र यः प्राधान्येन प्रतिपादयितुमिष्यते स शब्दव्यापारविषयः, तस्य साक्षात् तदभिसम्बन्धसम्भवात्। अन्यस्त्वर्थव्यापारविषयो विपर्ययात्। एवञ्च सति यदयं भूषणभूष्यभावः प्राधान्येन वक्तुं प्रक्रम्यते तदा शब्दव्यापारस्यैवासौ विषयो भवितुमर्हति नार्थव्यापारस्येति विषयविभागे व्यवस्थिते सति तयोर्यदन्यथाकरणं तदेकरसायाः प्रतीतेः परिस्खलनहेतुर्भवत्यनौचित्यमित्युक्तं यथा पूर्वोक्त उदाहरणद्वये।

यत् पुनः 'शुचि भूषयती'त्यादौ सत्यपि प्रक्रमभेददोषे नानौचित्यसंस्पर्शः कश्चित् संवेद्यत इत्युक्तं, तत्र 'वपुषः शुचि भूषणं श्रुत'मिति, 'तां मदस्तमपि वल्लभसङ्ग' इति चोभयत्रापि पाठविपर्यासात् प्रक्रमभेददोषद्वये परिहृते सत्यनयोः प्रतीत्योर्यादृशमौचित्यमनौचित्यं वाविर्भवति

तत्प्रतीतिपरमार्थविदः सहृदया एव विवेक्तुमलमिति त एव प्रष्टव्याः नान्ये। ते ह्युभयत्रापि सादृश्यमेवावगच्छन्ति।

यदि वा शुचि भूषयतीत्यादौ भूषणभूष्यभावशृङ्खलायां यथासम्भवं भङ्गीभणितिवैचित्र्यमात्रं कवेर्विवक्षितं, तच्च निर्व्यूढमिति तदपहृतचेतसां प्रतीतिस्खलनखेदानवधारणम्।

अथ यदि शब्दव्यापारविषयस्यैवार्थस्य प्राधान्यं नान्यस्येत्युच्यते, तर्हि 'चक्राभिघातप्रसभे'त्यादौ 'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्' इत्यादौ 'कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभि'रित्यादौ च वस्तुमात्रस्यालङ्कारस्य रसादेश्च प्रतीयमानस्यार्थस्यावाच्यस्यैवाप्राधान्यं स्यात्। तच्चानिष्टं भवति। तयोरग्निधूमयोरिव गम्यगमकभावेनावस्थानात् प्रधानेतरभावस्यावश्याभ्युपगम्यत्वात्।

अत्रोच्यते। प्रतीत्यपेक्षमनयोः प्राधान्यमप्राधान्यं चावस्थाप्यते। वाच्यस्य प्रतीतिः शब्दव्यापारविषय इति तस्य प्राधान्यमवस्थाप्यते। प्रतीयमानस्य पुनरन्यथेति तस्याप्राधान्यमेवेत्युक्तम्।

यत् पुनर्वस्तुमात्रादीनां प्राधान्यमवस्थाप्यते, तद्वाच्यप्रतीयमानयोर्धूमाग्न्योरिव गम्यगमकभावापेक्षयैव न प्रतीत्यपेक्षया। तदपेक्षयैव च क्वचिद्वाच्यस्याप्यप्राधान्यमुच्यते।

शब्द के व्यापार का विषयीभूत अर्थ दूसरा होता है और अर्थ के व्यापार का विषयीभूत अर्थ दूसरा। उनमें जिसे प्रधानरूप से प्रतिपादित करना होता है वह शब्द व्यापार का विषय होता है, उसका उससे (शब्द से) साक्षात् सम्बन्ध हो सकता है। इसके ठीक उल्टा होने के कारण अर्थ व्यापार का विषयीभूत अर्थ दूसरा है। इस प्रकार जो यह भूष्यभूषणभाव प्रधानरूप से कहा जा रहा है, तो यह शब्द व्यापार का ही विषय विभाग हो सकता है। अर्थ व्यापार का नहीं। इस प्रकार विषयविभाग हो जाने पर भी उनको जो उलट कर रखता है वह एकरस प्रतीति में परिस्खलन का कारण = अनौचित्य बनता है, ऐसा हमने कहा है। जैसा कि पूर्वोक्त दो उदाहरणों में दिखाई भी देता है। और जो 'शुचि' भूषयति इत्यादि में प्रक्रमभेद दोष के रहते हुए भी अनौचित्य समझ में नहीं आता—ऐसा कहा, वहाँ (हमारा कहना है कि) 'वपुषः शुचि भूषणं श्रुतम्' ऐसा और 'तां मदस्तमपि वल्लभसङ्ग' ऐसा दोनों जगह पाठ बदल देने पर दोनों प्रक्रमभेद दोष दूर हो जाते पर इन प्रतीतियों में जो भी औचित्य या अनौचित्य आता है उसे प्रतीति के पारखी सहृदय लोग ही समझा सकते हैं, इसलिये इस विषय में उन्हीं से पूछना चाहिये औरों से नहीं। वे (दूसरे लोग) तो दोनों ही पाठों में समानता देखते हैं।

अथवा—शुचि भूषयति० इत्यादि में भूषणभूष्यभाव की पंक्ति में कवि को यथासम्भव टेढ़े ढंग से कहने की विचित्रतामात्र विवक्षित है। और उसका निर्वाह उसने कर दिया है। इसी से उससे जिनका चित्त ठग लिया जाता है उन्हीं को प्रतीति में होनेवाले स्खलन की पीड़ा नहीं समझ आती।

शंका—यदि ऐसा कहना अभीष्ट हो कि वही अर्थ प्रधान होता है जो शब्द व्यापार का विषय बनता है, और कोई नहीं तो 'चक्राभिघातप्रसभ' इत्यादि 'लावण्यकान्तिपरिपूरित•••' इत्यादि तथा 'कृतककुपितैः०' इत्यादि में वस्तुमात्र, अलंकार और रस आदि प्रतीयमान अर्थ, जो वाच्य नहीं है, उसी की अप्रधानता मानी जाय। (किन्तु) ऐसा माना नहीं जाता कारण कि वे दोनों प्रतीयमान और वाच्य अर्थ अग्नि तथा धूम के समान गम्यगमकभाव सम्बन्ध से अवस्थित हैं। इसलिये उनका प्राधान्य अप्राधान्य जरूर ही मानना होगा।

समाधान—इस पर हमारा कहना है कि इसकी प्रधानता और अप्रधानता प्रतीति को लेकर स्थिर की जाती है। वाच्य की प्रतीति शब्द व्यापार का विषय है। इसलिये उसमें प्राधान्य माना जाता है। और प्रतीयमान वैसा नहीं होता, अतः उसका अप्राधान्य ही माना जा सकता है। ऐसा (पहले) कहा भी है। और जो वस्तु आदि की प्रधानता बतला दी जाती है, वह वाच्य और प्रतीयमान अर्थों के—धूम अग्नि के समान गम्यगमक—भाव को लेकर। उसी को लेकर कहीं वाच्य में अप्रधानता भी कही जाती है।

तदभिसम्बन्धः **शब्दाभिसम्बन्धः।** विपर्ययादिति **साक्षाच्छब्दसम्बन्धाभावात्।** उदाहरणद्वये **'शुचि भूषयती'ति 'चारुता वपुरि'ति च।**

याद्दशमिति **स्थितपाठाभिप्रायेणानौचित्यं दत्तपाठाशयेन त्वौचित्यमित्यर्थः। तच्छब्देनान्ये परामृश्यन्ते।** साद्दश्यमेवेति **विवेकाक्षमप्रज्ञत्वात्।**

तदपह्नुतेति **तत्पदेन भङ्गीभणितिवैचित्र्यं परामृष्टम्। उत्कटेन भणितिवैचित्र्येण वर्णनीयमाच्छादितमित्यर्थः। तदुक्तं वक्रोक्तिकृता लौकिकालङ्कारानुपमानीकृत्य—**

'यद्वत् तद्वदलङ्कारैर्भासमानैर्निजात्मना।
स्वशोभातिशयान्तस्थमलङ्कार्यं प्रकाश्यते॥' इति।

तदभिसम्बन्धः—शब्द का अभिसम्बन्ध।

विपर्ययात्—साक्षात् शब्द सम्बन्ध न होने से।

उदाहरणद्वये—'शुचि भूषयति' एक, दूसरा 'चारुताः वपुः'।

याद्दशम्—यथास्थित पाठ के आधार पर अनौचित्य, बदले पाठ के आधार पर औचित्य तद् शब्द से 'अस्य' का परामर्श होता है।

साद्दश्यम्—उनकी प्रज्ञा विवेक (अलग-अलग) करने में समर्थ नहीं होती—इससे।

तदपह्नुत—तत्पद से भङ्गीभणिति द्वारा हुआ वैचित्र्य कहा गया कथन के उत्कट प्रकार से वर्णनीय पदार्थ ढक जाता है। जैसा कि वक्रोक्तिजीवितकार ने लौकिक अलंकारों का उदाहरण देकर कहा है। जैसे—वैसे ही अपने रूप से उद्भासित होते हुए अलंकारों द्वारा अलंकार्य अपनी अतिशय शोभा के बीच ढका हुआ सा दिखलाया जाता है।

विमर्श: वक्रोक्ति जीवित में—इसके पहले की कारिका इस प्रकार है—

रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा। कान्ता शरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्पते॥ १।३६॥ यत्र तद्वत्•••इसकी लम्बी व्याख्या का सार इस प्रकार दिया गया है—अलङ्कारमहिमैव तथाविधोऽत्र भ्राजते, तस्यात्यन्तोद्रिक्तवृत्तेः स्वशोभातिशयान्तर्गतमलकार्यं प्रकाशते। [पृ० १३३ हि० व० जी०]

अप्राधान्यं स्यादिति। **अयं भावः-यदि शब्दव्यापारविषयस्य प्राधान्यमर्थव्यापारविषयस्य चाप्राधान्यमिति व्यवस्था, तदा त्रिविधस्य प्रतीयमानस्य परैर्ध्वन्यमानत्वेन व्यपदि-**

ह्यस्यास्माभिरनुमेयत्वेनोपपादितस्याप्राधान्यं प्रसज्येत तस्यार्थव्यापारविषयत्वात्, शब्द-व्यापारविषयत्वस्य दूषितत्वात्। इष्यते च प्राधान्यम्। तत् कथमियं प्राधान्याप्राधान्य-प्रतीतिर्घटत इति। 'चक्राभिघाते'त्यादौ च पर्यायोक्ते समासोक्तिवद् गम्यमानस्यैव प्राधान्यं न वाच्यस्येत्युपपादितं प्राक्। 'एकाभिघात' इति हयग्रीववधे पाठः स्थितः, सुदर्शनस्य पुंल्लिङ्गस्य प्रक्रान्तत्वाद् य इत्यनेन परामर्शात्। तत्त्वनवबुध्य चक्रं यदि परा-मृश्यते, तदा यच्छब्दस्य नपुंसकता स्यात्। तन्मुरारिरेवात्र परामृश्यत इत्याशयेन 'चक्रा-भिघाते'ति पठन्ति। न त्वयं तत्र प्रस्तावः।

प्राधान्यमप्राधान्यं चेति इह गमकमप्रधानमुपायत्वात्। गम्यं प्रधानमुपेयत्वात्। तेन प्रतीयमानस्य गम्यत्वात् प्राधान्यव्यवहारः। न प्रतीत्यपेक्षयेति। शब्देनार्थेन च या प्रतीति-स्तदपेक्षया न प्राधान्याप्राधान्यव्यवहार इत्यर्थः। तयोस्त्विह गम्यगमकभावविविक्तविष-यत्वेन चिन्ता कृता। तदपेक्षया गम्यगमकत्वापेक्षया। क्वचिद् यत्र प्रतीयमानसद्भावस्तत्रा-प्राधान्यमित्यर्थः। वाच्यस्यापीति—यः शाब्दत्वेन प्राधान्यव्यवहारयोग्यस्तस्यापि। वाच्यं हि प्रतीयमानं प्रति गमकत्वेन व्यवस्थितं तेन तदपेक्षत्वेनाप्राधान्यमिति तात्पर्यम्।

अप्राधान्यं स्यात्—भाव यह है कि यदि शब्द व्यापार के विषय की प्रधानता हो और अर्थ व्यापार विषय की अप्रधानता—ऐसी व्यवस्था मानी जाय तो तीन प्रकार के प्रतीयमान अर्थ की, जिसे और लोगों ने ध्वन्यमान कहा है और अनुमेय, अप्रधानता अप्राप्त होती है क्योंकि वे अर्थव्यापार के विषय हैं। उनके शब्दव्यापारविषय होने का खण्डन किया जा चुका है। किन्तु मानी तो जाती है उनकी प्रधानता। तो प्रधानता अप्रधानता की व्यवस्था कैसे बने?

चक्राभिघात०—में पर्यायोक्तालंकार है। उसमें समासोक्ति के समान प्रतीयमान ही प्रधान है। वाच्य नहीं। ऐसा पहले बतलाया जा चुका है। हयग्रीववध में 'एकाभिघात' ऐसा पाठ है। सुदर्शन को पुंलिंग में पढ़ा गया अतः उसका 'यः' इस (यत् पद से प्रथमा एकवचनान्त रूप) से परामर्श हुआ। उसे बिना समझे यदि चक्र इसी पाठ को माना जाय तो यत् शब्द को नपुंसक लिङ्ग में पढ़ा जाना चाहिये। इसलिये विष्णु ही यहाँ यत् शब्द से परामृष्ट माने जाते हैं—ऐसा कहकर कुछ लोग संगति लगाते हैं। पर वहाँ प्रकरण ऐसा नहीं है।

प्राधान्य-अप्राधान्यम्—यहाँ गमक अप्रधान है, क्योंकि वह उपाय होता है। ऐसा गम्य प्रधान है क्योंकि वह उपेय होता है। इसलिये प्रतीयमान गम्य होने से प्रधान है।

न प्रतीत्यपेक्षया—शब्द अर्थ से जो ज्ञान होता है उसके आधार पर प्राधान्य अप्राधान्य की व्यवस्था नहीं हो सकती। उन शब्द अर्थ से होने वाले प्राधान्य अप्रधान्य का विचार तो यहाँ गम्यगमक भाव (कृत प्राधान्य अप्राधान्य) के क्षेत्र से बाहर किया गया है।

तदपेक्षया—गम्यगमनभाव को लेकर।

क्वचित् = कहीं—जहाँ प्रतीयमान का सद्भाव हो, वहाँ प्राधान्य नहीं होता।

वाच्यस्यापीति—जो शाब्द रूप से प्रधान कहा जाने योग्य है—उसका भी। तात्पर्य यह कि वाच्य प्रतीयमान के प्रति गमक रूप से ही व्यवस्थित है इसलिए इसको देखते हुए इसका अप्राधान्य है।

ननु यदि प्रतीतेरेकरसप्रसृतायाः परिस्खलनहेतुत्वादयं प्रक्रमभेददो-षोऽनौचित्यमित्युच्यते तदिदानीमेकस्मिन्नेव वस्तुनि निर्वर्ण्यमाने महा-

कवीनां या विचित्रा भङ्गीभणितयोऽलङ्कारसंज्ञास्तास्वप्ययं प्रक्रमभेददोषो दुर्निषेधः स्याद् विशेषाभावात् ।

मैवं वोचः ।

तत्राप्यस्माभिरयमिष्यत एव ।

कथं तर्हि वैरस्यं न प्रकाशते ।

तस्याङ्गनावदनेन्दुबिम्बगतस्येव कलङ्कलेशस्य स्वादिष्ठाभिरलङ्कारपरम्पराभिरभिभूयमानत्वाद्वाक्यभेदाच्चेति । यदुक्तम्—

"एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।" इति ।

न तु तावतासौ नास्त्येवेति शक्यं कल्पयितुं तत्सद्भावस्य न्यायसिद्धत्वात् । न हि भङ्गीभणितिविषमे वर्त्मनि प्रवर्त्तमाना प्रतीतिरपरिस्खलितक्रमेणैव प्रवर्त्तत इत्युपपद्यते कारणभेदस्यापि कार्यभेदहेतुत्वोपगमात् । तदेतदुक्तं भवति सर्व एव भणितिप्रकारः प्रक्रमभेदस्य विषय इति ।

स च विविच्यमानो वाच्यप्रतीयमानार्थनिष्ठ एव पर्यवस्यतीति शाब्दश्चार्थश्चेति तथैव द्वैविध्येन प्रतिपादितः ।

शंका—यदि एकरस चल रही प्रतीति में भेद डालने के कारण यह प्रक्रमभेद अनौचित्य—कहा जा रहा है तो इस स्थिति में एक ही बात के कहने में महाकवियों की जो विचित्र उक्तियाँ देखी जाती हैं और जिन्हें अलंकार रूप माना जाता है उनमें भी प्रकमभेद होगा, वह हटाया नहीं जा सकेगा, कारण कि यहाँ और वहाँ कोई अन्तर नहीं है ।

उत्तर—ऐसा न कहिए । वहाँ भी हम इसे (प्रकमभेद को) मानते ही हैं ।

प्रश्न—तो विरसता प्रतीत क्यों नहीं होती ?

उत्तर—इसलिये कि वह सुन्दरी के मुखकमल में पड़े किसी छोटे से काले चिह्न के समान, अत्यन्त स्वादु अलङ्कारोंमें दब जाता है और वाक्य में भिन्नता चली आती है । जैसा कि कहा है—जहाँ गुणों का जमघट होता है वहाँ एक दोष चन्द्र की किरणों में कलंक के समान डूब जाया करता है । इतने से यह (प्रक्रमभेद) नहीं ही है ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । क्योंकि उसका अस्तित्व न्यायसिद्ध है । जो प्रतीति विचित्र कथन के विषम पथ पर आगे बढ़ती है वह एकरूप से ही आगे बढ़ती रहती है । ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कारण में आई भिन्नता कार्य में भिन्नता पैदा करती है—ऐसा माना जा चुका है । इसलिये यह बात स्थिर होती है कि सभी प्रकार के भणितिभेद में प्रकमभेद रहता ही है ।

और वह (प्रक्रम भेद) विवेचन करने पर वाच्य और प्रतीयमान अर्थ में रहता जान पड़ता है इसलिये शाब्द और आर्थ होता है और इसीलिये वह दो प्रकार का बतलाया गया है ।

विचित्रा भङ्गीभणितय **इति यथा भट्टबाणस्य तेषु तेषु स्थानेषु ।** अभिभूयमानत्वादिति । **यदुक्तं** ध्वनिकृता—**'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः' इति ।**

वाक्यभेदाच्चेति **वाक्यान्तरापेक्षया हि वाक्यान्तरस्य भङ्गीभणितिवैचित्र्यमित्यंशेन प्रतीतिवैदूर्यान्न प्रकमभेददोषं प्रकाशयति ।**

न्यायसिद्धत्वादिति। **न्यायोऽत्र भणितिवैषम्यम्।** कारणभेदस्यापीति **न केवलं प्रतीतिभेदो भेदहेतुः, यावत्कारणभेदोऽपि। प्रतीतिभेदो विज्ञप्त्यपेक्षया भेदहेतुः, कारणभेदः पुनरुत्पत्त्यपेक्षयेति विशेषः। तदुक्तम्—**

"अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा भावानां योऽयं विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च" इति।

इह भङ्गीभणितिवैचित्र्यावैचित्र्ये प्रतीतिपरिस्खलनयोः कारणे।

स चेति **प्रक्रमभेदः।**

शाब्दश्चार्थश्चेति **पूर्वं प्रकृत्यादिप्रक्रमभेदविलक्षणौ शाब्दार्थप्रक्रमभेदौ लक्षितावुदाहृतौ च। अधुना वाच्यप्रतीयमानार्थापेक्षया पर्यवसानाभिप्रायेण सर्वप्रक्रमभेदव्यापकौ सामान्येन शाब्दार्थप्रक्रमभेदावुक्ताविति, विशेषो बोद्धव्यः।**

विचित्रा—जैसे बाणभट्ट की उक्तियों में स्थान स्थान पर। अभिभूयमानत्वात्—जैसा कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा है—अव्युत्पत्ति से पैदा हुआ दोष कवि की शक्ति से दब जाता है।

वाक्यभेदाच्च—दूसरे वाक्यों के आधार पर दूसरे वाक्यों में भङ्गीभणिति का वैचित्र्य होता है, इसलिये आंशिक रूप से प्रतीति में दूरी पड़ जाती है, अतः प्रक्रमभेद दोष दिखाई नहीं देता।

न्यायसिद्धत्वात्—न्याय (हेतु) है यहाँ भणिति की विषमता।

कारणभेदस्यापि—केवल प्रतीतिभेद ही भेद का हेतु नहीं है। कारणभेद भी उसका हेतु है। प्रतीतिभेद समझ में भेद हेतु होता है कारण भेद उत्पत्ति में केवल इतना अन्तर है। कहा भी है—'भेद या भेद का हेतु यही कहा जाता है कि विरुद्ध धर्मों की प्रतीति या कारण का भेद।' भङ्गीभणिति के वैचित्र्य और अवैचित्र्य प्रतीति के परिस्खलन में कारण बनते हैं।

स च—प्रक्रम भेद।

शाब्द आर्थ—पहले प्रकृत्यादि के प्रक्रमभेद से भिन्न शाब्द और आर्थ प्रक्रमभेद सामान्य रूप से बतलाये गये और उनके उदाहरण भी दिये गये। यहाँ उपसंहार करने के लिये वाच्य और प्रतीयमान की दृष्टि से सभी प्रक्रमभेदों में सामान्य रूप से व्याप्त शब्द और अर्थ के प्रक्रमभेद कहे गये। यह इनमें अन्तर है।

वस्तुप्रक्रमभेदो यथा

'इयं गेहे' इति। अत्र प्रथमे पादे साक्षान्नायिकायाः स्वरूपं वर्णयितुमुपक्रम्योत्तरत्र भेदेन तदीयस्पर्शादिवर्णनं निर्वाहितमिति वस्तुप्रक्रमभेदो दोषः।

ननूभयत्राप्यर्थतस्तत्स्वरूपप्रकर्षप्रतीतिः पर्यवस्यतीति कथमयं दोषः। सत्यम्। स्यादेवं यद्यसावुभयत्राप्यसञ्जातपरिस्खलनखेदवैरस्या सत्येकरसैव पर्यवस्येत्। न चोक्तनयेनैतत्सम्भवतीति दोषतयैवायमुक्तः। तेन मुखं पूर्णश्चन्द्रो वपुरमृतवर्त्तिर्नयनयोः' इत्येवमयं पाठः परिणमयितव्यः।

वस्तु प्रक्रमभेद यथा—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोरसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥

'यह (सीता) घर में लक्ष्मी है, यह आँखों में अमृत की वर्त्ती है। इसका यह स्पर्श शरीर पर घना चन्दन रस है। यह हाथ गले में ठंडा और चिकना मोती का हार है—(इस प्रकार) इसका क्या मुझे प्रिय नहीं है। केवल असह्य है तो विरह ही। यहाँ प्रथम चरण में स्वयं

नायिका का वर्णन करना आरम्भ किया, आगे चल कर अन्त तक उसके स्पर्श आदि का वर्णन स्थिर रखा। इस प्रकार वस्तु के प्रक्रम का भेद यह हुआ।

शंका—दोनों ही जगह नायिका के स्वरूप की प्रतीति बढ़ी चढ़ी मात्रा में हो ही जाती है, इसलिये यह दोष कैसे (हो सकता है) ?

उत्तर—ठीक है। ऐसा सम्भव था यदि यह (प्रतीति) दोनों ही जगह टूटने से विरस हुये बिना एक सी बनी रह जाती ? पर उक्त प्रकार से यह सम्भव नहीं, अतः इसे दोष रूप ही माना। 'इसलिये मुख' पूर्णचन्द्र है, शरीर नेत्रों के लिये अमृत वाणी है ऐसा पाठ बदल लेना चाहिये।

वस्तुप्रक्रमभेद **इति। वस्तु वर्णनीयं यथा वर्णयितुं प्रक्रान्तं तस्य तथा निर्वाहाभावाद् वस्तुप्रक्रमभेदः।** भेदेनेति अवयवसम्बन्धित्वेनेत्यर्थः। **प्रथमे हि पादे अवयविन एव स्वरूपेण वर्णनं प्रक्रान्तमित्यवयविसम्बन्धित्वेन निर्वाहणं दोषः।**

उभयत्रापीति **अवयविवर्णने अवयववर्णने च।** तत् स्वरूपं **नायिकास्वरूपम्।**

वस्तु प्रक्रमभेद, वस्तु = वर्णनीय। जैसे वर्णन आरम्भ किया उसका वैसा ही अन्त तक निर्वाह न होने से वस्तु प्रक्रमभेद।

भेदेन—अवयव के साथ सम्बन्धित होने से। प्रथम चरण में अवयवी का ही स्वरूपतः वर्णन आरम्भ किया गया है, इसलिये निर्वाह अवयव सम्बन्धी (स्पर्श आदि) से करना दोष है।

उभयत्रापि—अवयवी और अवयव दोनों के वर्णन में।

तत्स्वरूपम्—नायिका का स्वरूप।

विमर्श: पाठान्तर यह चाहिये 'मुखं पौर्णश्चन्द्रः' और 'तनुरमृतवर्त्तिर्नयनयोः।'

यथा च—

**"तरङ्गय दृशोऽङ्गने ! पततु चित्रमिन्दीवरं
स्फुटीकुरु रदच्छदं व्रजतु विद्रुमः श्वेतताम्।
क्षणं वपुरपावृणु स्पृशतु काञ्चनं कालिका-
मुदञ्चय मनाङ् मुखं भवतु च द्विचन्द्रं नभः॥"**

अत्र उपमानानामिन्दीवरादीनां निन्दाद्वारेण नयनादीनामुपमेयानां यत् तेभ्योऽतिशयलक्षणं वस्तु वक्तुं प्रक्रान्तं तस्यानिर्वाहात् भेदः मुखचन्द्रयोः सादृश्यप्रतिपादनमात्रपर्यवसानात्। तदेवमत्र पाठः पठितव्यः—'उदञ्चय मनाङ्मुखं भवतु लक्ष्यलक्ष्मा शशी'।

और जैसे—

हे सुन्दरी ! जरा आँखें लहरा (ताकि) ये घमण्डी नील कमल झुक जायँ; अपने ओंठ खोल (ताकि) मूँगे सफेद (फक्क) पड़ जायँ। छिन भर के लिये अपना आँग उघाड़ (ताकि) सोना काला हो जाय, थोड़ा मुखड़ा ऊँचा कर (ताकि) आसमान में दो चाँद हो जायें।

यहाँ इन्दीवर आदि उपमानों की निन्दा के द्वारा नयन आदि उपमेयों की जो अतिशायितारूपी वस्तु आरम्भ की गई है उसका निर्वाह नहीं किये जाने से (प्रक्रम का) भेद हुआ, कारण कि मुख और चन्द्र का पर्यवसान केवल सादृश्यमात्र के प्रतिपादन में ही हो रहता है। अतः इस प्रकार का पाठ यहाँ न कर लेना चाहिये—

'उदञ्चय मनाङ् मुखं भवतु लक्ष्यलक्ष्मा शशी' = थोड़ा चेहरा ऊँचा कर, जिससे चन्द्र का कलङ्क दिखाई देने लग जाय।

अङ्गने इत्यामन्त्रणम्। पततु अधस्तात् गच्छतु।

सादृश्यप्रतिपादनेति द्विचन्द्रमिति हि पाठे वदनेन सह चन्द्रो नभसो द्विचन्द्रतामापादयति। तच्च वदनचन्द्रयोः सादृश्यमूलमिति व्यतिरेकप्रक्रमे सादृश्यनिर्वाहात् प्रक्रमभेदः।

अङ्गने—यह सम्बोधन पद है।

पततु = नीचे चला जाय।

सादृश्य प्रतिपादन—'द्विचन्द्रं नभः' इस पाठ में (एक वदन और एक चन्द्र इस प्रकार) वदन के साथ चन्द्र आकाश में दो चन्द्र वाला होना सिद्ध करता है। वह मुख और चन्द्र के सादृश्य का कारण है। (या वह मुख और चन्द्र के सादृश्य से सिद्ध होता है) इस प्रकार व्यतिरेक के प्रकम में सादृश्य से निर्वाह करने में प्रक्रमभेद हुआ।

विमर्श: वस्तुतः पाठ चाहिये 'भजतु चन्द्रमाः पाण्डुताम्'।

यथा च—

'तद् वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा तच्चेत् स्मितं का सुधा
सा चेत् कान्तिरतन्त्रमेव कनकं ताश्चेद् गिरो धिङ् मधु।
सा दृष्टिर्यदि हारितं कुवलयैः किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविरसः सर्गक्रमो वेधसः॥' इति।

अत्राप्युपमानादुपमेयस्यातिरेकलक्षणं यद्वस्तु वक्तुमिष्टं तस्यार्थान्तरन्यासमुखेन प्रक्रमभेदः वस्तुसर्गपौनरुक्त्यस्य सादृश्यमात्रपर्यवसानादिति। तेन 'पुनरुक्तवस्तुविमुख' इत्यत्र युक्तः पाठः। दोषोऽयमेवञ्जातीयकानामर्थदोषाणामन्येषामप्युपलक्षणम्।

तेन 'तपेन वर्षा' इत्याद्यपाकृतं भवति।

और जैसे—

'यदि वह मुख था तो चन्द्रमा की कथा ही बन्द थी, यदि वह मुस्कुराहट थी तो अमृत क्या था? यदि वह कान्ति थी तो सुवर्ण व्यर्थ, वे शब्द यदि थे तो मधु को धिक्कार। वह दृष्टि यदि थी तो कुवलय (नील कमल) हारे ही हुये थे, और अधिक क्या कहें—सच है कि विधाता की सृष्टि का क्रम दोहरी चीज बनाने से नीरस है।' यहाँ भी उपमान की अपेक्षा उपमेय का अतिरेक रूपी जो वस्तु अभीष्ट थी, उसका अर्थान्तरन्यास के द्वारा प्रक्रमभेद कर दिया गया। वस्तुओं की सृष्टि में पौनरुक्त्य (दोहरापन) केवल सादृश्य में ही परिणत होता है! इसलिये यहाँ—'पुनरुक्तवस्तुविमुखः' दोहरी चीज की ओर न मुड़ने वाला यह पाठ चाहिये। यह दोष ऐसे ही अन्य अर्थ दोषों का नमूना है। इससे 'तपेन वर्षा' इत्यादि का निराकरण भी हो जाता है।

वस्तुसर्गपौनरुक्त्यस्येति पुनरुक्तवस्तुविरस इत्यत्र हि पुनरुक्तवस्तुभिर्विरस इति व्याख्याने सादृश्येन निर्वाहः कृतः, व्यतिरेकेण च प्रक्रम इति दोष एवायम्। विमुख इति। केचित् पुनरुक्तवस्तुषु विरसः पुनरुक्तानि वस्तूनि न करोतीति व्याख्यानेन व्यतिरेकनिर्वाहाद् यथास्थितं पाठं समर्थयाञ्चक्रिरे।

अर्थदोषाणामिति प्रक्रमातिक्रमरूपाणामित्यर्थः।

नपेन वर्षा इति—

"तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनकॢप्तिं दधतः सदर्त्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां दधुः ॥" (माघे १।६६)

अत्र हि स्त्रीपुरुषयुगलत्रयरूपतया ऋतूनां वर्णने प्रस्तुते स्त्रीरूपाणामृतूनां तृतीयासम्बन्धादप्राधान्ये विवक्षिते यत् तपेन वर्षा इत्यत्र विपर्ययः कृतः, कृते वा तथा निर्देशे शरदा हिमागम इत्यादौ यदन्यथाकरणं स प्रक्रमभेद एव। यदि परं स्त्रीपुंसयोरत्र येन क्रमेण प्रक्रमः तस्यान्यथा निर्वाहात् क्रमप्रक्रमभेदमिमं विद्मः। तेन पूर्वं क्रमप्रक्रमभेदस्येदमेवोदाहरणं देयम्। तेन वरं 'घनाश्रियोष्णः शरदा हिमागम' इति पाठः कर्त्तव्यः।

वस्तुसर्गपौनरुक्तयस्य—'पुनरुक्तवस्तुविरस' इस पाठ में 'पुनरुक्तवस्तुभिर्विरसः' इस प्रकार की व्याख्या करके सादृश्य द्वारा निर्वाह किया गया है, और आरम्भ व्यतिरेक से हुआ है, अतः यह दोष ही है।

विमुख—कुछ लोगों ने—'पुनरुक्तवस्तुषु विरस' इस प्रकार पुनरुक्त वस्तु नहीं बनाता—ऐसी व्याख्या कर व्यतिरेक का निर्वाह किया और यथा स्थित पाठ का समर्थन भी किया है!

अर्थदोषाणाम्—अर्थात् प्रक्रम का अतिक्रमण आदि रूप अर्थ दोषों का।

तपेन वर्षा इति—इस (रावण) के नगर में सभी ऋतु एक साथ रहने वाले कुटुम्बी कुटुम्बिनी से बन गये थे, वे सभी मिलकर पुष्प का कार्य पूर्ण करते थे। ग्रीष्म से वर्षा मिलकर शरद् से हेमन्त और वसन्त लक्ष्मी से शिशिर।'

यहाँ ऋतुओं का वर्णन स्त्री-पुरुष के तीन जोड़ों के रूप में शुरू हुआ। उसमें भी ऋतुओं का तृतीया द्वारा अप्राधान्य बतलाना अभीष्ट था।' पर उसे 'तपेन वर्षाः' में उलट दिया गया (यदि ऐसा किया था तो अन्त तक ऐसा ही करना चाहिये था पर उसे पुनः) 'शरदा हिमागमः' में उलट दिया। इसलिये यहाँ यह प्रक्रमभेद हुआ पर हम इसे क्रमगत प्रक्रमभेद समझते हैं। कारण कि स्त्री पुरुषों का जो क्रम शुरू किया था उसका उलटे क्रम से अन्त किया। इसलिये पहले जो (तव कुसुमशरत्व में) क्रम का प्रक्रमभेद बतलाया है उसके लिये इसी पद्य का उदाहरण देना चाहिये। इसलिये—'घनश्रियोष्णः शरदा हिमागमः' पाठ चाहिये।

विमर्श : 'तपोऽभ्रलक्ष्म्या शरदा हिमागमो वसन्तकालः शिशिरश्रिया तथा। प्रसूनकॢप्त्याय सदर्तवोऽन्विताः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां दधुः।' ऐसा पाठ अधिक अच्छा माना जा सकता है।

ननु कर्तृप्रक्रमभेदोऽपीह कस्मान्न प्रदर्शितः।

असम्भवादिति ब्रूमः। यस्तु क्वचित् कविभिः प्रयुज्यमानो दृश्यते स कर्तृव्यत्यासो नाम गुण एव, न दोषः। तत्रैव चायं प्रक्रमभेदभ्रमो भवतां तयोर्भिन्नलक्षणत्वात्।

यदाह—

**"प्रकृतमपि यत्र हित्वा कर्तृत्वं युष्मदस्मदर्थस्य।
चारुत्वायान्यत्रारोप्येत गुणः स तु न दोषः ॥"**

**"यश्च यथा प्रक्रान्तोऽभिधातुमर्थस्तथैव तस्य न चेत्।
निर्वाहः स प्रक्रमभेदो न प्रकरणावसितः ॥" इति।**

भिन्नलक्षणत्वान्न प्रक्रमभेददोषाशङ्कावकाशः।

शंका—इस प्रकरण में कर्त्तृप्रक्रमभेद क्यों नहीं दिखलाया ?

उत्तर—हमारा कहना है कि यह असम्भव है। जो (यह कर्त्तृप्रक्रमभेद) कहीं-कहीं कवियों द्वारा प्रयुक्त दिखाई देता है वह तो प्रत्युत कर्त्तृव्यत्यास नाम का गुण है, दोष नहीं। आप लोगों को उसी पर प्रक्रमभेद का भ्रम हो गया है, वस्तुतः उन दोनों के स्वरूप भिन्न हैं। जैसा कि कहा है—

जहाँ युष्मद् और अस्मद् शब्द के अर्थ प्रकृत (प्रसंगप्राप्त) हों, तब भी यदि उन्हें छोड़कर उनका कर्तृत्व चारुत्व के लिए किसी और पर आरोपित कर दिया जाय तो वह गुण ही होता है दोष नहीं।

जो विषय (पदार्थ) जिस ढंग से कहना शुरू किया गया, यदि उसका निर्वाह उसी ढंग से न हो तो, वह प्रक्रमभेद दोष होता है। प्रकरण से वह नहीं जाना जाता। इस प्रकार लक्षण भिन्न होने से यहाँ (कर्त्तृप्रक्रमभेद में) प्रक्रमभेद दोष की शंका की कोई गुंजाइश नहीं।

कर्तृप्रक्रमभेदोऽपीति। **यत्र युष्मदस्मदर्थगतं कर्तृत्वं शेषेऽत्र चेतनेऽचेतने वा वक्त्रा बुद्धिपूर्वकमेवारोप्यते, तत्र कर्त्तुरन्यस्यारोपश्चारुत्वाय व्यत्यासो गुण एवेत्यर्थः।** तयोरिति। **कर्तृव्यत्यासप्रक्रमभेदयोः।**

न प्रकरणावसित इति। **युष्मदस्मदर्थस्य हि क्वचित् कर्तृत्वं प्रकरणाद्यवसितं न शब्देनाभिधातुं प्रक्रान्तमिति नायं प्रक्रमभेददोषस्य विषयः।**

कर्त्तृप्रक्रमभेद :—जहाँ युष्मद् और अस्मद् शब्द के अर्थ में स्थित कर्तृत्व वक्ता द्वारा जानबूझ कर अन्य किसी चेतन या अचेतन पर आरोपित किया जाता है, वहाँ दूसरे कर्त्ता का आरोप चारुत्वजनक होता है इसे व्यत्यास नाम का गुण मानते हैं।

तयोः—कर्तृव्यत्यास और कर्त्तृप्रक्रमभेद दोनों का।

न प्रकरणावसित—कहीं-कहीं युष्मद् अस्मद् अर्थ की कर्तृता प्रकरण आदि से समझ ली जाती है, शब्द से कहा नहीं जाता। इसलिये यह प्रक्रमभेद दोष नहीं।

तत्र युष्मदर्थस्य यथा 'यथाह सप्तमो वैकुण्ठावतार' इति। अत्र हि यथात्थ त्वमिति युष्मदर्थस्य कर्तृत्वं प्रकृतमपहाय चारुत्वाय ततोऽन्यत्रारोप्यैवमुक्तम्। दाशरथिं रामं प्रति हि कस्यचित् समक्षमियमुक्तिः।

अस्मदर्थस्य यथा—'नाभिवादनप्रसाद्यो रेणुकापुत्रः, गरीयान् हि गुरुधनुर्भङ्गापराध' इति। अत्रापि हि नाभिवादनप्रसाद्योऽस्मीति वक्तव्ये पूर्ववच्चारुत्वायैवमुक्तम्। एषा हि भार्गवस्यात्मानमुद्दिश्योक्तिः।

यथा च—

"अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने! न चेद् रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि" इति।
अत्राप्यहं प्रष्टुमना इति वक्तव्येऽस्मदर्थस्य कर्तृत्वमन्यत्रारोप्यैवमुक्तम्।

दोनों में युष्मद् अर्थ का (प्रकृत कर्तृत्व हटाकर उसका अन्यत्र आरोप) यथा—

'वैकुंठ के सातवें अवतार (आप) की जो आज्ञा।' यहाँ 'तुमने जो कहा' इस प्रकार युष्मद् अर्थ की उपस्थित कर्तृता हटाकर, चमत्कार के लिये उसका दूसरे (अन्य पुरुष वैकुण्ठ के अवतार) पर आरोप करके ऐसा कहा गया। दशरथ के पुत्र राम के सामने यह किसी की उक्ति है।

और अस्मद् अर्थ का जैसे—

'रेणुका का बेटा प्रणाम से प्रसन्न होने वाला नहीं, गुरु के धनुष को तोड़ने का अपराध बहुत बड़ा है।' यहाँ भी 'मुझे प्रणाम से खुश नहीं किया जा सकता' ऐसा कहना था। पर चारुता के लिये पूर्ववत् ऐसा कहा। यह परशुराम का अपने प्रति कथन है।

और जैसे—

'यह जन पूछना चाहता है, हे तपोधने! यदि कोई छिपाने योग्य बात न हो तो बतलाएँ।' यहाँ भी 'मैं पूछना चाहता हूँ'—ऐसा कहना था। सो अस्मद् अर्थ की कर्तृता को दूसरे पर रोप कर यह कहा गया।

अन्यत्रारोप्यैवमुक्तमिति **शेषत्वेन विवक्षिते रामभद्रे। एवमुत्तरत्र भार्गवे वटौ चान्यत्वं योजनीयम्।**

अन्यत्रारोप्यैवमुक्तमिति—शेष (अन्यपुरुष) रूप से विवक्षित राम पर। और अगले पद्यों में इसी ढंग से परशुराम और बटु पर अन्यता का आरोप किया गया है।

ननु युष्मदस्मदर्थस्य चेतनत्वात् तदपेक्षयाचेतनस्यैवान्यत्वमुचितमिति कथं चेतनस्यैवान्यत्वमित्याह द्विविधो हीति।

शंका—'युष्मद् का अर्थ चेतन होता है, उससे भिन्न अचेतन को ही मानना चाहिए, फिर चेतन को ही भिन्न कैसे माना।' इस पर उत्तर देते हैं—

द्विविधो ह्यन्यशब्दार्थश्चेतनाचेतनभेदात्। तत्र चेतनेऽन्यत्रारोपो हि दर्शित एव। अचेतने तु यथा—

"चापाचार्यः पशुपतिरसौ कार्त्तिकेयो विजेयो
बाणव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः॥" इति।

अत्र हि त्वं रेणुकाकण्ठबाधां कृतवानिति त्वया बद्धस्पर्धोऽहं लज्ज इति वक्तव्ये चारुत्वाय युष्मदर्थयोः कर्तृत्वमुभयोः परशुचन्द्रहासयोर्जडयोरारोप्यैवमुक्तम्।

यथा च—

"भो लङ्केश्वर! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते
कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद् गतम्।
नैवं चेत् खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः
पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः॥" इति।

अत्रापि हि 'अहं न सहिष्य' इति वक्तव्ये पूर्ववदस्मदर्थस्य कर्त्तृत्वमचेतने पत्रिणि समारोप्यैवमुक्तम्।

अन्य शब्द का अर्थ दो प्रकार का होता है चेतन और अचेतन—इनमें से चेतनरूप अन्य पर आरोप दिखला दिया गया। (रहा) अचेतन पर, (तो) वह इस प्रकार है :—

ये भगवान् पशुपति चापविद्या के आचार्य हैं, जिसे जीता वह कार्तिकेय, शस्त्र से अलग किया समुद्र घर है, यह पूर्ण पृथिवी हन्तकार है, यह सब कुछ है, पर रेणुका का गला काटने वाले तुम्हारे परशु के साथ स्पर्धा लिए हुए—मेरे चन्द्रहास (खड्ग) को लाज आती है।

यहाँ तुमने रेणुका का गला काटा, इसलिए तुम्हारे साथ स्पर्धा करते हुए मुझे लाज आती है ऐसा कहना था, किन्तु सौन्दर्य के लिये युष्मद् और अस्मद् दोनों का अर्थ परशु तथा चद्रहास पर आरोपित करके ऐसा कहा। और जैसे—

हे लंकेश्वर रावण ! जनक की बेटी (सीता) को लौटा दो, खुद राम ही माँग रहे हैं। तुम्हारी बुद्धि में यह हेर-फेर कैसा ? न्याय को याद करो, अभी भी कुछ नहीं गया है। नहीं तो धनुष पर चढ़ा हुआ मेरा यह खरदूषण और त्रिशिरा के गले के खून से सना बाण सहेगा नहीं।

यहाँ भी—मैं नहीं सहूँगा—ऐसा कहना था पर पहले के समान अस्मद् शब्द के अर्थ का कर्तृत्व अचेतन बाण पर आरोपित करके ऐसा कहा।

अयं भावः। न युष्मदस्मदर्थगतचेतनत्वापेक्षया वस्त्वन्तरस्यान्यत्वम्, अपि तु युष्मदस्मदर्थत्वापेक्षयैव। युष्मदस्मदर्थौ च क्रमात् सम्बोध्यमानवस्तुनिष्ठः परभावोऽस्मिताख्या प्रत्यक्ता च। ततश्च तदपेक्षया शेषस्यान्यत्वम्। तस्य च चेतनत्वाचेतनत्वाद् द्वैविध्यमिति न विरोधः कश्चित्।

परशुना चन्द्रहास इति **क्रमेण द्वयोरपि युष्मदस्मदर्थयोरचेतनविषयकर्तृताव्यत्यास उदाहरणम्।**

भो लङ्केश्वर **इति। अत्र रामः स्वयं याचत इति अस्मदर्थकर्तृत्वस्य चेतनविषयव्यत्यासस्यान्यत् स्थितमप्युदाहरणीयं न चिन्तितं, पूर्वमुदाहरणान्तरे चिन्तितत्वात्, चिन्तान्तरप्रस्तावाच्च।**

भाव यह है कि—युष्मद् और अस्मद् अर्थ की चेतनता को लेकर किसी दूसरे को अन्य नहीं माना जा रहा है अपितु युष्मद् और अस्मद् के अर्थत्व को लेकर। युष्मद् और अस्मद् के अर्थ क्रम से—सम्बोध्यमान (जिसको सम्बोधित करके कुछ कहा जा रहा हो) वस्तु में रहने वाली भिन्नता (परत्व) अस्मिता (अपनेपन का मान) रूप—प्रत्यक्त्व (आत्माभिमुखता) है। उनको लेकर उनसे भिन्न वस्तु में अन्यता रही और वह उनसे भिन्न चेतन और अचेतन करके दो प्रकार के ही होते हैं। इसलिए कोई विरोध नहीं।

परशुना चन्द्रहास :—इस प्रकार क्रम से दोनों युष्मद् अस्मद् अर्थों के कर्तृत्व का अचेतन विषय में व्यत्यास (परिवर्तन) उदाहरण रूप से उपस्थित किया गया।

भो लंकेश्वर :—यहाँ 'राम खुद' माँगते हैं—इस अंश के अस्मद् के अर्थ का कर्तृत्व चेतन विषय (इस श्लोक के वक्ता) पर ही आरोपित हुआ है। अर्थात् याचना करता है दूत और कहता है कि राम याचना कर रहे हैं—इसमें अपने ऊपर राम (चेतन) का आरोप दूत ने किया। इस प्रकार यह चेतन का चेतन पर आरोप होने का उदाहरण भी बन गया। इसका भी एक उदाहरण दिया जा सकता है, पर (ग्रन्थकार ने) उस पर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि पहले (अयं जनः इत्यादि में) उसको बतलाया जा चुका है और यहाँ का प्रकरण दूसरे विषय का है।

तदेवमियता प्रबन्धेन प्रक्रमभेदं विचार्य क्रमप्राप्तं क्रमभेदं विचारयितुमाह क्रमभेदो यथेति।

इस प्रकार इतने ग्रन्थ से प्रक्रमभेद का विचार कर वे अब क्रमप्राप्त क्रमभेद का विचार करना शुरू करते हैं।

(३) क्रमभेद

क्रमभेदो यथा—

"तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।" इति।

अत्र हि परामर्शनीयमर्थमनुक्त्वैव यस्तस्य सर्वनामपरामर्शः स क्रम-

भेदो दोषः। तस्य हि प्रक्रान्तोऽर्थो विषय इष्टो न प्रक्रंस्यमानः तस्य स्मृतिपरामर्शरूपत्वात्। स्मृतेश्चानुभूत एवार्थो विषयो नानुभविष्यमाणः। अत्र च प्रतीतिमात्रमनुभवोऽभिमतो नेन्द्रियविषयभावः। न स गङ्गार्थः प्रतीतपूर्वो, यः परामृश्येतेति परामर्शप्रक्रमभेदो दोषः।

क्रमभेद। यथा—

उसके तीर्थ में हाथी के पुल से प्रतीपगा (पश्चिमवाहिनी) गङ्गा को पार कर रहे—इसके (लिये) आकाश में उड़ रहे अतः पंख डुलाते हंस प्राकृतिक चामर बन बैठे।

यहाँ परामर्शनीय विषय को कहे बिना ही उसका जो (तदीय के तद्) सर्वनाम से परामर्श किया वह क्रमभेद दोष हुआ। उस (सर्वनाम) का विषय माना जाता है प्रकरण से प्राप्त अर्थ, न कि आगे आने वाला। क्योंकि वह सर्वनाम परामर्श स्मरण रूप परामर्श ही होता है। और स्मृति का विषय अनुभूत ही होता है, आगे चलकर अनुभव में आने वाला नहीं। यहाँ (सर्वनाम से होनेवाले स्मरणरूप परामर्श में) केवल प्रतीतिसामान्य को अनुभव माना गया है। इन्द्रियों से होने वाला प्रत्यक्ष नहीं। (यहाँ) यह गङ्गारूपी अर्थ पहले हुआ ज्ञान नहीं है जिसका परामर्श किया जा सके। इसलिये यहाँ परामर्श का क्रमभेद हुआ।

ननु यदि स्मृतिपरामर्शकस्य तच्छब्दस्यानुभूत एवार्थो विषय इत्युच्यते, येऽत्यन्तपरोक्षा रामादयस्तेषां कविना काव्ये तच्छब्देन कथं परामर्शः क्रियते तेषामतीन्द्रियत्वादित्याह—अत्र च प्रतीतिमात्रमिति। **अयमत्राभिप्रायः। येन विना यन्नोपपद्यते तस्य तदपेक्षा न्याय्या। स्मृतिश्च प्रतीतिमात्रमन्तरेणानुपपद्यमाना तदपेक्षिणी स्यात्, नैन्द्रियिकप्रतीत्यपेक्षिणी, ऐन्द्रियिकप्रतीतिं विनापि शब्दादिभ्यः प्रतीतौ तस्याः सम्भवदर्शनात्। रामादीनां च यदि नैन्द्रियिकी प्रतीतिस्तदा शब्दात् प्रसिद्धेर्वा प्रतीतिरस्तु। तन्निबन्धनश्च स्मृतिपरामर्शकेन तच्छब्देन परामर्श इति न कश्चिद्विरोधः।**

शंका—तच्छब्द स्मृति द्वारा पदार्थज्ञान कराता है। उसका विषय यदि अनुभूत विषय ही माना जाय तो राम आदि जो अत्यन्त परोक्ष पदार्थ है काव्य में उनका परामर्श तच्छब्द द्वारा कवि कैसे करते हैं। क्योंकि वे तो इन्द्रियातीत हो चुके रहते है? इस पर उत्तर देते हैं—अत्र च प्रतीतिमात्रमिति—अभिप्राय यह है—जिसके बिना जो सिद्ध नहीं होता उसे उसकी अपेक्षा होती है। स्मृति केवल सामान्य प्रतीति के बिना नहीं होती, इसलिए वह केवल उसी (प्रतीति-सामान्य) की अपेक्षा रख सकती है। उस प्रतीति विशेष की नहीं जो इन्द्रियों से उत्पन्न होती है और देखा तो यह जाता है कि इन्द्रिय से होने वाली प्रतीति के बिना भी शब्दादि प्रमाणों से होने वाली प्रतीति के रहने पर स्मृति होती है। इसलिये यदि राम आदि इन्द्रियों द्वारा नहीं देखे गये हैं तब भी शब्द द्वारा उनकी प्रसिद्धि होने से उनकी प्रतीति हो सकती है। उसके आधार पर स्मृति परामर्शक तच्छब्द द्वारा उनका परामर्श हो सकता है। इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं।

विमर्श: तीर्थे तदीये० = रघुवंश का १६।३३ वाँ पद्य है। ३२वें पद्य में कुश द्वारा विन्ध्यगिरि के लाँघने का उल्लेख है। तीर्थ का अर्थ अवतार (हिन्दी में उतार) होता है। यह स्थिर नहीं कि अवतार केवल जल का ही हो। पहाड़ की तलहटी के उतार को भी अवतार कहा जा सकता है। यहाँ विन्ध्य की ऊँचाई पार कर कुश ने उसकी तलहटी के पास गंगा के पश्चिमगामी प्रवाह को पार किया—यह अभिप्राय निहित है। मिरजापुर के पास यह स्थिति आती है। इस प्रकार तदीय का अर्थ 'विन्ध्य गिरि का' करके 'तीर्थ' का अर्थ उतार करने में प्रतीति-परामर्श की कोई आपत्ति नहीं

आती। मल्लिनाथ ने भी इस पद्य का ऐसा ही अर्थ किया है—तदीये वैन्ध्ये, तीर्थेऽवतारे……प्रतीपगाम् = पश्चिमवाहिनीम्।

ननु पदार्थबुद्धावुपक्रम एवायमवभासते दोषः यत्र पदार्थपौर्वापर्यप्रकाशः यत्समाश्रयोऽयं दोष उद्घुष्यते, न वाक्यार्थविमर्शदशायाम्। तत्र हि न पौर्वापर्यप्रतिनियमावभासः तस्य निरंशत्वाद्। बहिरङ्गा च पदार्थबुद्धिरन्तरङ्गश्च वाक्यार्थविमर्श इति कथमयं दोषः ?

सत्यम्, अस्त्येतत्। किन्तु स वाक्यार्थविमर्शः प्रवर्त्तमानो वक्त्रभिप्रायप्रतिरूप एव प्रवर्त्तते, नान्यादृशः, तत्संचारमयत्वाच्छब्दव्यवहारस्य। यदाहुः—'वक्तुरभिप्रायं सूचयेयुः' इति। तत्र चासौ सूक्ष्मतयानभिव्यक्तपदार्थस्वरूपः स्थित एव पदार्थबुद्धौ स्थूलतया केवलं व्यक्तोऽवभासत इति पदार्थसमाश्रयोऽयं दोषस्तत्रापि दुर्निषेध एव।

शंका—जब पदार्थों का ज्ञान एक-एक करके शुरू होता है तभी यह दोष समझ पड़ता है वहीं (पदार्थ ज्ञान काल में) पदार्थ आगे पीछे जान पड़ते हैं जिस पर [पूर्व = आगे, अपर = पीछे, पौर्वापर्य = आगे पीछे सूझना = इस क्रम पर] यह (क्रमभेद) दोष निर्भर बतलाया गया है, वाक्यार्थ का ज्ञान होते समय नहीं [यह दोष नहीं सूझता] उस समय पौर्वापर्य (आगे पीछे) का कोई नियमित क्रम नहीं रहता, कारण कि उस (वाक्यार्थ) में खण्ड नहीं होते वह अखण्ड होता है। पदार्थ की प्रतीति बहिरङ्ग है—बाहरी चीज है। वाक्यार्थ अन्तरंग होता है। इसलिये—(उसमें) यह दोष कैसे (सम्भव है) ?

उत्तर—सचमुच, यह कहना ठीक है, पर वाक्यार्थ का यह विमर्श (ज्ञान) जब भी होता है तब वक्ता के अभिप्राय का प्रतिबिंब ही होता है, और किसी तरह का नहीं, कारण कि शब्द का व्यवहार वक्ता के अभिप्राय पर ही निर्भर है, जैसा कि कहा गया है—'(ये) वक्ता के अभिप्राय की सूचना देते हैं।' उस (वाक्यार्थ) में यह (दोष) वैसे ही सूक्ष्मरूप से छिपा रहता है, जैसे पदार्थ। पदार्थज्ञानकाल में यह साफ दिखाई देता है। इसलिये यह ठीक है कि यह दोष पदार्थाश्रित है, किन्तु इतने पर भी वाक्यार्थ में इसका निषेध नहीं किया जा सकता।

नन्विति। **अयमत्रार्थः।** वाक्यार्थविमर्श **इति। पदार्थविमर्शवेलायां भवत्वियमाशङ्का। वाक्यार्थविमर्शसमये त्वखण्डप्रतीतौ पूर्वापरभावनियमावभासनाभावान्नास्य दोषस्यावकाशः। उद्देश्यत्वाच्च वाक्यार्थप्रतीतेरन्तरङ्गत्वमिति तदाश्रयेणैव व्यवस्थोपपत्तौ न क्रमदोषचिन्ता काचिदिति।** प्रतिरूपः **प्रतिबिम्बरूपः** तत्सञ्चारो **वक्त्रभिप्रायसङ्क्रमणम्।** शब्दव्यवहारस्येति। **शब्दव्यवहारमुखेन श्रोतृगृहीतो वाक्यार्थविमर्शः स्वीकृतः।** वक्तुरिति। **यदि श्रोतृविमर्शपर्यवसायी शब्दव्यवहारो वक्तृविमर्शप्रतिच्छन्दरूपो न स्यात्, तदा शब्दैर्वक्तृविमर्शस्यासम्बन्धित्वादनुमानं न स्यादित्यर्थः।**

तत्र चासाविति। **वक्तृश्रोतृगते वाक्यार्थविमर्शे सूक्ष्मत्वेनास्फुटरूपोऽस्त्येव पौर्वापर्यप्रतिभास इति यावत्।** पदार्थबुद्धाविति **वाक्यार्थपूर्वभासिन्याम्।** तत्रापीति। **वक्तृश्रोतृगतवाक्यार्थविमर्शेऽपि सूक्ष्मः पदार्थाश्रयो दोषो दुर्निवारः पदार्थानतिक्रमेणैव वाक्यार्थविमर्शस्य व्यवस्थितत्वादित्यर्थः।**

नन्विति। यहाँ अभिप्राय यह है कि—पदार्थज्ञानकाल में यह आशंका (दोष सम्भावना) हो

सकती है। पर वाक्यार्थज्ञानकाल में तो प्रतीति अखण्ड रहती है उसमें पूर्वापरभाव (आगे पीछे होना) का नियमतः ज्ञान नहीं होता, इसलिये वहाँ इस दोष की गुंजाइश नहीं। वाक्यार्थ प्रतीति उद्देश्य होती है। अतः वह अन्तरंग भी होती है। इस प्रकार उसी (वाक्यार्थ) के आसरे व्यवस्था (पदार्थों के क्रम का ठीक विन्यास) बन जाता है। क्रमभेद दोष की कोई बात नहीं रहती।

प्रतिरूपः—प्रतिबिम्बरूप।

तत्सञ्चारः—वक्ता के अभिप्राय का संक्रमण।

शब्दव्यवहारस्य :—यहाँ शब्दव्यवहार से श्रोता द्वारा जाना गया वाक्यार्थविमर्श लिया गया।

वक्तुः—शब्दव्यवहार यदि श्रोता के ज्ञान तक ही सीमित मान लिया जाय और उसे वक्ता के ज्ञान का प्रतिरूप न माना जाय तो शब्दों द्वारा उनसे असम्बन्धित वक्ता के ज्ञान का अनुमान न हो।

तत्रचासौः—वक्ता और श्रोता को वाक्यार्थ का जो ज्ञान होता है उसमें पौर्वापर्यक्रम है ही। वह सूक्ष्म होने से स्फुट नहीं रहता।

पदार्थबुद्धौ :—वाक्यार्थ ज्ञान के पहले होने वाली पदार्थ बुद्धि (पदार्थ ज्ञान) में।

तत्रापीति :—वक्ता और श्रोता को होने वाले वाक्यार्थ ज्ञान में भी पदार्थाश्रित यह अति सूक्ष्म दोष मिटाया नहीं जा सकता, कारण कि वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थों के अनुसार ही होता है।

न चात्र प्रमादजः पादयोः पौर्वापर्यविपर्यय इति शक्यते वक्तुम् तत्रापि गङ्गाप्रतीपगमनहेतोः शाब्दस्य तदीयतीर्थाभिधानव्यवधाने सत्यन्यस्य प्रक्रमभेददोषस्याविर्भावापत्तेः। तेन पादयोर्विपर्ययः शाब्दस्य च हेतोर्गङ्गाविशेषणमुखेनार्थत्वमित्युभयविपर्ययोऽत्र श्रेयानिति।

परामृश्यमनुक्त्वैव परामर्शोऽस्य यस्तदा।
स दोषो वक्ष्यमाणार्थसंवित्तावक्षमो हि सः ॥ ३२ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि (तीर्थे तदीये इस पद्य के) चरण असावधानी से उलट गये हैं कारण कि चरणों में परिवर्तन करने पर भी प्रक्रमभेद दोष होने लगता है क्योंकि चरण परिवर्त्तन करने पर गंगा के उलटे बहने और उसके शब्दतः कथित हेतु (गज सेतुबन्ध) के बीच तदीयतीर्थ' शब्द चला आता है। इसलिये यहाँ दोनों ही का उलटना अधिक अच्छा होगा [चरणों का भी और शब्द हेतु का भी] शब्द हेतु को गङ्गा का विशेषण बना देने से वह आर्थ हो जाता है। इस प्रकार :—

परामृश्य को बिना ही कहे तत् पद के द्वारा जो इस (परामृश्य) का परामर्श किया जाता है वह दोष है, वह (परामर्श) अर्थ की प्रतीति करने में सक्षम नहीं होता, कारण कि वह आगे कहा जाने वाला होता है (उक्त नहीं)।

प्रमादज **इति। एवं सति प्रक्रंस्यमानवस्तुपरार्शदोषस्तावत् परिहृतो भवति।** प्रतीपगमनहेतोरिति **गजसेतुबन्धादित्यस्य।** शाब्दस्येति **पञ्चम्यन्तत्वात्।** तदीयतीर्थाभिधानेति **हेतुहेतुमतोस्तदीयतीर्थशब्देन व्यवधाने सतीत्यर्थः।** गङ्गाविशेषणमुखेनेति **गजसेतुबन्धामिति पाठे।**

अयमत्राशयः—शाब्दो यत्र हेतुहेतुमद्भावस्तत्र हेतुत्वेनोपन्यासान्न तयोर्व्यवधानं किञ्चित् कार्यम्, प्रतीतिविप्रकर्षप्रसङ्गात्। आर्थे हेतुहेतुमद्भावे उपन्यस्तस्य हेतुत्वाद् विशेषणभूतस्य हेतोर्विशेष्यस्वरूपवर्णनेन चरितार्थत्वात् सत्यपि व्यवधाने न प्रतीतिविप्रकर्षः कश्चित्, पर्यालोचनसामर्थ्याद्धेतुत्वप्रतीतेः। अत्र च श्लोके तीर्थे तदीये इति पदद्वयाकरणेऽपि वाक्यार्थस्य निराकाङ्क्षत्वात् तत्करणमपुष्टार्थमेव।

तदेति तच्छब्देन। स इति तच्छब्दः।

प्रमादज :—ऐसा करने से कम से कम आगे कही जाने वाली वस्तु के परामर्श का दोष मिट जाता है।

प्रतीपगमनहेतोः—'गजसेतुबन्धात्' इसका।

शाब्दस्य :—पञ्चम्यन्त होने से।

तदीय तीर्थाभिधानः—हेतु और हेतुमान (कार्य) के बीच में तदीयतीर्थ शब्द के आ जाने से।

गङ्गाविशेषणः—'गजसेतुबन्धाम्' ऐसा पाठ करने पर।

अयमत्राशयः—जहाँ हेतुहेतुमद्भाव शाब्द हो वहां हेतु का स्वरूपतः कथन होने से बीच में कोई व्यवधान न करना चाहिये। वैसा करने से ज्ञान में दूरी पड़ जाती है। जहां हेतुहेतुमद्भाव आर्थ होता है वहाँ हेतु हेतुरूप से दे तो दिया जाता है पर वह विशेषणरूप रहता है, वह विशेष्य के रूप के वर्णन से चरितार्थ हो जाता है। इसलिये व्यवधान होने पर भी प्रतीति में कोई विप्रकर्ष नहीं होता। उस समय हेतु का हेतुत्व सोचने में समझ में आ जाता है। इस श्लोक में 'तीर्थे और तदीये' दोनों पद हटा भी दिये जायँ तो वाक्यार्थ (की कोई हानि नहीं होती इसलिये वह) निराकाङ्क्ष रहा आता है। अतः इनका देना अपुष्ट है, अधिक महत्व नहीं रखता।

तदा—तच्छब्द द्वारा। सः = वह अर्थात् तद् शब्द।

विमर्श : मूल और टीका दोनों से तीर्थे तदीये··· पद्य पर दो बातें नई ज्ञात होती है। मूल से ज्ञात होता है कि—'प्रतीपगाम्' का अर्थ है 'उलटी बह रही' और गंगा के उलटे बहने का हेतु है उसमें हाथी का पुल बाँधना। अर्थात् हाथी का पुल बाँधने से गंगा उलटी बहने लगी थी अर्थात् उसकी धारा मुहानी की ओर बढ़ने लगी थी। एक बात यह भी मूलकार ने बतलाई है कि उक्त श्लोक के प्रथम दो चरणों को उलटकर—'प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गां, तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्'—पाठ मान लिया जाय तो तद्-पद से जिसका परामर्श करना है—वह गगा पदार्थ पहले आ जाता है, अतः क्रमभेद दोष नहीं रहता। किन्तु ऐसा करने पर दूसरा प्रक्रमभेद दोष आ पड़ता है—कारण कि गंगा का प्रवाह—उलटकर ऊपर की ओर बहने लगा इसमें हेतु हैं—गजसेतुबन्ध। वह 'तीर्थ' और 'तदीय' पदों के बाद आता है। इसलिये गजसेतुबन्ध और प्रतीपगाम् का सम्बन्ध देर से समझ में आता है। इसलिये 'गजसेतुबन्धाम्' पाठ कर देना चाहिये। इससे हेतु में हेतुत्ववाचक पञ्चमी हट जाती है अतः उसका शब्दतः कथन रुक जाता है और उसमें—आर्थभाव (अर्थतः कथन) आ जाता है। इसलिये वह गंगा पदार्थ से सम्बन्धित होता है। गंगा का ही विशेषण प्रतीपगात्व है। दोनों विशेषण विशेष्य में इकट्ठे हो जाते हैं। बाद में उनका हेतुहेतुमद्भाव भी समझ में आने लगता है। व्याख्यानकार ने एक बात और जोड़ दी। उन्होंने कहा कि यदि—प्रतीप···'गजसेतुबन्धाम्' पाठ भी मान लें तब भी इसमें तदीय और तीर्थ शब्द अधिक महत्त्व नहीं रखते। अतः वे अपुष्ट = व्यर्थ हैं। उन्हें हटा देने पर भी वाक्यार्थ प्रतीति में कोई कमी नहीं आती।

हमारी समझ में यह सब इन महामहिम विद्वानों का मतिविभ्रम है। इसका एकमात्र कारण—'तीर्थ' और 'तदीय' शब्द का अर्थ न समझ पाना है। मल्लिनाथ का जो अर्थ हमने ऊपर दिया है वह मान लेने पर कोई कठिनाई नहीं रहती। 'प्रतीपगा' का अर्थ मल्लिनाथ ने भी वही माना है जो महिमभट्ट ने। 'प्रतीपगाम् पश्चिमवाहिनीम्'। किन्तु उसमें उन्होंने गजसेतुबन्ध को हेतु माना है। यह हेतु है अवश्य, परन्तु राजा की उत्तरण (पार करना) क्रिया का हेतु है, गंगा की प्रतीपगमन क्रिया का नहीं। विन्ध्यगिरि के पास प्रयाग और काशी के बीच में गंगा अपने आप 'प्रतीपगा' हैं। 'प्रतीपगा' पद से कवि ने इस भौगोलिक तथ्य का निर्देश भर किया है।

यथा च—

'नवजलधरः सन्नद्धोयं न दृप्तनिशाचर' इति।

अत्र हि आरोपनिवृत्तौ तद्विषयवाचिनोः सुरधनुर्धारासारशब्दयोरिव नवजलधरपदस्यापि पूर्वं पश्चाद् वा 'इदंशब्दः' प्रयोक्तव्यः शुक्तिकेयं न रजतमितिवद् इत्येष क्रमो न्याय्यः, यस्तु दृप्तनिशाचरविशेषणवाचिनः सन्नद्धपदानन्तरं तस्य प्रयोगः स क्रमभेदो दोषः। एवमेव—

'कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी' इति। अत्र हि द्वितीयश्चशब्दो भिन्नक्रमः स हि त्वमित्यस्यानन्तरं प्रयोक्तव्यः।

और जैसे—'नवीन जलधर यह उमड़ा आ रहा है न कि दृप्त राक्षस।' यहाँ आरोप की निवृत्ति हो जाने पर उसके (आरोप के) विषय का अभिधायक सुरधनुष और धारासार शब्दों के समान ही नवजलधर के भी पहले या पीछे 'इदं' शब्द देना चाहिए; जैसे-'यह सीप है (या सीप है यह) रजत नहीं'। अतः यही क्रम उचित है। परन्तु उस (इदं) का प्रयोग दृप्तनिशाचर—विशेषणवाची सन्नद्ध पद के बाद है, अतः वह क्रमभेद दोष है।

इसी प्रकार—'कला च सा०' में द्वितीय 'चकार' क्रम से नहीं रखा गया। उसे 'त्वम्' के बाद रखना था।

आरोपनिवृत्ताविति **आरोपो भ्रमोऽन्यस्यान्यत्वेन प्रतीतिः, यथा नवजलधरस्य सन्नद्धदृप्तनिशाचरत्वेन। तन्निवृत्तावत्र वक्ष्यमाणायामारोपविषयस्य जलधरादेर्वस्तुसतः प्रकाशमानस्येदमादिना न्याय्ये निर्देशे तस्य परामृश्यसमीप एव प्रयोगेण भाव्यम्। यस्त्ववस्तुसदारोप्यमाणनिकटे प्रयोगः स क्रमभेदमावहति। यस्त्वत्रैवारोपविषयस्वरूपया विद्युतो निकट इदमाद्यप्रयोगः, तत्र दूषणान्तरावकाशः।**

आरोप = भ्रम अर्थात् दूसरे की दूसरे रूप से प्रतीति। जैसे नए मेघ की सन्नद्ध दृप्तनिशाचर रूप से। उसकी निवृत्ति यहाँ कही जा रही है। उसमें आरोप के विषय जलधर आदि जो वस्तुतः है और दिखाई दे रहे हैं उनका निर्देश 'इदम्' आदि शब्द से चाहिए। इसलिए भी कि इस (इदं) का प्रयोग सदा परामृश्य के पास चाहिए। पर उसका आरोप्यमाण जो अवस्तुसत् = वस्तुतः मिथ्या है, उसके साथ प्रयोग किया गया। उससे क्रमभेद दोष हुआ। यहीं एक दूसरा दोष—आरोप विषय रूप से उपस्थित की गई विद्युत् के साथ इदम् आदि का प्रयोग न होना भी है।

यथा च—'मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः॥'

इत्यत्र पुनश्शब्दः। स हि तेनेत्यतोऽनन्तरं वक्तव्यः।

'उक्खअदुमं व सेलं हिमहअकमलाअरं व लच्छिविमुक्कम्।
पीअमइरं व चसअं बहुलपओसं व मुद्धअंदविरहिअम्॥'

इत्यत्र ह्युपमानवाचिभ्यां शब्दाभ्यामेवानन्तरमिवशब्दः प्रयोक्तव्यः न साधारणधर्मवाचिभ्याम्, यथात्रैव कमलाकरबहुलप्रदोषशब्दाभ्यामिति। स हि यदनन्तरं श्रूयते तत्रैवोपमानतामाधातुमलमिति, अन्यथार्थस्यासङ्गतिप्रसङ्गात्। न हि भवति 'गौरमिवेन्दुबिम्बं तव मुखमि'ति। न चासौ तथाप्रयुक्त इति क्रमभेदो दोषः। तेन 'सेलं व उक्खअदुममि'ति च पाठः पठितव्यः।

यथा वा—

'उपालब्धेवोच्चैर्गिरिपतिरिति श्रीपतिमसा'विति।

अत्र हि 'इतीवोपालब्ध क्षितिधरपतिः श्रीपतिमसावि'ति पाठः श्रेयान्। यतो नात्रोपालब्धेवोच्चैर्गिरिपतिरित्येतत्पर्यन्तोक्तिरवच्छेत्तुमभिमता। न च पदसम्बन्धस्य पुरुषाधीनत्वात् प्रापिपयिषुपदेनैवास्याभिसम्बन्धो न गिरिपतिपदेनेति शक्यते वक्तुम्, तस्य तदधीनत्वासिद्धेरुपपादयिष्यमाणत्वात्।

(व्याख्याने छाया)—

उत्खातद्रुममिव शैलं हिमहतकमलाकरमिव लक्ष्मीविमुक्तम्।
पीतमदिरमिव चषकं बहुलप्रदोषमिव मुग्धचन्द्रविरहितम्॥

और जैसे—

'मीलितं यदभिरामता⋯' में पुनः शब्द। उसे 'तेन' के बाद देना था।

उखाड़ दिए गए वृक्षों (वाला) सा पर्वत, पाले से नष्ट कमलकुंज या तालाब सा श्रीहीन, पी ली गई मदिरा (वाला) सा चषक, कृष्णपक्ष के प्रदोष सा तारे चन्द्र से रहित।'

यहाँ उपमानवाची पदों के बाद 'इव' शब्द देना चाहिए था जैसे कि यहीं 'कमलाकर' और 'बहुलप्रदोष' शब्दों के बाद दिया है। वह जिसके बाद आता है उसी में उपमानभाव की प्रतीति कराता है और कहीं आने से अर्थ बदलने की सम्भावना रहती है। ऐसा प्रयोग नहीं होता—कि 'गोरा सा चन्द्रबिम्ब तुम्हारा मुख'। इस (इव शब्द) का प्रयोग ऐसा नहीं हुआ अतः क्रमभेद हुआ। इसलिये 'सेलं व उक्खअदुमम्' ऐसा पाठ पढ़ना चाहिए। या जैसे—'उपालब्धेवोच्चैः⋯।' यहाँ 'इतीवोपालब्ध⋯' इत्यादि पाठ चाहिए। क्योंकि यहाँ 'उपालब्धेवोच्चैर्गिरिपतिं' इतने को (इति द्वारा) अवच्छिन्न (अलग) नहीं करना है। यह नहीं कहा जा सकता कि शब्द सम्बन्ध पुरुषाधीन है अतः इसका (इति) सम्बन्ध 'प्रापिपयिषु' से ही है, गिरिपति से नहीं, कारण कि—हम आगे बतलाने वाले हैं कि उस (पदप्रयोग) की पुरुषाधीनता नहीं बनती।

इतीवेति। अत्रोपालम्भरूपः पूर्ववाक्यार्थ इतिशब्दावच्छिन्न उत्प्रेक्ष्यत इत्युपालब्धेत्यतः पूर्वमितीवशब्दौ प्रयोज्यौ विषयान्तरे तु प्रयोगात् क्रमभेदः। प्रापिपयिषुपदेनेति पूर्ववाक्यार्थस्थितेन। तदधीनत्वं पुरुषायत्तत्वम्।

इतीव०—यहाँ उपालम्भ रूप जो पूर्व वाक्यार्थ है, उसी को इति शब्द से अलग कर उत्प्रेक्षा

द्वारा उपस्थित किया जा रहा है। अतः उपालब्ध इसके पहले 'इतीव' शब्दों का प्रयोग चाहिए। अन्यत्र प्रयोग करने से क्रमभेद हुआ।

प्रापिपयिषु = जो कि पूर्ववाक्य में है।
तदधीन = पुरुषाधीन।

विमर्श : पूरा श्लोक इस प्रकार है—

'धरस्योद्धर्त्ताऽसि' त्वमिति ननु सर्वत्र जगति प्रतीतस्तत्किं मामतिभरमधः प्रापिपयिषुः।
उपालब्धेवोच्चैर्गिरिपतिरिति श्रीपतिमसौ बलाक्रान्तः क्रीडद्द्विरदमथितोर्वीरुहरवैः॥
[माघ ५।६९]

अर्थात्—'संसार भर में तुम पहाड़ का उद्धार (उखाड़ कर उँगली पर रखना और विपत्ति निवारण) करने वाले—रूप से प्रसिद्ध हो, तो मुझ स्वयं ही अत्यधिक बोझिल को नीचे क्यों पहुँचाना चाहते हो—इस प्रकार मानों—सेना से दबे पर्वतराज (गिरिनार) ने श्रीकृष्ण को क्रीडानिरत हाथियों द्वारा मरोड़े जा रहे वृक्षों की आवाज से—उलहना दिया।' यहाँ प्रापिपयिषु (पहुँचाना चाहते हो) के बाद इतीव चाहिए।

यथा च—

'प्रतीक्ष्यं च प्रतीक्ष्यायै पितृस्वस्रे सुतस्य ते।
सहिष्ये शतमागांसि प्रत्यश्रौषीः किलेति यत्॥' इति।

अत्रापि हि 'सहिष्ये शतमागांसीत्यभ्युपैर्यत् किल स्वय'मिति युक्तः पाठ इति।

और जैसे :—

और—प्रतीक्षा करनी चाहिए, पूज्य बुआ को 'तुम्हारे पुत्र के सौ अपराध सहूँगा। पहले वचन दिया है, इस प्रकार जो।' यहाँ भी 'सहूँगा सौ अपराध' ऐसा स्वीकार किया है 'जो पहले खुद ने' ऐसा पाठ चाहिए।

विमर्श : यह पद्य शिशुपालवध में इस प्रकार है।

सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्त इति यत्त्वया।
प्रतीक्ष्यं तत् प्रतीक्षायै पितृस्वस्रे प्रतिश्रुतम्॥ [२।१०८]

महिमभट्ट स्वयं सम्भवतः पाठ बदल लेते हैं। या दोष दर्शन के समय उनके सामने सही श्लोक भी उलट जाते हैं। यहाँ कालिदास के भी बहुत से पद्य इसी प्रकार बदले हुए हैं।

अनेनैव तज्जातीयार्थानामन्येषामव्ययानां प्रयोगनियमो व्यख्यात इति तेषामपि क्रमभेदो दोष एव। तद्यथा—

'किं क्रमिष्यति किलैष वामनो यावदित्थमहसन्न दानवाः।
तावदस्य न ममौ नभस्तले लङ्घितार्कशशिमण्डलः क्रमः॥'

इत्यत्रेत्थंशब्दस्य। स हि वामनशब्दादनन्तरं द्रष्टव्यः। यथा च—

'स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसावुपैति षिड्गैरगद्यत ससम्भ्रममेवमेका',

इत्यत्रैवंशब्दस्य। स ह्युपेतीत्यतोऽनन्तरं द्रष्टव्यः। तेन 'स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसौ समभ्येत्येवं ससम्भ्रमममभण्यत कापि षिड्गै'रिति युक्तः पाठः। अत्र च यत् प्रतीतिवैचित्र्यं स मतिमतामेव विषयः।

इसीसे उस प्रकार के दूसरे अव्ययों के प्रयोग का नियम भी बतला दिया गया, इसलिए उनके क्रम का भेद भी दोष ही है। जैसे—'यह बौना ठहरा, कहाँ लाँघेगा—जब तक इस प्रकार दानवों ने हँसी की नहीं कि तबतक इसकी सूर्य चन्द्रमण्डल को पार करनेवाली डग आकाशतल में उठी नहीं।

यहाँ इत्थं शब्द का। उसे वामन शब्द के बाद आना चाहिये।

और जैसे :—

हाथी हूसा देने आ रहा है—धूर्तों ने एकाएक किसी एक स्त्री से कहा—इस प्रकार।—यहाँ 'एवं' (इस प्रकार) शब्द का (क्रमभेद)। उसे 'उपैति' (आ रहा है) के बाद आना चाहिए। इसलिए 'स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसौ समभ्येत्येवं ससंभ्रममभण्यत काचिदेका'—ऐसा पाठ चाहिए। इसमें जो प्रतीतिभेद होता है उसे बुद्धिमान् लोग ही समझ सकते हैं।'

स्तम्बेरम इति **पीनोन्नतस्तनद्वयदर्शनादियं प्रशंसोक्तिः। षिङ्गाः विटाः।** प्रतीतिवैचित्र्य-मिति **वाक्यार्थस्य तिलतण्डुलीकृतस्यावगमानवगमौ।**

स्तम्बेरमः—मोटे और ऊँचे उभरे हुए दोनों स्तनों को देखकर किसी ने प्रशंसा में यह कहा।

षिड्ग—विट।

प्रतीतिवैचित्र्यम् :—तिलतण्डुल के समान मिले वाक्यार्थ का ज्ञान और उसका आभास होना तथा न होना।

उक्तिस्वरूपावच्छेदफलो यत्रेतिरिष्यते।
न तत्र तस्मात् प्राक् किञ्चिदुक्तेरन्यत् पदं वदेत् ॥ ३३ ॥
उपाधिभावात् स्वां शक्तिं स पूर्वत्रादधाति हि।
न च स्वरूपावच्छेदः पदस्यान्यस्य सम्मतः ॥ ३४ ॥
इतिनैवेतरेषामप्यव्ययानां गतिः समा।
ज्ञेयेत्थमेवमादीनां तज्जातीयार्थयोगिनाम् ॥ ३५ ॥
यतस्ते चादय इव श्रूयन्ते यदनन्तरम्।
तदर्थमेवावच्छिन्द्युरासमञ्जस्यमन्यथा ॥ ३६ ॥
यथानन्तर्यनियमस्तेषामर्थौचितीवशात्।
अन्यतस्तर्हि तत्कार्यसिद्धेस्ते स्युरपार्थकाः ॥ ३७ ॥
कैश्चिदेव हि केषाञ्चिद् दूरस्थैरपि सङ्गतिः।
न जातु सर्वैः सर्वेषामित्येतदभिधास्यते ॥ ३८ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

जहाँ 'इति' शब्द का प्रयोजन (किसी के) कथन (दूसरे के कहे हुए वाक्य के अनुवाद) के स्वरूप को अलग करके बतलाना हो वहाँ उसके पहले कथन (अनुवादात्मक उक्ति) के अतिरिक्त और कोई शब्द न हो। 'इति' उपाधि है अतः वह अपनी शक्ति अपने से निकट पूर्ववर्ती पर आहित करता है। (उसके द्वारा कथनांश के अतिरिक्त) किसी अन्य पद का अवच्छेद मान्य नहीं होता। इति के ही समान उसी जैसे अर्थ के वाचक अन्य 'एवम्'—आदि अव्ययों की स्थिति भी जाननी चाहिए। कारण कि 'च' आदि के समान वे जिसके बाद आते हैं उसी के अर्थ को अविच्छन्न करते हैं। वैसा नहीं होने से सामंजस्य नहीं बनता। यदि उनके आनन्तर्य (किसके बाद आना किसके

वाद नहीं—) यह नियम अर्थगत औचित्य पर निर्भर मान लिया जाय तो वे (इति आदि) निरर्थक हो जाते हैं, कारण कि तब उनसे बनने वाला कार्य अन्य उपाय से (अर्थ के औचित्य से ही) बन जाता है। यह हम बतलावेंगे कि पदार्थों में से निश्चित पदार्थों की निश्चित पदार्थों से भले ही वे दूर हों, संगति होती है। सभी की सभी के साथ-कदापि नहीं।

उक्तिस्वरूपेति। **उक्तिः 'स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसावुपैति' त्येषा। तस्या विटसम्बन्धिन्याः स्वरूपम् इतिशब्देनोपलक्षणत्वाद् एवंशब्दादिना व्यवच्छेत्तुमिष्टम्।** अतश्च तत्र तस्माद् **इतिशब्दादितिशब्दोपलक्षितादेवमादेश्च** प्राक् **पूर्वम् उक्तेः पूर्वप्रदर्शितायाः।** अन्यत् किञ्चित् पदम् **षिङ्ग इत्यादि न कथनीयमित्यर्थः। एवमुदाहरणान्तरेऽपि योजनीयम्।**

उपाधिभावादिति **इतिशब्दस्य स्वा शक्तिः पूर्ववाक्यावच्छेदरूपा। तां पूर्वत्र वाक्ये समर्थयंस्तस्योपाधिरितिशब्दः सम्पद्यते। अतश्च न तस्यान्यत्र प्रयोगः कर्त्तव्य इत्यर्थः।** पदस्यान्यस्येति **षिङ्गैरित्यादेः।**

अन्यथेति **विषयान्तरप्रयोगे आसमञ्जस्यम् विशरारुप्रतीतित्वम्।**

आनन्तर्यनियम **इति।**

'यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन सः।
अर्थतो ह्यसमानानामानन्तर्यमकारणम्॥'

इति न्यायेनार्थौचित्यवशाद् व्यवहितानामप्यानन्तर्यनियमो भविष्यतीत्यर्थः। अन्यतस्तर्हीति। **अन्यतोऽर्थौचित्यवशात्। तत्कार्यसिद्धेः इत्यादिकर्त्तव्यसिद्धेः। इति तेषां प्रयोगो नियतः स्याद् इत्युक्तम्।**

ननु 'यस्य येनाभिसम्बन्ध' इति न्यायः कुत्रावतिष्ठतामित्याह—कैश्चिदेवेति। अयं-भावः—**इत्यादिशब्दवर्जनेनोक्तक्रमेण शब्दहेत्वादिवर्जनेन चान्येषां शब्दानामयं न्यायः। इत्यादीनामयं पुनर्नियतप्रयोगविषय इति नान्यथा तेषां प्रयोगः कर्त्तव्य इति।**

उक्तिस्वरूप = उक्ति—'स्तेम्बरमः परिणिनंसुरसावुपैति' यह। उसका वक्ता है विट। उसका स्वरूप 'इति'—शब्द से लिये गये, (उसके सभी समानार्थक शब्दों में आए) एवं शब्द द्वारा व्यवच्छिन्न करना चाहा है। इसलिये उस 'इति' शब्द और उससे उपलक्षित किए गये तदर्थक एवम् आदि शब्दों के पहले पूर्वप्रदर्शित उक्ति के अलावा दूसरा कोई भी षिद्ग आदि पद नहीं कहा जाना चाहिए। इसी प्रकार दूसरे उदाहरणों में भी लगाना चाहिये।

उपाधिभावात् :—'इति' शब्द की अपनी शक्ति है पूर्ववाक्य का अवच्छेद। उसे पूर्ववर्ती वाक्य में लगाते हुए इति शब्द उसका उपाधि बन जाता है। इसलिये उसका प्रयोग और कहीं नहीं किया जाना चाहिए।

पदस्यान्यस्य :—षिद्ग इत्यादि पदों का।

अन्यथा—दूसरे विषय में प्रयोग होने से आसमञ्जस्य = अर्थात् प्रतीति की विशरारुता = टूटा फूटा होना।

आनन्तर्यनियमः—जिसका जिससे सम्बन्ध होता है, दूर होने पर भी उसका उससे सम्बन्ध होता ही है। जो अर्थ की दृष्टि से असमान होते हैं उनका आनन्तर्य कोई मूल्य नहीं रखता। इस न्याय से अर्थ के औचित्य के आधार पर दूरस्थ पदों का भी आनन्तर्य नियम बन सकता है।

अन्यतस्तर्हि :—अन्यतः = अर्थौचित्य से।

तत्कार्यसिद्धेः—'इति'—आदि से होने वाला काम बन जाने पर। इस प्रकार उनका प्रयोग निश्चित होना चाहिए।

शंका :—'यस्य येनाभिसंबन्धः' यह न्याय कहाँ लागू हो—? इस पर उत्तर देते हैं—कैश्चिदे०-। भाव यह है कि—यह जो न्याय है वह 'इति'—आदि शब्दों को और हेत्वर्थक शब्दों को छोड़कर अन्य शब्दों में लागू होता है। इति आदि का प्रयोग तो बिल्कुल निश्चित होता है। इसलिए—उनका प्रयोग और तरह से किया जा सकता है।

(४) पौनरुक्त्य

एवमुद्देशक्रमेण क्रमभेदं विमृश्य पौनरुक्त्यं विचारयितुमाह पौनरुक्त्यमिति।

इस प्रकार उद्देशक्रम (दोषों को जिस क्रम से पहले गिनाया है—उसी क्रम से) क्रमभेद का विचार कर पौनरुक्त्य पर विचार प्रस्तुत करते हैं।

पौनरुक्त्यमार्थमेकमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं न शाब्दं तस्यार्थभेदे सत्यदुष्टत्वात्। यदुक्तं 'तच्च न शब्दपुनरुक्तं पृथग्वाच्यम् अर्थपुनरुक्तेनैव गतार्थत्वाद्। न ह्यर्थभेदे शब्दसाम्येऽपि कश्चिद्दोषः। यथा—

हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति
द्रविणकणिकाक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति।' इति।

तद्भेदे तु दुष्टतैव। अन्यत्र तात्पर्यभेदात् तच्च भूषणमेव न दूषणम्। तस्यानुप्रासविशेषविषयत्वेनेष्टत्वाद्। यथा—

'वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसङ्काश! काशाः
काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनगताः श्रीनदीहंस! हंसाः।
हंसाभोऽम्भोदमुक्तस्फुरदमलवपुर्मेदिनीचन्द्र! चन्द्र-
श्चन्द्राभः शारदस्ते जयकृदुपगतो विद्विषां काल! कालः॥' इति।

पौनरुक्त्य एक मात्र आर्थ (अर्थगत) ही माना जाय यही ठीक है, शाब्द (शब्दगत) नहीं। क्योंकि वह (शाब्द) अर्थभेद होने के कारण दुष्ट नहीं होता। जैसा कि कहा है—'शब्द पुनरुक्त दोष अलग नहीं बतलाया जाना चाहिये। वह अर्थ पुनरुक्त में ही गतार्थ हो जाता है। अर्थ भिन्न हो तो शब्द-साम्य होने पर भी दोष नहीं होता'—(उदाहरण) जैसे—

'मालिक के हँसने पर हँसता है, रोने पर जोर से रोता है, नाचने पर नाचता है (क्योंकि) वह द्रविण (धन) के किनके से खरीदा यन्त्र जो होता है।'

उस (अर्थ) के अभिन्न होने पर तो दोष होता ही है। तात्पर्य भिन्न होने पर अर्थ का स्वरूप यदि एक ही हो तो उसे दोष नहीं माना जाता उलटे अलंकार माना जाता है। उसे एक विशेष प्रकार का अनुप्रास (लाटानुप्रास) माना गया है। जैसे :—

'हे इन्द्रसंकाश (इन्द्रतुल्य)! सफेद फूल धारण किये हुए काश नदियों के वस्त्र बन रहे हैं। हे लक्ष्मीरूपी नदी के हंस! (उनकी) बालू में बैठे हंस काश के समान मालूम पड़ रहे हैं। हे पृथ्वीचन्द्र! चन्द्रमा—मेघावरण से धुल कर निर्मल हो गया है और हंस जैसा ज्ञात होता है।

हे शत्रुओं के लिये काल! तुम्हें विजय देने वाला शरदृतु का यह चन्द्राभ (चन्द्रतुल्य उज्ज्वल और चन्द्र की आभा जिसमें है) समय आ गया है।

इह खलु द्विविधं पौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यमर्थपौनरुक्त्यं चेति। तदुक्तमक्षपादमुनिना—'शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तम्, अन्यत्रानुवादाद्' इति। तत्र शब्दपौनरुक्त्यमर्थापौनरुक्त्ये न दोषः, अर्थपौनरुक्त्येन दुष्टत्वे अर्थस्यैव प्रयोजकत्वात् अर्थपौनरुक्त्यमेवैकं

पौनरुक्त्यं न शब्दपौनरुक्त्यमिति समुदायार्थः। आर्थमिति अर्थाश्रितम्। एवं शाब्दमित्यत्रापि वाच्यम्। यदुक्तमिति वादन्याये।

हसतीति एको हसतिशब्दः शत्रन्तः स्वामिविशेषणम्, अपरः क्रियापदम्। एवमुत्तरत्र वाच्यम्। यन्त्रमिति। अभेदोपचारेण भृत्यस्य निर्देशः, कृतानुकारित्वात्।

अन्यत्र तात्पर्यभेदादिति तात्पर्यभेदे हि स्वरूपार्थाविशेषे लाटानुप्रास इष्टः। तदुक्तम्-

'स्वरूपार्थाविशेषे हि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते॥' इति।

शक्रसङ्काशेति श्रीनदीहंसेति मेदिनीचन्द्रेति विद्विषां कालेति च चत्वार्यामन्त्रणानि। अत्र तात्पर्यभेदः स्फुट एव। तथा चैकः काशशब्दो वस्त्राणामुपमेयत्वेन स्थितः, अन्यस्तु हंसानामुपमानत्वेनेति भिन्नम् तात्पर्यम्। एवमन्यदपि योजनीयम्।

पौनरुक्त्य दो प्रकार का होता है—शब्दपौनरुक्त्य और अर्थपौनरुक्त्य। जैसा कि मुनि अक्षपाद ने कहा है—'शब्द और अर्थ का पुनः कथन, पुनरुक्त होता है, अनुवाद को छोड़ कर।' दोनों में अर्थ की पुनरुक्ति न हो तो शब्द की पुनरुक्ति दोष नहीं होती। (शब्द में) दोष आता है, अर्थ की पुनरुक्ति से, अतः अर्थ ही (दोष का) कारण है, (अतः) 'एकमात्र अर्थगत पुनरुक्ति ही पुनरुक्ति दोष है। शब्द की पुनरुक्ति नहीं'—यह इस प्रघट्टक का अभिप्राय हुआ।

आर्थम् :—अर्थ पर आधृत। इसी प्रकार शाब्द का भी अर्थ करना चाहिये (अर्थात् शब्द पर आधृत)।

यदुक्तम् :—वादन्याय में।

हसति—एक (द्वितीय) 'हसति' शब्द शतृ प्रत्ययान्त है, वह स्वामी का विशेषण है। दूसरा (प्रथम) क्रियापद है। ऐसा ही आगे भी समझना चाहिये।

यन्त्रम् :—अभेदोपचार से भृत्य को (यन्त्र शब्द से) कहा, कारण कि वह किये की नकल करता है।

अन्यत्र :—तात्पर्य भिन्न होने पर तो शब्द के स्वरूप का अर्थ एकसा भी हो तो लाटानुप्रास अलंकार माना गया है। जैसा कि कहा गया है—'स्वरूपतः यदि शब्द या पद (विभक्तियुक्त शब्द) में भिन्नता न हो तो भी पुनरुक्ति—लाटानुप्रास मानी जाती है क्योंकि उसमें एक और लाभ-चमत्कार निष्पन्न होने लगता है।

शक्रसंकाश, श्रीनदीहंस, मेदिनी चन्द्र और 'विद्विषां काल' ये चार आमन्त्रण=सम्बोधन हैं। यहाँ तात्पर्य भेद स्पष्ट ही है। एक काश शब्द वस्त्रों के उपमेय के लिये है, दूसरा हंसों के उपमान के लिये। इसी प्रकार और भी लगा लेना चाहिये।

विमर्श : अर्थभिन्न न होने पर उसी शब्द का पुनः प्रयोग दोष माना जा सकता है। मम्मट आदि ने—'अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला'—इत्यादि पद्य में लीला पद के दो बार एक ही अर्थ में प्रयोग को दोष माना है। उससे कवि का शब्ददारिद्र्य साबित होता है। स्वयं महिमभट्ट भी यही कहने जा रहे हैं—

उभयाभावे तु पौनरुक्त्यं दूषणमेव यथा—

'जक्षुर्बिसान्धृतविकासिबिसप्रसूना' इति।

सर्वनामपरामर्शस्य ह्ययं विषयो बिसार्थो न स्वशब्दस्य। न च घासक्रियाकर्मभावाभिधानपरः प्रथमो बिसशब्दः परश्च प्रसूनसम्बन्धाभिधानपरः

इत्यत्रापि तात्पर्यभेद इत्याशङ्कनीयम्। स्वार्थमभिदधत एव हि शब्दस्यार्थान्तरप्रतीतिप्रावण्यं तात्पर्यमुच्यते। न चात्रैतत् सम्भवति उक्तयोरर्थयोरभिधेयतयार्थान्तरत्वाभावात्। तदुक्तम्—

'सर्वनामपरामर्शयोग्यस्यार्थस्य यत्पुनः।
स्वशब्देनाभिधानं सा शब्दस्य पुनरुक्तता॥
प्राधान्यमथ सम्बन्धिनिबन्धो योग्यता द्वयी।
नातः समासगस्यापि परामर्शोऽस्य दुष्यति॥' इति।

(अर्थ और तात्पर्य) दोनों (में भेद) न हो तो पुनरुक्ति दोष ही है। जैसे—

'जक्षुर्विसं धृतविकासिविसप्रसूना' में। यहाँ बिसशब्द का अर्थ सर्वनाम द्वारा कहा जाना चाहिये, बिस शब्द से नहीं। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि—'पहला (बिस शब्द) घास (भक्षण) क्रिया की कर्मता का कथन करने के लिये है और दूसरा प्रसून के साथ उसके सम्बन्ध का कथन करता है—इसलिये यहाँ भी तात्पर्य में भेद है, (क्योंकि) तात्पर्य कहलाता है अपने अर्थ को कह रहे शब्द का दूसरे किसी अर्थ की ओर उन्मुख रहना। यहाँ ऐसी कोई बात सम्भव नहीं है। कहे हुये दोनों अर्थ अभिधेय होने से—अर्थान्तर नहीं हो सकते (वाच्य से भिन्न अर्थ नहीं माने जा सकते।) वही कहा (भी गया है)—

'जिस अर्थ का परामर्श सर्वनाम द्वारा कराया जा सकता हो—उसका अपने वाचक शब्द द्वारा कथन पुनरुक्ति (दोष) होता है। (सर्वनाम द्वारा परामर्श की) योग्यता दो प्रकार से होती है—प्राधान्य से और सम्बन्धी के कथन से। इसलिये समास में आये हुये अर्थ का भी (सर्वनाम द्वारा) परामर्श दोष नहीं होता।

उभयाभावे **इति अर्थभेदस्य तात्पर्यभेदस्य चाभाव इत्यर्थः।** न च घासेति **कर्मत्वेन सम्बन्धित्वेन चास्तु तात्पर्यभेद इत्यर्थः। एतन्न चेति निषिध्यते।** स्वार्थमिति। **एतदुक्तं भवति—न स्वार्थाभिधानमेव तात्पर्यम् अपि तु सत्येव स्वार्थाभिधानेऽधिकमर्थान्तरोन्मुखत्वं तात्पर्यं, यथा काशशब्दयोः। तत्र काशत्वजात्यवच्छिन्नद्रव्यप्रतिपादनादतिरिक्त उपमानोपमेयभावः प्रतिपाद्यते। न चैवं बिसशब्दयोः। नह्यत्र बिसत्वावच्छिन्नद्रव्यातिरिक्तं किञ्चिद्वस्तु प्रतीयते। यत्तु कर्मत्वं सम्बन्धित्वं च तदभिधेयस्यैव तथावस्थानं नोद्रेकेणान्यतामावहतीति स्वशब्दपरिहारेण सर्वनामपरामर्शस्यैव विषयो न्याय्य इति।**

ननु पुनरुक्तं किमुच्यते? यत्र तत्प्रयोगं विनार्थप्रतीतिः। यत्र च तत्समानपदान्तरप्रयोगोऽवश्यमुपयुज्यते, तत्र कथं पुनरुक्तत्वम्। यत्रैकार्थ्येन प्रतीतिर्न तात्पर्यभेदः, तत्र पुनरुक्तत्वं प्रतीतिवैरस्यापादनात्। यत्र तु तत्समानं पदान्तरमुपयुज्यतां मा वा, सर्वथा तत्प्रयोगकृतं वैरस्यं पौनरुक्त्यप्रयोजकमिति तदाश्रयेणायं दोष उक्तः।

सर्वनामेति **'जक्षुर्विसमि'त्यत्र निर्दिष्टं बिसमुत्तरत्र प्रसूनसम्बन्धित्वेन सर्वनामपरामर्शार्हं सद् यत् स्वशब्देनोक्तं तत् शब्दपुनरुक्तम्। यद्यप्यर्थपुनरुक्तमेवैकं पुनरुक्तं प्रागुक्तं, तथापि शब्दस्य पुनरुक्ततेत्युक्तम् अर्थमुखेनैव शब्दस्यापि पुनरुक्ततेत्यभिप्रायेण।**

'सर्वनामपरामर्शयोग्यस्ये'**ति निर्दिष्टां योग्यतां विभक्तुमाह** प्राधान्यमिति। **द्विविधं परामर्शयोग्यत्वं शाब्दमार्थं चेति। तत्र यस्मिन् परामृश्यस्य स्वातन्त्र्येण कर्तृत्वादिना निर्देशेन प्राधान्यं तत्र शाब्दम्। यत्र पुनः परामृश्यस्यान्यः कश्चित् सम्बन्धित्वेन निर्दिश्यते, तत्रार्थम्। तत्र हि सम्बन्धिनं प्रति अस्योपयोग एव योग्यत्वम्। तथा चैकमुदाहृतम्।**

उभयाभावे :—अर्थभेद और तात्पर्य भेद का अभाव।

न च यास :—कर्मरूप से और सम्बन्धीरूप से तात्पर्यभेद हो सकता है—इसका निषेध करते हैं—'ऐसा ही'—इस प्रकार।

स्वार्थम् :—अभिप्राय यह कि—'अपने अर्थ का कथन ही तात्पर्य नहीं होता, अपितु अपने अर्थ के अभिधान के साथ साथ अतिरिक्त अर्थ की ओर उन्मुख रहना भी तात्पर्य है, जैसे—काश शब्दों का। वहाँ काशत्व—जाति से युक्त द्रव्य के प्रतिपादन के अतिरिक्त उपमानोपमेयभाव का प्रतिपादन किया जा रहा है। 'बिस' शब्दों में ऐसी बात नहीं है। यहाँ बिसत्व जाति से युक्त वस्तु के अतिरिक्त और कोई वस्तु प्रतीत नहीं होती। जो कर्मता और सम्बन्धिता है—वह अपने अभिधेय अर्थ का ही उस रूप से अस्तित्व बतलाती है। स्पष्टरूप से अतिरिक्त को नहीं। इसलिये अपने शब्द को छोड़कर सर्वनाम द्वारा परामर्श करना ही उपयुक्त है।

शंका :—पुनरुक्त कहते किसे हैं ? (उत्तर) जहाँ उसके (शब्द के) प्रयोग के बिना अर्थ की प्रतीति हो। परन्तु जहाँ उस (अर्थ) के वाचक किसी दूसरे शब्द का उपयोग होना आवश्यक होता है—वहाँ पुनरुक्तता कैसी ? (उत्तर) जहाँ एक रूप के अनेक अर्थों की प्रतीति होती हो, तात्पर्य भेद न हो, वहाँ पुनरुक्ति दोष होता है, उससे प्रयोग में विरसता आती है। जहाँ उसके समानार्थक शब्द का उपयोग हो या नहीं, पर उसके (किसी भी प्रकार के) प्रयोग से विरसता आती हो तो उसे—पुनरुक्ति का कारण माना जाता है। इसलिये—यह दोष उस पर आश्रित है।

सर्वनाम—जक्षुर्बिसान् यहाँ बिस शब्द पुनरुक्त है। आगे आया बिस प्रसून से सम्बन्धित दिखलाया गया है। अतः उसका परामर्श सर्वनाम द्वारा होना चाहिये। अपने वाचक शब्द से नहीं। यद्यपि अर्थ पुनरुक्त भी एक प्रकार का पुनरुक्त दोष पहले बतलाया गया है इतने पर भी (केवल) शब्द में (जो) पुनरुक्तता बतलाई गई वह इसलिये कि शब्द भी पुनरुक्त होता है, अर्थ के द्वारा।

सर्वनामपरामर्शयोग्यस्य—इस प्रकार दिखला दी गई योग्यता को (दो भागों में) बाँटने के के लिये कहना शुरू किया—प्राधान्य। परामर्शयोग्यता दो प्रकार की होती है—शाब्द और आर्थ। उनमें से जहाँ परामृश्य का स्वतन्त्र रूप कर्त्ता आदि के रूप में निर्देश होने के कारण प्राधान्य होता है वहाँ शाब्द परामर्शयोग्यता होती है। जहाँ परामृश्य का कोई दूसरा सम्बन्धी पदार्थ सम्बन्धी रूप से दिखलाया जाता है वहाँ (परामर्श योग्यता) आर्थ होती है। वहाँ इसकी योग्यता का अर्थ केवल सम्बन्धी के साथ इसका उपयोग है। इस प्रकार एक का उदाहरण दे दिया गया।

द्विविधा हि योग्यता शाब्दी चार्थी च। तत्र शब्दस्य प्राधान्ये सति शाब्दी साक्षात्परामृश्यार्थप्रतीतेः। यथा—

'चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदस्तमपि वल्लभसङ्गः॥' इति।

विपर्यये त्वार्थी। सम्बन्धिप्रतीतिमुखेन तत्प्रतीतेः। यथा—

'भाति सितभूतिलिप्तः शशाङ्कमौलिस्तदंशुनिचित इव'। इति।

अत्र हि शशाङ्कसम्बन्धिनामंशूनां निबन्धस्तत्परामर्शयोग्यता। स हि समासे गुणीभूतः।

यथा वा—

'जयति निशापतिमौलिर्दधन्महाकालविभ्रममजस्रम्।
तत्तमसामिव लक्ष्म्या कण्ठविषच्छाययाच्छुरितः॥' इति।

अत्र हि निशासम्बन्धिनां तमसां निबन्धो योग्यता। सा हि गुणीभूतस्यापि गुणीभूता।

योग्यता दो प्रकार की होती है शाब्दी और आर्थी। उनमें से शब्द की प्राधानता होने पर शाब्दी योग्यता (होती है) उसमें परामृश्य अर्थ सीधे सीधे ज्ञात होता है, जैसे—'चारुता वपुरभूषयदासाम्……'। उलटे होने पर आर्थी। क्योंकि तब उसकी प्रतीति सम्बन्धी के ज्ञान के द्वारा होती है। जैसे—'सफेद भस्म से लिपटे चन्द्रचूड (भगवान् शंकर) उसकी किरणों से खचित से लगते हैं।' यहाँ शशांक सम्बन्धी किरणों का कथन है—यही उसके (शशांक) परामर्श की योग्यता है। वह (शशांक) तो समास में अप्रधान होकर आया है। और जैसे—

निशा के पति (चन्द्रमा) का मुकुट पहने भगवान् शिव की जय हो। वे सदा महाकाल की चपलता को जलाते रहते हैं—इसलिये कण्ठस्थित विष के बहाने उसी (निशा) के अँधेरे से युक्त रहते हैं।

यहाँ—निशा सम्बन्धी अन्य कारकों का उल्लेख—योग्यता है। वह गुणीभूत में गुणीभूत है।

सम्बन्धिप्रतीतिमुखेनेति। **अत्र सम्बन्धी हरः तस्य मौलिद्वारेण शशाङ्कसम्बन्धित्वात्। तत्प्रतीतिमुखेन चात्र शशाङ्कः प्रतीयते, न तु 'चारुता वपुरि'त्यादौ चारुतादेरिव साक्षादेव शशाङ्कस्य प्रतीतिः।**

शशाङ्कसम्बन्धिनामिति। **अत्र 'सम्बन्धिनिबन्धन' इति कारिकायां यः सम्बन्धी उक्तः, स निर्दिष्टः। तथा चात्रांशवः सम्बन्धित्वेन निर्दिष्टाः। तत्परामर्शयोग्यतेति तच्छब्देन परामृश्यः शशाङ्को निर्दिष्टः।**

सा हि गुणीभूतस्येति। **हरमन्यपदार्थं प्रति निशापतिर्गुणीभूतः। तस्यापि निशा गुणीभूता।**

सम्बन्धिप्रतीतिमुखेनेति—यहाँ सम्बन्धी है हर, वह मौलि द्वारा शशांक का सम्बन्धी है, अतः पहले उसकी प्रतीति होती है तब उसके द्वारा शशांक की। शशांक की प्रतीति साक्षात् नहीं होती जैसे 'चारुता वपुरभूषयद्' इत्यादि में चारुता आदि की होती है।

शशांक सम्बन्धिनाम्……। यहाँ 'सम्बन्धनिबन्धन' इस प्रकार कारिका में जो सम्बन्धी कहा गया हैं, उसी का निर्देश दिया गया। यहाँ 'अंशु' (किरणें) सम्बन्धी रूप से बतलाये गये हैं।

तत्परामर्श… यहाँ तत् शब्द से परामृश्य शशांक का संकेत किया गया है।

सा हि—हर रूप अन्य पदार्थ के प्रति निशापति गुणीभूत है। और उस (निशापति) के प्रति निशा गुणीभूत है।

सम्बन्धिनिबन्धाभावे त्वसमासगतस्यैव तस्य योग्यता यथा—

**'जयति जगत्त्रयजनको नगेन्द्रसुतया निरुद्धदेहार्धः।
सा च भुवनैकजननी यया विना सोऽपि हि विहस्तः॥' इति।**

समासगतस्य यथात्रैव नगेन्द्रतनयेति पाठे।

सम्बन्धि का उल्लेख न होने पर तो समास में न आने पर ही उसमें योग्यता रहती है जैसे—

'तीनों लोकों को पैदा करने वाले की जय हो।' उसका आधा शरीर पर्वतराज की पुत्री द्वारा घिरा हुआ है। यह भी तीनों लोकों की एक ही माता है, जिसके विना वह (जगत्पिता) भी निहत्था है।' समास में आए (पदार्थ के परामर्श) का उदाहरण यहीं बन जाता है—'नगेन्द्र-सुतया' के स्थान पर 'नगेन्द्रतनयानिरुद्ध०' पाठ कर लेने पर।

सा च भुवने**ति। अत्र न नरेन्द्रतनयायाः सम्बन्धी निर्दिष्टः। अपि तु सा चेत्यनेन स्वरूपम् निर्दिष्टम्।** विहस्तो **न क्वचिच्छक्तः।**

समासगतस्ये**ति परामृश्यस्येति सम्बन्धः। तत्र हि परामृश्यस्य समासे गुणीभावात् सम्बन्धिनश्चानिर्देशात् परामर्शो न न्याय्यः।**

सा च भुव—यहाँ नगेन्द्रतनया का सम्बन्धी नहीं बतलाया गया है, अपितु वही 'सा च' इस प्रकार स्वरूपतः बतलाई गई।

विहस्तः—किसी काम में समर्थ नहीं।

समासगतस्य—इसका सम्बन्ध परामृश्य के साथ है। परामृश्य समास में गुणीभूत हो जाता है। और सम्बन्धी का निर्देश न होने से सर्वनाम द्वारा परामर्श ठीक नहीं होता।

अयं च योग्यायोग्यत्वविवेको न सर्वजनसंवेदनीय इति प्राधान्यमेव तावत् प्रथमं योग्यतालक्षणम्, तदभावे तत्सम्बन्धिनिबन्ध इत्युभयं योग्यता-लक्षणमुक्तम् इतरथा तत्प्रतीतेरसम्भवात्।

अत्र तु सत्यपि सम्बन्धिनिबन्धने यत् पुनः स्वशब्देनाभिधानं तच्छब्द-पुनरुक्तमिति। तेन 'जक्षुर्विसं विकचमस्य दधुः प्रसूनमि'त्यत्र युक्तः पाठः। एवञ्चार्थप्रक्रमभेददोषोऽपि परिहृतो भवति।

यह जो योग्यता और अयोग्यता का विवेक (विवेचन) है उसे सभी लोग नहीं कर पाते। इसलिए योग्यता का प्रथम लक्षण है प्रधानता, (अथवा), यदि वह न हो तो उस (परामृश्य) के सम्बन्धी का उल्लेख। इस प्रकार ये दो (परामर्श) योग्यता के लक्षण कहे गये। इनके विना उस (परामृश्य, की प्रतीति सम्भव नहीं) यहाँ (जक्षुर्बिसम् में) सम्बन्धी का उपादान रहते हुए भी जो—अपने वाचक शब्द (बिस) से पुनः कथन हुआ—वह पुनरुक्ति दोष है। इसलिए—'चक्षुर्बिसं विकचमस्य दधुः प्रसूनम्' पाठ चाहिए। ऐसा करने से आर्थप्रक्रमभेद भी मिट जाता है।

न सर्वजनसंवेदनीय **इति।**

अस्यार्थः—'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तत' इति न्यायेनात्रातिप्रौढतया ग्रन्थ-कारो निजायत्तां पदार्थव्यवस्थां कर्त्तुमारब्धः, येन 'तदंशुनिचित' इति 'तत्तमसाम्' इति च शशाङ्कस्य निशायाश्च तच्छब्देन परामर्शमघटमानमपि समर्थयते, 'जक्षुर्विसं धृतविकासि-बिसप्रसूना' इत्यत्र च बिसप्रसूनशब्दस्य संज्ञापदस्यापि बिसशब्दाश्रयेण सूक्ष्मेक्षिकया पौनरुक्त्यं दोषमुद्भावयति। न चैतत् समर्थनं हृदयहारि, यस्माच्छशाङ्कमौलिरिति च निशापतिमौलिरिति च संज्ञाशब्दावेतौ। संज्ञाशब्दानां च विद्यमानस्याप्यर्थानुगमस्य न प्रयोजकत्वं रूढेः प्राधान्यात्। ततश्चात्र न शशाङ्कार्थो न निशार्थः कश्चित्। किन्तूपायमात्रे-णैतावर्थावाश्रित्य संज्ञिविशेष एवात्र विवक्षितः। एवञ्च संज्ञ्यन्तर्गतयोः शशाङ्कनिशयोस्त-च्छब्दपरामर्शो न सहृदयहृदयान्यावर्जयतीति हठसमर्थनमेतत्। **किं च शशाङ्कमौलिरि-त्यत्र वरं शशाङ्कस्य भवतु सर्वनाम्ना परामर्शः तस्य वक्राकृतेस्तत्र सन्निहितत्वात्, निशाप-तिमौलिरित्यत्र तु निशायाः परामर्शः पापात् पापीयान्, निशापतेरेवोक्तक्रमेण तत्र सन्नि-**

ह्तित्वात्। निशाया उपलक्षणमात्रत्वेनोपयोगिन्यास्तत्र सम्भवाभावात्। यत्र च तस्या एव न सम्भवस्तत्र का वार्ता तमसाम्। तदयम् 'अन्धो मणिमविन्दत्, तमनङ्गुलिरानयद्' इति न्याय आयातः। अपि च यत्र प्रसारितानुगमेन शब्देन संज्ञिनः प्रत्यायनं क्रियते, परं तत्रानुगमोत्कर्षाद् भवति सर्वनामपरामर्शः। यथा—

'उत्सवाय जगतः स जायतां रोहिणीरमणखण्डमण्डनः।
तत्प्रभाभिरिव पूरितं वपुर्भाति यस्य सितभस्मगुण्ठितम्॥' इति।

अत्र हि पदव्यापिनी संज्ञान्वर्थत्वमेवोत्कर्षयति। तेनात्र परामर्शो नाप्रतीतिकरः। प्रकृते तु तादृश्यपि गतिर्नास्ति। आस्तां वा प्रकृतम्। अत्रापि हि रोहिणीरमणेत्यादौ यदि सूक्ष्मेक्षिका क्रियते तदा संज्ञाप्राधान्यात् तदंशस्य सर्वनामपरामर्शो नादुष्टतां भजते। प्रकृते तु पापात् पापीयान् परामर्शः। कृतं चात्र समर्थनं ग्रन्थकृता। तदेतदस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिताख्यापनमिति।

ग्रन्थकृत्तु: पुनरयमाशयः—इह तु द्विविधाः संज्ञाशब्दाः, रूढा योगरूढयश्च। तत्र रूढानामर्थानुगमाभावात् तदनुसरणं न कर्त्तव्यम्। ये तु योगरूढयस्तेषां यदि योग उत्कटतां भजते तदा तदाश्रयो व्यवहारो न दुष्यति। अत एव निमित्तबलेन प्रवृत्तस्य शब्दस्य निमित्तान्तर्भावे प्रयोगः सौगतैर्निषिद्ध एव। यदाहुः—

'नैमित्तिक्याः श्रुतेरर्थमर्थं वा पारमार्थिकम्।
शब्दानां प्रतिरुन्धानो न बाध्यस्तेन वर्णितः॥'

[प्रमाणवार्तिके ४।१२९ का०] इति।

एवं स्थिते योगाश्रिते व्यवहारे यदि संज्ञावयवभूतार्थस्याव्यभिचारी कश्चित् प्रतिपिपादयिषितः स्यात् तदा तदभिसम्बन्धाय तस्यावयवस्य सर्वनामपरामर्शो न दुष्टः। यदुक्तम्—'सर्वनाम्नानुसन्धिर्वृत्तिच्छन्नस्य' (का० सू० ५-१-११) इति। मौलिरित्यत्र शशाङ्काव्यभिचारिणो रश्मयः सम्बन्धित्वेन प्रतिपादिताः। निशापतिमौलिरित्यत्र निशाऽव्यभिचारीणि तमांसि। तेषां चावास्तवत्वमपि न तथा दुष्टम् उत्प्रेक्षागोचरत्वेन प्रतिपादितत्वात्। केवलं पूर्वत्र संज्ञिसम्बन्धी परत्र तु सम्बन्धिसम्बन्धी परामृष्ट इति विशेषः। तदेवं यौगिकानां संज्ञाशब्दानां योगनिमित्तो व्यवहारः क्वचित् क्वचित् सुव्यवस्थित एव। यत्तु 'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे'रित्यत्र पिनाकपाणिपदस्य संज्ञाशब्दस्य सतोऽर्थानुगमो निवारयिष्यते येन संज्ञावगमार्थं हरशब्दः प्रयुक्तः, तन्नार्थानुगमाभावप्रतिपादनपरेण, किन्त्वनुगम्यमानस्यार्थस्य संरम्भास्पदत्वेन विवक्षितत्वं पृथक् संज्ञापदप्रयोगमन्तरेण न निर्वहति संज्ञार्थस्यार्थानुगमस्य च युगपत् प्राधान्याभावादिति द्वयप्रयोग एवंविधेषु स्थानेषु शस्यत इत्यभिप्रायेण। प्रकृते वस्तुस्वरूपमात्रप्रतिपादने संज्ञाशब्दत्वेऽप्यर्थानुगमानुसरणमव्याहतमिति।

न सर्वजनसंवेदनीय—इसका अभिप्राय है—यहाँ ग्रन्थकार—'जैसा इसे रुचता है वह विश्वभर को उसी प्रकार उलटता पलटता जाता है' (आनन्दवर्धन-ध्वन्या० ४) इस उक्ति के अनुसार अत्यन्त हठ के साथ सारी पदार्थव्यवस्था अपनी इच्छा के अनुसार करने चला है। जिससे (आविष्ट होकर वह) 'तदंशुनिचित इव' और 'तत्तमसाम्' में तत् शब्द से शशांक और निशा का परामर्श भी बतलाता है, जो वस्तुतः बनता नहीं है। इसी प्रकार 'जक्षुर्बिसं धृतविकासिबिसप्रसूनाः' में 'बिसप्रसून' संज्ञाशब्द है, तब भी उसके एकांश बिस शब्द को लेकर बड़ी बारीकी के साथ पुनरुक्ति दोष थोपता है। ऐसी करतूत मन को नहीं भाती। कारण कि 'शशांकमौलि' और

'निशापतिमौलि' ये संज्ञाशब्द हैं। जो संज्ञाशब्द होते हैं भले ही उनसे (यौगिक) अर्थ निकले किन्तु वे उसके अभिधायक नहीं होते, कारण कि (योग से) रूढ़ि प्रधान होती है। इसलिये इन शब्दों में शशांक और निशा अर्थ मान्य नहीं है, केवल इन अर्थों को उपाय रूप से अपनाकर एक विशिष्ट संज्ञावान् (अर्थ) यहाँ—कहना अभीष्ट है। इसलिये संज्ञावान् के भीतर आये शशांक और निशा का तत् शब्द से परामर्श सहृदयजनों के चित्त को आवर्जित नहीं करता, इसलिये यह स्थापना—हठमूलक है। एक बात यह भी ध्यान देने की है कि सर्वनाम द्वारा—शशांक का भले ही परामर्श हो जाय, क्योंकि वह वक्राकार से वहाँ (शिव के पास) सन्निहित रहता है। पर निशापतिमौलि—यहाँ तो निशा का परामर्श पापात् पापीयान् (बुरे से बुरा) है, कारण कि उक्त क्रम (विशेषण रूप) से निशापति ही वहाँ सन्निहित हैं। निशा केवल—'उपलक्षण रूप से उपयोगी है' अतः उसका (शिव में) होना सम्भव नहीं। फिर जहाँ वही (निशा) नहीं है वहाँ उसके सम्बन्धी 'तमस्' की तो बात ही दूर है। इस प्रकार यहाँ 'अन्धे ने हीरा देखा, लूले ने उसे उठाया'–कहावत चरितार्थ होती है।

फिर यहाँ संज्ञाशब्द अपने अर्थ का ज्ञान अपनी अभिधा का विस्तार (योगार्थ तक फैला) कर करा रहा हो वहाँ अभिधा (अनुगम) के विस्तार से (योगलभ्य अर्थों का भी) सर्वनाम द्वारा परामर्श होता है। जैसे—

'रोहिणी (के) पति (का) टुकड़ा भूषण बनाकर पहनने वाला वह (शिव) संसार भर की प्रसन्नता का कारण बने, सफेद भस्म से भरा जिसका शरीर उस (रोहिणीरमण = चन्द्र) की प्रभा से लिपा हुआ सा दिखाई देता है।'

यहाँ (रोहिणीरमणखण्डमण्डनः = इस) पद में जो संज्ञा (संकेत अभिधा) है वह आदि से अन्त तक व्याप्त है, अतः वह अभिधा अपने प्रधान अर्थ 'शंकर' का ज्ञान कराने के साथ साथ ('रोहिणीरमण–' आदि) अन्य (यौगिक) अर्थों का भी ज्ञान करा देती है। इसलिए यहाँ सर्वनाम (द्वारा यौगिक अर्थों का) परामर्श हो सकता है, किन्तु प्रकृत ('निशापतिमौलि—तत्तमसाम्') में तो वह भी बात नहीं। प्रकृत दूर रहे, यहाँ भी इस 'रोहिणीरमण'—इत्यादि में यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो संज्ञा की प्रधानता होने से सर्वनाम द्वारा परामर्श निर्दोष नहीं रहता। प्रकृत में तो वह और भी अनुचित (पापात् पापीयान्) है। परन्तु ग्रन्थकार ने यहाँ समर्थन किया है। तो वह तो विश्व को कुछ न गिनने वाले इस ग्रन्थकार का अपनी सर्वोत्कृष्टता की डुग्गी पीटना है।

ग्रन्थकार का आशय यह है—संज्ञा शब्द दो प्रकार के होते हैं—रूढ़ और योगरूढ़। उनमें से रूढ़ में (अवयव का) अर्थ नहीं माना जाता। अतः वहाँ अर्थ का अनुगमन नहीं करना चाहिये। पर जो शब्द योगरूढ़ है, उनका योग यदि उत्कट हो जाता है तो उसको लेकर किया गया व्यवहार दोषावह नहीं होता। इस निमित्त के आधार पर चला शब्द निमित्त का अन्तर्भाव हो जाने पर सौगतों (बौद्धों) द्वारा निषिद्ध बतलाया गया है। जैसा कि कहा है—(अर्थ भूमिका में देखें) ऐसी स्थिति में यदि व्यवहार में यौगिक शब्द आयें और तब उसे संज्ञाशब्द के अवयवभूत—(शब्दार्थ) का नित्य सम्बन्धी (अव्यभिचारी अलग न होने वाला पदार्थ) बतलाना अभीष्ट हो तो उसके अभिसम्बन्ध (परामर्श) के लिये अवयव का सर्वनाम से परामर्श दोषावह नहीं। जैसा कि कहा है कि—समास में छिपे अर्थ का सर्वनाम से परामर्श होता है। 'मौलि' = इसमें शशांक से अलग न होने वाली किरणें सम्बन्धीरूप से उपस्थित की गई हैं (और) 'निशापति-मौलि' में निशा से अलग न होने वाला अन्धकार। वह (अन्धकार) अवास्तविक है (किसी शब्द से नहीं कहा गया है) तथापि कोई दोष नहीं, कारण कि वह उत्प्रेक्षा द्वारा उपस्थित किया जा

रहा है। अन्तर इतना ही है कि पहले (शशांक मौलि) में संज्ञावान् (शशांक) से सम्बन्धित (किरण) का परामर्श किया गया है और दूसरे में (निशापति मौलि) में सम्बन्धी (पति) से सम्बन्धित (निशा) का। इस प्रकार संज्ञा शब्दों में भी उनके अवयवार्थ के आधार पर किया व्यवहार कभी कभी सटीक बैठ जाता है।

आगे चलकर 'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः' में जो 'पिनाकपाणि' इस संज्ञाशब्द से हर शब्द का प्रयोग होने के कारण जो यौगिक अर्थों की प्रतीति का अभाव बतलाया जाएगा उसका अभिप्राय यह नहीं है कि संज्ञाशब्दों से यौगिक अर्थों का प्रतिपादन सर्वथा नहीं होता अपितु यह है कि वहाँ प्रधान अर्थ पर बल दिया जा रहा है जो पृथक् संज्ञाशब्द के बिना निबहता नहीं है क्योंकि संज्ञार्थ और अनुगत (योग्यतम, पिछलग्गू) अर्थ—दोनों ही एक साथ प्रधान नहीं हो सकते, अतः ऐसे स्थलों में दो पृथक्-पृथक् संज्ञाशब्दों का प्रयोग अच्छा माना जाता है। परन्तु प्रकृत ('शशांकमौलि' और 'निशापतिमौलि') में वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए संज्ञाशब्द आए हैं तथापि अवयवार्थ का प्रतिपादन भी रुकता नहीं।

विमर्श : ग्रन्थकार से टीकाकार का यहाँ मतभेद है। 'शशांकमौलि' और 'निशापतिमौलि' शब्दों को ग्रन्थकार यौगिक मानते हैं और उनके भीतर आए शब्दों द्वारा अपने स्वतन्त्र अर्थ का सर्वनाम द्वारा प्रतिपादन भी। टीकाकार ऐसा नहीं मानते। वे शशांकमौलि आदि शब्दों में योगार्थ को प्रधान न मानकर रूढार्थ को प्रधान मानते हैं। साथ ही योगार्थ को निकलता नहीं मानते। उन्होंने ग्रन्थकार को यहाँ तानाशाह और हठधर्मी कहा है।

उद्धृत सौगतकारिका का पाठ पुराने संस्करणों में—'नैमित्तिकाः···शब्दानामनुरुन्धानो न बाधः' ऐसा था। अर्थ भूमिका में देखिए।

इतरथेति **उभयविधयोग्यताभावे परामृश्यप्रतीतेरभावादित्यर्थः।** अत्र त्विति। **'जम्बुर्विसमि'त्यत्र।** सम्बन्धिनः **प्रसूनस्य** निबन्धने **उपादाने।**

आर्थ इति। **क्रियाकारकभावस्याख्यातपदवाच्यत्वेन शाब्देन क्रमेण प्रस्तावेऽत्र विशेषणद्वारेण समासेन प्रतीतेरार्थत्वम्।**

इतरथा—दोनों योग्यताओं के अभाव में परामृश्य की प्रतीति नहीं होती।

अत्रतु—जक्षुर्विसम् यहाँ।
संबन्धिनः—प्रसून के।
निबन्धे—उपादान में।

आर्थ—क्रियाकारकभाव का आख्यात शब्द से उल्लेख करते हुए शाब्दक्रम से आरम्भ और यहाँ—'धृतविकासिबिसप्रसून' में—विशेषण द्वारा समास से प्रतीति होने से आर्थ।

संक्षेपेण पञ्चप्रकारं पौनरुक्त्यं निर्दिश्यते। तच्चानेकप्रकारमि**ति।**

अब संक्षिप्तरूप से पाँच प्रकार के पौनरुक्त्य दोष का निरूपण करते हैं—

तच्चानेकप्रकारं सम्भवति। प्रकृतिप्रत्ययोभयपदवाक्यविषयत्वात्। तत्र प्रकृतिविषयं यथा—

'अश्वीयसंहतिभिरुद्धतमुद्धुराभिर्भूरेणुजालमखिलं वियदाततान।' इति।

अत्र हि समूहार्थायाः प्रकृतेः संहतेश्च पौनरुक्त्यम्।

वह (पौनरुक्त्य) अनेक प्रकार का हो सकता है। पर संक्षेप करके पाँच प्रकार का पौनरुक्त्य बतलाते हैं। प्रकृति, प्रत्यय, प्रकृतिप्रत्यय, पद, वाक्य विषयक होने से। उनमें से प्रकृतिविषयक—जैसे—प्रयाणोद्यत 'अश्वीय संहति' द्वारा उड़ाई गई धूल ने आकाश को छा दिया।—यहाँ

'निशापतिमौलि' ये संज्ञाशब्द हैं। जो संज्ञाशब्द होते हैं भले ही उनसे (यौगिक) अर्थ निकले किन्तु वे उसके अभिधायक नहीं होते, कारण कि (योग से) रूढ़ि प्रधान होती है। इसलिये इन शब्दों में शशांक और निशा अर्थ मान्य नहीं है, केवल इन अर्थों को उपाय रूप से अपनाकर एक विशिष्ट संज्ञावान् (अर्थ) यहाँ—कहना अभीष्ट है। इसलिये संज्ञावान् के भीतर आये शशांक और निशा का तद् शब्द से परामर्श सहृदयजनों के चित्त को आवर्जित नहीं करता, इसलिये यह स्थापना—हठमूलक है। एक बात यह भी ध्यान देने की है कि सर्वनाम द्वारा—शशांक का भले ही परामर्श हो जाय, क्योंकि वह वक्राकार से वहाँ (शिव के पास) सन्निहित रहता है। पर निशापतिमौलि—यहाँ तो निशा का परामर्श पापात् पापीयान् (बुरे से बुरा) है, कारण कि उक्त क्रम (विशेषण रूप) से निशापति ही वहाँ सन्निहित हैं। निशा केवल—'उपलक्षण रूप से उपयोगी है' अतः उसका (शिव में) होना सम्भव नहीं। फिर जहाँ वही (निशा) नहीं है वहाँ उसके सम्बन्धी 'तमस्' की तो बात ही दूर है। इस प्रकार यहाँ 'अन्धे ने हीरा देखा, लूले ने उसे उठाया'-कहावत चरितार्थ होती है।

फिर यहाँ संज्ञाशब्द अपने अर्थ का ज्ञान अपनी अभिधा का विस्तार (योगार्थ तक फैला) कर करा रहा हो वहाँ अभिधा (अनुगम) के विस्तार से (योगलभ्य अर्थों का भी) सर्वनाम द्वारा परामर्श होता है। जैसे—

'रोहिणी (के) पति (का) टुकड़ा भूषण बनाकर पहनने वाला वह (शिव) संसार भर की प्रसन्नता का कारण बने, सफेद भस्म से भरा जिसका शरीर उस (रोहिणीरमण = चन्द्र) की प्रभा से लिपा हुआ सा दिखाई देता है।'

यहाँ (रोहिणीरमणखण्डमण्डनः = इस) पद में जो संज्ञा (संकेत अभिधा) है वह आदि से अन्त तक व्याप्त है, अतः वह अभिधा अपने प्रधान अर्थ 'शंकर' का ज्ञान कराने के साथ साथ ('रोहिणीरमण-' आदि) अन्य (यौगिक) अर्थों का भी ज्ञान करा देती है। इसलिए यहाँ सर्वनाम (द्वारा यौगिक अर्थों का) परामर्श हो सकता है, किन्तु प्रकृत ('निशापतिमौलि—तत्तमसाम्') में तो वह भी बात नहीं। प्रकृत दूर रहे, यहाँ भी इस 'रोहिणीरमण'—इत्यादि में यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो संज्ञा की प्रधानता होने से सर्वनाम द्वारा परामर्श निर्दोष नहीं रहता। प्रकृत में तो वह और भी अनुचित (पापात् पापीयान्) है। परन्तु ग्रन्थकार ने यहाँ समर्थन किया है। तो वह तो विश्व को कुछ न गिनने वाले इस ग्रन्थकार का अपनी सर्वोत्कृष्टता की डुग्गी पीटना है।

ग्रन्थकार का आशय यह है—संज्ञा शब्द दो प्रकार के होते हैं—रूढ़ और योगरूढ़। उनमें से रूढ़ में (अवयव का) अर्थ नहीं माना जाता। अतः वहाँ अर्थ का अनुगमन नहीं करना चाहिये। पर जो शब्द योगरूढ़ है, उनका योग यदि उत्कट हो जाता है तो उसको लेकर किया गया व्यवहार दोषावह नहीं होता। इस निमित्त के आधार पर चला शब्द निमित्त का अन्तर्भाव हो जाने पर सौगतों (बौद्धों) द्वारा निषिद्ध बतलाया गया है। जैसा कि कहा है—(अर्थ भूमिका में देखें) ऐसी स्थिति में यदि व्यवहार में यौगिक शब्द आयें और तब उसे संज्ञाशब्द के अवयवभूत—(शब्दार्थ) का नित्य सम्बन्धी (अव्यभिचारी अलग न होने वाला पदार्थ) बतलाना अभीष्ट हो तो उसके अभिसम्बन्ध (परामर्श) के लिये अवयव का सर्वनाम से परामर्श दोषावह नहीं। जैसा कि कहा है कि—समास में छिपे अर्थ का सर्वनाम से परामर्श होता है। 'मौलि' = इसमें शशांक से अलग न होने वाली किरणें सम्बन्धीरूप से उपस्थित की गई हैं (और) 'निशापति-मौलि' में निशा से अलग न होने वाला अन्धकार। वह (अन्धकार) अवास्तविक है (किसी शब्द से नहीं कहा गया है) तथापि कोई दोष नहीं, कारण कि वह उत्प्रेक्षा द्वारा उपस्थित किया जा

अर्थ अस्ति के अर्थ (सत्ता) का अनुगमन करते हुए मत्वर्थीय माने जाते हैं। (तो) 'उन्हें बहुव्रीहि द्वारा वाच्य क्यों नहीं बतलाया।' इस पर उत्तर देते हैं—मतोर्भूमा०। मतुप् मात्र का कथन मत्वर्थीय सभी—प्रत्ययों के लिये। भूम आदि अर्थ केवल मतुप् आदि प्रत्ययों से नहीं जान पड़ते, अपितु तब प्रतीत होते हैं जब वे प्रकरण आदि से युक्त होते हैं, इसलिये मतुवादि के निर्देश द्वारा उनके उदाहरण नहीं दिये। उनकी प्रतीति नियमतः ही ही जाती है।

विमर्श : जिस प्रकार 'पीतगुणवान्' न कहकर पीतगुण कहने से भी व्यक्ति विशेष में पीत गुण के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार—विसकिसलयच्छेदपाथेयाः (मेघदूत) और 'त्वगुत्तरासङ्गाम्' (कुमारसम्भव) कहने से भी हंसों तथा पार्वती में क्रम से बिसकिसलयच्छेद के पाथेय तथा—त्वगुत्तरासङ्ग का अस्तित्व मालूम हो जाता है, इतने पर भी उनमें अस्तित्व के बोधक 'मतुप्' प्रत्यय (पाथेयवन्तः)—(उत्तरासङ्गवतीन्) लगाना वस्तुतः पुनरुक्त है।

मतुप् आदि प्रत्यय उक्त ६ अर्थों में होते हैं। ग्रन्थकार ने केवल एक मतुप् का उदाहरण दिया शेष पाँच छोड़ दिये। इसका कारण स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा कि वे प्रकरण आदि की सहायता से अपना अर्थ बतलाते हैं। उनकी ऊहा स्वयं भी की जा सकती है।

यथा वा—

'वासो जाम्बवपल्लवानि जघने गुञ्जास्रजो भूषणम्' इति, 'तदीयमातङ्गघटाविघट्टितै' रिति, 'येनाकुम्भनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते' इति। इत्यादौ तद्धितप्रत्ययस्य पौनरुक्त्यं षष्ठीसमासाश्रयेणैव तदर्थावगतिसिद्धेः।

और जैसे—

'कपड़े हैं जामुन सम्बन्धी पत्ते, भूषण है गूँजा की मालायें' यह—'उससे सम्बन्धित हाथियों की घटाकी टक्करों से' यह, जिससे माथे तक डूबे जंगली हाथियों के यूथों द्वारा जल पिया जाता है यह। ऐसे उदाहरणों में तद्धित प्रत्यय की पुनरुक्ति है। षष्ठी समास से ही उस अर्थ की प्रतीति हो सकती है।

जाम्बवेति तदीयेति वन्येति च तद्धितप्रत्ययस्य पौनरुक्त्यम्। जम्बूपल्लवानीति, तन्मातङ्गेति, वनकरिणामिति च षष्ठीसमासेनैव तद्धितकर्मधारयलक्षणवृत्तिद्वयार्थप्रतीतेः।

जाम्बव, तदीय, वन्य—इनमें तद्धित प्रत्यय पुनरुक्त है। जम्बूपल्लव, तन्मातङ्ग, 'वनकरिणाम्'—इस प्रकार षष्ठी समास द्वारा भी तद्धित और कर्मधारय स्वरूप दोनों वृत्तियों का काम चल सकता है।

यत्र त्वर्थान्तरे तद्धितस्योत्पत्तिर्न तत्र समासात् तत्प्रतीतिरिति न तस्य पौनरुक्त्यम्। यथा—

'अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः'। इति।

अत्र ह्यपत्यार्थे तद्धितोत्पत्तिर्नेदमर्थ इति।

जहाँ (कहीं) दूसरे अर्थों में तद्धित का प्रयोग होता है वहाँ समास से उसकी प्रतीति नहीं होती, इसलिये वह पुनरुक्त नहीं होता। जैसे—

जीव-जन्तु—सब वार्त्रघ्न (वृत्र एक असुर, उसका = घ्न = मारने वाला = वृत्रघ्न, वार्त्रघ्न = वृत्रघ्न का पुत्र, उस) के बाणों से भयभीत हो गये। यहाँ तद्धित अपत्यार्थक है, इदमर्थ (किसी के सम्बन्ध ी के अर्थ) में नहीं। (अतः यहाँ पुनरुक्ति नहीं है)

समूहार्थक प्रकृति (अश्वीय, अश्व शब्द से समूहार्थक छ+ईय् प्रत्यय) और संहति दोनों पुनरुक्त है।

तच्चेति **तच्छब्देन पौनरुक्त्यं परामृष्टम्।**

अश्वीयेति। **अत्र 'केशाश्वाभ्यां यञ्छौ' (४. २. ४८) इति समूहेऽर्थे छप्रत्ययः संहतिशब्दश्च भिसः प्रकृतित्वेन निर्दिष्टौ पुनरुक्तौ। अश्वैरित्येव हि वाच्यम्।**

तच्चेति—तत् शब्द से पौनरुक्त्य का परामर्श किया।

अश्वीय—'केशाश्वाभ्यां यञ्छौ'—सूत्र से समूह अर्थ में छ प्रत्यय हुआ है। (छ को ईय हो जाता है) और संहति शब्द से बहुवचनान्त 'भिस्' प्रत्यय आया है। दोनों पुनरुक्त हैं। संहति कहने पर बहुवचन की जरूरत नहीं और अश्वीय—अश्वसमुदाय कहने पर संहति की, इसलिये अश्वैः केवल कहा जाना चाहिये।

प्रत्ययविषयं यथा—'बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्त' इति, 'त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीमि'ति च। अत्र हि मत्वर्थीयस्य पौनरुक्त्यम् बहुव्रीहिसमाश्रयेणैव तदर्थावगतिसिद्धेः। यदाहुः—'कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यां बहुव्रीहिर्लघुत्वात् प्रक्रमस्य' इति।

'मतोर्भूमादयो येऽर्थास्तेऽप्यस्त्यर्थानुयायिनः।
गम्याः प्रकरणादिभ्य इति नोदाहृताः पृथक्॥' इति।

प्रत्यय सम्बन्धी यथा—'बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः। (कमल-ककड़ी के टुकड़े का कलेवा लिये) और—'त्वगुत्तरासङ्गवतीम्'।

यहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय पुनरुक्त है। केवल बहुव्रीहि से ही उसका अर्थ निकल आता है। जैसा कि कहा है—कर्मधारय और मत्वर्थीय—को बहुव्रीहि बाधता है—थोड़े से समास से काम चल जाने के कारण। मतुप् प्रत्यय के जो भूमा आदि अर्थ हैं वे अस्ति के अर्थ (सत्ता) का अनुगमन करते हुए प्रकरण आदि से स्वयमेव समझ में आ जाते हैं, अतः अलग से उनके उदाहरण नहीं दिये।

बिसेति **'बिसकिसलयच्छेदपाथेया' इति 'त्वगुत्तरासङ्गाम्' इति च वाच्यम्।** बहुव्रीहीति **मत्वर्थे बहुव्रीहिविधानम्** कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्याम् **इति। कर्मधारयमत्वर्थीयौ समुच्चयेनावस्थितौ वृत्तिलाघवाद् बहुव्रीहिणा बाध्येते इत्यर्थः।**

ननु—

'भूमनन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥'

इति बहवो भूमादयोऽर्था अस्त्यर्थमनुगच्छन्तो मत्वर्थीयताविषयत्वेनोक्ताः। ते किमिति न बहुव्रीहिवाच्यत्वेनोक्ताः इत्याह मतोरिति। मतुब्ग्रहणं मत्वर्थीयानामुपलक्षणम्। भूमादयो ह्यर्था न केवलेभ्यो मतुबादिभ्यः प्रतीयन्ते, किन्तु प्रकरणादिसहायेभ्यस्तेभ्य इति न मतुबादिविचारेणोदाह्रियन्ते, नान्तरीयकतया तेषां गतत्वात्।

बहुव्रीहि—यहाँ मतुप् अर्थ में बहुव्रीहि का विधान है।

कर्मधारय—कर्मधारय और मत्वर्थीय प्रत्यय इकट्ठे होकर यदि आएँ हों तो समासलाघव के कारण बहुव्रीहि से बाधित हो जाते हैं।

शंका—भूमा, निन्दा, प्रशंसा, नित्ययोग, अतिशय, संसर्ग में मतुप् आदि प्रत्यय होते हैं यदि सत्ता की विवक्षा हो (अर्थात् उनका अस्तित्व बतलाना हो) इस प्रकार बहुत से भूमादि

अर्थ अस्ति के अर्थ (सत्ता) का अनुगमन करते हुए मत्वर्थीय माने जाते हैं। (तो) 'उन्हें बहुव्रीहि द्वारा वाच्य क्यों नहीं बतलाया।' इस पर उत्तर देते हैं—मतोर्भूमा०। मतुब् मात्र का कथन मत्वर्थीय सभी—प्रत्ययों के लिये। भूम आदि अर्थ केवल मतुप् आदि प्रत्ययों से नहीं जान पड़ते, अपितु तब प्रतीत होते हैं जब वे प्रकरण आदि से युक्त होते हैं, इसलिये मतुवादि के निर्देश द्वारा उनके उदाहरण नहीं दिये। उनकी प्रतीति नियमतः हो ही जाती है।

विमर्श : जिस प्रकार 'पीतगुणवान्' न कहकर पीतगुण कहने से भी व्यक्ति विशेष में पीत गुण के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार—विसकिसलयच्छेदपाथेयाः (मेघदूत) और 'त्वगुत्तरासङ्गाम्' (कुमारसम्भव) कहने से भी हंसों तथा पार्वती में क्रम से बिसकिसलयच्छेद के पाथेय तथा—त्वगुत्तरासङ्ग का अस्तित्व मालूम हो जाता है, इतने पर भी उनमें अस्तित्व के बोधक 'मतुप्' प्रत्यय (पाथेयवन्तः)—(उत्तरासङ्गवतीम्) लगाना वस्तुतः पुनरुक्त है।

मतुप् आदि प्रत्यय उक्त ६ अर्थों में होते हैं। ग्रन्थकार ने केवल एक मतुप् का उदाहरण दिया शेष पाँच छोड़ दिये। इसका कारण स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा कि वे प्रकरण आदि की सहायता से अपना अर्थ बतलाते हैं। उनकी ऊहा स्वयं भी की जा सकती है।

यथा वा—

'वासो जाम्बवपल्लवानि जघने गुञ्जास्रजो भूषणम्' इति, 'तदीयमातङ्गघटाविघट्टितै' रिति, 'येनाकुम्भनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते' इति। इत्यादौ तद्धितप्रत्ययस्य पौनरुक्त्यं षष्ठीसमासाश्रयेणैव तदर्थावगतिसिद्धेः।

और जैसे—

'कपड़े हैं जामुन सम्बन्धी पत्ते, भूषण है गूँजा की मालायें' यह—'उससे सम्बन्धित हाथियों की घटाकी टक्करों से' यह, जिससे माथे तक डूबे जंगली हाथियों के यूथों द्वारा जल पिया जाता है यह। ऐसे उदाहरणों में तद्धित प्रत्यय की पुनरुक्ति है। षष्ठी समास से ही उस अर्थ की प्रतीति हो सकती है।

जाम्बवेति तदीयेति वन्येति च तद्धितप्रत्ययस्य पौनरुक्त्यम्। जम्बूपल्लवानीति, तन्मातङ्गेति, वनकरिणामिति च षष्ठीसमासेनैव तद्धितकर्मधारयलक्षणवृत्तिद्वयार्थप्रतीतेः।

जाम्बव, तदीय, वन्य—इनमें तद्धित प्रत्यय पुनरुक्त है। जम्बूपल्लव, तन्मातङ्ग, 'वनकरिणाम्'—इस प्रकार षष्ठी समास द्वारा भी तद्धित और कर्मधारय स्वरूप दोनों वृत्तियों का काम चल सकता है।

यत्र त्वर्थान्तरे तद्धितस्योत्पत्तिर्न तत्र समासात् तत्प्रतीतिरिति न तस्य पौनरुक्त्यम्। यथा—

'अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः'। इति।

अत्र ह्यपत्यार्थे तद्धितोत्पत्तिर्नेदमर्थ इति।

जहाँ (कहीं) दूसरे अर्थों में तद्धित का प्रयोग होता है वहाँ समास से उसकी प्रतीति नहीं होती, इसलिये वह पुनरुक्त नहीं होता। जैसे—

जीव-जन्तु—सब वार्त्रघ्न (वृत्र एक असुर, उसका = घ्न = मारने वाला = वृत्रघ्न, वार्त्रघ्न = वृत्रघ्न का पुत्र, उस) के बाणों से भयभीत हो गये। यहाँ तद्धित अपत्यार्थक है, इदमर्थ (किसी के सम्बन्ध ी के अर्थ) में नहीं। (अतः यहाँ पुनरुक्ति नहीं है)

वार्त्रघ्नेति वृत्रघ्न इन्द्रस्यापत्यमत्र विवक्षितं, नेदमर्थ इति नात्र तद्धितस्य पौनरुक्त्यम् ।

वार्त्रघ्न—यहाँ वृत्रघ्न = इन्द्र का अपत्य विवक्षित है। न कि इदमर्थ (तस्येदम् आदि द्वारा प्रतिपादित)। अतः यहाँ तद्धित की पुनरुक्ति नहीं हुई ।

उभयविषयं यथा—

'छायामपास्य महतीमपि वर्तमानामागामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम्' अत्र हि समूहार्थायाः प्रकृतेर्बहुवचनस्य चोभयोः पौनरुक्त्यम् ।

उभयविषयक यथा—

'उपस्थित (सामने की) विशाल छाया को भी छोड़कर जनताओं ने आगामी छाया को अपनाया'। यहाँ (जनशब्द से) समूहार्थक प्रकृति (जनता शब्द) और उससे आया बहुवचन दोनों ही पुनरुक्त है ।

समूहार्थाया इति । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्य' इति (४–२–७) समूहे तल्प्रत्ययः । अत्र जनशब्देनैव समूहार्थप्रतीतेस्तल्प्रत्ययरूपायाः प्रकृतेर्बहुवचनस्य प्रत्ययस्य च पौनरुक्त्यम् ।

समूहार्थ—ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यः इस सूत्र से तल् प्रत्यय हुआ। यहाँ केवल जन शब्द से ही समूहार्थ की प्रतीति हो सकती है, इसलिए तल प्रत्ययरूप प्रकृति और उससे भी आए बहुवचन-वाचक प्रत्यय पुनरुक्त हैं ।

विमर्श : तल् प्रत्यय का विधायक सूत्र—इस प्रकार है—'ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्'। उसमें सहायशब्द नहीं है, जैसा कि व्याख्या में मुद्रित है। सहाय शब्द इसी सूत्र के वार्तिक में है—'गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्' में ।

पदविषयं यथा—

'दलत्कन्दलभाग् भूमिस्सलम्बाम्बुदम्बरम् ।
वाप्यः फुल्लाम्बुजयुजो जाता दृष्टेर्विषं मम ॥' इति ।

अत्र हि भजिः सहशब्दो युजिश्च पुनरुक्तार्थः, पूर्ववद् बहुव्रीहिसमासाश्रयणेनैव तदर्थावगतेः ।

पदविषयक पौनरुक्त्य जैसे—

'खिलते कन्दलों वाली भूमि' नीचे उतरे मेघों सहित आकाश, खिले कमलों से युक्त तलैयाँ—मेरी दृष्टि के लिये जहर बन गईं। यहाँ—(वाली सहित, युक्त ये) भज् सहशब्द और युज् धातु के अर्थ पुनरुक्त हैं। पहले के समान बहुव्रीहि द्वारा ही उनके अर्थ का ज्ञान हो सकता है ।

पूर्ववदिति दलत्कन्दलेति लम्बाम्बुदमिति फुल्लाम्बुजा इति च बहुव्रीहिणैव भजत्यर्थादीनां प्रतीतेः पुनरुक्तत्वम् ।

पूर्ववत्—दलत्कन्दला, लम्बाम्बुदम् , फुल्लाम्बुजा—इस प्रकार बहुव्रीहि द्वारा ही भज् आदि के अर्थ की प्रतीति हो सकती है। अतः वे पुनरुक्त हुए ।

विमर्श—यहाँ पूर्ववत् द्वारा 'बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः' और 'त्वगुत्तरासङ्गवतीम्'—की ओर निर्देश है, जिन्हें ग्रन्थकार ने अभी-अभी उपस्थित किया है ।

यत्र च विशेषणाद् विशेष्यमात्रप्रतिपत्तिरिष्यते तत्र तदुक्तेः पौनरुक्त्यं यथा—'पायात् स शीतकिरणाभरणो भवो वः' इत्यत्र भवशब्दस्य। यथा वा—

'चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्।'
इत्यत्र नागेन्द्रेन्द्रवाहनशब्दयोरेकतरस्य।

और जहाँ विशेषण से विशेष्यमात्र की प्रतीति अभीष्ट हो वहाँ उस (विशेष्य) का कथन पुनरुक्त होता है। जैसे—

शीतल किरणों वाले का मुकुट पहने वे शंकर आप की रक्षा करें। यहाँ भव (शंकर) शब्द का (कथन)। और जैसे—'सुन्दर चमरु चर्म से चमचमाते कुथ (झूल) से इन्द्र के वाहन गजराज के समान।' यहाँ नागेन्द्र और इन्द्रवाहन शब्दों में से किसी एक का कथन।

विशेष्यमात्रेति **विशेष्यस्याविशिष्टविशेष्यरूपतया विशिष्टविशेष्यरूपतया वा प्रतीतिः। तत्र विशिष्टविशेष्यरूपतया प्रतीतौ तत्र विशेषणमात्रादेव विशेष्यस्यैव प्रतीतिः तत्र विशेष्यप्रयोगो न दुष्यति यथा 'तव प्रसादादि'त्यत्र वक्ष्यते।**

भवशब्दस्येति **शीतकिरणाभरण इत्यनेनैव प्रतीतत्वाद् भावार्थस्य, यथा 'निधानगर्भामिव सागराम्बराम्' इत्यत्र सागराम्बराशब्देन मेदिन्याः।**

चमूरुर्मृगविशेषः। कुथः **वर्णकम्बलः।** एकतरस्येति **इन्द्रवाहनशब्दप्रयोगे कुथसामर्थ्यान् नागेन्द्रप्रतीतिर्नागेन्द्रशब्दप्रयोगे च शुक्लवर्णस्य वर्णितत्वाद् इन्द्रवाहनप्रतीतिरित्येकतरस्यैव प्रयोगो न्याय्यः।**

विशेष्यमात्र—विशेष्य की प्रतीति या तो अविशिष्ट रूप से होती है, या विशिष्ट रूप से। उनमें से विशिष्ट विशेष्य की प्रतीति में विशेषण का प्रयोग सदोष नहीं होता, यदि विशेषण से विशेष्य की प्रतीति सामान्यतः हो रही हो। जैसे—'तव प्रसादात्००' पद्य में बतलाएँगे।

भवशब्दस्य—शीतकिरणाभरण कहने भर से भवरूपी अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इसलिये भव शब्द का देना पुनरुक्त है, जैसे—'निधानगर्भामिव सागराम्बराम्'—में सागराम्बरा शब्द से मेदिनी की।

चमूरु—एक तरह का मृग।

कुथ—कई रंग का कम्बल, हिन्दी में जिसे झूल कहते हैं।

एकतरस्य—इन्द्रवाहन शब्द के प्रयोग में कुथ शब्द के आधार पर नागेन्द्र की प्रतीति हो जाती है और नागेन्द्र शब्द के प्रयोग में शुक्लवर्ण के वर्णन से इन्द्रवाहन की प्रतीति, अतः किसी एक का प्रयोग ठीक था।

यत्र तदित्यादिना **विशिष्टविशेष्यरूपतया विशेष्यप्रतिपत्तिमुदाहरति।**

(अब आगे) 'यत्र तत्'—इत्यादि ग्रन्थ द्वारा विशिष्टविशेष्य रूप से विशेष्य की प्रतीति का उदाहरण देते हैं।

यत्र तद्विशेषप्रतिपत्तिर्न तत्र पौनरुक्त्यम्—

'तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये॥' इति।
अत्र हरशब्दस्येति वक्ष्यते।

जहाँ—उसकी प्रतीति विशेष रूप से हो रही हो वहाँ पुनरुक्ति नहीं होती।

जैसे—तवप्रसादात्००० इत्यादि।

यहाँ हर शब्द का (कथन दोषावह नहीं) ऐसा आगे कहेंगे।

तद्विशेषः **विशेष्यगतो विशेषः।**

हरशब्दस्येति **पिनाकपाणिशब्देन हरगतो विशेषः प्रतिपाद्यते यः सर्वोत्कर्षहेतुत्वेन विवक्षितो न संज्ञिमात्रमित्यर्थः।**

तद्विशेषः—विशेष्यगत विशेष।

हरशब्दस्येति—पिनाकपाणिपद से हर की विशेषता का प्रतिपादन किया जा रहा है जिसे (विशेषता को) सबसे उत्कृष्ट होने के कारण रूप से कहना अभीष्ट है। केवल संज्ञी (शिव) का प्रतिपादन यहाँ अभीष्ट नहीं है।

अथ यथात्रैव 'तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपी'त्यत्र विशेष्योपादानमन्तरेणाप्युभयार्थप्रतिपत्तिस्तद्वदत्रापि भविष्यतीति तदयुक्तम्। उत्तमपुरुषेणैवास्मदर्थस्य विशेष्यस्य प्रतिपादितत्वात् तदनुपादानासिद्धेः।

(शंका)—जैसे—यहाँ 'तवप्रसादात् कुसुमायुधोऽपि' में विशेष्य का कथन किए बिना भी दोनों अर्थों का ज्ञान हो जाता है—उसी प्रकार यहाँ (पिनाकपाणि में) भी होगा'—(उत्तर)—ऐसा कहना ठीक नहीं है। उत्तम पुरुष द्वारा ही उसका (अस्मद् शब्दार्थ रूपी) विशेष्य बतला दिया गया है, अतः 'उसका उपादान नहीं किया है'—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

विशेष्योपादानमन्तरेणापीति। **कुसुमायुधशब्दोऽपि हि विशेषणमपि विशेष्यमप्यवगमयत्यव्यभिचारात्। न तु तस्य पृथक्प्रयोगः।** अत्रापीति **पिनाकपाणेरित्यत्र।** लिङुत्तमपुरुषेणैवेति **'अस्मद्युत्तमः' (१-४-१०७) इत्यत्र हि स्थानिन्यपीत्यनुवर्तनादप्रयुक्तेऽप्यस्मच्छब्दे तदर्थसम्भवे उत्तमपुरुषो भवत्येव।** तदनुपादानं **विशेष्यानुपादानम्।**

विशेष्योपादान—कुसुमायुध शब्द भी विशेषण होते हुए—विशेष्य को भी अवगत करा देता है। (विशेष्य से) अलग न रहने के कारण उसका अलग से प्रयोग नहीं भी हुआ है।

अत्रापि—पिनाकपाणि में भी (हर की जरूरत न होगी) लिङ्लकार के उत्तम पुरुष 'कुर्याम्' द्वारा ही। 'अस्मद्युत्तमः' में स्थानिन्यपि का अनुवर्तन होता है, अतः अस्मद् शब्द का प्रयोग न होने पर भी उसका अर्थ निकल आता है, इसलिये उत्तम पुरुष आ ही जाता है।

तदनुपादान—विशेष्य का अनुपादन (कुसुमायुध में विशेष्य (काम) का अनुपादान)।

यथा च—

'निर्याय विद्याथ दिनादिरम्याद् बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे॥' इति।

अत्र हि महर्षिमुखार्कबिम्बयोर्विद्यादीप्त्योः पार्थाननपद्मयोश्चोपमानोपमेयभावावगतिरेकस्यैवेवशब्दस्य व्यापारः। तथा हि महर्षिमुखाद् विद्या निर्याय पार्थाननमभिपेदे अर्कबिम्बादिव दीप्तिः पद्ममिति। एवं पदार्थसमन्वये सति सर्वेषामुपमानोपमेयभावोऽभिमतः सिद्ध्यत्येवेति यत् तत्रान्येषां साम्याभिधायिनामुपादानं तत् पुनरुक्तमेव अन्यथा विद्या दीप्तिरिवेति तृतीय-

स्यापीवशब्दस्य प्रयोगः प्रसज्येतेति 'स्फुरत्पद्ममभिप्रपेद' इत्यत्र युक्तः पाठः। यथा वा—

'दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव रेखा।
पुपोष लावण्यमयान् विशेषान् ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि॥' इति।

और जैसे—

विद्या, महर्षि के सूर्य विम्ब के समान प्रभातरम्य मुख से निकल कर खिल रहे कमल तक चिनगारी जैसी दीप्ति के समान अर्जुन के मुख तक पहुँची।'

यहाँ केवल एक ही इव शब्द महर्षि मुख और अर्कविम्ब, विद्या और दीप्ति, पार्थानन और पद्म के उपमानोपमेयभाव का ज्ञान करा सकता है [यदि ऐसी वाक्य योजना हो] 'महर्षि के मुख से निकल कर विद्या पार्थ के मुख तक पहुँची, जैसे सूर्य बिम्ब से निकल कर प्रकाश-पद्म तक' [पहुँचता है]। इस प्रकार पदार्थों का समन्वय हो जाने पर सबका उपमानोपमेयभाव जो कि अभीष्ट है, सिद्ध हो ही जाता है, इसलिये वहाँ जो अन्य (द्वितीय) उपमावाचकों (वाचक पद) का उपादान है, वह पुनरुक्ति ही है (ऐसे तो) विद्या दीप्ति के समान—इस प्रकार तीसरे इव शब्द का भी प्रयोग अपेक्षित हो जाएगा' इसलिये—स्फुरत्पद्ममभिप्रपेदे' पाठ चाहिये। और जैसे—

'नवोदित चन्द्रलेखा के समान प्रतिदिन बड़ी होती जा रही उस (पार्वती) ने चाँदनी में छिपे अन्य कला भागों के समान लावण्य में डूबे अंगों को परिपुष्ट किया'—यहाँ।

अन्येषामिति। बहुवचनादीदृशु स्थानेष्वेकेनैवेवशब्देन गतार्थत्वाद् अन्येषां प्रयोगो विफल इत्यभिप्रायः। तृतीयस्यापीति वाक्यार्थौपम्यविवक्षायामेक एवेवशब्दः प्रयोक्तव्यः। पदार्थौपम्यविवक्षणे तु यावन्तो विशेष्यभूताः पदार्थास्तावन्त इवशब्दाः प्रयोक्तव्याः। न त्वर्धजरतीयं कार्यमित्यर्थः। एतच्चाभ्युपगमवादेनोक्तम्। न तु सम्भवन्त्यां वाक्यार्थोपमायां पदार्थोपमाः कार्या इत्यस्य पक्षः। तथा च दिनेदिने इत्यादिना दूषयिष्यति।

दिने दिने इति। अत्र चान्द्रमस्या लेखायाः पार्वत्युपमानं, विशेषाणां तु कलान्तराणि। विशेषाणां च लावण्यमयानिति विशेषणम्। तत्स्थानीयं कलान्तराणां ज्योत्स्नान्तराणीति। ज्योत्स्नान्तरे येषामिति हि व्याख्या। 'दिनेदिने' इत्यादि पार्वतीन्दुलेखयोः साधारणो धर्मः। न तु कलान्तराणि कर्तृणि ज्योत्स्नान्तराणि पुष्णातीति साध्वी व्याख्या वचनभेदादिदोषप्रसङ्गात्। अत्र चान्द्रमसीव लेखा कलान्तराणि पुष्णातीत्येकेनैवेवशब्देन गतार्थत्वे द्वितीयस्येवशब्दस्य पौनरुक्त्यम्।

अन्येषाम्००—इसमें बहुवचन होने से बात यह आई कि ऐसे स्थलों में एक ही इव शब्द द्वारा काम चल जाता है, इसलिये दूसरों का प्रयोग व्यर्थ होता है।

तृतीयस्यापि—वाक्यार्थ की उपमा की विवक्षा होने पर एक ही इव शब्द प्रयुक्त किया जाना चाहिये। जहाँ पदार्थगत उपमा की विवक्षा हो वहाँ जितने विशेष्यभूत पदार्थ हों उतने ही इव शब्द प्रयुक्त किये जाने चाहिये। अर्धजरतीय (पहले व्याख्यात) काम ठीक नहीं। यह अभ्युपगमवाद द्वारा (मानने भर के आधार पर) कहा। इनका पक्ष तो यह है कि जहाँ वाक्यार्थोपमा हो सकती है वहाँ पदार्थोपमा नहीं की जानी चाहिये। उसी से 'दिने-दिने' पर दोष दिखलावेंगे।

दिने-दिने—यहाँ चन्द्रलेखा का उपमान है पार्वती, अंगों के हैं कला भाग। विशेष (अंग के पर्याय) का विशेषण है—'लावण्यमयानि' उसके स्थान पर कलान्तर का विशेषण है—ज्योत्स्नान्तर जिसकी व्याख्या है—'ज्योत्स्ना है अन्दर जिसके'। 'दिने-दिने' (दिन-दिन बढ़ना) आदि पार्वती

और चन्द्र लेखा का साधारण धर्म है। इसे कला भागों को कर्ता मान कर वे ज्योत्स्ना को पुष्ट करते हैं—ऐसी व्याख्या ठीक नहीं। इसमें वचन भेद (पुष्णन्ति की जगह पुष्णाति का प्रयोग) आदि दोष आते हैं। यहाँ—'जैसे चन्द्र लेखा दूसरी कलाओं को पुष्ट करती है'—इस प्रकार एक ही (इव) शब्द से बात निकल आने पर भी जो द्वितीय इव-शब्द दिया गया है वह पुनरुक्त है।

विमर्श—व्याख्यान में 'अत्र चान्द्रमस्या लेखायाः पार्वत्युपमानम्'—ऐसा छपा है। हमने उसी के अनुसार उसका अनुवाद कर दिया है। वस्तुतः पार्वती उपमेय है उपमान नहीं। मालूम पड़ता है यह भूल लेखक की है। क्योंकि 'विशेषणानां कलान्तराणि उपमानम्'—इस प्रकार जो वाक्य बनता है उसकी समकक्षता में पार्वत्याः चान्द्रमसी लेखा उपमानम् , यह पूर्व वाक्य चाहिये तभी चन्द्रलेखा उपमान, पार्वती उपमेय, कलान्तर उपमान और विशेष (अंग) उपमेय बन सकते हैं। कुछ लोग कलान्तर को कर्त्ता मानते और ज्योत्स्नान्तर को उसका कर्म मानते हैं। उनके अनुसार व्याख्या करने में पुपोष इस एकवचनान्त क्रियापद को बदल कर 'पुष्णन्ति' इस प्रकार बहुवचनान्त क्रिया पद बनाना पड़ेगा। ऐसा करने पर छन्द दोष भी होगा और पूर्व वाक्य से उत्तर वाक्य की संगति न रहेगी। इत्यादि कई दोष होंगे। मल्लिनाथ ज्योत्स्नान्तर की व्याख्या "ज्योत्स्नायामन्तर्धानं येषाम् = जो ज्योत्स्ना में डूबे हैं'—ऐसी करते हैं जो अधिक वैदग्ध्यपूर्ण है।

व्याख्यान में 'ज्योत्स्नान्तराणि पुष्णाति'—यह जो वाक्य है इसमें पुष्णाति के स्थान पर 'पुष्णन्ति' पद चाहिए। क्योंकि मूलश्लोक में तो 'पुपोष' पद है। उसका उपमानगतरूप पुष्णन्ति ही हो सकता है। ऐसा मानने पर वचनभेद उपमान और उपमेय में मानना चाहिए। पार्वती में एकवचन है कलान्तराणि में बहुवचन।

यथा च—

'यं समेत्य च ललाटलेखया युञ्जतः सपदि शम्भुविभ्रमम्।
चण्डमारुतमिव प्रदीपवच्चेदिपस्य निरवाद् विलोचनम्॥'

अत्रापि 'दैपमर्चिरिव चण्डमारुतमि'ति युक्तः पाठः।

और जैसे—

आँधी के समान जिससे मिलने पर दीप के समान शिशुपाल का वह नेत्र नष्ट हो गया, जिसे ललाट में रेखा रूप से धारण कर वह शंकर भगवान् का रूप धारण कर सकता था।'

यहाँ—'आँधी से मिलकर दीप की लौ के समान' यह कहना चाहिये।

यं समेत्येति। **अत्र यमित्यस्य चण्डमारुत उपमानं, चेदिपस्य च प्रदीपः। तुल्यार्थे वतिः। विलोचनप्रशमनादेव शम्भुविभ्रमत्यागः। अत्र च दत्तेऽपि पाठे कर्मभूतयोरुपमेयोपमानयोर्ललाटलेखयेत्यादिविजातीयपदगर्भितत्वं विकृतपदप्रयोगो वैरस्यं च दुष्परिहरमेव। तेन** 'चण्डमारुतनवप्रदीपवद्' **इति पाठः श्रेयान्। एवं हि मिशब्दस्थाने नशब्दमात्रकरणेन स्तोकमात्रव्यत्यासेन सौकर्येण दोषपरिहारप्रतीतिः सौन्दर्यं च।**

यंसमेत्य—यहाँ 'यम्' इसका उपमान चण्डमारुत है और चेदिपति (शिशुपाल) का दीपक। वति प्रत्यय—तुल्य अर्थ में है। आँख के नष्ट होने से ही शंभुविभ्रम (शिव का आकार धारण करना) समाप्त हुआ। यहाँ सुधार कर दिये गये पाठ में भी कर्म रूप से आए उपमान और उपमेय दोनों के बीच एक बेतुका—'ललाटलेखया'—शब्द आ गया है। इस लिये इस विकृत शब्द का प्रयोग विरसता को पैदा करता है। इसलिये 'चण्डमारुतनवप्रदीपवत्' पाठ अधिक अच्छा हो। इसमें 'मि' शब्द की जगह केवल 'न' शब्द करना पड़ता है, जरा से बदलने से सुख के साथ दोष मिट जाता है और सौन्दर्य भी चला आता है।

विमर्श—टीकाकार ने एक बात 'ललाटलेखया' की कही और दूसरी अपने पाठ की। दोनों में से प्रथम बात तो पते की है। द्वितीय के लिये यदि पाठ बदलना ही हो तो—'चण्डवेगमनिलं प्रदीपवत्' पाठ करना चाहिये। इससे 'यं समेत्य' द्वारा जैसे उपमेय स्वतंत्र रूप से कथित है वैसे ही उसका उपमान चण्डवेगपवन भी कथित हो जाता है। फलतः उपमा के दोनों अंग प्रमुख रूप से सामने आ जाते हैं। समास करने पर उपमान प्रदीप में समा जाता है।

यथा च—

'नवचन्द्रिकाकुसुमकीर्णतमः-कबरीभृतो मलयजार्द्रमिव।
ददृशे ललाटतटहारि हरेर्हरितो मुखस्य हिमरश्मिदलम्॥'

इत्यत्रापीवशब्दप्रयोगः पुनरुक्तो हारीत्यनेनैव तदभिन्नार्थेन तदर्थस्य प्रतिपादितत्वात्। नचोभयोरभिन्नार्थत्वेऽपि हारीत्यस्य पौनरुक्त्यं युक्तं वक्तुं तस्य यथास्थानमवस्थानादिवशब्दस्य च विपर्ययेण क्रमभेददुष्टत्वादिति 'ददृशे ललाटतटमिन्द्रदिशो वदनस्य हारि हिमरश्मिदलमि'ति वरमत्र पाठो युक्तः। यथा च—

'वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता॥'

इत्यत्र द्वितीय इवशब्दः पुनरुक्तः। एवं ह्यत्र पाठो युक्तः 'गेयस्य वाङ्मयस्याहो अपर्यन्ता विचित्रता' इति।

जैसे और—

इन्द्र की दिशा (पूर्व) के मुख (आरंभ और चेहरे) का हिमरश्मिदल (चन्द्रबिम्ब और ठण्डी किरणों का समुदाय), जो कि नई चाँदनी के तारों से कहीं-कहीं अंधकार की कबरी (केशपाश) से युक्त था उसके मलयागिर चन्दन से भीगा हुआ सा ललाटतट के समान आकर्षक दिखाई दिया।

यहाँ इव शब्द का प्रयोग पुनरुक्त है। 'हारि'—शब्द से ही उसका अर्थ निकल सकता है। उसका अर्थ उससे अभिन्न है। दोनों अभिन्न हैं तो भी 'हारि' को पुनरुक्त नहीं कहा जा सकता, वह अपने ठीक स्थान पर प्रयुक्त है। इव शब्द ही अपने स्थान पर नहीं है। इसलिए इसमें क्रमभेद दोष है। अतः 'ददृशे—हिमरश्मिदलम्' = 'पूर्वदिशा के मुख का हिमरश्मिदल (चन्द्रबिम्बरूप) आकर्षक ललाटतट दिखाई पड़ा' पाठ अधिक अच्छा होगा।

और जैसे—

स्वरों के समान कुछ ही वर्णों से बने वाङ्मय की संगीत के ही समान बड़ी विचित्रता है। यहाँ दूसरा इव (समान) शब्द पुनरुक्त है—ऐसा पाठ यहाँ ठीक होगा—'गेय और वाङ्मय की विचित्रता का अन्त नहीं।

मलयजार्द्रमिवेति हिमांशुखण्डस्योत्प्रेक्ष्यत्वेनोपनिबद्धमाकाङ्क्षासन्निधिसामर्थ्याल्ललाटतटस्य विशेषणं पर्यवस्यतीति कवेरभिप्रायः। वस्तुतस्त्विवशब्दप्रयोगमन्तरेणापीष्टसिद्धेरिवशब्दः पुनरुक्तः। न चन्द्रखण्डस्य मलयजार्द्रत्वोत्प्रेक्षणे प्रयोजनं किञ्चित्। यत्र चैतद्धि विशेषणमुपयुज्यते, तत्रेवशब्दप्रयोगो व्यर्थः।

तदभिन्नार्थेनेति समासे इवार्थगर्भीकरणात्। विपर्ययेणेति ललाटतटनिकटे प्रयोगार्हत्वात्। वरमिति इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वापरिहारादनवक्लृप्तिः। केवलं हारीत्यस्य समासकरणादिवार्थ-

प्रतीतेरिवशब्दो न पुनरुक्त इति पौनरुक्त्यपरिहारः कृतः। अहो अपर्यन्तेति 'ओद्' (१-१-१५) इति प्रगृह्यसंज्ञा।

मलयजार्द्र—यह उत्प्रेक्षा द्वारा हिमांशुखण्ड के लिए आया है, तो भी आकांक्षा और सन्निधि के बल पर ललाटतट का विशेषण बन जाता है। यह है कवि का अभिप्राय। वस्तुतः इव शब्द का बिलकुल प्रयोग न होने पर भी बात बन सकती है इसलिए इव शब्द पुनरुक्त है। चन्द्रखण्ड को मलयजार्द्र रूप से उत्प्रेक्षा करने का कोई मतलब नहीं। जहाँ इस विशेषण की उपयोगिता है वहाँ इव शब्द का प्रयोग अपेक्षित नहीं।

तदभिन्नार्थत्वेन—समास में इवशब्दार्थ आ जाने से।

विपर्ययेण—अर्थात् उस (इव) का प्रयोग ललाटतट के पास चाहिए था।

वरम्—अर्थात् इव शब्द की भिन्नक्रमता (क्रमभेद दोष) का परिहार न होने से उसे सर्वथा बदलना पड़ा। केवल 'हारि'—यही समास करने से इवशब्द का अर्थ बतला देता है, इसलिए इवशब्द पुनरुक्त है, अतः पौनरुक्त्य का परिहार किया।

अहो अपर्यन्ता = यहाँ 'ओद्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा होने के कारण पूर्वसवर्ण नहीं हुआ।

उपमारूपकेत्यादिना—

'अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम्।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवद् ॥' [वक्रोक्तिजीविते १।३५]

इति वक्रोक्तिजीवितकृतोक्तमलङ्कारपृष्ठपातिनमलङ्कारं दूषयति।

उपमारूपकेत्यादि—ग्रन्थ द्वारा अब ग्रन्थकार—वक्रोक्तिजीवितकार के—'जहाँ कविलोग असंतोष के कारण एक अलंकार में दूसरा अलंकार जोड़ते हैं, जैसे हार आदि में मणि आदि।'—इस प्रकार प्रतिपादित 'अलंकारों के पीछे अलंकारों के प्रयोग' को दूषित ठहराते है—

एवमुपमारूपकेऽपि इवशब्दप्रयोगः पुनरुक्तोऽवगन्तव्यः। यथा—'निर्मोकमुक्तिमिव गगनोरगस्य लीलाललाटिकामिव त्रिविष्टपविटस्य' इति। यथा च 'शातः श्यामालतायाः परशुरिव तमोऽरण्यवह्नेरिवार्चि'रिति। अत्र हि रूपकस्योपनिबन्धः श्रेयान्, नोपमायाः, तस्यास्तन्मुखेनैव प्रतीतिसिद्धेः। न ह्यसति सादृश्ये कश्चित् स्वस्थधीरतस्मिंस्तत्त्वमारोपयति। यथा—

'आलानं जयलक्षणस्य करिणः सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः।
सङ्ग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन्! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः॥' इति।

इसी प्रकार उपमारूपक में इव शब्द का प्रयोग पुनरुक्त जानना चाहिए।

उदाहरणार्थः—आकाश रूपी साँप की छूटी हुई सी केंचुल, स्वर्गरूपी विट की लीलाललाटिका (ललाट-भूषण) सी। और जैसे—

'श्यामालता का छेदक फरसा सा, अंधकाररूपी जंगल के लिये अग्नि की ज्वाला सी।' यहाँ रूपक का प्रयोग ठीक है, उपमा का नहीं, उस (उपमा) की प्रतीति उसी (रूपक) के द्वारा हो जाती है। ऐसा नहीं है कि सादृश्य न होने पर भी सही दिमाग का कोई भलामानस किसी का किसी पर आरोप कर दे।

जैसे—राजन् शत्रु वीरों की स्त्रियों को विधवा करने वाली आपकी भुजा विजयरूपी हाथी के लिये आलान (हाथी का खूँटा) मालूम पड़ती है, विपत्तिरूपी समुद्र के लिये सेतु, तलवाररूपी प्रखर सूर्य के लिये उदयाचल, लक्ष्मी के लिये लीलोपधान (सुन्दर तकिया) और संग्रामरूपी अमृतसागर को मथने के खेल के लिये—'मन्दराचल।'

निर्मोकमुक्तिमिवेति **अत्रोपमारूपकत्वं परप्रसिद्धयोक्तम्। न त्विदमुपमारूपकम्। उत्प्रेक्षारूपकं तु स्यात्, निर्मोकमुक्तेस्सम्भाव्यमानत्वेन प्रतीतेः। तथा हि निर्मोकानुगुण्यात् तावद् गगनस्योरगेण रूपणम्। निर्व्यूढे च रूपके निर्मोकमुक्तिर्न ताटस्थ्येन प्रतीयते किन्तु गगनोरगसम्बन्धित्वेन। गगनोरगसम्बन्धित्वेन च प्रतीतौ न सादृश्यम् अपि त्वध्यवसायः। तस्य च प्रवर्त्तमानत्वमित्युत्प्रेक्षैव ज्यायसी प्रतीतौ। अतश्चैवेदं मुक्तिपदं कृतम्।** अन्यथा **शुद्धसादृश्यप्रतिपादने धर्म्यत्र विशिष्टो निर्मोक उपमानत्वेन निर्देश्यः स्यात्।** भिन्नलिङ्गयो**रुपमाया दुष्टत्वान्न निर्दिष्ट इति चेन्न,** साधारण**धर्मस्यानिर्देशे निर्दिष्टस्यापि वा द्वैरूप्याभावे भिन्नलिङ्गसङ्ख्ययोरपि 'स्त्रीव गच्छति षण्ढोऽय'मित्यादौ 'हन्ता वहन्ति दोष इव नृपतीनां गुणान् इह(सहैव ?) दुर्विनयम्' इत्यादौ चोपमानोपमेयभावस्येष्टत्वात्। तस्मादुपमायां निर्मोक इवेति स्यात्। उत्प्रेक्षायां क्रियामात्रोत्प्रेक्षणमुपपद्यत इत्युत्प्रेक्षारूपकमेतत्परमार्थतः। एतदस्माभिर्हर्षचरितवार्तिके विस्तृत्य प्रतिपादितं तत एवावसेयम्।**

एवं परशुरिवेत्यादौ **वाच्यम्।** 'तमोरण्यवह्निरिवार्चि'**रिति। अत्र तमसोऽरण्येन रूपणे वह्निरर्चिस्सम्बन्धितया विवक्षितः समासे निवेशनीयः यतो न कश्चिदत्र निर्दिष्टो यो वह्निना रूप्येत। तस्मात् तमोरण्यस्य वह्न्यर्चिरिति वक्तव्यम् इत्यत्र वाच्यावचनं दोषः।**

आलानमि**ति सत्येव सादृश्ये आरोप्यारोपकभावस्य निदर्शनम्।**

निर्मोकमुक्तिरिव—यहाँ उपमारूपक—केवल प्रसिद्धि के कारण बतलाया गया है, वस्तुतः बतलाना चाहिये उत्प्रेक्षारूपक, कारण कि निर्मोकमुक्ति की प्रतीति सम्भाव्यमान रूप से मान्य है। उसी प्रकार निर्मोक के अनुरोध से गगन पर साँप का आरोप किया गया है। रूपक बन जाने पर निर्मोकमुक्ति तटस्थरूप से (स्वतंत्र रूप से) प्रतीत नहीं होती, अपितु गगनोरगसंबन्धपूर्वक ही प्रतीत होती है। और—गगनोरगसंबन्धपूर्वक प्रतीत होने में सादृश्य नहीं अपितु अध्यवसाय होता है। वही प्रवर्तमान है। इसलिये प्रतीति में तो उत्प्रेक्षा ही प्रबल है। इसलिये मुक्तिपद भी दिया गया। शुद्ध सादृश्य का प्रतिपादन करना होता तो विशिष्ट धर्मी = निर्मोक ही उपमान रूप से कहा गया होता—यदि यह कहा जाय कि जिनमें लिङ्ग भिन्न होते हैं उनमें उपमा दोषावह होती है तो भी ठीक नहीं, साधारण धर्मों का निर्देश न होने पर, अथवा निर्देश होने पर भी भिन्नरूपता न हो तो लिङ्ग संख्या में भेद रहने पर भी 'यह—नपुंसक स्त्री के समान चलता है—इत्यादि में' कैसी मजे की बात है कि राजाओं के दोष उनके गुणों के समान ही—दुर्विनय को समाप्त कर देते हैं (?) इत्यादि के समान—उपमानोपमेयभाव माना ही जाता। इसलिए उपमा होने पर तो केवल 'निर्मोक इव' यही पाठ होता। उत्प्रेक्षा में केवल क्रिया की सम्भावना की जा रही है अतः वस्तुतः यह उत्प्रेक्षारूपक है। इसे हमने हर्षचरितवार्तिक में विस्तारपूर्वक समझाया है, उसे वहीं से देख लेना चाहिये। इसी प्रकार परशुरिव इत्यादि में समझना चाहिये।

तमोऽरण्यवह्नः—में तम को अरण्य रूप से उपस्थित कर वह्नि को अर्चि से संबन्धित दिखलाना चाहा है, अतः उसे समास में ('वह्न्यर्चिः'—इस प्रकार) दिखलाया जाना चाहिये, कारण कि ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं दिया गया है जो वह्निरूप से उपस्थित किया जाय।

इसलिये 'तमोऽरण्यस्य वह्नयर्चिः'—इस प्रकार कहना चाहिये। (ऐसा नहीं कहा) इसलिये वाच्यावचनदोष हुआ।

आलानम्—यह सादृश्य होने पर ही आरोप्य—आरोपकभाव होने का उदाहरण है।

यथा च—

'अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥' इति।

अत्र हि चुम्बतीवेत्यत्रेवशब्दः पुनरुक्तः चुम्बतेर्मुख्यार्थबाधे सति तत्सदृशार्थप्रतीतेस्सामर्थ्यसिद्धत्वोपपादनादिति।

एवम्

'स्मरहुताशनमुर्मुरचूर्णतां दधुरिवाम्रवणस्य रजःकणाः।
निपतिताः परितः पथिकव्रजानुपरि ते परितेपुरतो भृशम्॥'
इत्यत्रापि वेदितव्यम्।

और जैसे—

'उंगलियों से केशपाशके के समान किरणों से अंधेरे को बटोर कर, चन्द्रमा मुंदेकमल रूपी आँखों से युक्त निशामुख (निशा–नायिका का मुँह और रात्रि का आरंभ) को चूम सा रहा है।' यहाँ—'चुम्बतीव' में इव शब्द पुनरुक्त है। चुम्बन क्रिया के मुख्यार्थ का बाध हो जाने पर उसके समान अर्थ का ज्ञान उसी की शक्ति से हो जाता है—ऐसा पहले बतलाया जा चुका है। इसी प्रकार—'अमराई की (पुष्प) धूलि मानों कामाग्नि के अंगारों का चूरा बन गई थी इसीलिए (उसके) चारों ओर पथिकों पर झड़ने से वे दुःखी हुए।' यहाँ भी जानना चाहिये।

चुम्बतीवेति। अत्रोत्प्रेक्षार्थे प्रयुक्तस्येवशब्दस्य लक्षणासमर्थितेनार्थेन कृतार्थत्वात् पुनरुक्तत्वम्। अत्र चोपमारूपकाभिमते।

एवंविधे च प्रदेशे ग्रन्थकारो हेवाकितयैव दूषणमदात्। तथा च शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलङ्कारः। विच्छित्तिश्च कविप्रतिभोल्लासरूपत्वात् कविप्रतिभोल्लासस्य चानन्त्यादनन्तत्वं भजमाना न परिच्छेत्तुं शक्यते। अत एवोक्तं ध्वनिकृता—

'वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव॥' [ध्वन्यालोके–४] इति।

अन्यत्राप्युक्तम्—'अज्जवि अभिण्णमुद्दो पजअइ वाआ परिप्फन्दो'। इति।
(अद्याप्यभिन्नमुद्रः प्रजयति वाण्याः परिस्पन्दः।)

एवञ्च यदि विच्छित्त्यन्तरापेक्षया तस्य विच्छित्त्यन्तरस्य पौनरुक्त्यं तदोपमाया रूपकाद्यपेक्षया पौनरुक्त्यं स्यात्। उपमापेक्षया हि रूपकमतिशयोक्तिर्वा बलीयसी। न चैवं प्रयुज्यते, विवक्षाया नानात्वात्। तथा हि क्वचित् सादृश्यमात्रं विवक्षितम्। तत्रापि क्वचिद्भेदः। तस्मिन्नपि क्वचिदारोपः। क्वचिदध्यवसायः। अध्यवसायेऽपि क्वचित् साध्यत्वं क्वचित् सिद्धत्वमित्यादिक्रमेणानन्तप्रकारं विच्छित्तिवैचित्र्यम्। तत्रापि संयोजनक्रमेण नवं विच्छित्तिवैचित्र्यमनुभूयमानमाश्रितं च महाकविभिः कथं संक्षेपरुचित्वेनोपद्रूयते। न हीदं वाक्यं लक्षणशास्त्रं, येन मात्रालाघवं चिन्त्यते। तत्रापि वा न नियमेन लाघवमाश्रितं महद्भिः। तथा हि वाग्रहणस्य स्थानेऽन्यतरस्यां ग्रहणमपि कृतम्। विच्छित्तिवैचित्र्यं तैरप्याश्रितमेव। तदुक्तं 'विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः' इति। एवञ्चात्र कृतेऽपि रूपके

उत्प्रेक्षादिनिबन्धः कमपि गुणमुत्कर्षयति न दोषमिति सहृदयैर्निपुणं निरूपणीयम्। ननु हेवाकस्य पश्चाल्लगनीयमित्यास्तां तावत्। प्रकृतमनुसरामः।

मुर्मुरः अङ्गारः। आम्रवणमिति 'प्रनिरन्त' (८. ४. ५) रिति णत्वम्। पथिकव्रजान परित इति। परितः शब्दयोगे 'अभितः परितः समया निकषा' इति द्वितीया। अत्र दधुरिवेति 'इव'-शब्दः पुनरुक्त एव, वस्त्वन्तरभूतानां रजःकणानां वस्त्वन्तरभूतमुर्मुरचूर्णत्वधारणेन सुष्ठुसादृश्यप्रतीतेः। एवं—

'तत् पातु वः श्रीपतिनाभिपद्मं स्वाध्यायशाला कमलासनस्य।
दीर्घैर्निनादैर्दधतेऽनुकारं सामध्वनीनामिव यत्र भृङ्गाः॥'

इत्यादावनुकारशब्दप्रयोगे इवादिशब्दप्रयोगस्य पौनरुक्त्यमवसेयम्।

चुम्बतीव—यहाँ उत्प्रेक्षा अर्थ में प्रयुक्त इव शब्द का अर्थ—लक्षणा द्वारा उपस्थित किये अर्थ से निकल आता है। अतः पुनरुक्त है। यहाँ उपमारूपकरूप से अभिमत उदाहरणों में और ऐसे ही अन्य क्षेत्र में—ग्रन्थकार ने ऐसे ही दोष हठराए हैं, कारण कि—अलंकार है—'शब्द और अर्थ की विच्छित्ति'। और विच्छित्ति अनन्त प्रकार की होती है, कारण कि वह कविप्रतिभोल्लास-स्वरूप होती है और कविप्रतिभा का उल्लास अनन्त प्रकार का होता है। इसलिये उस (अनन्तता को प्राप्त विच्छित्ति) को सीमित नहीं किया जा सकता। इसीलिये ध्वनिकार ने कहा है—'वह हजारों हजार वाचस्पति द्वारा यत्नपूर्वक ग्रन्थ रूप में उपस्थित किये जाने पर भी क्षीण नहीं होती, जैसे हजारों हजार विश्वों में परिणत होने पर भी प्रकृति।' एक दूसरे स्थान पर कहा है—'आज भी जिसकी मोहर नहीं टूटी वह वाणी का परिस्पन्द सबसे उत्कृष्ट है—।' इसलिये यदि एक विच्छित्ति को लेकर दूसरी विच्छित्ति को पुनरुक्त माना जाय तो रूपकादि की अपेक्षा उपमा पुनरुक्त हो जाय। रूपक या अतिशयोक्ति उपमा को लेकर ही होते हैं। कहीं केवल सादृश्य की विवक्षा होती है, उसमें भी कहीं अभेद, उसमें भी कहीं आरोप और कहीं अध्यवसाय। अध्यवसाय में कहीं साध्यता होती है कहीं सिद्धता—इस प्रकार विच्छित्ति के प्रकार अनन्त होते हैं। इतने पर भी महाकवियों ने मिला-मिलाकर अनेक प्रकार के नए नए विच्छित्ति-प्रकार अपनाए हैं, जो अनुभव में आते जा रहे हैं। उन्हें केवल इसलिए कि (आपको) संक्षेप प्यारा है (भला) क्यों बिगाड़ा जा रहा है। यह वाक्य (काव्यवाक्य) लक्षण (व्याकरणादि) शास्त्रस्वरूप नहीं हैं, जिसमें—मात्रा तक की बचत पर ध्यान दिया जाय। वहाँ भी (पाणिनि आदि) महर्षियों ने नियमपूर्वक मात्रालाघव का पालन नहीं किया। देखा जाता है—कि ('वा पदान्तस्य' आदि के समान) जहाँ 'वा' शब्द देना पर्याप्त था वहाँ ('जराया जरसन्यतरस्याम्'—आदि में) 'अन्यतरस्याम्' का ग्रहण किया गया है। विच्छित्ति को उनने अपनाया ही। जैसा कि कहा भी जाता है—कि—'पाणिनि की सूत्ररचना वैचित्र्यपूर्ण है। इस प्रकार इन पद्यों में रूपक करने पर भी उत्प्रेक्षा आदि का पुट एक प्रकार की शोभा को ही बढ़ाता है, दोष को नहीं। इस पर सहृदयों को जरा गहरे जाकर विचारना चाहिये। न कि हेवाक के पीछे लगना चाहिये। अस्तु, इस चर्चा को यहीं छोड़ें और प्रकृत का अनुसरण करें :

मुर्मुर = अंगारा।

आम्रवण—'प्रनिरन्त' सूत्र० ८।४।५ से (वन के) 'न' को 'ण' हुआ।

पथिकव्रजान्—परितः शब्द के योग में ('अभितःपरितः'…) इत्यादि से द्वितीया। यहाँ 'दधुरिव' इसमें इव शब्द सचमुच पुनरुक्त है। रजःकण दूसरी चीज है और मुर्मुर दूसरी चीज।

इतने पर भी रजःकणों ने मुर्मुरचूर्णत्व धारण किया ऐसा कहने से (रजःकण और मुर्मुरचूर्ण में) सादृश्य की प्रतीति अच्छी तरह हो जाती है। इसी प्रकार—विष्णु का वह नाभिपद्म आपकी रक्षा करे जो ब्रह्मा की स्वाध्यायशाला है, जहाँ भौंरे अपनी ऊँची गुंजार से सामध्वनि का अनुकरण सा करते हैं।'—इत्यादि में अनुकरण शब्द का प्रयोग होने पर भी इव शब्द का प्रयोग (ग्रन्थकार के अनुसार) पुनरुक्त ही समझना चाहिये।

यथा च—

'तृप्तियोगः परेणापि न महिम्ना महीयसाम्।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः॥'

अत्र हि प्रतिवस्त्वलङ्कारान्महार्णवमहीयसामुपमानोपमेयभावमवगम्यमानमवधीर्य यद् दृष्टान्तशब्देन पुनर्महार्णवस्योपमानत्ववचनं तत् पुनरुक्तम्। वाच्यो ह्यर्थो न तथा स्वदते, यथा स एव प्रतीयमानः। अत एवम्—

'सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥'

इत्यत्र प्रभाधेन्वोः 'प्रभेव भानोः सुरभिर्महर्षे'रिति शब्दवाच्यामुपमामनादृत्य कविना पूर्ववद् दीपकमुखेनोपमेयभावो भणितः। एवमलङ्कारान्तरेष्वपि यथायोगमवगन्तव्यम्।

वाच्यात् प्रतीयमानोऽर्थस्तद्विदां स्वदतेऽधिकम्।
रूपकादिरतः श्रेयानलङ्कारेषु नोपमा॥ ३९॥
इति सङ्ग्रहश्लोकः।

और जैसे :—

प्रभूत प्रभुत्व मिलजाने पर भी बड़ों को तृप्ति नहीं मिलती, चन्द्रोदय की आकाङ्क्षा रखने वाला पूर्ण महार्णव इसका उदाहरण है।' यहाँ—प्रतिवस्तु अलंकार द्वारा महार्णव और 'महीयस्' (बड़ों) का उपमानोपमेयभाव समझ में आता है, इतने पर भी उसे छोड़कर जो दृष्टान्त शब्द द्वारा फिर से 'महार्णव' का उपमानभाव बतलाया गया वह पुनरुक्त हुआ। वाच्य अर्थ उतना स्वाद नहीं देता जितना प्रतीयमान देता है।

इसीलिये = 'अपने' भ्रमण से दिगन्तराल को पवित्र कर दिन डूबा—कि घर पहुँचने के लिये पत्तों की ललोई सी लाल-सूर्य की प्रभा ने—लौटना शुरू किया और मुनि की धेनु ने भी। यहाँ कवि ने—प्रभा और धेनु का 'सूर्यप्रभा के समान मुनि की धेनु' इस प्रकार उपमान को शब्दवाच्य नहीं बनाया, प्रत्युत उसकी उपमेयता पहले के समान दीपक द्वारा बतलाई। इस प्रकार अन्य अलंकारों में भी यथायोग समझना चाहिये। वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ उसके जानकारों को अधिक अच्छा लगता है। इसलिये अलंकारों में रूपक आदि अधिक अच्छे होते हैं—उपमा नहीं।

प्रतिवस्त्वलङ्कारादिति **'पूर्णः शशाङ्काभ्युदयमाकाङ्क्षति महार्णवः' इति प्रतिवस्तूपमया सादृश्यप्रतीतौ दृष्टान्तशब्दोक्तिर्दुष्टा। नच दृष्टान्तालङ्कारत्वं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तशब्दः। दृष्टान्तशब्दात् दृष्टान्तालङ्कारत्वाप्रतीतेः। न हि षष्ठ्यादिपरिहारेण सम्बन्धिशब्दात् सम्बन्धप्रतीतिः। अदूरविप्रकर्षेण त्वविधानं वस्तुसंस्पर्शि भवतीति।**

ननु स्वकण्ठेनाभिधानमपहाय किमिति सादृश्यप्रतीतिराश्रीयत इत्याह वाच्यो ह्यर्थ इति। पूर्ववदिति। पूर्वं यथा 'आलान'मित्यादौ रूपकमुखेनोपमानोपमेयभावः कथितस्तद्वदिह दीपकमुखेनेत्यर्थः। अत्र च द्वयोः प्रभाधेन्वोः प्राकरणिकत्वात् तुल्ययोगितामद्यतना मन्यन्ते। द्वयोरपि प्राकरणिकत्वे महाप्रकरणापेक्षया धेनोः प्रकृष्टं प्राकरणिकत्वं प्रभायास्त्वप्रकृष्टमित्येतदपेक्षया चिरन्तनैर्दीपकमेतत् स्थापितम् तदपेक्षयात्रानेन तद्वाचोयुक्तिः कृता। एवमलङ्कारान्तरेऽपि समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादिषु। तत्राप्युपमानोपमेयभावः स्वकण्ठेन नोपनिबन्धनीयः। तथा—

'द्रविणमापदि भूषणमुत्सवे शरणमात्मभये निशि दीपिकाः।
बहुविधार्थ्युपकारभरक्षमो भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः॥'

इत्यत्राप्रस्तुतप्रशंसया भवदर्थस्य सदृशत्वेन प्रतीतेः पुनर्वचनं न कर्त्तव्यमिति वक्ष्यते। अस्माभिश्चैतत्प्रपञ्चो बृहत्यां करिष्यते।

प्रतिवस्त्व—'पूर्णमहार्णव भी चन्द्रोदय को चाहता है' इस प्रतिवस्तूपमा द्वारा सादृश्य की प्रतीति होने पर भी दृष्टान्त शब्द का कथन दोषावह है।—दृष्टान्त शब्द दृष्टान्तालंकार के प्रतिपादनार्थ भी नहीं है। दृष्टान्त शब्द से दृष्टान्तालंकार की प्रतीति नहीं होती। ऐसा नहीं होता कि षष्ठी आदि को छोड़कर 'संबंधी' शब्द से संबन्ध की प्रतीति हो जाय। जो बात पास और जल्दी से कही जाती है वही वस्तु को छूती है।—अपने आप-बात को अभिधा द्वारा न कहकर उपमा द्वारा कहने का क्या अभिप्राय ?—इस पर कहते हैं—वाच्यो हि अर्थः—इत्यादि।

पूर्ववदिति—पहले जैसे रूपक द्वारा उपमानोपमेयभाव बतलाया, उसी प्रकार यहाँ दीपक द्वारा। आज के लोग यहाँ तुल्ययोगिता मानते हैं, कारण कि प्रभा और धेनु दोनों ही प्राकरणिक हैं। पुराने लोगों ने यहाँ दीपक इसलिये माना है कि सर्ग में आरम्भ से चले प्रकरण (महाप्रकरण) में धेनु ही प्रधान रूप से (प्राकरणिक है) वर्णित है, उसकी अपेक्षा प्रभा की प्राकरणिकता कम है। उन्हीं पुरानों की बात लेकर इस ग्रन्थकार ने भी लिख दिया।

एवमलंकारान्तरेषु—समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा आदि में। वहाँ भी उपमानोपमेयभाव शब्दतः नहीं कहा जाना चाहिये। जैसेः—

'धन आफत में उपकार करता है, उत्सवकाल में आभूषण, अपने ऊपर भय आने पर (किसी की) शरण और रात में दीया, बहुत प्रकार से याचकों का अनेक उपकार करने वाला आप जैसा सज्जनरत्न कोई एक होता है।'

यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा द्वारा भवत्-शब्द के अर्थ (आप) की जो प्रतीति सदृशरूप से होती है—उसे पुनः (इव शब्द द्वारा) नहीं कहना चाहिए था। इसीको आगे कहा जायगा। और हम इसे **बृहती** में भली भाँति दिखलाएँगे।

विमर्श : वस्तुतः 'द्रविणमापदि०' पद्य में [उपमेयोत्कर्षवाचकपदयुक्त] व्यतिरेकालंकार है, अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं। यहाँ भवत्पदवाच्य (राजा आदि किसी) में अन्य उपकारक पदार्थों की अपेक्षा उच्चता और उससे अन्य उपकारक पदार्थों में निम्नता—बतलाने से चमत्कार होता है। इव पद कहा गया है, पर उपमालंकार के लिए नहीं। कारण कि उपमा का कथन उसके निषेध (न खलु०) करने के लिये है। जिस उपमा का निषेध किया जा रहा है—उसमें द्रविण आदि उपमेय नहीं बनते—अपितु कोऽपि में किंपद से कथित (कोई) पदार्थ उपमेय बनता है, और भवत्पदवाच्य (आप) उपमान। द्रविण आदि को उपमेय न बनने देने के लिये उनकी और

भवत्पदवाच्य (आप) की विशेषताएं उपस्थित की गई हैं। वे आपद् आदि में काम देते हैं। आप अनेक अवसरों पर। इसलिये यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं व्यतिरेक अलंकार है। प्रतीपालंकार में उपमान उपमेय बना दिया जता है। यहाँ भी उपमान (भवान्) उपमेय बना दिया गया है, किन्तु चमत्कार का कारण है उत्कर्ष-अपकर्ष की प्रतीति तथा उपमा का निषेध। इसलिये व्यतिरेक ही प्रधान माना जाना चाहिये। सन्मणि में एकदेशविवर्तिरूपक है। इसलिये अंगाङ्गिभाव संकर माना जाना चाहिये। अलंकारसर्वस्वकार ने अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में ऐसा ही यह एक पद्य दिया है—

'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामपि प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमरुचिः श्यामेव हेमप्रभा।
कार्कश्यं कलयामि कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ॥'

इनमें उन्होंने कार्य से कारण की प्रतीतिरूप अप्रस्तुतप्रशंसा मानी है। उनका कथन है कि यहाँ—चन्द्रमा आदि के कज्जललेपरूपी कार्य से सीतासौन्दर्यरूपी कारण, जो कि प्रस्तुत है; उसका अनुमान होता है। अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है। ऐसी ही स्थिति 'द्रविणमापदि' इस पद्य में भी है। किन्तु इस पद्य का कोई प्रसंग ज्ञात नहीं। इसलिये कारण पूछे जाने पर कार्य का कथन मानना निर्मूल है। अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा बनती नहीं।

यथा च—

'शिशिरकालमपास्य गुणोऽस्य नः क इव शीतहरस्य कुचोष्मणः।
इति धियास्तरुषः परिरेभिरे घनमतो नमतोऽनुमतान् प्रियाः ॥'

इत्यत्र धीशब्दोऽत इति च हेत्वर्थः शब्दः पुनरुक्तौ, हेत्वर्थेन इतिनैव तदर्थस्योक्तत्वात्।

यथा 'अश्वेतिविद्रुतमनुद्रवतान्यमश्वमि'ति। तेन वरम् 'इति यतोऽस्तरुष' इति युक्तः पाठः। यथा वा—

'आः किमर्थमिदं चेतः सतामम्भोधिदुर्भरम्।
इति मत्वेव दुर्वेधाः परदुःखैरपूरयत् ॥' इति।

अत्र हि मननार्थः पुनरुक्तः, इतिनैव क्रोधपरामर्शिना तस्यावगमितत्वात्। तेन 'इति क्रुधेव तद्वेधा' इति युक्तः पाठः। एवञ्च वेधसो दुष्टत्वस्यानिबन्धस्यावाच्यस्य यद्वचनं तदपि परिहृतं भवति।

'शिशिरकाल को छोड़कर इस शीतहारी कुचोष्मा का फल ही क्या'—यह सोचकर प्रियाओं का रोष हट गया, इसलिये उन्होंने नमन कर रहे प्रियजनों की अनुमति देकर दृढ़ आलिंगन करना शुरू कर दिया।' यहाँ 'धी' और 'अतः' ये हेतुवाचक शब्द पुनरुक्त हैं। दोनों के अर्थ हेत्वर्थक 'इति' शब्द से ही निकल आते हैं। जैसे—'अश्व था इसलिये—दूसरे अश्व के पीछे दौड़ने वाले'—यहाँ। इसलिये अच्छा तो हो कि 'इति यतोऽस्तरुषः' पाठ कर दिया जाय। और जैसे—'आः सज्जनों का हृदय समुद्र के समाज दुष्पूरणीय क्यों है? यही मानकर दुष्ट विधाता ने उसे दूसरे के दुःखों से भर दिया।' यह। यहाँ ('मत्वा' इसका अर्थ) 'मानकर' पुनरुक्त है। क्रोध को बतलाने वाले इति शब्द से ही प्रतीति हो जाती है। इसलिये 'इति क्रुधेव तद्वेधा'—ऐसा पाठ ठीक है। ऐसा करने से विधाता की दुष्टता जिसका कोई कारण नहीं दिया गया अतः जो कहा नहीं जाना चाहिये, उसका कथन (अवाच्यवचन) भी दूर हो जाता है।'

इतिनैवेति इतिशब्दो हेत्वर्थः प्रयुज्यमानः स्वभावतः पूर्ववाक्यार्थस्योच्यमानत्वं बोध्यमानत्वं वा गर्भीकृत्य प्रवर्तते।

वरमिति उक्तदोषद्वयनिवारणमात्रमेतत्। न तु सर्वथा निरवद्यमिदं, यतश्शब्दातश्शब्दयोर्वैयर्थ्यात्।

अनिबन्धनस्येति नहि दुष्पूरणीयपूरकत्वेन दुष्टत्वम्।

इतिनैव इतिशब्द हेत्वर्थक है। उसका प्रयोग होता है तो वह स्वभावतः पूर्ववाक्यार्थ की उच्यमानता या बोध्यमानता को अपने भीतर लेकर चलता है।

वरम्—उक्त दोनों दोषों को हटाने के लिए ही कहा गया। वस्तुतः यह सर्वथा निर्दोष नहीं है। इसमें भी 'यतः' और 'अतः' शब्द व्यर्थ हैं।

अनिबन्धन—दुष्पूरणीय को पूर्ण करने में कोई दोष नहीं आता।

अव्यभिचारिणः कारकस्याविशेषणः प्रयोगः पुनरुक्तः। तत्र कर्त्तुर्यथा—

'पतितोत्पतितैः शत्रुशिरोभिः समराङ्गणे।
यः कन्दुकैरिवोच्चण्डः क्रीडन् लोकैर्व्यलोक्यत॥'

इत्यत्र लोकशब्दस्य, विलोकनक्रियायास्तत्कर्तृकत्वाव्यभिचारात्। सविशेषणस्य न तस्य पौनरुक्त्यम्। यथा—

'जनैरजातस्खलनैर्न जातु द्वयेऽप्यमुच्यन्त विनीतमार्गाः॥' इति।

कर्मणो यथा—

'उवाच दूतस्तमचोदितोऽपि गां न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति।' इति।

सविशेषणस्य यथा—'शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युत' इति।

करणस्य यथा—

'यदा दृशा कृशाङ्ग्यास्मि दृष्टो, जातं तदैव मे।
प्रजागरगरग्रस्तसमस्तप्रसरं मनः॥' इति।

अस्यैव सविशेषणस्य यथा—

'तं विलोक्य सुरसुन्दरीजनो विस्मयस्तिमिततारया दृशा।' इति।

एवं कारकान्तरेष्वप्यवगन्तव्यम्।

यदि कारण अव्यभिचारी हो तो विना विशेषण के उसका प्रयोग भी पुनरुक्त होता है। इनमें से कर्त्ता का जैसे—

'जो युद्धाङ्गन में गिरे पड़े शत्रुशिरों से गेंदों से खेलता हुआ सा लोगों द्वारा देखा गया।'

वहाँ 'लोक' शब्द की पुनरुक्ति है। विलोकन क्रिया के प्रति उसका कर्तृत्व निश्चितरूप से रहता ही है। (किन्तु) जब वह (कर्त्ता) विशेषण से युक्त होता है तो पुनरुक्त नहीं होता। जैसे—

'अजातस्खलन (फिसलने से रहित) लोगों द्वारा दोनों ही स्थिति में विनीत मार्ग नहीं छोड़े गए' यहाँ।

कर्म का जैसे—

दूत ने बिना पूछे ही बात कही। जो इशारा समझता है वह मौके पर नहीं चूकता। (किन्तु) सविशेषण होने पर (पुनरुक्त नहीं होता) जैसे—

'श्रीकृष्ण उज्ज्वल मुसकुराहट से युक्त वाणी बोले।' यहाँ—

करण का जैसे—

'उस तन्वी (दुबली) ने जब से मुझे आँख से देखा तभी से मन प्रजागर (निद्रानाश) रूपी विष से सन गया।' (किन्तु)—सविशेषण होने पर (पुनरुक्त नहीं) जैसे—

'अप्सराओं ने आश्चर्य से स्थिर पुतली वाली आँखों से उस (पुरुष) को देखकर…यह।'

इसी प्रकार दूसरे कारकों में समझ लेना चाहिए।

अविशेषण **इति विशेषणदानार्थमव्यभिचारिणोऽपि प्रयोगः शस्यत इत्यर्थः तथा चाह वामनः—'विशेषणस्य च' (२।२।१८ का० सू०) इति।**

व्यलोक्यतेति **विलोकनक्रियैव लोकितारं लोकमाक्षिपतीति लोकशब्दस्य पौनरुक्त्यम्।** द्वयेपीऽति **प्रस्थानवशान्नीतिवशाच्चाश्रीयन्ते।**

गामिति **गोशब्दस्य वाक्पर्यायस्य वचनक्रियायामव्यभिचारात् प्रयोगो न कार्यः।**

दृष्ट **इति** दर्शनक्रियाया दृगेव करणत्वेनाक्षिप्तेति दृक्शब्दः पुनरुक्तः कारकान्तरेष्वपीति **यथा 'स्थाने तिष्ठती' त्यत्राधिकरणस्य पौनरुक्तम्। विविक्ते स्थाने तिष्ठतीति तु विशेषणार्थं प्रयोगो न दुष्टः।**

अविशेषण—विशेषण देने के लिए जो अव्यभिचारी होता है उसका प्रयोग भी अच्छा माना जाता है। जैसा कि वामन ने कहा है—विशेषणस्य च (का० सू० २।२।१८)

व्यलोक्यत—विलोकन (देखना) एक क्रिया है वह लोकन (दर्शन) करने वाले कर्त्ता का आक्षेप कर लेती है, इसलिए लोक शब्द पुनरुक्त है।

द्वयेऽपि—प्रस्थान के कारण और नीति के कारण।

गाम—गो शब्द वाणी का पर्यायवाची है। उसका प्रयोग नहीं होना चाहिये वह 'वचन' रूपी क्रिया के साथ नियमतः रहती है।

दृष्ट—देखना क्रिया में आँख ही कारणरूप से आती है—इसलिये दृक्शब्द पुनरुक्त हुआ।

कारकान्तरेष्वपि—जैसे 'स्थाने तिष्ठति' में अधिकरण—(स्थान) पुनरुक्त है। पर 'विविक्ते स्थाने तिष्ठति' कहने पर विशेषण के लिये अधिकरण का प्रयोग दुष्ट नहीं होता।

एकैवालङ्कृतिर्यत्र शाब्दत्वार्थत्वभेदतः।
द्विरुच्यते तां मन्यन्ते पुनरुक्तिमतिस्फुटाम् ॥ ४० ॥

तद् यथा—

'उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥'

इत्यत्र।

यस्य यद्रूपताव्यक्तिः सामर्थ्यादेव जायते।
तस्योपमा रूपकं वा तदर्थं पौनरुक्त्यकृत् ॥ ४१ ॥

तत्रोपमा यथा—

'स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाज्जगतीधरम् ॥'

अत्र जगतीधरजलधरावल्योः प्रियप्रणयिनीतुल्यत्वे समासोक्त्यैवावसिते सति यदेतज्जगतीधरस्य प्रियतुल्यत्ववचनं तत् पुनरुक्तम्।

जहाँ एक ही अलंकार शाब्दरूप से और आर्थरूप से दो बार कहा जाता है वहाँ स्पष्टतया पुनरुक्ति दोष मानते हैं।

जैसे—

'जिस प्रकार पार्वती और शिव कार्तिकेय से, जिस प्रकार इन्द्राणी और इन्द्र जयन्त से, उसी प्रकार उनके समान राजा और वह रानी (दिलीप-सुदक्षिणा) उनके समान उस पुत्र से—प्रसन्न हुए।' यहाँ—

यदि किसी पदार्थ का कोई रूप अपने आप प्रतीत हो जाता हो तो उस रूप के लिये उसकी उपमा या रूपक का प्रयोग पुनरुक्ति (दोष) जनक होते हैं। दोनों में से जैसे उपमा—

'चमचमाती और चंचल बिजली की आँखें और उठे हुए उन्नत पयोधर (मेघ-स्तन) से युक्त—मेघमालाएँ अपना समय (ऋतुकाल—संकेत) का ध्यान न रखकर पहले ही प्रिय के समान उस पर्वत पर आ पहुँचीं।'

यहाँ पहाड़ और मेघमालाओं की प्रिय और प्रिया से तुलना—समासोक्ति से ही आ जाती है, उतने पर भी पहाड़ को प्रिय के समान कहना पुनरुक्त है।

एकैवेति **एकैवोपमादिः**। शाब्दत्वं **श्रौतत्वं यथेवादिशब्दप्रयोगात्**। आर्थत्वं **सदृशादिशब्दप्रयोगात्**। अतिस्फुटमिति **स्थूलदृष्टयैव दृश्यमित्यर्थः**।

उमावृषाङ्काविति **अत्र शरजन्मना यथेत्यादिना प्रतीतोऽप्युपमानोपमेयभावस्तत्सदृशेनेत्यादिना पुनरुक्तः। कवेस्तु नन्दननिमित्तः पूर्व उपमानोपमेयभावः। प्रतीयमानप्रभावादिनिमित्तस्त्वपरः तथा चायं 'दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव' इत्येवंविधमुपमानोपमेयभावमातनोति। ग्रन्थकारस्तु विशिष्टोपमाननिर्देशान्नान्तरीयकतया प्रभावादिप्रतीतिर्भवतीति न द्विरुपादानं कार्यमिति मन्यते।**

यस्येति **यस्य पर्वतादेर्यद्रूपतायाः प्रियतमादिरूपत्वस्याभिव्यक्तिः सामर्थ्याल्लिङ्गविशेषश्लिष्टपदोपनिबन्धनरूपाद् भवति, तस्य पर्वतादेस्तदर्थं प्रियतमादिरूपत्वप्रतीत्यर्थमुपमा रूपकं वा यन्निबध्यते तत् पुनरुक्तमित्यर्थः।**

उरवो **महान्तः पयोधरा मेघाः ऊरू च पयोधरौ स्तनौ च। समयात सङ्केतेत्यर्थः।**

एकैव—एक ही उपमादि (अलंकृति)।

शाब्दत्वम्—श्रौतत्व, यथा इव आदि शब्द द्वारा।

आर्थत्वम्—सदृश आदि शब्दों के प्रयोग से।

अतिस्फुटम्—स्थूलदृष्टि से भी दिखाई पड़ने वाला।

उमावृषाङ्कौ—यहाँ 'शरजन्मना, यथा', इत्यादि के द्वारा प्रतीत हुआ उपमानोपमेयभाव—'तत्सदृशेन' इत्यादि के द्वारा पुनरुक्त हुआ। कवि को एक उपमानोपमेयभाव को 'नन्दन' (आनंदित होने) को लेकर कहना अभीष्ट है और दूसरा प्रभाव आदि को लेकर। इसी प्रकार यह 'दिलीप इव राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव' (रघुवंश-१) इस प्रकार उपमानोपमेयभाव देता आता है। परन्तु ग्रन्थकार यह मानता है कि विशिष्ट उपमान के निर्देश से प्रभाव आदि की प्रतीति अपने आप उसी से लगे-लगे हो जाती है—इसलिए दूसरी बार उसका उपादान नहीं करना चाहिए।

यस्य—यस्य = पर्वतादि की; यद्रूपता = प्रियतम आदिरूपता, उसकी अभिव्यक्ति सामर्थ्य से अर्थात् लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग) से और श्लेषयुक्त शब्दों के प्रयोग से होती है। उस पर्वत आदि की उसके लिए प्रियतमादिरूप प्रतीति के लिए उपमा या रूपक जो भी रचा जाता है वह पुनरुक्त होता है।

उरवो—बड़े-बड़े, पयोधराः—मेघ, तथा ऊरू = जांघें और पयोधर—स्तन।
समयात्—समय से जा पहुँची।

यथात्र तथैवोत्तरेषु चोदाहरणेषु। यथा—

'निद्रावशेन भवता ह्यनवेक्ष्यमाणा
पर्युत्सुकत्वमवला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः॥' इति।

अत्र हि लक्ष्म्या अवला खण्डितेवेति यदुपमानमुक्तं तत् पुनरुक्तं तस्यास्तत्तुल्यवृत्तान्ताभिधानसामर्थ्यादेवानन्तरोक्तनयेन तदर्थावगतेः। यथा च—

'सुरभिसङ्गमजं वनमालया नवपलाशमधार्यत भङ्गुरम्।
रमणदत्तमिवार्द्रनखक्षतं प्रमदया मदयापितलज्जया॥'

इत्यत्रार्द्रनखक्षतविशेषणं, प्रमदार्थः, तद्विशेषणं चेति त्रितयमपि पुनरुक्तम् तदर्थस्योपमानादेव प्रतीतेर्गतार्थत्वात्। तथा हि—सुरभिशब्दात् पुंस्त्वविशिष्टाद् रमणार्थोऽवगम्यते वनमालाशब्दाच्च स्त्रीत्वविशिष्टात् कामिन्यर्थः। तद्विशेषणोपादानं तु व्यर्थमेव, व्यावर्त्याभावात्। तेन यथा कामुकसङ्गमसमुत्थमङ्गनया लोहितं वक्रं च नखक्षतं धार्यते, तद्वद्वनमालया वसन्तसमागमजनितं नवं भङ्गुरं च पलाशमधार्यतेति समुदायादयमर्थः सचेतसामुन्मिषत्येव यतोऽलङ्कारान्तरोपकृताल्लिङ्गविशेषनिर्देशादेवार्थानां स्त्रीपुंसत्वानुमितिरनुमतैव महाकवीनाम्।

जिस प्रकार यहाँ उसी प्रकार और भी अगले उदाहरणों में। जैसे—'नींद के वश में होने से आपके द्वारा भी नहीं देखी जाती लक्ष्मी रात को खण्डिता नायिका के समान जिससे अपनी उत्सुकता बहलाती थी वह चन्द्रमा भी अब अस्ताचल को पहुँच कर आपके मुख की कान्ति को छोड़ रहा है।'

यहाँ लक्ष्मी के लिए जो 'खंडिता अवला के समान' इस प्रकार उपमान का प्रयोग किया वह पुनरुक्त है। उसके अर्थ की प्रतीति घटना-साम्य के आधार पर अभी बतलाए नियम से अपने आप हो जाती है।' और जैसे—

'वनमाला ने वसन्त के समागम में पैदा हुआ टेढ़ा नया पलाश धारण किया, जैसे नशे से लाज खो चुकी प्रमदा प्रिय के बनाए ताजे नखक्षत को धारण करती है।' यहाँ आर्द्र नखक्षत यह विशेषण तथा प्रमदा पदार्थ और उसका विशेषण ये तीनों ही पुनरुक्त हैं। उसका अभिप्राय उपमान से ही निकल आता है। इस प्रकार—पुंस्त्व से युक्त सुरभिशब्द से रमण की प्रतीति हो जाती है और स्त्रीत्व से युक्त वनमाला पदार्थ से कामिनी की। उनके विशेषणों का उपादान व्यर्थ ही है। उनसे किसी का व्यावर्त्तन (हटाना, निराकरण) नहीं करना है। इसलिये—जिस प्रकार कामुक के समागम से बनाए गये लाल और टेढ़े नखक्षत को कामिनी धारण करती है—उसी प्रकार वनमाला ने भी वसन्त के समागम से पैदा हुआ लाल और टेढ़ा पलाश पुष्प धारण

किया। इस प्रकार समुदाय से यह अर्थ सहृदयों को समझ में आ ही जाता है। कारण कि दूसरे अलंकारों से सहकृत लिङ्ग विशेष के निर्देश से ही अर्थों में स्त्रीत्व और पुंस्त्व का अनुमान महाकवियों को मान्य ही है।

आर्द्रनखक्षतमिवेति **भिन्नक्रम इव शब्दः** यापितो **गमितः निर्वाहित इत्यर्थः।** उपमानादेवेति **आकारसादृश्येन पलाशं प्रति दीयमानाद् आर्द्रनखक्षतमित्यस्मात्।**

तद्विशेषणोपादानमिति **रमणदत्तमित्यार्द्रनखक्षतविशेषणोपादानं** मदयापितलज्जयेति **प्रमदाविशेषणोपादानं चेत्यर्थः।** यत **इति नखक्षतमिवेत्युपमोपकृतात् सुरभिवनमालादीनां पुंस्त्वस्त्रीत्वनिर्देशादित्यर्थः।** स्त्रीपुंसत्वानुमितिरिति **प्रथमविमर्शोक्तप्रकारेण व्यक्तेरनुमितिरूपत्वेनोपपादितत्वात्।**

आर्द्रनखक्षतमिव = इस प्रकार इव का क्रम भिन्न है।

यापितः—बिताया, समाप्त किया।

उपमानादेव—आकार की समानता पर पलाश के प्रति—दिये जा रहे—(उपमान द्वारा)

तद्विशेषणानाम् = रमणदत्त—यह आर्द्रनखक्षत का विशेषण है। मदयापित'''यह प्रमदा का विशेषण है। इन दोनों का उपादान।

यत—'नखक्षत के समान' इस उपमा से उपकृत सुरभि और वनमाला आदि में पुल्लिंग स्त्रीलिंग का निर्देश है।

स्त्रीपुंस्त्वा—इसलिये कि प्रथम विमर्श में बतलाये ढंग से व्यक्ति (अभिव्यञ्जना) को अनुमिति रूप बतलाया गया है।

विमर्श : 'सुरभिसङ्गमजम्'०—इत्यादि पद्य का पूर्वार्ध मल्लिनाथ के अनुसार ऐसा है—'उपहितं शिशिरापगमश्रिया नवपलाशमधार्यत भङ्गुरम्।' दोनों पाठों में उपादेय पाठ के लिए द्रष्टव्य—हमारा संस्कृत निबन्ध—'भट्टहेमाद्रे रघुवंशदर्पणः।' (मेधा–१९६१–६२ रायपुर संस्कृत महाविद्यालय)।

यथा च—

'ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥' इति।

अत्र हि शरदो नायिकात्वस्येन्दो रवेश्च नायकत्वप्रतिनायकत्वयोरभिव्यक्तिः।

यथा वा—

'अत्यन्तपरिणाहित्वादत्यन्तश्लक्ष्णतावशात्।
न काचिदुपमारोढुमूरू शक्नोति सुभ्रुवः॥' इति।

अत्र 'अङ्गनोरू मणिस्तम्भावि'ति।

'ताजे नखक्षत के समान-इन्द्रधनुष को अपने पाण्डु पयोधरों (मेघ-स्तन) पर धारण किये शरद् कलंकी चन्द्र को प्रसन्न (दीप्तिमान-खुश) करने में निरत होने के कारण सूर्य को अत्यधिक तपाने लगी।' यहाँ 'शरद्' की नायिका रूप से और चन्द्र की नायक तथा सूर्य की प्रतिनायक रूप से प्रतीति होती है। और जैसे—

'अच्छी भौहों वाली के ऊरु पर, अत्यन्त मोटे और अत्यधिक चिकने होने के कारण कोई भी उपमा चढ़ नहीं पाती।' यहाँ जैसे—

'अंगना के ऊरू मणिस्तम्भ हैं' ऐसी—अनुमिति हो जाती है।

ऐन्द्रं धनुरिति अत्यन्तेति आभोगीति **चोदाहरणत्रयं वैधर्म्यक्रमेणोक्तम्। उपपन्नक्रमस्यासद्भावात्** नायकत्वप्रतिनायकत्वे **इति अनुमीयेते इति शेषः।**

ऐन्द्र—'धनुः, प्रत्यन्त, आभोगी' ये तीनों उदाहरण वैधर्म्य के क्रम से दिये गये हैं, क्योंकि जो क्रम बतलाया गया है—उसका अभाव है।

विमर्श: मूल और व्याख्यान में 'अङ्गनोरू' की जगह 'अङ्गनेव'—पाठ छपा मिलता है। यहाँ अर्थ संगति के आधार पर उसे बदल दिया गया है।

यथा च—

'आभोगिनेत्रपरिवर्त्तनविभ्रमेण मूर्त्या नितम्बवलनाकुलतां वहन्त्या।
यस्याशनैरविरलोत्कलिकाकलापपर्याकुलं हृदयमम्बुनिधेर्ममन्थे॥' इति।

अत्र हि आरोहार्थो हृदयार्थश्च लक्षणयोपात्तौ, न मुख्यतया, तयोर्जीवव्यापारतत्कार्यैकदेशविशेषरूपत्वात्। लक्षणायाश्चालङ्कारान्तरत्वमुपपादितमेव।

'उस मूर्ति के द्वारा समुद्र का घनी उत्कलिकाओं से घिरा हृदय जोरों से (शनैः; धीरे-धीरे अशनैः जोर से) मथा गया, जो (मूर्ति) आभोगिनेत्र परिवर्तन के विभ्रम के कारण नितम्ब परिवर्तन से आकुलता धारण किए हुए थी।' इन दोनों पद्यों में आरोहणपदार्थ और हृदयपदार्थ लक्षणा द्वारा अपनाए गये हैं, मुख्यरूप से नहीं। क्योंकि वे सजीव व्यक्ति के व्यापार आदि उसके एक अंगस्वरूप हैं। लक्षण भी एक अलंकार है यह बतला दिया गया है।

एवम् अङ्गनोरू मणिस्तम्भाविति **अनुमीयत इति शेषः।**

भोगी **वासुकिः स एव नेत्रमाकर्षणरज्जुस्तस्य आसमन्ताद् यत्परिवर्तनरूपो विशेषेण भ्रमो भ्रमणं तेन, मन्दरस्य मूर्त्तिः नितम्बे मध्यभागे वलनं परिवर्त्तनं तेनाकुला जाता। तथा आभोगि विस्तारवत् यन्नेत्रं नयनं तस्य परिवर्तनं कटाक्षीकरणं स एव विभ्रमो विलासः।** मूर्त्या **समारोपितनायिकाव्यवहारया। उत्कलिकास्तरङ्गा रुहिरुहिकाश्च हृदयं मध्यदेशश्चित्तञ्च।**

आरोहार्थ **इति आरोढुमिति पूर्वश्लोकगतः।** हृदयार्थश्चेति। **हृदयमम्बुनिधेरित्यत्र स्थितः** तयोरिति **आरोहो जीवव्यापारविशेषः। हृदयं जीविकायैकदेशविशेषः।** अलङ्कारान्तरत्वमिति **सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरित्यादिप्रकारेण।**

भोगी = वासुकी ही नेत्र = नेती, उसका भलीभाँति घुमाना, तद्रूप जो विशिष्ट भ्रम, भ्रमण उससे मन्दर = पहाड़ की मूर्ति नितम्ब = मध्य भाग में घूमने से आकुल हो गई है। और—आभोगि = विस्तृत जो नेत्र = आँख, उसका परिवर्तन अर्थात् कटाक्षीकरण, वही विभ्रम अर्थात् विलास। मूर्ति—जिस पर नायिका का व्यवहार आरोपित है। उत्कलिकाः—तरंगे और मन की उत्सुकता। हृदय = बीच का भाग और चित्त।

आरोहार्थ—'आरोढुम्'—यह जो प्रथम श्लोक में आया है।

हृदयार्थश्च—'हृदयमम्बुनिधेः' इसमें आया हृदय।

तयोः—आरोह सजीव वस्तु का एक विशेष व्यापार है।

हृदय—जीव के काय = शरीर का एक विशेष अंग।

लाक्षणिकहृदयादिशब्दप्रयोगे स्वशब्दं विनाप्यर्थान्तरं प्रतीयत इत्याह यदर्थेति।

अलंकारान्तरत्वम्—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' [वामन का० सू०] इत्यादि द्वारा। लाक्षणिक हृदय आदि शब्द के प्रयोग में अपने वाचक शब्द के बिना भी दूसरा अर्थ प्रतीत हो जाता है—इस बात को कहा—यदर्थेति—

विमर्श : मूल और व्याख्यान में आए 'अलंकारान्तरत्व' की जगह केवल 'अलंकारत्व' चाहिए।

[किञ्च]—

यदर्थैकाश्रयो धर्मो यत्र स्यादधिरोपितः।
उपमानोपमेयत्वं न तयोः शाब्दमिष्यते ॥ ४२ ॥

यथा—

'अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः।
तरुवत् सुकरः सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥'

इत्यत्र तरुरिप्वोः। तद्धि सामर्थ्यादेव तयोः सिद्ध्यति, उन्मूलनस्य तरुधर्मस्य रिपावारोपितत्वात्।

और जिसके अर्थ का एकाश्रित (उसी पर निर्भर) धर्म किसी पर आरोपित किया जाय—उन दोनों का उपमानोपमेयभाव शब्दतः नहीं कहा जाना चाहिये। जैसे—'जो अपराग (राग-प्रजा का स्नेह और धूल उससे रहित) रूपी वायु द्वारा हिलाया गया हो और धीरे-धीरे जिसकी कुलक्रमागत मूलसंतति (जड़ का विराव या घेर) शीर्ण हो गई हो (वृक्षपक्ष में आकुल हो गई हो—जड़ जिसकी) वह शत्रु वृक्ष के समान बड़ा भारी होने पर भी जरा में उखाड़ा जा सकता है।' यहाँ वृक्ष और शत्रु का (उपमानोपमेयत्व)। वह तो अपने आप उनमें सिद्ध हो जाता है। क्योंकि उन्मूलन रूपी धर्म तरु पर आरोपित किया गया है।

यत्रो**पमेयेऽम्बुनिधिप्रभृतौ।** यदर्थैकाश्रयो **नायकादिरूपोपमानविषयो** धर्मो **हृदयादिरा**-रोपितो **लक्षणया भवेत्,** तयो**र्नायकादेरुपमानस्याम्बुनिध्यादेश्चोपमेयस्यो**पमानोपमेय-भावः **शाब्दो नेष्यते गम्यमानस्त्विष्ट एवेत्यर्थः।**

अत्रैव अपरागेत्यादिना **शाब्दत्वे दोषोदाहरणमाह। मूलान्यमात्यादिप्रकृतिवर्गः वृक्ष-बन्धनानि च उन्मूलयितुं सुकर इति योजना।**

तद्धीति **उपमानोपमेयत्वम्।**

यत्र—उपमेय—अम्बुनिधि आदि में।

यदर्थैकाश्रय—नायक आदि रूप उपमान-हृदयादि के लक्षणा द्वारा आरोपित हो उन नायक आदि उपमान और अम्बुनिधि आदि उपमेय का उपमानोपमेयभाव शब्द से कहा जाय यह मान्य नहीं, हाँ गम्यमान = अनुमान द्वारा प्रतीत हो तो मान्य है।

अत्रैव—अपराग (आदिपद्य) द्वारा—शब्दतः कथन होने से दोष का उदाहरण देते हैं।

मूल—अमात्य आदि प्रकृतवर्ग और वृक्ष का बंधन जड़, वे—उन्मूलित करने में सरल होते हैं।

तद्धि—उपमानोपमेयत्व।

रूपकं यथा—

'अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम् ।
निरकासयद् रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ॥' इति ।

अत्र हि लिङ्गविशेषनिर्देशात् स्त्रीत्वस्य, कार्यतश्च तद्विशेषस्याभिव्यक्तौ सामर्थ्यादेवापरदिशो गणिकारूपत्वे वियतश्चालयत्वेऽवगते यत् तयोस्ताद्रूप्यवचनं तत् पुनरुक्तम् । पुनस्तद्वचने वा रवेरपि कामुकरूपतावचनप्रसङ्गः, विशेषाभावात् । यदुक्तम्—

'उभयार्थपदनिबन्धो लिङ्गविशेषः पदञ्च गुणवृत्ति ।
उपमानविशेषाश्रयमर्थं गमयति स न हि पुनर्वाच्यः ॥ ४३ ॥' इति ।

रूपक जैसे—

'पश्चिम दिशारूपी गणिका ने आँखों में अनुरागयुक्त होते हुए भी; ताप नहीं पहुँचाने वाला आकार लिये रहने पर भी वसु (तेज, धन) रहित रवि को आकाश रूपी भवन से निकाल दिया ।' यहाँ लिङ्गविशेष के निर्देश से स्त्रीत्व की, और कार्य से उसकी विशेषता की-अभिव्यक्ति होती है, ऐसा हो जाने पर अपने आप ही अपर दिशा की गणिकारूपता और आकाश की आलयरूपता समझ में आ जाती है । उनके रूपक का जो कथन किया वह पुनरुक्त है । ऐसा कहने पर रवि को भी कामुक कहा जाना चाहिये । कारण कि कोई अन्तर तो है नहीं । ऐसा ही कहा भी गया है—'श्लिष्ट पद, लिङ्ग, लाक्षणिक शब्द यदि उपमान विशेष पर निर्भर अर्थ को बतलाते हों तो—उसे कहना नहीं चाहिये ।'

रूपकं यथेति । 'तस्योपमा रूपकं वे'त्यनुसन्धत्ते । अनुरागो लौहित्यमपि । अपिशब्दः सुखादिपदनिकरे योजनीयः । वसुशब्दस्तेजोधनयोः । अत्र निष्कासनमुत्कटत्वेन गणिकाधर्मो रूपकस्य साधकः प्रमाणम् ।

कार्यतश्चेति कार्यमत्र निष्कासनम् । तद्विशेषस्य स्त्रीत्वविशेषस्य गणिकारूपस्येति ।

उभयार्थेति । द्व्यर्थपदप्रयोगः 'पाण्डु पयोधरेणे'त्यादौ । लिङ्गविशेषः 'शरद्' 'रवेः' इत्यादौ । गुणवृत्ति पदम् 'आरोढुं' 'हृदयमि'त्यादौ उपमानविशेषो यथा आर्द्रनखक्षताभमित्यादौ ।

रूपकं यथा—'तस्योपमा रूपकं वा' इस पूर्व ग्रन्थ के अनुसार अब रूपक का उदाहरण देते हैं ।

अनुराग = लालरंग की । अपि शब्द सुख आदि में भी जोड़ना चाहिये ।

वसुशब्द—तेज और धन का वाचक है । यहाँ निष्कासन धर्म गणिका का है अतः रूपक का साधक प्रमाण है ।

कार्यतश्च—कार्य है यहाँ निष्कासन ।

तद्विशेषस्य—गणिकारूप स्त्रीत्व विशेष का ।

उभयार्थपदनिबंध—द्व्यर्थक पद का प्रयोग—पाण्डु पयोधर आदि में ।

लिंगविशेष—शरद्—रवि आदि में ।

गुणवृत्तिपदम्—आरोढुम् हृदय आदि में ।

उपमानविशेष—आर्द्रनखक्षताभ आदि ।

यथा—

'राहुस्त्रीस्तनयोरकारि सहसा येनाश्लथालिङ्गन-
व्यापारैकविनोददुर्ललितयोः कार्कश्यलक्ष्मीर्वृथा।
तेनाक्रोशत एव तस्य मुरजित् तत्काललोलानल-
ज्वालापल्लवितेन मूर्धविकलं चक्रेण चक्रे वपुः॥' इति।

अत्र हि अनुप्रासैकरसिकेन कविना पौनरुक्त्यदोषमपश्यता पर्यायोक्त्यनुमितोऽपि चक्रशब्दार्थः प्रयुक्तः। तेन 'मूर्धविकलामस्त्रेण तेने तनुम्' इति युक्तः पाठः। अनेनानुप्रासव्यसनिता काव्यस्य परिपुष्यत्येव। यतः—

'समासे चासमासे चानुप्रासेष्वखिलेष्वपि।
पदादिवर्णानुप्रासः कवीनामधिकं प्रियः॥ ४४॥' इति।

तत्र समासे यथा—

'त्वत्कीर्त्तिकेतकीक्लृप्तकान्तकर्णावतंसकः।
दिगङ्गनागणो राजन्! राजत्यामोदनिर्भरः॥' इति।

असमासे यथा—

'कुतः कुवलयं कर्णे करोषि कलभाषिणि!।
किमपाङ्गमपर्याप्तमस्मिन् कर्मणि मन्यसे॥' इति। अलमनेन।

यथा च—

'तं जिगीषुरिव शात्रवं ततो लोकलोचनपथोपरोधकम्।
रश्मिभिः कनकसायकोपमैरन्धकारमरुणोऽस्तमानयत्॥' इति।

अत्र लोचनपथोपरोधापराधिनोऽन्धकारस्य कनकसायकोपमैः रश्मिभिर्यदेतदस्तनयनं तज्जिगीषोरेव व्यापार इत्यरुणस्यान्धकारस्य च यत् कर्तृकर्मभावेनोपादानं तत् सामर्थ्याज्जिगीषुशात्रवतुल्यवृत्तान्ततामवगमयतीति यदेतत् तयोर्जिगीषुरिव शात्रवमित्युपमानोपमेयभावेनाभिधानं तत् पुनरुक्ततां नातिवर्तते।

जैसे:—'जिसने राहु की स्त्रियों के गाढ़ाश्लेष के विनोद में दुलर रहे स्तनों की कर्कशता की शोभा को वृथा कर दिया उस अतिज्वाला से जल रहे चक्र के द्वारा श्रीकृष्ण ने गाली दे रहे उस (शिशुपाल) का शरीर—शिर से रहित कर दिया।'

यहाँ अनुप्रास पर ही रुचि रखते हुए कवि ने—पौनरुक्त्य दोष न देखते हुए पर्यायोक्त से अनुमित हुए चक्र पदार्थ को प्रयुक्त किया। इसलिये 'मूर्धविकलामस्त्रेण तेने तनुम्'—यह पाठ ठीक है। इससे काव्य की अनुप्रासप्रचुरता भी परिपुष्ट रही ही आती है। क्योंकि—'समास में या समास न होने वाले सभी अनुप्रासों में कवियों को पदादि वर्णानुप्रास अधिक पसंद होता है।'

जैसे समास में:—त्वत्कीर्ति···'दिशारूपी स्त्रियाँ—तुम्हारी कीर्तिरूपी केतकी को कान का आभूषण बना—आमोद (सुगन्ध और खुशी) से फूली नहीं समातीं।'

समासाभाव में—हे कलभाषिणि ? कान में कुवलय (नीलकमल) क्यों पहन रही हो, क्या अपाङ्ग को इस कार्य में अक्षम मानती हो ।—इतना ही काफी है। और जैसे—'संसार के दृष्टि पथ को रोकने वाले उस अंधकार को सुवर्ण के बाणों के समान अपनी किरणों से अरुण ने दूर कर दिया, जैसे कोई विजयेच्छु अपने शत्रु समुदाय को ।' यहाँ जो लोचनपथ को रोकने का अपराध करने वाले अंधकार का सुवर्ण के बाणों के समान किरणों से जो अस्तमित करना है—वह विजयेच्छु का ही कार्य है, इसलिये कर्त्ता और कर्मरूप से जो अरुण और अंधकार का उपयोग है, वही अपनी शक्ति से शत्रुसमुदाय और विजयेच्छु के व्यवहार को बतला देता है इसलिये यह—जो—उनका (विजयेच्छु शत्रुसमुदाय का) इस प्रकार उपमानोपमेयभावपूर्वक कथन किया गया वह पुनरुक्ति से बच नहीं सकता ।

'आक्रोशो' गालिदानम् ।

पर्यायोक्तीति **येन राहुस्त्रीस्तनयोः कार्कश्यलक्ष्मीर्वृथा कृतेत्यनेन भङ्गयन्तरेण राहोः शिरश्छेदः प्रकाशित इति तत्साधनमसाधारणं चक्रं प्रतीयत एवेत्यर्थः ।**

पदादीति **पदादिगतानामक्षराणामनुप्रासो गुम्फभङ्गीं दर्शयन् कवीनामत्यन्तवल्लभ इत्यर्थः । कलभाषिणीति । अत्र कमलेक्षणे इत्यर्थानुगुणः पाठः । अन्यथानुप्रासहेवाकितैव स्यात् । शत्रुरेव शात्रव इति प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् ।**

अक्रोशः—गाली देना ।

पर्यायोक्ति—जिसने राहु की स्त्रियों की स्तन श्री को व्यर्थ किया—इस प्रकार एक खास ढंग से राहु का शिर काटना—सुझाया, इसलिये उसका असाधारण कारण चक्र प्रतीत हो जाता है ।

पदादि—पदादि में आए अक्षरों का अनुप्रास = गुम्फ (जोड़, योग) की विचित्रता का प्रदर्शन करता है और कवियों को अधिक आकृष्ट करता है ।—

कलभाषिणि—यहाँ 'कमलेक्षणे' यह वाक्यार्थ के अनुरूप पाठ है। नहीं तो केवल अनुप्रास की ओर लपकाना भर रह जाता है । शत्रु ही शात्रव, प्रज्ञादिगण से स्वार्थ में अण् ।

यथा वा—

'परिहासरतिर्यश्च यशः-कर्पूरपांसुभिः ।
दिक्कामिनीमुखान्यारात् पटवासैरिवाकिरत् ॥' इति ।

अत्र परिहासरतेः कामुकस्य कर्पूरपांसुभिर्मुखावकिरणव्यापारः प्रायेण कामिनीविषय एव प्रसिद्ध इति दिशां मुखसम्बन्धाल्लिङ्गविशेषनिर्देशाच्च व्यञ्जकात् कामिनीरूपतावगतावपि यत्तासां कामिनीत्वेन रूपणं तत् पुनरुक्तम् अत एव कर्पूरपांसूनामपि पटवासरूपत्वेऽवगते तेषां तद्रूपणमेव तावत् पुनरुक्तं किं पुनरुपमानोपमेयभावोपनिबन्धः, सामर्थ्यादेव तत्सिद्धेः । न च सामर्थ्यसिद्धेऽर्थे शब्दप्रयोगमाद्रियन्ते सत्कवयः । यथा—

'महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः
प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य ।
अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता
फलमभिनवपाकं राजजम्बू द्रुमस्य ॥' इति ।

अत्रेतिशब्दस्य ।

यथा च—

'चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः ।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥' इति ।

अत्रोत्प्रेक्षायामिवशब्दस्य ।

यथा च—

'अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति ।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन् नरान् ॥' इति ।

अत्र निदर्शने ममेवेति ।

और जैसे:—'जो परिहास में रुचि रखता है, जिसने अपनी कीर्तिरूप कपूर की धूली से दिशारूपी सुन्दरियों का मुख पास पहुँचकर पटवास से मानो रच दिया ।'

यहाँ—विनोदी कामुक का कामिनी के ही मुख पर कपूर का चूरा बिखेरना प्रसिद्ध है, इसलिये दिशाओं में—मुख के संबंध से और लिंग विशेष (स्त्रीलिंग) के निर्देश से कामिनी भाव प्रतीत हो जाता है, वे उसके व्यञ्जक बन जाते हैं,—इतने पर भी उनका कामिनीरूप से निरूपण करना पुनरुक्त है, इसलिये—कर्पूर चूर्ण की पटवासता प्रतीत हो जाती है। इसलिये उनका उस रूप से निरूपण भी पुनरुक्त है। उपमानोपमेयभाव की तो बात ही अलग है। वह तो अपने आप निकल आता है। अच्छे कवि अपने आप आ जाने वाले पदार्थ के लिये शब्द का प्रयोग नहीं करते। जैसे—ठीक ही कहा है—'दूसरे का बड़ा दुःख भी ताप नहीं देता—क्योंकि विपदा में पड़े मेरी प्रार्थना को न गिनकर यह (कोयल) रायजामुन वृक्ष के पके फलों को अधर के समान चूसने में लग गई।' (विक्रमोर्वशीय-४) यहाँ—इति शब्द का (कथन कवि ने नहीं किया)। और जैसे—'चन्दन में लिपटे सापों की लम्बी साँसों से मूर्च्छित (सना हुआ) यह मलय-पवन वसन्त में पथिकों को मूर्च्छित कर रहा है।' यहाँ—उत्प्रेक्षा के लिये इव शब्द का (कथन कवि ने नहीं किया)।

और जैसे:—

'मन्दप्रभ यह सूर्य अस्ताचल को जाना चाह रहा है श्रीमान् लोगों को यह बतलाता हुआ कि उदय पतन के लिये होता है।'—यहाँ निदर्शनालंकार में 'ममेव' (मेरे समान) यह नहीं कहा।

तद्रूपणमेवेति उपमापेक्षया रूपकस्य गम्यमानौपम्यपौनरुक्त्याद् प्रयोगार्हत्वेऽपि सामर्थ्यावगतरूपत्वाद् यत्राभिधानं पुनरुक्तं तत्रोपमायां का शङ्का इति।

इवशब्दस्येति मूर्च्छित इव मूर्च्छयतीत्यर्थप्रतीतेः सिद्धत्वात्। विषादिसम्पर्काद्धि मोहं प्राप्तः परानपि मोहयतीति प्रसिद्धम्।

अयं मन्दद्युतिरिति निदर्शनायां ममेवेत्यर्थात् प्रतीतं न पुनरुपात्तम् ॥

तद्रूपक—उपमा की अपेक्षा रूपक में सादृश्य गम्य होता है—इसलिये उसका कथन हो सकता था, तो भी अपने आप प्रतीत हो सकने से उसका भी कथन पुनरुक्त है, वहाँ उपमा की तो बात ही अलग है।'

इवशब्दः—मूर्च्छित इव—यह अर्थ 'मूर्च्छयति' इसी से सिद्ध हो जाता है। विष आदि के सम्पर्क से मूर्च्छित हुआ दूसरों को भी मूर्च्छित करता है यह बात प्रसिद्ध है।

अयं मन्दद्युतिः—निदर्शना में 'ममेव' (मेरे समान) यह अपने आप प्रतीत हो जाता है इसलिए उसे शब्दतः नहीं कहा।

(पुनः पुनरुक्ति का उदाहरण देते हैं—)

'स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणाम्।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्॥' इति।

अत्र विनीतत्वस्य यद्विशेषणं तद् बाधकसद्भावाभावे सति समानविभक्तिकत्वाविशेषात् तेजसाप्यनुषज्यत एवेति यत् पुनस्तेजसस्तद्वचनं तत्पौनरुक्त्यमावहति।

धर्मस्तुल्यविभक्तीनामेकस्याप्युदितोऽखिलान्।
तानन्वेतीति पर्यायैस्तदुक्तिः पौनरुक्त्यकृत्॥ ४१॥ इति।

सङ्ग्रहश्लोकः।

'वे विनय का आचरण करते थे—उनमें विनय स्वभाविक था। अतः उसने उनकी तेजस्विता को और बढ़ाया, जैसे हविष्य अग्नि की तेजस्विता को बढ़ाता है।

यहाँ विनीतत्व का जो विशेषण है—(स्वाभाविक) वह बाधक के अभाव में और समान विभक्ति के कारण तेज का विशेषण भी बन सकता है। इसलिये तेज के लिये जो पुनः विशेषण (सहज) दिया गया वह पुनरुक्त है।

फलतः—'समान विभक्ति वाले पदार्थ का धर्म एक पदार्थ के लिये प्रयुक्त करने पर उन सभी में अन्वित हो जाता है, इसलिये पर्यायवाची शब्दों द्वारा उस (धर्म) का बार-बार कथन पुनरुक्तिकारी होता है।' —संग्रहकारिका।

मुमूर्च्छेति प्रससारेत्यर्थः।

बाधकसद्भावाभाव इति अनेन यत्रैकस्यैव विशेषणस्योपमानोपमेयसम्बन्धबाधकमस्ति तत्र पृथक्प्रयोगेऽपि न दोषः यथा—

'चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि।
आवन्त्य एव निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि॥'

इत्यादौ प्रतिवस्तूपमायामित्याह। अत्र हि इवादिशब्दाभावे सति वाक्यभेदः। प्राकरणित्वाप्राकरणिकत्वाभ्यामुपमानोपमेयभावप्रतीतौ साधारणधर्मस्य पृथक्प्रयोगमन्तरेण वाक्यार्थसङ्गतिर्न भवतीति पृथक्प्रयोगो न दुष्टः। तद्वचनमिति सहजपदेन स्वाभाविकत्ववचनम्।

तुल्यविभक्तीनामर्थात् उपमानोपमेयानाम्। एषा निर्धारणे षष्ठी। एतन्मध्ये एकस्येत्यर्थः। पर्यायैरिति। स्वाभाविकपदादिषु सहजपदादिभिः।

मुमूर्च्छे—फैला।

बाधकसद्भावाभावे—इसका निष्कर्ष यह हुआ कि जहाँ एक ही विशेषण के उपमान और उपमेय दोनों में अन्वित होने का कोई बाधक हो तो उसका अलग से प्रयोग करना भी दुष्ट नहीं होता। जैसे—'चाँदनी को पीने में चकोरी ही चतुर है, सुन्दरी के सुरतकार्य में अवन्ती जनपद के निवासी ही चतुर हैं।' इत्यादि प्रतिवस्तूपमा के स्थलों में। यहाँ इव शब्द के अभाव में ही दो वाक्य बनते हैं। प्राकरणिकता और अप्राकरणिकता से उपमानोपमेय भाव की प्रतीति हो जाती है

और साधारण धर्म के स्वतंत्र प्रयोग के बिना वाक्यार्थ नहीं बैठता—इसलिये उसका अलग से प्रयोग करना दोषावह नहीं है।

तद्वचनम्—सहजपद से स्वाभाविकता का कथन।

तुल्यविभक्ति = तुल्यविभक्ति वाले उपमानोपमेय। यह षष्ठी निर्धारणार्थक है 'अर्थात् इनके बीच में एकका।'

पर्यायैः—स्वाभाविक आदि पद दे देने पर सहज आदि द्वारा।

'कैरवेन्दीवरच्छायौ नौम्युमाधवमाधवौ।
ब्रह्मार्चितब्रह्मनुतौ निहतान्धककालियौ॥' इति।

अत्र प्रथमो धवशब्दो द्वितीयश्च ब्रह्मशब्दः पुनरुक्तौ, तावन्तरेणापि समासान्तराश्रयणेन विवक्षितार्थप्रतीतिसिद्धेः प्रत्युदाहरणयोः प्रथमचतुर्थयोरिव पादयोः। अन्यथा तत्रापि छायानिहतपदयोर्द्विरुपादानप्रसङ्गः स्याद् विशेषाभावात्।

अस्तु को दोषः? उभयोरपि लक्षणानुगमसम्भवादिति चेत्। सत्यं, किन्तु प्रतीतिरिह प्रधानमिति सैवानुसर्त्तव्या न लक्षणमात्रं, तस्य तदर्थत्वादित्युक्तम्। सा च यावद्भिरुपजायते तावतामेव प्रयोगो युक्तो नातिरिक्तानाम्।

उमा के धव (पति शिव और मा लक्ष्मी के धव पति-विष्णु) को प्रणाम करता हूँ। (दोनों में से) एक कुमुदवर्ण के हैं और दूसरे इन्दीवरवर्ण के, एक ब्रह्मा द्वारा पूजित हैं और दूसरे ब्रह्मा द्वारा वन्दित हैं, एक ने अन्धकासुर को मारा है, और दूसरे ने कालिय नाग को। यहाँ प्रथम धव और द्वितीय ब्रह्म शब्द पुनरुक्त हैं। उनके बिना भी अन्य समास का प्रयोग करने से विवक्षित पदार्थ की प्रतीति बन सकती है। जैसे कि प्रत्युदाहरणस्वरूप (इसी श्लोक के) प्रथम और चतुर्थ चरणों में (छाया और निहतत्व की प्रतीति एक बार प्रयोग करने से भी हो जाती है।) नहीं तो उनमें भी छाया और निहत शब्दों का प्रयोग दो बार करना चाहिये। क्योंकि स्थिति उनमें भी वही है (जो द्वितीय और तृतीय चरण में है।)

(शंका)—ऐसा ही हो, बुरा क्या है? उन दोनों में लक्षण का समन्वय हो सकता है।

(उत्तर)—ठीक है, पर यहाँ प्रधान है प्रतीति, इसलिये उसी का अनुसरण यहाँ करना चाहिये, केवल लक्षण का नहीं। वह (लक्षण) उसी (प्रतीति) के लिये होता है। वह (प्रतीति) जितनों से हो सकती है, उतनों का ही प्रयोग आवश्यक है उनसे अधिक का नहीं।

समासान्तराश्रयणेन **उमा च मा च उमामे तयोः धवावित्यादि द्वन्द्वपूर्वकतत्पुरुषाश्रयणेनेत्यर्थः।** छायानिहतपदयोरि**ति प्रथमं छायाशब्दः द्वितीयश्च निहतशब्दः कर्तव्यः स्यादिति दार्ष्टान्तिकक्रमेणैव दृष्टान्तावुक्तौ।**

अस्त्विति छायानिहतशब्दयोः प्रयोगः उभयोरपीति**। द्वन्द्वपूर्वकस्य बहुव्रीहेर्बहुव्रीहिपूर्वकस्य वा द्वन्द्वस्येत्यर्थः। एतच्च दृष्टान्तगतत्वेनोक्तमपि दार्ष्टान्तिकगतत्वेनापि पर्यवसानं नेयम्। दार्ष्टान्तिके हीत्थं योजना। तत्पुरुषपूर्वस्य वा तत्पुरुषस्य लक्षणानुगमः सम्भवतीति।**

तदर्थत्वादित्युक्तं **विधेयाविमर्शविचारे** यावद्भिरिति **पदैरित्यर्थात्।**

समासान्तराश्र०—उमा और मा=मिल कर 'उमामे' उनके धव—इस प्रकार द्वन्द्वपूर्वक तत्पुरुष का आश्रय लेने से।

छायानिहतपद०—छायाशब्द को पहले रखना चाहिये और निहतशब्द को उसके बाद, इस प्रकार दार्ष्टान्तिक के क्रम से दृष्टान्तों को उपस्थित किया।

अस्त्विति—छाया और निहत शब्द का प्रयोग।

उभयोरपि—द्वन्द्वपूर्वक बहुव्रीहि का और बहुव्रीहिपूर्वक द्वन्द्व का। यह केवल दृष्टान्त में दिखलाया गया है, तो भी दार्ष्टान्तिक के साथ लगा लिया जाना चाहिये। ऐसी योजना दार्ष्टान्तिक में है। तत्पुरुषपूर्वक द्वन्द्व का या द्वन्द्वपूर्वक तत्पुरुष का लक्षणानुगम हो जाता है।

तदर्थत्वात्—विधेयाविमर्श का विचार करते समय।

यावद्भिः—जितने पदों द्वारा।

न च प्रतीतिमनादृत्यैव लक्षणमस्तीत्येवातिरिक्तपदप्रयोगो युक्तः, तस्यार्थप्रयुक्तत्वाद्, अर्थस्य चाधिक्यात्। तदुक्तं 'तदर्थावगत्यर्थो हि शब्दप्रयोगः। अर्थश्चेदवगतः किं शब्दप्रयोगेणे'-ति। तस्मादुभयोरपि लक्षणानुगमसम्भवे येनैव लघुनोपायेन प्रधानसिद्धिस्तदेव लक्षणमाश्रयणीयं भवति नेतरत्, तत्पुरुषलक्षणाश्रयणेन चोपायलाघवमिति तदेवाश्रयितुं युक्तं, न द्वन्द्वलक्षणम्।

न चैवं तस्य विषयापहारः स्यादित्याशङ्कनीयं 'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ' इत्यादावतज्जातीये विषये तस्य चरितार्थत्वादित्यलमवान्तरचिन्तया।

प्रतीति की ओर ध्यान न देकर केवल इसलिये कि (वैसा) लक्षण (बना हुआ) है, (किसी भी) अतिरिक्त (अनावश्यक) पद का प्रयोग ठीक नहीं होता। वह अर्थ पर निर्भर रहता है। और अर्थ (आवश्यकता से) अधिक हो जाता है (अर्थात् उस अतिरिक्त पद का प्रयोग करने से)। यही कहा भी है—उस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये ही शब्द का प्रयोग होता है। यदि अर्थ का ज्ञान हो गया तो फिर शब्द के प्रयोग से क्या? इसलिये लक्षण का अनुगम दोनों में होना सम्भव हो तब भी जिस लघु उपाय से लक्ष्य की सिद्धि होती है वही लक्षण अपनाना उचित होता है, और कोई नहीं। तत्पुरुष का आश्रय करने में उपाय का लाघव है, उसी का प्रयोग करना चाहिये, द्वन्द्व का नहीं।

ऐसा नहीं कि उसका (द्वन्द्व) कोई स्थान ही नहीं रहेगा? इससे भिन्न—'जगत् के पिता—पार्वतीपरमेश्वर' को प्रणाम करता हूँ।—ऐसे स्थलों में उसको जगह है। अस्तु अधिक ऊपरी बातों से लाभ नहीं।

तत्पुरुषलक्षणाश्रयणेने**ति प्रकृते द्वन्द्वलक्षणपूर्वकत्वं ज्ञेयम्।** एवं न द्वन्द्वलक्षणमित्यत्र तत्पु-**रुषलक्षणपूर्वकत्वं बोद्धव्यम्।**

तस्येति **द्वन्द्वस्य।** तज्जातीय **इमि यत्र तत्पुरुषशङ्का नास्तीति पार्वतीपरमेश्वरावित्यत्रापि परमेश्वरपदे कर्मधारयाश्रयणदर्शनेन तत्पुरुषपूर्वकत्वं योजनीयम्।** अवान्तरचिन्तये**ति पौनरुक्त्यप्रस्तावे समासचिन्तयेत्यर्थः। अत्र माधवस्य यौगिकत्वेऽपि संज्ञात्वेन निरूढेः**

उमा-माधवाविति प्रयोगे उमाया माधवस्य च स्पष्टत्वेन प्रतीतिः, न तु द्वन्द्वपूर्वक-तत्पुरुषार्थस्येति द्वन्द्वलक्षणं नातीव हृदयङ्गममित्याहुः।

तत्पुरुषलक्षणाश्रय—प्रकृत में द्वन्द्वलक्षणपूर्वकता जाननी चाहिये। इसी प्रकार—'न द्वन्द्वलक्षणम्' में तत्पुरुष लक्षणपूर्वकता जाननी चाहिये।

तस्य—द्वन्द्व का।

तज्जातीय—जहाँ तत्पुरुष की शंका नहीं है—वहाँ 'पार्वतीपरमेश्वरौ' आदि में भी परमेश्वर पद में कर्मधारय है। इसलिये 'तत्पुरुषपूर्वकता लगानी चाहिये'—द्वन्द्व का विषयापहार हो जायगा, ऐसा न कह कर 'तत्पुरुषपूर्वक द्वन्द्व का विषयापहार'—कहना चाहिये, क्योंकि—पार्वती-परमेश्वर में भी शुद्ध द्वन्द्व नहीं है। उसमें भी परमेश्वर शब्द में कर्मधारय है ही। इसी प्रकार और कहीं तत्पुरुषपूर्वक द्वन्द्व हो जायगा।

अवान्तरचिन्तया—पुनरुक्ति के प्रसंग में समास की चिंता, यहाँ माधव यौगिक है,—तथापि संज्ञा रूप से निरूढ होने के कारण 'उमा-माधव' ऐसा प्रयोग करने पर स्पष्टतः प्रतीति तो उमा और माधव की होती है, द्वन्द्वपूर्वकतत्पुरुषार्थ (उमा और 'मा' में द्वन्द्व, 'उनके धव' में तत्पुरुष) की नहीं होती इसलिये द्वन्द्व का विचार भलीभांति गले उतरता नहीं है।

'द्विषद्वधूलोचनचन्द्रकान्तनिष्यन्दनेन्दूदयसन्निभोऽयम्।'

इत्यत्रेन्दूदयस्य यश्चन्द्रकान्तविषयो निष्यन्दनव्यापारः स प्रसिद्ध इति नोपादेयतामर्हति यथा 'रजनीपुरन्ध्रीलोध्रतिलकः, तिमिरद्विपयूथकेसरी'-त्यत्र प्रसाधननिर्मथनव्यापार उपादीयमानः पौनरुक्त्यमेव पुष्णाति।

यस्त्वप्रसिद्धः, असावुपादीयत एव, यथा 'संसारसम्भवनिराकरणैकरेखे'-त्यत्र निराकरणम्। रेखा हि हेयोपादेययोरुभयोर्विभागहेतुः पदार्थः प्रसिद्ध इत्यनभिमतपक्षप्रतिक्षेपाय तदनुगुणस्य व्यापारस्योपादानमुपपन्नमेव। अभिमतपक्षपरिग्रहायापि यथा—

'त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य सीमा।'

इत्यत्र प्रसरस्य।

'शत्रुनारियों की आँखरूपी चन्द्रकान्तमणि को पिघलाने के लिये यह चन्द्रोदय के समान हैं'—यहाँ चन्द्रोदय से चन्द्रकान्त में निस्यन्दन व्यापार दिखलाया गया, वह प्रसिद्ध ही है अतः नहीं दिखलाया जाना चाहिये। और जैसे—'रात्रिरूपी सुहागिन का लोध्रतिलक', अन्धकाररूपी गजयूथ के लिये केसरी—'यहाँ प्रसाधन और निर्मथनव्यापार' शब्द से कहे जायें तो उनमें पुनरुक्ति होगी। जो प्रसिद्ध नहीं होता, वह शब्दतः कहा जाता ही है—'संसार की उत्पत्ति के निराकरण की प्रधान सीमा रेखा'—इस वाक्य में—'निराकरण'। रेखा हेय और उपादेय दोनों के विभाग के कारणरूप से प्रसिद्ध पदार्थ है, इसलिये अनभिमत वस्तु के त्याग के लिये—उसके अनुरूप व्यापार का उपादान ठीक ही है।

अभिमत पक्ष के परिग्रह के लिये भी—'त्वष्टा के सतत अभ्यास से अर्जित शिल्प विज्ञान की सम्पत्ति के फैलाव की सीमा'—यहाँ (उपादेय) प्रसर का (परिग्रह)।

रेखे-ति रेखा मर्यादा अवधिः सीमेति पर्यायाः। तत्र हेयपक्षप्रतिक्षेपेण प्रयोगो यथा संसारेति अत्र संसारसम्भवस्य निराकरणमिति हेयस्य प्रतिक्षेपः।

रेखा—रेखा, मर्यादा, अवधि, सीमा ये सब पर्यायवाची हैं। दोनों में से हेय पक्ष के निषेध के लिये प्रयोग का उदाहरण दिया—'संसार' इत्यादि। यहां—'संसार के सम्भव का निराकरण' इस प्रकार हेय का प्रतिक्षेप होता है।

किञ्चात्र यद् 'इन्दूदयस्येव सन्निभा यस्ये'तीन्दूदयतुल्यत्वं राज्ञः शाब्दमुक्तं तत् तस्य तत्त्वारोपादार्थमेव युक्तमित्युपात्तपदातिरिक्तस्य सन्निभापदस्य पौनरुक्त्यमावहतीत्युक्तम्।

'अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं तवेक्षितैः।
अरुध्येतामितीवास्य नयने बाष्पवारिणा॥' इति।

अत्र हि बाष्पस्य वारिरूपत्वाव्यभिचारेऽपि यद् वारित्वमुक्तं तदसति प्रयोजने पौनरुक्त्यं करोति। न चात्र किञ्चित्प्रयोजनमुत्पश्यामः। तस्माद् बाष्पसम्पदेत्ययमत्रोचितः पाठः। अस्मिन् हि सति पौनरुक्त्यपरिहारः सम्पदः स्त्रीत्वात् सखीत्वव्यक्तौ लेशतोऽर्थान्तरावगतिश्चेत्युभयं सिद्धं भवति।

सति तु प्रयोजने न दोषः। यथा—

'पृथ्वीपाल! प्रतापस्ते वैद्युतेनाग्निना समः।
यो वैरिवनिताबाष्पवारिणा वर्धतेऽधिकम्॥' इति।

वैद्युताग्निवृद्धेराधिक्यस्य वारिकार्यत्वेन प्रसिद्धेः।

और यदि यहाँ 'चन्द्रोदय जैसी अच्छी कान्ति जिसकी' ऐसा विग्रह हो तब भी—राजा में चन्द्र का सादृश्य शब्दतः प्रतीत होता है। उसे उसके धर्म का आरोप होने से आर्थ ही लेना चाहिये। इसलिये उपात्त शब्दों से अतिरिक्त 'सन्निभा'—शब्द पुनरुक्ति उत्पन्न करता है।

'गलत काम में लगे इन पतियों को देखने से क्या?'—मानों इसीलिये उसकी दोनों आँखें आसुओं के पानी से रोक ली गईं। यहाँ बाष्प तो जल रूप ही होता है। इसलिये उसे जो 'वारि' कहा गया वह कोई प्रयोजन न होने से पुनरुक्त ही है। यहाँ हम कोई प्रयोजन भी नहीं देख पाते। इसलिये 'बाष्प-सम्पद्' यही पाठ यहाँ ठीक है। इस पाठ में दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो—पौनरुक्त्य हट जाता है दूसरे सम्पद् स्त्रीलिङ्ग है, इसलिये उसमें सखीत्व का भान होने लगता है—जिससे एक और अर्थ (सखी द्वारा—अपनी सखी को समझाना) निकल आता है।

प्रयोजन होने पर कोई दोष नहीं। जैसे 'हे पृथिवी के रक्षक! तुम्हारा प्रताप बिजली की आग के समान है जो बैरियों की नारियों के बाष्पवारि से और ज्यादा बढ़ता है।' यहाँ बिजली की आग पानी से अधिक बढ़ती है—यह प्रसिद्ध है।

उपादेयपरिग्रहो यथा त्वष्ठुरि **ति। अत्र सम्पदः प्रसरो विस्तारः इत्युपादेयस्य परिग्रहः। इन्दूदयस्येव सन्निभा यस्येति अत्र सन्निभाशब्दः प्रभापर्यायो व्याख्यातः। यथा तु दण्डिनो ग्रन्थस्तथा सन्निभशब्दः सदृशपर्यायोऽस्ति तदुक्तम्—**

'इववद्वायथाशब्दाः समाननिभसन्निभाः' [काव्यादर्शः] इति।

तदनुसारेणेन्दूदयेन सदृश इन्दूदयसन्निभ इति व्याख्येयम्।

समाधि का परिणाम, जैसे—'लब्धः' इत्यादि……। यहाँ 'सम्पत्ति का प्रसर = विस्तार' इस प्रकार समाधि का परिणाम हुआ। 'चन्द्रोदय के समान सन्निभा जिसकी है'—इस प्रकार यहाँ सन्निभाशब्द प्रभा का पर्याय माना गया है, कवियों के मत के अनुसार तो सन्निभ शब्द है जो सदृश का पर्याय है, जैसा कि कहा है—'इव-वत्-वा-यथाशब्दाः समान-निभ-सन्निभाः' उसके अनुसार चन्द्रोदय के सन्निभ = चन्द्रोदय के समान, ऐसी व्याख्या करनी चाहिये।

यथा च—

'साहाय्यकार्थमिव फूत्कृतमारुतेन संधुक्षितः सपदि यस्य पृषत्कवह्निः।'

इत्यत्राग्निसन्धुक्षणस्य मारुतकार्यत्वेन प्रसिद्धेः।

यथा च—

'अवहितचेतसः पथि जनस्य कुतः स्खलितमि'ति। अवहितत्वं नाम चेतस एव धर्मो नान्यस्येति मुख्यवृत्त्या तत्रैवास्य वृत्तिरुपपन्ना। या त्वन्यत्र पुरुषादावस्य दृश्यते सा तत्सम्बन्धादिति तद्विशिष्टेन चेतसा जनस्य यद्विशेषणं तत्र चेतस उपादानं पुनरुक्तं तदुक्त्यैव तदवगतेः।

यथा च—

'अवगच्छन्ति मूढचेतसः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।' इति।

'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।' इति।

केवलादेव तत्सम्बन्धात् तदवगतिर्भवत्येव, यथा—

'तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि।' इति।

यथा च—

'शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते।' इति।

'मूढोऽनात्ममयः क्वचि'दिति च।

और जैसे—फूत्कार की हवा द्वारा जिसकी बाणाग्नि और बढ़ा दी गई मानों उसने उसकी सहायता की।'—यहाँ अग्नि का सन्धुक्षण कार्य का हवा के द्वारा होना प्रसिद्ध है।

और जैसे—जो जन सावधान चित्त वाला होता है वह रास्ते में कैसे फिसल सकता है?—यहाँ अवहितता (सावधानी) चित्त का ही धर्म है और किसी का नहीं। इसलिये मुख्य रूप से उसी में उसका प्रयोग हो सकता है। पुरुष आदि अन्य पदार्थों में जो उसका यह अस्तित्व देखा जाता है वह उसके सम्बन्ध से। इसलिये उससे (सावधानी) विशिष्ट चित्त द्वारा जन को जो विशेषण दिया गया उसमें चित्त पुनरुक्त है। उतना भर कहने से उसकी प्रतीति हो जाती है। और जैसे—

'जिसकी मति मूढ़ होती है उसे अपने प्रिय का शरीरनाश हृदय में गड़ा हुआ शूल सा जान पड़ता है।' (और) 'वे मन्दमति धोखा खाते हैं। जो छलियों के साथ छली नहीं बनते।'—

केवल उसके (मूढत्व) सम्बन्ध से उस (बुद्धि) की प्रतीति हो जाती है जैसे—'कृपा से शान्त राम ने परशुराम को अपने आप में शक्तिहीन देखकर' और जैसे—इस तुच्छ शरीर के लिये भी मूढ़ लोग पाप करते हैं।' और—'कहीं मूढ़ अनात्ममय (को कहा जाता है)'—यह।

तदुक्त्यैवेति अवहितत्वोक्त्येत्यर्थः ।

मूढचेतन इति मूढधिय इति च मोहनाम्नो मूढत्वस्य बुद्धिधर्मत्वात् चेतनधीशब्दयोः पौनरुक्त्यम् ।

तत्सम्बन्धात् तदवगतिरिति चेतनसम्बन्धाच्चैतन्यावगतिरित्यर्थः ।

कृपामृदुरिति । कृपा चेतनधर्म इतिचैतन्यवाचिपदं न कृतम् । एवं मूढा' 'मूढ' इत्यत्रापि वाच्यम् ।

तदुक्त्यैव—अवहितत्वमात्र के कथन से ।

मूढचेतन—और मूढधी यहाँ मोहनामक मूढत्व बुद्धि का ही धर्म है । इसलिये चेतन और धीशब्द पुनरुक्त हैं ।

तत्सम्बन्धात्—चेतन के सम्बन्ध से चैतन्य का ज्ञान ।

कृपामृदु—कृपा चेतन का धर्म है इसलिये यहाँ चैतन्य का वाचक पद नहीं दिया । उसी प्रकार 'मूढाः' और 'मूढः' में भी समझना चाहिये 'वहाँ भी मूढ़ता के आश्रय बुद्धि चेतना आदि को नहीं कहा ।'

उदितवपुषीति पौनरुक्त्यमेवानुसन्धत्ते । मनःकर्तृकत्वं प्रमोदस्य ।

उदितवपुषि = यहाँ से पौनरुक्त्य के उदाहरण पुनः शुरू करते हैं प्रमोद मन का धर्म (कार्य) है ।

यथा च—

'उदितवपुषि दिननाथे प्रविकसितात्मसु कुलेषु कमलानाम् ।
जगति प्रमुदितमनसि च कोऽन्यो विमनायते घूकात् ॥' इति ।

अत्र हि वपुरात्ममनश्शब्दानां त्रयाणामपि पौनरुक्त्यम् । तत्र द्वयोः स्वरूपमात्रवचनात् तस्य च पदार्थेष्वव्यभिचारात्, तृतीयस्यापि प्रमोदस्य मनःकर्तृकत्वाव्यभिचाराद् इत्यनन्तरमेवोक्तम् ।

यथा वा—

'किं पुनरीदृशे दुर्जाते जातामर्षनिर्भरे च मनसि नास्त्येवावकाशः शोकक्रियाकरणस्ये'ति अत्र क्रियाकरणशब्दयोः ।

यथा च—

'पातु वस्तारकाकान्तकलाकलितशेखरः ।
जगत्त्रयपरित्राणक्रियाविधिविचक्षणः ॥' इति ।

अत्र क्रियाविधिशब्दयोः पौनरुक्त्यम् । तत्राद्यस्य तावत् परित्राणक्रियाविशेषप्रतीतेरेव क्रियासामान्यप्रतीतिसिद्धेः विशेषस्य च सामान्याव्यभिचारात्, द्वितीयस्यापि क्रियापर्यायत्वेन तत्तुल्यवृत्तान्तत्वात् ।

और जैसे—'दिननाथ (सूर्य) के उग आने पर, कमल के फूल जाने पर, संसार का मन प्रसन्न हो जाने पर, उल्लू के अलावा और कौन उदास हो सकता है ।' यहाँ वपुः, आत्मा और मन तीनों शब्द पुनरुक्त हैं । तीनों में दो आकार मात्र के वाचक हैं । वह पदार्थ में सदा रहता ही है । तीसरा प्रमोद मन का कार्य है । वह भी उससे कभी नहीं हटता ।

और जैसे 'ऐसे कठोर काल में अब मन शोक से भर गया है—शोक-कार्य करने का मौका नहीं'—यहाँ क्रिया (कार्य) और करण (करना) दोनों शब्द पुनरुक्त हैं। और जैसे—आपकी 'रक्षा करें (कौन ? वह) जिसके सिर पर तारकाओं के पति की कला है, जो तीनों लोकों के रक्षण-कार्य के विधान में तत्पर हैं।' यहाँ 'क्रिया (कार्य) विधि (विधान)' दोनों शब्द पुनरुक्त हैं। प्रथम (क्रिया) तो सामान्य क्रिया है। विशेष सामान्य से दूर नहीं रहता इसलिये उसकी प्रतीति परिणामरूप विशेष क्रिया से हो जाती है, दूसरा (विधि) भी क्रिया का ही एक पर्यायवाची शब्द है, इसलिये इसकी उक्ति भी उसी के समान है।

क्रियाकरणशब्दयोरिति। अत्र गौः शावलेय इतिवच्छोकक्रियाशब्दयोस्सामान्यविशेषभावेन प्रयोगः। करणशब्देन च स्वीकाररूपमनुष्ठानमभिधीयत इत्यभिप्रायेण कविना क्रियाकरणशब्दौ प्रयुक्तौ। ग्रन्थकृतस्तु विशेषस्यैवोपयोगात् सामान्यव्यभिचाराच्च क्रियाशब्दस्य वैयर्थ्यम्, करणशब्दस्य क्रियावाचित्वान्निष्फलत्वमिति शोकशब्द एव कर्तव्यः इत्यभिप्रायः।

क्रियाकरणशब्दयोः — यहाँ गौ शाबलेय (चितकबरी गाय) के समान 'शोक' और 'क्रिया'—शब्दों का प्रयोग सामान्य-विशेषभाव से हुआ। करण शब्द द्वारा स्वीकार करना कहा जा रहा है। इस प्रकार कवि के क्रिया और करण शब्द साभिप्राय हैं। ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि प्रकरण में उपयोग केवल विशेष का है, और विशेष सामान्य से युक्त ही रहता है, अतः क्रिया शब्द व्यर्थ है। इसी प्रकार 'करण' शब्द क्रिया का ही वाचक है इसलिये निष्फल है। इसलिये केवल शोक शब्द ही चाहिए।

यथा च—

'सङ्कल्पकल्पितां कान्तां सर्वत्रोत्पश्यतोऽनिशम्।
वियोगदुःखानुभवक्लेशो बत तथापि मे॥' इति।

अत्र हि सङ्कल्पानुभवक्लेशाख्योऽपि पुनरुक्ताः। तत्राद्यस्य तावत् यत् पौनरुक्त्यं, तदर्थस्य कल्पनायां करणभावाव्यभिचारात्। द्वितीयस्य दुःखस्यानुभवविशेषात्मत्वोपगमे सति व्यतिरेकाभावात् तन्निबन्धनः षष्ठीसमासस्तेन सह न सम्भवतीति। न च विशेषस्य सामान्येन सह समास इष्यते न हि भवति शावलेयस्य गौरिति। नापि विशेषणसमासः। विशेषप्रतीतेरेव सामान्यप्रतीतिसिद्धेस्तयोर्विशेषणविशेष्यभावात्, न हि भवति शावलेयगवीति। तृतीयस्यापि दुःखपर्यायत्वात् तदुक्त्यैव गतार्थत्वात् पौनरुक्त्यमविवादसिद्धमेव।

एवमेव—

'अगाधापारसंसारसागरोत्तारसेतवे।
देहार्धधृतकान्ताय कन्दर्पद्वेषिणे नमः॥' इति।

अत्र सागरोत्तारशब्दावुभावपि पुनरुक्तौ, एकस्यागाधत्वापारत्वलक्षणासाधारणसागरधर्माध्यारोपसामर्थ्यात् सेतुसम्बन्धाच्च संसारस्य तद्रूपतावगतेः। आर्थी एव हि अत्र रूपणा युक्ता अनुमेयत्वात्, न शाब्दी। यथा—

'चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद् वधूरतम्॥'

इत्यत्र मन्मथस्यानलत्वेन।

इतरस्य च सेतोर्नियमेनोत्तरणार्थत्वेन प्रसिद्धेः। अनेन च 'सकलकलाकनकनिकषपाषाण' इत्यादौ कनकादिशब्दानामपि पौनरुक्त्यं व्याख्यातम्।

और जैसेः—'मैं भावना द्वारा निर्मित प्रिया को हर एक जगह देखता रहता हूँ इतने पर भी वियोग दुःख के अनुभव का क्लेश मुझे है ही।'

यहाँ—संकल्प अनुभव और क्लेश तीनों पुनरुक्त हैं। इनमें पहले (संकल्प) की पुनरुक्तता इसलिये है कि कल्पना क्रिया में करण रूप से संकल्प अवश्य ही रहता है। दूसरा (दुःख) भी एक प्रकार का अनुभव ही है, इसलिये (अनुभव से दुःख की) भिन्नता न होने के कारण उनपर आश्रित षष्ठी समास भी नहीं हो सकता क्योंकि वह उन्हीं पदों में होता है जिनके अर्थों में एक दूसरे से भिन्नता हो। विशेष का सामान्य के साथ समास नहीं होता। ऐसा कभी नहीं कहा जाता कि—'शावलेयकी गाय'। विशेषण समास भी नहीं हो सकता। क्योंकि विशेष्य की प्रतीति से ही सामान्य की प्रतीति हो जाने से उन दोनों में विशेषणविशेष्यभाव ही नहीं बनता। 'शावलेय गौ' यह प्रयोग नहीं होता। तीसरा भी—(क्लेश) दुःख का पर्याय ही है, इसलिये उस (दुःख) के ही कथन से गतार्थ हो जाता है। इस प्रकार तीनों की पुनरुक्ति पर कोई विवाद नहीं?

'काम के शत्रु (शिव) को नमस्कार है, वे अगाध और अपार संसारसागर को पार करने के एकमात्र सेतु हैं, कान्ता को उन्होंने अपने आधे शरीर में धारण कर रखा है।' यहाँ सागर और उत्तार दोनों शब्द पुनरुक्त है। एक (सागर) इसलिये कि संसार में उसकी प्रतीति हो जाती है, कारण कि अगाधता और अपारता सागर के असाधारण धर्म है जिनका आरोप किया जा रहा है, और सेतु का सम्बन्ध बतलाया जा रहा है। यहाँ आरोप आर्थ ही ठीक है, शाब्द नहीं। जैसेः—चुम्बन में अधरोष्ठ अलग कर लिया। करधनी छूने में हाथ रोक लिया? इस प्रकार इच्छाओं में विघ्न होने पर भी वधू के साथ सुरत सब प्रकार से—काम का इन्धन ही बना।' यहाँ—मन्मथ पर अनल का आरोप। दूसरे (उत्तार) की (पुनरुक्तता) इसलिये है कि सेतु नियमतः पार उतारने के लिये ही प्रसिद्ध है। इसीसे—'सभी कलारूपी सोने के लिये कसौटी का पत्थर' इत्यादि में कनक (पाषाण) आदि शब्दों की पुनरुक्तता भी स्पष्ट हो जाती है!

अनुभवविशेषात्मत्वोपगम **इति सौगतप्रक्रिययैतदुक्तम्। वैशेषिकास्तु जडमेवात्मगुणम् एकार्थसमवायिना ज्ञानेन ग्राह्यं सुखमाहुः। तत्प्रक्रियायां कर्तव्यमेवानुभवग्रहणम्।**

एकस्ये**ति सागरस्य** इतरस्य चेति **उत्तारार्थस्य**। तद्रूपतावगतेरि**त्युभयत्र तद्रूपता सागररूपता उत्ताररूपता च।**

अनुभवविशेषात्मत्व०—सौगत = बौद्धों के अनुसार यह कहा। वैशेषिक तो सुख को आत्मा का गुण मानते हैं। वे उसे जड़ (निष्क्रिय) मानते और उसी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान ज्ञान द्वारा ग्राह्य मानते हैं। उन (वैशेषिकों) की प्रक्रिया में अनुभव शब्द का ग्रहण करना ही चाहिये।

एकस्य = सागर का, इतरस्य च = उत्तारूपी अर्थ का। तद्रूपतावगते—दोनों जगह तद्रूपता, सागररूपता और उत्ताररूपता।

यथा च—

'करकलितनिशातोत्खातखड्गाग्रधारा-
दृढतरविनिपातच्छिन्नदृप्तारिकण्ठः ।' इति ।

अत्र नवानां पदानामवकरत्वम् । तत्र यत् खड्गस्य करकलितत्वादिविशेषणचतुष्टयं तत् पुनरुक्तं तत्र तस्य व्यापार्यमाणस्य तत्त्वाव्यभिचारात् । यच्चाग्रत्वविशिष्टया धारया वचनं तत् पुनरुक्तं खड्गस्यैव करणत्वविवक्षायामौचित्यादेव तत्प्रतीतिसिद्धेः । यच्चात्र दृढतरत्वविशिष्टो विनिपातः करणभावेनोपात्तो, यदपि दृप्तत्वमरीणां विशेषणं तदुभयमपि पुनरुक्तमेवार्थसामर्थ्यसिद्धत्वात् । अतश्च खड्गच्छिन्नारिकण्ठ इति पदचतुष्टयमेवात्र सारम् । अन्यत्त्ववकरप्रायं वृत्तस्य पूरणायैव पर्यवस्यति नार्थविशेषस्य कस्यचिदिति । यथा—

'शीधुरसविषयपानक्रियावशावाप्तजन्ममदविवशा ।
गलदंशुकदृश्यमुखी सुखायते किमपि कमितुरचिरोढा ॥'

इत्यत्र रसादीनां सप्तानामवकरत्वम् । यथा वा—

'मदिराद्रवपानवशावाप्तोदयमदविघूर्णितात्मैव ।
तव तरुणि ! मदनदीपनमिदमक्षियुगं समाभाति ॥' इति ।

अत्र द्रवादीनां षोडशानामवकरपदानां पौनरुक्त्यं प्रयुक्तान्तर्गताभ्यां द्वाभ्यामेव मदिराक्षिपदाभ्यां सम्बोधनीकृताभ्यां तदर्थप्रतीतिसिद्धेः । यथाह भरतः—

'आघूर्णमानमध्या या क्षामा चाञ्चिततारका ।
दृष्टिर्विकसितापाङ्गा मदिरा तरुणे मदे ॥' इति ।

एषां चावकरपदानां पर्यायेण यथायोगमेकादिप्रयोगे सति लोष्टसञ्चारक्रमेणातिबहवोऽवकरप्रकाराः समुद्भवन्ति, येषु प्रयुक्तेष्वप्रयुक्तेष्वपि तुल्यैवार्थावगतिरिति ते तत्र शल्यायमानाः शाब्दिकैः केवलमाद्रियन्ते । कविभिस्तु प्रस्तुतरसाभिव्यक्तिव्यवधाननिबन्धनधियावधीरणीया एव ।

यत्र किं बहुनोक्तेन क्रियाकारकयोरपि ।
यदौचित्यादवगतिस्तत्रान्येषां कथैव का ॥ ४५ ॥

तत्र क्रियाया यथा—

'मा भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा ।
वज्रमिन्द्रकरविप्रसृतं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष ॥' इति ।

कारकस्य यथा—

'मा धाक्षीन्मा भाङ्क्षीन्मा भैत्सीज्जातुचिद् बत भवन्तम् ।
सुकृतैरध्वन्यानां मार्गतरो ! स्वस्ति तेऽस्तु सह लतया ॥' इति ।

और जैसे—हाथ में रखी[1] तीखी[2] खुली तलवार के अग्रभाग की धारा[5] के कठोरतर[6] प्रहार[7] से कटी[8] दुष्ट[9] शत्रु की गरदन'—यहाँ ९ शब्द कचरे जैसे हैं। खड्ग के जो चार विशेषण हैं वे पुनरुक्त हैं, चलाये जाते उस (खड्ग) में वे रहते ही हैं। अग्रत्व से युक्त धाराका कथन भी पुनरुक्त है। कारणरूप से विवक्षित खड्ग में वे अपने आप प्रसिद्ध हैं। कारणरूप से कथित दृढ़तर विशेषण से अन्वित विनिपात भी पुनरुक्त है, और शत्रुओं का विशेषण दुष्ट भी दोनों अपने-आप प्रतीत हो जाते हैं। इसलिये 'खड्गच्छिन्नारिकण्ठः' ये चार ही शब्द काम के हैं। और सबतो कचरे के बराबर हैं। वे केवल छन्द को पूरा करने के लिये लाए गये सिद्ध होते हैं किसी विशेष अर्थ के लिये नहीं ?

और जैसे—'कामुक के लिये नवोढा एक अजीब सुख देती है, जब वह शराब के रस के विषय की पान क्रिया से जन्म को प्राप्त मद से विवश हो जाती है और उसका अंचल सरक जाने से मुख दिखाई देने लगता है।'—

यहाँ—रस—आदि सात कचरे जैसे हैं। और जैसे—'शराब के द्रव के पान के वश से उदय को प्राप्त मद से घूमते आकार वाली तुम्हारी—दोनों, आँखे—हे तरुणि ? मदन को दीप्त करने वाली जान पड़ती है।' यहाँ द्रव आदि सोलह पद पुनरुक्त हैं। प्रयुक्त पदों में से ही मदिरा और अक्षि—शब्दों के सम्बोधन द्वारा कथन से (मदिराक्षि) उनके अर्थ समझ में आ जाते हैं। जैसा कि भरत ने कहा है।—'जब नशा चढ़ा हुआ हो, उस समय विकसित पलकों वाली उस दृष्टि को—मदिरा कहते है जिसमें पुतली घूम रही हो, ठीक से दिखाई न पड़ रहा हो, और कनीनिका—अञ्चितनामक एक प्रकार की मुद्रा में हो।' इन व्यर्थ पदों का क्रम से यथासम्भव एक दो आदि करके प्रयोग होने पर लोष्टसंचारक्रम से बहुत से पुनरुक्त भेद चले आते हैं जिनके प्रयोग होने पर या प्रयोग न होने पर अर्थ का ज्ञान समान ही हो वे शब्द शल्यभूत होते हैं। उन्हें केवल शाब्दिक लोग अपनाते हैं। कवियों को चाहिये कि वे प्रस्तुत रस की अभिव्यक्ति में विघ्न-बाधा करने वाले इन शब्दों को न अपनाएँ। अथवा—और कितना कहा जाय, जहाँ क्रिया और कारक की प्रतीति भी औचित्य द्वारा हो जाती है—वहाँ और की कथा ही क्या ?

क्रिया की प्रतीति जैसेः—'आपको न अग्नि, न वायु, न मदमत्त हाथी, न फरसा, न—इन्द्र के हाथ से छूटा वज्र (खण्डित करे)। हे वृक्ष लता के साथ तुम्हारा कल्याण हो।'

कारक की प्रतीति जैसेः—हें रास्ते के वृक्ष ? (आपको कोई) न जलाए, न उखाड़े, न तोड़े, रास्तागीरों के पुण्य से आप—लता के साथ सकुशल रहें।

सप्तानामिति **शीधुमदविवशेत्येव वाच्यम्।**

मदिराद्रवेति। **अत्र समाभातीत्येकं पदं गणितम् उपसर्गाणां द्योत्यपारतन्त्र्येण पृथक्पदार्हत्वाभावात्।**

एकादिप्रयोगे सतीति **एकस्य प्रयोगाभ्युपगमेऽन्येषामेव तत्त्वम्। तत्राप्येकत्वमनियतम्। एवं द्वयोस्त्रयाणामित्यादियोजना कार्या, तत्राप्यनियतत्वेन प्रकारबहुलत्वात्।**

सप्तानाम्—शीधुमदविवशा—इतना ही कहा जाना चाहिये।

मदिराद्रव—यहाँ समाभाति यह एक ही पद गिनना चाहिये। क्योंकि उपसर्ग पृथक् पद नहीं होते। वे द्योत्य अर्थ के पीछे चलते हैं।

पदाश्रित—पद के प्रयोग में अन्य समता (पुनरुक्तत्व)। इतने पर भी एकत्व नियत नहीं है। श्रोत्र आदि को भी लिया जा सकता है। उनमें भी अनियतता होने से बहुत से भेद हो सकते हैं।

वाक्यार्थविषयं पौनरुक्त्यं यथा—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥' इति।

अत्र हि अविवेकप्रयुक्तमविमृश्यकारित्वलक्षणं सहसाकार्यकारित्वं नामापदामविकलं कारणमिति तेषां कार्यकारणभावमन्वयवाक्येन प्रतिपाद्य पुनः कारणाभावरूपं विमृश्यकारित्वमनूद्य तत्कार्यभूतविपदभावरूपाणां सम्पदां सद्भावो भणित इति व्यतिरेकवाक्येनापि तेषां कार्यकारणभाव एवाभिहित इति तस्य पुनरुक्तता, अन्वयवाक्यादेव तदवगतेः। यदुक्तम्—'साधर्म्येणापि प्रयोगे अर्थाद् वैधर्म्येणान्वयगतिः असति तस्मिन् साम्याभावे हेत्वाभावस्यासिद्धेरिति नावश्यं वाच्यद्वयप्रयोग' इति।

किञ्चान्वयव्यतिरेकवाच्ययोरन्योन्यस्य न हेतुहेतुमद्भावः सम्भवति। न हि यस्मिन् सति यस्यावगतिस्तस्य प्रत्युत स एव हेतुरिति युज्यते वक्तुं हेतुहेतुमद्भावविपर्यासप्रसङ्गाद् इति व्यतिरेकवाक्ये तदभिव्यक्त्यर्थो हि-शब्दोऽप्यपार्थक एवेति। कुतस्तर्हि द्वितीयेऽर्धेऽर्थस्य चारुतावगतिः? उच्यते। लिङ्गविशेषाद् धर्मविशेषाच्च सम्पदां नायिकात्वेऽवसिते सति समासोक्तिरित्येतद् वक्ष्यते।

यथा च—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥' इति।

अत्र हि धर्माधर्मयोश्छायातपयोरिव अन्योन्यपरिहारेणावस्थितयोर्यदैवैकस्य ग्लानिस्तदैवेतरस्याभ्युत्थानमिति तयोरेकस्मिन् वाच्ये यदुभयोर्वचनं तत् पुनरुक्तमिति।

वाक्यार्थविषयक पुनरुक्त—जैसे—

'काम सहसा न करे। नासमझी बड़ी-बड़ी मुसीबतों की जड़ है। समझ कर काम करने वाले को गुण पर लुभाई दौलत स्वयं स्वीकारती है।'—यहाँ—आपत्ति का ठोस कारण है सहसाकारित्व, वह है—अविमृश्यकारिता—(बिना समझे करना) स्वरूप, वह उत्पन्न होती है अविवेक से।—इसप्रकार इनका कार्यकारणभाव अन्वय वाक्य द्वारा बतला दिया। इतने पर भी कारण (अविमृश्यकारिता) के अभावरूप विमृश्यकारिता को कहकर उससे उत्पन्न होने वाली विपत्ति के अभावरूप संपत्ति का सद्भाव बतला दिया गया। इस प्रकार उनका कार्यकारणभाव—व्यतिरेकवाक्य से ही बतलाया गया। अतः वह पुनरुक्त हुआ। उसकी प्रतीति अन्वय वाक्य से ही हो जाती है। जैसा कि कहा भी ही है—शब्द से साधर्म्य द्वारा भी कथन हो तो अर्थ द्वारा

वैधर्म्य से भी अन्वय बोध (कथन) हो सकता है; कारण कि उसके न रहने पर साम्य का अभाव हो जाता है और उससे हेतु का अभाव असिद्ध। इसलिये दो अर्थों का प्रयोग नियमतः नहीं किया जाना चाहिये।'

और जो दो अर्थ अन्वय और व्यतिरेक द्वारा कहे जाते हैं।' उनमें परस्पर हेतुहेतुमद्भाव नहीं बनता। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि, जिसके रहने पर जिसका ज्ञान होता है—उलटे वही उसका हेतु है। ऐसा करने पर हेतुहेतुमद्भाव ही उलट जायगा। इसलिये व्यतिरेक वाक्य में उस (हेतुत्व) का अभिव्यञ्जक—'हि' शब्द भी निरर्थक ही है। (प्रश्न)—तो फिर उत्तरार्ध में अर्थगत चारुता कैसे प्रतीति होती है। (उत्तर) इसपर हमारा उत्तर है कि—'समासोक्ति से। लिङ्गविशेष और धर्मविशेष के कारण संपत्तियों में नायिकात्व की प्रतीति हो जाती है।

और जैसे :—'धर्म का ह्रास जब-जब होता है और अधर्म का अभ्युत्थान, तब मैं अपने आप को उत्पन्न करता हूँ।' यहाँ धर्म और अधर्म छाया है और आतप के समान एक दूसरे के साथ सहानवस्थान विरोध द्वारा मिले दिखाई देते हैं। इसलिए दो में से किसी एक की हानि होने पर दूसरे का उत्थान निश्चित ही है। अतः एक ही को कहना था। दोनों का कथन पुनरुक्त है।

अविवेकप्रयुक्तमिति। **यद्यप्यविमृश्यकारित्वस्यैवापत्कारणत्वं, तथाप्यविवेकस्याविमृश्यकारित्वप्रयोजकत्वात् तस्य कारणत्वेऽप्यविमृश्यकारित्वमेव कारणमुक्तं भवति।**

न हीति **यस्मिन् सति 'वह्नौ धूम' इत्यादिके प्रतिबन्धकाभावेन्यन्वये सति विशेषस्य यस्य 'असति वह्नौ न धूम' इत्यादिव्यतिरेकस्य गतिः प्रतीतिः, तस्यान्वयस्य स एव व्यतिरेको हेतुर्न युक्तः व्यवस्थितस्य हेतुहेतुमद्भावस्य वैपरीत्यप्रसङ्गात्। अन्वयप्रतीतिहेतुको हि व्यतिरेकप्रतीत्युपक्रमो न तु विपर्ययः।** विशेषाद्येति **गुणलुब्धा इति साधारणत्वादित्यर्थः।**

अविवेकप्र०—यद्यपि अविमृश्यकारिता ही आपत्ति का कारण है, तो भी अविमृश्यकारिता उत्पन्न होती हैं अविवेक से, इसलिए कारण होना चाहिए अविवेक ही, परन्तु कही जाएगी कारणता अविमृश्यकारिता की।

नहि = 'वह्नौ धूमः' इत्यादि प्रतिबन्धकभाव से युक्त अन्वय बोध हो जाने पर विशेषरूप वह्नि के अभाव में धूम का अभाव। ऐसी व्यतिरेक प्रतीति होती है—तो उस अन्वय के प्रति उसी व्यतिरेक को हेतु—मानना ठीक नहीं। क्योंकि इससे व्यस्थित हेतुहेतुमद्भाव उच्छिन्न होता है। व्यवस्था यही मान्य है कि व्यतिरेक की प्रतीति के प्रति अन्वय प्रतीति कारण है। उल्टी—नहीं।

धर्मविशेषाच्च—गुणतुल्यत्वरूपी साधारणधर्म।

विमर्श : मूल में 'साधर्म्येणापि प्रयोगे अर्थात् वैधर्म्येणान्वयगतिः' असति तस्मिन् साम्याभावे हेत्वभावस्यासिद्धेः'—पंक्ति का 'असति' से असिद्धेः तक का अंश स्पष्ट नहीं होता। इसका उदाहरण कौन सा माना जाय? तस्मिन् के तत् पद का अर्थ—वैधर्म्य किया जाय या साधर्म्य? साधर्म्य और साम्य में अन्तर माना जाय या ऐक्य? इतने पर भी—'हेत्वभाव नहीं बनता' की अर्थ—संगति कैसे लगाई जाय? टीकाकारों ने इस पंक्ति का स्पर्श भी नहीं किया। इतना तो स्पष्ट है कि इस पंक्ति के दो अंश हैं 'एक—अन्वयांश और दूसरा व्यतिरेकांश—'साधर्म्येणापि प्रयोगे अर्थात् वैधर्म्येणान्वयगतिः' यह साधर्म्य और वैधर्म्य—की प्रतीतियों का अन्वय हुआ। 'असति तस्मिन् साम्याभावे'—से उनका व्यतिरेक बतलाया गया। वैधर्म्य न होने पर साधर्म्य नहीं

बनता । अभेद ही नहीं होता है । इस तरह पद से वैधर्म्य का परामर्श मान लेते हैं और साम्य को मानने से अभिन्न । परन्तु [illegible] का सम्बन्ध मिलाना रह जाता है।

सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य यथाऽऽर्थी पुनरुक्तता ।
तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विरुक्तिः शाब्द्यपीष्यते ॥ ४६ ॥
पौनरुक्त्यमिति द्वेधा गौणमुख्यतया स्थितम् ।
तत्र दूषणमेवाद्यमपरं भूषणं स्मृतम् ॥ ४७ ॥
शब्दालङ्कारनिपुणैर्लाटानुप्राससंज्ञया ।
तच्चोदाहृतमेव प्राग् दूषणं तु वितन्यते ॥ ४८ ॥

सामर्थ्यसिद्धस्य— अपने आप समझ में आ जाने वाले अर्थ को (शब्द से) कहने में जैसे आर्थी पुनरुक्ति मानी जाती है वैसे ही तात्पर्य के भेद से (पुनः कथित) शब्द में भी शाब्दी पुनरुक्ति मानी जाती है। इस प्रकार गौण और मुख्य रूप से पुनरुक्ति दो प्रकार की होती है। दोनों में से प्रथम (आर्थी) पुनरुक्ति दोष है और दूसरी (शाब्दी) पुनरुक्ति अलङ्कार। उसे (द्वितीय शाब्दी पुनरुक्ति को) शब्दालङ्कार के पंडितों ने लाटानुप्रास नाम दिया है जिसका उदाहरण ([illegible]) पहले (पौनरुक्त्य प्रकरण के एकदम आरम्भ में ही) दिया जा चुका है। यहाँ केवल दोष का निरूपण किया जा रहा है ॥ ४६-४८ ॥

सामर्थ्येति। द्विविधं पौनरुक्त्यमर्थगतं शब्दगतं चेति। तत्रार्थसामर्थ्यसिद्धत्वेऽर्थगतं गौणम् आमुखे पौनरुक्त्यानवभासात्। शब्दगतमामुखावभासमानत्वाद् मुख्यम् ॥४६-४८॥

सामर्थ्ये— पौनरुक्त्य दो प्रकार का होता है अर्थगत और शब्दगत। दोनों में जो अर्थ की शक्ति से होता है वह अर्थगत होता है। वह गौण होता है कारण कि उससे आरम्भ में पुनरुक्ति भासित नहीं होती। शब्दगत पौनरुक्त्य आरम्भ में ही प्रतीत हो जाता है अतः प्रधान होता है ॥४६-४८॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थोऽस्य पदवाक्यार्थ एव च ।
विषयो बहुधा ज्ञेयः स क्रमेणोपदर्श्यते ॥ ४९ ॥

प्रकृत्यर्थ, प्रत्ययार्थ, पदार्थ, वाक्यार्थ आदि भेद से इस (दोष रूप पुनरुक्त) का विषय अनेक प्रकार का होता है। उसे क्रम से बतलाते हैं।

प्रकृतिप्रत्ययार्थस्येति प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थः प्रकृतिप्रत्ययसमुदायार्थ इति व्यस्तसमस्तत्वेन योज्यम्। एवं प्रकृतेः प्रत्ययस्य चेत्यत्रापि वाच्यम्। अन्यथा प्राङ्निर्दिष्टस्य पञ्चविधस्य पौनरुक्त्यस्यासङ्ग्रहः स्यात् ॥ ४९-५० ॥

प्रकृति का अर्थ, प्रत्यय का अर्थ, दोनों के समुदाय का अर्थ, इस प्रकार अलग अलग और मिलाकर योजना करनी चाहिए। इसी प्रकार (अगली कारिका-५० में भी) 'प्रकृतेः प्रत्ययस्य च' इस अंश का अर्थ समझना चाहिए, नहीं तो पहले बतलाये पाँच प्रकार के पौनरुक्त्य का संग्रह नहीं हो पाएगा ॥ ४९ ॥

अभिन्न एव यत्रार्थः प्रकृतेः प्रत्ययस्य च ।
तत् पौनरुक्त्योपहतं पदमादौ विवर्जयेत् ॥ ५० ॥

जहाँ प्रकृति और प्रत्यय दोनों का अर्थ एक ही उस पद में पुनरुक्ति होती है। उसे सबसे पहले हटा देना चाहिए ॥ ५० ॥

विशेषणवशात् 'पिनाकपाणि' आदि विशेषण के माहात्म्य से, विशिष्ट उत्कर्ष अपकर्ष से युक्त हर आदि संज्ञा जहाँ कहना अभीष्ट हो वहाँ पुनरुक्ति नहीं होती, वैसा न होने पर पुनरुक्ति होती है, जैसे 'पायात् स शीतकिरणाभरणो भवो वः'—में (भव पुनरुक्त है)।

सकृदेव प्रयुक्तेन यत्र साम्याभिधायिना।
अन्येषामुपमानत्वं सामर्थ्यादवगम्यते ॥ ५४ ॥
तत्रासकृत् प्रयोगोऽस्य पौनरुक्त्याय कल्पते।

सकृदेव—साम्य का अभिधान करने वाला इव आदि शब्द 'निर्याय विद्याथ'—आदि स्थलों में (असकृत् प्रयुक्त होने पर पुनरुक्त होता है।

यद्वदव्यभिचारस्य कारकस्याविशेषणा ॥ ५५ ॥
अर्थस्यानुमितस्योक्तिर्नात्येति पुनरुक्तताम्।
यद्वशाद् यदभिव्यक्तिस्तदुक्तौ नाददीत तत् ॥ ५६ ॥

जिस प्रकार नित्यसंबद्धकारक का विशेषण के बिना शब्दतः कथन पुनरुक्ति-जनक होता है (वैसे ही) उस अर्थ का कथन भी जिसकी प्रतीति अनुमिति द्वारा हो चुकी हो।

यदि किसी एक पदार्थ से (उसकी अपनी प्रतीति के साथ साथ उससे संबन्धित) किसी अन्य पदार्थ की प्रतीति भी होती हो तो उस (अन्य पदार्थ की प्रतीति कराने में समर्थ अर्थ) का शब्दतः कथन हो जाने पर (अपने आप प्रतीत हो सकने वाले) अन्य (पदार्थ) का कथन (शब्दतः) नहीं करना चाहिए।

सकृदेवेति साम्याभिधायी इवशब्दादिः, 'निर्याय विद्ये'त्यादौ ॥ ५४ ॥

यद्वदिति दृष्टान्तमुखेन 'जनैरजातस्खलनैरि'त्यादि सङ्गृहीतम् ॥ ५५ ॥

अर्थस्येति 'राहुस्त्रीस्तनयोरि'त्यादौ। यद्वशादिति यत्र कारकविशेषवशात् क्रियायाः प्रतीतिः क्रियाविशेषवशाद् वा कारकस्य तत्र क्रियाकारकयोः प्रयोगो न कार्य इत्ययमर्थः। यथा 'मा भवन्तमि'त्यादौ ॥ ५६ ॥

यद्वद्—इस प्रकार दृष्टान्त द्वारा 'जनैरजातस्खलनैः० आदि को लिया।

अर्थस्य—'राहुस्त्रीस्तनयोः'—आदि में।

यद्वशात् जहाँ किसी कारक द्वारा क्रिया की या क्रियाद्वारा कारक की प्रतीति हो जाती हो वहाँ या तो कारक का ही या क्रिया का ही प्रयोग करना चाहिए, दोनों का नहीं। यथा—'मा भवन्तमनलः—में।

विमर्श: चौखंबा के पिछले (व्य० वि०) संस्करण में 'यद्वशादिति'—की जगह 'अथवा' छपा है। अर्थौचित्य के बल पर हमने उसे बदल दिया है।

यो यद्धर्मोपचारेण यत्सम्बन्धान्वितोऽपि वा।
तस्य तद्रूपणार्थीष्टा न शाब्दी पौनरुक्त्यतः ॥ ५७ ॥

जो (अर्थ) किसी असाधारण धर्म के औपचारिक (लाक्षणिक) आरोप से (उसी धर्म से युक्त) जिस किसी 'अर्थ से संबन्धित हो रहा हो (उस अर्थ का आरोप) अर्थ द्वारा ही होना चाहिए, शब्द द्वारा नहीं क्योंकि उससे पुनरुक्ति होती है ॥ ५७ ॥

यो यद्धर्मेति 'अपरदिग्गणिके'त्यादौ यो दिग्लक्षणोऽर्थो यद्धर्मस्य गणिकाधर्मस्य निष्कासनादेरुपचारेणोपलक्षितः, तथा 'अम्बुनिधेर्मन्थे' इत्यादौ यस्य कामुकस्य सम्बद्धं यद् हृदयादि तेनान्वितोऽम्बुनिधिलक्षणो यश्चार्थः, तस्य तद्रूपणा गणिकाकामुकरूपणा शाब्दी नेष्यते आर्थी पुनरिष्यत एव ॥ ५७ ॥

यो यद्धर्मेति (अनुरागवन्तमपि लोचनयोः = पद्य के) 'अपरदिग्गणिका' इत्यादि में जो दिशारूपी पदार्थ उसमें गणिका के असाधारण धर्म निष्कासन (घर से निकाल देना) आदि का औपचारिक प्रयोग हैं इसी प्रकार 'अम्बुनिधेर्मन्थे' में कामुक से संबन्धित हृदय आदि का, अतः उन (दिशा और अम्बुनिधि) पर गणिका और कामुक का शब्दतः आरोप उचित नहीं, जहाँ तक आर्थ आरोप का संबन्ध हैं वह तो मान्य ही है।

विमर्श : 'आभोगिनेत्र'० इत्यादि पद्य में अम्बुनिधिपर कामुक का आरोप शब्दतः नहीं है। 'अपरदिग्गणिका' में अवश्य है।

प्रयुक्तान्तर्गतैरेव यत्र सोऽर्थः प्रतीयते।
प्रयोगस्तत्र शेषाणां पदानां पौनरुक्त्यकृत् ॥ ५८ ॥

जहाँ प्रयुक्त पदों में से ही किसी पद से किसी अर्थ की प्रतीति हो रही हो वहाँ उससे भिन्न अन्य पदों का प्रयोग पुनरुक्तिजनक होता है।

प्रयुक्तान्तर्गतैरेवेति 'मदिराद्रवे'त्यादौ ॥ ५८ ॥

प्रयुक्तान्तर्गत = 'मदिराद्रव'० इत्यादि पद्यों में।

कर्त्तर्यङ्गिनि रूढायां तत्क्रियायां च नेष्यते।
वाक् साधकतमाङ्गानामौचित्यादेव तद्गतेः ॥ ५९ ॥

प्रधानकर्ता और उसकी निरूढक्रिया में साधकतम अङ्गों का कथन (वाक्) मान्य नहीं। उसकी प्रतीति स्वतः औचित्य द्वारा हो जाती है ॥ ५९ ॥

कर्तरि इति प्रधानभूते राजादौ कर्तरि तत्क्रियायां च खड्गेन छेदक्रियायां रूढायां साधकतमस्य खड्गस्य बहूनि तदपेक्षयाङ्गानि धाराविनिपातादीनि तेषां वाग् वचनं नेष्यते यथा 'करकलिते'त्यादौ। एतदुक्तं भवति। राजादौ कर्त्तरि च्छेदादिक्रियायां यत् साधकतमं खड्गाद्यङ्गं तस्याप्यङ्गानां धाराविनिपातादीनां वचनं नेष्यते तेनैवाङ्गेन प्रधानभूतेनावान्तराङ्गानामाक्षेपात् ॥ ५९ ॥

कर्त्तरि—प्रधानभूत राजा आदि कर्ता में और उसकी क्रिया में अर्थात् 'खड्ग' से की जाने वाली छेदन-क्रिया में, साधकतम = खड्ग के बहुत से अंग = धारानिपात आदि का कथन मान्य नहीं। जैसे—'करकलित' इत्यादि पद्य में। अभिप्राय यह कि राजा आदि कर्त्ता हो और छेदन आदि क्रिया तो उसका साधकतम प्रधान अङ्ग खड्ग ही होता है उस (खड्ग) के धारानिपात आदि अङ्गों का कथन नहीं होना चाहिए। उसी प्रधानभूत अङ्ग से उसके अपने अङ्गों की प्रतीति हो जाती है ॥५९॥

दोषद्वयमिदं प्रायः समासविषयं मतम्।
यतोऽवकरभूयिष्ठा लक्षणैकपरायणैः ॥ ६० ॥
कृताः प्रतीतिविमुखैर्दृश्यन्तेऽनेकधा हि ते।
समासमत एवाहुः कवीनां निकषं परम् ॥ ६१ ॥

यो यस्येति—जो निष्यन्दन आदि जिस चन्द्रिका आदि धर्मों का नित्यसम्बद्ध (अलग न होने वाला) धर्म है, उनका समास अच्छा नहीं, जैसे 'वधूलोचन' आदि में।

क्रियाप्रतीतिः करणप्रत्ययाव्यभिचारिणी ।
तदप्रतीतौ तादात्म्यात् सैवानवसिता भवेत् ॥ ६५ ॥
यदेतत् त्यागपाकादौ क्रियेत्युक्तेर्निबन्धनम् ।
तद्व्यक्तिर्यद्वशाद्यस्य तदुक्तौ नाददीत तत् ॥ ६६ ॥

क्रिया का ज्ञान करण के ज्ञान से अलग नहीं रहता, क्योंकि उस (करण) का ज्ञान न होने से उस (क्रिया) का ही ज्ञान नहीं होता, दोनों में तादात्म्य जो रहता है ॥ ६५ ॥

और क्योंकि 'त्याग-पाक' आदि को क्रिया शब्द इसी (करण व्यापार) के आधार पर कहा जाता है अतः किसी शब्द से किसी का करण आदि कथित हो रहा हो तो उस (शोक आदि) के कह देने पर पुनः उस (करण आदि) को (शब्दतः) नहीं कहना चाहिए ॥ ६६ ॥

क्रियेति **क्रियायाः शोकादिलक्षणायाः प्रतीतिः करणक्रियाप्रतीतिं न व्यभिचरति करणमेव यतः क्रिया,** तदप्रतीतौ **करणाप्रतीतौ** सैव **शोकादिलक्षणा क्रिया न निश्चिता स्याद् एकत्वात् ।**

त्यागक्रियेत्य**त्रैतदेव क्रियाशब्दप्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तम् ॥ ६५ ॥**

तत् **तस्मात्** यद्वशात् **शोकादिशब्दप्रयोगवशाद्** यस्य **करणस्य** व्यक्तिः **प्रकाशस्तदुक्तौ शोकादिशब्दप्रयोगे** तत् **करणादिपदं न प्रयुञ्जीतेत्यर्थः, यथा 'शोकक्रियाकरणस्ये'त्यादौ ॥**

क्रियेति—शोकादि क्रिया की प्रतीति करण (करना) क्रिया की प्रतीति से पृथक् नहीं रहती क्योंकि जो करण है वही क्रिया है।

तदप्रतीतौ—करण की प्रतीति न होने पर वही 'शोक' आदिरूप क्रिया अभिन्न होने के कारण निश्चितरूप से प्रतीत नहीं होती।

त्यागक्रियेति—त्यागादि क्रियाओं में यह (करण) ही प्रवृत्तिनिमित्त है जिससे त्यागादि शब्दों को क्रियाशब्द कहा जाता है।

तत् तस्मात् यत् = इसलिए, यद्वशात् = शोकादि शब्दों के आधार पर, यस्य = जिस करण की व्यक्तिः = प्रकाश, तदुक्तौ = उस शोकादि शब्द का कथन हो जानेपर, तत् = वह करण आदि शब्द प्रयोग में न लाए जाएँ। जैसे—कि 'शोकक्रिया करणस्य' इत्यादि में लाए गए हैं।

प्रयुक्ते चाप्रयुक्ते च यस्मिन्नर्थगतिः समा ।
न तत् पदमुपादेयं कविनाऽवकरो हि सः ॥ ६७ ॥

जिसका प्रयोग भी न हो परन्तु अर्थ का ज्ञान एकसा रहे उस पद का प्रयोग कवि न करे, वह फिजूल होता है ॥ ६७ ॥

प्रयुक्ते **चेति प्रकृत्यादिपुनरुक्तानां चतुर्णामुपसंहारः ॥ ६७ ॥**

प्रयुक्ते चेति = इस कारिका द्वारा प्रकृत्यादि चार पुनरुक्तों का उपसंहार किया।

अन्योन्याक्षेपकत्वे सत्यन्वयव्यतिरेकयोः ।
उभयोरुक्तिरेकस्य नात्येति पुनरुक्तताम् ॥ ६८ ॥

अन्वय और व्यतिरेक दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, अतः दोनों का साथ-साथ कथन होने पर कोई एक अवश्य ही पुनरुक्त होता है।

अन्योन्येति वाक्यपौनरुक्त्यसङ्ग्रहः।

उभयोरुक्तिरेकस्य। **उभयमध्यात् कस्यचित्। पौनरुक्त्यं नातिक्रामति। यथा 'सहसा विदधीते'त्यादौ ॥ ६८ ॥**

अन्योन्येति इसके द्वारा वाक्यपौनरुक्त्य भी संगृहीत कर लिया गया।

उभयोरुक्ति–दोनों में से किसी एक की पुनरुक्ति टाल नहीं पाता। जैसे—'सहसा विदधीत' इत्यादि पद्य में।

पुनरुक्तिप्रकाराणामिति दिङ्मात्रमीरितम्।
विवेक्तुं को हि कात्स्न्र्येन शक्नोत्यवकरोत्करम् ॥ ६९ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

इस प्रकार हमने पुनरुक्तिदोष के कुछ भेदों का संक्षिप्त निर्देश किया, भला बेकाम की चीजों को पूरी तौर से कौन गिन सकता है ॥ ६९ ॥

(५) वाच्यावचन

एवं पौनरुक्त्यं सप्रपञ्चं विचार्य वाच्यावचनं प्रपञ्चयितुमाह वाच्यस्यावचनं यथेति।

एवं पौनरुक्तम् = इसप्रकार विस्तारपूर्वक पुनरुक्तिदोष का विचार किया अब वाच्यावचन दोष का प्रपञ्च उपस्थित करने के लिए कहते हैं—'वाच्यस्यावचनम्' आदि।

वाच्यस्यावचनं यथा—

'कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी।' इति।

अत्र हि भ्रान्तौ निवृत्तायां तद्विषयभूतयोः सुरधनुर्धारासारयोरिव विद्युतोऽपि इदमा परामर्शो वाच्ये यत् तस्यावचनं स वाच्यावचनंदोषः। यथा च–

'कमलमनम्भसि कमले कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥'

अत्र हि द्वितीयः कमलार्थः सर्वनामवाच्यः। तस्य यत् स्वशब्देन वचनं स वाच्यावचनं दोषः। तेनात्र 'तस्मिंश्च कुवलये' इति युक्तः पाठः।

सर्वनामपरामर्शविषये योऽर्थवस्तुनि।
स्वशब्दवाच्यतादोषः स वाच्यावचनाभिधः ॥ ७० ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

वाच्य का अवचन (जिसे अवश्य कहना चाहिए उसका न कहा जाना) जैसे—'कनकनिकष- (कसौटी पर पड़ी सुवर्ण लेखा) के समान सुहावनी बिजली है, मेरी प्रिया उर्वशी नहीं।' यह।

यहाँ भ्रान्ति दूर होने पर उसका विषय बने धनुष और धारासार के समान बिजली का निर्देश भी 'इदं = यह' 'बिजली है यह,' इस प्रकार शब्द से होना चाहिए था, उसको उस रूपसे नहीं कहना वाच्यावचन दोष हुआ।

और जैसे—

स्थल पर कमल, कमल पर कुवलयों की जोड़ी, वे सब कनकलता में, वह भी सुकुमार सलोनी, यह उपद्रवों का ताँता कैसा ? यहाँ दूसरा कमलशब्द सर्वनाम द्वारा कहा जाना चाहिए। उसका अपने वाचक शब्द द्वारा कहा जाना—वाच्यावचन दोष हुआ इसलिए यहाँ 'तस्मिंश्च कुवलये' पाठ चाहिए।

'किसी भी सर्वनाम परामर्श योग्य अर्थ का अपने वाचक शब्द से कहने में जो दोष होता है वही वाच्यावचन है।'

असमासेन निर्देशो वक्ष्यमाणमेतत्समानन्यायमवाच्यस्य वचनमपि कटाक्षयितुम्।

इदमा परामर्श **इति अबाधितप्रत्यक्षनिमित्तत्वाद् भ्रान्तिनिवृत्तेः प्रत्यक्षस्य च विषयमुखेन परामर्शार्हत्वात्।** तस्य यत् स्वशब्देन वचनमि**ति पूर्वं सत्येव सर्वनाम्नि पुनः स्वशब्देन प्रतिपादनम्**—

'सर्वनामपरामर्शयोग्यस्यार्थस्य यत् पुनः।
स्वशब्देनाभिधानं सा शब्दस्य पुनरुक्तता॥' इति।

पुनरुक्तमुक्तम्। इदानीं तु सर्वनामस्थानीयत्वेन स्वशब्देन वचनं वाच्यावचनमुच्यते।

'वाच्यस्य अवचनम्' इस प्रकार समास तोड़कर कहने का अभिप्राय अवाच्यवचनरूप एक ऐसे ही दोष को भी बतलाना है।

इदमापरामर्श = भ्रान्ति दूर होती है उस प्रत्यक्ष से जो बाधित नहीं होता। और जो प्रत्यक्ष होता है उसका विषय द्वारा निर्देश किया जाना चाहिये। 'तस्य यत् शब्देन वचनम्'—इस प्रकार पहले सर्वनाम के रहते हुए पुनः वाचक शब्द का प्रयोग पुनरुक्त दोष बतलाया गया था—'सर्वनामपरामर्शयोग्यस्यार्थस्य....' इत्यादि द्वारा। यहाँ जो कहा जा रहा है, उसमें ऐसे शब्द के कथन में दोष का प्रतिपादन है जो सर्वनाम के स्थान पर प्रयुक्त होता है (सर्वनाम नहीं रहता, केवल उसके लिये स्ववाचक रहता है। पुनरुक्त सर्वनाम भी रहता है और स्ववाचक भी)।

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिन' इति। अत्र हि कपालिशब्दो धर्मिधर्मोभयार्थवृत्तिः संज्ञिमात्रं वा प्रत्याययेत्, कपालसम्बन्धकृतं वा गर्हितत्वम्, उभयमपि वेति त्रयः पक्षाः। तत्र प्रथमे पक्षे विशेषप्रतिपत्तये कपालिग्रहणमपरमपि कर्तव्यं येनास्य गर्हितत्वं प्रतीयेत। द्वितीये पक्षे तस्याश्रयप्रतिपत्तये तेनैव तत्पर्यायेण सर्वनाम्ना वा विशेष्यमवश्यमुपादेयं भवति येन तस्य विवक्षितार्थसिद्धावार्थो हेतुभावोऽवकल्प्येत। तत्र तेनैवोपादाने यथा—

'सततमनङ्गोऽनङ्गो न वेत्ति परदेहदाहदुःखमहो।
यदयमदयं दहति मामनलशरो ध्रुवमसौ न कुसुमशरः॥' इति।

पर्यायेणोपादाने यथा—

'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये।' इति।

अत्र हरस्येति पर्यायशब्देनोपात्तस्यार्थस्य पिनाकपाणित्वं धैर्यच्युतेरशक्यकरणीयतायामार्थो हेतुः अन्यथा हरग्रहणस्य पौनरुक्त्यं स्यादिति।

यथा च—

'एकः शङ्कामहिकुलरिपोरत्यजद्वैनतेयादि'ति।

सर्वनाम्ना यथा—

'दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ॥' इति।

अत्रापि सर्वनाम्नोपात्तस्यार्थस्य वामलोचनात्वं मनसिजदाहजीवनयोरन्योन्यविभिन्नयोरप्यभिन्नहेतुकत्वोपपत्तावार्थो हेतुः इतरथा वामलोचनात्वस्य पुनरुपादानप्रसङ्गः।

अत एव तृतीयः पक्षो न सम्भवत्येव एकस्यैव शब्दस्यावृत्तिमन्तरेणानेकार्थप्रतिपादनसामर्थ्याभावात्। न चासावनिबन्धना शक्या कल्पयितुमिति वक्ष्यते। न चात्र किञ्चिन्निबन्धनमुक्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः। तेन वरमयमत्र पाठः श्रेयान् अल्पदोषत्वात् 'द्वयं गतं सम्प्रति तस्य शोच्यतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।' इति।

अर्थभेदाद्द्विभिन्नेऽपि शब्दे सादृश्यमात्रजः।
आवृत्तिव्यवहारोऽयं मूलमस्यैकताभ्रमः ॥ ७१ ॥

अतश्च—

तत्पर्यायेण तेनैव सर्वनाम्ना विनिर्दिशेत्।
आर्थहेतुत्वनिष्पत्तौ धर्मिधर्मोभयात्मकम् ॥ ७२ ॥

इत्यन्तरश्लोकौ।

'द्वयं गतम्'—इत्यादि पद्य में कपाली शब्द धर्मी और धर्म दोनों अर्थ का वाचक है, यहाँ वह (१) या तो केवल धर्मी का बोध करा सकता है या (२) कपाल सम्बन्ध से उत्पन्न गर्हितता रूपी धर्म का (३) अथवा दोनों का—ये तीन पक्ष संभव हैं।

इनमें से प्रथम पक्ष में (संज्ञीमात्र का बोध मानने पर) विशेष (कपालवत्त्व) का ज्ञान कराने के लिये एक दूसरे कपाली शब्द का प्रयोग आवश्यक होगा। जिससे इनका गर्हितत्व प्रतीत हो सके। द्वितीय पक्ष में—उस (धर्म) के आश्रय का बोध कराने के लिये उसी (धर्मिवाचक शब्द) के अथवा पर्यायवाची शब्द और सर्वनाम में से किसी के द्वारा विशेष्य का उपादान अवश्यमेव करना होगा जिससे विवक्षित अर्थ का ज्ञान होने पर उसका आर्थ हेतुत्व सिद्ध हो सके। इन तीनोंमें से उस (धर्मि-वाचक शब्द)—के द्वारा उपादान होने पर यथा।—

'अनङ्ग सर्वदा अनङ्ग ही है, दूसरे के देह-दाह का दुःख नहीं जानता, यह मुझे निर्दय होकर जला रहा है, इसलिए यह कुसुमशर नहीं अनलशर है (आग के बाण वाला) है।' पर्याय द्वारा उपादान करने पर—'पिनाकपाणि हर का भी धीरज छुड़ा सकता हूँ'— यहाँ 'हर' इस पर्याय शब्द द्वारा जिस अर्थका उपादान किया गया उसकी पिनाकपाणिता = धैर्यच्युति की अशक्यता में आर्थ हेतु है। नहीं तो हर का उपादान पुनरुक्त हो जाय। और जैसे :—'एक का सर्पकुल के शत्रु गरुड से भय छूट गया' (रघुवंश-१७)—यहाँ (गरुड)। सर्वनाम द्वारा जैसे—'आँख से

जले काम को जो आँखों द्वारा ही जिला देते हैं हम उन त्रिनेत्र (शंकर) को जीतने वाली सुन्दर आँखों वाली स्त्रियों की तारीफ करते हैं।'

यहाँ भी सर्वनाम द्वारा कथित अर्थ का वामलोचनात्व—काम के दाह और जिलानेरूप दो विभिन्न कार्यों में एक ही की हेतुता को बतलाने वाला आर्थ हेतु है। नहीं तो वामलोचनात्व पुनरुक्त होता। इसलिये तीसरा पक्ष नहीं हो सकता, एक ही—शब्द पुनः कथन के बिना अनेक अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकता। यह हम आगे (तृतीय विमर्श में) बतलाएँगे कि बिना हेतु के यह (प्रतीति) नहीं कराई जा सकती। यहाँ (द्वयं गतं… में) कोई भी हेतु नहीं बतलाया गया, इसलिये वाच्यावचन दोष है। इसलिये यह पाठ अधिक अच्छा होगा—'द्वयं गतं सम्प्रति तस्य शोच्यतां समागमप्रार्थनया कपालिनः'—उस कपाली के समागम की प्रार्थना से अब दो चीजें शोचनीय हो गई हैं। इस पाठ में दोष कम हैं। यहाँ जो यह (एक ही शब्द की) आवृत्ति—बतलाई जा रही है इसका कारण आकारसाम्यमात्र से उत्पन्न एकता का भ्रम है, यद्यपि शब्द अर्थ के भेद से भिन्न हो जाता है। इसी से—'उसी के पर्याय से या—स्वयं उसीसे या फिर सर्वनाम से निर्देश करे, यदि धर्मी और धर्म दोनों के बोध के लिये—आर्थ हेतुता सिद्ध करनी हो।'

धर्मिधर्मे**ति धर्मी हरलक्षणोऽर्थः। धर्मः कपालसम्बन्धेन गर्हितत्वम्।** उभयं **धर्मिधर्मात्मकम्।** विशेषप्रतिपत्तय **इति गर्हितत्वमत्र विशेषः।** तस्येति **गर्हितत्वस्य। एवं** तस्य विवक्षितेत्य**त्र ज्ञेयम्। विवक्षितोऽर्थः शोच्यतालक्षणः।** आर्थ **इति विशेषणद्वारेण भावात्।**

वामलोचनात्वमि**ति। न चात्र वामलोचनेति विशेष्यपदम्। यतो यत्तच्छब्दद्वयोत्थापितवाक्यार्थद्वयसामर्थ्यान्नायिकालक्षणस्य विशेष्यस्य प्रतीतिः। विशेषणमेवात्र वामलोचनापदम्।**

तृतीय **इति उभयवृत्तित्वाख्यः।** न चासावि**ति आवृत्तिः।** न चैषामि**ति तेनैव तत्पर्यायेण सर्वनाम्ना चेत्येषां प्रकाराणाम्।** अल्पदोषत्वादि**ति। तस्येति व्यवहितसम्बन्धात् किञ्चिदुत्कृष्टत्वम्। तस्य समागमप्रार्थनयेति वाच्यम्।**

अर्थभेदादि**ति। अयमर्थः एकस्यासकृद्वृत्तिरावृत्तिः, यथा दरिद्राणां भोजने कांस्यपात्र्याः। तदुक्तम्—'आवृत्तिरसकृद्वृत्तिः' इति। न चार्थभेदे शब्दस्यैकत्वं न्याय्यम् अर्थभेदस्य प्रधानभूतस्य गुणभूतं शब्दं प्रति भेदकत्वात्। तस्मादत्र द्वयोः शब्दयोर्वस्तुवृत्तेन यत् सादृश्यं यश्च सादृश्यहेतुकः प्रतिपत्तॄणामेकताभ्रमः, तन्निबन्धनोऽयं मुख्य एवावृत्तिव्यवहार इति।**

अतश्चे**ति। यत आवृत्तिर्न युज्यते, तत इत्यर्थः।** धर्मिधर्मोभयात्मकमि**ति। उभयमये वस्तुनि प्रतिपित्सिते इत्यर्थः।**

धर्मि धर्म—धर्मी हरस्वरूप पदार्थ, धर्म = कपाल सम्बन्ध से प्रतीत गर्हितता, उभय—धर्मी और धर्म दोनों।

विशेषप्रतिपत्तये—यहाँ विशेष है गर्हितता।

तस्य—अर्थात् गर्हितत्व की। इसी प्रकार 'तस्य विवक्षित' इस जगह भी समझना चाहिये।

विवक्षित अर्थ—शोच्यतास्वरूप।

आर्थ—अर्थात् विशेषण द्वारा कारण होने से।

वामलोचनत्व :—यहाँ वामलोचना यह पद विशेष्यवाचक नहीं है, क्योंकि यत् और तत् दोनों शब्दों से प्रतीत दो वाक्यार्थों के सामर्थ्य से नायिकास्वरूप विशेष्य की प्रतीति होती है। अतः वामलोचना शब्द केवल विशेषण है।

तृतीय—उभयवृत्तित्व नामक।

न चासावित्ति—अर्थात् आवृत्तिः।

न चैषाम्—उसीके द्वारा, उसके पर्याय के द्वारा या सर्वनाम द्वारा—इसप्रकार इतने प्रकारों का।

अल्पदोषत्व—'तस्य' इसका सम्बन्ध व्यवहित होने से कुछ उत्कृष्टता आई। (पूरी नहीं)। कहना था 'तस्य' को 'समागमप्रार्थना' के साथ—'तस्य समागमप्रार्थनया' इसप्रकार।

अर्थभेदाद्—अर्थात्—आवृत्ति का मतलब है एक का अनेक बार प्रयोग, जैसे—'दरिद्र लोगों द्वारा भोजन कराने में काँसे की थाली का। कहा भी है—असकृद् वृत्ति आवृत्ति। अर्थ भिन्न हो जाने से शब्द को एक नहीं मानना चाहिये अर्थ का भेद प्रधान होता है। वह अप्रधानभूत शब्द के भेद का कारण बनता है। इसलिये यहाँ वस्तुतः विद्यमान दो शब्दों का जो सादृश्य और उस सादृश्य के द्वारा उत्पन्न जो ज्ञाता का एकता का भ्रम—उसके आधार पर यह आवृत्ति—व्यवहार चल पड़ा है।

अतश्च—क्योंकि आवृत्ति ठीक नहीं होती इसलिये।

धर्मिधर्मी—दोनों वस्तु प्रतिपादन के लिये अभीष्ट हैं।

यत्रान्यस्येत्यादि**ना वाच्यावचनोदाहरणप्रसङ्गेन श्लेषं गुणदोषवत्तया विततं विचारयति।**

यत्रान्यस्य—इत्यादि ग्रन्थ द्वारा वाच्यावचन दोष के उदाहरणों के ही प्रसङ्ग में श्लेष के गुण दोषों का विवेचन विस्तारपूर्वक करते हैं।

यत्रान्यस्यालङ्कारस्य विषयेऽलङ्कारान्तरनिबन्धः सोऽपि वाच्यावचनं दोषः। तत्र समासोक्तिविषये श्लेषस्योपनिबन्धो यथा—

'अलकालिकुलाकीर्णमारक्तच्छदसुन्दरम्।
आमोदिकर्णिकाकान्तं भाति तेऽब्जमिवाननम्॥'

अत्र हि अब्जसमुचितविशेषणोपादानसामर्थ्याक्षिप्तस्याब्जस्योपमानभावावगमः समासोक्तेरेव विषयो युक्तो न श्लेषस्य, तत्रैव तस्यानुमीयमानतया सचेतनचमत्कारकारित्वोपपत्तेः, श्लेषे तु तस्य वाच्यतया तद्विपरीतत्वादित्युक्तम्।

जहाँ कोई अन्य अलंकार उपयुक्त हो वहाँ अन्य किसी अलंकार का उपयोग वाच्यावचन दोष होता है। यथा—समासोक्ति के क्षेत्र में श्लेष का उपयोग। यथा—अलकालिकुल से घिरा कुछ-कुछ लाल रंग के छद (पत्र और अधर) से सुन्दर, आमोद (सुगन्ध और प्रहर्ष) से युक्त कर्णिका (कर्णफूल और बीजकोष) से अच्छा लगने वाला तुम्हारा मुख कमल के समान दिखाई देता है।'

यहाँ—कमल के योग्य विशेषणों के उपादानों से ही—आक्षिप्त हुए कमल का उपमान रूप से बोध हो जाता है, उसे समासोक्ति का ही विषय बनना चाहिये, श्लेष का नहीं। समासोक्ति

में वह अनुमान द्वारा प्रतीत होता है, अतः सहृदयों को चमत्कृत भी करता है। श्लेष में तो वह वाच्य हो जाता है, अतः चमत्कारी नहीं हो पाता।

अलकालीति। अलकान्येवालिकुलम् अलकसदृशं चालिकुलम्। छदोऽधरः पत्राणि च। प्रमोदः प्रहर्षः सौरभं च। कर्णिका कर्णाभरणं बीजकोशश्च।

न श्लेषस्येति। ननु श्लेषप्रस्तावे कः प्रसङ्गोऽब्जस्योपमानचर्चायाम्? नैतत्। अलङ्कारान्तरविविक्तविषयाभावेन सर्वालङ्कारापवादत्वाच् श्लेषस्य, उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एवात्र न्याय्यो नोपमेत्यभिप्रायः। अत एव श्लेषे तु तस्य वाच्यतयेत्युक्तम्।

अलकालि—अलक ही अलिकुल, और अलकसदृश अलिकुल। छद—अधर और पत्ते। आमोदः= प्रहर्ष और सुगन्ध, कर्णिका = कान का फूल और बीजकोष।

न श्लेषस्य—(शंका)—श्लेष के प्रसंग में कमल को उपमान बनाने की बात कैसी ?— यह (प्रश्न ठीक) नहीं। श्लेष का अन्य अलंकारों से अलग कोई—क्षेत्र नहीं, वह सभी अलंकारों का बाधक है,—इसलिये यहाँ श्लेष ही मान्य है, उपमा नहीं। श्लेष से उपमा दब जाती है इसका केवल आभासमात्र होता है। इसीलिए कहा कि 'श्लेष में वह वाच्य हो जाता है।'

विमर्श : वस्तुतः यहाँ श्लेषमूला उपमा या रूपक ही माना जाना चाहिये। 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में श्लेष स्वतंत्र पाया जाता है। अतः वह बाधक नहीं माना जा सकता। उलटे उपमा, रूपक आदि अलङ्कार ही साधारण धर्म की निष्पत्ति के लिये श्लेष का बाध करते हैं क्योंकि साधारण धर्म बिना श्लेष के सम्भव नहीं। अतः उपमा ही श्लेष को दबा देती है और उसका आभासमात्र होने देती है। श्लेष सामान्य अलङ्कार है। उपमा आदि विशेष। वे श्लेष का बाध कर सकते हैं, श्लेष उनका नहीं।—यही व्यवस्था परवर्ती आलंकारिक आचार्य-मम्मट आदि को मान्य है। [द्र० काव्यप्रकाश नवम उल्लास]

यथा च—

'बंहीयांसो गरीयांसः स्थवीयांसो गुणास्तव।
गुणा इव निबध्नन्ति कस्य नाम न मानसम् ॥' इति।

अत्र हि मुख्यवृत्त्या निबन्धोऽप्रस्तुतरज्ज्वादिगुणैककार्यः शौर्यादिषु गुणेष्वारोपितस्तेषां सामर्थ्यादेव तत्साम्यमवगमयतीत्ययमपि समासोक्तेरेव विषयो युक्तो न श्लेषस्य।

न हि विशेषणसाम्यमेवैकमप्रस्तुतार्थावगतिहेतुः, यथाहुः—
'प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता ॥' इति।
किं तर्हि तत्कार्यसमारोपोऽपीति गुणा इवेत्यपास्यमेव।

'तुम्हारे गुण अधिक बड़े, अधिक गम्भीर और अधिक स्थूल हैं। वे किसके मन को गुण (रस्सी) के समान नहीं बांध लेते।' यहाँ वस्तुतः निबंध (बन्धन) मुख्य रूप से रज्जु आदि गुण का ही कार्य है वह शौर्य आदि गुण पर आरोपित है, वह अपनी शक्ति से शौर्य आदि का ज्ञान करा देता है। इसलिये यह भी समासोक्ति का ही विषय माना जाना चाहिये। श्लेष का नहीं।

केवल विशेषणों का साम्य ही अप्रस्तुत अर्थ का ज्ञान नहीं कराता है, जैसा कि कहा है—"प्रकृतार्थक वाक्य द्वारा उसी के समान विशेषणों से अप्रस्तुत अर्थ का कथन समासोक्ति—कहा गया है। अपितु उसके धर्मों का आरोप भी (अप्रस्तुतार्थ की प्रतीति कराने वाला माना गया है) इसलिए 'गुणा इव' इसे हटा ही देना चाहिए।

निबन्ध इति निबध्नन्तीति निर्दिष्टः। तत्साम्यं रज्ज्वादिसाम्यम्। न श्लेषस्येति उपमाश्लेषस्येत्यर्थः। तेन रज्ज्वादिप्रतिपादकं गुणा इवेति न वाच्यम्।

ननु विशेषणसाम्यनिबन्धना समासोक्तिर्न च निबध्नन्तीति विशेषणमित्याह—न हि विशेषणसाम्यमेवेति। एतच्चास्माभिः समासोक्तिवार्तिके निर्णीतमिति तत एवावगन्तव्यम्।

निबन्ध 'कंठीयांसो०' श्लोक में निर्दिष्ट निबध्नन्ति क्रिया से प्रतीत।

तत्साम्यम्—रज्जु आदि का साम्य।

न श्लेषस्य उपमाश्लेष का। इसलिए रज्जु आदि का प्रतिपादक 'गुणा इव' यह अंश नहीं चाहिए।

(शंका)—विशेषणों की समता से समासोक्ति होती है किन्तु यहाँ ('कंठीयांसो'० में आई) निबध्नन्ति क्रिया किसी का विशेषण नहीं है—इस पर उत्तर देते हैं 'न हि'—इत्यादि। इसे हमने समासोक्तिवार्तिक में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है, अतः वहीं से समझ लेना चाहिए।

श्लेषस्य विषये उपमाया यथा—

'भैरवाचार्यस्तु दूरादेव दृष्ट्वा राजानं शशिनमिव जलनिधिश्चचाल' इति।

अत्र हि राजशब्द एवोभयार्थत्वाच्छशिनमाहेति श्लेषस्यायं विषयो युक्तः। यदत्र पृथक् तमुपादाय राजशशिनोरुपमानोपमेयभावोपनिबन्धः सोऽपि वाच्यावचनं दोषः। स ह्यार्थ एव तद्विदामधिकं स्वदते न शाब्द इत्युक्तम्। एवं—

'तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव॥'

इत्यत्रापि द्रष्टव्यम्। अत्र हि श्लेषविषये रूपकमासूत्रितमनादृत्योपमानुरागिणा कविना सैवोपनिबद्धा। न चासौ ताभ्यां स्पर्धितुमुत्सहते तयोर्यथापूर्वं प्रतीयमानार्थसंस्पर्शातिरेकात् तदनुविधायिनः सहृदयैकसंवेद्यस्य चमत्कारातिरेकस्य सम्भवादिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

श्लेष के क्षेत्र में उपमा का कथन जैसे—

'भैरवाचार्य राजा को दूर से ही देखकर चल पड़ा जैसे चंद्रमा को देखकर समुद्र।'

यहाँ अकेला 'राजा' शब्द ही चन्द्रमा का भी ज्ञान करा देता क्योंकि वह उभयार्थक है, अतः यहाँ श्लेष ही चाहिए था। उसे (राजा शब्द को) अलग से प्रयुक्त कर राजा और चन्द्रमा का सादृश्य बतलाया गया वह वाच्यावचन दोष है। वह आर्थ रहता तो विदग्ध विद्वानों को अधिक स्वाद देता, शाब्द नहीं।

इसी प्रकार—

'उसके शुद्ध वंश में दिलीप नामक अधिक शुद्ध राजेन्दु हुआ जैसे क्षीरसागर में चंद्र।' [रघु०]

यहाँ भी समझना चाहिए। यहाँ श्लेष के स्थान पर रूपक दिया गया है। अन्त में उपमानुरागी कवि ने उपमा ही मढ़ दी। यह (उपमा) उन दोनों (श्लेष और रूपक) से होड़ नहीं लगा सकती। उनमें क्रम से (रूपक की अपेक्षा श्लेष में) प्रतीयमान अर्थ का स्पर्श अधिक रहता है इसलिए उस (प्रतीयमान) के ऊपर निर्भर सहृदयमात्र को समझ में आने वाला चमत्काराधिक्य भी संभव होता है। इसलिए वाच्य (अवश्यकथनीय) होने पर भी उस (श्लेष) का अवचन (अकथन) वाच्यावचन दोष हुआ।

पृथक्तमुपादाय इति। तच्छब्देन शशी परामृष्टः। स ह्यर्थ एवेति **उपमानोपमेयभावः।**

श्लेषविषये **इति। अत्र तिस्रः कक्ष्याः। राजशब्दस्योभयार्थत्वाच् श्लेषः। तदनाश्रयणेनेन्दुना रूपणं तत्पृष्ठे चेन्दुरिवेत्युपमा। ननु राजेन्दुरित्यत्र तूपमारूपकयोरेकपरिग्रहे साधकबाधकाभावात् सङ्करो न्याय्यः, न नियमेन रूपकम्। तत् कथमुक्तं 'रूपकमासूत्रितमि'ति। उच्यते। अक्रम्यमाणोपमाभिप्रायात् पौनरुक्त्यभयेन रूपकमाश्रितम्। उपमाया अभावे तु सङ्कर एवात्र युक्तः। यद्वोपमापेक्षया रूपकस्यात्र समासे स्फुटत्वेन प्रतीते रूपकं संश्रितम्। अनेनैव ह्यभिप्रायेण वक्ष्यति रूपकस्य विषये उपमाया यथेति।** ताभ्यां स्पर्धितुमिति **श्लेषरूपकाभ्याम्।** तयोर्यथापूर्वमिति**। उपमापेक्षया रूपकस्य रूपकापेक्षया श्लेषस्येत्यर्थः॥**

पृथक् तमुपा०—तत् शब्द से शशी का निर्देश किया।

स हि—उपमानोपमेय भाव।

श्लेषविषये—इस विषय में तीन कोटियाँ हैं। राजशब्द उभयार्थ है इसलिये श्लेष हुआ, उसे छोड़कर राजा पर इन्दु का आरोप रूपक और उसके सहारे 'इन्दुरिव' यह उपमा।

शंका—'राजेन्दु' यहाँ उपमा और रूपक में से किसी एक को मानने में न कोई साधक है और न बाधक, इसलिये यहाँ संकर मानना ठीक है। रूपक मानना ठीक नहीं। इसलिये ग्रन्थकार ने यह कैसे कहा कि—'रूपकमासूत्रितम्'।

उत्तर—राजा के साथ इन्दु की उपमा अलग से—'इन्दुः क्षीरनिधाविव' दी गई है। राजेन्दु पद में भी उपमा मानने से उपमा पुनरुक्त हो जाती इसलिये रूपक माना। यदि वह उपमा होती तो वहाँ संकर ही माना जाता। अथवा यहाँ समास में उपमा की अपेक्षा रूपक अधिक स्पष्ट है। इसलिये रूपक हो बतलाया गया है। इसी अभिप्राय को लेकर ग्रन्थकार आगे भी कहेंगे—'रूपक के विषय में उपमा का—जैसे' इत्यादि।

ताभ्यां स्पर्धितुम् = श्लेष और रूपक से।

तयोर्यथापूर्वम्—उपमा की अपेक्षा रूपक का और रूपक की अपेक्षा—श्लेष का।

रूपकस्य विषये उपमाया यथा—

'ततो द्रुतं वैरमदाभितप्तः सोऽतीव रम्याद् भवनाद्रिकुञ्जात्।
विनिर्ययौ दानवगन्धहस्ती महाद्रिकुञ्जादिव गन्धहस्ती॥'

न चात्राद्याविन्दुगन्धहस्तिशब्दौ प्रशंसावाचिनावपरौ पुनरुपमानवाचिनाविति तयोर्भिन्नार्थत्वान्न यथोक्तदोषावकाश इति युक्तं वक्तुम् आद्याभ्यामेव ताभ्यां तदुभयार्थावगतिसिद्धेः।

नन्वेवम्—

'अनिराकृततापसं पदं फलहीनां सुमनोभिरुज्झिताम्।
खलतां खलतामिवासतीं प्रतिपद्येत कथं बुधो जनः॥'

इत्यादिकाव्यमुक्तदोषयोगादसदेव स्यात्। मैवं वोचः। यत्र हि यदलङ्कारप्रतिभानुगुणशब्दोपरचितः श्लेषस्तत्र तदलङ्कारनिबन्धस्तमेव श्लेषमभिव्यनक्ति न तु तस्य विषयमाक्रामतीति निबन्धनान्तराभावे सत्युपात्तस्यापि शब्दस्य यदेतदुपमानाभिधायितया द्विरुपादानं सा श्लेषस्यैवाभिव्यक्तिः, न तु तत्रालङ्कारान्तरसंस्पर्श इति तदतद्विषयताशङ्कैवात्र नावतरतीत्युक्तदोषद्वययोगासिद्धेः कथमिवास्य काव्यस्य दुष्टता स्यात्।

यदलङ्कारव्यक्त्यै ये शब्दास्तदितरोऽपि तैरेव।
व्यज्येतात्पतरैर्यदि तदसौ गृह्येत लाघवान्नान्यः॥ ७३॥
न ह्यस्ति निजे कर्मण्यलङ्कृतीनां स कश्चनातिशयः।
येन विधीयेतैका परा निषिध्येत वा कविभिः॥ ७४॥

इति सङ्ग्रहार्थौ।

रूपक की जगह उपमा का (कथन) जैसे—

'उसके बाद वैर और मद से गरम वह राक्षस-रूपी गंधगज अपने अतीव रम्य भवन से निकला जैसे—ऊँचे पहाड़ की झुरमुट में से गंधगज।'

यहाँ ऐसा कहना ठीक नहीं है कि 'इन्दु और गंधगज शब्द प्रशंसावाची हैं और बाद के उपमावाची। इसलिये दोनों के अर्थ भिन्न होने से उपर्युक्त दोष नहीं आता'—कारण कि शुरू के ही दोनों शब्दों से उन दोनों अर्थों की प्रतीति हो जाती है। शंका—यदि ऐसा है तो—

'विजन स (आकाश) लता के समान खल (दुष्टा) को कैसे अपनाएं, जो तापसम्पत्ति को दूर नहीं कर पाती, जिसमें कोई फल नहीं, और जो सुमनों से रहित रहती है।—

इत्यादि काव्यों में उक्त दोष के कारण हेयता आ जायगी।'

(उत्तर—) ऐसा न कहिए—जहाँ जिस अलङ्कार का आभासमात्र कराने के लिये की गई पदरचना से श्लेष बनता है, वहाँ वह अलंकार उसी श्लेष को अभिव्यक्त करता है, उस (श्लेष) के क्षेत्र में वह स्वयं नहीं आ घुसता। इसलिये और किसी कारण के अभाव में केवल उपमा का आभास कराने के लिये एक बार कथित शब्द का जो पुनः दूसरी बार कथन है उससे श्लेष ही निकलता है, वहाँ दूसरे किसी अलङ्कार का स्पर्श भी नहीं है। इसलिये वहाँ यह शंका ही नहीं उठती कि इस पद्य में वह (उपमा) है या श्लेष? इसलिये उक्त दोनों दोषों के प्रसिद्ध हो जाने से यह काव्य कैसे दुष्ट हो सकता है। इस प्रकार 'जिस अलंकार की अभिव्यक्ति के लिये जो शब्द दिये गये हों यदि उससे भिन्न अलङ्कार भी उन्हीं गिने चुने शब्दों से व्यक्त होता हो तो उसी (दूसरे व्यक्त हो रहे) अलङ्कार को मानना चाहिये और किसी को नहीं।' कवियों की अपनी कृति (काव्य) में अलङ्कारगत ऐसी कोई विशेषता नहीं होती जिससे एक अलङ्कार का विधान किया जाय और दूसरे का निषेध।

नन्वेवं सतीति। अस्य दोषस्यातिप्रसङ्गं ब्रूते। ताप आतपोऽपि। फलं शाल्यादिकमपि। सुमनसः पुष्पाण्यपि। खलता दुर्जनत्वं, धान्यादिक्षोदनस्थानं च। असती दूषणीया अशोभना च।

यदलङ्कारेति। खलतामित्यादावुपनोत्थापिते श्लेषे नोपमा श्लेषं बाधते। तस्य विविक्तविषयत्वाभावात्। श्लेषस्तु तां बाधते इति युक्तम्। अस्य न्यायस्यालङ्कारान्तरेऽपि भावाद् व्याप्तिगर्भमुक्तं यदलङ्कारेति।

निबन्धनान्तराभावे इति। सति समासोक्त्यादिनिबन्धने पूर्ववत् श्लेषोत्थापितोपमा न कर्तव्या स्यात्। नचात्रानिराकृतेत्यादिविशेषणसाम्यात् समासोक्तिरिति वाच्यम्। विशेषणानां नियतोपमानगामित्वाप्रतीतेः।

विषयताशङ्केति उपमाविषयत्वसम्भावनेत्यर्थः। क्वचित्तु तदतद्विषयतेति पाठः। तत्र श्लेषविषयत्वमुपमाविषयत्वं च युगपन्न शङ्कनीयं तयोरुत्सर्गापवादभावेन व्यवस्थितेरित्यर्थः।

उक्तदोषद्वयेति। उक्तं यच् श्लेषविषये दोषद्वयं-यत्र समासोक्तिविषये श्लेषः कृतः श्लेषविषये चोपमेति, तस्यात्र सम्बन्धाभावादित्यर्थः।

यदलङ्कारेति। श्लेषोपमादीनामलङ्काराणामभिव्यक्त्यर्थं ये शब्दा अब्जमिवेत्यादयः तेभ्योऽलंकारेभ्य इतरः समासोक्तिश्लेषादिः, तैरेव शब्दैः अल्पतरैरब्जमिवेत्यादिरहितैर्यदि व्यज्यते। तदासौ समासोक्तिश्लेषादिर्लघुत्वाद् ग्राह्यो, नापरः श्लेषोपमादिरित्यर्थः।

ननु शोभातिशयहेतुत्वमलङ्कारान्तराणां लक्षणम्। तद्विशेष्यते। तत् कथमिदमुक्तमित्याह-न ह्यस्तीति। शोभातिशयजनने निजे व्यापारे नास्त्यलङ्काराणां विशेषः। ततश्चैको गृह्यतेऽपरस्त्यज्यत इति न युक्तम्। गुरुलघुत्वमाश्रित्य पुनर्युज्यत एतन्नान्यथेति तात्पर्यम्। वाच्यातिशयापेक्षया चैतदुक्तम् प्रतीयमानत्वापेक्षया तु समनन्तरं विशेषो वक्ष्यते।

नन्वेवं सति—इस दोष की अतिव्याप्ति दिखलाते हैं।

ताप—आतप भी। फल = धान आदि भी, सुमनसः = फूल भी। खलता—दुर्जनता और धान आदि की दौरी, दांवन आदि द्वारा साफ करने का स्थान = खल (खलियान) उसका भाव।

असती—दूषणीय और अशोभन भी।

यदलङ्कार—'खलता' इत्यादि उपमा से उठाए श्लेष को उपमा नहीं दबाती क्योंकि श्लेष का स्वतंत्र स्थान नहीं है। यह ठीक है कि श्लेष उसको दबा देता है। यह बात और अलङ्कार में भी सम्भव है—इसलिये अधिक व्यापकता को मन में रख कर कहते हैं।—यदलंकार००।

निबन्धनान्तराभावे—समासोक्ति आदि के होने पर पहले के समान श्लेष से उत्पादित उपमा नहीं करनी चाहिये। यहाँ 'अनिराकृत००' आदि पद्य में विशेषण समान है इसलिये समासोक्ति है—ऐसा नहीं मानना चाहिये, कारण कि विशेषण किसी निश्चित उपमान में लगते हुए प्रतीत नहीं होते।

विषयता०—उपमाविषयत्व की सम्भावना। कहीं कहीं—'तदतद्विषयता' ऐसा पाठ है। वहाँ यह अर्थ होगा—श्लेष-विषयत्व और उपमाविषयत्व इसकी शंका एक साथ नहीं करनी चाहिये। वे उत्सर्ग (सामान्य) और अपवाद (विशेष) रूप से व्यवस्थित हैं।

उक्तदोषद्वय—श्लेष के विषय में जो दो दोष दिये 'एक जहाँ समासोक्ति के विषय में श्लेष किया जाय और दूसरा श्लेष के विषय में उपमा' उसका यहां कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदलङ्कार०—श्लेष-उपमा आदि अलंकारों की अभिव्यक्ति के लिये जो शब्द—अब्ज आदि (आते हैं) उन अलङ्कारों से इतरैः—समासोक्ति श्लेष आदि, तैरेव = उन्हीं, शब्दैः—शब्दों द्वारा, अल्पतरैः = 'अब्जमिव' इत्यादि से रहित जो थोड़ी मात्रा में होते हैं—यदि व्यक्त हों तो लाघव के कारण समासोक्ति और श्लेष आदि ही मान्य होने चाहिये, श्लेषोपमा आदि नहीं।

शंका—अलङ्कार में भिन्नता लाने वाला तत्त्व उनकी शोभातिशय उत्पन्न करने की शक्ति है, इसलिये अलंकार परस्पर भिन्न होते ही हैं। फिर यह कैसे कहा—इस पर उत्तर देते हैं नहि०० अलंकारों का अपना व्यापार शोभातिशय उत्पन्न करना है। इसमें कोई अन्तर नहीं है। इसलिये एक अलंकार माना जाय और दूसरा नहीं—यह ठीक नहीं। तात्पर्य यह कि यह गौरव और लाघव के आधार पर ठीक होता है। यह सब वाच्य अलंकारों के अतिशय को लेकर बतलाया, प्रतीयमान अलंकारों को लेकर तो अन्तर आ जायेगा ही।

किञ्च सौन्दर्यातिरेकनिष्पत्तयेऽर्थस्य काव्यक्रियारम्भः कवेः, न त्वलङ्कारनिष्पत्तये, तेषां नान्तरीयकतयैव निष्पत्तिसिद्धेः भङ्गिभणितिभेदानामेवालङ्कारत्वोपगमात्। तेनात्र समासोक्तिश्लेषभङ्गिभ्यामेवार्थस्य यथोक्तचमत्कारित्वसिद्धिः, नोपमयेति तयोर्वाच्ययोर्यद्वचनं स दोष एव।

न चालङ्कारनिष्पत्त्यै रसबन्धोद्यतः कविः।
यतते ते हि तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धयः॥ ७५॥

यतः—

रसस्याङ्गं विभावाद्याः साक्षान्निष्पादकत्वतः।
तद्वैचित्र्योक्तिवपुषोऽलङ्कारास्तु तदाश्रयाः॥ ७६॥
तेनैषामप्रधानत्वादाधानोद्धरणादयः।
चारुतापेक्षयार्थस्य कल्प्यन्ते कविना स्वयम्॥ ७७॥

यदाहुः—

'मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैव भूषा लज्जेव योषिताम्॥' इति।
अत एव बहुष्वन्येष्वलङ्कारेषु सत्स्वपि।
कांश्चिदेव निबध्नाति शक्तिमानपि सत्कविः॥ ७८॥
यतः सर्वेष्वलङ्कारेषूपमा जीवितायते।
सा च प्रतीयमानैव तद्विदां स्वदतेतराम्॥ ७९॥
रूपकादिरलङ्कारवर्गो यमक एव हि।
तत्प्रपञ्चतया प्रोक्तः कैश्चित्तत्त्वार्थदर्शिभिः॥ ८०॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कवि काव्य-निर्माण में प्रवृत्त होता है—अर्थ में सौन्दर्य लाने के लिये, अलंकार लाने के लिये नहीं। वे (अलंकार) तो अपने आप चले ही आते हैं। कारण कि विचित्र ढंग से कहना ही तो अलंकार है। इसलिये यहाँ समासोक्ति और श्लेष—इन्हीं

दो ढंगों से पूर्व निर्दिष्ट चमत्कार आता है, उपमा से नहीं। उन (समासोक्ति और श्लेष) का कहा जाना आवश्यक था, इतने पर भी उन्हें नहीं कहा गया यह वाच्यावचन दोष हुआ।

संक्षेप में—

'कवि रसनिष्पत्ति में उद्यत रहता है, अलंकार-निष्पत्ति में नहीं। वे (अलंकार) तो उस (रस) की निष्पत्ति के संग लगे निष्पन्न हो जाते हैं।' क्योंकि—रस के अङ्ग होते हैं विभाव आदि। क्योंकि वे उसे साक्षात् निष्पन्न करते हैं। अलंकार उसपर आश्रित होते हैं। वे उस (रस) की विचित्र ढङ्ग से कथन की पुष्टि करते हैं। इसलिए ये अप्रधान होते हैं। चारुत्व के लिए कवि उनका उपादान और परित्याग स्वयं समझता रहता है। जैसा कि कहा है—

महाकवियों की वाणी अलंकार से युक्त होती है, तब भी उसकी वास्तविक शोभा इसी प्रतीयमान की झलक में होती है। जैसे स्त्रियों की लज्जा में। (ध्वन्यालोक ३)

इसलिए कवि शक्तिमान् होते हुए भी किसी एक अलंकार को अपनाता है, यद्यपि अलङ्कार बहुत से उपस्थित रहते हैं।

क्योंकि सभी अलङ्कारों में उपमा प्राण है। वह भी प्रतीयमान होने पर ही जानकार लोगों को अच्छी लगती है। (इसलिये) कुछ तत्त्वदर्शी लोगों ने रूपक आदि अलंकार वर्ग और यमक (श्लेष) को भी उसी (उपमा) का प्रपञ्च बतलाया है।

किञ्चेत्यादिना **काव्यक्रियायां सौन्दर्यनिष्पत्तेः प्रयोजकत्वमलङ्कारनिष्पत्तेश्च अनुनिष्पादित्वं यथा पक्तावोदनाचामयोरित्याह ।** समासोक्तिश्लेषभङ्गिभ्यामेवेति। **समासोक्त्या तु 'अलकाली'त्यादौ। श्लेषेण 'भैरवाचार्य' इत्यादौ।** नोपमयेति। **अलकालीत्यादावुपमा श्लेषोपमा। भैरवाचार्य इत्यादौ उपमेयोपमा। 'अत्र समासोक्तिश्लेषभङ्गिभ्यामेव' इत्येतद्ग्रन्थानुसारेण 'रूपकस्य विषये उपमाया यथे'त्यादिग्रन्थः प्रक्षिप्त इव लक्ष्यते। रूपकस्येहानुपसंहारात्, 'उक्तदोषद्वययोगानुपपत्तेः' इत्यस्य च पूर्वोक्तग्रन्थस्यात्र पक्षे अनाकलनात् अतश्चैवायं क्वचिदादर्शे न पठ्यते। अप्रक्षेपे तु रूपक—ग्रहणमिह कर्तव्यं स्यात्। तस्मात् स वा ग्रन्थो निवार्य इह वा रूपकग्रहणं प्रक्षेप्यम्। उक्तदोषद्वये'ति च प्रकृतौचित्येन व्याख्यातम्।**

ते हि तत्सिद्धीति। **रसबन्धसिद्धावलङ्कारा अवश्यं सिध्यन्तीत्यर्थः। निष्पादकत्वमिहानुमापकत्वम्। अत एव भरते 'रसनिष्पत्तिरि'त्यत्र रसानुमितिरिति व्याख्येयम्। तद्वैचित्र्यं विभावादिवैचित्र्यम्।**

तदाश्रयाः **परम्परया रसाश्रया रसज्ञप्तिहेतव इत्यर्थः।** तेनैषामिति। **कवेरर्थगतं चारुत्वं तात्पर्येण सम्पाद्यं, नालङ्कारोपनिबन्धः अलङ्काराणां तत्रान्तरीयकत्वेनाप्राधान्यात्। अतश्चारुत्वं यथा निष्पद्यते तथा तेषामुपनिबन्धः कार्यः। तत्प्रयोजनाच्चाधानोद्धरणादय इत्यर्थः। नन्विहाधानोद्धरणादय इत्युक्त्या अलङ्काराणां परस्परं चारुत्वनिष्पादने विशेषः प्रतिपादितः। पूर्वं च 'न ह्यस्ति निजे' इत्यादिना विशेषाभाव उक्तः। तत् कथं न विरोधः। नैतत्। पूर्वमव्यवधानेन चारुत्वनिष्पादनं मनसिकृत्य विशेषाभावः प्रतिपादितः। इह तु विभावाद्युपकरणत्वेन गुरुलघुत्वादिना विशेष उक्त इत्यपेक्षाभेदान्न विरोधः कश्चित्।**

कैश्चिदि**ति वामनप्रभृतिभिः।**

किंच—इत्यादि से यह कहते हैं कि—काव्य-निर्माण में सौन्दर्य-निष्पत्ति प्रधान कारण है अलंकार-निष्पत्ति उसके पीछे लगे होती रहती है वैसे ही जैसे पाक क्रिया में भात और आचमन।

इत्थं समासतो ज्ञेयं शब्दश्लेषस्य लक्षणम्।
अपरस्तु प्रसिद्धत्वादिहास्माभिर्न लक्षितः ॥ ८३ ॥
उभयत्राप्यभिव्यक्त्यै वाच्यं किञ्चिन्निबन्धनम्।
अन्यथा व्यर्थ एव स्याच्छ्लेषबन्धोद्यमः कवेः ॥ ८४ ॥

वह श्लेष दो प्रकार का होता है शब्दविषयक और अर्थविषयक। दोनों में से शब्दविषयक जैसे—जहाँ दो वस्तुओं का ऐसा सादृश्य जो न कम हो न अधिक केवल शब्द द्वारा कहा जाता हो—उसे शब्दश्लेष कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है; कारण कि उसके प्रतिपादक कर्तृत्व-कर्मत्व आदि कारकभाव से 'नित्ययुक्त' शब्द दो प्रकार के होते हैं धर्मिवाचक और धर्मवाचक। इस प्रकार शब्दश्लेष का लक्षण संक्षेप में समझ लेना चाहिये।

दूसरा (अर्थश्लेष) प्रसिद्ध है, अतः हमने उसे नहीं बतलाया। अभिव्यक्ति दुतरफा हो इसके लिये (दोनों ही श्लेषों में) कोई न कोई कारण देना ही होता है। नहीं तो कवि का श्लेषरचना का श्रम व्यर्थ नहीं होता है।

स चायमिति। **यस्समासोक्तिविषये कृतो यस्य च विषये उपमा कृता स इत्यर्थः।**

द्विविध **इति वक्ष्यमाणस्योभयश्लेषस्यैवात्रान्तर्भावः। आभ्यामेव समुच्चिताभ्यां तस्योत्थापनात्।**

यत्रान्यूनेति **यत्र विशेष्यस्य विशेषणं न न्यूनीभवति नाप्यतिरिच्यते तत्र श्लेषः। मात्रग्रहणं लिङ्गवचनानां भेदादुभयसम्बन्धसहिष्णुशब्दतापरिग्रहार्थम्।**

कर्तृकर्मेति। **कर्तृकर्मरूपः आदिग्रहणात् क्रियारूपो यत्र प्रधानभूतोऽर्थः श्लेषेण स्वरूपहानिं नीयते, न तत्र श्लेषो निरवद्य इत्यर्थः। तस्य च धर्मप्रतिपादकशब्दविषयत्वेन धर्मिप्रतिपादकशब्दविषयत्वेन च द्वैविध्यम्। उभयप्रतिपादकशब्दविषयत्वं तु दूषयिष्यते।**

अपरस्त्विति। **अर्थश्लेषः।**

उभयत्रापि **शब्दश्लेषेऽर्थश्लेषे च। यावत् इवादि निबन्धनं नाश्रितं तावदर्थान्तरमप्रमाणकमेवेति श्लेषाभिव्यक्त्यर्थं निबन्धनमाश्रयणीयम्।**

स चायम्—जिसे समासोक्ति की जगह प्रयुक्त किया गया और जिसकी जगह उपमा प्रयुक्त कर दी गई—वही यह श्लेष।

द्विविध—आगे जो उभयश्लेष कहा जाने वाला है—उसका अन्तर्भाव इन्हीं में होता है क्योंकि इन्हीं के मिल जाने से वह भी निकलता है।

यत्रान्यून—यहाँ विशेष्य का विशेषण न तो कम होता है और न अधिक वहाँ श्लेष होता है। मात्र शब्द इसलिये दिया कि जिससे लिङ्ग और वचन के भेद होने पर भी दोनों ओर अन्वित होने योग्य शब्द लिये जा सकें।

कर्तृकर्मेति—जहाँ कर्तारूप, कर्मरूप और आदि शब्द से क्रियारूप प्रधान पदार्थ की श्लेष द्वारा स्वरूपहानि होती हो, वहाँ श्लेष निर्दोष नहीं होता। वह दो प्रकार का होता है, धर्मप्रतिपादक शब्दविषयक और धर्मिप्रतिपादक शब्दविषयक। उभयप्रतिपादक शब्दविषयक को दूषित बतलाया जाएगा।

अपरस्त्विति—अपर = अर्थश्लेष।

उभयत्रापि—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष में। जबतक इवादि कारण नहीं दिये जाते तब तक

वह किसी दूसरे ही अर्थ की प्रतीति कराता जाता है—इसलिए श्लेष की अभिव्यक्ति के लिए कोई कारण दिया जाना चाहिए।

तत्र धर्म्यर्थस्य श्लेषादभिन्नत्वं यथा—

'अत्रान्तरे फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासः कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानो महाकालः।' इति।

अत्र हि समासोक्तिनिबन्धना देवताविशेषवाचिनो महाकालशब्दस्यावृत्तिः, न तु तस्यैवोभयार्थत्वनिबन्धनेति वक्ष्यते।

उनमें धर्म्यर्थक (शब्द की) श्लेष से अभिन्नता यथा—

'इस बीच कुसुमसमययुग का संहार करता हुआ फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहास ग्रीष्म नामक महाकाल विकसित हुआ।' यहाँ देवताविशेष—(रुद्र) वाची महाकालशब्द की समासोक्ति द्वारा आवृत्ति होती है, न कि उभयार्थकता के कारण उसी (श्लेष) की—जैसा कि आगे चलकर कहेंगे।

अत्रान्तरे इति **फुल्लमल्लिकाभिर्धवला येऽट्टास्त्रिपुरचतुष्पुरमहाप्राकारा आपणा वा तैः विकासो हासो यस्य तद्वच्च धवलाट्टहासो यस्य। कुसुमसमययुगं मासद्वयं रम्यत्वेन तत्सदृशं च युगं कृतादिमुपसंहरन्** अजृम्भत **विकसितवान् व्यक्ताननश्चाभूद् महाकालो दीर्घसमयः संहर्तृदेवताविशेषश्च।** समासोक्तीति। **महाकाल इत्यत्र महासमय इत्यक्लिष्टे विशेष्यपदे प्रयुक्ते विशेषणसाम्यादेव देवताविशेषप्रतीतेः समासोक्तिर्भवन्ती महाकालशब्दस्यावृत्तौ प्रमाणम्। नचात्र महाकालशब्दे प्रयुक्ते प्रयासः कश्चित्। येन 'अलकालिकुले'तिवत् समासोक्त्या श्लेषस्य वैयर्थ्यं शङ्क्येत।**

अत्रान्तरे फुल्लमल्लिकाओं द्वारा धवल जो अट्ट अर्थात् त्रिपुर (तीन मंजिल) चतुष्पुर (चार मंजिल) के बड़े विशाल प्राकार या बाजार उनके द्वारा, विकसित होना ही है हास जिसका और उनके समान है हास जिसका।

कुसुमसमययुग—वसन्त का दो महीने का समय, रम्यतारूप साधारण धर्म से कृतयुग आदि भी, उन्हें समाप्त करता हुआ अजृम्भत—विकसित हुआ और मुख फैलाया। महाकाल—लम्बा समय और एक संहारक देवता।

समासोक्ति 'महाकाल'—इसकी जगह 'महासमय' इसी सरल विशेष्यशब्द का प्रयोग करने पर देवताविशेष की प्रतीति विशेषणों की समता से ही हो जाती। उससे समासोक्ति होती और महाकाल शब्द की आवृत्ति भी। महाकाल शब्द का प्रयोग करने में कोई प्रयास भी नहीं है जिससे 'अलकालिकुल०'-इत्यादि पद्य के समान समासोक्ति द्वारा श्लेष की व्यर्थता साबित हो।

निबन्धनाभावे तु तस्य दुष्टतैव यथा—

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गामाक्रम्य च स्थितमुदग्रविशालशृङ्गम्।
मूर्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेनमुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते गिरीशम्॥'
इति।

कारण के अभाव में तो वह दुष्ट ही होता है। यथा—अच्छादितायत—। (श्लोक का अनुवाद व्याख्यान के अनुवाद से स्पष्ट है)

आच्छादितेति। पर्वतपक्षे आच्छादितं वैपुल्याद् दिशश्चाम्बरमाकाशं च येन, उच्चकैरुन्नतां गां भूमिं चाक्रम्य वर्तमानं महारोहपरिणाहानि शृङ्गाणि शिखराणि यस्य, तदौन्नत्याच्च शिरसि स्फुरच्चन्द्रलेखम्, एवंविधं नगेशं पर्वतराजं दृष्ट्वा को न विस्मितो भवतीत्यर्थः। हरपक्षे तु आच्छादितं परिधानीकृतं दिश एव आयतं वस्त्रं येन तथा उन्नतं स्थूलविषाणं च वृषभमधिरुह्य स्थितं, मस्तके चन्द्रकलान्वितं च नगेशं कैलासाधिपतिं साक्षात्कृत्य अनुगृहीतम्मन्यत्वेन को न विस्मयत इत्यर्थः।

पर्वतपक्ष में:—आच्छादित किया है (ढँक लिया है) विपुलता से दिशाओं और आकाश को जिसने, ऊँची गाय और भूमि को आक्रान्त करके विद्यमान हैं अत्यधिक ऊँचाई और चौड़ाई वाले शृंग-शिखर जिसके। उन (शिखरों) की ऊँचाई से सिर पर चन्द्रलेखा स्फुरित दिखाई देती है ऐसे नगेश अर्थात् पर्वतराज को देखकर कौन नहीं—विस्मित होता।

शिवपक्ष में:—आच्छादित किया है—परिधान बना लिया है दिशारूपी चौड़े वस्त्र को जिसने, और उन्नत अर्थात् ऊँचे और मोटे हैं सींग जिसके ऐसे बैल पर आरूढ़ मस्तक में चन्द्रकला से युक्त, नगेश अर्थात् कैलाशाधिपति (शिव) को देखकर अपने आपको अनुगृहीत मानकर कौन विस्मित नहीं होता।

विमर्शः—मूल में गिरीश शब्द है किन्तु व्याख्यान में नगेश शब्द माना गया है। मूल माघ में 'नगेश' ही है ४।१९।

अत्र हि आवृत्तिनिबन्धनं न किञ्चिदुक्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

न च सकृत्प्रयुक्तोऽयं गिरीशशब्द एवोभयार्थत्वाच्छ्वेतो धावतीतिवद्यथायोगं प्रदीपवत् तन्त्रेण प्रसङ्गेन वार्थान्तरप्रतीतिनिबन्धनमिति शक्यते वक्तुं, तयोः प्रतिपत्तृपरामर्शानपेक्षं प्रदीपस्यापरपदार्थविषयत्वेन प्रवृत्तिदर्शनात्, न शब्दविषयतैवम्; शब्दो हि प्रतिपत्तृपरामर्शमन्तरेण नार्थान्तरे प्रतीतिमाधातुमलं, परामर्शश्च निर्निबन्धनो न भवितुमर्हति अतिप्रसङ्गात्, निबन्धनं चात्र न किञ्चिदुपकल्प्यत इति व्यर्थः श्लिष्टार्थशब्दान्वेषणप्रयासः कवेः।

यहाँ आवृत्ति का कोई कारण नहीं बतलाया, इसलिये—उसका अवचन (न कहा जाना) वाच्यावचन दोष हुआ। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि एक ही बार प्रयुक्त हुआ यह गिरीश शब्द ही उभयार्थक होने से—'श्वेतो धावति' के समान यथायोग प्रदीप के समान, तन्त्रद्वारा या प्रसङ्ग द्वारा दूसरे अर्थ की प्रतीति का कारण है—क्योंकि जो शब्द और प्रदीप हैं उनमें से प्रदीप दूसरे—पदार्थ की प्रतीति इस प्रकार कराता है कि उसमें ज्ञाता द्वारा (अपने) ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती। शब्द ऐसा नहीं करता। शब्द का यह स्वभाव है कि वह (अपने) परामर्श (ज्ञान) के बिना दूसरे अर्थ का ज्ञान ज्ञाता द्वारा नहीं करा सकता। और परामर्श बिना कारण के हो नहीं सकता, क्योंकि तब तो किसी भी अर्थ का ज्ञान होना संभव है। इस (आच्छादितायत०) पद्य में ऐसा कोई कारण नहीं बतलाया जा रहा है। इसलिये श्लेष युक्त शब्दों का अन्वेषण व्यर्थ ही है।

अंशो भानतीतिवदिति शब्दतन्त्रम्। प्रदीपवदिति—पुनरर्थतन्त्रम्। यथायोगमिति तुल्यप्रधानत्वेन साधारण्यं तन्त्रम्। अतुल्यप्रधानत्वेन तु प्रसङ्गः। तयोः प्रतिपत्तिरिति। किञ्चित् खलु वस्तु शक्त्यैव कार्यकारि यथा दीपादि। किञ्चित्तु परामर्शापेक्षं यथा धूमादि लिङ्गम्। यत्र यस्मिन् विषये परामर्शनैरपेक्ष्येण वस्तुशक्त्यैवोभयकारित्वं तत्र तन्त्रादि नान्यत्र। शब्दः परामर्शापेक्षोऽर्थप्रतीतिकारी। परामर्शो न निर्निबन्धन इति नात्र तन्त्रादिप्रवृत्तिः।

अंशोर्भानति—यह हुआ शब्द तन्त्र। प्रदीपवत् यह हुआ अर्थतन्त्र।

यथायोग ऐसी साधारणता (दोनों ओर लगना) तन्त्र कहलाती है जिसमें (दोनों की) प्रधानता बराबर हो। जिस साधारणता में प्रधानता बराबर नहीं होती वह प्रसंग कहलाती है।

तयोः प्रतिपत्ति—कुछ वस्तु स्वरूपतः कार्य करती हैं जैसे प्रदीप। कुछ ज्ञात होने पर कार्य करती हैं जैसे—धूमादि अनुमापक लिंग। तन्त्र आदि वहीं होते हैं जहाँ परामर्श की आवश्यकता हो और परामर्शनिरपेक्ष होकर केवल स्वरूप से ही दोनों कार्य करने की शक्ति हो, अन्यत्र नहीं। शब्द तो है—वह परामर्श की सहायता से अर्थज्ञान कराता है। और परामर्श बिना किसी हेतु के होता नहीं अतः यहाँ तन्त्र आदि का अवसर नहीं।

विमर्श : पूर्वपक्ष—दीपक जिस वस्तु को देखने के लिये जलाया जाता है उसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को भी दिखलाता है। वैसे ही शब्द भी जिस अर्थ के लिये प्रयुक्त होता है उसके अतिरिक्त अर्थ को भी बतला सकता है। उत्तर पक्ष—दीपक अन्य पदार्थों का भास करा सकता है और शब्द भी। किन्तु दीपक इतर पदार्थ के ज्ञान में अपने ज्ञान की और अपने साथ दूसरे पदार्थों के सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता। शब्द यह अपेक्षा रखता है। शब्द से अर्थज्ञान करने में स्वयं शब्द का ज्ञान अपेक्षित होता है और साथ ही शब्द और अर्थ की संकेत शक्ति का ज्ञान भी। जहाँ अनेक अर्थों में शब्द प्रयोग होता है वहाँ प्रकरण द्वारा ज्ञाता का ज्ञान केवल एक ही अर्थ में ठहर जाता है। दूसरे अर्थ के लिये उसका पुनर्जागरण आवश्यक होता है। यह जागरण बिना किसी कारण के संभव नहीं होता। इसलिये श्लेषस्थल में दूसरे अर्थ का ज्ञान करने के लिये कोई-न-कोई कारण उपस्थित करना आवश्यक होता है। इस प्रकार प्रदीप की स्थिति से शब्द की स्थिति अलग है। 'आच्छादितायत०' पद्य में शिवरूपी अर्थ का ज्ञान कराने के लिये कोई कारण नहीं बतलाया गया है अतः वहाँ वाच्यावचन दोष है।

यथा च—

'विदधतः पथिकक्षपणं प्रति स्मृतिभुवो निजशक्त्युपबृंहणम्।
दधुरहार्यभटाः सहकारितामनवमा नवमाधवसङ्गिनः॥'

अत्र हि सहकारिशब्देन सहकर्तुं शीलत्वं सहकारसम्बन्धश्चेत्युभयोऽर्थः श्लेषेण विवक्षितः। तत्र रम्यतातिरेकलक्षण एक एव ततः प्रतीयते नापरो निबन्धनाभावादिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

और जैसे—"अनवम' (न अवम = तुच्छ = छोटे) ऊँचे-ऊँचे और नवमाधवसङ्गी (नए वसन्त से युक्त) अहार्य भटों (अहार्य पर्वत भट वीर) ने स्मरण से उत्पन्न (काम) की

अपनी शक्ति को पथिकक्षपण (राहगीरों को दुःखी बनाने) में और अधिक बढ़ाने के लिये सहकारिता (सहयोग, सहकारी = सहकार वृक्षवान् , तद्भाव = सहकारिता धारण की ।'

यहाँ 'सहकारी' शब्द द्वारा श्लेष से दो अर्थ विवक्षित हैं—एक सहयोग देना और दूसरा सहकार नामक आम्र वृक्ष से युक्त होना। उनमें से एक (सहकारवृक्ष सम्बन्धी) अधिक रम्य है रम्यता का अत्यधिक आधायक है) वही प्रतीत होता है। दूसरा नहीं। क्योंकि उसकी प्रतीति में कोई कारण नहीं बतलाया गया। इसलिये उसका अकथन वाच्यावचन हुआ।

अहार्यः **पर्वतः** सहकारिता सह**करणशीलत्वं सहकारसम्बन्धश्च। अनवमा उत्कृष्टाः। नवः प्रत्यग्रः। माधवो वसन्तः।** रम्यतातिरेके**ति सहकारसम्बन्धरूप इत्यर्थः।** तस्य वाच्यस्ये**ति। तच्छब्देन निबन्धनं परामृष्टम्।**

अहार्यः—पर्वत (महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः—अमरः)।

सहकारिता—सहयोग दान का स्वभाव और सहकारवृक्ष का संबंध। अनवमा—उत्कृष्ट। नवः—ताजा। माधव—वसन्त। रम्यतातिरेक—सहकार सम्बन्ध रूप अर्थ। तस्यवाच्यस्य—तद् शब्द से निबन्धन (कारण) की ओर संकेत है।

विमर्श : क्षपण, स्मृतिभू , शक्ति, अहार्य, भट, अनवम, नवमाधवसक्ति और सहकारिता के दूसरे भी कोई अर्थ होने चाहिये। इनके लिये विशिष्ट कोशों से सहायता ली जानी चाहिये।

एकोऽनेकार्थकृद् यत्र स्वभावेनैव दीपवत्।
समयस्मृत्यनाकाङ्क्षस्तन्त्रस्य विषयो हि सः॥ ८५॥
शब्दे त्वसिद्धमेकत्वं प्रत्यर्थं तस्य भेदतः।
सादृश्यविप्रलब्धस्तु लोकस्तत्त्वमवस्यति॥ ८६॥
नैतावतावगन्तव्या तस्यानेकार्थवृत्तिता।
नात एव प्रसङ्गस्य पदं शब्दोऽवकल्पते॥ ८७॥
न चानिबन्धना युक्ता शब्दस्यार्थान्तरे गतिः।
तच्चानेकविधं प्रोक्तमव्ययानव्ययात्मकम्॥ ८८॥
तस्मादर्थान्तरव्यक्तिहेतौ कस्मिंश्चनासति।
यः श्लेषबन्धनिर्बन्धः क्लेशायैव कवेरसौ॥ ८९॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

जहाँ एक ही (शब्द) दीप के समान स्वभावतः अनेक अर्थ का बोधक हो और उसको गृहीत संकेत का स्मरण अपेक्षित न हो, वहाँ तन्त्र माना जाता है। शब्द में एकता सिद्ध नहीं होती। वह प्रत्येक अर्थ में ('प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते' न्याय से) बदल जाता है। लोग सादृश्य (एकरूपता) के कारण (भिन्न अर्थ में प्रयुक्त शब्द को भी) तद्रूप समझते हैं। इस (सादृश्यमात्र) से उस (शब्द) की अनेकार्थता नहीं माननी चाहिये। इसलिये शब्द प्रसंग का विषय भी नहीं बनता और शब्द की जो दूसरे अर्थ में प्रवृत्ति होती है, वह बिना किसी कारण के नहीं हो सकती। शब्द भी अनेक प्रकार का माना गया है। अव्ययरूप और उससे भिन्न प्रकार का। इसलिये बिना

और जैसे—

उषाकाल में उधर तो घनवर्त्म (मेघपथ का आकाश) अत्यधिक विगलितान्धकारपङ्कप्लव और मधुरतरणितापयोगतार था और (इधर) कमलवन में मधुपों की पाँतें विगलितान्धकार पङ्कप्लव-शबलङ्घनवर्त्मदूरमा तथा अरम् (अत्यधिक) मधुरत—रणिता—पयोगता थीं। यहाँ न शब्द श्लेष की अभिव्यक्ति का हेतु है।

उषसीति। अन्धकार एव मलिनत्वात् पङ्कः, तस्य विगलितस्य प्लवोऽनवस्थानं तेन शबलं विचित्रम्, घनवर्त्म वियत्, दूरमत्यर्थम्, मधुरः सुकुमारो यस्तरणितापो रविप्रभा तद्योगेन तारं हृद्यम्, मधुपायिनो भ्रमरास्तेषां पङ्क्तिः अन्धकारपङ्कप्लव एव विगलनेन निस्सारत्वाच्छवः तस्य लङ्घनेन वर्त्मसु पक्ष्मसु दूरमा अरमणीयश्रीः, मधुरता मकरन्दासक्ता तथा रणिता सशब्दा, यद्वा मधुरतेन मकरन्दासङ्गेन रणितं गुञ्जितं यस्याः, पयोगता जलगता, अरमत्यर्थम्। अत्र घनवर्त्मशब्दस्योपमेयवाचिनः श्लेषेऽन्तर्भावात् धर्मिधर्मोभयार्थस्योदाहरणत्वे न्याय्ये धर्मार्थस्योदाहरणत्वं चिन्त्यम्।

(आकाश पक्ष में)—अन्धकार ही मलिन होने से पङ्क अर्थात् कीचड़ हुआ। उस विगलित हुए अन्धकार का जो प्लव—चञ्चलता, उससे शबल अर्थात् रंगबिरंगा (जो) घनवर्त्म आकाश (वह) मधुर = सुकुमार जो तरणि = सूर्य का आतप = प्रभा; उसके योग से तार = हृद्य था।

(भौंरे के पक्ष में)—मधुपायी और उनकी पंक्ति = पाँतें, अन्धकार—पङ्कप्लव ही विगलित होने से और निःसार (प्राणरहित) होने से शव = मुरदा हुआ, उसके लंघन से वर्त्म में पाँखों में, (या देखने वालों की आँखों में) दूरमा—अरमणीय शोभा है जिसके। मधु-रता मकरन्द पर आसक्त, और रणिता—गूँजती, अथवा मधुरत से = मकरन्द के आसंग (पान) से रणित = गूँजन है जिसका। पयोगता—जल में विद्यमान। अरम्—अत्यधिक। यहाँ उपमेय वाची घनशब्द श्लेष में अन्तर्भूत हो जाने से जहाँ धर्मी और धर्म दोनों का उदाहरण बनना चाहिये था वहाँ केवल धर्मार्थ का ही उदाहरण बन पाता है यह विचारणीय बात है।

विमर्श : यहाँ व्याख्या में विगलितान्धकारपङ्कप्लवशबल' शब्द को मधुपपंक्ति के साथ लगाने का जो प्रयत्न किया गया है वह अधिक अच्छा नहीं है। हमारी समझ में विगलितान्धकारपङ्कप्लव शबला' इस प्रकार विभक्तिविपरिणाम द्वारा उसे पंक्ति के साथ अन्वित करना चाहिये। ऐसा करने से एक लाभ यह होता है कि 'च' इस समुच्चयबोधक अव्यय द्वारा पंक्ति के साथ समुच्चीयमान घनवर्त्म का भी बोध होता रहता है। शव—लंघन—वर्त्म—दूरमा करने पर पंक्ति के साथ घनवर्त्म का बोध नहीं होता। इसका कारण उसके वाचक घनवर्त्म शब्द का अभाव है। इस प्रकार का पद बनाने से घनवर्त्म शब्द नहीं रहता।

केचित् पुनः धर्मिधर्मोभयार्थस्यापि शब्दस्य श्लेषमिच्छन्ति, यथा—

'अनवरतनयनसलिलसिच्यमानस्तरुरिव विपल्लवोऽपि सहस्रधा प्ररोहति।' इति।

अत्र विपल्लवशब्दस्य। तच्चायुक्तम्। तथाहि—विपल्लवशब्दस्य धर्मिधर्मोभयार्थत्वेऽपि न धर्मार्थत्वम्, यतोऽयमुपमानस्य विशेषणभावमुपगन्तुं

नोत्सहते, तस्योपमेयाभिधाने चरितार्थस्यावृत्तेरनुपपत्तेस्तत्स्वरूपापहारप्रसङ्गात् ।

कुछ लोग धर्मी और धर्म दोनों ही पदार्थों के वाचक शब्दों का भी श्लेष मानते हैं जैसे—

अनवरतनयनसलिलसिच्यमान विपल्लव भी वृक्ष के समान सहस्रों शाखाओं में अंकुरित हो उठता है ।

यहाँ विपल्लव शब्द का (धर्मी और धर्म दोनों में ही श्लेष मानते हैं) पर यह ठीक नहीं। कारण कि विपल्लव शब्द धर्मी और धर्म दोनों अर्थों में है तब भी वहाँ धर्मार्थक (पल्लवराहित्यवाचक) नहीं हो सकता। क्योंकि यह उपमान (तरु) का विशेषण नहीं हो सकता। वह उपमेय (विपत्ति के लेश) को बतलाकर समाप्त हो जाता है। अतः उसकी आवृत्ति नहीं हो सकती। आवृत्ति के अभाव में भी धर्मार्थक मानने पर) उपमेय का स्वरूप उच्छिन्न होने लगता है ।

अनवरतेति । **अनवरतं नयनसलिलेन सिच्यमानो वृद्धिं नीयमानः। तथा अनवरत नयनं प्रापणं यस्य तेन सलिलेन सिच्यमान आर्द्रत्वं प्राप्यमाणः। विपदो लवः सूक्ष्मभागो विपल्लवो विगतकिसलयश्च । प्ररोहति विस्तीर्णीभवति अङ्कुरांश्च मुञ्चति ।**

धर्मार्थत्वमिति। **अत्र स्थितमपि धर्मार्थत्वं नोपमानविशेषणत्वायालं विशेषणत्वस्य कक्ष्यान्तरभावित्वात् । न चावृत्तिमन्तरेण कक्ष्यान्तरपरिग्रहो न्याय्यः। न चात्रावृत्तिः कार्या। प्रमाणाभावात्। अनावृत्तौ तु तस्यामेव कक्ष्यायां विशेषणत्वे उपमेयस्वरूपापहारप्रसङ्ग इति पदार्थः।** तस्योपमेयेति **तच्छब्देन विपल्लवशब्दः परामृष्टः।**

य पुनरिति **श्लेषप्रयोजकः शब्दः।** अप्रधानं **विशेषणभूतम्। प्रधानस्य हि पूर्वोक्तन्यायेनावृत्तिर्न्याय्या।** निबन्धन**मिवादि।**

अनवरत—लगातार, नयनसलिल = आँसुओं से-सिच्यमान सींचा जाता–आपत्तिकाल।

अनवरत—लगातार नयन = ले जाना (ढोना) हो रहा है जिसका ऐसा जो सलिलजल उससे सिच्यमान भिगोया जा रहा वृक्ष।

विपद—विपत्ति का लव = टुकड़ा, छोटा सा हिस्सा। विपल्लव पल्लव-रहित—वृक्ष।

प्ररोहति—विस्तृत होता है, और अंकुर निकालता है।

धर्मार्थत्व—यहाँ धर्मार्थत्व है, तब भी वह उपमान का विशेषण बनने में समर्थ नहीं। इसलिए कि उसमें विशेषणरूपता आती है—दूसरी कक्षा में और दूसरी कक्षा का ज्ञान आवृत्ति के बिना मान्य नहीं। (वह) आवृत्ति यहाँ की नहीं जा सकती क्योंकि उसमें कोई प्रमाण (हेतु) नहीं है। आवृत्ति के अभाव में उसी कक्षा में विशेषण-भाव प्रतीत होने से उपमेय का स्वरूप समाप्त होने की सम्भावना रहती है।

तस्यो०—यहाँ तद् शब्द से विपल्लवशब्द का परामर्श किया गया। यः पुनः—श्लेषोत्थापक पद।

अप्रधान—विशेषणभूत। पूर्वोक्त रीति से प्रधान की आवृत्ति मान्य है।

निबन्धनम्—इव आदि।

यः पुनरप्रधानमेवार्थमभिधत्ते न प्रधानमसावुपयुक्तार्थोऽपि निबन्धनसद्भावे सत्यावर्त्तत एव। यथा—

'सानुस्थितिर्जनकराजसुतेव भास्वदङ्कोल्लपल्लवतया श्रियमेति यस्य।' इति॥

अत्र भास्वदङ्कोल्लपल्लवताशब्दः।

इह पुनर्द्विरुपादानमेवैकमुपमानसम्बन्धबुद्धिनिबन्धनमवसेयं न चेवाद्यव्ययमनव्ययमलङ्कारान्तरं वा किञ्चित् ।

किन्तु जो किसी अप्रधान अर्थ का अभिधान करता है प्रधान का नहीं, वह अपना अर्थ बतलाकर समाप्त हो जाता है इतने पर भी यदि कोई कारण उपस्थित हो तो उसकी आवृत्ति हो जाती है। जैसे—'जिसकी सानुस्थिति भास्वदङ्कोल्लपल्लवता के कारण सीता के समान सुहावनी लगती है।' यहाँ 'भास्वदङ्कोल्लपल्लवता' शब्द।

यहाँ (विपल्लवशब्द में) एकमात्र दो बार उपादान करना ही उपमान—सम्बन्ध का ज्ञान कराने में हेतु माना जाना चाहिये। न कि इव आदि अव्यय अथवा अव्यय से भिन्न और कोई या कोई अन्य अलंकार।

सानुः **पर्वतस्य मालभूभागः। अङ्कोल्लाख्यास्तरवः तेषां पल्लवा भास्वन्तो यत्र। अङ्कोल्लशब्दः प्राकृतभाषापदमपि कविभिरतिप्रसिद्धया श्लेषादिषु प्रयुज्यते। तथा च 'सकुशाङ्कोल्लपल्लवा। मैथिलीव श्रियं धत्ते' इति परिमलेन प्रयुक्तम्। संस्कृते पुनरङ्कोठशब्दः स्थितः। तथा भास्वानङ्के उल्लपन् मुखरः लवाख्यः पुत्रो यत्रेति सामान्येनान्यपदार्थो गृह्यते।**

इहेति **विपल्लवशब्दे।** इवाद्यव्ययमिति **तरुरिवेति प्रयुक्तस्येवशब्दस्यान्यथा व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्।** अलङ्कारान्तरं **समासोक्त्यादि।**

सानुः—पर्वत की चोटी का भाग।

अङ्कोल्ल—इस नाम का एक वृक्ष, उनके चमचमाते पत्ते हैं जहाँ। अङ्कोल्ल--शब्द प्राकृत भाषा का है। अतिप्रसिद्ध होने से कवि उसे श्लेष आदि में संस्कृत के बीच दे देते हैं। परिमल कवि ने भी लिखा है—'सकुशाङ्कोल्लपल्लवा मैथिलीव श्रियं धत्ते'। संस्कृत में तो 'अङ्कोठ' शब्द है। और (सीता पक्ष में) भास्वान् = तेजस्वी तथा अङ्क = गोद में उल्लपन् बोल रहा लव = नाम का पुत्र है जिसका। इस प्रकार दूसरा पदार्थ (सीता) यहाँ सामान्यरूप से लिया जाता है।

('मालभूभाग' = 'मालमुन्नतभूतलम्'—इत्युत्पलमाला—मेघदूत १।१६ सञ्जीविनी।)

इह—विपल्लवशब्द में।

इवाद्यव्यय—तरुरिव—यहाँ जो इव शब्द है उसको आगे और सिद्ध किया जानेवाला है।

अलंकारान्तर—समासोक्ति आदि।

यत्र च प्रधानार्थसंस्पर्शमात्रादेवोभयार्थस्य शब्दस्य द्विरुपादानमवश्यं कार्यं तत्र तदेकार्थस्य तत् स्थितमेव। यथा—

'अभ्रस्येद्धा रुचिर्वो रुचिरिव रुचितस्याप्तये वस्तुनोऽस्तु।' इति।

यथा च—

'खलतां खलतामिवासतीं प्रतिपद्येत कथं बुधो जनः।' इति।

जहाँ कहीं उभयार्थक शब्द का प्रधान अर्थ के संस्पर्श मात्र से दो बार उपादान नियमतः करना ही पड़ता है वहाँ केवल एक अर्थके वाचक शब्द का वह (दो बार प्रयोग) नियमतः होता ही है। जैसे—

चाही हुई वस्तु की प्राप्ति के लिये इद्ध (धधकती) रुचि के समान सूर्य की इद्ध रुचि

(दीप्ति) आपके लिये चाही वस्तु की प्राप्ति का कारण बने।' और जैसे—(पहले आया) खलतां खलतामिवासतीं'।

प्रधानार्थसंस्पर्शमात्रादिति। **यतः तेन पदेन सम्भवदप्रधानार्थेनापि प्रधानभूतोऽर्थः संस्पृष्टः, ततोऽन्तरसम्बन्धासहिष्णुत्वात् द्विरुपादानार्हत्वम्। यत्र च प्रधानाप्रधानोभयार्थस्य द्विरुपादानमवश्यं कार्यं, तत्र दण्डापूपिकया तदेकार्थस्य प्रधानमात्रार्थस्य शब्दस्य द्विरुपादानं न्यायसिद्धमेव।**

रुचिर्दीप्तिः अभिलाषश्च रुचिः। **अत्र द्वौ रुचिशब्दौ विशेष्यवाचित्वात् प्रधानार्थौ। ननूपमानस्य यदि विशेष्यत्वं नोपमेयविशेषणत्वं तत् कथमुपमेयसम्बन्धिन्युपमानस्य विभक्तिः। यथा 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इति। नैष दोषः। विशेषणत्वमवच्छेदकत्वं तच्चोपमानस्योपमेयं प्रत्युपमितिक्रियायां विद्यत एव। अन्यथा तयोः सम्बन्धाभावादनन्वयप्रसङ्गः। स्थिते विशेषणत्वे तस्य न विशेष्यविभक्तेर्हानिः काचित्। यत् पुनरिहोपमानशब्दस्य विशेष्यवाचित्वमुक्तं तद् धर्मिताभिप्रायेण। धर्मी ह्युपमानम्। न च स्वतन्त्रत्वात् विशेष्यार्थः। अतश्चैवायं 'स्त्रीव गच्छति षण्ढोऽयम्' इत्युपमेयलिङ्गं न भजते। धर्मवाचि तु विशेषणं विशेष्यलिङ्गमेव। तदुक्तम्—'गुणवचनानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति' इति। तदेवमुपमानमुपमेयविभक्तिं भजते धर्मित्वं च न जहातीति। खलता आकाशवल्ली।**

प्रधानार्थसंस्पर्शमात्रात्—क्योंकि उस पदने, जिसका कोई अप्रधान अर्थ भी सम्भव है, प्रधान भूत का स्पर्श किया है, अतः उसका और किसी अर्थ से सम्बन्ध न हो सकने के कारण दूसरी बार उपादान चाहिये। जहाँ प्रधान और अप्रधान दोनों अर्थों का दो बार उपादान अवश्य ही करना हो वहाँ दण्डापूपिका न्याय से—तदेकार्थक—प्रधानमात्रार्थ शब्द का दो बार उपादान स्वतः सिद्ध है। अर्थात् यदि किसी ने दण्डे (सींक) में रोटी पिरोकर रखी हो और यदि उस दण्डे को चूहा खा जाय या खींच ले जाय तो रोटी का खाया या खींचा जाना जैसे स्वतः सिद्ध होता है वैसे ही उभयार्थक शब्द का यदि दो बार प्रयोग आवश्यक हो तो एकार्थक के प्रयोग का दो बार होना स्वतः ही सिद्ध है।

रुचि—दीप्ति, और अभिलाषा भी रुचि। यहाँ दो रुचि शब्द विशेष्य वाची होने से प्रधानार्थक हैं।

(शंका)—यदि उपमान विशेष्य है, उपमेय का विशेषण नहीं तो उपमेय सम्बन्धी में उपमान की विभक्ति कैसे देखी जाती है जैसे—'वागर्थाविव संपृक्तौ' में।

(उत्तर)—यह दोष नहीं। विशेषणत्व होता है—अवच्छेदकत्व और वह उपमिति क्रिया में उपमान का उपमेय के प्रति है ही। ऐसा न होता तो उनमें सम्बन्ध न रहता और तब अन्वय न होता। विशेषणत्व होने पर भी उनमें विशेष्य की विभक्ति छूटती नहीं। यहाँ जो कि उपमानवाची शब्द को विशेष्यवाची बतलाया वह इसलिए कि उपमान धर्मी (सादृश्य या साधर्म्यरूपी धर्म से युक्त) होता है। उसे स्वतंत्रता के आधार पर विशेष्य नहीं—कहा गया है। इसलिये (धर्मी होने के कारण) यह (उपमान रूप विशेष्यार्थ) 'स्त्रीव गच्छति षण्ढोयम्' = देखो देखो यह नपुंसक स्त्री के समान चल रहा है—इत्यादि में उपमेय का लिङ्ग नहीं अपनाता। जो विशेषण धर्म—वाची होता है वह विशेष्य के लिङ्ग को अपनाता है। कहा भी है—'गुणवाची शब्दों के लिङ्ग और वचन विशेष्य के लिङ्ग और वचन पर निर्भर रहते हैं। इस प्रकार उपमान उपमेय की विभक्ति धारण करता है और धर्मित्व को नहीं छोड़ता। खलता—आकाशलता—

विमर्श : व्यक्तिविवेकव्याख्यानकार की यह स्थापना अत्यंत मौलिक है। इससे यह अभिप्राय निकलता है—उपमान उपमेय में विशेषण होता है, किन्तु अन्य विशेषणों के समान नहीं। अन्य विशेषण धर्म रूप होते हैं जब कि उपमान धर्मी होता है। उपमान की धर्मिता की पहचान यह है कि वह उपमेय रूप विशेष्य का लिङ्ग नहीं अपनाता। वह केवल अवच्छेदक होता है। अवच्छेदक का अर्थ—परिमापक है। 'मुख सुन्दर है' कहने पर यह प्रश्न उठता है कि उसमें सौन्दर्य कितना है? उसके उत्तर में चन्द्र आदि उपमान उपस्थित कर दिये जाते हैं। उनसे यह प्रतीत होता है कि मुख का सौन्दर्य, सौन्दर्य के अगाध समुद्र का उतना बड़ा हिस्सा है जितना बड़ा चन्द्र का सौन्दर्य। इसप्रकार चन्द्र मुख के सौन्दर्य की नाप बन गया। इतने ही अर्थ में वह मुख आदि का विशेषण कहा जा सकता है। इस प्रकार उपमान—अवच्छेदकता-मात्र के आधार पर विशेषण माना जाता है। उपमान को धर्मी होने के आधार पर विशेष्य भी कहा जा सकता है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थ-कार ने 'रुचिरिवरुचिः'—यहाँ दोनों रुचि को विशेष्य माना है।

(दण्डापूपिकान्याय—मूषकेण दण्डो भक्षितश्चेदिहस्थः पूपोऽपि तेन भक्षित इति न्यायो दण्डापूपिका—साहित्य कौमुदी)

न चावृत्तिनिबन्धनमिवशब्दोऽत्र प्रयुक्त एवेति कुतः प्रधानार्थसंस्पर्शवशाद्विपल्लवशब्दस्य द्विरुपादानप्रसङ्ग इति शक्यते वक्तुं, तस्य तरुविपल्लवयोरुपमानोपमेयभावद्योतनमात्रचरितार्थस्य तयोर्विशेषणविशेष्यभावाभिधानसामर्थ्याभावात्।

अथ विपल्लवशब्दस्य तरुविशेषणभावोपगमयोग्यार्थान्तरसम्भवे तस्य तरुणा सामानाधिकरण्ये सत्याकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशात् तयोर्विशेषणविशेष्यभावोऽवगम्यत इति चेत्, तन्न; वाक्यप्रभेदप्रसङ्गात् 'विपल्लवस्तरुरिव स च तरुर्विपल्लव' इति।

अथ समासोक्तिवशादुक्तनयेन तयोः सम्बन्धावगतिरिति। तदयुक्तम्। तस्या उपमानभूतधर्मिमात्रप्रतीतिसामर्थ्योपगमात्। इह तु तरुरिवेति तदुपात्तमेवेति व्यर्थ एवायमनेकार्थपदोपादानप्रयासः कवेः।

तस्मात् सलिलसिच्यमानत्वसहस्रधाप्ररोहादिसमानधर्मापेक्षयैवात्र तरुविपल्लवयोरुपमानोपमेयभावोऽवगन्तव्यः न तु श्लेषः, स हि भ्रान्तिमात्रकृतः।

यह नहीं कहा जा सकता कि 'यहाँ (तरुरिव विपल्लवोऽपि) में (विपल्लव की) आवृत्ति के लिये इव शब्द का प्रयोग किया गया है, इसलिये प्रधान अर्थ के संस्पर्श से उसके पुनः उपादान का प्रश्न ही कहाँ उठता है? (क्योंकि)—'वह' (इव शब्द), केवल तरु और विपल्लव—के उपमानोपमेयभाव को बतलाकर समाप्त हो जाता है, अतः वह उनके विशेषणविशेष्यभाव को नहीं बतला सकता। ऐसा कहना भी ठीक नहीं कि—'विपल्लव-शब्द का वह अर्थ भी सम्भव है जो तरु का विशेषण माना जा सके, ऐसा होने पर जब उसका तरु के साथ सामानाधिकरण्य हो जाता है तो आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के आधार पर उसका विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध भी जाना

जा सकता है' क्योंकि ऐसा करने पर वाक्यभेद की आपत्ति आती है। 'विपल्लव तरु' के समान और वह तरु विपल्लव (= पल्लव रहित)—इस प्रकार (का वाक्यभेद होगा)। यदि यह माना जाय कि 'समासोक्ति के आधार पर कथित रीति से उनके सम्बन्ध का बोध हो जायगा—'तो वह भी ठीक नहीं' क्योंकि उस (समासोक्ति) में केवल उपमानभूत धर्मि (जो कि शब्दतः कथित नहीं रहता) की प्रतीति की शक्ति मानी जाती है। यहाँ तो वह (उपमान) 'तरुरिव' इस प्रकार शब्द द्वारा कह दिया गया है, इसलिये कवि का अनेकार्थक पद का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। इसलिये यहाँ सलिल द्वारा सिच्यमानता और सहस्रधा-प्ररोहयुक्तता आदि साधारणधर्म को लेकर ही तरु और विपल्लव का उपमानोपमेयभावमात्र माना जाना चाहिये, श्लेष नहीं। उसकी प्रतीति तो केवल भ्रान्ति से होती है।

अत्र प्रयुक्त इति। तरुरिवेत्यत्र।

वाक्यभेदप्रसङ्गादिति 'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यत' इति वाक्यभेदस्य प्रतिपत्तिगौरववत्त्वाद्धेयत्वम्।

अत्र समासोक्तीति। अनवरतजलेत्यादेर्विशेषणस्य द्व्यर्थत्वात्। उपमानभूतेति। यत्रोपमानभूतस्य धर्मिणोऽन्यस्यार्थस्य गम्यमानत्वं तत्र समासोक्तिः, न साक्षादुपादान इत्यर्थः।

अत्र प्रयुक्त = तरुरिव यहाँ प्रयुक्त है।

वाक्य भेद प्रसंग—एकवाक्यता संभव हो तो वाक्यभेद अच्छा नहीं, इसप्रकार वाक्यभेद प्रतिपत्तिगौरव (ज्ञानगौरव) का कारण बतलाया—गया है।

अत्र समाससोक्तिः—'अनवरतजल' इत्यादि विशेषण द्व्यर्थक है। (इससे समासोक्ति)।

उपमानभूता—जहाँ उपमानभूत किसी धर्मी का दूसरा अर्थ गम्य हो वहाँ समासोक्ति होती है, उसके शब्दतः उपादान में नहीं।

यथा च—

"क्वचित् तरुतलविवरवर्त्तिनो बभ्रव क्वचित् स्वच्छन्दचारिणो हरिणाः क्वचिज्जटावल्कलावलम्बिनः कपिला" इति।

और जैसे:—कहीं तरुतल और विवर में स्थित बभ्रु (पीले और नकुल = चातक) कहीं स्वच्छन्दचारी हरिण—(हरे रंग के और मृग) कहीं जटावल्कलावलम्बी कपिल—(पीले और कपिलमुनि)।

क्वचिदिति। बभ्रवः कपिलाः। एतद् दावाग्निविशेषणं सन्नकुललक्षणमर्थं प्रतिपादयतीति धर्मिधर्मोभयात्मत्वम्। एवं हरिणा हरिता मृगाश्च। जटा मूलानि केशसन्निवेशाश्च। वल्कलं वृक्षत्वक् तत्कृतं च वासः। कपिलाः पिङ्गला मुनिविशेषाश्च। आरोपविषयबहुत्वादारोप्यमाणानामपि बहुत्वम्।

क्वचिद्—बभ्रुः कपिल वर्ण के। यह दावाग्नि का विशेषण होते हुए नकुल (नेवला) का ज्ञान कराता है इसलिये धर्मीरूप भी है और धर्मरूप भी।

इसीप्रकार हरिण—हरे रंग के और मृग।

जटा—जड़ और केशों का एक विशेषण रूप।

वल्कल = वृक्ष की छाल और उसके द्वारा बनाया कपड़ा।

कपिल—पीले और उस नामके एक मुनि। आरोपविषय बहुत होने से आरोप्यमाण भी बहुत हुए।

एवमर्थश्लेषेऽप्यवगन्तव्यम्। यथा—

'समन्ततः केसरिणं वसन्तं भीमं च कान्तं च वपुर्वहन्तम्।
विलोक्य दूरात् तरसाभिमानो दुर्वारणः क्वापि गतः स मत्तः॥' इति।

इसी प्रकार अर्थश्लेष में भी समझना चाहिये। जैसे—'केसरी भीम (भयंकर, वियोगियों के लिये दुःखद और कान्तशरीर धारण किये हुए वसन्त को चारों ओर देखकर वह दुर्वारण अभिमान दूरसे—ही बड़े वेग के साथ मुझ से हट गया।' (वह मतवाला और बिगड़ा हाथी शेर को रहता देख कहीं चला गया)।

केसरिणं **बकुलपुष्पवन्तं सिंहं च।** वसन्तं **माधवं निवसन्तं च।** अभिमानो **धाराधिरूढो मानो महाप्रमाणश्च। दुर्वारणोऽशक्यवारणो दुष्टश्च करी। मत्तो मत्सकाशात् समदश्च। अभिमान इति न तथा हृदयङ्गमः पाठः।**

केसरिणम्—बकुलपुष्पयुक्त (वसन्त को) और सिंह को। (केसर = बकुल पुष्प और सटा उससे युक्त वसन्त और सिंह)

वसन्तम्—वसन्त ऋतु को और रहते हुए (शेर) को।

अभिमानः—धाराधिरूढ़ मान और बहुत बड़े (मान) आकार का (हाथी)।

दुर्वारणः—जिसका निवारण सम्भव नहीं, और दुष्टगज।

मत्तः—मुझसे, और मद से युक्त।

यहाँ अभिमान यह उतना अच्छा पाठ नहीं है।

अत्र हि केसरिदुर्वारणयोर्वसन्ताभिमानयोश्च धर्मिधर्मोभयार्थयोरन्योन्यं विशेषणविशेष्यभावो रूप्यरूपकभावो वा निबद्धः। स चायुक्तः। न हि स्वतन्त्रपरतन्त्रतालक्षणविशेषणविशेष्याद्यात्मकविरुद्धोभयार्थाभिधानं सकृदुपात्तेनैकेनैव शब्देन शक्यते कर्त्तुम् अर्थयोरन्योन्यविरोधात्। द्विरुपादाने तु तयोर्भिन्नार्थत्वान्न कश्चित् दोषः। यथा—

'अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव॥'

इत्युक्तप्रायम्।

न च तदुपात्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

यहाँ केसरी और दुर्वारण या वसन्त और अभिमान जो धर्मी और धर्म दोनों के अर्थ में है, उनका विशेषणविशेष्यभाव या रूप्यरूपकभाव निबद्ध किया गया है। वह अयुक्त है। केवल एक बार कथित शब्द के द्वारा स्वतंत्रता जिसका असाधारण धर्म है वह विशेष्य और परतंत्रता जिसका असाधारण धर्म है वह विशेषण तथा ऐसे और भी परस्पर विरोधी दो अर्थों का अभिधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे अर्थ परस्पर विरुद्ध होते हैं। दो बार उपादान होने पर वे भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हो जाते हैं, अतः कोई दोष नहीं रहता। जैसे—'काजल की बूँद के समान मनोहर और पुष्पपंक्ति पर टूटने वाले भौरों से चिह्नित तिलक (वृक्ष), जिस

प्रकार प्रमदा को (माथे पर लगा) तिलक सुशोभित करता है उसीप्रकार तिलक वनस्थली को शोभित नहीं कर रहा था ऐसी बात नहीं ।' इत्यादि में प्रायः कह दिया गया हो । परन्तु (समन्ततः इत्यादि पद्य में) वह (द्वितीय पद) नहीं दिया गया अतः वाच्य होने पर भी उसका अवचन (अकथन) वाच्यावचन दोष हुआ ।

अन्योन्यमिति **वसन्तमित्यस्य केसरिणमिति विशेषणं, सिंहपक्षे च केसरिणमित्यस्य वसन्तमिति।** रूप्येति **यः केसरी प्रतीतः स वसन्तस्य रूपकत्वेन न ताटस्थ्येन। एवं वसन्तमित्यस्य निवसनार्थयोगेऽपि वसन्तार्थः केसरिणो रूपकत्वेन योजनीयः। इत्थमेव दुर्वारणाभिमानयोर्वाच्यम्। विशेष्यत्वेन रूप्यत्वेन च स्वतन्त्रत्वं, तद्विपर्ययेण परतन्त्रत्वम्।** विशेष्याद्यात्मकेति **। आदिग्रहणेन रूप्यरूपकभावो गृह्यते।**

तिलकस्त**रुविशेषस्तिलकः विशेषकश्च।**

अन्योन्येति—केसरी यह वसन्त का विशेषण है और वसन्त केसरी का ।

रूप्य—जो केसरी प्रतीत हुआ वह वसन्त के रूपक के रूप में, तटस्थरूप में नहीं । इसी प्रकार 'वसन्तम्' का रहने अर्थ में प्रयोग होने पर भी वसन्त ऋतुरूपी अर्थ केसरी के साथ रूपकरूप से मिलना चाहिये । इसीप्रकार दुर्वारण और अभिमान का माना जाना चाहिये । विशेष्य होने और रूप्य होने से स्वतंत्रता, उसके विपरीत होने से परतन्त्रता ।

विशेषाद्यात्मक—आदि शब्द से रूप्यरूपकभाव का ग्रहण किया जाता है ।

तिलक—एक वृक्ष और भाल का टीका ।

तदभिव्यक्तिनिबन्धनसद्भावे तु तयोः प्रधानेतराभिव्यक्तौ विशेषणविशेष्यप्रतिनियमो युक्त एव। यथा—

'अतिगम्भीरे भूपे कूप इव जनस्य निरवतारस्य।
दधति समीहितसिद्धिं गुणवन्तः पार्थिवा घटकाः॥' इति।

अत्र हि इवशब्दनिबन्धनो गुणवत्त्वघटकत्वयोर्विशेषणविशेष्यभावः, न पार्थिवत्वस्यापि, तस्योपमेयतया प्राधान्यात् तस्य स्वरूपापहारापत्तेरित्युक्तम्।

उसकी अभिव्यक्ति का कारण विद्यमान हो तो उनकी प्रधानता और अप्रधानता की अभिव्यक्ति हो जाती है, और तब विशेषणविशेष्य का निश्चितरूप ठीक ही रहता है ।—उदाहरणार्थ—'जो राजा कूप के समान अतिगम्भीर होता है उसमें उतरने में असमर्थ व्यक्ति की इष्टसिद्धि गुणवान् और पार्थिव घटक करते हैं ।'

यहाँ इव शब्द के कारण गुणवत्व और घटकत्व का विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध है न कि पार्थिव का भी, क्योंकि वह उपमेय होने से प्रधान है । नहीं तो, उस (प्राधान्य) का स्वरूप ही उच्छिन्न होने लगेगा ।

तदभिव्यक्ति **रुभयार्थाभिव्यक्तिः। तयोरर्थयोः।**

गुणवन्तो **रज्जुयुक्ता अपि। घटकाः सङ्घटयितारो ह्रस्वाश्च घटाः।** पार्थिवा **राजानः, ननु वक्ष्यमाणयुक्त्या पृथिवीविकारा व्याख्येयाः।**

गुणवत्त्वघटकत्वयोरिति। यद्यप्यत्र समीहितसिद्धौ हेतुत्वेन व्यवस्थितस्य घटका इत्यस्य पार्थिवा इति प्रतिविशेषणत्वं, तथापि कूप इवेत्युपमासामर्थ्याद् विशेष्यत्वमपि घटते॥

गुणवन्तः—रज्जु से युक्त भी।

घटक—घटना (मिलन) करा देने वाले और छोटे-छोटे घड़े भी।

पार्थिव—राजा, न कि आगे कहे जाने वाले ढंग से पृथिवी के विकार भी।

गुणवत्त्वघटकत्वयोः—यद्यपि यहाँ समीहितसिद्धि में हेतु रूप से व्यवस्थित 'घटका' इसका 'पार्थिव' इसके प्रति विशेषणभाव है तो भी 'कूप इव' इस उपमा के आधार उसकी विशेष्यता भी बन जाती है।

किञ्च मत्त इत्यस्य द्विरुपादानेऽपि नार्थश्लेषो घटते तयोर्भिन्नविभक्तिकत्वादिति भ्रान्तिमात्रकृतस्तत्रार्थश्लेषाभिमानः।

किञ्च लक्षणवाक्ये शब्दमात्रेणेति यन्मात्रग्रहणं तदुपमानसामानाधिकरण्यतदितरयोग्ययोरुभयोरपि शब्दयोः परिग्रहार्थम्। तेन लिङ्गवचनविभक्तिविशेषयोगे सति यस्य तद्योग्यत्वमुपजायते तेनापि सादृश्यं कथनीयमित्यप्यनुज्ञातं भवति।

तत्र लिङ्गविशेषयोगे सति यथा—

'उषसि विगलितान्धकारपङ्कप्लवशबलं घनवर्त्म दूरमासीत्।
मधुरतरणितापयोगतारं कमलवने मधुपायिनां च पङ्क्तिः॥' इति।

अत्र चशब्दनिबन्धना श्लेषाभिव्यक्तिः।

और 'मत्त' इसका दो बार उपादान होने पर भी अर्थ श्लेष बनता नहीं है क्योंकि उन दोनों [मत्तः मत्तः इसप्रकार दो वार प्रयुक्त हुए मत्त शब्दों] में विभक्ति भिन्न है। (एक में प्रथमा है और दूसरे में पंचमी) इसलिये वहाँ अर्थश्लेष की मान्यता केवल भ्रान्तिजन्य है। और (यत्रान्यूनातिरिक्तेन—इस) लक्षणवाक्य में 'शब्द मात्रेण' इसप्रकार जो मात्रशब्द का ग्रहण है वह (१) उपमान सामानाधिकण्य और (२) उससे भिन्न (वैयधिकरण्य) के योग्य इसप्रकार के दोनों शब्दों के संग्रह के लिए। इससे विशेष प्रकार के लिंग, वचन, विभक्ति का योग होने पर जो उसके योग्य ठहरता है उससे भी सादृश्य कहा जाना ही चाहिए। ऐसा भी अर्थ अभिमत है।

लिङ्गविशेष का योग होने पर जैसे—(पूर्वोक्त)

'उषसि विगलिता……'—यहाँ 'च' शब्द से श्लेष की अभिव्यक्ति होती है।

विमर्शः यहाँ घनवर्त्म नपुंसकलिंग है और पंक्ति पुँलिङ्ग इतने पर भी दोनों का सादृश्य बतलाया गया है। व्यक्तिविवेक व्याख्यान अभीतक इससे आगे नहीं मिला है। त्रिवेन्द्रम् और चौखंबा, वाराणसी, से वह यहीं तक प्रकाशित हुआ है।

वचनविशेषयोगे यथा—

'वघटिततिमिरौघदिक्प्रबन्धप्रकटनभस्यभवन्निशावसाने।
स्फुटदलनमनाश्च पद्मषण्डास्तपदि हिमेतरदीधितिश्च तेषाम् ॥' इति।

अत्र चशब्दनिबन्धनावृत्तिः।

वचनविशेष के योग में जैसेः—'रात बीतने पर अँधेरे का ढेर विघटित हो गया और दिशाओं का आकाश स्पष्ट दिखाई देने लगा, तो कमल के समूह तत्काल स्फुटदलनमन हो गये, और सूर्य भी उनके लिये स्फुट-दलन-मनाः होने लगा।' यहाँ 'च' शब्द से श्लेष की अभिव्यक्ति होती है।

विमर्शः स्फुट—खिले, दल, पखुड़ियों से, नमन = झुकने वाले—कमल, स्फुट = साफ-साफ, दलन = खिलाने, के लिये—मनाः—इच्छुक—सूर्य च शब्द के कारण यहाँ स्फुट…—इत्यादि विशेषण का कमलषण्ड और सूर्य दोनों में अन्वय होता है। यहाँ अभवन्निशा में सन्धि के कारण 'अभवत्' का एकवचन छिप गया उससे—बहुवचन भी आ गया। 'मनस्' शब्द सान्त होने से प्रथमा के एक वचन में वैसा ही बन गया जैसा नमन शब्द—पुंलिंग में बहुवचनान्त होने पर होता है।

यथा च—

'तनुत्वरमणीयस्य मध्यस्य च भुजस्य च।
अभवन्नितरां तस्या वलयः कान्तिवृद्धये ॥' इति।

और जैसे—'वलयः' (वलियाँ और कंगन) उस सुन्दरी के तनुता से रमणीय मध्य और भुज दोनों के लिये अत्यधिक कान्तिवर्धक हुआ।'

विमर्शः—यहाँ 'वलयः' का मध्य के साथ त्रिवली के अर्थ में सम्बन्ध हो जाने पर भी 'च' शब्द के आधार पर भुज के साथ कंकण के अर्थ में सम्बन्ध होता है।

विभक्तिविशेषयोगे यथा—

'सरसमन्थरतामरसोदरभ्रमरसज्जलया नलिनी मधौ।
जलधिदेवतया सदृशीं श्रियं स्फुटतरागतरागरुचिं दधौ ॥' इति।

अत्र सादृश्यमनव्ययमावृत्तिनिबन्धनम्।

विभक्तिविशेष के योग में, यथा :—

सरस—मन्थर-तामरसोदर-भ्रमर-सज्ज-लया, कमलिनी ने सरस-मन्थ-रत-अमर-सोदर-भ्रम-रसज्-जलया (जल वाली)—समुद्र देवता के सदृश स्फुटतर-आगत-रागरुचि-श्री को धारण किया।' यहाँ (सदृशी पद से व्यक्त) सादृश्य जो अव्यय नहीं है वह सादृश्य का कारण है।

विमर्श : तामरसोदर = कमल के भीतरी भाग में बैठे भौंरे के सरस और मंद गुंजार से युक्त-नलिनी। यहाँ 'कुवलया' में स्त्रीलिंग एक वचन है। सरस = प्रलोभन से युक्त, मन्थ-रत = मथने में लगे, अमर = देवता और उनके सोदर = सहोदर भाई दैत्य, उनके भ्रम = घुमाने से, रसत् = आवाज करता हुआ है—जल जिसका ऐसी जल की अधिदेवता (देवता शब्द संस्कृत में स्त्रीलिंग है।) समुद्र का अधिदेवत रूप (स्त्री)। यहाँ जलया में स्त्रीलिंग तृतीया का एक वचन है।

'स्फुटतरागतरागरुचि'—स्फुटतर-आगत-राग-रुचि। साफ साफ आई लाल वर्ण की कान्ति (नलिनी पक्ष में)। राग = पद्मराग की कान्ति-(समुद्र पक्ष में)। समुद्र पक्ष में एक अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि—मन्थन काल में मन्थन स्वर एक विशेष राग = लय से युक्त प्रतीत हो रहा था। दही मथते समय महिलाएँ अरई से विशेष स्वर निकाला करती हैं। यहाँ सदृशी शब्द से 'सरस-जलया' को जलधि देवता और नलिनी दोनों पक्ष में लगाना ही पड़ता है।

न्यूनातिरिक्तप्रतिषेधश्चास्य प्रधानविशेषणसाम्यप्रतिपत्त्यर्थः। तेन यत्र तत्र सम्भवति स दुष्ट एव श्लेष इत्यवसेयम्।

तत्र न्यूनत्वं यथा—

'इह चटुलतया विलोचनौघैः स्फुटशितितारकविभ्रमैस्तरुण्यः।
दधति मधुकरैश्च कोरकान्तस्थितिरमणीयतरैः श्रियं नलिन्यः॥' इति।

अत्र मधुकरपक्षे न्यूनत्वम्।

(श्लेष के लक्षण में)—न्यून और अतिरिक्त शब्द का निषेध इस (श्लेष) के प्रधान विशेषण की समता का ज्ञान कराने के लिये है। उससे यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि—जिसमें वह नहीं होता वह श्लेष दुष्ट ही होता है। इनमें न्यूनता जैसे—'इस जगह तरुणियाँ और कमलिनियाँ—सौन्दर्य धारण करती हैं। तरुणियाँ काली पुतली के साफ साफ विभ्रम वाली अनन्त आँखों से और कमलिनियाँ-कमल के बीच बैठने से अधिक सुन्दर भौंरों से।' यहाँ मधुकर पक्ष में (चटुलता की) न्यूनता है।

विमर्श : यह न्यूनता कैसे है यह इस प्रकार पाठ बदलने से विदित होता है—'दधति सरसिजैस्तथा द्विरेफस्थितिरमणीयतरैः।' इस पाठ में चटुलता धर्म सरसिज में अन्वित हो जाता है किन्तु वह भ्रमरों में अन्वित नहीं होता। भ्रमरों की स्थिति (बैठने) का उल्लेख किया गया है, इस लिये उनकी चंचलता नहीं मानी जा सकती। साथ ही आँखों का अर्थ केवल आँख की पुतली नहीं है, पलक, बरौनी और पुतली के समुदाय का नाम आँख है। मधुकर की तुलना केवल आँख की पुतली से दी जा सकती है, पूरी आँख से नहीं। पूरी आँख से जिसकी तुलना होती है वह है उस (भ्रमर) से युक्त कमल। इसके लिये कालिदास का यह पद्य प्रमाण है—

'तद् वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम्॥' (रघु० ५।६८)

इसलिये चटुलता का भ्रमर में अन्वय नहीं होता यह कमी रह जाती है।

अतिरिक्तत्वं यथा—

'दिशि दिशि विहगास्तनूस्समन्तादनलसपक्षतयोपचीयमानाः।
उषसि जिगमिषाकुलास्तदानीं दयितवियोगदशा वधूश्च देहुः॥' इति।

अत्र दयितवियोगदशापक्षेऽतिरिक्तत्वम्। अव्ययमावृत्तिहेतुः।

अतिरिक्तता (अधिकता) जैसे—

'पौ फटते ही अनलस—पक्षता (पंखों का आलस्य निकल जाने) से उपचीयमान (उपचय = वृद्धि को प्राप्त हो रहे) अपने शरीरों को पक्षी गण दिशाओं में (क्रिया का अभाव) और अनल (विरहाग्नि) की सपक्षता = (आश्रयता) के कारण प्रियवियोग दशाएँ जाने के लिए आकुल अभिसारिकाओं को जलाने लगीं।'—यह

यहाँ दयितवियोगदशापक्ष में अतिरिक्तता (अधिकता) है और आवृत्ति का हेतु अव्यय ('च') शब्द है।

विमर्श : इस पद्य में दो पक्ष हैं एक विहग पक्ष और दूसरा वियोगदशा पक्ष। पहले का कर्ता है विहग और दूसरे का दशा। दोनों पक्षों में पद्य के अन्य पदार्थों की योजना इस प्रकार होगी—'उषसि तदानीं दिशि दिशि विहगाः जिगमिषाकुलाः (सन्तः) अनलस-पक्षतया उपचीयमानाः (सतीः) तनूः समन्तात् (क्रियापद नहीं दिया है) दयितवियोगदशाः (कर्त्र्यः) च अनल-सपक्षतया उपचीयमानाः (सत्यः) जिगमिषाकुलाः (सतीः) वधूः देहुः।'

इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि 'देहुः' यह क्रिया विहग पक्ष में अन्वित नहीं होती क्योंकि जलाने अर्थ की √'दह' धातु के परोक्षभूत में अन्य पुरुष के बहुवचन का वह रूप है, उसमें कोई दूसरा अर्थ नहीं है, फलतः पक्षियों में शरीरों का जलाना असङ्गत है। मधुसूदनी विवृति में 'देहुः' का अर्थ 'उपचिताः चक्रुः' भी किया गया है, निश्चित ही वहाँ इस क्रियापद को 'उपचय' अर्थ की 'दिह्' धातु से निष्पन्न माना गया है जो अत्यन्त भ्रामक है, 'दिह्' का परोक्षभूत में अन्य पुरुष के बहुवचन का रूप 'दिदिहुः' होता है, 'देहुः' कदापि नहीं।

दूसरी बात है 'उपचीयमानाः' और 'जिगमिषाकुलाः' इन विशेषणों के अन्वय में विषमता। 'उपचीयमानाः' विहगपक्ष में जहाँ कर्म = 'तनूः' में अन्वित होता है वहाँ दशापक्ष में कर्ता = दशा में। इसी प्रकार 'जिगमिषाकुलाः' जहाँ विहगपक्ष में कर्ता = विहग में अन्वित होता है वहाँ दशापक्ष में कर्म = वधू में। उपचीयमानाः = 'बढ़ रहे या फूल रहे'—इस भाव की संगति प्रातःकाल केवल विहगों के शरीर में ही संभव है, विहगों की संख्या में उपचय केवल सायंकाल होता है, प्रातःकाल प्रत्युत कमी होती है अतः उपचीयमानाः का अर्थ 'संख्यायां वर्धमानाः' भी नहीं किया जा सकता, इसके अतिरिक्त विहगों के साथ इस विशेषण की संगति अन्य किसी प्रकार से संभव नहीं है। दशापक्ष में उपचय वियोगदशा में ही संभव है। वधूजनों में उपचय अस्वाभाविक और व्यर्थ अतः अहृद्य है। इसी प्रकार 'जिगमिषाकुलाः' 'जाने की इच्छा से आकुल'—यह भाव प्रातःकाल विहगपक्ष में विहगों में संभव और स्वाभाविक है तथा दशापक्ष में वधूजनों में। दशाओं में 'जिगमिषया आकुला अधिकं मूर्च्छिताः'—ऐसी व्याख्या कर 'जिगमिषाकुलत्व' की संगति क्लिष्ट कल्पना है, और तब भी वधूजनों में 'जिगमिषाकुलत्व' अन्वित हुए बिना रहता नहीं है।

यहाँ श्लेष में अतिरिक्तता दिखलाई जा रही है। वह उक्त विवेचन के अनुसार 'देहुः' में स्पष्ट है क्योंकि वह केवल दशा पक्ष में ही अन्वित होता है विहगपक्ष में नहीं। 'जिगमिषाकुलत्व' विहगपक्ष के 'कर्म' में अन्वित नहीं होता अतः उसे दशापक्ष में अधिक कहा जा सकता है। किन्तु तब विहगपक्ष में 'उपचीयमानत्व' अधिक हो जाता है, फिर जहाँ तक दोनों पक्षों का प्रश्न है उनमें तो उक्त दोनों विशेषण लग ही जाते हैं भले ही वे किसी प्रकार लगें, अतः उनके आधार पर किसी एक पक्ष में न्यूनाधिकभाव नहीं बतलाया जा सकता। वस्तुतः 'इह चटुलतया' को अति-रिक्त का और 'दिशि दिशि विहगाः' को न्यूनत्व का उदाहरण मानना चाहिए। 'इह चटुलतया' पद्य में 'स्फुरदशितितारकविभ्रमत्व' समानरूप से अन्वित होता है अतः इसी से विलोचनों व तथा मधुकरों का साम्य बन जाता है। 'कोरकान्तःस्थितरमणीयतरत्व' केवल मधुकरों में अन्वित होता है अतः वह मधुकरपक्ष में अधिक है। इसी प्रकार 'दिशि दिशि'—में 'देहुः' क्रिया का विहगपक्ष में अन्वय न होने से किसी अन्य क्रिया की आवश्यकता है, किन्तु वह वहाँ नहीं है अतः उस पक्ष में उसकी न्यूनता है। इसी प्रकार उपचीयमानत्व की कमी वधुओं में दिखलाई जा सकती है और 'जिगमिषाकुलत्व' की 'तनूः' में उपचीयमानत्व केवल दशा में लगता है, विहग में नहीं अतः एक में अधिकता और दूसरे में न्यूनता दिखलाई जा सकती है।

'प्रचलच्चामरचारुहेमभाण्डम्'।

'भाण्डं पात्रे वणिङ्मूलधने भूषाश्वभूषयोः'—मेदिनी

जवनिका = तिरस्करिणी या परदा, और जवनिका—घोड़े के पीठ पर पहनाया गया कपड़ा—अथवा चाल। घोड़ों की चाल का उल्लेख मल्लिनाथ ने माघ के ५।१० पद्य की टीका में किया है। वहाँ जवनिका का उल्लेख धारार्थां और वल्गा किसी में नहीं है। धारा के पांच भेदों में एक मध्यजवा भेद है। ज्ञात होता है 'जवनिका' धारा सामान्य के लिये आया है। धारा गति का नाम है और 'जव'—वेग का। धारा गति लघ्वी मध्या और दीर्घा—तीन उपभागों में विभक्त की गई है, जवनिका उसका मध्यभाग होना चाहिये। बुन्देलखण्डी भाषा में उसे डुबकी चाल कहते हैं। इस चाल में ही घोड़े की अच्छाई देखी जाती है। इस चाल में चलते घोड़े की पीठ एकदम स्थिर रहती है, केवल पैर ही चलते हैं। यहाँ तक कि परीक्षा लेने के लिये घुड़सवार लोग पीठपर बैठते और हाथ में लबालब भरा कटोरा रख लेते हैं। घोड़ा चलता रहे और पीठ पर बैठे सवार के हाथ का कटोरा न छलके तो घोड़ा कीमती माना जाता है। यहाँ—नाटक पक्ष में उसके कर्त्ता का तिरोधान होता है।

एवम्—

'अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः॥'

इत्यादावपि द्रष्टव्यः। अत्र हि 'न विद्विषा भीः सुहृदा च नादरः' इति युक्तः पाठः।

इसी तरह— 'अवन्ध्यकोपस्य.......' शरीरधारी लोग उस व्यक्ति के वश में स्वयं हो जाते हैं, जिसका, क्रोध निष्फल न हो और जो आपत्ति का निवारण करता है। क्रोध शून्य और अकिंचित्कर (जन्तु) मित्र हो जाय तो किसी के मन में उसके प्रति आदर नहीं होता, और शत्रु बन जाय तो डर नहीं होता। इत्यादि में भी देखना चाहिये। यहाँ 'न विद्विषा भीः सुहृदा च नादरः' यह पाठ ठीक है।

विमर्श : 'विद्विषादरः' पाठ में एक दर की आवृत्ति होती है जब उसका 'जातहार्देन' से अन्वय नहीं होता तो गवेषणा करने पर आदर शब्द की प्रतीति होती है। प्रस्तावित पाठ में 'भी' (भय) और 'आदर' दोनों ही शब्दतः कथित हैं।

कर्मणो यथा—

'कुन्तालीभिर्युधमिव गहनामेतामासाद्योच्चैश्शितशतशरशतसङ्कीर्णाः।
अस्मिन् नानाफलकवलनसंसक्ता वल्गन्त्येते दिशि दिशि हरिसैन्यौघाः॥' इति।

कर्म का यथा—'इनकी कुन्तालियाँ (कुन्त = भाले, आली = पंक्ति) से युद्ध के समान तालवृक्षों से दुर्गम भूमियों में पहुँचकर हरि की ये सेनायें जो लम्बे और तीखे सैकड़ों बाणों से लैस हैं, जो अनेक फल खाने और भालों के फल चमकाने में लगी हुई हैं, प्रत्येक दिशा में यहाँ वहाँ घूम फिर रही हैं।'

विमर्श : यहाँ 'कुन्तालीभिः युधमिव गहनाम्' यह एक वाक्यांश है, इसकी क्रिया है 'आसाद्य'। शेष वाक्यांश से यह प्रतीत होता है कि भालों की पंक्तियों से युक्त युद्ध के समान (को पाकर)। इसमें जो पदार्थ समान है वह नहीं आता। वस्तुतः वह पदार्थ है पृथिवी। उसे 'कुन्तालीभिः' शब्द के

श्लेष में डाल रखा है। 'कुं-पृथिवीं-तालीभिः गहनामिव', अतएव कुन्तालीभिः गहनां, युधमिव-ऐसा अर्थ निकालना पड़ता है। वस्तुतः उपमेय = पृथिवी को स्वतन्त्र शब्द द्वारा अलग रखना चाहिये। इसमें पाठ का परिवर्तन सम्भव नहीं। अतः ग्रन्थकार ने भी उसे नहीं दिया। इस छन्द का नाम —'भद्रा' है।

क्रियाया यथा—

'कुसुमैः कृतवासनः समन्तादपनिद्रत्वमुपेयिवद्भिरस्मिन्।
श्रुतिमन्त्रगणाभिरामरूपैर्न ववौषट्पदशोभिभिः समीरः ॥' इति।

क्रिया का यथा—यहाँ (इस समय) चारों ओर विकास को प्राप्त हो रहे और वेदमन्त्रों के समान सुन्दर रूप वाले षट्पदों से शोभित पुष्पों द्वारा—सुगन्धित पवन नहीं वहा।'

विमर्श : 'न ववौषट्पदशोभिभिः कुसुमैः कृतवासनः समीरः'—पद अपने आप में पूर्ण है। किन्तु 'श्रुतिमन्त्रगणाभिरामरूपैः' शब्द द्वारा जो वेदमन्त्रों की उपमा फूलों को दी वह साधारण धर्म खोजती है। 'समीर नहीं वहा'—अर्थ में वह नहीं मिलता। उसके लिये—'नव वौषट्-पद-शोभिभिः' 'नवीन वौषट् शब्द से सुशोभित'। इस प्रकार का पदच्छेद करना पड़ता है तब अर्थ निकलता है—इस पाठ में 'ववौ' क्रिया नहीं बनती। अतः क्रियापद अलग से दिया जाना चाहिये।

एष चार्थो न्यायसिद्धोऽपि मृदुमतीन् प्रति सुखप्रतिपत्तये वचनेन प्रतिपादितः।

सा चेयमखिलस्यैव पदस्यावृत्तिरिष्यते।
निबन्धनबलोद्भूता न तदंशस्य जातुचित् ॥ ९० ॥
उपयुक्तार्थता ह्यस्य पदस्येव न विद्यते।
अधुना तूपयोगेऽस्य पूर्वस्यार्थस्तिरोभवेत् ॥ ९१ ॥
अर्थप्रयोगो युगपल्लाघवेनोभयोरपि।
स्यादयं कामचारो यद्येकेनोक्तिर्द्वयोर्भवेत् ॥ ९२ ॥

इत्यन्तरश्लोकाः

यह विषय अपने आप समझ में आ सकता है तो भी कोमलमति वाले व्यक्तियों के लिये सुखपूर्वक बोध हो जाय—इसलिए शब्दतः कहकर बतलाया।

संक्षेप में—यह आवृत्ति पूरे पद की ही होती है, किसी एक अंश की नहीं। इसका कारण भी अवश्य ही कथित होता है। अंश से अर्थ की पद के अर्थ के समान उपयोगिता नहीं होती। पदांश के उपयोग में पद की उपयोगिता छिप जाती है। दोनों के अर्थों का प्रयोग एक साथ—थोड़े में हो जाता है। यह स्वेच्छा तब बरती जा सकती है, जब दोनों का कथन एक (एक पद) से हो।

'यत्र च मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च गौर्यो विभवरताश्च श्यामाः पद्मरागिण्यश्च धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदिनिश्वसिताश्च प्रमदा।' इति।

अत्र चशब्दावेदितो विरोधः तस्याप्यपिशब्दस्येव तदर्थाभिधानसामर्थ्योपगमात्।

यहाँ दोनों पादों का व्यतिरेक अनुमेय है। उसमें इनके—विशेषणों का भेद ही कारण है। यदि विशेषण अभिन्न हो और कोई कारण दे दिया जाय तो उससे केवल सादृश्य की प्रतीति होती है व्यतिरेक की नहीं। यथा—भगवान् विष्णु के दोनों नेत्र या शरीर आपकी सांसारिक व्याधि शान्त करे, जो (दोनों)—

१. भक्तिप्रह्व-विलोकन-प्रणयिनी हैः—(भक्ति से नम्र व्यक्तियों को देखने और उनके द्वारा देखे जाने का प्रणय है जिनमें (जिससे)।

२. नीलोत्पल-स्पर्धिनी = नीले कमल से स्पर्धा रखती है।

३. ईहित और हित प्राप्ति के लिये जो समाधि निरत व्यक्तियों द्वारा ध्यान की आधारता को पहुँचाई गई तथा पहुँचाए गये हैं।

४. जो लावण्य की विपुल निधि है। और—

५. जो लक्ष्मी की आँखों में रसिकता बढ़ाती हैं।

विमर्श : यहाँ भाषागत वैचित्र्य से नपुंसकलिंग द्विवचनान्त नेत्र और स्त्रीलिंग एक वचनान्त तनु—दोनों के साथ 'भक्ति०' आदि विशेषण लागू होते हैं। 'इन्' प्रत्ययान्त शब्द का जो रूप प्रथमा विभक्ति स्त्रीलिंग के एकवचन में बनता है वही नपुंसक लिंग द्विवचन में। अतः प्रणयिनी—और—स्पर्धिनी दोनों के विशेषण हैं। 'नीतेहितप्राप्ति' में 'नीते हित०' पदच्छेद द्वारा नेत्रों का विशेषण सिद्ध होता है। 'नीता ईहितप्राप्तये' द्वारा—तनु का। 'महानिधी रसिकताम्'—में—'निधिः रसिकता०' इस संधि के अनुसार विसर्ग का लोप और ई को दीर्घ होना पड़ता है अतः महानिधी-रसि० 'रूप बन जाता है और तनु के साथ एकवचनान्त होकर अन्वित हो जाता है। महानिधि इस प्रकार निधि शब्द विशेष्यनिघ्न न होने से पुंलिंग रहता है और द्विवचन में हरि शब्द के समान निधी बनकर नेत्र का विशेषण बन जाता है। इस प्रकार नेत्र और तनु दोनों का विशेषण एक ही है। उनमें सादृश्य प्रतीति होता है।

भिन्नविशेषणत्वे तु तेषामन्योन्यविशेषप्रतिपत्तिः। विशेषो हि न भेदमन्तरेण भवति स एव च व्यतिरेको नापर इति भिन्नविशेषणत्वानुमेय एवासौ न शब्दशक्तिमूलः।

तदभिव्यक्तिनिबन्धनं क्वचिदन्यदीयं वचनमपि भवति। यथा वेणीसंहारे—

'रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः।'

इति शैलूषवचनाकर्णनक्रुद्धं भीमसेनं सान्त्वयितुं सहदेवस्य 'आर्य! अनुमतमेव नो भरतपुत्रस्य वचनम्' इति वचनम्।

विशेषण भिन्न होते हैं तो उनके पारस्परिक वैशिष्ट्य या अन्तर का ज्ञान होता है। विशेषता भेद के बिना संभव नहीं होती। वह विशेष ही (तो) व्यतिरेक है; न कि अन्य कोई वस्तु। इसलिये यह व्यतिरेक विशेषणों में भिन्नता द्वारा विदित होता है वह भी अनुमान से, शब्दशक्ति से नहीं उस (श्लेष) की अभिव्यक्ति का कारण कहीं कहीं दूसरे का कथन भी होता है। जैसे वेणी संहार में—'रक्त प्रसाधितभू और क्षतविग्रह कौरव अपने नौकरों के साथ स्वस्थ हों'—यहाँ शैलूष (नट) के वचन से कुपित भीमसेन को सान्त्वना देने के लिये सहदेव का यह कथन—'पूज्यवर, भरतपुत्र (नट) का वह कहना हमें मान्य है।'

जैसे कि शब्द श्लेष में—

'इस क्ष्माभर्त्ता (राजा-पर्वत) का विकट कटक (सैन्य, निचला भाग), जो पीलु = हाथी के समुदाय से युक्त है, जिसमें सैकड़ों हरि (घोड़े, शेर) की भीड़ है जो 'व्यपास्तनानाधिकामचर-मागधराजितश्री' है और जो लक्ष्मी को विलास घटना को पहुँचाता है।

विमर्श : व्यपास्तनानाधि-कामचर-मागध-राजितश्रीः—राजा अर्थात् नाना प्रकार की व्याधियों से दूर स्वेच्छाचार, स्तुतिकारक व्यक्तियों द्वारा शोभित हो शोभा जिसकी—(राजा) व्यपास्तना-नाधि-काम्-(स्वार्थे क प्रत्यय) दूर हो गई नाना प्रकार की व्याधियाँ जिससे ऐसी लक्ष्मी को, और—अचरम = पूर्व, अग = पर्वत, उसकी धरा-भूमि, उसकी श्री को जीत लिया है जिनने (पर्वत) यहाँ राजा और पर्वत दोनों का श्लेष है। किन्तु शब्दों द्वारा कोई एक ही अर्थ निकाला जा सकता है। दूसरे अर्थ के लिए कोई उत्थापक हेतु यहाँ नहीं है।

यथा च—'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्रिक्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥' इति।

एवम्—'कह णाम ण होसि तुम भाअणमसमञ्जसस्स रणाह !।
णिच्चं चेअ कुणन्तो जहिच्छमत्थाण विणिओअम् ॥'

['कथं नाम न भवसि त्वं भाजनमसमञ्जसस्य नरनाथ ?
नित्यं चैव कुर्वन् यथेच्छमर्थानां विनियोगम् ॥']

इत्यादावपि द्रष्टव्यः। न ह्यत्र चाटौ निन्दायां वा निश्चयो निबन्धनाभावा-दिति।

और जैसे—'येन ध्वस्त'—

कृष्णपक्ष—स्वयं वह माधव आपकी रक्षा करे, जो सब कुछ देने वाला है, अन्धक कुल के लिये क्षय (मकान) और (विनाश) बनाने वाला है, देवता जिसका 'शशिमच्छिरोहर'—यह स्तुत्य नाम लेते हैं—(शशिनं मथ्नाति—शशिमत् = राहुः, तस्य शिरसो हरः चन्द्रमा को ग्रसनेवाला = राहु, उसके, सिर को हरने वाला—विष्णु, विष्णु ने राहु का सिर काटा था), जो मदमत्त (कालिय या कुवलयापीड) नाग (सर्प या हाथी) का हनन करने वाला है, अरव—(लोचनकार के अनुसार 'अकारो विष्णुः' इस प्रमाण से—'अ' इस 'रव' अर्थात् ध्वनि या शब्द के साथ ऐकात्म्य है जिसका, जिसने गोवर्धन पर्वत और (पाताल गई) पृथिवी को धारण किया, जिसने बलि को जीतने वाला अपना शरीर स्त्री बना दिया, जो अजन्मा हैं और जिसने शकटासुर को नष्ट किया।

शिवपक्ष—स्वयं वह उमाधव (उमा = पार्वती के धव = पति, अर्थात् शिव) आपकी सदा रक्षा करें जो अन्धकासुर के संहारक हैं, 'हर' ऐसा नाम देवता लोग गाया करते हैं, जिसका शिर चन्द्रमा से युक्त है, जो फुफकारते साँपों का हार और कंकण पहनते हैं, जो गङ्गा को धारण किये हुए हैं, जिनने विष्णु के शरीर को स्त्री बनाया और जिनने मनोभव काम को ध्वस्त किया। इसी प्रकार—

हे नरनाथ तुम अनौचित्य के भाजन क्यों नहीं होते। प्रतिदिन अर्थों का विनियोग यथेच्छ जो करते हैं।

इत्यादि में भी देखना चाहिये। यहाँ चाटु या निन्दा दोनों में से किसी एक का निश्चय नहीं होता, कारण कि उसका हेतु कोई नहीं है।

अर्थश्लेषे यथा—

'दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाक्लिष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु॥' इति।

अत्र हि गाव इत्यस्य विशेष्यवाचिन उपमानाभिमतार्थान्तरवृत्तित्वेऽपि विशेषणानाञ्चोभयार्थानुगुण्येऽप्युपमानस्य तत्सम्बन्धाभिधायिनश्चावश्यवाच्यस्यावचनं यत् स दोष इत्येतद्धितनिष्यते।

अर्थश्लेष में जैसे :—

सूर्य की वे गौएँ आप पवित्र लोगों को अपरिमिति प्रीति प्रदान करें उचित समय पर सरलता से बरसाए पय द्वारा जो प्रजाओं को आनन्द देती हैं, सबेरे जो दिशाओं में बिखर जाती हैं और दिन डूबे लौट आती हैं जो दीर्घ दुःख का उत्पत्तिस्थान जो संसार तद्रूपी भय के समुद्र को पार करने की नौका हैं।

यहाँ 'गावः' यह विशेष्यवाची है। इसका एक अर्थ उपमान भी है। विशेषण भी उपमान उपमेय दोनों अर्थों के अनुरूप है, इतने पर भी उपमान और इसके संवन्ध का अभिधान करने वाला कोई हेतु अवश्यमेव कहा जाना था। उसे जो नहीं कहा गया यही दोष हुआ। इसे आगे (तृतीय विमर्श में) विस्तारपूर्वक बतलाएंगे।

विमर्श : गौ = किरण, गाय। पय = पानी और दूध।

गाएं और किरणें दोनों सबेरे दिशाओं में बिखर जाती है और शाम को इकट्ठी हो जाती हैं। सूर्य किरणों की उपासना से मुक्ति मिल जाती है और गाय की पूंछ पकड़ कर वैतरणी पार कर ली जाती है।

दत्तानन्दाः प्रजानां आदि शब्दों की जगह दूसरे शब्द भी यहाँ रखे जा सकते हैं अतः अर्थ श्लेष है किन्तु—गावः और पयः में शब्द श्लेष ही है, वहाँ शब्द नहीं बदले जा सकते।

उभयश्लेषे यथा—

'सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम्॥' इति।

इहापि वाच्यावचनमवगन्तव्यम्।

उभयश्लेष में जैसे—श्री कृष्ण को प्रणाम करें। वे सभी के एक ही शरण हैं, अक्षय हैं, अधीश है, धी = बुद्धि और इन्द्रियों के ईश हैं, हरि हैं, कृष्ण हैं, चतुरात्मा हैं, निष्क्रिय हैं, अरिमथन हैं, चक्रधर हैं।' यहाँ भी वाच्यावचन मानना चाहिये।

विमर्श :—

विरोध—

सर्वैकशरण = सभी के एक शरण—घर।

क्षय = घर उससे रहित अक्षय।

अधीश = धी के ईश नहीं, धी के ईश।

हरि = हरे रंग के, कृष्ण काले।

चतुरात्मा—संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध चाररूपधारी, निष्क्रिय = क्रिया रहित।

अरी = अर से युक्त अरी चक्र, उसका मथन करने वाले।

चक्रधर = चक्र को धारण करने वाले।

परिहार—

शरण = सभी के त्राता, अक्षय = क्षय—विनाशरहित।

अधीश = अधि—सब ओर से ईश स्वामी।

हरि—विपत्ति हारी।

अरि = शत्रु को मथन-मारने वाले।

चक्रधर—सुदर्शनचक्र धारी।

यहाँ विरोध का स्पष्टीकरण किसी भी शब्द से नहीं किया गया (उसकी कमी वाच्यावचन दोष हुआ) अतः श्लेष नाहक ही दिया गया।

यथा—

'पतिते पतङ्गमृगराजि निजप्रतिबिम्बरोषत इवाम्बुनिधौ।
अथ नागयूथमलिनानि जगत्परितस्तमांसि परितस्तरिरे॥' इति।

अत्र नागयूथेन धर्मिणा साम्यं तमसां वक्तुमभिमतं कवेः, न तद्धर्मेण मलिनत्वमात्रेण। मृगपतौ पतिते निष्प्रतिपक्षतया तस्यैव स्वेच्छाविहारित्वोपपत्तेः, न तद्वन्मलिनानां तमसां, पतङ्गस्य मृगराजरूपणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च तत् मलिनादिशब्दाः शक्नुवन्ति वक्तुं हारिसुन्दरसुभगसदृशसन्निभादिशब्दानामेव तदभिधानसामर्थ्यदर्शनात्।

अन्यथा—

'सरोजकर्णिकागौरीं गौरीं प्रति मनो दधौ।'

इत्यादौ गौरादिशब्दा अपि धर्मिसाम्यमेवावगमयेयुः न धर्ममात्रसाम्यम्। तच्चानिष्टं गौरत्वमात्रसाधर्म्यकृतस्य गौर्याः सरोजकर्णिकासाम्यस्य वैवक्षिकत्वात्।

'अपने प्रतिबिम्ब के रोष से समुद्र में जब पतङ्गमृगराज गिर पड़े तब हाथियों के समुदाय के समान मलिन अन्धकार ने जगत् को—चारों ओर से ढँक लिया।'

यहाँ—कवि को नागयूथ रूपी धर्मी से अंधकार का साम्य बतलाना अभीष्ट है और वह केवल उसके मलिनत्व धर्म द्वारा। मृगराज का नाश हो जाने पर वही (नागयूथ ही) अपना शत्रु न होने से स्वेच्छा विहार कर सकता है, उसके समान मलिन—अन्धकार नहीं। इसलिए पतङ्ग पर मृगराज का रूपक व्यर्थ होने लगता है। उस (सादृश्य) को केवल मलिनादि शब्द अभिधा द्वारा नहीं बतला सकते। उसके अभिधान की शक्ति 'हरि' सुन्दर, सुभग, सदृश—सुरभि आदि शब्दों में ही देखी गई है। नहीं तो—

'सरोज कर्णिका के समान गौरी (गौरवर्ण की) गौरी के प्रति मन किया।' इत्यादि में गौरादि

'मेघ बाहर पानी बरस कर चले जाते हैं किन्तु जर्जर मकानों में भीतर पानी की बूँदें पड़ती ही रहती हैं, वे मकड़ी के जाल को तोड़ जाती हैं—और उनका रंग शहद की बूँद के समान लाल पीला हो जाता है।' यहाँ—पयोबिन्दु में—शहद की बूंद की ललोह के साहचर्य से गोलाकारत्व की भी प्रतीति होती है—

यह ठीक नहीं,—क्योंकि ऐसा मानने पर माधुर्यादि की भी प्रतीति माननी पड़ेगी, क्योंकि जैसे पिङ्गत्व (पीले रंग) का साहचर्य गोल आकार के साथ है—वैसे ही माधुर्य के साथ भी है। जहाँ तक रूप आदि के रहने पर उनकी प्रतीति का सम्बन्ध है वह हेतु और धर्म के अनुमान से (कार्य से कारण का अनुमान; धर्मी से धर्म का अनुमान) मानी जाती है, किन्तु यहाँ उन दोनों का हेतु-हेतुमद्भाव भी असिद्ध है अतः साहचर्य प्रतीत नहीं होता। इसलिये दूसरे धर्मी की प्रतीति बनती ही कैसे ? और यदि साहचर्य सिद्ध भी हो जाय तो उससे युक्त धर्मी में से किसी एक का साधन रूप से निर्देश न होने के कारण दूसरे धर्म की प्रतीति कैसे हो ?

ऐसा होने पर तो—'दुःख से तपे आदमी को अग्नि पाले के समान ठंढी लगती है'—यहाँ अग्नि में भी शीतत्व के साहचर्य से उसकी पाण्डुता (शुभ्रता) की प्रतीति माननी चाहिए।

और—अन्य धर्म की प्रतिपत्ति यदि सचमुच हो रही हो तो उसके लिए साहचर्य या और कोई हेतु कल्पित किया जाय। यहाँ तो वही (प्रतीति) ही नहीं होती—इसलिये अन्य धर्म की कल्पना का प्रयास ही व्यर्थ है। उसकी कल्पना के विना यहाँ बिगड़ ही क्या जायगा ? जल की बूँदों की मधुबिंदु के समान वृत्तता (गोलकारता) की प्रतीति बिगड़ती हो तो उसे भली भाँति बिगड़ जाने दीजिए। प्रमाण की व्यवस्था अपने मत को हल करने के लिए नहीं की जा सकती।

तस्मादनेकधर्मत्वेऽप्यर्थस्य यस्यैव धर्मस्य निर्देशस्तस्यैव प्रतिपत्तिर्न्याय्या नान्यस्येत्यत्र तमसां नागयूथसादृश्ये वाच्ये यत् तेषां मलिनत्वमुक्तं स वाच्यावचनं दोषः।

एवं च पृषत्पदप्रयोगोऽत्रातिरिच्यमानोऽनुप्रासवृत्तपरिपूरणायैव पर्यवस्यति न बिन्दूनां वृत्तत्वप्रतिपत्तये इति 'नागयूथसदृशानी'-त्यत्र पाठो युक्त इति।

यत्तु—

'करिकरभ ! विमुञ्च लोलतां चर विनयव्रतमानताननः।
मृगपतिनखकोटिभङ्गुरो गुरुरुपरि क्रमते न तेऽङ्कुशः॥'

इत्यत्राङ्कुशस्य मृगपतिनखकोटिभङ्गुरत्वं दुस्सहत्वं चेति धर्मद्वयं वक्तुमभिमतम्। न तदुक्तनयेन भङ्गुरशब्द एवावगमयितुं क्षमते, तस्य कौटिल्यमात्राभिधायित्वेनैव प्रसिद्धेः। यत् तु तस्य दुस्सहत्वं तत् मृगपतिपदसम्बन्धसामर्थ्यादेव प्रतीयते न भङ्गुरत्वसाहचर्यादिति।

एवम्—

'प्रभवति च समरमूर्धनि नवनीरदनील एष तव खड्गः।
विशति च मानसममलं सतां यशो हंसविसरसितम्॥'

इत्यत्रापि खड्गस्य यशसश्च पूर्वोक्तेन नयेन नवनीरदहंसविसररूपत्वाप्रतीतौ तन्निबन्धनाया अर्थान्तरप्रतीतेरनुपपत्तिरिति भ्रान्तिमात्रकृताऽसाविति मन्तव्यम्। तेन 'नवनीरदसुन्दरः कृपाण' इति 'हंसविसरसम'मिति चात्रानुगुणौ पाठौ।

धर्मिसाम्यविवक्षायां धर्ममात्राभिधायिनाम्।
नेष्टः प्रयोगः शब्दानां समासोपमितौ बुधैः॥ ९३॥
इति सङ्ग्रहश्लोकः।

इसलिए धर्म अनेक हों तो भी प्रतिपत्ति उसी की मानी जानी चाहिये जिसका निर्देश हो, अन्य की नहीं। इसलिए नागयूथ के सादृश्य की प्रतीति करने में उनका जो मलिनत्व बतलाया उससे वाच्य (सादृश्य वाचक पद) का अवचन दोष हुआ। इसी प्रकार यहाँ पृषत् पद भी अतिरिक्त (व्यर्थ) है। उससे केवल अनुप्रास और छन्द की पूर्ति ही सिद्ध होती हैं। उससे बिन्दुओं का गोल आकार प्रतीत नहीं होता—इसलिये 'नागयूथ सदृशानि' पाठ चाहिए।

और जो—'हे करिकलभ ? चंचलता को छोड़ो—तुम सिर झुकाओ और विनय का व्रत पालो। तुम्हारे ऊपर मृगराज के नाखूनों के समान टेढ़ा और कठोर अंकुश नहीं चलाया जा सकता।' यहाँ अंकुश के दो धर्म बतलाना अभीष्ट है एक सिंह के नाखून के अग्रभाग के समान टेढ़ापन और दूसरा—दुःसहत्व'। सो उसे ऊपर बतलाए अनुसार एक अकेला भंगुर शब्द ही नहीं बतला सकता। वह तो एकमात्र कुटिलता (टेढ़ेपन) के अभिधान के लिए प्रसिद्ध है। उसका जो दुःसहत्व है वह मृगपति-सम्बन्ध के बल से ही प्रतीत हो जाता है भङ्गुर शब्द के साहचर्य से नहीं।

इसी प्रकार—'युद्ध भूमि में आपका नए मेघ के समान यह नीला खड्ग; चमकता है और सज्जनों के हंस विसर—सित मानस में हंसविसरसित यश प्रवेश करता है यहाँ भी खड्ग और यश दोनों की उपर्युक्त नियम के अनुसार नवनीरदरूपता और हंसविसररूपता प्रतीत नहीं होती इसलिये उस पर आधारित दूसरे अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती। इस लिये यहाँ यह (श्लेष) एकमात्र भ्रान्तिमूलक है। इसलिये—ये पाठ अनुरूप होंगे—'नवनीरदसुन्दर' और 'हंसविसरसम्'।

संक्षेप में—'धर्मी के साम्य की विवक्षा होने पर केवल धर्म मात्र को बतलाने वाले शब्दों का प्रयोग समास और उपमा (सादृश्य) में मान्य नहीं।'

विमर्श:—हंस—विसर हंस पंक्ति के समान सित = उज्जवल, कालुष्यहीन सन्तों का मन। उसमें राजा का—हंस-विसर-हंसपंक्ति के समान सितउज्ज्वल यश प्रवेश करता है।

यहाँ मानस से मन और मानससर दोनों प्रतीत होते हैं। मानससर की जो प्रतीति होती है उसमें 'हंस विसरसितम्' का अर्थ निकलता है हंस नामक जो 'वि'—पक्षी उनके द्वारा 'सरसित अर्थात् रसित—शब्द सहित। अभिप्राय यह है बरसात में जब मेघ आकाश में छाते हैं तो मानससर हंसों से सफेद हो जाता है उसमें हंस पहुँच जाते हैं। हंसों का यह स्वभाव है कि वे बरसा में मानससर चले जाते हैं। मेघदूत में 'संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः' और 'कतिपयदिनस्थायिहंसादशार्णाः'—द्वारा यह तथा स्पष्ट है। युद्ध भूमि में नीला खड्ग नीलमेघरूप है और उज्ज्वल यश सफेद हंस रूप। जब खड्गमेघ युद्धाकाश में आता है तो यशहंस मानस में,

पहुँच जाते हैं। किन्तु यक्ष, नीले मेघ, मानस और हंस के व्यवहार की प्रतीति के विषय में ग्रन्थकार को यह अरुचि है कि वह स्पष्ट रूप से सामने नहीं आती।

यथा च—

'तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम्।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः॥' इति।

अत्रानुयातिक्रियापेक्षो राजमरुत्वतोः कर्तृकर्मभावोऽभिधातुमभिमतः कवेः। न चासौ तत्सम्बन्धस्तयोः साक्षादुक्तः, जललीलासम्बन्धमुखेन राजसम्बन्धस्योक्तत्वात्। अतोऽत्र साक्षात् तत्सम्बन्धो वा वाच्यः, तदर्थमन्यत् क्रियान्तरं वा, येन कर्तृकर्मभावस्तयोर्घटनामियात्।

न चोभयोरेकमप्युक्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः। तेन वरमत्र पाठः श्रेयान् 'आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतोऽनुयातो मघवा विलासैः' इति। न चैवं क्रियान्तराकाङ्क्षाप्रसङ्गः।

और जैसे :—अपने रनिवास की प्रमदाओं के साथ उस उत्तम नदी (सरयू) में जलक्रीड़ा कर रहे कुश द्वारा अप्सराओं से घिरे और आकाश गंगा में रति कर रहे इन्द्र अनुयातलील (जिसकी लीला का अनुकरण किया गया हो) हुए [रघु० १६], यहाँ कवि को अनुयाति (अनुगमन, अनुकरण) क्रिया को लेकर राजा और इन्द्र का कर्तृकर्मभाव कहना अभीष्ट है। किन्तु इन दोनों का यह सम्बन्ध साक्षात् नहीं कहा, कारण कि राजा का सम्बन्ध जल लीला के सम्बन्ध से बतलाया गया, इसलिए या तो उनका वह सम्बन्ध साक्षात् बतलाना चाहिये या फिर उसके लिए किसी और क्रिया का उपादान करना चाहिये जिससे उनका यह कर्तृकर्मभाव बन सके पर दोनों में कुछ भी नहीं किया गया, इसलिए (दोनों में से कोई) एक वाच्य (था उस) का अवचन (अकथन) दोष हुआ। इसलिए यहाँ यह पाठ अधिक अच्छा है—

विलासों से आकाश गंगा में अप्सराओं से घिरे इन्द्र का अनुकरण किया ऐसा करने पर अन्य क्रिया की भी आकांक्षा नहीं होगी।

यथा वा—

'लच्छी दुहिआ जामाउओ हरी तह घरल्लिआ गङ्गा।
अमियमिअङ्का अ सुआ अहो? कुडुम्बं महोअहिणो॥' इति।

['लक्ष्मीर्दुहिता जामाता हरिस्तस्य गृहिणी गङ्गा।
अमृतमृगाङ्कौ च सुतौ अहो कुटुम्ब महोदधेः॥']

अत्र लक्ष्म्या दुहितृत्वममृतमृगाङ्कयोः सुतत्वं च विधीयमानं तेषां त्रैलोक्यैकस्पृहणीयतया तत्कुटुम्बस्य महोदधेः श्लाघाया आस्पदत्वमुपपद्यत इति द्वयमेवोपादेयं द्रष्टव्यं नान्यत्।

तत्र हि भगवतो हरेर्गङ्गायाश्च सकलत्रैलोक्यालङ्कारत्वेऽपि न तयोर्जामातृगृहिणीभावेन विधानमिति न महोदधेः श्लाघातिशययोगः यन्निबन्धनमत्यद्भुतास्पदत्वमस्य स्याद् इति तद्विधानस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

अथ हरिर्जामाता गङ्गा गृहिणीत्येवं विपर्ययेणात्र सम्बन्धः करिष्यते तस्य पुरुषाधीनत्वात्। तथा च न यथोक्तदोषावकाशः इति। सत्यम्। किन्तु न सर्वविषयोऽयं सम्बन्धस्य पुरुषाधीनत्वोपगमः। तस्य हि विशेषणविशेष्यभाव एव विषयोऽवगन्तव्यः। यत्र स्वसौन्दर्यादेव तयोरन्योन्यापेक्षो विध्यनुवादभावः तत्र हि यथाश्रुतपदार्थसबन्धनिबन्धनोऽर्थप्रतीतिक्रम इति तत्रैव पदार्थपौर्वापर्यनियमोऽवगन्तव्यः। यथा—

'त्वक् तारवी निवसनं मृगचर्म शय्या
गेहं गुहा विपुलपत्रपुटा घटाश्च।
मूलं दलं च कुसुमं च फलं च भोज्यं
पुत्रस्य जातमटवीगृहमेधिनस्ते॥' इति।

प्रत्युदाहरणं यथा—

'शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत् परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते॥' इति।

अत्रोदाहरणप्रत्युदाहरणप्रतीत्योर्यदन्तरं तन्मतिमतामेवावभासते अन्येषां तु शपथप्रत्येयमेव।

और जैसे—'लक्ष्मी पुत्री, जमाई विष्णु, उसकी घर वाली गंगा, अमृत और चन्द्र पुत्र, आश्चर्यकारी है समुद्र का कुटुम्ब।

यहाँ लक्ष्मी का पुत्रीत्व तथा अमृत तथा चन्द्र का पुत्रत्व बतलाया जा रहा है। उससे समुद्र के कुटुम्ब में त्रैलोक्यस्पृहणीयता आती है और समुद्र में श्लाघ्यता। इसलिये केवल इन्हीं दो (पुत्रीत्व और पुत्रत्व) का उल्लेख किया जाना चाहिये। अन्य का नहीं भगवान् विष्णु और गंगा समस्त त्रिलोकी के भूषण हैं, उन्हें यदि यहाँ जामाता और पत्नी सिद्ध किया जाता तो बात दूसरी थी, किन्तु (यहाँ तो जामाता में और पत्नी में हरित्व और गंगात्व सिद्ध किया गया है) वैसा नहीं किया गया इसलिये महोदधि में श्लाघ्यता की उच्चता नहीं आती, जिससे उसमें अत्यद्भुतता आये, इसलिये उस प्रकार के कथन का अभाव वाच्यावचन दोष हुआ। कहा जाय कि (श्लोक में शब्द जैसे भी दिये जायें) उनका अन्वय हरि जामाता, गंगा गृहिणी, इस प्रकार किया जा सकता है, क्योंकि वह (अन्वय) तो—पुरुषाधीन है, अतः कोई दोष नहीं होता'—तो यह ठीक है किन्तु पुरुषाधीनता अन्वय में सर्वत्र नहीं रहती केवल विशेषणविशेष्यभाव संबंध में ही वह रहती है। जहाँ अपने सौन्दर्य से विध्यनुवादभाव परस्परापेक्षी होता है, वहाँ अर्थप्रतीति का क्रम–शब्द–प्रयोग (शब्दों की—आनुपूर्वी) पर निर्भर रहता है इसलिये प्रयोग में ही पदों का पौर्वापर्य नियम मानना चाहिये (उसी से पदार्थों के संबंध में सौन्दर्य आता है) जैसे—मेरे पुत्र के लिये–जिसने जंगल में घर बसा लिया है—वृक्ष की छाल वस्त्र, मृगछाला विस्तर, घर गुहा—बड़े पत्तों के दोने घड़े, मूल, पत्ते, फूल और फल—भोजन हो गए हैं।'—

उलटा उदाहरण—"शय्या घास, आसन पवित्र साफ शिला, घर वृक्षतल, झरने का ठंढा जल पेय, भोजन कन्द साथी संगी और मौके बेमौके काम पड़ने वाले लोग—हिरने हैं, इसप्रकार जिसमें सम्पूर्ण वैभव बिना मांगे प्राप्त है उस बन में दोष केवल एक है—कि याचक दुष्प्राप्य होता है फलतः परोपकार निरत लोगों को हाथ पर हाथ रखे बैठे रहना—पड़ता है।'

इन उदाहरण और प्रत्युदाहरणों में जो अन्तर है वह बुद्धिमानों की समझ में ही आता है। और लोगों के लिये तो शपथ प्रत्येय (समझाने से समझ में आता) है। संक्षेप में—

अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्।
न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ॥ ९४ ॥
विधेयोद्देश्यभावोऽयं रूप्यरूपकतात्मकः।
न च तत्र विधेयोक्तिरुद्देश्यात् पूर्वमिष्यते ॥ ९५ ॥

इत्यन्तरश्लोकौ।

यथा—

'स्पष्टोच्छ्वसत्किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम्।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारबद्धान्धकारमधुपावलि सञ्चुकोच॥'

इत्यादौ केसरादेः।

पदानामभिसम्बन्धस्यान्यथाभावमात्रतः।
यत्रानिष्टप्रतीतिः स्याद् रचनां तां परित्यजेत् ॥ ९६ ॥

यथा—

'तव कण्ठासृजासिक्ता करवाललता द्विषाम्।
प्रसूते समरारण्ये यशःकुसुमसम्पदम् ॥' इति।

अत्र हि चादुके युष्मदर्थस्य च पौर्वापर्यविपर्यये समासे वा वाच्ये यत् तयोरवचनं तदेवानिष्टार्थप्रतिपत्तिमूलमिति दोषतयावगन्तव्यम्।

यथा च—

'मधुश्च ते मन्मथ ! साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव।
समीरणः प्रेरयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥' इति।

अत एव—

"येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थेनापि तेन सः।
पदानामसमासानामानन्तर्यमकारणम् ॥"
इति प्रतीत्योर्वैचित्र्यमनालोच्यैव चर्चितम्।
गुणदोषमपश्यद्भिर्दूरादूरोत्थयोस्तयोः ॥ ९७ ॥
स्वरूपेऽवस्थितिर्येषां शब्दानामिति नेष्यते।
न तानन्यव्यवहितान् प्रयुञ्जीत विचक्षणः ॥ ९८ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

तेन 'द्विषत्कण्ठासृजासिक्ता त्वत्कृपाणलता वरा।' इत्येकत्र युक्तः पाठः, अपरत्र 'व्यादिश्यते केन समीरणो वा हविर्भुजश्चोदयिता भवे'ति।

'अनुवाद्य बिना कहे विधेय को न कहे। कोई भी वस्तु बिना आधार पाये कहीं भी जमती नहीं। यह जो विधेयोद्देश्यभाव है वह रूप्यरूपकरूप है इसलिये उसमें विधेय का कथन उद्देश्य के पहले अच्छा नहीं माना जाता।' जैसे—

'स्पष्टरूप से फैलती किरणों की केसर और सूर्य की वितृप्त कर्णिका से जो युक्त था वह दिन रूपी अरविन्द अब एक दूसरे से सटी आठ दिशाओं की पँखुड़ियों के अगले हिस्से में उतर कर बँधे—अंधकार की भ्रमरमाला को लिये हुए बन्द हो गया।' यहाँ केसर आदि का उपादान बाद में किया गया है।

उस रचना को छोड़ दे जिसमें पदों के अभिसंबंध (पारस्परिक सम्बन्ध) के उलटने से प्रतीति बिगड़ती हो॥ ९६॥

जैसे—'आप से सम्बन्धित कंठ के खून से सनी शत्रु सबन्धी तलवाररूपी लता युद्धवन में यशरूपी पुष्प संपत्ति पैदा करती है।' चापलूसी की इस उक्ति में युष्मदर्थ (तुम-आप और शत्रु) का पौर्वापर्य—उलटना था (तव की जगह द्विषाम् चाहिये था और द्विषां की जगह तव) या समास करना था, यह जो नहीं किया वही विपरीत अर्थ की प्रतीति का कारण है, अतः उसे दोष मानना चाहिये।

और जैसे—हे मन्मथ, इस मधु के साथ तुम्हारा संग है। यह बिना कहे तुम्हारा साथ देगा। हवा को ऐसा कौन कहता है कि 'अग्नि को प्रेरणा दो' (धौंको)। यहाँ अग्नि को प्रेरणा दो इस प्रकार अन्वय अभीष्ट है। इसलिये 'जिससे जिसका सम्बन्ध है दुहराने पर भी उससे उसका संबंध होता ही है। असमस्त पदों में आनन्तर्य कोई महत्त्व नहीं रखता'—यह उन शब्दों की दूर और पास में रहने पर हुई प्रतीतियों के भेद को और गुण दोष को बिना ही देखे मुंह से निकाल दिया गया, जिनकी पूर्णता अपने स्वरूप में होती है। इसलिये—एक जगह—'द्विषत्कण्ठासृजासिक्ता त्वत्कृपाणलता वरा'—यह पाठ ठीक है और दूसरी जगह 'व्यादिश्यते केन समीरणो वा हविर्भुजश्चोदयिता भवेति'—यह। (वरा की जगह—'ऽसिता' या शिता पाठ अच्छा होगा)।

अनन्वयोऽप्यभ्यूह्यार्थत्वाद्रसभङ्गहेतुरिति सोऽपि वाच्यावचनं दोषः। यथा—

'निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनान् जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान्।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽसौ वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगाणाम्॥' इति।

अत्र हि सिंहानां तावन्न राजशब्दसम्बन्धः सम्भवति तेषां तद्वाच्यत्वाभावात् तत्सम्बन्धाभावाच्च। तत्पर्यायस्य मृगराजशब्दस्य सन्नप्यसावनुपयुक्त एव तस्य प्रक्रान्तत्वाभावाद् मृगाणामित्यत्र मृगराजानामित्येवमनुक्तेश्च।

किञ्च मृगेषु राजत्वं भवति सिंहानां नतु शब्द इति वीर्योदग्रत्वं तद्विशेषणमनुपपन्नमेव तस्यार्थनिष्ठत्वेनोपपत्तेः। तेन न सिंहानां न मृगाणां न वीर्योदग्रत्वस्य च राजशब्दशब्देनान्वयः सङ्गच्छत इत्यवाच्य एवासौ। तेन राजभाव इति मृगेष्विति वा वाच्ये तदवचनं दोषः। यथा—

अन्वय का न होना भी वाच्यावचन दोष है क्योंकि तब भी उसका अर्थ कल्पना करके निकाला जाता है अतः वह रसभङ्ग करता है। जैसे—

'रगड़ के कारण उग्र प्रत्यंचा के निर्घोषों से कुञ्जों में छिपे शेरों को उसने क्षुब्ध किया। निश्चित ही वह उनके पौरुष के ज्ञापक मृगों के 'राजा' शब्द पर ईर्ष्यालु था।' [रघु० ९] यहाँ सिंहों का राजा शब्द से सम्बन्ध नहीं बनता। क्योंकि न 'राजा' शब्द की सिंह में अभिधा है और न उन (सिंहों) का उस (राजशब्द) से कोई सम्बन्ध ही है। उस (सिंह) के पर्याय मृगराज शब्द का सम्बन्ध होने पर भी यह (सम्बन्ध) यहाँ उपयोग में नहीं लाया गया क्योंकि यहाँ वह (मृगराज शब्द) न तो पहले कभी कहा गया और न यहीं, जब कि यहाँ मृगाणां—की जगह मृगराजानाम् कहा जा सकता था। इसके अतिरिक्त सिंह का राजत्वमृग (जङ्गली) पशुओं पर होता है, मृग शब्द पर नहीं। वह सदा अर्थ में रहता है। इसलिये उस (सिंह शब्द) का 'वीर्योदग्रे' यह विशेषण नहीं बनता। वह सदा अर्थ में रहता है। इसलिये न सिंहों का, न मृगों का और न वीर्योदग्रता का 'राजशब्द' पद से अन्वय बना इसलिये यह राजा शब्द यहाँ अवाच्य ही है। इसलिये 'राजभावे' या 'मृगेषु' ऐसा कहना था, उसका न कहना—वाच्यावचन दोष हुआ।

'तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो
वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्त्तवः
पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां दधुः॥' इति।

अत्र हि तपर्त्तोर्लिङ्गविशेषानुमितपुरुषभावस्य कर्तृत्वात्प्राधान्यं वक्तुमुचितम्, वर्षाणां च स्त्रीत्वस्य सहभावेन निर्देशादप्राधान्यम्, यथान्येषां हिमागमादीनाम्, अन्यथा तेषां कुटुम्बिरूपतानुपपत्तेः। न च तथोक्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

'किमवेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया॥'

इत्यत्र महीयसामिति बहुवचनं वा वीप्सासमानफलं प्रयोक्तव्यम्, यथा—

'यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः॥'

इत्यत्रार्थान्तरन्यासे, सर्वादिशब्दो वा यथा—

'छायामपास्य महतीमपि वर्त्तमाना-
मागामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम्।
सर्वो हि नोपनतमप्यपचीयमानं
वर्धिष्णुमाश्रयमनागतमप्युपैति ॥'

इत्यत्र। अन्यथा समर्थकस्य प्रकृतिमहीयस्त्वस्य हेतोरन्यसमुन्नत्यस-

द्विष्णुत्वलक्षणेन साध्येन सर्वोपसंहारव्याप्तिर्न प्रतीयते। तस्मादेवमत्र पाठः परिणमयितव्यः—

'प्रकृतिः खलु सा महीयसां न सहन्तेऽन्यसमुन्नतिं यया।' इति।

और 'ऋतु का निवास इसके नगर में सदा ही नगरवासी कुटुम्बियों के समान था, ग्रीष्म के साथ वर्षा, शरद् के साथ हेमन्त और वसन्तश्री के साथ शिशिर रहते थे तथा प्रसून पैदा किया करते थे। इस पद्य में तप ऋतु (ग्रीष्म), जिसमें लिङ्ग विशेष (पुलिङ्ग) से पुरुषभाव की प्रतीति होती है, कर्त्ता है, अतः उसका प्राधान्य होना चाहिये। और वर्षा का अप्राधान्य क्योंकि वह स्त्रीरूप से प्रतीत हो रही है और उसमें सहभाव (अप्रधान) है भी। जैसा कि—अन्य हिमागम आदि में बतलाया गया है। इसके बिना उनमें कुटुम्बिता प्रतीत नहीं होती। वैसा कहा नहीं गया इसलिये वाच्यावचन दोष हुआ।

'मृगराज क्या लाभ देखता है जो गड़गड़ाते मेघों को ललकारा करता है। बड़प्पन वाले व्यक्तियों का यह स्वभाव ही है कि वह दूसरे की उन्नति नहीं सहता।' यहाँ या तो वीप्सा (अनेकत्व) की प्रतीति कराने में सक्षम 'महीयसाम्'—ऐसा बहुवचन देना चाहिये जैसा कि—इस प्रकार समस्त विषय से युक्त बात कहकर श्रीकृष्ण चुप हो गये। बड़े लोग—'स्वभावतः कम बोलते हैं।' इस प्रकार इस अर्थान्तरन्यास में, (दिया गया है) अथवा (यदि एकवचन ही देना हो तो) सर्व आदि शब्द देना चाहिये—जैसा कि—वृक्षों की उपस्थित—लम्बी छाया को भी छोड़कर आने वाली महती छाया को लोगों ने अपनाया। सब का यह स्वभाव है कि घटने वाले प्राप्त पदार्थ को नहीं, बढ़ने वाले आगामी पदार्थ को अपनाते हैं।' यहाँ (दिया गया है)। नहीं तो प्रकृतिमहत्तरतारूपी हेतु और अन्यसमुन्नति की सहिष्णुता रूपी साध्य का व्याप्ति संबंध सर्वांश में नहीं बनेगा। (ऐसा प्रतीत होगा कि—कुछ ही ऐसे बड़े होते हैं, जो दूसरे की उन्नति नहीं सहते, सभी नहीं) इसलिये यहाँ ऐसा पाठ करना चाहिये—'बड़ों का वह स्वभाव ही है—कि दूसरे की उन्नति नहीं सहते।'

सर्वनामपरामर्शयोग्यस्यार्थस्य या पुनः।
स्वशब्देनाभिधा दोषः स वाच्यावचनाभिधः॥ ९९॥

यथा—

'निशि नान्तिकस्थितामपि चक्राह्वः सहचरीं विलोकयति।
चक्राह्वापि न सहचरमहो सुदुर्लङ्घता नियतेः॥' इति।

अत्र हि चक्राह्वासहचरौ न स्वशब्दपरामर्शविषयौ भवितुमर्हतः, तयोरुक्तनयेन सर्वनामपरामर्शविषयत्वोपपादनात्, अन्यथा तयोः पौनरुक्त्यं सर्वनाम्नां च विषयापहारः स्यात्। न चात्र तथा परामर्शो विहित इति वाच्यावचनं दोषः। तेन 'विरहविधुरा न सापि त'मित्यत्रानुगुणः पाठः।

एवम्—

'परिपाति स केवलं शिशूनिति तन्नामनि मास्म विश्वसीः।'

इत्यादावप्ययं दोषो द्रष्टव्यः। तस्य हि शिशुपाल इति नाम प्रसिद्धं न तु शिशुपरिप इति। तेन 'स शिशून् किल पालयत्यभीः' इति युक्तः पाठः इत्यलं बहुभाषितेन।

'सर्वनाम द्वारा जिसका परामर्श संभव हो ऐसे अर्थ का फिर से अपने मुख्य शब्द द्वारा जो कथन वह भी वाच्यावचन दोष है।' जैसे—रात में पास बैठी सहचरी को चक्रवाक नहीं देखता, और न चक्रवाकी अपने सहचर को, देखिये तो नियति की कठोरता कैसी है? यहाँ (उत्तरार्ध में) चक्राह्व और सहचर स्वशब्द वाच्य नहीं होना चाहिये। उसका परामर्श उक्त ढंग से सर्वनाम द्वारा होना चाहिये। नहीं तो उन दोनों में पुनरुक्ति दोष होगा और सर्वनाम के लिये कोई जगह नहीं रह जायगी—(अर्थात् यदि सर्वत्र मुख्यशब्द का ही प्रयोग होने लगे तो सर्वनाम का प्रयोग कहाँ होगा)।

यहाँ उनका वैसा परामर्श नहीं किया गया इसलिये वाच्यावचन दोष हुआ। इसलिये 'विरहविधुरा न सापि तम्'—विरह की मारी वह भी उसे'—'यह पाठ अनुरूप है। इसी प्रकार—'वह शिशुओं का परिपालन करता है इतने से ही उसके नाम पर विश्वास मत कर लो' इत्यादि में भी यही दोष मानना चाहिये। उसका 'शिशुपाल' नाम प्रसिद्ध है न कि 'शिशुपरिप' इसलिये 'वह निर्भीक शिशुओं को पालता है'—ऐसा पाठ चाहिये। रहने भी दिया जाय, अधिक कहने से क्या?

(६) अवाच्यवचन

अनेन च वाच्यावचनेन सामर्थ्यादवाच्यवचनममपि सङ्गृहीतं वेदितव्यम्। तस्यापीष्टार्थविपर्ययात्मकत्वात्। तद्यथा—

'सरित्समुद्रान् सरसींश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्यापतन् मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः॥' इति।

अत्र ह्येकस्यैवार्थस्य यः पर्यायमात्रभेदेन भेदमुपकल्प्योपमानोपमेयभावो निबद्धः सोऽवाच्यवचनं दोषः, तस्य भिन्नार्थनिष्ठत्वात्। तदयमत्र पाठो युक्तः 'विन्ध्यस्य मेघप्रभवानि यद्वत्' इति। अस्मिँश्च पाठे भिन्नलिङ्गत्वमुपमादोषोऽपि परिहृतो भवति।

पर्यायमात्रभिन्नस्य यदेकस्यैव वस्तुनः।
उपमानोपमेयत्वमवाच्यवचनं च तत्॥ १०१॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

अवाच्यावचन—इस वाच्यावचन से अवाच्यवचन दोष भी अपने आप अपना लेना चाहिए। वह भी अभीष्ट अर्थ को उलट देता है। जैसे—'नदियों, समुद्रों और तालाबों तक जाकर राक्षसों और बानरों के स्वामी लोगों द्वारा लाये गये जल उसके सिर पर छूटे, जैसे विन्ध्य के सिर पर मेघमुक्त आप् (जल)।' यहाँ एक ही अर्थ का जो पर्याय भेद से भेद बनाकर उपमानोपमेयभाव बतलाया गया वह अवाच्यवचन दोष है। वह (उपमानोपमेयभाव) भिन्न अर्थों में रहता है। इसलिये

यहाँ यह पाठ ठीक है—'विन्ध्यस्य मेघप्रभवानि यद्वत्'—'जैसे विन्ध्य के (सिर पर) मेघ से उत्पन्न (जल)। इस पाठ में (जलानि = नपुंसकलिङ्ग, आपः = स्त्रीलिङ्ग इस प्रकार का) लिङ्गभेद दोष भी दूर हो जाता है।

संक्षेप में—

पर्यायमात्र से भिन्न एक ही वस्तु का जो उपमानोपमेयभाव वह अवाच्यावचन दोष है—

यथा च—

'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो-
रसावस्यास्स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥' इति।

अत्र यत् साक्षान्नायिकावर्णनं तदवाच्यमेव। तत्सम्बन्धिनामेव स्पर्शादीनामिव रम्याणामर्थानां विरहव्यतिरेकेणाङ्गभावोपगमाद्। न तस्या एव विरहस्य तत्सम्बन्धित्वेऽप्यसह्यत्वाभिधानादिति तस्या वचनं दोषः। तेन 'मुखं पूर्णश्चन्द्रो वपुरमृतवर्त्तिर्नयनयो'रित्यत्र युक्तः पाठः।

दूसरे उदाहरण जैसे—

'यह घर में लक्ष्मी है, यह आँखों की अमृतवर्त्ती है, शरीर पर इसका यह स्पर्श गहरा चंदन रस है, यह हाथ कण्ठ में मोतियों का ठंडा और चिकना हार है। इसकी कौन सी वस्तु प्रिय नहीं? केवल असह्य है तो इसका विरह।'

यहाँ (इयं गेहे लक्ष्मी = यह घर में लक्ष्मी है इस प्रकार) साक्षात् नायिका का वर्णन है वह अवाच्य है, (वह वैसा नहीं चाहिये) यहाँ नायिका सम्बन्धी स्पर्श आदि रम्यपदार्थों को, केवल विरह को छोड़कर नायिका का अंग स्वीकार किया गया है; उसका विरह भी उसी का सम्बन्धी है किन्तु वह असह्य है इसलिये उसका अंग नहीं माना गया। इसलिये उस (नायिका) का कथन दोष है। इसलिये ('इयं गेहे लक्ष्मीः' के स्थान पर भी) 'मुखं—पूर्णश्चन्द्रो' मुखपूर्ण चन्द्र है ऐसा पाठ (कर लेना) ठीक है। (यहां विरह को अंग न मानने की बात अनुसंगकथित है)।

यथा च—

'शोकानलधूमसम्भारसम्भृताम्भोदभरितमिव वर्षति
नयनवारिधाराविसरं शरीरम्।' इति।

अत्र हि शोकस्य केनचित् साधर्म्येण यदनलत्वेन रूपणं तत् तावद्रूप्यस्य सद्भावाद्युक्तमेव। धूमस्य पुनर्न किञ्चिद् रूप्यमस्तीत्यवाच्य एवासौ। यथा 'शोकानलदाहभीतेव न हृदयमवतरती'त्यत्र।

रूप्यान्तरसद्भावे तु न कश्चिद् दोषः। यथा—

'तस्या धौताञ्जनश्यामा हृदयं दहतोऽनिशम्।
शोकाग्नेर्धूमलेखेव गलत्यश्रुकणावलिः॥' इति।

अनलकार्यत्वात् तस्य वाच्यत्वमदुष्टमिति चेत्, न, अनवस्थापत्तेरतिप्रसङ्गाच्चेति तस्य वचनं दोष एव।

यथा च—

'तप्ते महाविरहवह्निशिखावलीभिरापाण्डुरं स्तनतटे हृदये प्रियायाः।' इत्यादि।

उपचारस्तहैकैव रूपकस्येष्यते क्रिया।
यथानलस्य दाहादिर्न कार्यादिरसम्भवात् ॥ १०२ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

और जैसेः—

'शरीर अश्रुधारा बरसा रहा है, मानो वह शोकानल के धूमसमुदाय से बने मेघ से भर गया है।' यहाँ किसी साधर्म्य के आधार पर शोक का जो—अग्निरूप से रूपण (शोक पर अग्नि का आरोप है) है वह ठीक है क्योंकि उसका रूप्य (उपमेय) विद्यमान है किन्तु धुएँ का तो कोई रूप्य नहीं है, इसलिये यह तो अवाच्य ही है। जैसे कि—'शोकानल की जलन से डरी हुई सी वह हृदय में नहीं उतरती' में (धुँआ नहीं दिया गया) दूसरा कोई रूप्य हो तो कोई दोष नहीं। जैसे—

'धुले काजल से काली उसकी अश्रुधारा हृदय को दिनरात फूंक रहे शोकानल की धूम रेखा के समान झड़ रही है।' यह।

यदि यह कहा जाय कि 'वह (धूम) अनल का कार्य है इसलिये उसका उपादान दोषावह नहीं'—तो वह ठीक नहीं, ऐसा करने से अनवस्था होगी और अतिव्याप्ति भी, इसलिए उसका कथन दोष ही है। और जैसे—

उत्कट विरहाग्नि की शिखावली से तप्त प्रिया के स्तनतट पर कुछ पीला, इत्यादि में। यहाँ (शिखा नहीं दी जानी चाहिये)

संक्षेप में—

(धर्मी के) रूपक में (धर्मगत) उपचार (गौणी सारोपा लक्षण) केवल एक ही क्रियारूपी धर्म में हो सकता है जैसे यदि अग्नि का आरोप किया जाय तो आरोप विषय (विरह आदि) गत (संतापादि) धर्म पर उसकी दाह क्रिया का आरोप किया जा सकता है, किन्तु यह कदापि संभव नहीं कि उसके कार्य (जैसे अग्नि का कार्य धूम) का भी आरोप किया जाय।'

विमर्श: धूम अग्नि का कार्य है इतने भर से वह अग्नि के साथ सर्वत्र बोला जाय तो—कृष्ण ने राधा का आलिंगन किया—यहाँ भी प्रद्युम्न का कहना जरूरी होगा। इसी प्रकार—जहाँ प्रद्युम्न ने रति का—यहाँ कारण—(पिता) श्रीकृष्ण का भी उल्लेख होना ही चाहिये। और इसी प्रकार तप्तेमहाविरहशोकशिखा—में शिखा शब्द के बिना भी ताप की प्रतीति सम्भव है, परन्तु उसे दुष्ट नहीं कहा जा सकेगा। स्तनस्थ वस्तु में आपाण्डुरता की सिद्धि के लिए हृदयस्थ अग्नि पर्याप्त नहीं अतः वहाँ से उठकर स्तनों तक आने वाली अनेक लपटें उसके लिए आवश्यक हैं, इसलिए शिखा और अवली दोनों का उपादान उचित है। अनुचित है केवल (अवली में) बहुवचन का उपादान। बहुत्व की प्रतीति अवली शब्द से ही हो जाती है।

'दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य ।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥' इति ।

अत्र कृपणकृपाणयोराकारमात्रतो व्यतिरेक उक्तः स चायुक्तः, द्विविधो ह्याकारार्थः सन्निवेशलक्षणोऽक्षरविशेषलक्षणश्च ।

तत्राद्यस्तावदिहानुपादेय एव, सहानवस्थानव्रतोरर्थयोस्तद्व्यभिचाराभावादिति नासौ सचेतसां चमत्कारमावहति। द्वितीयस्तु न सम्भवत्येव, अक्षरकृतविशेषस्य शब्दैकविषयत्वात्। यद्यपि हि स्वरूपमपि शब्दस्यार्थ एव। यदाहुः—

'विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते ।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः ॥' इति ।

तथापि तस्य तात्पर्येणाविवक्षितत्वात् न तदपेक्षमर्थविषयत्वमस्य शक्यं वक्तुम्। वाच्यदशापत्तावपि तस्य शब्दस्वरूपतानपायादिति ।

यथा च—

'येनालङ्कृतमुद्यानं विहारेणामुना तव ।
तेनैव निर्विकारेण करिकुम्भनिभौ कुचौ ॥' इति ।

इह तु युक्त एवासौ—

'अक्षराणामकारोऽहमिति यः स्वयमभ्यधात् ।
सोऽपि त्वयामुना स्वामिन्नाकारेण लघूकृतः ॥' इति ।

तेनाक्षरविशेषात्मकाकारभेदलक्षणस्य शब्दधर्मस्यार्थविशेषणभावेनावाच्यस्य यद्वचनं सोऽपि दोष एवेति द्रष्टव्यम्।

यद्यप्यर्थावुभौ शब्दः क्रमेणाभिदधात्ययम्।
स्वरूपञ्चार्थरूपं च तथाप्यस्याभिधा क्रिया ॥ १०३ ॥
तत्परत्वाद् विवक्षाया विश्राम्यत्यर्थ एव हि।
भिन्नधर्मतया तेन भिन्नकक्ष्यतयापि च ॥ १०४ ॥
नार्हतो जातुचिदिमौ श्लिष्टमेकं विशेषणम्।
मा भूदेकात्मतापत्तिदोषोऽसावेतयोरिति ॥ १०५ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः ।

'जिसकी मुष्टि खूब दृढ़ता के साथ बँधी रहती है, जो स्वभावतः मलिन होता है और कोष में प्रविष्ट रहता है ऐसे कृपण और कृपाण का भेद केवल आकार (आकृति तथा 'आ' अक्षर) को लेकर होता है।'

[मुष्टि—तलवार—की मूठ, मुट्ठी, मलिन = श्याम और गन्दा, कोश = म्यान और खजाना]

यहाँ कृपण-और-कृपाण का भेद केवल आकार को लेकर बतलाया गया है ! पर वह ठीक नहीं है। आकार के दो अर्थ होते हैं—आकृति और ('आ' यह) एक अक्षर उनमें से प्रथम (आकृति) को यहाँ अपनाया नहीं जा सकता, क्योंकि जो दो वस्तुएँ एक जगह कदापि नहीं रह सकती (अर्थात् जिनमें भिन्नता रहती है) उनमें उस (आकृति भेद) का—व्यभिचार (अभाव) नहीं होता (जिस = भेद के आधार पर—कमल आदि के साथ नील आदि विशेषण अपनाए जाते हैं) वह (आकृति के अर्थ में अपनाया 'आकार') सहृदयों को अच्छा नहीं लगता। दूसरा तो संभव ही नहीं है 'अक्षर' के आधार पर जो भेद या अभेद की बात है वह केवल कृपण ओर कृपाण) शब्दों में संभव है। यद्यपि शब्दों का स्वरूप भी (एक) अर्थ है। जैसा कि कहा गया है—'शब्द जब तक जाने नहीं जाते तब तक अर्थज्ञान नहीं कराते। वे संकेतित रूप से न जाने-जाने पर केवल अपनी सत्ता मात्र से अर्थ का ज्ञान नहीं कराते।' (सत्तामात्र में शब्द भी अर्थ ही है।)

इतने पर भी यहाँ वह (शब्द) तात्पर्य रूप से विवक्षित नहीं है, इसलिये इसको लेकर शब्द-स्वरूप को अर्थ नहीं माना जा सकता। वह (शब्द) वाच्य भी होता हैं, तब भी स्वरूप से वह शब्द ही रहता है। इसी प्रकार—'तुम्हारे जिस इस विहार ने उद्यान को अलंकृत किया (और) विकार (वि उपसर्ग) रहित उसी (हार) ने करिकुंभ के समान तुम्हारे कुचों को' यहाँ भी। (विहार से 'वि' हटाने पर हार अतः नायिका स्तनों को हार ने, उद्यान को विहार ने अलंकृत किया)

यहाँ तो वह ठीक है—'मैं अक्षरों में आकार हूँ, ऐसा जिसने स्वयं कहा, हे स्वामिन् उसे भी तुमने अपने इस आकार से छोटा बना दिया।' इसलिये अक्षर विशेषरूप 'आकार' की भिन्नता जो शब्द में रहने वाला धर्म है—उसे अर्थ का धर्म नहीं कहना चाहिये। इसलिये ऐसा कथन दोष ही है।

संक्षेप में—

यद्यपि शब्द क्रम से स्व-स्वरूप और अर्थस्वरूप दोनों अर्थों का अभिधान करता है तथापि इसकी अभिधान क्रिया विश्रान्त होती है क्योंकि उसकी विवक्षा उसी में रहती है। इसलिये भिन्न-धर्मता या भिन्न सत्ता के आधार पर दोनों कभी भी किसी एक श्लिष्ट विशेषण से कहने योग्य नहीं। ऐसा करने से इन दोनों के अभिन्न रूप से प्रतीत होने का भय रहता है। ऐसा होना यह (अवाच्य-वचन) दोष है।

'यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ॥' इति ।

अत्र हिरण्यकशिपुमिति वक्तव्ये हिरण्यपूर्वं कशिपुमित्युक्तं सोऽवाच्यवचनं दोषः ।

यतोऽत्र हिरण्यशब्दः कशिपुशब्दश्चाभिधेयप्रधानौ वा स्यातां स्वरूपमात्रप्रधानौ वा । तत्र न तावदभिधेयप्रधानौ अनभ्युपगमाद्, अर्थस्यासमन्वयात् ; कशिपुशब्दस्य नपुंसकलिङ्गतापत्तेश्च । नापि स्वरूपप्रधानौ । नह्येवमसुरविशेषस्य हिरण्यकशिपोरभिधानानुकारः प्रख्यानक्रियाकर्मभावेनाभिहितो भवति ।

द्विविधो हि शब्दानुकारः शाब्दत्वार्थत्वभेदात्। तत्रेतिना व्यवच्छेदे शाब्दः प्रसिद्ध एव। अर्थावच्छेदभावादार्थः; यथा 'महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः' इति।

इह चायमार्थोऽनुकारः, इतिनानवच्छेदात्। केवलं यत् तस्याभिधानमनुकार्यं तन्नानुकृतं, यच्चानुकृतं तत् तस्याभिधानमेव न भवति। लोके हिरण्यकशिपुरिति तस्याख्यानं न हिरण्यपूर्वः कशिपुरिति, अतस्तस्यावाच्यस्य वचनं दोषः। यथा वा—

'क्षुण्णं यदन्तःकरणेन वृक्षाः फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव।' इत्यत्र।

अत्र-'क्षुण्णं यदन्तःकरणेन नाम तदेव कल्पद्रुमकाः फलन्ति।' इति युक्तः पाठः। अस्मिंश्च पाठे क्षुण्णस्यार्थस्य कल्पद्रुमाणां चावज्ञावगतौ गुणान्तरलाभः। एवम्—

'दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं प्रचक्षते।'

इत्यादौ द्रष्टव्यम्।

इन्द्र के इन्द्र शब्द के अर्थ को मटियामेट कर देने वाले जिस (दैत्य) को हिरण्यपूर्वक कशिपु कहा करते हैं। कहना था 'हिरण्यकशिपुम्'। उसकी जगह हिरण्यपूर्वक कशिपु कहना अवाच्यवचन ही है। क्योंकि यहाँ हिरण्य और कशिपु दोनों शब्द अर्थप्रधान हो सकते हैं या स्वरूप प्रधान। दोनों में अभिधेय (अर्थ) प्रधान तो हो नहीं सकते—क्योंकि वह कविविवक्षित नहीं है, अर्थ (शय्या) का समन्वय नहीं होता और कशिपु शब्द में नपुंसक लिंगता (कशिपु शब्द पुलिंग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में होता है। ग्रन्थकार को एकमात्र नपुंसक का संस्कार रहा।) चली आती है। स्वरूप प्रधान भी नहीं हो सकते क्योंकि ऐसा करने पर असुरविशेष = हिरण्यकशिपु के नाम का अनुवाद 'प्रख्यान (प्रचक्षते) क्रिया' के कर्मरूप से कथित नहीं होता। शब्द का अनुकरण दो प्रकार का होता है शाब्द और आर्थ दोनों में इति (आदि शब्दों) से व्यवच्छेद हो जाने पर शाब्द तो (प्रथम विमर्श के आरम्भ में बतलाया जा चुका है अतः) प्रसिद्ध ही है, अर्थ के अवच्छेद से आर्थ होता है—जैसे 'महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः' = दूसरे के भारी दुःख को भी शीतल ठीक ही कहा है। यहाँ अनुकरण आर्थ ही है, क्योंकि इति शब्द से तो व्यवच्छेद किया नहीं गया। किन्तु अनुकार्य जो है—उसके नाम (हिरण्यकशिपु) का अनुकरण नहीं किया गया, जिसका अनुकरण किया गया है, वह (है हिरण्यपूर्व कशिपु जो) उसका नाम नहीं है। लोक में उसका नाम 'हिरण्यकशिपु' है न कि 'हिरण्य पूर्व कशिपु' अतः जिसको नहीं कहना था उसका कथन अवाच्यवचन दोष हुआ।

और जैसे—'जो अन्तःकरण चाहता है कल्प उपपद वृक्ष वही फलते हैं।' यहाँ 'क्षुण्णं यदन्तःकरणेन नाम 'कल्पद्रुमका फलन्ति' यह पाठ चाहिये। इस पाठ में एक और विशेषता आ जाती है—(नाम शब्द से) अर्थ (अभीष्ट वस्तु) और (कन् प्रत्यय से) कल्पद्रुम की क्षुद्रता भी प्रतीत होती है। इसी प्रकार—दशकण्ठ (रावण) के शत्रु के (राम के) पिता जिस (राजा) को…… दश पूर्वक रथ कहते थे।' इत्यादि में समझना चाहिये।

'या घर्मभासस्तनयापि शीतलैः
स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनैः ।
कृष्णापि शुद्धेरधिकं विधातृभि-
र्विहन्तुमंहांसि जलैः पटीयसी ॥' इति ।

अत्र घर्मभासस्तनयत्वादीनां शीतलत्वादीनां च धर्माणामेकाश्रयत्वेन विरोधो वक्तुं युक्तो, न भिन्नाश्रयत्वेन, तस्य तथानुपपत्तेः । नचासौ तथोक्तः, एकेषां यमुनाश्रयत्वेन अन्येषां जलाश्रयत्वेनोपादानात् ।

यद्यपि यमुनायास्तज्जलानां च तात्त्विकमेवैक्यं, तथापि तेषां शब्देन कर्तृकरणतया निर्देशाच्छाब्दं भिन्नत्वमस्त्येव । शाब्द एव विरोधो वक्तुमिष्टः कवेरिति तस्यावाच्यस्य वचनं दोषः तेनायमत्र पाठः श्रेयान् ।

'या घर्मभासस्तनयापि शीतला
स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनी ।
कृष्णापि शुद्धेरधिकं विधायिनी
विहन्तुमंहांसि जलैः पटीयसी ॥' इति ।

स्वयं श्याम होने पर भी अधिक शुद्धि करने वाले उष्णदीधिति—सूर्य की पुत्री होने पर भी ठण्डे, और यमराज की बहन होने पर भी जान ला देने वाले जलों से पाप दूर करने में अधिक चतुर है ।'—यहाँ सूर्य की पुत्री होना और शीतल होना आदि धर्मों का विरोध एक वस्तु में बतलाना ठीक था; भिन्न-भिन्न वस्तुओं में नहीं, भिन्न-भिन्न वस्तुओं में बतलाने से विरोध नहीं होता । यहाँ वैसा किया नहीं गया, कुछ का यमुनाश्रितरूप से और—कुछ का जलाश्रितरूप से उपादान किया गया है ।

यद्यपि यमुना और जल दोनों तत्वतः एक हैं, इतने पर उनका शब्दतः जो निर्देश हुआ है उसमें भेद है क्योंकि एक को करण के रूप में उपस्थित किया गया है और दूसरे को कर्ता के रूप में । इसलिए शब्दतः भिन्नता तो है ही । और विरोध जो है सो शाब्द ही तो कवि को कहना है अतः उसका न कह सकना अवाच्यवचन दोष है । इसलिये यह पाठ यहाँ अधिक अच्छा है—'जो सूर्य की पुत्री होने पर भी ठंडी है, यम की बहन होने पर भी जनों को जीवन देने वाली है, श्याम होने पर भी अधिक शुद्धि का विधान करती है और अपने जल से पापों को दूर (नष्ट) करने में चतुर है ।'

यथा च—

'रुरुचे हिमाचलगुहामुखोन्मुखः पयसां प्रवाह इव सौरसैन्धवः' अत्र हि पयसामिति यत्प्रवाहस्य सम्बन्धितया विशेषणं तदवाच्यमेव तस्य हि तत्सम्बन्धिताऽव्यभिचारात् । यच्चात्र सौरसैन्धव इति विशेषणं तत्र तद्धितनिर्देशोऽप्यवाच्य एव, षष्ठीनिर्देशे एव षष्ठीनिर्देशेनैव तदर्थावगतिसिद्धेः । तेन 'सुमहान् प्रवाह इव जह्नुजन्मनः' इत्यत्र युक्तः पाठः । यथा च—

'लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥'
'रहयिष्यति तं लक्ष्मीर्नयविमुखो नापदां पदं क इव ।
स च तव रिपुरेवमतो भावी तस्यापि तद्विरहः ॥' इति ।

अत्र प्रतिज्ञानिगमनयोः पौनरुक्त्यम् । प्रसिद्धव्याप्तिकस्य हेतोर्धर्मिण्युपसंहारवचनेनैव तदुभयार्थसिद्धेरिति । यदुक्तं 'प्रतिज्ञाया एव तावद्गम्यमानार्थाया वचनं पुनर्वचनं, किं पुनरस्याः पुनर्वचनमित्यपार्थकं निगमनम्' इति ।

इह तु न दोषः—

'यो यत्कथाप्रसङ्गे छिन्नच्छिन्नायतोष्णनिश्वसितः ।
स भवति तं प्रति रक्तस्त्वं च तथा दृश्यसे सुतनु ! ॥' इति ।

और जैसे—'हिमालय की गुहाओं की ओर जा रहा वह जल के सुरसिन्धु (गङ्गाजी) संबन्धी प्रवाह जैसा लगा०' इसमें पयसाम्—यह जो संबन्धी रूप से प्रवाह का विशेषण है, वह अवाच्य है, वह तो उसके साथ नित्य संबंधित है । और जो यहाँ 'सौरसैन्धव' यह विशेषण है उसमें जो तद्धित निर्देश है—वह भी अवाच्य ही है, (सुरसिन्धोः-इस प्रकार) 'षष्ठी' विभक्ति देने से ही उसका काम—हो जाता है; 'इसलिये सुमहान् प्रवाह इव जह्नुजन्मनः' पाठ चाहिये । और जैसे—

'सिंह के समान शक्ति वाले (दशरथ) ने जिस हिरन पर शर साधा किन्तु उसे ओट में करके खड़ी उसकी सहचरी को देख कान तक खींचे तीर को भी दयार्द्रचित्त' होकर उसने उलटा उतार लिया ।' (तथा)—

'उसे लक्ष्मी छोड़ देगी, नीति विमुख कौन सा व्यक्ति आपत्ति का आस्पद नहीं होता । तुम्हारा वह शत्रु ऐसा ही है, अतः उसे भी उस (संपत्ति—लक्ष्मी) का विरह भोगना होगा ।' यहाँ प्रतिज्ञा (नीतिविमुख०००होता) और निगमन (अतः उसे उसका विरह भोगना होगा) पुनरुक्त होगा । जिस हेतु की व्याप्ति प्रसिद्ध होती है उसका धर्मी (पक्ष) में उपसंहार बतला देने से ही दोनों कार्यों (प्रतिज्ञा, निगमन) की सिद्धि हो जाती है । जैसा कि कहा है—'प्रतिज्ञा का ही (निगमन में पुनः) कथन पुनरुक्ति है क्योंकि उसका अर्थ स्वयमेव गम्यमान होता है' तब इसे फिर से कहना ही क्यों । इसलिए निगमन व्यर्थ ही होता है ।

किन्तु निम्नलिखितस्थल में उक्त दोष नहीं होता—

'जिसकी बात चलने पर जो रुक-रुक कर गरम साँसें लेता है वह उसके प्रति अनुरक्त होता है और हे सलोनी सखी तुम ऐसी ही दिखाई दे रही हो ।

विमर्श : 'लक्ष्यीकृतस्य०' पद्य में 'कृपामृदुमनाः' का 'मनः' शब्द पुनरुक्त है । कृपा तो मनका ही धर्म है अतः मन अपने आप प्रतीत हो जाता है । इसीप्रकार प्रतिसंजहार में 'प्रति'

पुनरुक्त है। संधान किये बाण को बिना छोड़े वापस करलेना केवल 'संजहार' से प्रतीत हो जाता है। इसी प्रकार कानतक खींचा जाता है धनुष न कि बाण, अतः बाण का कानतक खींचा जाना अवाच्यवचन है। फलतः—'आकर्णकृष्टमपि कामितया सुधन्वा चापं कृपामृदुरसौ शिथिलीचकार' पाठ (उत्तरार्ध में) चाहिए। 'सुधन्वा' पद देने से 'स–असौ' इन सर्वनामों में अन्यतर की पुनरुक्ति हट जाती है।

यत्राप्रस्तुतादेव प्रस्तुतस्यार्थस्य प्रतिविम्बादिव बिम्बस्य साम्यावगतिर्न तत्रासौ वक्तव्यतामवतरति तदभिधानसामर्थ्यादेव तदवगमाद् उक्तावबाच्यवचनदोषानुषङ्गात्। यथा—

'आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरा वार्यते
मध्येवारिधि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां पदम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम्॥' इति।

अत्र प्रभुमिवेत्युपमानभावः प्रभोः। यथा च—

'द्रविणमापदि भूषणमुत्सवे शरणमात्मभये निशि दीपकः।
बहुविधाभ्युपकारभरक्षमो भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः॥' इति।

अत्र भवदर्थस्योपमानभावः।

जहाँ अप्रस्तुत से ही प्रस्तुत का साम्य प्रतिबिम्ब से बिम्ब के समान समझ में आ जाता हो वहाँ वह (प्रस्तुत) कहा नहीं जाता। उस (अप्रस्तुत) के कथन से ही उस (प्रस्तुत) की प्रतीति हो जाती है अतः (प्रस्तुत को) कहने पर अवाच्यवचन दोष का भय रहता है। उदाहरणार्थ—

'यदि आकाशचारियों को बुलाया जाय और उसमें यदि मच्छर भी आए तो वह रोका नहीं जा सकता, समुद्र में रहती तृणमणि भी मणियों का स्थान पाती हैं, (सूर्य, चन्द्र आदि) तेजस्वी लोगों के बीच अवस्थित जुगनू (खद्योत) भी टससे मस नहीं होता। अतः तत्त्वभेद करने में असमर्थ स्वामी के समान इस जड़ सामान्यतत्त्व (जाति) को धिक्कार है।' यहाँ स्वामी (की प्रतीति स्वतः हो जाती है अतः उस) का उपमानरूप से उपस्थित किया जाना (अवाच्यवचन दोष है)। और जैसे—

'धन केवल आपत्ति में उपकार करता है, भूषण केवल उत्सवों में, रक्षा करने वाला केवल प्राणभय के समय और दीपक केवल रात्रि में। आप जैसा बहुविध उपकार करने में समर्थ और सत्पुरुषों में रत्न कोई विरला ही होता है।' यहाँ जिसके लिए 'आप' (भवान्) शब्द कहा गया है उसे उपमानरूप से शब्दतः कहना (दोषावह है)।

प्रस्तुतात्तु तदन्यस्य प्रतीतिरनिबन्धना न सम्भवत्येवेति तत्र तस्योक्तिरुपपद्यत एव।

'निम्नमुन्नतमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत्।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ् महत्त्वमसतां हतान्तरम्॥' इति।

अत्र तमसः प्रस्तुतत्वात्तदुक्तेरसत्पुरुषमहत्त्वप्रतीतावसामर्थ्यमिति तद्वक्तव्यमेव भवतीति न तत्रावाच्यवचनदोषानुषङ्गः।

जहाँ तक प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति का सम्बन्ध है वह बिना कोई कारण उपस्थित किए नहीं होती अतः उस (अप्रस्तुत) को अवश्य ही शब्दतः कहना पड़ता है, अतः उसका शब्दतः कथन दोष नहीं माना जाता।

जैसे—

'नीचा, ऊँचा, स्थिर, चल, टेढ़ा, सीधा जो भी है अन्धकार ने उस सबको बराबर कर दिया है। अन्तर न जानने वाले असत्पुरुषों की प्रभुता को धिक्कार है।' यह।

यहाँ अन्धकार प्रस्तुत है (केवल) उसके (ही) कथन से असत्पुरुषों के महत्त्व का ज्ञान होना सम्भव नहीं, इसलिए उसे कहना ही पड़ता है) उसमें अवाच्य वचन दोष नहीं।

अप्रस्तुतोक्तिसामर्थ्यात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते।
प्रतिबिम्बाद् यथा बिम्बं तस्योक्तिस्तत्र नेष्यते॥ १०६॥
प्रस्तुतात्तु तदन्यस्य प्रतीतिरनिबन्धना।
न सम्भवत्येव ततस्तदुक्तिस्तत्र शस्यते॥ १०७॥
इति सङ्ग्रहश्लोकौ।

संक्षेप में (सार यह कि)—

'जहाँ अप्रस्तुत के कथन के बल से प्रस्तुत का बोध हो जाता है जैसे प्रतिबिम्ब से बिम्ब का वहाँ इस (प्रस्तुत) का कथन आवश्यक नहीं। किन्तु प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति बिना किसी कारण के नहीं होती अतः उसका कथन आवश्यक माना जाता है।'

किञ्च यत्राप्रस्तुतप्रशंसायामप्रस्तुतस्यार्थस्य श्लेषमुखेनासन्नेवोत्कर्षोऽपकर्षो वा तदितरस्य तथाप्रतिपत्तयेऽभिधीयते नासौ तात्त्विक इति न तत्र तामाधातुमुत्सहते तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेनावस्थानोपगमादित्यवाच्य एवासौ, तस्य वचनं दोषः। तत्रोत्कर्षे यथा—

'सद्वृत्ते महति स्वभावसरले बद्धोऽसि यस्मिन् गुणै-
र्युक्ते संयमहेतुतामुपगते यत्रापि विश्राम्यसि।
तस्याक्षेपपरम्पराभिरभितो दोलायमानस्थिते-
रालानस्य मतङ्गजेष कतमो निर्मूलने दुर्ग्रहः॥' इति।

अत्र सद्वृत्तादिभिर्विशेषणैररुन्तुदस्यालानस्याप्रस्तुतस्य श्लेषबलोपकल्पितेन सदाचारत्वादिधर्मसम्बन्धेनोत्कर्षोऽभिहितः, न चासौ वास्तव इति तदुन्मूलनग्रहो गजस्योचित एव न दुष्ट इत्युपालम्भयोग्यत्वं तत्रासिद्धमेव। यच्च बिम्बभूते तस्मिन्नसिद्धं, तत् कथं प्रस्तुतेऽर्थे दर्पणप्रतिमे प्रतिबिम्बीभवेदिति श्लेषोत्कर्षस्यावाच्यस्य वचनं दोषः। तस्माच्छ्लेषमनादृत्यैव निराकाङ्क्षकाकुक्रमेण किंशब्दस्यार्थो व्याख्येयः। तेन 'कतमो निर्मूलने

दुर्ग्रह' इत्यत्र 'न खलु कश्चिदित्युचित एवायं निर्मूलनेऽभिनिवेशस्तव' इत्ययमर्थोऽवतिष्ठत इति। एवमपकर्षेऽपि द्रष्टव्यम्।

इसके अतिरिक्त अप्रस्तुतप्रशंसा में जहाँ उत्कृष्ट को अपकृष्ट तथा अपकृष्ट को उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए अप्रस्तुत अर्थ का अवास्तविक (झूठा ही) उत्कर्ष या अपकर्ष श्लेष के द्वारा उपस्थित किया जाता है वहाँ वह अवास्तविक होने के कारण वैसा सिद्ध नहीं कर पाता। कारण कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत परस्पर में बिम्ब और प्रतिबिम्ब के समान माने जाते हैं। इसलिए वह (अप्रस्तुत का अवास्तविक उत्कर्षापकर्ष) अवाच्य ही है और उसका कथन अवाच्यवचन दोष है। जैसे कि उत्कर्ष में—

हे गजराज जिसका वृत्त (व्यवहार और घेरा) बहुत अच्छा है, जो महान् (उदात्त और लम्बा) है, स्वभाव से सरल (सीधा) है, जिसमें तुम बँधे हो, जो गुणों (शील आदि तथा रस्सी) से युक्त और संयम (इन्द्रिय निग्रह, बन्धन) का कारणभाव प्राप्त कर लेता है जिसके सहारे तुम विश्राम भी करते हो, आक्षेप (लाञ्छन, टक्कर) की परम्परा द्वारा हिल रहे उस आलान (हाथी को बांधने के खूंटे) को जड़ से उखाड़ फेंकने में यह आपका आग्रह कैसा ?

यहाँ सद्वृत्त आदि विशेषणों द्वारा मर्मच्छेदी अप्रस्तुत आलान का उत्कर्ष श्लेष के द्वारा सदाचार आदि कल्पित गुणों के आधार पर बतलाया गया, पर यह वास्तविक नहीं है, इसलिये हाथी का उसे उखाड़ फेंकने का आग्रह अनुचित सिद्ध नहीं होता, इसलिये उसमें (हाथी में) उपालंभ (उलाहने की) योग्यता नहीं बनती। (क्योंकि) बिम्बभूत उसमें (अप्रस्तुत में) जो सिद्ध नहीं होता वह दर्पण के समान प्रस्तुत अर्थ में प्रतिबिम्बित कैसे हो सकता है, इसलिए श्लेष द्वारा कल्पित उत्कर्ष यहाँ वाच्य (कथनीय) नहीं था, उसका वचन (कथन) दोष हुआ। इसलिये किं (कतम) शब्द का अर्थ श्लेष को छोड़ कर केवल काकु के आधार पर करना चाहिये। इस प्रकार काकु से अर्थ निकलेगा—'उखाड़ फेंकने का आग्रह दुष्ट क्यों माना जाय' और उत्तर आएगा 'न माना जाय', फलतः 'तुम्हारा उखाड़ फेंकने का आग्रह उचित ही है'—ऐसा अभिप्राय निकलेगा। इसी प्रकार अपकर्ष में भी देखना चाहिये।

विमर्श : अपकर्ष के लिये 'शिरःशार्वं गङ्गा०' (इत्यादि भर्तृहरिशतक का) पद्य ठीक है। गङ्गा का नीचे आना अधःपतन नहीं है। अतः विवेकयुक्त लोगों का अपकर्ष गङ्गा में सिद्ध नहीं होता। ऐसी ही कोई अप्रस्तु-प्रशंसा अपनाई जा सकती है।

सर्वनाम्ना परामृष्टस्याप्यर्थस्य यत्पुनः स्वशब्देन वचनं सोऽवाच्यवचनं दोषः। यथा—

'उदन्वच्छिन्ना भूः, स च निधिरपां योजनशतम्, इति।

अत्र निधिरपामिति।

यस्यार्थस्य समासोक्तित एवोपमानभावोऽवसितो न तस्यासौ पुनर्वाच्यो भवति अवाच्यवचनदोषानुषङ्गात्। यथा—

'अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव॥' इति।

अत्र तिलकप्रमदयोरेकतरस्मिन् वाच्ये यदुभयोर्वचनं तदवाच्यवचनं दोषः।

ये तु गण्डस्योपरि पिटकोद्भेदमिव तत्राप्यार्थमेव तस्योपमानत्वमुपरचयन्ति, नमस्तेभ्यः कविवरेभ्यः। तद्यथा—

'जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्त्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्स्वच्छलावण्यबापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः'॥ इति।

अत्र हि समासोक्त्यैव दण्डपादस्याम्भोजतुल्यत्वेऽवगते यत् तस्याम्भोजशोभां विदधदिति पुनर्वचनं तदवाच्यवचनदोषतां नातिपतति।

सर्वनाम द्वारा कहे अर्थ को पुनः अपने बाचक शब्द द्वारा कहना भी अवाच्यवचनदोष है। जैसे—'भूमि समुद्र से सीमित है और वह समुद्र भी सौ योजन का है'—इसमें (निधिरपां (समुद्र) का।

जिसकी उपमानता समासोक्ति द्वारा ही प्रतीत हो रही हो उस अर्थ को कहना नहीं चाहिये। ऐसा करने से अवाच्यवचनदोष होता है।

उदाहरण—अलिभिः (इत्यादि पूर्वोक्त) यहां तिलक और प्रमदा दोनों में से किसी एक का कथन चाहिए दोनों के कथन में अवाच्यवचन हुआ गूम के ऊपर फून्सी फूटने के समान जो तब भी उसका उपमान भाव आर्थ रूप से ही उपस्थित करते हैं—उन कविपुङ्गवों को नमस्कार है। जैसे—

'पति के नृत्य का अनुकरण करने में अपने शरीर को स्वच्छलावण्यरूपी वापिका में उत्पन्न कमल की शोभा लिये हुये पार्वती के दण्डपाद की जय।

जङ्घाकाण्ड (घुटनों से नीचे और पैर की पहुँची से ऊपर का शरीरभाग जिसे हिन्दी में पिंढ़री कहा जाता है) उसमें लम्बी नाल है, नाखूनों की किरण उसमें चमचमाती पंखुड़ियां हैं तुरन्त लगे अलक्तक की कान्ति का फैलाव कोंपलें हैं और मञ्जुल मंजीर भौंरे। यहां दण्डपाद का अम्भोज सादृश्य समासोक्ति ही से ज्ञात हो जाता है इतने पर भी उसके लिये 'अम्भोज शोभाको धारण किये हुए' ऐसा कहा गया, यह अवाच्यवचन दोष हुआ।

विमर्श: दण्डपाद के लिये देखिए वामनी काव्य प्रकाश २७६। नाट्यशास्त्र ४।१४२-३,—अभिनव भारती। संक्षेप में यह समझना पर्याप्त है कि नृत्य में दाहिना पैर पीछे पीठ की ओर से शिर की दिशा में ऊपर दण्डे के समान ऊँचा ताना जाता है। उसका तलवा जूड़े से लग जाता है। इस मुद्रा को दण्डपाद कहा जाता है।

यत् पुनस्तत्राप्यम्भोजस्यार्थमुपमानत्वमुपात्तं तदप्ययुक्तमेव, तस्योरुनालत्वादिधर्मसम्बन्धोपगमयोग्यतानुपपत्तेः। केवलमेकेनैव समासान्तर्भावाद् वापीसम्भूतत्वेनास्य विशेषणविशेष्यभावः सङ्गच्छते। किन्तु समास एवात्रोक्तनयेनानुपपन्न इवावभासते सचेतसां प्रक्रमभेदप्रसङ्गादित्युक्तम्।

न च दण्डपादस्य तत्सम्बन्धो घटिष्यत इति शक्यते वक्तुं, तस्य तद्धर्मसम्बन्धासंभवात्। तेनात्राम्भोजस्य शाब्दमुपमानत्वं वा, दण्डपादस्य वाम्भोजत्वेन रूपणं कर्तव्यम्, येनास्य प्राधान्ये सति विशेषणसम्बन्धोपगमयोग्यता स्यात्।

किञ्च भर्तुर्नृत्तस्योद्धतस्य ताण्डवात्मनो योऽनुकारस्तस्य दण्डपादविषयभावेनोपादानाद्, जङ्घाकाण्डनालत्वविशिष्टतया संस्थानविशेषवशाच्च पादस्य दण्डाकारता अभिनवत्वं चेत्युभयमप्यवगतमिति न तत्पुनरुपादेयतामर्हति। अतो वरमयमत्र पाठः श्रेयान्—

'स्वच्छलावण्यवापीसम्भूतो भक्तिभाजां भवदवदहनः पादपद्मो भवान्याः' इति।

एवञ्च धारणमात्रविवक्षायां विपूर्वस्य दधातेः प्रयोगः परिहृतो भवति, स हि विपूर्वः करोत्यर्थे वर्त्तते न धारण इति।

यत्रार्थस्योपमानत्वं समासोक्त्यैव गम्यते।
न तत् तत्र पुनर्वाच्यमुक्तौ वा शाब्दमस्तु तत्॥ १०८॥
अन्यथा त्वन्यधर्मैः कः सम्बन्धोऽन्यस्य वस्तुनः।
तेन वाच्यत्वमार्थत्वं चेत्यस्य द्वयमप्यसत्॥ १०९॥

इति सङ्ग्रहश्लोकौ।

यहाँ अम्भोज का जो अर्थतः उपमानभाव बतलाया गया वह भी ठीक नहीं है, उस (अम्भोज) में ऊरुनालत्व आदि धर्म का संबंध नहीं हो सकता। केवल एक ही 'वापीसंभूतत्व–' रूप विशेषण के साथ अम्भोज का विशेषणविशेष्यभाव संबंध बन सकता है क्योंकि वह समास के अन्तर्गत ही है। किन्तु यहाँ तो समास ही ठीक नहीं बैठता, सहृदयों को उससे प्रक्रमभेद का अनुभव होता है।

यदि यह कहा जाय कि उन ऊरुनालत्व आदि विशेषणों का संबंध दण्डपाद के साथ हो जायेगा, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि वह अम्भोज के धर्मों से युक्त नहीं हो सकता। इसलिये इस पद्य में या तो उपमानभाव शब्द द्वारा कहा जाना चाहिये, या फिर दण्डपाद का अम्भोज के साथ रूपक होना चाहिये जिससे इस (अम्भोज) का प्राधान्य होने से विशेषणों के संबन्ध को स्वीकार करने की योग्यता आ जाय और भर्त्ता का जो ताण्डवरूप उद्धत नृत्य है उसका जो अनुकरण है उसका दण्डपादरूप से उपादान किया गया है—इस कारण और विशेष अंग के जङ्घाकाण्डनालत्व से विशिष्ट होने के कारण पाद का दण्डतुल्य आकार और अभिनवत्व—दोनों ही जान लिये गये, इसलिये उन्हें फिर से नहीं कहना चाहिये। इसलिये यहाँ यह पाठ अच्छा है—'लावण्य की स्वच्छवापी से उत्पन्न हुआ भवानी का भक्तों की संसार-अटवी का दाहक पादपद्म।'
रने से धारण मात्र की विवक्षा में वि उपसर्ग सहित दधाति (धा) का प्रयोग भी हट
। वि उपसर्ग से युक्त वह (धा) धातु विधान करने अर्थ में है, धारण करने अर्थ में नहीं।

सार यह कि—जहाँ अर्थ की उपमानता समासोक्ति से ही ज्ञात हो जाती हो वहाँ उसका कथन नहीं होना चाहिये, कथन हो भी तो वह शाब्द हो। नहीं तो अन्य वस्तु का अन्य धर्मों से सम्बन्ध ही क्या बन सकेगा ?

इसलिये इस (उपमान) का वाच्यत्व और आर्थत्व दोनों ही गलत है।

विमर्श : 'जंघाकाण्ड०' पद्य में नाल आदि धर्मों का कथन है। उससे-पाद का अम्भोज-सादृश्य बिना कहे प्रतीत हो जाता है। अतः 'अम्भोजशोभां विदधत्' ऐसा नहीं कहना चाहिये। कहना भी हो तो—उपमान को स्वतन्त्र रखकर उसकी उपमा शब्दवाच्य करनी चाहिये। यहाँ 'अम्भोजशोभां विदधत्' में अम्भोज समास में दब गया है। अतः उसका दण्डपाद से स्पष्ट सादृश्य नहीं दीखता। अर्थतः उसकी प्रतीति होती है। अर्थात्—जो जिसकी शोभा धारण करता है वह असदृश नहीं हो सकता। इसलिये 'अंभोज शोभा धारण' के बल पर अम्भोज का सादृश्य—पाद में प्रतीत होता है। यह सादृश्य आर्थ हुआ। शाब्द नहीं। ऐसा नहीं होना चाहिये। इससे कठिनाई यह आती है कि उपमान के धर्म उपमान में ही अन्वित नहीं हो पाते। ऊरुनाल अम्भोज का धर्म है। अम्भोज समास में प्रविष्ट है, अतः इस धर्म का सम्बन्ध अम्भोज से न होकर अम्भोजशोभा से होता है, जो गलत है। 'नाल' शोभा का अंग नहीं—अम्भोज का अंग है। इसी प्रकार ताण्डव का अनुकरण जिस ढंग से किया जाता है उसमें पैर की दण्डायमानता अवश्यमेव आ जाती है। यहाँ पैर में दण्डतुल्यता का ज्ञान—ऊरुनाल के रूपक से भी प्रतीत होता है। नयापन भी नाल की प्रकाण्डता से आ जाता है। नाल यदि प्रकाण्ड नहीं होती तो पुष्प भी ताजा नहीं रहता। इसलिये दण्ड और अभिनव दोनों पदों का कहना आवश्यक नहीं। इसके अतिरिक्त वि पूर्वक धा धातु का अर्थ धारण करना नहीं होता, निर्माण करना होता है; और प्रयोग है यहाँ धारण करने के अर्थ में, अतः वि उपसर्ग भी बेकाम है। इन सब का कथन अवाच्यवचन है। इनके परिहार के लिये ग्रन्थकार ने नया—पाठ दिया है। उस पाठ में भी पद्म के लिये दहन का रूपक अत्यन्त अनुचित है। काव्यप्रकाशकार आदि ने 'निज' के प्रयोग में अभवन्मतयोग दोष बतलाया है। उससे प्रतीत यह होता है कि वह वापी दण्डपाद की है, भवानी की नहीं।

'पत्ता णिअंबफंसं ह्णाणुत्तिण्णाए सामलङ्गीए।
चिहुरा रुअन्ति जलबिन्दुएहि बन्धस्स व भएण ॥'

['प्राप्ता नितम्बस्पर्शं स्नानोत्तीर्णाया श्यामलाङ्ग्याः।
चिकुरा रुदन्ति जलबिन्दुभिर्बन्धस्येव भयेन ॥]

इत्यत्र रोदनं बन्धनभयञ्चेति यद् द्वयमुत्प्रेक्षितं वर्तते, तत्र प्राधान्याद्-रोदनाभिधायिन एव पदादनन्तरमुत्प्रेक्षावादिनि पदे वाच्ये यत् तस्यान्यतोवचनं सोऽवाच्यवचनं दोषस्तस्य तादर्थ्येनाप्राधान्यात्। प्रधाने चोत्प्रेक्षिते तदितरदर्थादुत्प्रेक्षितमेव भवति। यथा—

'ज्योतीरसाश्मभवनाजिरदुग्धसिन्धुरभ्युन्मिषत्प्रचुरतुङ्गमरीचिवीचिः।
वातायनस्थितवधूवदनेन्दुबिम्बसन्दर्शनादनिशमुल्लसतीव यस्याम् ॥'

इत्यत्रेन्दुबिम्बसन्दर्शनम्। तेन 'जलबिन्दुएहि रुअइव चिहुरचयो बन्धण-भएण' इति अत्र युक्तः पाठः।

एकत्रोत्प्रेक्षितत्वेन यत्रार्था बहवो मताः।
तत्रेवादिः प्रयोक्तव्यः प्रधानादेव नान्यतः॥ ११०॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

'नहाकर निकली गोरी के नितम्बों से छुआ रहे बाल बन्धन के भय से पानी की बूँद चुआकर मानो रो रहे हैं। यहाँ रोदन और बन्धन भय—इन दो की उत्प्रेक्षा की जा रही है। यहाँ उत्पेक्षावाचक 'इव' पद का कथन रोदन के अनन्तर करना चाहिये, क्योंकि वही प्रधान है। ऐसा न करके उसका प्रयोग बन्धन भय के बाद किया गया। यह अवाच्य वचन हुआ। क्योंकि वह (बन्धभय) अप्रधान है कारण कि वह रोदन के लिये उपात्त है। प्रधान की उत्प्रेक्षा हो जाने पर उसके सम्बन्धी अन्य सबकी उत्प्रेक्षा तो हो ही जाती है।

जैसे—'चन्द्रकान्त मणि के बने महलों के आंगन का दुग्ध सिन्धु, खिड़की पर हवा खा रहीं ललनाओं के मुख रूपी इन्दु बिम्ब के देखने से निकल रही ऊँची किरणरूपी तरंगों से सदा उमड़ता सा रहता है यहां इन्दु बिम्ब का दर्शन (अपने आप उत्प्रेक्षित हो जाता है।) इसलिये—

'जलबिन्दुभी रोदितीव चिकुरचयो बन्धनभयेन' यह पाठ ठीक है।

सारांश यह कि—

जहां बहुत से पदार्थ एक जगह उत्प्रेक्षित किये जा रहे हों वहां इव आदि शब्द प्रधान के बाद ही देने चाहिये, अन्य के साथ नहीं।

'तव वदनपदार्थश्चन्द्रशब्दार्थतुल्यो
हृदयकुमुदवस्तूज्जृम्भयत्येष यन्मे'

इत्यत्र समासान्तर्गतेन वदनशब्देनैकेनैव वदने वाच्ये यद् बहुभिः शब्दैस्तस्य वचनं सोऽवाच्यवचनं दोषः।

तथा हि वदनं च तत् पदार्थश्चाशाविति कर्मधारयो वा कल्प्येत, वदनपदस्यार्थ इति तत्पुरुषो वा। तत्राद्यस्तावदर्थयोरन्योन्यव्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकभावाभावादनुपपन्नः, द्वितीयोऽपि प्रयोजनाभावात्। न हि समासे सत्यसति वार्थस्य कश्चिद्विशेषोऽवगम्यते अन्यत्र प्रतिपत्तिगौरवादित्यवाच्यवचनप्रकार एवायमिति।

यथा च—'कुशां द्विषामङ्कुशवस्तु विद्वान्' इति

'तुम्हारा वदन (मुख) शब्द (का) अर्थ, चन्द्र शब्द (के) अर्थ के समान है, क्योंकि वह मेरी हृदय कुमुद रूपी वस्तु को मचला रहा है।' यहां समास में आये एक ही वदन शब्द से वदन अर्थ का कथन पर्याप्त था। इतने पर भी अनेक शब्दों से उसका कथन अवाच्य वचन है। क्योंकि उसमें 'जो, वदन वही पदार्थ' ऐसा कर्मधारय यहां मानना होगा अथवा 'वदन पद का अर्थ' ऐसा

तत्पुरुष। उनमें प्रथम तो बनता नहीं क्योंकि अर्थों में व्यवच्छेद्य (विशेष्य) व्यवच्छेदक-(विशेषण) भाव सम्बन्ध नहीं है, दूसरा भी नहीं बनता, कारण कि उसका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। समास होने से पदार्थ में कोई विशेषता नहीं आती, केवल समझने में कठिनाई के अतिरिक्त। इसलिये यह भी एक प्रकार से अवाच्यवचन का भेद ही है। इसी प्रकार और भी जैसे—'कुश को—शत्रु के लिये अंकुश वस्तु समझता हुआ।' इसमें (वस्तु शब्द में अवाच्यवचन दोष है)।

यत्स्वरूपानुवादैकफलं फल्गु विशेषणम्।
अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्मृतमप्रतिभोद्भवम् ॥ १११ ॥
तदवाच्यमिति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणम्।
तद् वृत्तपूरणायैव न कवित्वाय कल्पते ॥ ११२ ॥

यथा—

'ककुभां मुखानि सहसोज्ज्वलयन् दददाकुलत्वमधिकं रतये।
अदिदीपदिन्दुरपरो दहनः कुसुमेषुमत्रिनयनप्रभवः ॥' इति।

अत्र हि यदत्रिनयनप्रभवत्वमिन्दोर्विशेषणं तत् स्वरूपमात्रानुवादफलमित्यवाच्यमेव, तस्य तदव्यभिचारात्।

न चाव्यभिचारिणोऽपि ततस्तस्योत्कर्षः कश्चिद्विवक्षितः कवेः, यथा—

'अत्रेर्लोचनशुक्तिमौक्तिकमणेर्देवात्सुधादीधिते-
र्गोत्रं हैहयभुजां यदुदगात् तस्मिन्नभूदर्जुनः'

इत्यत्र सुधादीधितेरिति तस्यावाच्यस्य वचनं दोषः। यच्चात्र दहनस्यापर इति व्यतिरेकप्रतीतिफलदं विशेषणं तदवाच्यमेव तस्यात्रिनयनप्रभव इति नञ्समासेनैव प्रतिपादितत्वात्। तस्मादुदित इति तत्रानुगुणः पाठः।

जो विशेषण एकमात्र विशेष्य के स्वरूप का ज्ञान करता हो, अतः निःसार हो, और जिसका अर्थ सामने न आता हो—जो एक प्रकार से प्रतिभा-शून्यता के कारण आ गया हो, अतः जिसे कदापि नहीं प्रयुक्त करना चाहिये, इसलिये उसका प्रयोग दोष (अवाच्यवचन) समझना चाहिये। वह केवल छन्दःपूर्ति मात्र के काम का होता है, इससे कवित्व सिद्ध नहीं होता।

जैसे—'इन्दु, जो एक प्रकार से अत्रिनयनप्रभव अत्रि ऋषि की आँख से पैदा हुआ (और त्रिनयन शिव से नहीं उत्पन्न) दूसरी आग था, उसने दिशाओं को उज्ज्वल करते हुए, उनमें रति के लिये अधिक आकुलता भरते हुए कामदेव को उद्दीप्त किया।' यहाँ—चन्द्रमा का 'अत्रिनयन-प्रभवत्व' विशेषण एकमात्र उसके स्वरूप का अनुवाद करता है, इसलिये निष्फल है, अतः उसे नहीं ही कहना चाहिये, उसका (चन्द्र में) कभी भी अभाव नहीं रहता। अव्यभिचारी (अलग न होने वाला होने पर भी) उससे चन्द्र का कोई उत्कर्ष कवि को नहीं बतलाता है जैसे—'अत्रिमुनि की आँखरूपी सीप की मुक्तामणि, सुधामय किरणों वाले देव चन्द्रमा से हैहयराजाओं का जो वंश पैदा हुआ, उसमें अर्जुन पैदा हुआ।'

यहाँ—सुधादीधिति से (चन्द्र का उत्कर्ष विवक्षित है) अतः उस (अत्रि-नयनप्रभवत्व रूपी अवाच्य) का कथन दोष (अवाच्यवचन) ही है। और जो यहाँ दहन में 'अपर' यह

व्यतिरेक का ज्ञापक विशेषण है वह भी अवाच्य ही है। उसका प्रतिपादन अ-त्रिनयनप्रभव इस प्रकार के नञ् समास से ही हो जाता है, इसलिये (अपर की जगह) उदित पाठ चाहिये।

यथा च—

'नाडीजङ्घो निजघ्ने कृततदुपकृतिर्यत्कृते गौतमेन' इति।

अत्र हि तच्छब्दपरामर्शो गौतमस्यावाच्य एव तमन्तरेणाप्युपकारस्य तद्विषयभावावगतेः। तेन परमपकृतवानिति वरमत्र युक्तः पाठः। यथा च—

'कटस्थलप्रोषितदानवारिभि'रिति। अत्र हि दानवारिप्रवासस्य यदेतत् कटस्थलमवधिभावेन विशेषणमुपात्तं तन्न वाच्यमव्यभिचारात्।

एवम्—

'उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते ! मम हि गौरि !।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन॥'

इत्यत्रापि द्रष्टव्यम्, उत्फुल्लकेसरगौरशब्दानां पौनरुक्त्यात्।

और जैसे—'जिसके लिये गौतम ने उसका उपकार करने वाले नाड़ी जंघ को मारा' यहाँ गौतम को तत्पद से नहीं बतलाया जाना चाहिये। उसके बिना भी यह ज्ञात होता ही है कि उपकार गौतम का ही है। इसलिये यहाँ 'परमुपकृतवान्' यह पाठ उपयुक्त है। और जैसे—

'कट-स्थल से दूर (प्रोषित) हो गया है मदजल जिनके' यहाँ कटस्थल को विशेषणरूप से मदजल के प्रवास का अपादान (विच्युतिस्थान) बतलाया गया यह नहीं बतलाया जाना चाहिये, वह तो मदजल से नित्य संबंधित ही है।

इसी प्रकार—'खिले हुए कमल की पखुड़ियों के पराग के समान गौरद्युति वाली हे भगवती गौरि। आपके प्रसाद से मेरा मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध हो जाय।' यहाँ भी देखना चाहिये। यहाँ उत्फुल्ल, केसर तथा गौर शब्द पुनरुक्त है।

कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलङ्कारत्वमिष्यते।
न हि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः॥ ११३॥
उच्यते वस्तुनस्तावद्द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः॥ ११४॥
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्त्तितः।
अत एवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम्॥ ११५॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥ ११६॥

यतः—

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥ ११७॥

सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्त्तिनः ॥ ११८ ॥
इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्य इति नेह प्रपञ्चितम् ॥ ११९ ॥
अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालङ्कारतया मता।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः ॥ १२० ॥

शंका—यदि ऐसा है तो फिर स्वभावोक्ति को अलंकार कैसे माना जाता है। केवल स्वभाव के कथन का जहाँ तक संबन्ध है, उपर्युक्त कथन और इसमें कोई अन्तर नहीं है।

उत्तर—इस पर हमारा कहना है कि संसार में वस्तु के दो रूप होते हैं—उनमें से एक सामान्य होता है—उसमें प्रायः सन्देह रहता है। वही अर्थ सभी शब्दों का विषय बतलाया गया है। इसलिये वे (शब्द) केवल सामान्य अर्थ का बोध कराते हैं। जो इस (वस्तु) का विशिष्ट रूप है वह प्रत्यक्ष का विषय है, वही अच्छे कवियों की प्रतिभाप्रसूत वाणी का विषय होता है। क्योंकि कवि की वह प्रज्ञा ही तो प्रतिभा है जो रस के अनुरूप शब्द और अर्थों के सोच विचार में निश्चल चित्त होने पर स्वरूप का स्पर्श करने से उन्मिषित होती है। वही तो भगवान् शंकर का तृतीय नेत्र है। जिससे वे तीनों कालों के पदार्थों का साक्षात् दर्शन करते हैं। हमने (अपने) 'तत्त्वोक्तिकोष' नामक शास्त्र में प्रतिभा तत्त्व का यह विवेचन विस्तार पूर्वक किया है, अतः यहाँ उसे नहीं बढ़ाया। अर्थ के स्वभाव की जो उक्ति है—वह अलंकार इसलिए मानी गई है क्योंकि (उक्त) प्रतिभा उसमें पदार्थों को चित्रित करती है और वे आँखों देखे से लगते हैं [उदाहरण आगे वहीं दिए जा रहे हैं]।

विमर्श : दण्डी ने 'स्वभावोक्ति और जाति' आदि को अलंकार माना था। कुन्तक ने उसका जोरदार खण्डन करते हुए लिखा—

'अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ॥
स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥
शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥
भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे।
भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥
स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे संकरस्ततः।
अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥
[वक्रोक्तिजीवित—१।११-१५]

काव्यालङ्कार (ग्रन्थ) बनाने वाले जो महानुभाव स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं उनके यहाँ अलंकार्य क्या रह जाता है क्योंकि जो भी कुछ कहा जाता है वह स्वभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, स्वभाव से रहित वस्तु का निरूपण ही संभव नहीं। इस प्रकार स्वभाव की

उक्ति तो (काव्य का) शरीर है, वह स्वयं अलंकार और स्वयं ही अलंकार्य कैसे बन सकती है भला कोई स्वयं अपने ही कंधे पर चढ़ सका है।

यदि स्वभावोक्ति को अलंकार मान उसे अलंकार्य बनाने के लिए कोई दूसरा अलंकार दिया जाना अभीष्ट हो तो प्रश्न उठेगा कि ये दोनों भिन्न-भिन्न होंगे या अभिन्न। भिन्न होने पर प्रत्येक काव्य में संसृष्टि अलंकार ही होगा और अभिन्न होने पर संकर। इस प्रकार अन्य अलंकार के लिए कोई जगह नहीं रहेगी एक प्रकार से वे उच्छिन्न हो जाएँगे।

ग्रन्थकार इसके उत्तर में स्वभावोक्ति के मार्मिक समर्थन में लिखते हैं—वस्तु के दो रूप होते हैं एक स्थूल और दूसरा बारीकी से युक्त। शब्द से जो वस्तु बतलाई जाती है, वह स्थूल रूप से समझ में आती है। वस्तु का समस्त बारीकियों से अन्वितरूप आँखों से देखने पर ही समझ में आता है। किन्तु कुछ शब्द भी ऐसे होते हैं जो वस्तु की यह बारीकी पूर्ण रूप से सामने ला देते हैं। ये शब्द प्रतिभा-सम्पन्न कवि के होते हैं। इन शब्दों से होता तो वस्तु के स्वभाव का ही कथन है; किन्तु वह अन्य शब्दों से अधिक अच्छा होता है अतः उसे अलङ्कार माना जाता है। यह अनुभूति का विषय है।

स्वरूप-स्पर्श का अर्थ शब्दार्थ के स्वरूप का स्पर्श भी किया जा सकता है और आत्मा का स्पर्श भी। कवि का अन्तःकरण जब समाधि गुण से केन्द्रित होता है तो उसमें विस्फार होता है, इसे सत्त्व गुण का उद्रेक भी कहते हैं। इस स्थिति में कवि को आत्म-साक्षात्कार होता है और बुद्धि स्तब्धता का अनुभव करती है। इस स्थिति में कवि के अन्तःकरण में काव्यानुरूप शब्द और अर्थों का स्मरण और स्फुरण होता है। इसी बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं। कवि इससे अतीत अनागत और वर्तमान सभी पदार्थों को सामने पाता है। इसे ज्ञानचक्षु कहते हैं। वही भगवान् शंकर के तीसरे नेत्र के रूप में समझा जाता है। अपने तत्त्वोक्तिकोष ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने इसका विस्तृत विवेचन किया था किन्तु वह अब तक प्राप्त नहीं है। स्वभावोक्ति के अच्छे उदाहरण ग्रन्थकार देते हैं—

यथा—

'ऋजुतां नयतः स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिषण्णधन्वनः।
मधुना सह सस्मिताः कथा नयनोपान्तविलोकितं च तत्।' इति।

यथा च—

'कुर्वन्नाभुग्नपृष्ठो मुखनिकटकटिः कन्धरामातिरश्चीं
लोलेनाहन्यमानस्तुहिनकणमुचा चञ्चता केसरेण।
निद्राकण्डूकषायं कषति निबिडितश्रोत्रशुक्तिस्तुरङ्ग-
स्त्वङ्गत्पक्ष्माग्रलग्नप्रतनुबुसकणं कोणमक्ष्णः खुरेण॥' इति।

यथा वा—

'ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥'

जैसे—

'वसन्त के साथ कमानी को गोद में रखकर तीर को सीधा करते हुए उस प्रकार मुसकुरा-मुसकुराकर बातें करना और वह तिरछी आँखों से देखना मुझे याद आ रहा है।' (कुमारसंभव में रति विलाप)

और जैसे—

'घोड़ा अपनी आँख के कोने को खुर से खुजलाता है। उसमें चंचल बरोनियों के ऊपर छोटा सा भूसे का टुकड़ा लगा हुआ है, वह (आँख का कोना) नींद की खुजलाहट से गेरुआ हो गया है। ऐसा करते समय उस घोड़े के सीप (छिपनी) जैसे कान की नोंके मिल जाती हैं। उसकी पीठ टेढ़ी है, कमर मुँह के पास आ गई है। वह गर्दन टेढ़ी कर रहा है, इसलिए गर्दन के बालों से टपकी ओस की बूंदे उसे चाबुक सा लगा रही हैं।'

या जैसे—देखो (यह-हरिण) अत्यधिक कुलाचें भरने से आसमान में अधिक और जमीन पर कम चल रहा है। वह बराबर गर्दन टेढ़ी और आंख रथ की तरफ किये दृष्टिगोचर हो रहा है। उसे तीर के लगने का भय है अतः उसने अपना दुम वाला हिस्सा अगले शरीर (गर्दन) से बहुत अधिक सटा लिया है। उसका मुँह थकावट से खुल गया है और उसके अधचबे दाभों (कुशतृणों) से रास्ता छा सा गया है।'

सामान्यस्तु स्वभावो यः सोऽन्यालङ्कारगोचरः।
श्लिष्टमर्थमलङ्कर्तुमन्यथा को हि शक्नुयात् ॥ १२१ ॥
वस्तुमात्रानुवादस्तु पूरणैकफलो मतः।
अनन्तरोक्तयोरेव यद्वान्तर्भावमर्हति ॥ १२२ ॥
यथायोगमयं दोषस्तेन पञ्चैव ते मताः।

इत्यन्तरश्लोकाः।

(विशिष्ट स्वभाव तो स्वभावोक्ति का विषय हुआ अब) जो सामान्य स्वभाव है—वह दूसरे अलङ्कारों में आता है। नहीं तो छिपे हुये (अव्यक्त) अर्थ को कौन अलंकृत कर सकता है। यदि वस्तु का केवल अनुवाद कर दिया जाय तो वह एक प्रकार से छन्दः पूर्ति मात्र के लिये है जो वस्तुतः दोष है। यह दोष पिछले बतलाये—(पुनरुक्त, वाच्यावचन)—दो दोषों में अन्तर्भूत हो जाता है, इसलिये केवल पाँच ही दोष बतलाये हैं।

विमर्श : यहाँ तक दोषों का निरूपण किया, अब प्रकृत प्रसंग में उसे घटाने के लिये उपसंहार करते हैं। प्रकृत प्रसंग ध्वनिखण्डन है। ग्रन्थकार ध्वनिकार के श्लोक 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः' में ये दोष दिखलायेंगे। इसी के लिये उन्होंने इतने दोषों का निर्वचन किया है। इसके पहले वे—'इन दोषों का समझ सकना बहुत कठिन है'—इस तथ्य को बतलाने के लिये महाकवि कालिदास के श्लोक को उपस्थित करते हैं—

ता एता दोषजातयो महाकवीनामपि दुर्लक्षा इत्यवसीयन्ते। यथा—
'उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥'

इत्यत्र यथातथाशब्दाभ्यामेव मागधीनृपयोरुमावृषाङ्कसाम्यं शचीपुरन्दरसाम्यं च, सुतस्य च शरजन्मजयन्तसादृश्यमवगमितमिति यत् तयोस्तस्य च पुनस्तत्सादृश्यवचनं तत् पुनरुक्तम्।

तथोपमानयोर्यो निर्देशक्रमः प्रक्रान्तः स उपमेययोः क्रमे भेदं नीत इति निर्देशप्रक्रमभेदो दोषः; तत एव च तत्समावित्यत्रावाच्यवचनदोषोऽपि तावत् स्फुट एव उपमानयोग्यत्वानुपपत्तेः।

किञ्च तथा शब्दस्य यद्वचनं सोऽवाच्यवचनं दोषः, तद्व्यतिरेकेणाप्यर्धयोर्विपर्यासमात्रेण तदर्थावगतिसिद्धेः। तस्मादेवमत्र पाठः श्रेयान् 'सुजन्मना तेन सुतेन तावुभौ ननन्दतुः सा च विशांपतिश्च सः' इति।

ये जो दोष जातियाँ हैं उन्हें ऐसा समझा जाता है कि वे महान् कवियों को भी कठिनाई से समझ में आती हैं। यथा—उमावृषांकौ……(यह पूर्वोद्धृत पद्य)। यहां—यथा और तथा शब्दों से ही मागधी और राजा का उमावृषांक—साम्य और शचीपुरन्दर—साम्य समझा दिया जाता है और पुत्र का कार्तिकेय तथा जयन्त से साम्य।

इतने पर भी जो उनका फिर से उन उपमानों के साथ सादृश्य बतलाया गया वह—पुनरुक्त हुआ। इसके अतिरिक्त उपमानों का निर्देश जिस क्रम से किया गया था वह क्रम उपमेयों के क्रम में तोड़ दिया गया, इसलिये निर्देशप्रक्रमभेद दोष हुआ। इसीसे तत्समौ इसमें अवाच्यवचन दोष भी स्पष्ट ही है। उसके बिना तो उपमानयोग्यता ही न बनती (अतः उसकी प्रतीति तो अपने आप हो सकती थी) और तथा शब्द का कथन अवाच्यवचन दोष है। इसके बिना भी आधे-आधे भागों को उलट कर रख देने से उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है, इसलिये यहां यह पाठ—ठीक है सुजन्मना तेन० (इत्यादि मूल में दत्त)

विमर्श : अर्धों का विपर्यास इस प्रकार होगा—

'सुजन्मना तेन सुतेन तावुभौ ननन्दतुः सा च विशाम्पतिश्च सः।
उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ॥'

'तत्सदृशेन, तत्समौ' के सर्वनामों के परामर्श्य उत्तरार्ध में आने के कारण 'तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ'—को पूर्वार्ध नहीं बनाया जा सकता।

यतो वस्तुमात्रोपनिबद्धप्रायेऽपि पदसमुदाये दृश्यन्त एव ते—
अन्येषां यथा—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥' इति।

अत्र 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' इति 'इति'-शब्दस्य तावत् क्रमभेदः। स हि काव्यात्मपदानन्तरं प्रयोक्तव्यः काव्यस्यात्मेतीति। अन्यथा ध्वनिनैवास्य सम्बन्धे विज्ञायमाने तस्य सर्वनामपरामर्शाभावे अभावो भाक्तत्वं वागविष-

सम्बन्धित है और उनका कोई प्रयोजन नहीं है, अतः उनका उपादान पुनरुक्त है। (ध्वनिकार ने बुधैर्वैयाकरणैः प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्' इत्यादि द्वारा प्रयोजन बतलाया है।

किञ्च 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इत्यत्रापि पूर्ववद् इतिशब्दः प्रयोक्तव्यः उत्तरत्र च। अन्यथा अन्येषां केषाञ्चिच्चोक्तिर्नानुकृता स्यात्।

ततश्च भाक्तो यो ध्वनिस्तमाहुरन्य इति, वाचामविषये स्थितं यत् तदीयं तत्त्वं तत् केचिदूचुरिति प्रतीतौ; ध्वनेर्भाक्तत्वोक्तिः, अन्येषां केषाञ्चिच्च वाचामविषये स्थितत्वं यत् तदीयस्य तत्त्वस्य, तदुक्तिर्नानुकृता स्याद्, इतिना व्यवच्छेदाभावाद् इति वाच्यावचनं दोषः।

सामर्थ्यादुक्तेरनुकारानुगमे वा पूर्वत्रेतिशब्दस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गः।

किञ्चात्र वचनार्थो गदतिः प्रयुक्त एवेति तस्यैवादिदीपकन्यायेनानुवृत्तिर्युक्ता न तु तदभिन्नार्थस्य ब्रवीतेरुपादानमित्युभयत्राप्युक्तदोषद्वयानतिवृत्तिः।

कालविशेषप्रक्रमभेदश्चात्रावगन्तव्यो जगदुरित्यूचुरिति च कालविशेषस्य प्रक्रान्तस्यानिर्वाहात्।

किञ्च ध्वनेस्तत्त्वं ध्वनिरेव वा स्याद् अन्यदेव वा। तत्र ध्वनिरूपत्वे तत्त्वमूचुस्तदीयमिति त्रितयमपि पुनरुक्तं स्यात्। केचिद् वाचां स्थितमविषये जगदुरित्येतावद्भिः प्रयुक्तान्तर्गतैरेव पदैस्तदर्थावगतिसिद्धेः। यथोक्तं प्राक्—

'प्रयुक्तान्तर्गतैरेव यत्र सोऽर्थः प्रतीयते।
प्रयोगस्तत्र शेषाणां पदानां पौनरुक्त्यकृदिति॥'

अन्यरूपत्वे त्वन्यस्य वागविषयत्वाभावे ध्वनेस्तदविषयत्वं नोक्तं स्यात् तयोर्भेदात्।

किञ्च भक्तेरेव ध्वनिरूपतामन्ये मन्यन्ते न तत्सम्बन्धिनोऽन्यस्य व्यापारादेरिति व्यर्थस्तद्धितनिर्देशः। यत् स एवाह भक्तिर्ध्वनिरिति—

'भक्त्या बिभर्त्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।' इति।

युक्तं चैतत्, तथा हि—

'कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्'

इत्यत्र वदत्यर्थाद्वाच्यादन्यस्य व्यक्तिलक्षणस्यार्थस्य तात्पर्येण प्रकाशनमिति ध्वनिलक्षणानुगमात् भक्तेरेव तत्त्वमुपपद्यते नान्यस्येति व्यर्थस्तद्धितनिर्देशः।

सहृदयमनःप्रीतय इत्यत्र च मनश्शब्दः पुनरुक्तः प्रीतेर्मनोधर्मतया तदधिकरणभावाव्यभिचारादित्येतत् प्रपञ्चितमेव प्राक्।

इसी प्रकार—'उसे लोगों ने भाक्त कहा है' इसमें भी पहिले के ही समान इति शब्द का प्रयोग होना चाहिये, और आगे भी, नहीं तो जो 'अन्य' शब्द से कहे गये हैं और जो 'केचिद्' शब्द से उन लोगों के कथन का अनुकरण नहीं हो पायेगा। तब ऐसी प्रतीति होगी—'भाक्त जो ध्वनि है उसे दूसरों ने कहा है' वाणी के अविषय में स्थित जो उसका तत्त्व है, उसे किसी ने कहा है। और ऐसा होने पर ध्वनि के भक्तित्व का कथन और वाणी के अविषय में स्थित होने का कथन इनका अनुकरण नहीं किया जा सकेगा क्योंकि 'इति' द्वारा उनका व्यवच्छेद नहीं हुआ, अतः वाच्यावचन दोष हुआ। यदि यह कहा जाय कि इन स्थानों में इति का कथन वाक्य-सामर्थ्य से ही हो जायेगा या एक बार जो प्रयोग किया गया है, उसीका अनुगम कर लिया जायेगा तो—पहली बार जो इति शब्द दिया गया उसके लिये भी यही कहा जा सकता है, फलतः वह भी पुनरुक्त होता है और कहने अर्थ में 'गद' धातु का प्रयोग किया ही गया है, आदि-दीपक-न्याय से उसी का अनुगम बाद में भी होना ठीक है, न कि 'ब्रू' धातु का, क्योंकि दोनों का अर्थ एक ही है। इसलिए—'आहुः और ऊचुः' दोनों में उपर्युक्त दोनों दोष (पुनरुक्ति या वाच्यावचन) आ ही जाते हैं। (किसी भिन्नार्थक धातु का प्रयोग करना था वह नहीं किया, इसलिए वाच्यावचन)।

यहाँ कालविशेष (भूतकाल) का प्रक्रम-भेद भी है। ('आहुः' इस वर्तमान काल की क्रिया को) जगदुः 'ऊचुः' (इन परोक्षार्थक भूत क्रिया) में बदल दिया गया है। और ध्वनि का तत्त्व ध्वनि ही हो सकता है, या ध्वनि से भिन्न। ध्वनिरूप होने पर 'तत्त्वमूचुस्तदीयम्' ये तीनों व्यर्थ हो जाते हैं। क्योंकि उसका अर्थ 'केचिद् वाचां स्थितमविषय ऊचुः' इतने ही शब्दों से चला आता है, जो प्रयुक्त शब्दों के अन्तर्गत है; जैसा कि पहले (तीसरे पृष्ठ पर) कहा है—प्रयुक्तान्तर्गतैरेव······। यदि भिन्न है तो दूसरे की वागविषयता सिद्ध होती है, ध्वनि की नहीं। कारण कि दोनों में भेद है, [अतः अवाच्यवचन या वाच्यावचन होता है। मुद्रित प्रति में 'वागविषयत्वाभावे' छपा है। हम उसे 'वागविषयत्वाभावे' या 'वागविषयत्वभावे' मानते हैं। इसी पाठ में सुविधा सौकर्य है] और दूसरे लोग भक्ति को ध्वनिरूप मानते हैं। उससे सम्बन्धित व्यापार आदि को नहीं।

इसलिये (भाक्त में) तद्धित का निर्देश व्यर्थ है जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है—ध्वनि और भक्ति एक नहीं मानी जा सकती, उनके रूपों में भेद हैं और यह ठीक भी है क्योंकि—'कमल पखुड़ी की सेज उस कृशाङ्गी के सन्ताप को कहती है' में 'वदति = कहती है' का अर्थ जो वाच्य है उससे 'सूचित करना' आदि अर्थ तात्पर्य रूप से बतलाया जाता है, इसलिये ध्वनि लक्षण का अनुगम करने से भक्ति ही ध्वनि-रूप मानी जा सकती है, और कुछ नहीं। अतः तद्धितनिर्देश व्यर्थ है। 'सहृदयमनःप्रीतये' में मन शब्द पुनरुक्त हैं। प्रीति मन का ही धर्म है, अतः प्रीति की अधिकरणता उससे दूर नहीं होती—इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है।

तेन वरमयमत्र पाठः श्रेयान् अल्पदोषत्वात्—

> **'काव्यस्यात्मेत्यमलमतिभिर्यो ध्वनिर्नाम गीत-**
> **स्तस्याभावं जगदुरपरे भक्तिरित्येवमन्ये।**
> **केचिद्वाचामविषय इति प्रस्फुरत्तत्त्वमन्त-**
> **स्तेन ब्रूमः सहृदयजनप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥' इति।**

उक्त दोषों के कारण यहां यह पाठ अच्छा है—'काव्य की आत्मा' इस प्रकार से शुद्ध बुद्धिवाले लोगों ने जिस ध्वनि का विवेचन किया था दूसरों ने उसका अभाव बतलाया, और लोगों

ने उसे भक्ति ही माना, कुछ लोगों ने वाणी का अविषय। अतः अन्तःकरण में स्फुरित हो रहे उसके स्वरूप को सहृदयजनों की प्रीति के लिये बतलाते हैं।' इसमें दोष कम हैं।

यद्वा—

इदमद्यतनानां च भाविनां चानुशासनम्।
लेशतः कृतमस्माभिः कविवर्त्मारुरुक्षताम् ॥ १२६ ॥

इत्यलमप्रस्तुतवस्तुविस्तरेण।

अस्तु, हमने यह अनुशासन (दोषशिक्षा) इस समय विद्यमान तथा भावी कविपथ पर चढ़ने के लिए इच्छुक व्यक्तियों के लिए संक्षेप में किया। क्योंकि यह 'व्यक्तिविवेक' में अप्रस्तुत है इसलिए इसका विस्तार अधिक नहीं करते।

तस्मात् स्थितमेतद् यथा शब्दस्यार्थाभिधानमन्तरेण न व्यापारान्तरं सम्भवतीति।

गमयन्त्यर्थमुखेन हि सुप्तिङ्वचनादयोऽपरानर्थान्।
तेन ध्वनिलक्ष्मविधौ शब्दग्रहणं विफलमेव ॥ १२७ ॥

इति सङ्ग्रहार्या।

इति श्रीराजानकमहिमभट्टविरचिते व्यक्तिविवेकाख्ये काव्याऽलङ्कारे शब्दानौचित्यविचारो नाम द्वितीयो विमर्शः।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि शब्द में अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता केवल अर्थ के अभिधान (अभिधा शक्ति) को छोड़कर।

सुबन्त और तिङन्त सभी शब्द दूसरे अर्थों को अपने अभिधेय अर्थ के द्वारा बोधित करते हैं अतः ध्वनि का स्वरूप (यत्रार्थः शब्दो वा०) बतलाते समय उस (शब्द) का ग्रहण करना सर्वथा व्यर्थ है।

इस प्रकार राजानक श्रीमहिमभट्ट द्वारा रचित व्यक्तिविवेक नामक काव्यशास्त्र में शब्दानौचित्यविचारनामक द्वितीय विमर्श पूर्ण हुआ।

इस प्रकार व्यक्तिविवेक तथा उसके संस्कृत व्याख्यान के द्वितीय विमर्श का नादनेर (भोपाल, म० प्र०) वासी पं० श्री नर्मदाप्रसादद्विवेदी के आत्मज श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दीभाष्य पूर्ण हुआ।

धार्मिक से उसके हित की बात कहने की चाल चली और सिंह के निरतिशय क्रौर्य को जानते हुए भी इस पद्य में केवल कुत्ते के मरने की बात कहकर भय उपस्थित दिखलाया। इस तरह 'घूमो' इस प्रकार घूमने के विधान के बहाने उसमें न घूमने (निषेध) की संमति दी।

यहाँ दो अर्थ हैं। एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। वाच्य ('हे धार्मिक तुम खूब घूमो'– इस प्रकार का) विधिरूप है और प्रतीयमान (वहाँ शेर है अतः न घूमो-यह) निषेधरूप। वे दोनों क्रम से जान पड़ते हैं। कारण कि उनके बीच साध्यसाधनभाव सम्बन्ध है, वाच्य जो है सो धूम के समान साधन है और प्रतीयमान अग्नि के समान साध्य। दोनों में प्रथम (विधिरूप वाच्य अर्थ) तो स्पष्टरूप से समझ में आ ही रहा है, कारण कि उसके (प्रतिपादक वाक्य-भ्रम धार्मिक...में) भ्रमण-विधानरूपी साध्य ('भ्रम'-इस अनुज्ञार्थक लकार से युक्त क्रियापद द्वारा) और भ्रमणविरोधी दुष्ट कुत्ते का मारा जाना—रूपी कारण (मारितः-पद द्वारा) दोनों—ही कह दिये गये हैं। परन्तु दूसरा—(प्रतीयमान) इसी (वाच्यार्थ = विधि) से प्रतीत होता है। इसके ('मारित' में दिखाई देने वाले) णिजर्थ (णिच्-प्रत्यय = प्रयोजकार्थक प्रत्यय उसका अर्थ प्रेरणा) के ऊपर ध्यान देने से और प्रयोजक (मारने वाले) के स्वरूप का ज्ञान करने से सामर्थ्यवशात्—(वाक्यार्थशक्ति द्वारा) विवेकी ज्ञाता के समझ में आ जाता है। वह—सामर्थ्य और कुछ नहीं—कुत्ते के मर जाने पर भी वहाँ उससे अधिक क्रूर प्राणी के सद्भाव का कथन है। वही साधन है (निषेधरूप प्रतीयमान की प्रतीति में)।

इन साध्य और साधक दोनों का व्याप्ति-संबन्ध विरोधमूलक है, (भीरुभ्रमण—साध्य; भ्रमणस्थल में भयानक प्राणी का सद्भाव साधन—दोनों विरुद्ध हैं) इस विरोध में लोकानुभव प्रमाण है। (ऐसा प्रथन विवर्श में ही कहा जा चुका है)।

ननु यद्यतो वाक्यादर्थद्वयावगमस्तत् कथमुत्तरस्मिन्नेव नियमेन विश्रान्तिः, न पूर्वस्मिन् उभयत्रापि वा, तयोः प्राकरणिकत्वेन विशेषाभावात्।

उच्यते। न तावदत्र वाच्यानुमेययोरर्थयोः समुच्चयेन अवगतिरुपपद्यते भ्रम मा च भ्रमीरिति विधिनिषेधयोरेकाश्रयत्वविरोधात्।

नापि विकल्पेन, भ्रम वा मा वा भ्रमीरिति वचनोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्।

नाप्यङ्गाङ्गिभावेन, विधिनिषेधयोस्तदसम्भवात्।

केवलं योऽसौ भ्रमणविधौ हेतुभावेन दृप्तपञ्चाननव्यापारस्तत्रोपात्तः स एव विमृश्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तन्निषेधे पर्यवस्यति तयोर्बाध्यबाधकभावेनावस्थानात्।

को ह्युन्मत्तः कुक्कुरमात्रसद्भावभयात् परिहृतभ्रमणस्तत्रैव दृप्तसिंहसद्भावाशङ्कायामपि सविस्रम्भं भ्रमेदित्यनुमेयार्थविश्रान्तिनियमहेतुर्बाध्यबाधकभावोऽस्त्येवात्र विशेषः।

अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा शुक्तिकारजतप्रतीत्योरपि क्रमभाविन्योरेतत्पर्यनुयोगप्रसङ्गः केन वार्यते। तस्माद् बाध्यबाधकभावावसायकृत एवात्रोत्तरार्थविश्रान्तिनियम इति स्थितम्।

(शंका)—यदि इस वाक्य से दो अर्थ ज्ञात होते हैं तो सदा अन्तिम (निषेध) अर्थ में ही वाक्यार्थ की समाप्ति क्यों होती है ? प्रथम अर्थ (विधि) में, या दोनों (विधिनिषेध) में क्यों नहीं होती ? क्योंकि वे दोनों अर्थ समान रूप से प्राकरणिक हैं ।

(उत्तर)—स्थिति ऐसी है कि वाच्य और प्रतीयमान अर्थों की समुच्चयात्मक (साथ-साथ) प्रतीति नहीं हो सकती, कारण कि—(विधि) 'घूम' और (निषेध) 'मत घूम' ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। वे एक ही आश्रय में नहीं रह सकते (जो घूमेगा, उसमें घूमने का अभाव नहीं रहेगा)। इनकी प्रतीति विकल्पात्मक (घूमो या न घूमो) भी नहीं बन सकती; क्योंकि विकल्प जो—'घूमो' या 'न घूमो' ऐसा कहना है, कोई मतलब नहीं रखता। और न दोनों एक दूसरे के अङ्ग या अङ्गी ही बन सकते, क्योंकि विधि और निषेध में वह (अङ्ग अङ्गी भाव) हो नहीं सकता।

केवल यह जो (धार्मिक के) घूमने में कारणरूप से जंगली शेर का व्यापार घूमने की जगह (गोदावरी तीर में) बतलाया गया है, उसी पर विचार करने से वही आगे चलकर धार्मिक के घूमने का निषेध बतलाता है, क्योंकि उन (भ्रमण विधि और सिंहसत्त्व) दोनों का बाध्यबाधक-भाव सम्बन्ध है। भला ऐसा कौन होगा जो यदि पागल न हो तो केवल कुत्ते के सद्भाव से तो डर करके घूमना रोक दे किन्तु वहीं बिगड़े शेर के सद्भाव का डर रहते हुए खुशी के साथ घूमे ? इसलिये यहाँ अनुमेय अर्थ में ही वाक्यार्थ का विराम होता है। उसका हेतु है बाध्यबाधकभाव (भीरु-भ्रमण और भय कारण के सद्भाव का ज्ञान)। यही (बाध्यबाधकभाव) वाच्य और प्रतीयमान दोनों में अन्तर डालता है। और इसे अवश्य ही मानना पड़ता है, नहीं तो सीप और रजत की प्रतीति में भी जो कि क्रम से होती है यह प्रश्न उठाया जा सकेगा, और उसे कोई नहीं हटा सकेगा, इसलिये बाध्यबाधकभाव के निश्चय से परवर्ती (निषेध) अर्थ में ही वाक्यार्थ विश्रान्ति होती है, यही बात सिद्ध होती है।

तत्र 'भम धम्मिअ ! वीसद्धो' इति वाक्यार्थरूपो भ्रमणविधिर्वाच्यः, तस्य 'सोसुणओ अज्ज मारिओ देण' इत्यादिना कुक्कुरमारणं दृप्तसिंह-विहितं वाक्यार्थरूपमेवार्थो हेतुः। तत्प्रतिषेधस्त्वनुमेय एव न वाच्यः, तस्योक्तनयेनाक्षेपात् ।

तत्र 'गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा' इति गोदावरीकच्छकुहरस्य धर्मित्व-निर्देशः। 'दरिअसीहेणे'ति श्वमारणकारणाभिधानद्वारेणोपात्तस्य दृप्तसिंह-सद्भावस्य हेतुभावः। कुडङ्गवासिणेति तद्विशेषणेन तस्य धर्मिणि सद्भावोप-पादनम् ।

तस्यास्य हेतोः साध्यस्य च निर्भयभ्रमणविधिलक्षणस्य सहानवस्थान-लक्षणो विरोधः प्रसिद्ध एवेत्येकस्य सद्भावावेदनेनापरस्य स्वभावविरुद्धो-पलब्ध्या प्रतिषेधे विज्ञायमाने सति समशीर्षिकयोभयार्थप्रतीतिरेवात्र न समस्तीति तद्विश्रान्तिपर्यनुयोगो निरवकाश एव ।

तेनानुमेय एव भ्रमणस्य निषेधो न व्यङ्ग्य इत्यवसेयं यथा नात्र शीत-स्पर्शोऽग्नेरित्यतः शीतस्पर्शस्य । यदि वा प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरनर्थसंशयाभाव-निश्चयेन व्याप्ता, तद्विरुद्धश्चात्रानर्थसंशयोऽस्माद् विधिवाक्याण्णिजर्थपर्या-

लोचनयावसायित इति व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या, यथा नात्र तुषारस्पर्शोऽग्ने-रित्यतः तुषारस्पर्शस्य।

यहाँ 'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः = धार्मिक जी प्रेम से घूमिये' यह वाक्यार्थ रूप भ्रमण विधि वाच्य है, उसका 'स शुनकोऽद्य मारितस्तेन'—वह दुष्ट कुत्ता आदि आज उसने मार दिया है। इत्यादि से क्रूर कुत्ते का सिंह द्वारा किया गया मारण हेतु है, वह वाक्यार्थ रूप है। उस (भ्रमण) का निषेध अनुमेय ही है, वाच्य नहीं। उसका आक्षेप होता है। उसकी प्रक्रिया ऊपर बतलाई गई है। (अनुमान में) 'गोदावरीकच्छकुहरवासिना' इस प्रकार गोदावरी कच्छकुहर को धर्मी (पक्ष) बतलाया गया। 'दृप्तसिंहेन' इस प्रकार कुत्ते को मारने वाले के रूप से 'दृप्तसिंह' के सद्भाव को हेतु बतलाया गया। और उस (सिंह) के विशेषण = 'कुहरवासिना' 'कुहर में रह रहे'—द्वारा उसका धर्मी में सद्भाव दिखलाया गया।

इसके हेतु और निर्भयभ्रमणरूप साध्य का एक साथ न रहना प्रसिद्ध ही है, इसलिये एक (हेतु) के सद्भाव के कथन से दूसरे (साध्य) के निषेध का ज्ञान होता है। यह ज्ञान—उनके स्वाभाविक विरोध के ज्ञान से होता है। इस स्थिति में (समशीर्षिकया) बराबरी से दोनों अर्थों की प्रतीति नहीं होती, इसलिये उस (वाच्य प्रतीति में वाक्यार्थ) के पर्यवसान का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये भ्रमण का निषेध अनुमेय ही है, व्यङ्ग्य नहीं। ऐसा समझना चाहिये। जैसे—(दूरसे कहीं आग जलती देखकर कहा जाय कि) 'शीतस्पर्श (ठंडक) नहीं होना चाहिये क्योंकि यहां अग्नि है'—यहां शीतस्पर्श का निषेध (अनुमान द्वारा प्रतीत होता है) दूसरी बात यह है कि बुद्धिमान् लोग वहीं जाते हैं जहाँ अनर्थ का भय नहीं रहता। यहाँ उसके विरुद्ध इस विधि-वाक्य (घूमो) और मारित के 'णि' प्रत्यय से प्रतीत प्रयोजक (सिंह) के पर्यालोचन से अनर्थ का भय जान पड़ता है। इसलिये (सिंह सद्भाव का) जो ज्ञान हो रहा है वह प्रवृत्तिजनक (अनर्थ-संशयाभावनिश्चयरूप) ज्ञान के विरुद्ध है।

जैसे—यहाँ 'शीतस्पर्श' है—क्योंकि यहाँ अग्नि है—यहाँ शीतस्पर्श का निषेध (शीतस्पर्श का व्यापक है अग्न्यभाव, यहाँ उससे उलटा अग्नि ही विद्यमान है अतः भले ही अभिधा द्वारा शीतस्पर्श की प्रतिज्ञा की जाय परन्तु सिद्धि होती है उसके अभाव की ही)।

अपि चास्मिन्नुदाहरणे दारुणतरानितरान्नृक्षप्रभृतीन् प्रसिद्धतद्व्यापारान-पास्य यदेतत् करिकलभकुम्भनिर्भेदैकहेवाकिनः केसरिणः कौलेयकवधाभि-धानमौचित्यैकनिकेतनस्य कवेस्तत्र चिरं चिन्तयन्तोऽप्यभिप्रायं न विद्मः।

न हि दृप्ततया यत्किञ्चनकारिणोऽन्यस्यापि स्वजातिसमुचितं चरितम-पहायाप्रसिद्धमेव किमपि रसभङ्गभीरवः कवयो वर्णयितुमाद्रियन्ते किमुत जगद्विदितव्यापारस्य केसरिणः।

अनौचित्यनिबन्धो हि परं रसभङ्गकारणं कवयो वदन्ति। यत् स एवाह—

> 'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
> प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥' इति।

तस्माद्दरिअरिक्खेणेत्यत्र पाठः श्रेयान्।

इसके अतिरिक्त कवि एकमात्र औचित्य पर निर्भर रहता है किन्तु उसने इस उदाहरण में

हाथी के मस्तकविदारण का चाव रखने वाले सिंह की प्रवृत्ति रीछ आदि अन्य अधिक भयंकर जानवरों (के साथ) की ओर न दिखलाकर कुत्ते के वध की ओर दिखलाई इसका अभि-प्राय काफी सोचने पर भी हम नहीं समझ पाते। यह ठीक है कि जो दृप्त होता है वह कुछ का कुछ करने लगता है किन्तु इतने पर भी कविजन प्राणियों की जाति के अनुकूल कार्य को छोड़कर किसी तुच्छ प्राणी के भी किसी जाति विरुद्ध कार्य को (कविता में) अपनाते नहीं, क्योंकि वे रसभंग से डरते हैं, फिर सिंह की तो बात ही क्या ? उसकी चेष्टा तो जगत् प्रसिद्ध है।

कवियों का कहना है कि एक मात्र अनौचित्य का विधान ही रसभंग का कारण है। जैसा कि स्वयं उन्हीं (आनन्दवर्द्धन) ने कहा—'अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का और कोई कारण नहीं। और औचित्य का विधान रस की प्रधान कुञ्जी है।' अतः—'दृप्तऋक्षेण' ऐसा पाठ अधिक अच्छा है। अर्थात् शेर की जगह रीछ को कुत्ता मारने के लिये अपना ठीक है।

विमर्श : ध्वनिकार ने भ्रम धार्मिक पद्य में भ्रमण विधान से भ्रमण निषेध की प्रतीति व्यञ्जना नामक एक अतिरिक्त शब्दशक्ति द्वारा मानी थी। ग्रन्थकार का कहना है कि व्यञ्जना के अभाव में भी अनुमान द्वारा इसकी प्रतीति हो सकती है, और ऊपर उसका प्रकार बतलाया। उन्होंने बतलाया कि—भ्रमण विधान के प्रति कुत्ते के भय की निवृत्ति को कारण बतलाया। इससे सिद्ध होता है कि घूमने वाला भीरु (डरपोक) है और वह भयकारण का अभाव ज्ञात होने पर ही कहीं घूम सकता है, यह ठीक है कि यहाँ कुत्तारूपी भयकारण का अभाव है अतः भीरु घूम सकता है, किन्तु उसी के साथ वहीं सिंह रूप भयकारण का सद्भाव बतला दिया गया है, अतः भले ही घूमने को कहा जाय, परन्तु अर्थ वही निकलता है कि भीरु वहाँ न घूमे।

मम्मट ने इसका खण्डन किया है। उन्होंने वही चाल चली जो अनुमान के खण्डन में प्रत्येक प्रतिवादी चलता है। जब अनुमान का खण्डन करना होता है तो प्रतिवादी अनुमान के हेतु को दूषित ठहराने का प्रयत्न करता है। मम्मट ने भी हेतु को दूषित ठहराने का प्रयत्न किया। उनका कहना है कि—भीरुभ्रमण और भयकारणभावज्ञान में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है। कहीं कहीं भय-कारण का ज्ञान होने पर भी भीरु भ्रमण देखा जाता है। गुरु की आज्ञा से, प्रिया के अनुराग से या स्वामी के आदेश से व्यक्ति डरता जाता है और आगे बढ़ता जाता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि वाच्यार्थ के साथ प्रतीयमान अर्थ का जो सम्बन्ध होता है उसमें सन्देह रहता है। अनुमिति में हेतु के साथ साध्य का सम्बन्ध निश्चित होता है। (उसमें सन्देह नहीं होता) ऐसे ही और भी तर्क है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि हेतु के समान हेत्वाभास से भी अनुमिति होती है। यह अलग की बात है कि वह अनुमति प्रमात्मिका नहीं होती और वह अनुमान प्रमाणा-त्मक अर्थात् वाच्यार्थ से अर्थान्तर की प्रतीति भी इसी प्रकार अनुमिति रूप है। उसको काव्य में प्रमात्मिका मानना अभिप्रेत भी नहीं। व्यञ्जना द्वारा जो अर्थ प्रतीत माना जाता है उसमें भी प्रमात्मकता नहीं मानी जाती। अतः हेत्वाभास से होने वाली अनुमति में पूर्ण व्यञ्जना का अन्तर्भाव हो जाता है। और जहाँ तक 'भ्रम धार्मिक पद्य का' सम्बन्ध है इसमें तो हेतु साध्य में कोई सन्देह नहीं। वक्ता का जो आशय निकलता है उसमें जो हेतु है और जो साध्य वह लोक सिद्ध है। हाँ यह हो सकता है कि यह घटना ही असत्य मानी जाय। उक्त उदाहरण में विधि से निषेध का अनुमान बतलाया गया और उससे उलटा निषेध से विधि का अनुमान बतलाया जाता है—

'अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसए पलोएहि।
मा पहिअ ! रत्तिअंधअ सेज्जाए महँणिमज्जहिसि ॥'

[आर्या अत्र निमज्जति अत्र अहं दिवसके प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध ? शय्यायां मम निमांक्षीः ॥]

अत्र हि चलितचारित्रमुद्रा प्रोषितपथिकयुवतिः कञ्चिद् युवानं वासरावसाने वसतिं प्रार्थयमानमुद्दिश्योत्पन्नमन्मथव्यथावेशा श्वश्रूसन्निधौ तस्मै शयनस्थानं विविक्तमुपदिश्य निशान्धताध्यारोपेण स्वशयनसंस्पर्शप्रतिषेधमुखेन श्वश्रूशय्यासन्निवेशदेशं दर्शयन्ती रात्रावत्र मदीय एव शयनीये त्वया निभृतमुपस्थातव्यमिति तैस्तैराकारैः प्रतिषेधमुखेन स्वाभिप्रेतमर्थमस्मै निवेदयते ।

आर्या = सास यहाँ डूबी हुई है (और) मैं यहाँ, दिन में ही देख ले हे रतौंधी से पीडित बटोही ? ऐसा नहीं कि रात में मेरी खाट पर गिरते फिरो ।

प्रसङ्ग—कोई एक चारित्र्य से चञ्चल युवती स्त्री थी, जिसका पति परदेश गया हुआ था। उसने दिन डूबे ठहरने की जगह चाह रहे किसी युवक रास्तागीर को देखा। उसके प्रति उस स्त्री के मन में काम व्यथा जाग उठी। किंतु वहीं उसकी सास थी। उसने इस पद्य से सास के सामने अपने अलग-अलग स्थान की ओर संकेत किया—और रात में अन्धे होने का आरोप कर और अपनी खाट को छूने का निषेध कर उसने सास के सोने की जगह भी दिखलाई और वस्तुतः ऐसा करके उसने—'अपनी मनचाही रात में मेरे ही बिस्तरे पर तुम चुपके से चले आओ—' यह बात उन-उन चेष्टाओं द्वारा निषेध के बहाने पथिक को बतला दी।'

तत्र च केचिदविदितस्वरूपस्यैव पथिकस्याकस्मान्निशान्धतोपक्षेपः स्वशयनीयोद्देशदर्शनं चेत्युभयव्यभिचारि साधनमिति मन्यन्ते। तद्वशाद्धि तस्य नायिकाशयनोद्देशोपसर्पणमपि कल्पनीयं स्यात्। श्वश्र्वाश्च तस्याविनयदोषाशङ्कानिरास इत्युभयमभिमतं सिध्यति।

यत्त्वत्र श्वश्रूशयनदर्शनं तत् तदाशङ्कानिरासार्थमेव न पथिकप्रवर्त्तनाङ्गतां गच्छति आत्मन एव शयनोद्देशदर्शने हि तस्याः शङ्का स्यात् यद्वा शयनयोर्विप्रकर्षप्रकाशनपरं तद्, इति तत्प्रवृत्त्यङ्गमेवास्तु तदिति च तच्चायुक्तम्, अत्र हि श्वश्रूः प्रत्याय्या वर्त्तते नान्यः। न चायं चिरपरिशीलनावसेयो निशान्धताख्यो हेतुस्तां प्रति सिद्धः। तथाविधश्चोपादीयमानः प्रत्युत तस्याः शङ्कामुपजनयेत्। उभयार्थकारी ह्यत्र हेतुरुपादेयो भवति यो न श्वश्र्वाः शङ्कामाधत्ते पथिकं च प्रवर्त्तयति। नचायं निशान्धताख्यो हेतुस्तथेति व्यर्थस्तदुपन्यासः। किञ्चायं निशान्धतोपक्षेपः पक्षद्वयेऽप्यप्रयोजक एव शयनसन्निवेशदर्शनसंस्कारादेव तदुभयसिद्धेः।

ये तु शयनीययोर्विप्रकर्षदर्शनेनान्योन्यदर्शनस्यास्फुटत्वमनुमीयमानं हेतुतया मन्यन्ते अत एव च 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' इति पठन्ति तेऽप्ययुक्तवादिनः। अनैकान्तिकत्वात्। दृश्यन्ते ह्यचलितचारित्राणामपि युवतीनामेवंविधाः सद्भावगर्भाः भणितयः।

एक प्रकार से यहाँ बहुत कुछ सोचने पर भी कोई हेतु समझ में ही नहीं आता। हेतु या तो विधेय (प्रतीयमान) के अनुगुण हो सकता या प्रतिषेध (वाच्य) के या दोनों के। उनमें से पहला (विधेय 'आ जाना'—के अनुगुण हेतु) सास के मन में शंका ही पैदा करता है। वह असिद्ध है, ठीक वैसे ही जैसे—शब्द से (शब्द को हेतु बनाकर) चाक्षुषता (का ज्ञान कराना) दूसरा भी विवक्षितार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता, वह विरुद्ध है, जैसे कि घट की नित्यता सिद्ध करने में उसकी कृत्रिमता (कृत्रिमवस्तु सदा अनित्य ही होती है)। तीसरा उलटा सन्देह ही पैदा करता है, साध्य से उसका निश्चित सम्बन्ध नहीं है। जैसे—('यह मनुष्य है, क्योंकि ज्ञेय है'—इसमें) ज्ञेयत्व का (मनुष्यत्व)। जैसा कि कहा है—असिद्ध पदार्थ साध्य का हेतु नहीं होता, (इसी प्रकार) न तो व्यभिचारी और न उभयाश्रित और न विरुद्ध। ऐसा होने पर साध्य की सत्ता कैसे सध सकती है।' और जैसे पहले उदाहरण (भ्रम धार्मिक······) में भ्रमण विधान का हेतु ही पर्यालोचन करने पर प्रतिषेध में पर्यवसित होता है, वैसे यहाँ निषेध का हेतु विधान में (पर्यवसित) नहीं (होता)। इसलिये यहां विविध रूप दूसरे अर्थ का ज्ञान हो कैसे सकता है। इसलिये दूसरा, अर्थ जो विधेय है, उसके प्रति कोई ठीक कारण नहीं होने से उसकी प्रतीति नहीं होती। इसलिये वह व्यङ्ग्य भी कैसे हो सकता है। अतः यह उदाहरण ही गलत है।

'वच्च महव्विअ एक्काए होन्तु णीसासरोइअव्वाइ।
मा तुज्झ वि तीए विण दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु॥'
[व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जायन्ताम्॥]

अत्र कयाचित् खण्डितयान्तर्ज्वलितेर्ष्याप्रकोपया सावहित्थं सोल्लुण्ठनं सप्रणयौचित्यं च यः प्रियं प्रति भेदो विहितस्तत्र तस्यामेव भवान्निर्व्याजमनुरक्तहृदयो मयि तु कितव! तव कृतकोपचारवचनरचनामात्रमेतदिति नायकस्यान्यत्रानुरागातिशयः साध्यः।

तत्र च गच्छ त्वद्विरहविहितानि निश्वासरोदितव्यानि ममैव एकस्या भवन्तु मा तवापि दाक्षिण्यमात्रविवशस्य तया विना तानि भूवन्निति तत्र तस्य प्रस्थानानुमतिर्हेतुः। प्रस्थाने हि तस्य तद्विरहविरतिः। तद्विरतौ च तद्धेतुकानां निःश्वासरोदनादिदुःखानामपि विरतिः।

स्नेहोत्कर्षानुविधायिनो हि प्राणिनां विरहव्यथावेशा भवन्ति तेषां तत्कार्यत्वात् कार्यकारणभावश्चैषामध्यात्मप्रमाणसिद्धः। धर्मिणि सद्भावसिद्धिश्चास्य हेतोस्सतोऽसत एव वा प्रतिषेधसामर्थ्यादवसीयते, प्राप्तिपूर्वका हि प्रतिषेधा भवन्तीति।

तस्य च सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव प्रतीतिमात्रपरमार्थत्वात् काव्यनाट्यादीनामिति विरहव्यथावसितोऽनुरागातिशयः कान्तस्यानुमेय एव भवति, न व्यङ्ग्य इत्यवसेयम्।

'जाओ मुझी अकेली के उसास और आंसू बहें, तुम जो मेरे मुलाहिजे में यहाँ चले आये हो, इससे ऐसा न हो कि उसके बिना तुम्हारे भी बहने लगे।'

एक खण्डिता ने जिसके भीतर ईर्ष्या-कोप जल रहा था अपनी मंसा छिपाते हुये उलहने के साथ और प्रीति की रीति निबाहते हुये प्रिय के प्रति यह 'जाओ' कह कर अपनी तटस्थता बतलाई उससे यह झलकता है कि श्रीमान् उसी स्त्री पर निश्छल रूप से चित लगाये हुए हैं, मेरे साथ तो तुम कोरा व्यवहार निबाह रहे हो।' इस प्रकार यहां नायक का दूसरी स्त्री में अधिक अनुराग साध्य है।

इसमें—'जाओ तुम्हारे विरह से उत्पन्न निश्वास और रोना—मुझ ही अकेली को झेलने पड़े, उसके बिना एकमात्र मेरे दाक्षिण्य में पड़े तुम्हें भी न झेलने पड़े। इस प्रकार जो प्रस्थान (जाने) की अनुमति है वह हेतु है। क्योंकि उसके प्रस्थान से उसके विरह की शान्ति संभव है और उस कारण उस विरह से उत्पन्न निःश्वास और रोदन आदि के दुःख की। प्राणियों को जो विरह की व्यथा की लहर उठती है वह स्नेह की बढ़ौती के कारण। क्योंकि विरह व्यथा की लहर स्नेह का कार्य है (स्नेह से उत्पन्न होती है)। इस प्रकार इनका कार्यकारणभावसम्बन्ध स्वयं अनुभव से सिद्ध है। धर्मी अर्थात्—पक्ष में इस हेतु के सद्भाव की सिद्धि (आंसू रोदन न हो इस) निषेध के आधार पर होती है भले ही वह (निषेध) सच्चा हो या झूठा। कारण कि निषेध तब होता है जब वस्तु की प्राप्ति (सत्ता) रहती है। उस (निषेध) के सच या झूठ होने का विचार फिजूल ही है। क्योंकि काव्य और नाटक का फल केवल ज्ञान करा देना भर है। इसलिये प्रिय का अनुराग विरह व्यथा से जाना जाता है। फलतः वह अनुमेय ही हुआ। व्यङ्ग्य नहीं—ऐसा समझना चाहिये।

'दे आ पसिअ णिअत्तसु मुहससिजोह्नाविलुत्ततमणिवहे ?।
अहिसारिआणं विग्घं करेसि अण्णाण वि हआसे !॥' इति।

[प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे !॥]

अत्र काचित् कामपि निशान्धकाराभिसरणसमुद्यतां सहजसौन्दर्यकान्तिकमनीयमुखीं सखीमालोक्य मुदितान्तःकरणा प्रणयोपालम्भनिभेन तस्यास्तां रूपसम्पदमित्थमुपवर्णयतीति चाटुकार्थोऽत्र प्रतीयमानोऽनुमेयः।

तत्र च वाच्यस्य प्रतिषेधानुपपत्तिरेव हेतुः। तदनुपपत्तिश्च सम्बोधनद्वारेणोपात्तस्य मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहत्वस्य हेतोरार्थस्यासिद्धेः, परमार्थतो मानुषीमात्रस्य तथाविधाया वदनेन्दुकान्तेरसम्भवात्।

अतस्तस्यास्तदन्यासां चाभिसारिकाणामभिसरणविघ्न एव न सम्भवतीति तत्प्रतिषेधप्रणयप्रयासस्सख्यास्तस्यामनर्थक एवेति प्रतिषेधविधेरनुपपत्तिसिद्धिः।

अतो वदनेन्दुकान्तेर्यदेतद्विलुप्ततमोनिवहत्वमुपात्तं तदन्यथानुपपद्यमानं वदनस्य कान्त्यतिरेकलक्षणमर्थान्तरमेव चाटुरूपमनया भङ्ग्यानुमापयति कान्त्यतिरेकमन्तरेण निर्मूलस्य तदतिशयारोपस्य लोकैरनादृतत्वादिति तत्प्रमाणसिद्ध एवानयोः सम्बन्धो बोद्धव्यः।

'प्रार्थना करती हूँ मत जा लौट चल। तू अपने मुखचन्द्र की किरणों से रास्ते की अँधियारी दूर कर रही है तथा हे हताशे और दूसरी अभिसारिकाओं को भी विघ्न पहुँचा रही है।'

यहाँ—किसी सखी ने अँधेरी रात में अपनी सखी को चोरी से प्रिय के पास जाते देखा।

सखी का चेहरा स्वाभाविक सौन्दर्य की लुनाई से दमक रहा था। सखी को देखकर उसे काफी खुशी हुई और उसने नेह भरी बोली बोलते हुए उसकी रूपराशि का इस प्रकार वर्णन किया है। इसलिये यहाँ चाटुरूपी अर्थ प्रतीयमान है। वह अनुमान से प्रतीत होता है। उसमें वाच्यार्थ का जो प्रतिषेध किया गया है वह नहीं बनता। वही हेतु है। उसके न बनने का कारण यह है कि सम्बोधन द्वारा जो (नायिका को) मुखचन्द्र की रोशनी से अन्धकार को नष्ट कर देने का विशेषण (मुखशशि—निवहे) दिया है, जो अभिसारिकाओं के गमनागमन में विघ्न का आर्थ हेतु है, वह नहीं बनता, कारण कि जो स्त्री केवल मानुषी हो उसके मुख में इतनी अधिक कान्ति का होना संभव नहीं। इसलिये उस नायिका में अन्य अभिसारिकाओं के अभिसरण में विघ्न करना सिद्ध नहीं होता, फलतः उसके निषेध के लिये सखी का उस नायिका के प्रति किया गया प्रयत्न बेकार है। इस प्रकार प्रतिषेध कार्य नहीं बनता। इसलिये मुखचन्द्र की कान्ति में जो यह अन्धकारपुञ्ज के नाश करने का गुण बतलाया गया है वह और किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, निदान वह मुख में अत्यधिक कान्तिरूप दूसरे अर्थ की सिद्धि करता है जो चाटुरूप है। कथन के इस ढंग से वह उसी का अनुमान कराती है। यदि अत्यधिक कान्ति न हो तो उसका आरोप भी संभव नहीं। अतः उसे लोग मान नहीं सकते। इसलिये लोक-प्रमाण से ही उन दोनों का सम्बन्ध सिद्ध होता है।

'कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरम्।
सब्भमरपदुमाघाइणि वारिअवामे सहसु एह्णिम्॥'

[कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि ? वारितवामे ! सहस्वेदानीम्॥]

अत्र काचिद् विदग्धा सखी कामपि कामुकान्तिके परपुरुषपरिक्षताधरपल्लवामालोक्य तदसहनस्वभावं च तं कामुकमाकलय्य तस्यापरपरिभोगशङ्काकलङ्कमपाकर्त्तुमधरक्षतस्यान्यथासिद्धत्वमुपालम्भनिभेन तामाह।

तत्र सव्रणवल्लभाधरदलदर्शनं सर्वस्यैव कामुकलोकस्येर्ष्याप्रकोपकारणं भवतीति व्याप्तिवचनम्। तव च वारितवामाया सभ्रमराम्भोजाघ्राणशीलायास्तन्निबन्धनमिदमधरस्य सव्रणत्वमिति पक्षधर्मोपसंहारः। सह्यतामिदानीं तस्य निजस्याविनयस्य विपाकः प्रियतमप्रकोपरूपस्त्वयेति निगमननिर्देशः। इति वाच्यार्थविषयः साध्यसाधनभावस्तावत् स्पष्ट एव।

अनुमेयार्थविषये तु तस्मिन् परपुरुषपरिभोगशङ्कानिरासः साध्यः। तस्य सभ्रमराम्भोजाघ्राणशीलत्वेन सम्बोधनसमर्पितेनानुमितमधरपल्लवपरिक्षतेरन्यथासिद्धत्वमार्थो हेतुः। तयोश्चाविनाभावनियमोऽनुरागिणामध्यात्मप्रमाणसिद्ध एवेति सिद्धम्।

अत्र वाच्यानुमेययोरर्थयोरपि प्रतीतावनुमेय एव विश्रान्तिर्न वाच्ये तस्य तदङ्गतया प्राधान्याभावाद्, इत्युक्तमेव।

'प्रिया के अधर को घायल देख किसे रोष नहीं होता इसलिये, अरी भौंरे से युक्त कमल को सूँघने की शौकीन और मना करने पर उलटी-चलने वाली-तू अब अपना किया भोग।' यहाँ कोई चतुर सखी कामुक को लक्ष्य करके कह रही है। उसने किसी सखी को दूसरे पुरुष द्वारा अधर

होता है जिसमें उपचार किया जाता है (तट आदि), और वही प्रधान (भी) होता है। उनका जो अविनाभावसम्बन्ध है वह लोकप्रसिद्धि से सिद्ध है और जो साध्य होता है वह अनुमेय ही होता है उसे शब्द से नहीं कहा जाता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है।

'शिखरिणि क नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
तरुणि! येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥' इति।

अत्र त्वदधरपल्लवपरिचुम्बनामृतं नाल्पपुण्यः पुमानासादयतीति चाटुकरूपोऽर्थः साध्यः। तत्सादृश्यलवावलम्बिनो बिम्बफलस्यापि परिखण्डनविधौ शुकशावकस्य लोकोत्तरतपःपरिणामशालित्वसमारोपो हेतुः।

यत्र खलु यत्सादृश्यसद्भावमात्रभाजो भावस्य पुण्योपचयपरिश्रमपरिप्रापणीयत्वमाशङ्क्यते तत्र तस्य तत्सम्बन्धिनो मुख्यस्यैव तत् कथं नावगम्यते। तस्मादत्रापि साध्यसाधनभावगर्भतैवोपपन्नेति सिद्धम्।

'कौन से पहाड़ पर कितने दिनों तक किस नाम का तप किया है इसने कि हे तरुणि? यह तोते का बच्चा तुम्हारे अधर के समान पाटल (श्वेतरक्त) बिम्बफल को डँस रहा है।'

यहाँ 'जो अधिक पुण्यात्मा होता है वही तुम्हारे अधरपल्लव के चुम्बनामृत को पाता है यह चाटुरूप अर्थ साध्य है। हेतु है—'अधर के समान बिम्बफल के काटने में शुकशावक के ऊपर अद्भुत अलौकिक तप के फल से युक्त होने का आरोप।' जहां वस्तु के केवल सादृश्य से युक्त वस्तु को राशि राशि पुण्य जोड़ने के श्रम से लभ्य बतलाया जा रहा हो वहां स्वयं उस वस्तु में वह (पुण्यातिशय से लभ्य होना) क्यों नहीं जाना जा सकता। इसलिए यहां भी वाक्यार्थ में साध्य-साधनभाव है ही।

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि! धीरा भव॥' इति।

अत्र मदनदहनोद्दीपनचन्द्रोदयोद्यानादिदारुणपदार्थसार्थदर्शनदुःखसहिष्णुत्वं नाम रामस्य साध्यम्। तत्र च रामत्वमेवार्थो हेतुः।

रामशब्दो ह्ययं स्वेच्छापरिकल्पितप्रकरणाद्यवसेयसकलक्लेशभाजनत्वलक्षणधर्मविशिष्टं संज्ञिनं प्रत्याययति न संज्ञिमात्रम्। तयोश्च व्याप्यव्यापकभावलक्षणः सम्बन्धः प्रसिद्धिकृतोऽध्यात्मप्रसिद्ध एवावगन्तव्यः, यथा वृक्षशिंशपयोः।

यच्च तदनुमितं धर्मान्तरं तत् सर्वसहत्वस्योपात्तस्य साधनं, न रामत्वमेवेत्यनुमितानुमेयं तत्। एवमस्मीत्यस्मदर्थे धर्मिणि रामत्वमात्रनिबन्धनायां सकलक्लेशभाजनत्वलक्षणसाध्यधर्मसिद्धौ स्फुट एवास्यानुमानान्तर्भावः। ततश्च रामस्य यत् कठोरहृदयत्वाभिधानं तत् पुनरुक्तमेव, अनुवादपक्षस्यातितुच्छत्वात्।

'भले ही—मेघ चिकनी और श्याम आभा से आसमान लीपें; उनमें बगुलों की पांत भी जुड़ती रहें, फुहारे लेकर हवा के झोके बहें, मेघों के मित्रों (मयूरों) की आनन्द से भरी सुन्दर केका कूजें, (परन्तु) मैं तो राम हूँ, कठोर हृदय वाला, सब कुछ सह लूँगा। परन्तु, हाय-हाय सीता का क्या होगा। हे देवि ? तुम भी धीरज रखना।' यहां—राम द्वारा कामाग्नि को बढ़ाने वाले चन्द्रोदय, उद्यान आदि दारुण पदार्थों के देखने के दुःख को सहना साध्य है। यहाँ रामत्व ही हेतु है, वह आर्थ है। यह जो राम शब्द है वह केवल संज्ञावान् को नहीं बतलाता, अपितु उस संज्ञावान् को बतलाता है जिसमें अपनी इच्छा से कल्पित प्रकरणादि द्वारा समझ में आने वाला—'क्लेशभाजनत्व'—रूप धर्म का बोध होता है। उन (रामत्व और क्लेशसहत्वरूप धर्मों) का व्याप्यव्यापकभाव रूप सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है, अर्थात् वह अध्यात्म (स्वानुभूति) प्रमाण से ही सिद्ध है। ठीक वैसे ही जैसे वृक्ष (सामान्य) और (उसका कोई एक भेद) शिंशपा (शीशम) आदि का।

जो (सकलक्लेशसहिष्णुत्व) दूसरा धर्म उस (रामत्व) से अनुमित हो रहा है वह शब्दतः कथित सर्वसहिष्णुता का साधक हेतु है; इस प्रकार केवल रामत्व ही (वियोगदुःखसहिष्णुत्व रूप धर्म का) अनुमापक नहीं है,—अपितु रामत्व से अनुमित (क्लेशभाजनत्व) धर्म भी उसका अनुमापक है, अतः वियोगानुभवसहिष्णुता धर्म अनुमित अर्थ द्वारा अनुमित होता है।

इसी प्रकार 'अस्मि' यहाँ अस्मद् शब्द का अर्थ (मैं धर्मी) है। उसमें केवल 'रामत्व' से सब प्रकार के दुःखभाजनत्व (रूपी) धर्म की सिद्धि होती है। अतः स्पष्ट रूप से ही इसका अनुमान में अन्तर्भाव है। और राम की कठोरहृदयता का जो कथन है वह पुनरुक्त है। ऐसा करने से अनुवाद पक्ष ('कठोरहृदय मैं सब कुछ सह सकता हूँ।—इसमें जो कठोरहृदय मैं अनुवाद्यांश है वह) अति हेय हो जाता है। (क्योंकि वह सदोष हो जाता है)।

विमर्श : 'राम वियोग को सह सकते हैं यह है—तात्पर्यभूत अनुमेय। उसका हेतु है—रामत्व और ऐसा रामत्व जिसमें सर्वविधदुःखसहिष्णुत्व का अनुमान होता है और यह अनुमित धर्म भी रामत्व के साथ-साथ वियोग सहने की क्षमता का अनुमान कराता है, अतः वियोग-दुःख को सहने की क्षमता अनुमित अर्थ से अनुमित होती है, वह अनुमितानुमेय है। 'सर्वविधदुःखसहिष्णुत्व' धर्म की एक विशेषता यह भी है कि वह अनुमित वियोगसहिष्णुत्व के साथ ही—'सर्वं सहे' इस प्रकार कथित सर्वसहिष्णुता का भी हेतु है।

'ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति।
रइकिरणाणुग्गहिआइ होन्ति कमलाइ कमलाइ॥'

[तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि]

इत्यत्राद्यस्तावत् कमलशब्दः सामान्यवृत्तिर्द्वितीयो विशेषवृत्तिः। स चास्य विशेषो निरतिशयशोभाभिरामतालक्षणोऽर्थः प्रकरणादिगम्यो रविकिरणानुग्रहकृतः प्रमाणान्तरसिद्धस्सामान्यनिष्ठोऽनुमेयः। तत्र च तयोः सामान्यविशेषार्थयोर्विजातीययोरिव सजातीययोरप्यारोप्यारोपकभाव एव हेतुः, यथा सिंहो माणवक इति।

न च भिन्नजातीयत्वमेवार्थानामारोपनिबन्धनमिति नियमः सम्भवति

भाग में क्षत (घाव) युक्त देखा और सोचा कि वह कामुक ऐसी घटना को सह नहीं सकता तो उस सखी के अन्यकृत भोग की शंका के कलंक को दूर करने के लिये उपालम्भ के बहाने अधरव्रण को और किसी कारण से उत्पन्न बतलाने के लिये यह कहती है। इस कथन में व्याप्ति-कथन है—'प्रत्येक कामुक के लिए अपनी प्रिया के घायल प्रियाधर का दर्शन ईर्ष्याजनित प्रकोप का कारण होता है।'

'तुझे मना करने पर और उलटी चलने वाली और भौंरे युक्त कमल को सूँघने वाली के अधर में घाव हुआ—यह पक्ष में धर्म (हेतु) का कथन हुआ।'

'अब तू अपनी धृष्टता का फल 'प्रिय का रोष' सह' यह हुआ निगमन। इस प्रकार वाच्यार्थ में आया साध्यसाधनभाव तो साफ है। अनुमेय अर्थ के विषय में—जो साध्यसाधनभाव है उसमें परपुरुष शंका का निरास (हटाना) साध्य है। उसमें जो हेतु दिया गया है वह आर्थ है। वह—संबोधन द्वारा बतलाया गया है। संबोधन का अर्थ है—भौंरे से युक्त कमल को सूँघने के शौकीन'। इसमें 'अधर के क्षतियुक्त होने का कारण और ही कोई है' यही है (उस अनुमेयार्थ के प्रति) हेतु। साध्य और साधन (हेतु) का व्याप्ति-संबंध अनुरागियों में अपने अनुभव से सिद्ध है।'

यहाँ प्रतीति दोनों की होती है वाच्य की भी—और अनुमेय की भी। परंतु वाक्यार्थ की विश्रान्ति अनुमेय में ही होती है; वाच्य में नहीं, कारण कि वाच्य अनुमेय का अंग है ऐसा कहा जा चुका है।

'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥' इति।

अत्र शूरादीनां त्रयाणां सर्वत्रैव स्वाधीनाः सम्पदो भवन्तीति साध्यम्। तत्र सुवर्णपुष्पपृथिवीचयने कर्तृत्वाभिधानं तेषां हेतुः।

तद्धि मुख्यमनुपपद्यमानं वाक्यार्थोपचारवृत्त्या तत्सदृशमेव सर्वत्र सुलभविभवत्वमनुमापयति यथा पदार्थोपचारे गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गाशब्दो गङ्गासमीपवर्त्तिनं तटम्।

द्विविधो ह्युपचार इष्टः, पदार्थवाक्यार्थविषयत्वात् उपचारे च वाच्यस्योपायत्वात् अप्राधान्ये सत्यविवक्षितत्वमेव भवति, उपचारविषयस्यैवोपेयतया प्राधान्यात्। तयोश्च प्रसिद्धिकृत एवाविनाभावनियमोऽवगन्तव्यः, साध्यश्चानुमेय एव, न वचनगोचरतां गच्छतीत्युक्तम्।

सोना फूलती धरती को बटोरते हैं तीन लोग शूर, विद्वान् और सेवा की कला जानने वाला।'

यहाँ साध्य है—'शूर आदि तीन लोगों के लिये सम्पदाएँ सदा स्वाधीन रहती है।' उसमें हेतु हैं सुवर्णपुष्पा पृथिवी के बटोरने में उन (शूर आदि) को कर्त्ता बतलाना। वह (सुवर्णपुष्पा पृथिवी का बटोरना) मुख्य (बटोरने) रूप में तो बनता नहीं, इसलिए उपचारवृत्ति (लक्षणा) से (शूर आदि) सब में वैभव की सुलभता का अनुमान कराता है। यह (उपचार) वृत्ति यहाँ वाक्यार्थ में होती है। ठीक वैसे ही जैसे पदार्थ के उपचार के स्थान 'गङ्गा पर घर' में गंगा शब्द गंगा के पास के तट का अनुमान कराता है।

उपचार दो प्रकार का मान्य है, पदार्थविषयक और वाक्यार्थविषयक। उपचार में वाक्य उपाय (हेतु) होता है। अतः वह अप्रधान होने से विवक्षाविषयक नहीं होता। उपेय (साध्य) वही

आकारविशेषाणां हेतुत्वपरिकल्पनमुपहासायैव तेषां वाच्यत्वाभावात् वाच्यस्यैव व्यञ्जकत्वेन प्रकृतत्वात् ।

यहाँ कुछ लोग दो पदार्थों को 'अव्यभिचारी हेतु मानते हैं—एक पथिक पर एकाएक रात्र्यंधता का आरोप जो पथिक के स्वरूप को बिना जाने ही किया गया है और दूसरा अपने बिछौने की जगह का बतलाना। उसी के आधार पर पथिक के नायिका के बिछौने तक पहुँचने की कल्पना की जा सकती है और सास की उस नायिका के प्रति चांचल्य-शंका दूर हो जाती है। इस प्रकार दोनों अभीष्ट बातें सध जाती हैं और यहाँ जो सास के बिस्तर का दिखलाना है वह केवल उस (सास) की आशंका को दूर करने के लिये ही है। वह पथिक की प्रवृत्ति में कारण नहीं बनता। यदि वह केवल अपना बिछौना ही दिखलाती तो सास को शंका हो जाती। अथवा (उसे) सास के बिछौने की दूरी बतलाने के लिये माना जा सकता है, इससे वह (सास के बिछौने का निर्देश) पथिक की प्रवृत्ति का अंग भी बन सकता है।'—यह सब युक्तिसंगत नहीं है। यहाँ केवल सास को भरोसा दिलाना है, और किसी व्यक्ति को नहीं। उसके प्रति यह 'निशान्धता' रूपी हेतु नहीं बनता, कारण कि वह बहुत कुछ सोचने के बाद समझ में आता है। बल्कि ऐसा हेतु देने से तो उलटी शंका हो सकती है। ऐसी जगह जो हेतु दिया जाता है, उसे दोनों ओर लगने वाला होना चाहिये जिससे सास को भी शंका न हो और पथिक भी प्रवृत्त हो सके। निशान्धता रूप हेतु वैसा नहीं है, अतः उसे देना व्यर्थ है और यह निशान्धता का उल्लेख दोनों ही पक्षों में किसी काम का नहीं। केवल बिछौने की जगह बतलाने पर से वे दोनों (सास का विश्वास और पथिक की प्रवृत्ति रूपी) काम बन जाते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि विस्तरों का उल्लेख इसलिये किया गया है कि पथिक यह समझ जाय कि वे लोग दूर से सास को दिखाई न देंगे, यह बात अनुमान से आती है और उससे पथिक का आमंत्रण प्रतीत होता है, इसलिए 'सास यहीं डूबी है'—ऐसा कहा गया, उनके पास भी कोई अच्छी युक्ति नहीं है। कारण कि यह हेतु साध्य के साथ नित्य संबद्ध नहीं है। ऐसी भी कुछ युवतियाँ दिखाई देती हैं जो साध्वी होती हैं और एक मात्र सद्भाव से युक्त बात कहती हैं। आकारविशेष को कारण मानना मजाक की बात है, ये यहाँ कही नहीं गई हैं, और जो कहा जाता है वही व्यञ्जक माना जाता है।

किञ्चात्र निरूप्यमाणो हेतुरेव न लभ्यते। स हि विधेयानुगुणो वा स्यात् प्रतिषेध्यानुगुण उभयानुगुणो वा। तत्राद्यः श्वश्र्वाः शङ्कामेव जनयेदसिद्धत्वा-च्चाक्षुषत्वादिवत्। द्वितीयो न विवक्षितार्थसिद्धिहेतुर्विरुद्धत्वात् कृतकत्वमिव नित्यत्वे। तृतीयस्तु सन्देहमेव जनयत्यनैकान्तिकत्वात्। प्रमेयत्वादिवदिति। यदाहुः—

'नासिद्धो भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः।
धर्मो विरुद्धो भावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ॥' इति।

अपि च तत्र यथाद्य उदाहरणे भ्रमणविधिहेतुरेव निरूप्यमाणः प्रतिषेधे पर्यवस्यति न तथेह प्रतिषेधहेतुरेव विधाविति कुतो विधिरूपार्थान्तरप्रतीति-सिद्धिः। तस्माद्विधेयस्यार्थान्तरस्य निबन्धनाभावात् प्रतीतिरेव नास्तीति कुतस्तस्य व्यङ्ग्यत्वमित्ययुक्तमेवेदमुदाहरणम्।

अथ तृतीयो विमर्शः

तदेवं ध्वनिलक्षणस्य तद्भेदानां चानुमानेऽन्तर्भावमुपपाद्य सम्प्रति तदुदाहरणानां यथायोगं क्रमेणासावुपदर्श्यते। तत्र वस्तुमात्रस्य तावत्—

'भम धम्मिअ ! वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥' इति।

[भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुकनोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुडङ्गवासिना दृप्तसिंहेन ॥

अत्र केनचित् सुकृतिना यूना सह विस्रम्भसम्भोगसुखास्वादलालसया विजने वने विविधकुसुमामोदमुदितमधुकृति कृतसङ्केतया कयाचित् कुसुमापचिचीषया भ्रमतो धार्मिकस्य मनोरथपरिपन्थि तद्देशासादनं विघ्नमिव मन्यमानया जानानयापि केसरिकिशोरकस्य क्रौर्यातिरेकं कुक्कुरमारणमात्रत्रासोपन्यासेनास्य प्रियमावेदयितुकामया विदग्धयापि मुग्धयेव विधिमुखेन भ्रमणस्य प्रतिषेधो विहितः।

अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरतः, तयोर्धूमाग्न्योरिव साध्यसाधनभावेनावस्थानात्। तत्राद्यस्तावदविवेकसिद्धः स्पष्ट एव, भ्रमणविधिलक्षणस्य साध्यस्य तत्परिपन्थिक्रूरकुक्कुरमारणात्मनः साधनस्य चोभयोरप्युपादानात्।

द्वितीयस्त्वत एव हेतोः पर्यालोचितणिजर्थस्य विवेकिनः प्रतिपत्तुः प्रयोजकस्वरूपनिरूपणेन सामर्थ्यात् प्रतीतिमवतरति। तच्च सामर्थ्यं मृतेऽपि कौलेयके क्रूरतरस्य सत्त्वान्तरस्य तत्र सद्भावावेदनं नाम नापरम्। तदेव च साधनम्। तयोश्च साध्यसाधनयोरविनाभावनियमो विरोधमूलः। स चानयोर्लोकप्रमाणसिद्ध इत्युक्तम्।

तो इस प्रकार ध्वनि के लक्षण और उस (ध्वनि) के प्रभेदों का अनुमान में अन्तर्भाव सिद्ध किया अब क्रम से उस (ध्वनि)के उदाहरणों का यथायोग [उसी अनुामन में]अन्तर्भाव दिखलाया जाता है। उन (ध्वनि-उदाहरणों) में पहले वस्तुमात्र का उदाहरण—'हे धार्मिक, बेखटके घूम। वह दुष्ट कुत्ता आज उस गोदावरी के कछार की झुरमुट में रह रहे उन्मत्त सिंह ने मार डाला।' (प्रसंग)—एक चतुर नायिका किसी भाग्यवान् युवक के साथ सुरत का निर्भर आस्वाद लेना चाहती थी। उसने एक निर्जनवन में जहाँ भांति-भांति के फूलों की सुगन्ध से भौंरे आनन्द कर रहे थे, उस युवक से मिलने का समय निश्चित किया। किन्तु उसे वहीं फूल तोड़ने के लिये घूमता हुआ एक धार्मिक दिखाई दिया। नायिका नहीं चाहती थी कि धार्मिक वहाँ पहुँचे। उसने उसे विघ्न माना और उसे रोकने के लिये चतुर होते हुए भी भोली भाली बनकर उसने

यत्वं च न प्रतीयेत । तस्याभिधानात्मन इतिना व्यवच्छेदाद्, अन्यस्य च ध्वनेरनुपदानात् ।

स ह्यभावादिधर्माधिकरणभावेन सर्वनामपरामर्शयोग्योऽवश्यमुपादेयः, नचोपात्तः । यश्चोपात्तः स तदभिधानानुकारस्वरूपमात्रप्रधानो नार्थाभिमुख इति काव्यात्मन एवार्थस्य तदधिकरणभावो विज्ञायते न ध्वनेः ।

स हि तत्र संज्ञामात्रम् । यत् स एवाह 'काव्यस्यात्मा ध्वनिसंज्ञित' इति ।

(ये दोष महाकवियों को भी कठिनाई से दिखाई पड़ते हैं) क्योंकि (कविता की तो बात दूर रहे) साधारण सी बात को लेकर बनाये गये पदसमुदाय (वाक्य) में भी ये दिखाई देते ही हैं । जैसे—और दूसरों (आनन्दवर्धनाचार्य) का (पद्य)—

"–काव्य की आत्मा ध्वनि' इस प्रकार विद्वानों ने जिसे पहले ही स्पष्ट घोषित किया है, दूसरों ने उसका अभाव बतलाया, दूसरों ने उसे भक्ति कहा, किन्हीं ने उसके तत्त्व को वाणी के अविषय में स्थित माना, इसलिये सहृदयों के मन की प्रसन्नता के लिये हम उसका स्वरूप बतलाते हैं" यह ।

यहां पहले तो इसमें 'काव्य की आत्मा ध्वनिरिति' इस प्रकार इति शब्द में क्रम भेद है । उसका प्रयोग काव्यात्मा पद के बाद 'काव्यस्यात्मेति'–इस प्रकार किया जाना चाहिये नहीं तो इस (इति) का सम्बन्ध ध्वनि से ही ज्ञात होता है, तब उसका सर्वनाम से परामर्श नहीं होता, इसलिये उसके अभाव, भक्तित्व और वागविषयत्व का बोध नहीं होगा, क्योंकि उस (ध्वनि) का (परवर्ती विद्वानों ने कहा······आदि वाक्य से) व्यवच्छेद (पृथक्करण) हो जाता है अतः वह नाम—शब्द बनकर रह जाता है । अन्य किसी ध्वनि का प्रयोग किया नहीं गया है, (जिससे अभाव आदि के सम्बन्ध के लिये सर्वनाम परामर्श हो सके) उस (दूसरे ध्वनि शब्द) कहा जो अभाव आदि का अधिकरण बन सके और सर्वनाम परामर्श के योग्य हो, अवश्य ही प्रयोग होना चाहिये परन्तु प्रयोग नहीं हुआ । जिसका प्रयोग हुआ है, उसमें उस (ध्वनि तत्व) के नाम शब्द का अनुकरण मात्र प्रधान है, वह अर्थ (ध्वनि अर्थ) की ओर नहीं बढ़ता, इसलिये अभाव आदि की अधिकरणता (उलटे) काव्यात्मा में ही समझ पड़ती है । ध्वनि में नहीं । ध्वनि केवल संज्ञारूप है, इसमें स्वयं ध्वनिकार का 'काव्य की आत्मा ध्वनि नामक'—यह वाक्य प्रमाण है ।

तच्चानिष्टमेव । न हि केचित् काव्यात्मनो रसादेरभावं भाक्तत्वं वाभ्युपगच्छन्ति । मुख्यवृत्त्या च काव्यात्मशब्दवाच्यो रसादिरेव युक्तो नापरः । तदभावे प्रतीयमानार्थान्तरसंस्पर्शोऽप्यर्थापत्त्यादिवाक्यवत् काव्यस्य निर्जीवतापत्तेः ।

एतच्च रसस्वरूपमुपक्रम्य स एवाह—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥' इति ।

और वह (काव्यात्मा में—अभाव आदि का अधिकरणत्व) मान्य नहीं । काव्यात्मा है—रस

ज्योत्स्नावती है, अतः त्रिलोक भूषण है, इस प्रकार, वह व्यवच्छेदक नहीं है—ऐसा स्वयं आगे कहा जायेगा।)

अथ काव्यात्मानुवादेन विहितस्य ध्वनेः समाम्नानक्रियाकर्मभावावच्छेदेन समुदायादयमितिशब्दः प्रयुक्त इत्यर्थप्रधान एवायं ध्वनिशब्दो न स्वरूपप्रधान इति तस्य सर्वनामपरामर्शयोग्यस्याभावादिसम्बन्धो घटत एव इत्युच्यते तदयुक्तम्। एवं हि वाक्यार्थावच्छेदः प्रतीयेत, ततश्च तत्परामर्शिनः सर्वनामपदादेर्नपुंसकलिङ्गनिर्देशप्रसङ्गः। यथा–'तदवितथमेव मन्ये विषया आशीविषा इति यदाहु'। इति।

तस्मादात्मशब्दानन्तरमेवायमितिशब्दः प्रयोक्तव्यः। स च हेत्वर्थवृत्तिः। यथा—'रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः' इत्यत्र। तेनायमर्थः–यतः काव्यस्यात्मा जीवितभूतस्ततो बुधैर्यो ध्वनिर्नाम समाम्नातपूर्व इति। एष एवार्थोऽभिमतः कवेरिति विज्ञायते यदयं तत्र तत्र ध्वनेः काव्यैकजीवितत्वमाह।

किञ्च समाम्नातेर्धातोः कर्मणि भूते च क्तप्रत्ययोत्पत्तौ कर्मण एव प्राधान्ये तस्यैव निर्देशो न्याय्यो न कर्तुर्नापि पूर्वशब्दस्य, अव्यभिचारात् प्रयोजनाभावाच्चेति यदेतयोरुपादानं तत् पुनरुक्तमेव।

शंका—काव्यात्मा का अनुवाद किया जाय और उस पर ध्वनि का विधान, तथा उसे समाम्नान-क्रिया का कर्म माना जाय। इसके बाद 'इति' द्वारा उसका व्यवच्छेद हो। इस प्रकार 'इति' शब्द का प्रयोग समुदाय (काव्यात्मा ध्वनि है, ऐसा विद्वानों ने कहा है—इस वाक्य में काव्यात्मा ध्वनि है, इस समुदाय) के लिए हुआ माना जाय। इस ढंग से ध्वनि शब्द अर्थ प्रधान ही हो जाता है, स्वरूप (शब्द) प्रधान नहीं रहता, इसलिए उसकी सर्वनामपरामर्शयोग्यता बन जाती है और अभाव आदि के साथ सम्बन्ध भी।

उत्तर—इस पर हमारा उत्तर है कि—ऐसा मानने पर 'इति' से वाक्यार्थ का अवच्छेद (बिलगाव) प्रतीत होगा और तब सर्वनामपद नपुंसकलिंग के होंगे (क्योंकि वाक्यशब्द नपुंसक लिंग है।) जैसे—'विषय विषैले सांप है, ऐसा जो कहा गया है, उसे (तद) मैं सर्वथा झूठ मानता हूँ' यहां। इसलिये इतिशब्द का प्रयोग आत्मशब्द के बाद ही होना चाहिये। तब वह हेत्वर्थक होगा, जैसे—'रम्य इसलिए पताका (प्रसिद्धि और झण्डी) को प्राप्त, विविक्त (स्वच्छ और निर्जन) इसलिए राग बढ़ाने वाली—' यहां। तब यह अर्थ निकलेगा—'क्योंकि काव्य की आत्मा है, अर्थात् उसका प्राणभूत तत्त्व है, उसी से विद्वानों ने जिस ध्वनि का पर्याप्त निर्वचन किया है।' और ऐसा लगता है कि यही अर्थ उस ('काव्यस्यात्मा' इस श्लोक के निर्माता) विद्वान् को भी मान्य है। उसने जगह-जगह पर ध्वनि को काव्य का प्रधान प्राण (प्राणभूत प्रधान तत्त्व) कहा है। (लोचनकार ने वाक्य-विच्छेदक रूप में इति को मानना भी चाहा है, पर वे सफल नहीं हुए हैं) और ('समाम्नात' में) समाम्नान क्रिया से कर्म में भूतार्थक 'क्त'—प्रत्यय का उपयोग किया गया है। इसलिए प्रधानता कर्म की ही है; अतः निर्देश उसी (कर्म) का होना चाहिये, न तो कर्त्ता (बुधैः) का और न पूर्व शब्द का। वे तो (कर्म के साथ कर्त्ता और क्त के साथ पूर्व शब्द का अर्थ) नित्य

'लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥'
'रहयिष्यति तं लक्ष्मीर्नयविमुखो नापदां पदं क इव ।
स च तव रिपुरेवमतो भावी तस्यापि तद्विरहः ॥' इति ।

अत्र प्रतिज्ञानिगमनयोः पौनरुक्त्यम् । प्रसिद्धव्याप्तिकस्य हेतोर्धर्मिण्युपसंहारवचनेनैव तदुभयार्थसिद्धेरिति । यदुक्तं 'प्रतिज्ञाया एव तावद्गम्यमानार्थाया वचनं पुनर्वचनं, किं पुनरस्याः पुनर्वचनमित्यपार्थकं निगमनम्' इति ।

इह तु न दोषः—

'यो यत्कथाप्रसङ्गे छिन्नच्छिन्नायतोष्णनिश्वसितः ।
स भवति तं प्रति रक्तस्त्वं च तथा दृश्यसे सुतनु ! ॥' इति ।

और जैसे—'हिमालय की गुहाओं की ओर जा रहा वह जल के सुरसिन्धु (गङ्गाजी) संबन्धी प्रवाह जैसा लगा०' इसमें पयसाम्—यह जो संबन्धी रूप से प्रवाह का विशेषण है, वह अवाच्य है, वह तो उसके साथ नित्य संबंधित है। और जो यहाँ 'सौरसैन्धव' यह विशेषण है उसमें जो तद्धित निर्देश है—वह भी अवाच्य ही है, (सुरसिन्धोः-इस प्रकार) 'षष्ठी' विभक्ति देने से ही उसका काम—हो जाता है; 'इसलिये सुमहान् प्रवाह इव जह्नुजन्मनः' पाठ चाहिये। और जैसे—

'सिंह के समान शक्ति वाले (दशरथ) ने जिस हिरन पर शर साधा किन्तु उसे ओट में करके खड़ी उसकी सहचरी को देख कान तक खींचे तीर को भी दयार्द्रचित्त' होकर उसने उलटा उतार लिया।' (तथा)—

'उसे लक्ष्मी छोड़ देगी, नीति विमुख कौन सा व्यक्ति आपत्ति का आस्पद नहीं होता। तुम्हारा वह शत्रु ऐसा ही है, अतः उसे भी उस (संपत्ति—लक्ष्मी) का विरह भोगना होगा।' यहाँ प्रतिज्ञा (नीतिविमुख०००होता) और निगमन (अतः उसे उसका विरह भोगना होगा) पुनरुक्त होगा। जिस हेतु की व्याप्ति प्रसिद्ध होती है उसका धर्मी (पक्ष) में उपसंहार बतला देने से ही दोनों कार्यों (प्रतिज्ञा, निगमन) की सिद्धि हो जाती है। जैसा कि कहा है—'प्रतिज्ञा का ही (निगमन में पुनः) कथन पुनरुक्ति है क्योंकि उसका अर्थ स्वयमेव गम्यमान होता है' तब इसे फिर से कहना ही क्यों। इसलिए निगमन व्यर्थ ही होता है।

किन्तु निम्नलिखितस्थल में उक्त दोष नहीं होता—

'जिसकी बात चलने पर जो रुक-रुक कर गरम साँसें लेता है वह उसके प्रति अनुरक्त होता है और हे सलोनी सखी तुम ऐसी ही दिखाई दे रही हो।

विमर्श : 'लक्ष्यीकृतस्य०' पद्य में 'कृपामृदुमनाः' का 'मनः' शब्द पुनरुक्त है। कृपा तो मनका ही धर्म है अतः मन अपने आप प्रतीत हो जाता है। इसीप्रकार प्रतिसंजहार में 'प्रति'

शब्द भी सदृश आदि शब्द के समान साक्षात् धर्मी का ही साम्य बतलाते, पर वह मान्य नहीं, सरोज कर्णिका का साम्य एकमात्र गौरत्व—धर्म को लेकर विवक्षित है।

विमर्श : मृगराजि = में 'मृगराज' शब्द हलन्त है। आगमविधि के अनित्य होने से यहाँ 'राजाहःसखिभ्यः०' सूत्र से टच् नहीं हुआ जैसे वासुल की मंदसौर प्रशस्ति में वीर्यावस्कन्नराज्ञः (देशान)—में। [द्र० Select Skt. Inscriptions—करम्बेलकर]

अथोच्यते गौरादिशब्दा अपि सदृशादिशब्दवत् साक्षाद् धर्मिसाम्यमेवाभिदध्युः, सामर्थ्यात् तु धर्ममात्रसाम्यावगतिः कर्णिकाया गौरत्वाव्यभिचाराद् इति। तदयुक्तम्। तन्निबन्धनभूतायाः श्रुतहानेरश्रुतकल्पनायाश्चान्याय्यत्वात्। युज्येत पुनरेवं, यदि प्रतीतिः क्षमेतेति।

यत्तु पुनर्धर्मयोरेकनिर्देशेऽन्यधर्मप्रतिपत्तिः साहचर्यादित्यन्ये मन्यन्ते, यथा—'निवृत्तेऽपि बहिर्घने न विरमन्त्यन्तर्जरद्वेश्मनां
लूतातन्तुततिच्छिदो मधुपृषत्पिङ्गाः पयोबिन्दवः ॥'

इत्यत्र पयोबिन्दूनां मधुपृषत्पिङ्गत्वात् पिङ्गत्वसहचरितवृत्तत्वस्य प्रतिपत्तिरिति, तदनुपपन्नम्। माधुर्यादेरपि प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् साहचर्याविशेषात्। या तु रूपादेस्मृतो गतिः सा हेतुधर्मानुमानेनेष्यते। इह तु हेतुहेतुमद्भावस्तयोरसिद्ध इति साहचर्यासिद्धौ कुतोऽन्यधर्मप्रतिपत्तिसिद्धिः। सिद्धेऽपि वा तस्मिंस्तस्यैकस्य धर्मस्य साधनभावेनानिर्देशे कथमन्यधर्मप्रतिपत्तिसिद्धिः।

एवं हि—

'दुःखाभितप्तस्य जनस्य जाने तुषारशीतः प्रतिभाति वह्निः।'

इत्यत्र वह्नावपि शीतत्वसाहचर्यात् पाण्डुत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गः।

किञ्च सत्यामन्यधर्मप्रतिपत्तिसिद्धौ तद्धेतुः साहचर्यमन्यद्वा परिकल्प्येत। अत्र तु सैव न सिद्धेति व्यर्थस्तत्परिकल्पनप्रयासः।

किं हि तत्परिकल्पनं विनात्र परिहीयेत। पयोबिन्दूनां मधुपृषद्वृत्तत्वमिति चेत्, कामं परिहीयताम्। न च प्रयोजनवशात् प्रमाणव्यवस्था भवितुमर्हति।

यदि कहा जाय कि सदृश आदि शब्दों के समान गौरादि शब्द साक्षात् धर्मी का ही साम्य बतला दें, और धर्म साम्य की प्रतीति उसी के बल से ऊपर से हो जायगी क्योंकि कर्णिका और गौरत्व का सम्बन्ध नित्य है तो वह ठीक नहीं, उससे श्रुत = पठित वस्तु की हानि और अश्रुत = अपठित वस्तुकी कल्पना होती है, जो ठीक नहीं। यह हो तो सकता था यदि—प्रतीति हो रही होती तो दूसरे लोग जो यह मानते हैं कि दो धर्मों में से एक का निर्देश न होने से दूसरे धर्म का ज्ञान हो जाता है—साहचर्य के कारण (काव्यालंङ्कारसूत्रवृत्ति ४।२।१०) जैसे—

विमर्श : रक्तप्रसाधितभू, क्षतविग्रह और स्वस्थ शब्द के दो दो अर्थ हैं।

१-रक्त = अनुरक्त प्रसाधित = व्यवस्थित कर दी है भू जिन्होंने (ऐसे पाण्डव)।

२-रक्तसे = खून से सँवार दी है भू = पृथिवी जिन्होंने। (ऐसे कौरव)

१-क्षत हो गया है विग्रह—युद्ध या विरोध जिनका (ऐसे पाण्डव)

२-क्षत हो गये हैं विग्रह शरीर जिनके (ऐसे कौरव)

१-स्वस्थ—शरीर से ठीक (पाण्डव)

२-स्वस्थ—स्व-स्वर्ग में पहुँचे = मरे (कौरव)

नट के वचन से पहले भीम कौरवों के लिए पहला (कल्याणकारी) अर्थ अभिप्रेत समझते हैं, और क्रुद्ध होते हैं। सहदेव उन्हें दूसरा (अमांगलिक) अर्थ समझाते हैं। इस प्रकार दूसरा अर्थ सहदेव के कथन से स्पष्ट होता है।

क्वचित् पुनः प्रतीयमानार्थस्तदभिव्यक्तिनिबन्धनं भवति यथा—

'आलिङ्गनादरचितस्थितिराबभौ या पत्युर्विकासिपरिखाजलनीविबन्धा।
विस्तारिसालजघनं परिवर्त्तमाननक्षत्ररत्नरशनागुणमुद्वहन्ती॥' इति।

अत्र तदुचितविशेषणसामर्थ्योपस्थापितो नायिकार्थः पत्युरालिङ्गनादरचितस्थितस्य श्लेषस्य।

वहाँ प्रतीयमान अर्थ उस (श्लेष) का अभिव्यक्ति का कारण बनता है—जैसे 'विकासि-परिखा जलनीविबन्धा और पति के लिये आलिङ्गनादरचित स्थिति—जो परिवर्तमान-नक्षत्र-रत्न-रशना-गुण-विस्तारिसाल-जघन को धारण किये हुए सुशोभित हुई।' यहाँ—उस (नायिका) के योग्य विशेषण के आधार पर उपस्थित नायिका रूपी अर्थ पति के आलिङ्गनादरचित-स्थित श्लेष का (अभिव्यक्ति कारण है)।

विमर्श : विकासी परिखा-जल ही है नीविबन्ध जिसका-(पुरी), विकासि-परिखा-जल के समान है नीविबन्ध जिसका (नायिका) पति = (रक्षक-स्वामी पुरी, पाणिग्रहीता) आलिंगन के आदर से युक्त है—(निर्मित है) स्थिति जिसकी (नायिका)।

विस्तारि साल = प्राकार ही है विस्तृत जघन जिसका (पुरी), विस्तारी साल के समान है जघन जिसका (नायिका) परिवर्तमान = घूम रहे नक्षत्र ही हैं रत्नरशनागुण (करधनी) जिसकी (पुरी) नक्षत्र के समान हैं रत्नों की करधनी जिसकी (नायिका)। यहाँ जब नायिका रूपी अर्थ प्रतीत होता है तो श्लेष अभिव्यक्त होता है।

यत्र तु आवृत्तिनिबन्धनगन्धोऽपि न सम्भवति न तत्रार्थान्तरावगतिरिति वृथैव तत्र कवीनामुभयार्थपदोपनिबन्धप्रयासः, वाच्यावचनदोषदुष्टत्वात्। तत्र शब्दश्लेषे यथा—

'क्ष्माभर्त्तुरस्य विकटः कटकः सपीलु-
पालीकुलस्सहरिसैन्यशतावमर्दः।
लक्ष्मीं विलासघटनां नयति व्यपास्त-
नानाधिकामचरमागधराजितश्रीः॥' इति।

जहाँ आवृत्तिकारण की गन्ध भी सम्भव नहीं वहाँ दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता। इसलिये कवियों का उभयार्थक शब्दों के प्रयोग का प्रयास व्यर्थ होता है, कारण कि उनमें वाच्यावचन दोष होता है।

यथा—'घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽधैरथो मतः।'

इत्यसिद्धं विरोधस्य साक्षाच्छब्देनाप्रदर्शितत्वम्।

जहाँ प्रमदाएँ मातङ्गगामिनी—मातङ्ग = चाण्डाल के पास गमन करने वाली और मातङ्ग = हाथी के समान चलने वाली, और शीलयुक्त गौरी (पार्वती, गोरे रंग की) और विभव रत (भव से विरत, विभव = संपत्ति में रत) श्याम (साँवली, पोडशवर्ष की) और पद्मरागिनी (पद्मराग मणि के रंग की लालकमल पर रुचिपूर्ण) उज्ज्वल द्विजों (दाँत, ब्राह्मण) से शुचि (सफेद, पवित्र) मुंहवाली और मदिरा की गन्ध से युक्त निश्वासवाली। यहाँ 'च' शब्द द्वारा विरोध बतलाया गया, वह (च) भी अपि शब्द के समान विरुद्धार्थ का कथन करने में समर्थ माना गया है।

यथा—कर्ण—घृणी (दयालु है) साथ ही प्रमादी (असावधान है) इसलिये मैं उसे अर्धरथ मानता हूँ। इसलिये यहाँ विरोध का साक्षात् शब्द द्वारा न बतलाया जाना असिद्ध है।

विमर्श : ध्वनिकार ने 'यत्र च मातङ्गगामिन्यः—प्रमदाः' उदाहरण देकर कहा था 'अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम्, साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्याप्रकाशितत्वात्—(२।२१ वृत्ति—चौखंभासंस्करण के ध्वन्यालोक का पृष्ठ २४५) अर्थात् यहाँ इस उद्धरण में विरोधालङ्कार किसी शब्द द्वारा अभिधा से प्रतिपादित नहीं है।' व्यक्ति—विवेककार ने उसका विरोध किया। ध्वनिकार ने 'अपि' शब्द द्वारा विरोध को वाच्य माना है। व्यक्तिविवेककार 'च' को 'अपि' का पर्याय मानकर उससे भी विरोध को वाच्य बतला रहे हैं।

'खं येऽभ्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमधिक्षिप्ताब्जभासश्च ये।
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-
स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रियै सन्तु वः॥'

इत्यत्रोभयेषां पादानां व्यतिरेकोऽनुमेयस्तत्र चैषां भिन्नविशेषणत्वमेव हेतुः।

अभिन्नविशेषणत्वे हि निबन्धनसद्भावे सति सादृश्यमात्रं प्रतीयते न व्यतिरेकः, यथा—

'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीं दृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः॥' इत्यादौ।

'तम को नष्ट कर चुके जो 'ख' को खूब प्रकाशित करते हैं, और जो नखोद्भासी (ख आकाश को उद्भासित न करने वाले तथा नखों से चमकने वाले) हैं; जो सरोरुह की शोभा बढ़ाते हैं, और अब्ज—(कमल, चन्द्र) की कान्ति को तिरस्कृत करते हैं, जो क्षितिभृत् (पर्वत, राजा) लोगों के शिरों (शृङ्गों, मस्तकों) पर भासित होते हैं, और जो देवताओं के सिर पर भी (आक्रमण) चढ़ते हैं—दिनपति के वे दोनों पाद (किरण और चरण) आपके लिये श्रीजनक हों।

विमर्श : रक्तप्रसाधितभू, क्षतविग्रह और स्वस्थ शब्द के दो दो अर्थ हैं।

१-रक्त = अनुरक्त प्रसाधित = व्यवस्थित कर दी है भू जिन्होंने (ऐसे पाण्डव)।

२-रक्तसे = खून से सँवार दी है भू = पृथिवी जिन्होंने। (ऐसे कौरव)

१-क्षत हो गया है विग्रह—युद्ध या विरोध जिनका (ऐसे पाण्डव)

२-क्षत हो गये हैं विग्रह शरीर जिनके (ऐसे कौरव)

१-स्वस्थ—शरीर से ठीक (पाण्डव)

२-स्वस्थ—स्व-स्वर्ग में पहुँचे = मरे (कौरव)

नट के वचन से पहले भीम कौरवों के लिए पहला (कल्याणकारी) अर्थ अभिप्रेत समझते हैं, और क्रुद्ध होते हैं। सहदेव उन्हें दूसरा (अमांगलिक) अर्थ समझाते हैं। इस प्रकार दूसरा अर्थ सहदेव के कथन से स्पष्ट होता है।

कचित् पुनः प्रतीयमानार्थस्तदभिव्यक्तिनिबन्धनं भवति यथा—

'आलिङ्गनादरचितस्थितिराबभौ या पत्युर्विकासिपरिखाजलनीविबन्धा।
विस्तारिसालजघनं परिवर्त्तमाननक्षत्ररत्नरशनागुणमुद्वहन्ती ॥' इति।

अत्र तदुचितविशेषणसामर्थ्योपस्थापितो नायिकार्थः पत्युरालिङ्गनादरचितस्थितस्य श्लेषस्य।

कहीं प्रतीयमान अर्थ उस (श्लेष) का अभिव्यक्ति का कारण बनता है—जैसे 'विकासि-परिखा जलनीविबन्धा और पति के लिये आलिङ्गनादरचित स्थिति—जो परिवर्तमान-नक्षत्र-रत्न-रशना-गुण-विस्तारिसाल-जघन को धारण किये हुए सुशोभित हुई।' यहाँ—उस (नायिका) के योग्य विशेषण के आधार पर उपस्थित नायिका रूपी अर्थ पति के आलिङ्गनादरचित-स्थित श्लेष का (अभिव्यक्ति कारण है)।

विमर्श : विकासी परिखा-जल ही है नीविबन्ध जिसका-(पुरी), विकासि-परिखा-जल के समान है नीविबन्ध जिसका (नायिका) पति = (रक्षक-स्वामी पुरी, पाणिग्रहीता) आलिंगन के आदर से युक्त है—(निर्मित है) स्थिति जिसकी (नायिका)।

विस्तारि साल = प्राकार ही है विस्तृत जघन जिसका (पुरी), विस्तारी साल के समान है जघन जिसका (नायिका) परिवर्तमान = घूम रहे नक्षत्र ही हैं रत्नरशनागुण (करधनी) जिसकी (पुरी) नक्षत्र के समान हैं रत्नों की करधनी जिसकी (नायिका)। यहाँ जब नायिका रूपी अर्थ प्रतीत होता है तो श्लेष अभिव्यक्त होता है।

यत्र तु आवृत्तिनिबन्धनगन्धोऽपि न सम्भवति न तत्रार्थान्तरावगतिरिति वृथैव तत्र कवीनामुभयार्थपदोपनिबन्धप्रयासः, वाच्यावचनदोषदुष्टत्वात्। तत्र शब्दश्लेषे यथा—

'क्ष्माभर्तुरस्य विकटः कटकः सपीलु-
पालीकुलस्सहरिसैन्यशतावमर्दः।
लक्ष्मीं विलासघटनां नयति व्यपास्त-
नानाधिकामचरमागधराजितश्रीः ॥' इति।

जहाँ आवृत्तिकारण की गन्ध भी सम्भव नहीं वहाँ दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता। इसलिये कवियों का उभयार्थक शब्दों के प्रयोग का प्रयास व्यर्थ होता है, कारण कि उनमें वाच्यावचन दोष होता है।

मधुसूदन मिश्र ने 'वियोगदशाः' में 'दशाः' शब्द को अधिक माना है क्योंकि विहगों के लिए 'विहगसंघाः' आदि शब्द न देकर केवल विहगाः शब्द ही दिया गया है। वस्तुतः दशा शब्द प्रधान विशेषण नहीं है जिसकी कमी या अधिकता पर श्लेष में दोष माना जाय। फिर दशा शब्द समूह वाचक नहीं है जिससे विहग में भी 'संघ' आदि किसी शब्द की योजना की जाय। दशा तो शृंगार में वियोग काल की विशेष वस्तु है। इस प्रकार तो न्यूनता के उदाहरण 'इह चटुलतया विलोचनौघैः' में भी ओघशब्द अधिक है और मधुकर में कम। वहाँ भी उक्त महाशय को ऐसी ही दोष संगति दिखलानी थी। उन्होंने निजको साहित्यार्णवकर्णधार' ठीक ही कहा है। भला कर्णधार 'आपातालनिविष्ट'—मन्थाचल का कार्य कैसे कर सकता है। उसमें तो 'साहित्यरत्नाकरमन्थशैल' ही समर्थ है।

किञ्चात्र शब्दश्लेषे न कर्तृकर्मादिप्रधानार्थपदोपनिबन्धेन शब्दसादृश्यमुपकल्पनीयं प्रधानस्वरूपापहारप्रसङ्गात्। तत्र कर्तुः स्वरूपापहारो यथा—

'इह विबुधगजस्य कर्णतालस्खलनसमीरविधूतकुम्भधातोः।
वहति मदनदीपरागरक्ता रतिगृहभित्तिरिव श्रियं परार्ध्याम्॥' इति।

प्रधान का स्वरूप मिटने के भय से शब्द श्लेष में कर्ता, कर्म आदि प्रधानार्थक शब्दों को देकर शब्द सादृश्य की कल्पना करनी चाहिए। इनमें—

कर्त्ता के स्वरूप का परिहार, जैसे—

'कर्णताल के हिलाने से उत्पन्न हुई हवा के द्वारा सिर पर लगी धातु (गैरिक आदि) को मिटा चुके विबुधगज (ऐरावत) की मदनदी पराग से रंगी मदनदीप के राग से लाल रतिगृह की भित्ति के समान उत्कृष्ट शोभा धारण करती है।

विमर्श : यहाँ मदनदी कर्त्ता है। वह उपमान पक्ष में लुप्त हो जाता है। अतः उसे स्वतन्त्र शब्द द्वारा बतला दिया जाना चाहिये।

यथा च—

'सङ्ग्रामनाटककुतूहलिनां तदानीमुत्थापनेन दधतो मुदमुत्तमानाम्।
विस्पष्टभाण्डरुचयोऽतिविचित्ररूपां लक्ष्मीं दधुर्जवनिकामहितास्तुरङ्गाः॥' इति।

और जैसे—संग्रामरूपी नाटक में कुतूहलपूर्ण उत्तम लोगों के घोड़ों ने शोभा धारण की जो अतिविचित्ररूप की थी, वे उत्थापन से अधिक प्रसन्नता धारण किये हुए थे, उनके भाण्ड (अश्व अलङ्कारों) की कान्ति स्पष्ट थी, और वे जवनिका (चाल या पीठ पर पहनाया गया कपड़ा) में प्रशस्त थे।

विमर्श : यहाँ घोड़ों पर नटों का आरोप है। दोनों में विशेषण योजना इस प्रकार है—

अतिविचित्ररूप—रूप = वेश भाँति भाँति के अद्भुत वेश।

उत्थापन—स्थापना आदि अथवा उत्तम सहृदयों के बढ़ावे से प्रसन्न हो रहे। घोड़ों का उत्थापन—पैर ऊपर उठाना या चलने के लिये तैयार होना।

भाण्ड—अश्वालंकार, अश्वघोष ने—अश्ववर्णन में उसके आभूषणों के लिये भाण्ड शब्द का प्रयोग किया है—

किसी कारण का उपादान किये, दूसरे अर्थ का बोध कराने के लिये कवि की श्लेषयोजना दुःखदायी ही होती है।

समयस्मृतिः **सङ्केतस्मरणम्।**

असिद्धमेकत्वमि**ति। ततश्च नायं तन्त्रादेर्विषयः।** तत्त्वम् **एकत्वम्।**

अव्ययानव्ययात्मकमि**ति। अव्ययमिवादिः। अनव्ययं सदृशादिः।**

समयस्मृतिः—संकेतस्मरण।

असिद्धमेकत्वम्—इसलिये यह तन्त्रादि का विषय नहीं।

तत्त्वम्—एकत्व।

अव्ययानव्ययात्मक—अव्यय इव आदि। अनव्यय—सदृशादि।

धर्मार्थस्य यथा—

'प्रकटकुलिशकुन्तचक्रभास्वत्परवलभीहितमत्तवारणाङ्काः।
दिशि दिशि ददृशे निशान्तपङ्क्तिः समरविमर्दभुवं विडम्बयन्ती॥'

अत्र व्यतिरेकालङ्कारनिबन्धना श्लेषाभिव्यक्तिः।

धर्मार्थक (शब्द) की (श्लेष से अभिन्नता) जैसे—

प्रत्येक दिशा में निशान्त (अन्तःपुर) की पीत युद्धसंघर्ष की भूमि की विडम्बना (अनुकरण, भर्त्सना) करती दिखाई दी। 'प्रकटकुलिशकुन्तचक्रभास्वत्परवलभीहितमत्तवारणाङ्का' थी (प्रकट आदि विशेषण का अर्थ नीचे व्याख्यान में देखिए)।

यहाँ व्यतिरेकालंकार से श्लेष अभिव्यक्त होता है।

धर्मार्थस्ये**ति श्लेषादभिन्नत्वमिति योज्यम्।** प्रकटेति **कुलयश्चटकाः तदुक्तम्—'कुलिः कुलिङ्गश्चटक' इति, ते च ते शकुन्ताः शकुनयः तेषां चक्रेण समूहेन भास्वतीनां वलभीनां हिताः अनुरूपा मत्तवारणाः अङ्कः चिह्नं यस्याः, निशान्तोऽन्तःपुरम्। विडम्बयन्ती उपहसन्ती। समरभूपक्षे कुलिशं वज्रम्, कुन्ताः प्रासाः, चक्राणि अराणि, तैर्भास्वद्भिः। व्यतिरेको विडम्बयन्तीति प्रकाशितः। प्रकटेत्यादौ च विशेषणभागेऽत्र श्लेषः।**

धर्मार्थस्य = इसकी श्लेष से अभिन्नता—ऐसी योजना कर लेनी चाहिए।

प्रकट—कुलि = चटका—गौरैया (चिड़िया) जैसा कि कोष में है, 'कुलिः कुलिङ्गश्चटकः' वे ही शकुन्त—चिड़िया, उनके चक्र समूह से भासित हो रही वलभी के हित = अनुरूप जो मत्तवारण रूप अंक = चिह्न है। जिसमें ऐसी निशान्तः—अन्तःपुर (की पंक्ति) विडम्बयन्ती—हँसती हुई।

समरभूमिपक्ष में—कुलिश = वज्र, कुन्त = भाला (प्रास), चक्र = अर—चके, भासित होने वाले इनसे।

विडम्बयन्ती—कहकर व्यतिरेक बतलाया।

प्रकट—इत्यादिविशेषण भाग में यहाँ श्लेष है।

यथा च—

'उषसि विगलितान्धकारपङ्कप्लवशबलं घनवर्त्म दूरमासीत्।
मधुरतरणितापयोगतारं कमलवने मधुपायिनां च पङ्क्तिः॥' इति।

अत्र चशब्दः श्लेषाभिव्यक्तिहेतुः।

समासोक्तिश्लेषभङ्गिभ्यामेव—समासोक्ति द्वारा 'अलकालि'—आदि में। श्लेष द्वारा 'भैरवाचार्य' इत्यादि में।

नोपमया—अलकालि आदि में उपमा-श्लेषोपमा। और वाच्यार्थ इत्यादि में उपमेयोपमा। अत्र समासोक्तिश्लेषभङ्गिभ्यामेव' इस ग्रन्थ के अनुसार—

'रूपकस्य विषये उपमाया यथा' इत्यादि ग्रंथ प्रक्षिप्त दिखाई देता है। क्योंकि यहाँ रूपक का उपसंहार नहीं हुआ। इस पक्ष में 'उक्तदोषद्वययोगानुपपत्तेः' इस पूर्वोक्त ग्रन्थ का समन्वय नहीं हो पाता। इसलिए कुछ आदर्श प्रतियों में यह पाठ भी है। प्रक्षेप न मानने पर यहाँ रूपक—ग्रहण करना होगा। इसलिए या तो वह ग्रन्थांश हटा देने योग्य है या यही ग्रंथ प्रक्षेपयोग्य है। 'उक्त-दोषद्वय' यह प्रकृत प्रसङ्ग के औचित्य पर हमने स्पष्ट किया।

ते हि तत्सिद्धि—रसबन्ध सिद्ध हो जाने पर अलंकार अपने आप सिद्ध हो जाते हैं। निष्पादकत्व का अर्थ यहाँ अनुमापकत्व है, इसलिये भरतसूत्र में—'रसनिष्पत्ति' यहाँ 'रसानुमिति' यह व्याख्या करनी चाहिये।

तद्वैचित्र्यम्—विभावादिका वैचित्र्य।

तदाश्रयाः—परम्परा द्वारा आश्रय अर्थात् रसानुभव के हेतु।

तेनैषाम्—कवि को अर्थ में चारुत्व प्रधानरूप से—(तात्पर्यरूप से) निष्पन्न करना होता है, अलंकारों का प्रयोग नहीं। अलंकार चारुत्व से नित्य सम्बद्ध नहीं रहते हैं, अतः गौण होते हैं। इसलिये उन अलंकारों की योजना ऐसी करनी चाहिये जिससे चारुत्व आ सके। उसके लिए—(अलंकारों का) आदान और परित्याग भी किया जाता है।

शंका = कहाँ आदान और परित्याग द्वारा अलंकारों में परस्पर विशेषता बतलाई जा रही है। और पहले 'न ह्यस्ति निजे' इत्यादि द्वारा विशेषता का अभाव बतलाया गया है। यहाँ विरोध क्यों नहीं ? उत्तर = ऐसा नहीं। पहले अव्यवधान को मन में रखकर विशेषता का अभाव बतलाया गया। यहाँ विशेषता बतलाई गई है विभावादि के उपकरण रूप से प्रयुक्त होने के कारण। वैसा होने पर अलंकारों में गौरव या लाघव आ जाते हैं। अतः अपेक्षाभेद होने से कोई भेद नहीं।

कैश्चित्—वामन आदि ने।

विमर्श : व्यक्तिविवेक के प्राचीन चौखम्भा संस्करण में अनुमापकत्व की जगह अनुभावकत्व छपा है।

अधुना यत् प्रतिज्ञामात्रेण प्रतिपादितं यथा 'शब्दस्य शक्त्यन्तराभावाद् व्यञ्जकत्वं न सम्भवती'ति तद्वाच्यावचनोदाहरणत्वोपयोगि—श्लेषप्रसङ्गेनोपपादयितुमासूत्रयति—

अब पहले जो केवल प्रतिज्ञामात्र से बतलाया गया था कि शब्द की दूसरी शक्ति न होने से व्यञ्जकता सम्भव नहीं—उसी को इस प्रकार के श्लेष-प्रसङ्ग से उपपन्न करने के लिये लिखते हैं—'स च' आदि जो वाच्यावचन का उदाहरण माना जा सकेगा।

स चायं द्विविधः श्लेषः शब्दार्थविषयतयोच्यते। तत्र शब्दविषयो यथा–

यत्रान्यूनातिरिक्तेन सादृश्यं वस्तुनोर्द्वयोः।
शब्दमात्रेण कथ्येत स शब्दश्लेष इष्यते ॥ ८१ ॥
स शब्दैः कर्तृकर्मादिप्रधानार्थाविनाकृतैः।
निबद्धो धर्मिधर्मार्थैर्द्विविधः परिकीर्त्तितः ॥ ८२ ॥

वह किसी दूसरे ही अर्थ की प्रतीति कराता जाता है—इसलिए श्लेष की अभिव्यक्ति के लिए कोई कारण दिया जाना चाहिए।

तत्र धर्म्यर्थस्य श्लेषादभिन्नत्वं यथा—

'अत्रान्तरे फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासः कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानो महाकालः।' इति।

अत्र हि समासोक्तिनिबन्धना देवताविशेषवाचिनो महाकालशब्दस्यावृत्तिः, न तु तस्यैवोभयार्थत्वनिबन्धनेति वक्ष्यते।

उनमें धर्म्यर्थक (शब्द की) श्लेष से अभिन्नता यथा—

'इस बीच कुसुमसमययुग का संहार करता हुआ फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहास ग्रीष्म नामक महाकाल विकसित हुआ।' यहाँ देवताविशेष—(रुद्र) वाची महाकालशब्द की समासोक्ति द्वारा आवृत्ति होती है, न कि उभयार्थकता के कारण उसी (श्लेष) की—जैसा कि आगे चलकर कहेंगे।

अत्रान्तरे **इति फुल्लमल्लिकाभिर्धवला येऽट्टास्त्रिपुरचतुष्पुरमहाप्राकारा आपणा वा तैः विकासो हासो यस्य तद्वच्च धवलाट्टहासो यस्य। कुसुमसमययुगं मासद्वयं रम्यत्वेन तत्सदृशं च युगं कृतादिमुपसंहरन्** अजृम्भत **विकसितवान्** व्यक्ताननश्चाभूद् **महाकालो दीर्घसमयः संहर्तृदेवताविशेषश्च।** समासोक्ति**रिति। महाकाल इत्यत्र महासमय इत्यक्लिष्टे विशेष्यपदे प्रयुक्ते विशेषणसाम्यादेव देवताविशेषप्रतीतेः समासोक्तिर्भवन्ती महाकालशब्दस्यावृत्तौ प्रमाणम्। नचात्र महाकालशब्दे प्रयुक्ते प्रयासः कश्चित्। येन 'अलकालिकुले'तिवत् समासोक्त्या श्लेषस्य वैयर्थ्यं शङ्क्येत।**

अत्रान्तरे फुल्लमल्लिकाओं द्वारा धवल जो अट्ट अर्थात् त्रिपुर (तीन मंजिल) चतुष्पुर (चार मंजिल) के बड़े विशाल प्राकार या बाजार उनके द्वारा, विकसित होना ही है हास जिसका और उनके समान है हास जिसका।

कुसुमसमययुग—वसन्त का दो महीने का समय, रम्यतारूप साधारण धर्म से कृतयुग आदि भी, उन्हें समाप्त करता हुआ अजृम्भत—विकसित हुआ और मुख फैलाया। महाकाल—लम्बा समय और एक संहारक देवता।

समासोक्ति 'महाकाल'—इसकी जगह 'महासमय' इसी सरल विशेष्यशब्द का प्रयोग करने पर देवताविशेष की प्रतीति विशेषणों की समता से ही हो जाती। उससे समासोक्ति होती और महाकाल शब्द की आवृत्ति भी। महाकाल शब्द का प्रयोग करने में कोई प्रयास भी नहीं है जिससे 'अलकालिकुल०'-इत्यादि पद्य के समान समासोक्ति द्वारा श्लेष की व्यर्थता साबित हो।

निबन्धनाभावे तु तस्य दुष्टतैव यथा—

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गामाक्रम्य च स्थितमुदग्रविशालशृङ्गम्।
मूर्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेनमुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते गिरीशम् ॥'
इति।

कारण के अभाव में तो वह दुष्ट ही होता है। यथा—अच्छादितायत—। (श्लोक का अनुवाद व्याख्यान के अनुवाद से स्पष्ट है)

ये दो दोष प्रायः समासविषयक माने जाते हैं। क्योंकि केवल लक्षणमात्र में जुटे रहने वाले और प्रतीति से विमुख रहने वाले कवि समासों में कचरे-कूड़े जैसे इस प्रकार के अनेक शब्द भर दिया करते हैं। इसीलिए तो समास को कवियों की कसौटी कहा जाता है ॥ ६०–६१ ॥

दोषद्वयं 'प्रयुक्ते'ति 'कर्त्तरी'ति च प्रतिपादितम्। ते इति समासाः ॥ ६०–६१ ॥

दोषद्वय = अर्थात् 'प्रयुक्तानुगतैः' इत्यादि द्वारा प्रतिपादित तथा 'कर्त्तर्यङ्गिनि' द्वारा प्रतिपादित। ते = वे अर्थात् = समास।

वृत्तावितरथा चोक्ते नान्यभाजि विशेषणे।
विशेष्योक्तिरयुक्तैव स्यात् तदव्यभिचारतः ॥ ६२ ॥

समास या वाक्य किसी में भी ऐसे विशेषण का, जो विशेष्य को छोड़कर और कहीं न लगता हो, कथन होने पर विशेष्य का कथन ठीक नहीं होता।

क्योंकि उस विशेषण से ही विशेष्य प्रतीत हो जाता है।

दोनों में व्यभिचार (एक दूसरे से अलग रहना) भी नहीं रहता।

वृत्ताविति। समासे वाक्ये वा असाधारणं यत्र विशेषणं तत्र विशेष्यं न वाच्यं यथा 'दुःखानुभवे'त्यादौ ॥ ६२ ॥

वृत्ताविति—समास या वाक्य में जहाँ विशेषण में असाधारणता हो विशेष्य का कथन नहीं होना चाहिए—जैसे 'दुःखानुभव' इत्यादि में हुआ है।

यो यदात्मा तदुक्त्यैव तस्यार्थस्य गतिर्यतः।
तेन प्रयोजनाभावे द्वयोक्तिः पुनरुक्तिकृत् ॥ ६३ ॥

जो (बाष्पादि) जिस (जल आदि) स्वरूप का होता है उस (जल आदि) के कह देने से वह (बाष्पादि) प्रतीत हो जाता है, इसलिए यदि कोई प्रयोजन न हो तो दोनों कथन पुनरुक्ति-जनक होता है।

यो यदात्मेति। बाष्पादेर्जलादिरूपत्वाव्यभिचारात् प्रयोजनाभावे जलादिपदप्रयोगो न कार्य इत्यर्थः। यथा 'नयने बाष्पवारिणे'त्यादौ ॥ ६३ ॥

यो यदात्मेति—बाष्पादि नियमतः जलादिरूप ही होते हैं इसलिए निष्प्रयोजन जलादि पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जैसे कि 'नयने बाष्पवारिणा'—इत्यादि में हुआ है।

यो यस्य नियतो धर्मस्तस्य तेन न धर्मिणा।
समासः शस्यतेऽन्यार्थस्तत एव हि तद्वृत्तेः ॥ ६४ ॥

जो धर्म जिस अर्थ में नियमतः रहता हो तो उस (अर्थ) के साथ उस (धर्म) का समास अच्छा नहीं माना जाता, क्योंकि समास अन्य (सादृश्य आदि) अर्थ के लिए होता है, और इसीलिए वह पदों में ही पाया है ॥ ६४ ॥

यो यस्येति यो निष्यन्दनादिः यस्य चन्द्रकान्तादेर्धर्मिणोऽव्यभिचारो धर्मः, तयोः समासो न प्रशस्यते, यथा 'द्विपद्धधूलोचने'त्यादौ। अन्यार्थ इति। साधर्म्यार्थ इत्यर्थः ॥६४॥

विहितस्य बहुव्रीहेः कर्मधारयशङ्कया।
शब्दस्य मत्वर्थीयादेर्व्यक्तैव पुनरुक्तता ॥ ५१ ॥

बहुव्रीहि करके कर्मधारय के भ्रम में ऊपर से मत्वर्थीय आदि प्रत्यय जोड़ने से हुई पुनरुक्ति तो स्पष्ट ही है ॥ ५१ ॥

विहितस्येति। **वस्तुवृत्त्या स्थितस्य बहुव्रीहेर्या कर्मधारयशङ्का तया मत्वर्थीयादिः शब्दः कृतो बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्त इत्यादौ। तस्य स्फुटं पौनरुक्त्यं वृत्तिद्वयस्य गौरवात् ॥ ५१ ॥**

वास्तविक रूप से स्थित बहुव्रीहि के विषय में जो कर्मधारय की आशङ्का उससे शब्द द्वारा मत्वर्थीय आदि प्रत्ययों का विधान। जैसे 'बिसकिसलयच्छेद पाथेयवन्तः'—आदि में। वहाँ पौनरुक्त्य स्पष्ट है क्योंकि दो वृत्तियों (समासवृत्ति और कृद्वृत्ति) के होने से गौरव होता है।

यस्मिन् यत्तद्धितोत्पत्तिरर्थस्तेनैव जातुचित्।
न तदन्तः समस्येत तद्धितव्यर्थताभयात् ॥ ५२ ॥

किसी (पद) में अर्थ जिस किसी तद्धित से निकल रहा है तो उस (तद्धित) से युक्त उस (पद) का (उस अर्थ के वाचक पद के साथ) समास कदापि नहीं होना चाहिए। ऐसा करने से तद्धित के व्यर्थ होने का भय रहता है ॥ ५२ ॥

यस्मिन्निति **'जाम्बवपल्लवानी'त्यादौ यस्मिन् पल्लवशब्द इत्यर्थः।** अर्थः **इदन्त्वलक्षणः।** यत्तद्धितोत्पत्तिः **यस्मादण्प्रत्ययाख्यात् तद्धितादुत्पत्तिः प्रतीतिविषयत्वापत्तिर्यस्यार्थस्य, तदन्तस्तद्धितप्रत्ययाख्यान्तो जाम्बवशब्दादिः,** तेनैव **पल्लवशब्देन न समसनीयः, जम्बूपल्लवानीति समासेन गतार्थत्वात् तद्धितवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ॥ ५२ ॥**

यस्मिन् = 'जाम्बवपल्लव' इत्यादि स्थलों में पल्लव शब्द।

अर्थ = इदन्त्वस्वरूप ('जम्ब्वोरिदं जाम्बवम्'—इस प्रकार)

यत्तद्धितोत्पत्तिः जिससे अर्थात् अण् (जाम्बव शब्द में) प्रत्यय रूपी तद्धित से उत्पत्ति अर्थात् प्रतीतिविषय (ज्ञात) होना संभव हो जिस अर्थ का, तदन्त = वह तद्धितप्रत्यय हो अन्त में जिसके जैसे जाम्बव आदि शब्द उसका तेनैव (जिसके अर्थ में तद्धित प्रत्यय का विधान जम्बू शब्द से किया गया) उसी पल्लवशब्द के साथ समास नहीं करना चाहिए, क्योंकि (तद्धित का अर्थ) 'जम्बूपल्लव' इस प्रकार समास करने से ही व्यक्त हो जाता है, फलतः तद्धितप्रत्यय निरर्थक सिद्ध होता है।

विशेषणवशादिच्छेद् विशिष्टं यत्र संज्ञिनम्।
युक्ता तत्र विशेष्योक्तिरन्यथा पौनरुक्त्यकृत् ॥ ५३ ॥

जहाँ विशेष्य को विशेषण द्वारा विशिष्ट रूप से उपस्थित करना हो वहाँ विशेष्य का कथन ठीक होता है, नहीं तो उससे पुनरुक्ति होती है ॥ ५३ ॥

विशेषणवशादिति। **पिनाकपाण्यादिविशेषणमाहात्म्यात्।** विशिष्टमुत्**कर्षापकर्षवन्तं संज्ञिनं हरादिकं** यत्रेच्छेत् **न तत्र पौनरुक्त्यम्। अन्यथा तु पौनरुक्त्यम्। यथा 'पायात् स शीतकिरणाभरणो भवो व' इत्यादौ ॥ ५३ ॥**

भाग में क्षत (घाव) युक्त देखा और सोचा कि वह कामुक ऐसी घटना को सह नहीं सकता तो उस सखी के अन्यकृत भोग की शंका के कलंक को दूर करने के लिये उपालम्भ के बहाने अधरव्रण को और किसी कारण से उत्पन्न बतलाने के लिये यह कहती है। इस कथन में व्याप्ति-कथन है—'प्रत्येक कामुक के लिए अपनी प्रिया के घायल प्रियाधर का दर्शन ईर्ष्याजनित प्रकोप का कारण होता है।'

'तुझे मना करने पर और उलटी चलने वाली और भौंरे युक्त कमल को सूँघने वाली के अधर में घाव हुआ—यह पक्ष में धर्म (हेतु) का कथन हुआ।'

'अब तू अपनी धृष्टता का फल 'प्रिय का रोष' सह' यह हुआ निगमन। इस प्रकार वाच्यार्थ में आया साध्यसाधनभाव तो साफ है। अनुमेय अर्थ के विषय में—जो साध्यसाधनभाव है उसमें परपुरुष शंका का निरास (हटाना) साध्य है। उसमें जो हेतु दिया गया है वह आर्थ है। वह—संबोधन द्वारा बतलाया गया है। संबोधन का अर्थ है—भौंरे से युक्त कमल को सूँघने के शौकीन'। इसमें 'अधर के क्षतियुक्त होने का कारण और ही कोई है' यही है (उस अनुमेयार्थ के प्रति) हेतु। साध्य और साधन (हेतु) का व्याप्ति-संबंध अनुरागियों में अपने अनुभव से सिद्ध है।'

यहाँ प्रतीति दोनों की होती है वाच्य की भी—और अनुमेय की भी। परंतु वाक्यार्थ की विश्रान्ति अनुमेय में ही होती है; वाच्य में नहीं, कारण कि वाच्य अनुमेय का अंग है ऐसा कहा जा चुका है।

'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥' इति।

अत्र शूरादीनां त्रयाणां सर्वत्रैव स्वाधीनाः सम्पदो भवन्तीति साध्यम्। तत्र सुवर्णपुष्पपृथिवीचयने कर्तृत्वाभिधानं तेषां हेतुः।

तद्धि मुख्यमनुपपद्यमानं वाक्यार्थोपचारवृत्त्या तत्सदृशमेव सर्वत्र सुलभविभवत्वमनुमापयति यथा पदार्थोपचारे गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गाशब्दो गङ्गासमीपवर्त्तिनं तटम्।

द्विविधो ह्युपचार इष्टः, पदार्थवाक्यार्थविषयत्वात् उपचारे च वाच्यस्योपायत्वात् अप्राधान्ये सत्यविवक्षितत्वमेव भवति, उपचारविषयस्यैवोपेयतया प्राधान्यात्। तयोश्च प्रसिद्धिकृत एवाविनाभावनियमोऽवगन्तव्यः, साध्यश्चानुमेय एव, न वचनगोचरतां गच्छतीत्युक्तम्।

सोना फूलती धरती को बटोरते हैं तीन लोग शूर, विद्वान् और सेवा की कला जानने वाला।'

यहाँ साध्य है—'शूर आदि तीन लोगों के लिये सम्पदाएँ सदा स्वाधीन रहती हैं।' उसमें हेतु है सुवर्णपुष्पा पृथिवी के बटोरने में उन (शूर आदि) को कर्त्ता बतलाना। वह (सुवर्णपुष्पा पृथिवी का बटोरना) मुख्य (बटोरने) रूप में तो बनता नहीं, इसलिए उपचारवृत्ति (लक्षणा) से (शूर आदि) सब में वैभव की सुलभता का अनुमान कराता है। यह (उपचार) वृत्ति यहाँ वाक्यार्थ में होती है। ठीक वैसे ही जैसे पदार्थ के उपचार के स्थान 'गङ्गा पर घर' में गंगा शब्द गंगा के पास के तट का अनुमान कराता है।

उपचार दो प्रकार का मान्य है, पदार्थविषयक और वाक्यार्थविषयक। उपचार में वाक्य उपाय (हेतु) होता है। अतः वह अप्रधान होने से विवक्षाविषयक नहीं होता। उपेय (साध्य) वही

होता है जिसमें उपचार किया जाता है (तट आदि), और वही प्रधान (भी) होता है। उनका जो अविनाभावसम्बन्ध है वह लोकप्रसिद्धि से सिद्ध है और जो साध्य होता है वह अनुमेय ही होता है उसे शब्द से नहीं कहा जाता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है।

'शिखरिणि क नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
तरुणि ! येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥' इति।

अत्र त्वदधरपल्लवपरिचुम्बनामृतं नाल्पपुण्यः पुमानासादयतीति चाटुकरूपोऽर्थः साध्यः। तत्सादृश्यलवावलम्बिनो बिम्बफलस्यापि परिखण्डनविधौ शुकशावकस्य लोकोत्तरतपःपरिणामशालित्वसमारोपो हेतुः।

यत्र खलु यत्सादृश्यसद्भावमात्रभाजो भावस्य पुण्योपचयपरिश्रमपरिप्रापणीयत्वमाशङ्क्यते तत्र तस्य तत्सम्बन्धिनो मुख्यस्यैव तत् कथं नावगम्यते। तस्मादत्रापि साध्यसाधनभावगर्भतैवोपपन्नेति सिद्धम्।

'कौन से पहाड़ पर कितने दिनों तक किस नाम का तप किया है इसने कि हे तरुणि ? यह तोते का बच्चा तुम्हारे अधर के समान पाटल (श्वेतरक्त) बिम्बफल को डँस रहा है।'

यहाँ 'जो अधिक पुण्यात्मा होता है वही तुम्हारे अधरपल्लव के चुम्बनामृत को पाता है यह चाटुरूप अर्थ साध्य है। हेतु है—'अधर के समान बिम्बफल के काटने में शुकशावक के ऊपर अद्भुत अलौकिक तप के फल से युक्त होने का आरोप।' जहां वस्तु के केवल सादृश्य से युक्त वस्तु को राशि राशि पुण्य जोड़ने के श्रम से लभ्य बतलाया जा रहा हो वहां स्वयं उस वस्तु में वह (पुण्यातिशय से लभ्य होना) क्यों नहीं जाना जा सकता। इसलिए यहां भी वाक्यार्थ में साध्यसाधनभाव है ही।

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि ! धीरा भव॥' इति।

अत्र मदनदहनोद्दीपनचन्द्रोदयोद्यानादिदारुणपदार्थसार्थदर्शनदुःखसहिष्णुत्वं नाम रामस्य साध्यम्। तत्र च रामत्वमेवार्थो हेतुः।

रामशब्दो ह्ययं स्वेच्छापरिकल्पितप्रकरणाद्यवसेयसकलक्लेशभाजनत्वलक्षणधर्मविशिष्टं संज्ञिनं प्रत्याययति न संज्ञिमात्रम्। तयोश्च व्याप्यव्यापकभावलक्षणः सम्बन्धः प्रसिद्धिकृतोऽध्यात्मप्रसिद्ध एवावगन्तव्यः, यथा वृक्षशिंशपयोः।

यच्च तदनुमितं धर्मान्तरं तत् सर्वसहत्वस्योपात्तस्य साधनं, न रामत्वमेवेत्यनुमितानुमेयं तत्। एवमस्मीत्यस्मदर्थे धर्मिणि रामत्वमात्रनिबन्धनायां सकलक्लेशभाजनत्वलक्षणसाध्यधर्मसिद्धौ स्फुट एवास्यानुमानान्तर्भावः। ततश्च रामस्य यत् कठोरहृदयत्वाभिधानं तत् पुनरुक्तमेव, अनुवादपक्षस्यातितुच्छत्वात्।

'भले ही—मेघ चिकनी और श्याम आभा से आसमान लीपें; उनमें बगुलों की पांत भी जुड़ती रहें, फुहारे लेकर हवा के झोके बहें, मेघों के मित्रों (मयूरों) की आनन्द से भरी सुन्दर केका कूजें, (परन्तु) मैं तो राम हूँ, कठोर हृदय वाला, सब कुछ सह लूँगा। परन्तु, हाय-हाय सीता का क्या होगा। हे देवि ? तुम भी धीरज रखना।' यहां—राम द्वारा कामाग्नि को बढ़ाने वाले चन्द्रोदय, उद्यान आदि दारुण पदार्थों के देखने के दुःख को सहना साध्य है। यहाँ रामत्व ही हेतु है, वह आर्थ है। यह जो राम शब्द है वह केवल संज्ञावान् को नहीं बतलाता, अपितु उस संज्ञावान् को बतलाता है जिसमें अपनी इच्छा से कल्पित प्रकरणादि द्वारा समझ में आने वाला—'क्लेशभाजनत्व'—रूप धर्म का बोध होता है। उन (रामत्व और क्लेशसहत्वरूप धर्मों) का व्याप्यव्यापकभाव रूप सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है, अर्थात् वह अध्यात्म (स्वानुभूति) प्रमाण से ही सिद्ध है। ठीक वैसे ही जैसे वृक्ष (सामान्य) और (उसका कोई एक भेद) शिंशपा (शीशम) आदि का।

जो (सकलक्लेशसहिष्णुत्व) दूसरा धर्म उस (रामत्व) से अनुमित हो रहा है वह शब्दतः कथित सर्वसहिष्णुता का साधक हेतु है; इस प्रकार केवल रामत्व ही (वियोगदुःखसहिष्णुत्व रूप धर्म का) अनुमापक नहीं है,—अपितु रामत्व से अनुमित (क्लेशभाजनत्व) धर्म भी उसका अनुमापक है, अतः वियोगानुभवसहिष्णुता धर्म अनुमित अर्थ द्वारा अनुमित होता है।

इसी प्रकार 'अस्मि' यहाँ अस्मद् शब्द का अर्थ (मैं धर्मी) है। उसमें केवल 'रामत्व' से सब प्रकार के दुःखभाजनत्व (रूपी) धर्म की सिद्धि होती है। अतः स्पष्ट रूप से ही इसका अनुमान में अन्तर्भाव है। और राम की कठोरहृदयता का जो कथन है वह पुनरुक्त है। ऐसा करने से अनुवाद पक्ष ('कठोरहृदय मैं सब कुछ सह सकता हूँ।—इसमें जो कठोरहृदय मैं अनुवाद्यांश है वह) अति हेय हो जाता है। (क्योंकि वह सदोष हो जाता है)।

विमर्श : 'राम वियोग को सह सकते हैं यह है—तात्पर्यभूत अनुमेय। उसका हेतु है—रामत्व और ऐसा रामत्व जिसमें सर्वविधदुःखसहिष्णुत्व का अनुमान होता है और यह अनुमित धर्म भी रामत्व के साथ-साथ वियोग सहने की क्षमता का अनुमान कराता है, अतः वियोग-दुःख को सहने की क्षमता अनुमित अर्थ से अनुमित होती है, वह अनुमितानुमेय है। 'सर्वविधदुःखसहिष्णुत्व' धर्म की एक विशेषता यह भी है कि वह अनुमित वियोगसहिष्णुत्व के साथ ही—'सर्वं सहे' इस प्रकार कथित सर्वसहिष्णुता का भी हेतु है।

'ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति।
रइकिरणाणुग्गहिआइ होन्ति कमलाइ कमलाइ॥'

[तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि]

इत्यत्राद्यस्तावत् कमलशब्दः सामान्यवृत्तिर्द्वितीयो विशेषवृत्तिः। स चास्य विशेषो निरतिशयशोभाभिरामतालक्षणोऽर्थः प्रकरणादिगम्यो रविकिरणानुग्रहकृतः प्रमाणान्तरसिद्धस्सामान्यनिष्ठोऽनुमेयः। तत्र च तयोः सामान्यविशेषार्थयोर्विजातीययोरिव सजातीययोरप्यारोप्यारोपकभाव एव हेतुः, यथा सिंहो माणवक इति।

न च भिन्नजातीयत्वमेवार्थानामारोपनिबन्धनमिति नियमः सम्भवति

येनात्र सजातीयत्वादसौ न स्यात् तस्य भिन्नार्थमात्रप्रयुक्तत्वात्। तच्चानयोरुक्तनयेनास्त्येवेति नासिद्धो हेतुः।

सामान्यविशेषवृत्तित्वं चेदं शब्दानां विवक्षामात्रनिर्मितमिति न तस्य पूर्वपश्चाद्भावनियमः कश्चित्। ततश्च—

'एमेअ जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाइ ससिम्बिबम्।
परमत्थविआरे उण चन्दो चन्दो विअ वराओ॥'
[एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम्।
परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराकः]

इति विपर्ययेणापि तदुपपद्यत एव। एवञ्चास्याप्यनुमानान्तर्भाव एवावगन्तव्यः।

'गुण तब गुण होते हैं जब उन्हें सहृदयों द्वारा मान्यता दी जाती है। सूर्यकिरणों से अनुगृहीत होने पर ही कमल-कमल (होते हैं)। यहां प्रथम कमल शब्द साधारण कमल का वाचक है और दूसरा कमल विशेष कमल का (वाचक है)। कमल का यह जो विशेष धर्म है वह है—लोकोत्तर शोभा और सुगन्ध से सुन्दर होना। वह प्रकरण आदि से प्रतीत होता है, उसकी उत्पत्ति रविकिरणों के अनुग्रह से होती है। अतः वह लोकप्रमाण से ही सिद्ध है। फलतः वह अनुमेय है। सामान्य और विशेष दोनों अर्थ हैं सजातीय किन्तु विजातीय के समान उनका आरोप्यारोपकभाव बतलाया गया है। यही विशेषार्थ का अनुमापक है ठीक वैसे ही जैसे 'सिंहो माणवकः' में। यह कोई नियम नहीं है कि पदार्थ विजातीय हो तभी उनमें आरोप हो। जिससे सजातीयता के कारण यहां यह—(आरोप) न हो। वह (आरोप) तो केवल अर्थ—की भिन्नता पर निर्भर है। और वह (भिन्नार्थता) ऊपर कहे अनुसार इन (सामान्य विशेष कमलों) में है ही। इसलिये हेतु असिद्ध नहीं है। शब्दों का यह सामान्य और विशेष अर्थ में प्रयुक्त होना विवक्षामात्र पर निर्भर है, इसलिये उसमें कोई पूर्वापरभाव (आगे-पीछे होना) निश्चित नहीं—इस कारण—'लोग—यूँ ही उसके कपोल की उपमा में शशिबिम्ब को रखते हैं, वास्तविकता पर विचार करने से तो चन्द्रमा बेचारा चन्द्रमा ही है।'

इसप्रकार उलट जाने पर (सामान्य-विशेषभाव के विशेषसामान्यभाव हो जाने पर भी) भी वह बन ही जाता है। इसलिये इसका अन्तर्भाव भी अनुमान में ही मान लेना पड़ता है।

विमर्श : 'ताला० पद्य में प्रथम कमल सामान्य का उस पर विशेष का आरोप होता था। यहाँ प्रथम चन्द्र विशेष है, उस पर सामान्य का आरोप होता है। यही—विपर्यय हुआ।

'निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' इति।

अत्रादर्शस्य विच्छायत्वमनुमितमुपमानम्। तदनुमितौ चादर्शस्यान्ध्याभिधानं साधनम्। तद्धि तत्र मुख्यं न सम्भवति प्राणिधर्मत्वात्।

अतस्तत्सामर्थ्यात् पटलपिहितस्येव नयनस्य निःश्वाससमर्पितं दर्पणस्य विच्छायत्वमेवानुमापयतीत्यत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽपि सिंहो माणवक इत्यादिवत् पदार्थोपचार एव। तस्य चानुमानान्तर्भावः समर्थित एव प्राक्। एवम्—

'गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइ अ वणाइ ।
णिरहङ्कारमियङ्का हरन्ति णीलाओ वि णिसाओ ॥'
[गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।
निरहंकारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः]

इत्यत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दयोरपि द्रष्टव्यम् ।

'निःश्वास से अंध दर्पण के समान चन्द्रमा चमक नहीं रहा है'—यहाँ दर्पण का निष्प्रभ होना अनुमित होता है। वही उपमान है। उसकी अनुमति में दर्पण की अन्धता का कथन हेतु है। वह (अन्धता), उस (दर्पण) में वास्तविकरूप से नहीं बनती, क्योंकि अन्धता प्राणवान् का धर्म है। इसलिये उस (अवास्तविकता) के आधार पर वह (अन्धत्व) पटल से ढंकी आंख की निष्प्रभता जैसी निष्प्रभता का अनुमान कराता है। इसप्रकार अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य भी 'माणवक सिंह है' के समान—पदार्थ का उपचार ही है। उसका अनुमान में अन्तर्भाव पहले ही बतला दिया गया। इसी प्रकार—'आकाश में मतवाले मेघ हैं। जंगलों में अर्जुन वृक्ष—धारा से चमचमा रहा है। निशाएँ—काली हैं और उनमें चन्द्रमा का अहंकार मिट गया है इतने पर भी मनोहर हैं।' यहाँ पर मत्त और निरहंकार शब्द में समझना चाहिये।

विमर्श : मत्त का अर्थ है पागल। पागल होना—प्राणी का धर्म है। मेघ प्राणी नहीं है, अतः उसमें वह चरितार्थ न होकर उससे सम्बन्धित त्रासजनकत्व रूप धर्म का अनुमान कराता है। इसी प्रकार चन्द्रमा भी जड़ है। उसमें अहंकार का अभाव उसकी निष्प्रभता का अनुमान कराता है।

यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भावमर्हतीति। 'विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते। ते हि रत्यादीनां भावानां कारणकार्यसहकारिभूतास्ताननुमापयन्त एव रसादीन् निष्पादयन्ति। त एव हि प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते इत्यवश्यम्भावी तत्प्रतीतिक्रमः। केवलमाशुभावितयासौ न लक्ष्यते यतोऽयमद्याप्यभिव्यक्तिक्रम' इत्युक्तम्।

अत्रोदाहरणानि यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादीनि।

विभाव आदि से रस आदि की जो प्रतीति है, वह भी अनुमान में ही अन्तर्भाव के योग्य है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों की प्रतीति को रस की प्रतीति का कारण माना जाता है। वे (विभाव आदि) रति आदि (स्थायी) भावों के प्रति कारण-कार्य-सहकारी रूप से उपस्थित होते हैं और उनकी—(रति आदि) अनुमिति कराते हैं, और अनुमिति कराते हुए ही रसादि को निष्पन्न करते हैं। वे ही जब अनुमान द्वारा आस्वादित होते हैं तो रस कहलाते हैं, इसलिये उन (व्यभिचारी आदि और रति आदि या रसादि) की प्रतीति में क्रम पौर्वापर्य—होना निश्चित ही है। केवल यह क्रम प्रतीति में अत्यन्त शीघ्रता के कारण समझ में नहीं आता। इसलिए यहाँ भी प्रतीति में क्रम है ही। इसके लिये—उदाहरण जैसे कुमारसम्भव में वसन्त वर्णन के अवसर पर वसन्त-पुष्पों का शृंगार किये पार्वती जी के आने आदि का कामद्वारा शरसंधान करने तक का वर्णन और भगवान् शिव का धैर्य छूटने—पर विशेष चेष्टाओं का वर्णन।

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नुदजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः'

इत्यत्राप्राकरणिकमहाकालाख्यदेवताविशेषविषया प्रतीतिस्साध्या। तस्याश्चाट्टहाससम्बन्धो युगसंहारव्यापारश्चेत्युभयं साधनं तस्य तत्कार्यत्वात्। कार्यकारणभावावसायश्चानयोरागमप्रमाणमूल इति तत एव समासोक्तिक्रमेणाप्राकारणिकार्थान्तरप्रतीतिसिद्धिः, न तूभयार्थवृत्तेर्महाकालशब्दस्य सा शक्तिरित्येतदुक्तं वक्ष्यते च।

यहाँ अप्राकरणिक महाकाल नामक विशेष देवता (रुद्र) की प्रतीति साध्य है। उसके प्रति हेतु है—अट्टहास का सम्बन्ध और युग के संहार का कार्य। क्योंकि ये दोनों देवताविशेष (शिव) के कार्य हैं। इनका कार्यकारणभाव—शास्त्रमूलक है। इसलिये इसी हेतु और व्याप्ति से समासोक्तिक्रम से अप्राकरणिक दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है। महाकालशब्द को अर्थों में अभिधा नहीं मानी जा सकती ऐसा कह चुके हैं, और कहेंगे भी।

'उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम्॥'

इत्यत्र त्वनन्तरोक्तः प्रकारो न सम्भवतीति कुतोऽर्थान्तरप्रतीतिः।

उन्नत, प्रोल्लसद्धार, कालागुरु-मलीमस, तन्वी का पयोधरभर किसे अभिलाषी नहीं बना देता।

विमर्श : उन्नत = स्तनपक्ष में ऊँचा, मेघपक्ष में भी ऊँचा।

प्रोल्लसद्धारः = स्तनपक्ष में हार से युक्त; मेघ पक्ष में धारा से युक्त।

कालागुरुमलीमस—स्तनपक्ष में काले अगर से कृष्ण मेघ पक्ष में काले अगर के समान कृष्ण।

पयोधरभर—पयोधर = स्तन और मेघ।

अभिलाषी—इच्छुक, और उत्कण्ठित।

यहाँ पीछे बतलाया प्रकार (समासोक्ति) नहीं हो सकता अतः दूसरे अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है?

'दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाक्लिष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु॥'

इत्यत्र तु गोशब्दस्यानेकार्थत्वेऽप्राकरणिकार्थान्तरप्रतिभोत्पत्तौ न किञ्चिन्निबन्धनमवधारयामः।

तथा हि—गोशब्द एवानेकार्थत्वात् निबन्धनमुपकल्प्येत, तद्विशेषणजातम्, उभयमपि वा, अन्यस्यार्थप्रकरणादेरसम्भवात् तत्र न तावद् गोशब्द एवेति शक्यते वक्तुम्, सुरभिव्यतिरिक्ते वज्रादावनभिमतेऽप्यर्थान्तरे प्रतीत्युपजननप्रसङ्गात्, तस्यानेकार्थत्वाविशेषे नियमहेतोरभावात्।

अथ विशेषणजातमेव नियमहेतुर्नापरः, तद्धि यदर्थानुगुणमुपलभ्यते तत्रैव प्रतीतिमुपजनयतीति उच्यते। तर्हि ततोऽपि सा तदनुगुणार्थावगतिर्निर्निब-

न्धना तद्धदेवाकस्मिकी कथमिवोत्पद्येत ?। विशेष्यवाचिनोऽनेकार्थस्य तु तन्निबन्धनभावोपगमे अन्योन्याश्रयदोषः।

न चोभयमप्यन्योन्यानुग्राहितदुपजननसामर्थ्यमवनिपवनादिकमिवाङ्कुरमर्थान्तरप्रतिभामुपजनयति, यो जडपदार्थविषय एवायमुपपन्नः क्रमः, यत्र स्वाभाविक एवायं जन्यजनकभावः, न वाच्यवाचकभावविषयः, तत्र हि प्रतिपत्तपरामर्शापेक्षापरतन्त्रोऽर्थाध्यवसायोपजनो न स्वाभाविकः।

तत्र वाच्यार्थविषयस्यास्य वाचक एव तत्संस्कारप्रबोधनिबन्धनं नान्यः। अर्थान्तरविषयस्य तु तस्यावश्यमन्यदेवापेक्षणीयं युक्तं न पुनरेक एवोभयत्रापि: एकहेतुकत्वेऽर्थयोः क्रमनियमानुपपत्तेः, प्रत्यर्थं शब्दनिवेशोपगमविरोधाच्चेति तयोर्भिन्नहेतुकत्वमवगन्तव्यम्।

तच्च तदावृत्त्या वास्तु अर्थप्रकरणादिना वा, न तत्रास्माकमभिनिवेशः कश्चित्। केवलमन्यतस्तत्प्रतिभोद्भेदाभ्युपगमेऽनुमानान्तर्भावः स्फुट एव तस्यैव लिङ्गतापत्तेरिति शब्दस्यानेकार्थतावगममात्रमूलोऽयमद्यापि कवीनामर्थान्तरप्रतीतिभ्रम इति व्यर्थः शब्दशक्तिपरिकल्पनप्रयासः।

एवं चास्य वाच्यातिरेकिणोऽर्थान्तरस्य प्रतीतिरेव न समस्तीति यत्राप्रस्तुताभिधानप्रसङ्गभयात् तयोरुपमानोपमेयभावप्रकल्पनं तदपि निर्मूलमेवेत्यवगन्तव्यम्।

(पद्य का अनुवाद द्वितीय विमर्श में किया जा चुका है) यहाँ गोशब्द अनेकार्थ है। उससे अप्राकरणिक भी एक अर्थ निकल सकता है किन्तु उसका कोई हेतु यहाँ नहीं है। क्योंकि—कारण माना जा सकता है तो अनेकार्थ होने से वही गोशब्द, या उसके विशेषण या फिर दोनों (गो शब्द और उसके विशेषण) इनके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन, प्रकरणादि यहाँ संभव नहीं है। इनमें से गोशब्द कारण नहीं माना जा सकता। उसे कारण मानने पर गाय के अतिरिक्त वज्र आदि—अन्य अर्थों की प्रतीति भी मानने की आपत्ति उठेगी क्योंकि जब वह (गोशब्द) अनेकार्थक है तो किसी की प्रतीति मानने और किसी की प्रतीति न मानने का नियम नहीं बन सकता। यदि विशेषणों को कारण माना जाय, और किसी को नहीं तो विशेषण जिस पदार्थ के लिये आता है, उसी में विशेषता की प्रतीति कराता है, तो उससे भी वह दूसरे अर्थ के अनुरूप प्रतीति बिना किसी कारण के कैसे होगी। यदि विशेष्यवाची (गो) शब्दों की अनेकार्थकता को उसका कारण माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। और—एक दूसरे की सहायता करके मिट्टी से पानी आदि, जैसे अंकुर उगते है वैसे ही विशेषण-विशेष्य दोनों एक दूसरे के सहयोग से उस अर्थ को उत्पन्न करें ऐसा भी संभव नहीं, क्योंकि अन्योन्य सहयोग से वस्तु का उत्पादन जड़ पदार्थों में ही देखा गया है। वहाँ (जड़ों में) यह जन्यजनकभाव सम्बन्ध स्वाभाविक होता है। वहाँ वाच्यवाचकभाव की अपेक्षा नहीं। विशेषणविशेष्य स्थल में—अर्थ का ज्ञान ज्ञाता के संकेतग्रह की अपेक्षा रखता है; वहाँ वह स्वाभाविक नहीं। वाक्यार्थविषयक जो अर्थाध्यवसायोपजन = ज्ञाननिष्पत्ति है उसमें उसके संस्कार का जनक उसका वाचक ही होता है। और कोई नहीं। ऐसी स्थिति में दूसरे अर्थ के लिये किसी दूसरे को ही कारण मानना जरूरी है, उसी वाचक को दोनों जगह कारण मानना ठीक नहीं

कारण कि यदि अर्थों का ज्ञापक हेतु एक ही होगा तो उनके ज्ञान में क्रम नहीं रहेगा। और यह जो माना जाता है कि 'प्रत्येक अर्थ के साथ शब्द बदलता है'—इसका भी विरोध होगा। इसलिये उन दोनों अर्थों के ज्ञापक शब्दों में भी भेद मानना ही चाहिये। वह (भेद) या तो आवृत्ति द्वारा हो सकता है या प्रयोजन, प्रकरण आदि द्वारा। किसी के द्वारा हो हमारा उसमें कोई आग्रह नहीं : हमारा कहना केवल इतना ही है कि और किसी से अर्थ का ज्ञान होता हुआ स्वीकार करने पर उसका अनुमान में अन्तर्भाव साफ ही है, क्योंकि जो उसका ज्ञान करायेगा वही अनुमापक = हेतु बन जाएगा। इस प्रकार अभी तक जो दूसरे अर्थों की प्रतीति में शब्द की अनेकार्थतामात्र को कारण माना जा रहा है वह कवियों (विद्वानों) का भ्रम ही है। इसलिये शब्द की अतिरिक्त शक्ति मानने की कोशिश निरर्थक ही है। और इस प्रकार इस वाच्य से भिन्न अर्थ की जब प्रतीति ही नहीं है, तब अप्रस्तुत = असंबद्ध—अर्थ के कथन की कल्पनामात्र से उनके उपमानोपमेयभाव की कल्पना करना भी बे सिर-पैर की बात है।

किञ्च न स्वभावत एव शब्दानामर्थप्रतीतिक्रम इति नियमसम्भवः, किन्तर्हि ? : सामग्रीवशात्। सा हि यदर्थानुगुणा उपलभ्यते तमेव तस्यार्थं कल्पयतीति सर्वः शब्दः सर्वार्थविषयः सर्वश्चार्थः सर्वशब्दविषयो भवितुमर्हति। ततश्च अतदर्थोऽप्यन्यः शब्दः सामग्रीवशात् समासोक्तिन्यायेन तमवगमितुं क्षमेतैव, न पुनस्तदर्थोऽपि सामग्रीविकलो गवादिशब्दः।

आस्तां वान्यः शब्दो, यः साधुत्वेन प्रसिद्धः। असाधुरपि यावत् तद्वशादनुमितवाचकभावोऽभिमतमर्थमभिदधात्येवेति सामग्रीसद्भावान्वयव्यतिरेकानुविधायिनीयमर्थान्तरप्रतीतिरित्यवसीयते। यदाहुः—

'असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते।
वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोः ॥' इति।

न चैतावता तस्यापशब्दत्वं कल्पयितुं युक्तम्। यतः शब्दस्तावच्छब्द्यते विमृश्यतेऽभिधीयतेऽनेनार्थ इति शब्दनक्रियाकरणभावोपपन्नोऽर्थः कथ्यते। स च त्रिविधः। साधुरसाधुरपशब्दश्चेति। लक्षणानुगतः साधुः प्रकृतिप्रत्ययादिविभागपरिकल्पनया लक्षणेनानुगम्यत इति। यतोऽन्योऽसाधुरव्युत्पन्नो डित्थादिवत्। शब्दादपेतोऽपशब्दः योऽर्थं न प्रतिपादयति विगुणसामग्रीक इत्यर्थः।

एवञ्च साधुशब्दस्यापि सामग्रीवैगुण्येनावाचकत्वादपशब्दत्वमुपपन्नं भवति। ततश्च वाचकत्वावाचकत्वमात्रनिबन्धने शब्दापशब्दत्वव्यवहारे व्यवस्थिते सति ये केचिदितिहासपुराणादावागमशास्त्रादौ च क्वचित् केषाञ्चिच्छब्दानामसाधुत्वादपशब्दत्वमुद्भावयन्ति ते प्रत्युक्ता भवन्ति।

'शब्द जिन अर्थों का कथन कराते हैं, उनमें ज्ञान का आगे पीछे होना (क्रम) अपने आप होता है ऐसी कोई बात नहीं है, वह तो कारणों से होता है। वे कारण जिस अर्थ के अनुरूप मिलते हैं उसी अर्थ को उस शब्द का अर्थ मान लिया जाता है, इसलिये प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का ज्ञापक हो सकता है, और प्रत्येक अर्थ प्रत्येक शब्द का ज्ञाप्य। इस कारण जो शब्द जिस

अर्थ का वाचक नहीं होता, वह भी सामग्री के आधार पर समासोक्ति के समान इस अर्थ का ज्ञान करा ही सकता है। और उस अर्थ का वाचक होने पर भी सामग्रीरहित गोआदि शब्द उस अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता। अथवा उसे दूसरा ही शब्द मान लिया जाय जो कि साधु (संस्कृत और अभिधाशक्तिसम्पन्न) शब्द रूप से प्रसिद्ध है। (तब भी) हमारा तो यह कहना है कि असाधु शब्द भी सामग्री (कारण विशेष) होने पर अपने वाचकत्व का अनुमान करा लेता है और विवक्षित अर्थ का अभिधान करता ही है, इसलिये दूसरे अर्थ की प्रतीति सामग्री के अन्वय-व्यतिरेक का अनुगमन करती है (अर्थात् सामग्री के होने पर वह होती है न होने पर नहीं)—यही बात बनती है। जैसा कि कहा है—'कुछ लोग असाधु शब्दों को भी अनुमान द्वारा वाचक मान लेते हैं। वैसा होने पर वाचकता सभी अर्थों में बराबर ही होती है—इतने पर भी पुण्य और पाप बराबर नहीं होते।' इतने पर से उसे अपशब्द नहीं माना जा सकता। क्योंकि शब्द उस वस्तु को कहते हैं, जिसमें—'शब्दित किया जाता है, विमृष्ट किया जाता है या अभिधान द्वारा कहा जाता है—अर्थ जिससे'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्दन = कथन नामक क्रियाकारिता रहती है। वह तीन प्रकार का होता है, साधु, असाधु और अपशब्द। जो लक्षणानुगत होता है वह साधु कहलाता है। जो लक्षणानुगत का अर्थ है—प्रकृति, प्रत्यय आदि के विभाग की ठीक-ठीक व्यवस्था कर अपने स्वरूप में आया। उससे भिन्न असाधु होता है, वह प्रकृति, प्रत्यय की व्युत्पत्ति से रहित होता है, जैसे डित्थ। अर्थज्ञापक व्यापार से रहित शब्द अपशब्द होता है, जो अर्थ का ज्ञान नहीं कराता अर्थात् जिसकी कारण-सामग्री ठीक नहीं होती। इस प्रकार यदि कारण-सामग्री ठीक नहीं हो तो साधु शब्द भी अपशब्द हो जाता है। कारण कि वह किसी भी अर्थ का वाचक नहीं होता। इस प्रकार जब शब्दत्व और अपशब्दत्व की व्यवस्था वाचकत्व और अवाचकत्व पर मान ली गई तब जो लोग इतिहास, पुराण और शास्त्रों में कहीं-कहीं किन्हीं शब्दों को असाधुत्व के कारण अपशब्द बतलाया करते हैं—उनका मुँह बन्द हो जाता है।

अस्मान् प्रति पुनरविषये प्रयुज्यमानः शब्दोऽपशब्द इति। तद्यथा—

'मधुकरैरपवादकरैरिव स्मृतिभुवः पथिका हरिणा इव।
कलतया वचसः परिवादिनीस्वरजिता रजिता वशमाययुः॥' इति।

अत्र हरिणानामुपमानत्वादप्राधान्यमविगणय्यैव यः कविना रञ्जिर्लुप्तानुनासिकः प्रयुक्तः सोऽपशब्द एव तत्प्रयोगस्योपमेयार्थानुगुण्येनोपपन्नत्वात्, तत्रैव प्राधान्यात्, प्रधाने च कार्यसम्प्रत्ययोपगमात्। केवलमप्रधानापेक्षया शब्दसंस्कारविपरिणामेन व्याख्यानमत्र श्रेयो न पुनस्तस्य प्रयोगः। युज्येत पुनरेतद् यदि पथिकानां हरिणतया रूपणं स्याद् आरोपो वा, यथा—'स्मृतिभुवो वत पान्थमृगव्रजा' इति, यथा वा—'स्मृतिभुवः पथिका हरिणव्रजा' इति। अन्यथा त्वपशब्द एवायमविषये प्रयुक्तत्वाद् अस्वगोण्यादिशब्दवत्। यदुक्तम्—

'अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम्॥' इति।

हमारे लिये तो वे ही शब्द अपशब्द हैं, जो जिस अर्थ में प्रयुक्त नहीं किये जाने चाहिये उस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

'वाणी की मधुरता से वीणा के स्वर को जीतने वाले या उससे जीते गये आसक्त (रजित) पथिकों को हरिणों के समान अपवाद करो जैसे भौरों ने स्मृतिभू के वश में कर दिया'।

रजिता = आसक्त, अनुरंजित।

स्मृतिभू = काम, हिरण के पकड़ने का गड्ढा।

अपवाद—विश्वास, हिरण पकड़ने के लिये बजाया जाने वाला (घंटा आदि) छोटा बाजा।

रजित—'रञ्जि' धातु का प्रयोग मृगों को लुभाने के लिये होता है तो उसके 'न' का लोप हो जाता है। —'रञ्जेर्णौ-मृगरमणे नलोपो वक्तव्यः' वा-४०६७।

यहाँ हरिण उपमान है। अतः अप्रधान है। उनकी अप्रधानता को बिना विचारे ही कवि ने 'रञ्जि' धातु को बिना नकार के प्रयुक्त कर दिया। वह अपशब्द है। उस (रञ्जि) का प्रयोग उपमेय के अनुरूप ही हो सकता क्योंकि वही प्रधान है। जो प्रधान होता है उसी में कार्य (विशेषण) का निश्चय माना जाता है। (इसलिए यहां प्रयोग होना था रञ्जिताः का और) उसको बदलकर (रञ्जित) करना चाहिये था। अप्रधान (उपमान) के लिये। उस (अप्रधान के लिए बदलने योग्य) शब्द (रजित) का प्रयोग नहीं। यह भी ठीक हो सकता यदि पथिकों का हरिणरूप से निरूपण किया गया होता या पथिकों पर हरिण का आरोप किया गया होता। वह इस प्रकार हो सकता था—'स्मृतिभुवो वत पान्थमृगव्रजाः' या 'स्मृतिभुवः पथिका हरिणव्रजाः'। ऐसा न करने से वह अपशब्द ही है। उसका प्रयोग जहां नहीं करना चाहिये वहां किया गया है। अतः वह भी गोपी आदि के समान अपशब्द है। कहा भी है—'अस्व, गोणी आदि शब्द दूसरे क्षेत्र में साधु हैं। साधुत्व की व्यवस्था निमित्त के भेद से सर्वत्र है अर्थात् कारणभेद से प्रत्येक शब्द साधु होता है।'

> शब्दप्रयोगः कर्त्तव्यः प्रधानार्थव्यपेक्षया।
> तदन्यापेक्षया त्वर्थादेनं विपरिणामयेत् ॥ १ ॥
> विपरीतमतो यत् स्यादपशब्दः स मां प्रति।
> हेतुर्ध्वनेश्चायमेव प्रयोगपरिणामयोः ॥ २ ॥
> परिणामो बहुविधो वाच्यो लिङ्गादिभेदतः।
> स च प्रसिद्ध एवेति नास्माभिरिह दर्शितः ॥ ३ ॥

इति संग्रहश्लोकाः।

संक्षेप में—'शब्द का प्रयोग प्रधान अर्थ को देखकर करना चाहिये। दूसरे के लिए उसका ऊपर से विपरिणाम (परिवर्तन) कर लेना चाहिये। जो इसके विपरीत होता है, वह हमारे लिये अपशब्द है। यहाँ ('दत्तानन्दाः' में) यही ध्वनि का हेतु माना गया है। शब्द के प्रयोग और परिणाम में से परिणाम कई प्रकार का होता है, उसके लिंग आदि का भेद होते हैं। वह तो प्रसिद्ध ही है अतः हमने उसे नहीं दिखलाया।

विमर्श: रञ्जि धातु का 'रजित', शब्द विशेषण है। वह प्रधान विशेष्य में लगता है। प्रधान विशेष्य होता है उपमेय। उपमेय पथिक और पथिक अर्थ में रञ्जि का नकार लुप्त नहीं होता। वह जिसके लिए प्रयुक्त होने पर लुप्त होता है वह है हरिण। और हरिण यहाँ उपमान होने से अप्रधान है अतः रजित का हरिण के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। फलतः रजित केवल पथिक का विशेषण बनता है। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से वह पथिक के लिये अशुद्ध है

ग्रन्थकार ने इसके दो उपाय बतलाए हैं। एक तो—पथिक पर हरिण का आरोप और दूसरा रूपण। ये दोनों हैं एक ही वस्तु। प्रयोग के भेद से दोनों—भिन्न माने जा सकते हैं। इनके प्रयोग भी ग्रंथकार ने उपस्थित किये हैं। ग्रन्थकार की यह मान्यता है—कि यहाँ पथिक का हरिण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है न आरोप और न रूपण। मल्लिनाथ यहाँ लिखते हैं—इह उपमानमृगसादृश्याद्‌ औपचारिकं मृगत्वमुपमेयेषु पथिकेष्वस्तीत्यविरोधः। अर्थात् सादृश्य के कारण उपमान मृग का उपमेय पथिक पर आरोप है।' परन्तु ऐसी मान्यता का कोई शाब्दिक आधार उस पद्य में नहीं है। वह तभी सम्भव था जब—'पथिका मृगाः' या 'पथिकमृगाः' ऐसा पाठ होता। इसीलिये 'रजिताः' अशुद्ध ही है। अतः अपशब्द ही है। ग्रन्थकार का सुझाव है कि ऐसी जगह 'रञ्जिताः' प्रयोग होना था। हरिण पक्ष में लगाने के लिये उसे 'रजिताः' बना लिया जाता।

यद्यपि च केचिदाचक्षते समानायामर्थगतौ शब्देनापशब्देन च शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते साधुभिरेव भाषितव्यं नासाधुभिरिति, तत्र कूपखानकवद् वृत्तिर्भविष्यतीत्यादिना तैरेव प्रतिविहितम्। सा चेतिहासपुराणागमशास्त्रेष्वप्यस्त्येवेति नागमविरोधः। त्रिविधं हि शास्त्रं शब्दप्रधानमर्थप्रधानमुभयप्रधानञ्चेति। तत्र शब्दप्रधानं वेदादि अध्ययनादेवाभ्युदयश्रवणात् मनागपि पाठविपर्यासे प्रत्यवायश्रवणाच्च। अर्थप्रधानमितिहासपुराणादि तस्यार्थवादमात्ररूपत्वात्। उभयप्रधानं सर्गबन्धादि काव्यं तस्य रसात्मकत्वाद् रसस्य चोभयौचित्येन परिपोषदर्शनात्। काव्यस्यापि शास्त्रत्वमुपपादितमेव। तदेवं यदर्थप्रधानमिष्यते तच्छ्रवणधारणार्थावबोधानुष्ठानोत्थितेन धर्मेणासाधुशब्दोदीरणोदितोऽधर्मः प्रतिहतो भवतीतीयमसौ कूपखानकवृत्तिः। धर्मस्य तदुत्थितत्वमुपगतमेव—

'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥' इति।

यद्यपि कुछ लोग कहते हैं कि 'अर्थ का ज्ञान शब्द और अपशब्द दोनों से बराबर होता है। शास्त्र तो उसपर धर्म (कर्त्तव्य) की व्यवस्था देता है कि साधु शब्दों से ही व्यवहार करना चाहिये, असाधु शब्दों से नहीं।' इस पर उत्तर भी उन्हीं लोगों ने दिया है कि कूपखानक के समान वहाँ काम चलेगा। यह स्थिति इतिहास, पुराण आदि में भी है। अतः आरम्भ का कोई विरोध नहीं। शास्त्र तीन प्रकार के होते हैं—शब्दप्रधान, अर्थप्रधान और उभयप्रधान। उनमें शब्दप्रधान है वेद आदि। श्रुति का कहना है उनमें पाठमात्र से अभ्युदय होता है और थोड़े से पाठभेद से अनिष्ट होता है। अर्थप्रधान होते हैं इतिहास, पुराण आदि। वे केवल अर्थवादस्वरूप होते हैं। उभयप्रधान होते हैं महाकाव्य। वे रसात्मक होते हैं और रस शब्द और अर्थ दोनों के औचित्य पर परिपुष्ट होता है। हमने काव्य की शास्त्रता भी सिद्ध की है। इस प्रकार जो वस्तु अर्थप्रधान होती हैं उसके सुनने-समझने और अर्थ जानने से जो धर्म उत्पन्न होता है उससे असाधु शब्द के उच्चारण से उत्पन्न अधर्म समाप्त हो जाता है, यही कूपखानकवृत्ति है। धर्म उससे होता है—ऐसा माना हो गया है—जो वाणी का उपयोग जानता है और चतुर व्यवहारकाल में शब्दों को ठीक-ठीक बतलाता है वह दूसरों पर अनन्त विजय प्राप्त करता है। वह अपशब्दों से दूषित भी होता है।

विमर्श: 'चापशब्दैः' पाठ की जगह अन्य पुस्तकों में 'नाथ शब्दैः' भी पाठ है।

कूपखानकः—कुँआ खोदने वाले। जैसे वे खोदते समय शरीर में लगी मिट्टी को खोदने से निकले जल से धोकर निर्मल हो जाते हैं वैसे ही प्रकृत में इतिहास, पुराण, काव्य आदि में दिए अपशब्द से उत्पन्न अधर्म साधुशब्दों द्वारा उत्पन्न धर्म से धुल जाता है।

असाधुश्चापशब्दश्च द्विधा शब्दः प्रकीर्त्तितः।
तत्रासाधुर्न साध्यो यः प्रकृतिप्रत्ययादिभिः॥ ४॥
शब्दादपेतोऽपशब्दः शब्दनाकरणात्मनः।
शब्दना हि परामर्शो वाच्यार्थविषयोऽस्य यः॥ ५॥
एवञ्चासाधुशब्दोऽपि नापशब्दत्वमर्हति।
न सोऽप्यभ्येति साधुत्वं तयोर्विषयभेदतः॥ ६॥

ततश्च—सामर्थ्यादेव शब्दस्य विषयेऽवगते सति।
न प्रयोगोऽस्य न ह्येष स्वनिष्पत्त्यै प्रवर्त्तते॥ ७॥
अत एव प्रकृत्यर्थमात्रं तत्र प्रयुञ्जते।
सङ्ख्यासाधनकालादेरानुगुण्यानपेक्षिणः॥ ८॥
इयता चापशब्दत्वं न तेषामवकल्प्यते।
अर्थेषु शब्दनाकर्मकरणत्वानपायतः॥ ९॥
असाधूच्चारणाद् यस्तु तत्राधर्मः प्रवर्त्तते।
कूपखानकवद्वृत्तेः सोऽर्थज्ञानान्निवर्त्तते॥ १०॥
अथवार्थपरिज्ञानमास्तां तत्पठनादपि।
धारणादपि वा पुंसां श्रूयतेऽभ्युदयः परः॥ ११॥

इति संग्रहश्लोकाः।

संक्षेप में—शब्द दो प्रकार का माना गया है, असाधु और अपशब्द। उनमें वह असाधु है जो प्रकृतिप्रत्यय आदि से साध्य नहीं होता। 'शब्दनारूप' शब्द-व्यापार से रहित शब्द अपशब्द होता है। शब्दना शब्द के वाच्यार्थ का ज्ञान करानेवाली शक्ति है। इस प्रकार असाधु शब्द भी अपशब्द नहीं कहा जा सकता। वह साधु नहीं हो पाता। क्योंकि दोनों के विषयों में (ज्ञाप्य अर्थों में) भेद है। इसलिए—शब्द के अर्थ का ज्ञान सामर्थ्य से ही हो जाता है तो इस (शब्द) का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। वह अपनी निष्पत्ति के लिये समर्थ नहीं होता। अतएव शब्द के लिये—केवल प्रकृति का प्रयोग होता है। वह अपने आप में—वचन, कारक, विभक्ति और काल आदि की अपेक्षा नहीं रखता। इतने से उन्हें अपशब्द नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनमें अर्थ का ज्ञान कराने की क्षमता का अभाव नहीं रहता। वाक्य-प्रयोग में असाधु शब्दों के उच्चारण से जो अधर्म पैदा होता है वह कूपखानक के व्यवहार के समान अर्थज्ञान से दूर हो जाता है। या यह कहा जा सकता है कि उन अपशब्दों के पाठ से केवल अर्थज्ञान हो। उनके भी अर्थज्ञान से तो अभ्युदय समझा सुना जाता है।

तस्मादुपपत्तिशून्य एवायं गतानुगतिकतया अनेकार्थशब्दप्रयोगविप्रलब्धव्याख्यातृपरम्परासमयमात्रप्रवर्त्तितः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपार्थान्तरप्रतीतिपक्षः।

व्याख्यातारोऽप्यलीकविद्वन्मानितया प्रायेणापव्याख्यानैर्न केवलमात्मानं यावत् तत्रभवतो महाकवीनपि ह्रेपयन्तो दृश्यन्ते । तद्यथा—

'तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठागुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बाला
जाता मन्ये शिशिरमथिता पद्मिनीवान्यरूपा ॥'

इत्यत्र पाठमिममबुद्ध्वैव कलितकविहेवाकाः पराकृतप्रतीतिचारुतातिशयास्ते

'अवैमि तदवज्ञानाद्यत्नापेक्षो मनोरथः ।'

इत्यादौ दृष्टामपि वाक्यार्थकर्मतां मन्यतेरपश्यन्तो बालायाः कर्मतामस्य मन्यमानाः स्वरसन्धिवशाद् विकृतमिवशब्दमेव भ्रमाद् वाशब्दं परिकल्प्यापव्याख्यामारभन्ते । न चैवमर्थस्य वैचित्री काचित् समुन्मिषति । नापि महाकवेः कालिदासस्यान्वयगतिरियं क्वचनापि प्रबन्धेऽवधारितपूर्वा यदयं रसनिधाने काव्ये व्याधिमिव वाशब्दमिवार्थे प्रयुञ्जीतेति ।

कथं तर्हि 'चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली'ति तस्यैव कवेरयं प्रयोगः । उच्यते । श्लिष्टत्वादविभावितार्थपाठेन केनचित् कल्पितोऽयं पाठः । स हि जलधिर्निशीवेति द्रष्टव्यः ।

इसलिये शब्दशक्तिमूलक अनुकरणनरूप—जो दूसरे अर्थ की प्रतीति की बात है वह तर्कशून्य है । वह तो एक पिटी-पिटाई बात है । अनेकार्थक शब्दों के जाल में पड़कर व्याख्याता लोगों ने भ्रमवश उसे फैला दिया है । व्याख्याकारों की ऐसी कुछ खोटी स्थिति है कि वे गलत व्याख्या द्वारा अपने आप को ही नहीं उन पूज्य महाकवियों को भी लजाते रहते हैं । जैसे उदाहरणार्थ—तुम उस कम-बोलने वाली को मेरा द्वितीय प्राण समझो, चक्रवाकी के समान मुझ साथी के छूट जाने पर वह अकेली होगी । गहरी हूक से बीते हुए इन पहाड़ जैसे दिनों में वह बेचारी शिशिर ऋतु से मसली गई पद्मिनी के समान और की और हो गई होगी (मेघदूत) । यहाँ इस (ग्रन्थकार द्वारा दर्शित) पाठ को न जानकर कवि के आशय को समझाने की चेष्टा करने वाले व्याख्याताओं ने सौन्दर्य की जो पराकाष्ठा यहाँ है उसे ध्यान में नहीं रखा । जैसा कि—'उसकी अवज्ञा से तुम्हारी इच्छा प्रयत्न से सफल होगी—ऐसा मानता हूँ' (रघुवंश-१) इत्यादि में देखा जाता है कि 'मन्ये, अवैमि' आदि में जो 'मानने' अर्थ की क्रिया आती है उसका कर्म होगा वाक्यार्थ,—सो उन व्याख्याताओं ने इस ओर भी ध्यान नहीं दिया । और (बालाम्—पाठ मानकर) उसका कर्म 'बाला'—को माना । उन्होंने स्वर-सन्धि के कारण बदले 'इव' शब्द को भ्रमवश 'वा' शब्द समझ लिया । और गलत व्याख्या कर दी । इस प्रकार की व्याख्या से अर्थ की कोई विचित्रता समझ में नहीं आती । और महाकवि कालिदास के किसी भी काव्य में इस प्रकार का अन्वय नहीं देखा जाता । जिससे यह मान लिया जाता कि वह (कालिदास) रस के निधान इस (मेघ) काव्य में 'इव' शब्द के अर्थ में व्याधि जैसे इस 'वा' शब्द का प्रयोग करता ।

शंका—(यदि कालिदास में इतनी शक्ति मानी जा रही है कि वह दोष कर ही नहीं सकता)

तो फिर 'चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली'—(रघुवंश ५।६१)—इस पद्यांश में उसी कवि का (ऊर्मि शब्द के दो बार प्रयोग के कारण कथित-पदत्व दोष होने से प्रयोग कैसे ठीक माना जाय ?)

उत्तर—वस्तुतः यहाँ 'चन्द्रं प्रवृद्धो जलधिर्निशीव' पाठ था। श्लेष के कारण अर्थ न समझकर किसी ने उसे बदल दिया है।

विमर्श : 'ऊर्मिमालीव' इस प्रकार ऊर्मिमाली के बाद प्रयुक्त होने योग्य 'इव' पद का प्रवृद्धोर्मि के बाद जो प्रयोग हुआ, वह अस्थानस्थपदत्वदोष से दूषित हुआ। यह दोष सुधारे गए पाठ में तदवस्थ है। क्योंकि सादृश्यवाचक सदा उपमान के बाद ही प्रयुक्त होते हैं। काव्यप्रकाशकार ने—'यथेववादयः शब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिः' इस प्रकार उक्त तथ्य दशम उल्लास स्पष्ट भी किया है।

यथा च—'ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय पान्थ ! वसतिर्नैवाधुना दीयते
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा।
तेनोद्गाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतं
येनाद्यापि करङ्कदण्डपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति ॥'

इत्यत्र हि काचित् वसतिं प्रार्थयमानं पथिकयुवानमुद्दिश्योत्पन्नमन्मथव्यथावेशा तस्यान्यानुरागितामाशङ्कमाना दारुणतरपरिणामोऽन्यासक्तजनानुराग इति न चेदसि कस्याञ्चिदनुरक्तस्तदिदमखिलमेव गृहम्, अयं च जनस्तवायत्त एवा, अन्यथा गम्यतामिति स्वाभिप्रेतमर्थमस्मै निवेदयितुकामा पूर्ववृत्तान्तं वसतिविहितोपकारकामिनीमरणावेदनफलं वक्तुमुपक्रमत इति तदभिप्रायमविद्वांसस्ते पुरुषवधावेदनं तदिति मन्यमानास्तथैवापव्याचक्षते।

तच्चायुक्तमेव रसभङ्गप्रसङ्गात्। उभयोरनुरागातिशययोगेऽपि पुरुषवधवर्णनस्यात्यन्तमनुचितत्वात् खलार्थकरणार्थयोरसङ्गतिप्रसङ्गात्।

न हि योऽस्ववशः सन् म्रियते तस्य तन्मरणं यद्यपि कस्यचिदुपकारायापकाराय वा स्यात् तदपेक्षमस्य सौजन्यं खलत्वं वा न शक्यं व्यपदेष्टुम्। तावभिसन्धाय मरणे तस्य तद्व्यपदेश्यत्वोपपत्तेः, अन्यथातिप्रसङ्गादिति तन्मतानुविधायिनोऽन्धपरम्पराक्रमेण व्याख्यातारोऽद्यापि तेनैवोपपत्त्यतिपातिना पथा सञ्चरन्त इति स्थितम्।

और जैसे—'अब इस गाँव में राहगीरों को ठहरने नहीं दिया जाता। बीती रात को यहाँ कोई युवा पथिक विहार-मण्डप के नीचे सो गया। जब मेघ गरजे तो प्रिया का स्मरण कर उस दुष्ट ने चिल्ला कर ऐसा किया कि अब तक सब लोग करंक दण्ड के भय से व्याकुल है।'—यहाँ किसी ऐसी स्त्री ने जो ठहरने की प्रार्थना कर रहे किसी रास्तगीर युवक पर कामाविष्ट हो गई और उसमें किसी और स्त्री के प्रति अनुराग की शंका कर यह सोचने लगी कि दूसरी स्त्री पर आसक्त व्यक्ति से किये गये प्रेम का फल बड़ा ही दारुण होता है, उसने उस युवक से कहा कि यदि किसी और को नहीं चाह रहे हो तो यह सारा ही घर तुम्हारा है और यह जन भी तुम्हारे अधीन है। यदि ऐसा न हो तो जाओ।' इस प्रकार अपने अभिप्राय को उस युवक को बतलाने की इच्छा से उस नायिका ने पहले कभी हुई ऐसी घटना को कहना आरम्भ किया जिससे निवास स्थान देने का

उपकार करने वाली किसी स्त्री के मरने की सूचना मिली। इस अभिप्राय को न जानते हुये लोगों ने इस पद्य को पुरुषवधपरक माना और उसीसे वैसी ही गलत व्याख्या की। वह बिल्कुल गलत है। उससे रसभङ्ग होता है। स्त्री-पुरुष दोनों का अनुराग बराबर होने पर भी पुरुष का वध बतलाना अत्यन्त अनुचित है। 'खल' शब्द का और 'कृतम्' शब्द का अर्थ भी उस व्याख्या में नहीं जमता। यह हो सकता है कि जो किसी दूसरे के वश में होकर मरे उसका वह मरण किसी के उपकार या अपकार के लिये हो, परन्तु वह उस व्यक्ति में खलत्व या सौजन्य का साधक नहीं हो सकता। यदि उपकार और अपकार मन में रख कर मरना हो तो उससे मरने वाले में सौजन्य और दौर्जन्य कहे जा सकते हैं, और नहीं तो यह बात और भी आगे बढ़ जायेगी (अर्थात् सौजन्य के कारण मृत को सज्जन और दौर्जन्य के कारण मृत को खल न कहा जाया। मृत्यु-मूलक सुजनता को भी दुर्जनता कहा जा सकेगा और दुर्जनता को भी सुजनता।) इस प्रकार की व्याख्या करने वालों के मत का अनुकरण करने वाले अर्न्धा परम्परा से व्याख्या करते आये हैं और आज भी उसी युक्तिरहित मार्ग पर चल रहे हैं।

ननु—यावद्भिरर्थैः सम्बन्धः प्राक्छब्दस्यावधारितः।
तावत्स्वन्यनिराशंसः श्रुतः सन् कुरुते गतिम् ॥ १२ ॥
ततो यदर्थानुगुणा सामग्र्यस्योपलभ्यते।
स एवार्थो व्यवस्थाप्यः सत्स्वप्यन्येष्ववाधितः ॥ १३ ॥
तेनोभयार्थानुगुणा व्यनक्त्यर्थावुभावपि।
ययोः सामर्थ्यतः सिध्येदुपमानोपमेयता ॥ १४ ॥
इत्थमर्थान्तरे बुद्धिं ध्वनिरेवादधात्ययम्।
तन्निबन्धननिर्बन्धो निर्निबन्धन एव सः ॥ १५ ॥
एवञ्चात्मन्यधिक्षेप्ये किमर्थं तत्त्वदर्शिनः।
व्याख्यातारोऽप्यधिक्षिप्ता मोहात् को वेत्ति वा हितम् ॥ १६ ॥

(शङ्का)—जितने अर्थों से शब्द का सम्बन्ध जाना हुआ रहता है वह शब्द सुनाई देते ही उतने अर्थों का ज्ञान कराता है, वह उनसे भिन्न अर्थों में कोई गति नहीं रखता (निराशंस)। उसके बाद शब्द की सामग्री जिस अर्थ के अनुरूप मिलती है वही अर्थ स्थिर किया जाता है, भले ही वह अन्य अर्थों में निर्बाध हो। इसलिए दो अर्थों के अनुरूप (उन्हें बतलाने में सक्षम)। शब्द दोनों अर्थों का ज्ञान कराता है; उन अर्थों में उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध अपने आप सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार दूसरे अर्थ का ज्ञान ध्वनि (व्यञ्जना) ही कराती है और उसके (निबन्धन) कारण पर आग्रह निर्मूल ही है। इस प्रकार ग्रन्थकार खुद उपहसनीय हैं; उसने तत्त्वद्रष्टा व्याख्याकारों को नाहक उपहसनीय कहा। जिसे मोह हो जाता है वह ऐसा कौन है जो हित को जान सके?'

उच्यते—यद्यप्यर्थेषु सर्वेषु प्राक्छब्दः कुरुते मतिम्।
तथापि तद्व्यवस्थार्थं विशेषणमपेक्षते ॥ १७ ॥
तच्चेत् तद्वदनेकार्थं मुख्योर्थः कोऽवतिष्ठताम्।
यस्तत्र प्राकरणिकः पौर्वापर्यगतिः कुतः ॥ १८ ॥

सा चेत् प्रकरणाद् यो हि प्रकृतस्तस्य सा पुरः।
पश्चादन्यस्य सामर्थ्यगम्या तस्योपमानता ॥ १९ ॥
यतो न तावतैवायं व्यापारो विरतो ध्वनेः।
व्यापारविरतौ हि स्यान्न ततोऽर्थान्तरे मतिः ॥ २० ॥
ध्वनेरनेकार्थस्यापि यथा प्रकरणादिभिः।
अनादृत्यैव तच्छक्तिं प्रस्तुतार्थविनिश्चयः ॥ २१ ॥
क्रियते तद्वदेवायं नेष्यतेऽर्थान्तरेऽपि किम्।
को विशेषोऽस्य यदयं शब्दशक्तिनिबन्धनः ॥ २२ ॥
विशेषणानुगुण्यं चेदर्थान्तरगतेः पदम्।
यतस्तदप्यनेकार्थमिष्टमेव विशेष्यवत् ॥ २३ ॥

(उत्तर)—ठीक है कि शब्द पहले तो अनेक अर्थों का ज्ञान कराता है, इतने पर भी उसकी व्यवस्था के लिये विशेषण जरूरी होता है। यदि वह विशेषण भी विशेष्य के ही समान अनेकार्थक हो तो बतलाइए कौन सा अर्थ प्रधान समझा जाय? यदि कहा जाय कि जो प्राकरणिक हो वही प्रधान समझा जाय तो प्रश्न उठता है कि पूर्वापरभाव का ज्ञान कैसे हो? (अर्थात् प्राकरणिक पहले या अप्राकरणिक) यदि पौर्वापर्यज्ञान को प्रकरण से उत्पन्न मान लिया जाय तो यह बात आती है कि जो अर्थ प्राकरणिक होगा उसका ज्ञान प्रथम माना जायगा और सब अर्थों का बाद में। और उसके बाद के अर्थ का उपमानभाव भी बाद में (इसी शब्द के) सामर्थ्य से जान लिया जाता माना जाएगा। क्योंकि ध्वनि (शब्द) का व्यापार उतने (प्राकरणिक अर्थ का बोध कराने) से ही समाप्त नहीं हो जाता। यदि व्यापार समाप्त मान लिया जाय तो फिर दूसरे अर्थ का ज्ञान भी शब्द से नहीं होगा। शब्द (ध्वनि) अनेकार्थक होता है, इतने पर भी प्रकरणादि द्वारा उसकी (अन्य पदार्थों की) शक्ति का अनादर कर केवल प्राकरणिक अर्थ का ही ज्ञान माना जाता है, उसी प्रकार दूसरे अर्थों में भी क्यों नहीं माना जाता। यदि यह (प्रकृत) अर्थ प्रकरण की सहायता से ज्ञात होता है तो यदि दूसरे अर्थों के लिये साधारण (श्लिष्ट) विशेषण प्रयुक्त किए गए हों तो दोनों में अन्तर क्या रहता है। (अर्थात् यदि प्राकरणिक अर्थ में प्रकरण कारण है तो अप्राकरणिक अर्थ में श्लिष्ट विशेषण, तब दोनों का ज्ञान बराबर ही होना चाहिए) कारण कि विशेष्य के समान वह (विशेषण) भी तो अनेकार्थक माना ही जाता है।

अनेकार्थत्वमप्यस्य कुतस्तदवसीयते।
एवमेवावसायश्चेद्विशेष्येऽवगतिर्न किम् ॥ २४ ॥
तत एव विशेष्याच्चेद् भवेदन्योन्यसंश्रयः।
अथोभयपरामर्शादिष्यतेऽर्थान्तरे मतिः ॥ २५ ॥
स्यादेवं प्रकृतार्थश्चेत् सिध्येन्नायं तया विना।
ततोऽनया विमर्शः स्यादन्यथातिप्रसज्यते ॥ २६ ॥
तस्मादनेकार्थत्वेऽपि विशेषणविशेष्ययोः।
अर्थान्तरप्रतीत्यर्थं वाच्यमेव निबन्धनम् ॥ २७ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

और विशेष्य की भी अनेकार्थकता जानी कैसे जाती है ? यदि कहें कि यूँ ही (बिना कारण) तो फिर विशेष्य में भी (अनेकार्थकता का ज्ञान बिना विशेषण की सहायता के) क्यों नहीं होता ? यदि कहें उसी विशेष्य से उसकी (विशेषण की) अनेकार्थता का ज्ञान होता है तो अन्योन्याश्रय दोष आएगा (विशेष्य अनेकार्थक प्रतीत हो तो विशेषण में अनेकार्थकता प्रतीत हो और विशेषण में अनेकार्थकता प्रतीत हो तो विशेष्य अनेकार्थक) यदि यह माना जाय कि दोनों के परामर्श से दूसरे अर्थ का ज्ञान होता है तो प्रकृत अर्थ भी अर्थान्तर के ज्ञान के बिना सिद्ध नहीं होता, इसका ज्ञान उसी (अर्थान्तरज्ञान) से होगा। ऐसा मानने पर अतिव्याप्ति होगी। (प्रकृत अप्रकृत-सापेक्ष हैं बिना अप्रकृत के प्रकृत का ज्ञान माना जाय तो फिर किसी भी अर्थ को प्रकृत माना जा सकेगा, अभिप्राय यह कि प्रकृत के अर्थ की प्रकृतता का निश्चय भी अप्रकृत अर्थ के ज्ञान पर निर्भर है।) 'इसलिये विशेषण और विशेष्य अनेकार्थक हों तो भी दूसरे अर्थ के ज्ञान के लिए वाच्यार्थ को ही कारण मानना पड़ता है।'

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि

अर्थशक्तिमूलः पुनरुपपद्यत एव धूमादिवाग्नेः सम्बन्धावधारणपुरस्सरीकारेण ततोऽर्थान्तरप्रतीतेरुपपादितत्वाद्, यथा 'एवं वादिनि देवर्षावि'त्यादौ लीलापत्रगणनं गौर्याः शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं रतिभावव्यभिचारिलक्षणं लज्जादिकमनुमापयतीत्युक्तम्।

सर्वोऽर्थः कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः स्वतस्सम्भवी वास्तु। नैतावता तस्य गमकतायां फलभेदः कश्चित्।

गम्यस्य पुनरर्थस्य प्राधान्यनिबन्धनो व्यपदेश इति तस्य प्रधानेतरभावेन द्वैविध्योपगमः सफल एव। तथा हि—

'प्राप्तश्रीरेव कस्मात् पुनरपि मयि तन्मन्थखेदं विदध्या-
निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥' इति।

यत्र लक्ष्मीलाभलम्पटतया पयोनिधौ मन्थनव्यथावितरणं विलासालसतया योगनिद्रासुखास्वादो द्वीपान्तराधीशदशकन्धरनिधनधिया सेतुबन्धश्चेति भगवतो वासुदेवस्यामी व्यापाराः प्रसिद्धास्सन्तो यदन्यत्र राजादावारोप्य तस्य समीहितप्राप्त्या निषिध्यन्ते तेन तत्कार्यत्वात् कारणभूतभगवद्रूपतारोपमेव तत्रानुमापयन्तीति रूपकानुमितिरिति व्यपदेशः प्रवर्त्तते।

धूम से अग्नि के सम्बन्ध का ज्ञान जैसे व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध के ज्ञान से होता है उसी प्रकार अर्थशक्तिमूलक अर्थान्तर की प्रतीति भी उसी सम्बन्ध से होती हुई बतला दी गई है जैसे—'एवंवादिनि देवर्षौ०' यहाँ पार्वती जी का लीलाकमल की पंखुड़ियों का गिनना स्थायीभाव रति के सञ्चारी, लज्जा आदि भावों का अनुमान शब्दव्यापार के बिना करा देता है।

सब अर्थ चाहे वे कविप्रौढोक्तिसिद्ध हों, कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध हों या स्वतःसम्भवी,

इससे उसकी अनुमापकता में कोई अन्तर नहीं आता। जो अर्थ गम्य होता है वह प्रधान होता है। अतः उसी के ऊपर उस काव्य का नाम रखा जाता है। इसलिये अर्थ को दो प्रकार का माना जा सकता ही है। प्रधान और अप्रधान। यथा—

जब तुम तट पर पहुँचते हो तो समुद्र कांपने लगता है, मालूम पड़ता है उसके मन में ये वितर्क उठते हैं—इसे श्री तो मिल ही चुकी है, अतः यह मुझे मथने का कष्ट पुनः क्यों करेगा, पहले जैसी नींद भी इसमें दिखाई नहीं देती क्योंकि इसका मन आलस्यरहित है, और इसके पीछे सभी द्वीपों के राजा चल रहे हैं अतः यह पुल भी फिर से क्यों बाँधेगा ?—यह।

यहाँ १—लक्ष्मी पाने के लिये समुद्र को मथा।

२—अपनी इच्छा से आलसी बन कर योगनिद्रा का समुद्र में आनन्द लिया।

३—दूसरे द्वीप के रावण को मारने के लिये पुल बांधा—ये तीनों काम भगवान् विष्णु के लिये प्रसिद्ध हैं। किन्तु यदि ये राजा आदि पर आरोपित किये जाते हैं और उनका निषेध इष्ट फल-प्राप्ति हो जाने से किया जाता है तो वे अपने वास्तविक कारण उस राजा पर भगवान् विष्णु के आरोप का अनुमान कराते हैं—क्योंकि वे वस्तुतः विष्णु भगवान् के कार्य हैं। इसलिये इसे रूपकानुमिति कहा जाता है।

'ज्योत्स्नापूरप्रसरधवले सैकतेऽस्मिन् सरय्वा
वादद्यूतं सुचिरमभवत् सिद्धयूनोः कयोश्चित्।
एकः प्राह प्रथमनिहतं केशिनं कंसमन्यः
स त्वं तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम् ॥' इति।

अत्र केशिकंसासुरयोः कतरो भवता पूर्वं हत इति योऽयं वधपौर्वापर्यविपर्ययानुयोगस्तस्य साक्षाद् भगवानेव विषयभावेन वक्तुमुचितो नापरो राजादिः, तयोरेव धूमाग्न्योरिव कार्यकारणभावप्रसिद्धेः। सोऽयमन्यविषयतयोच्यमानस्तत्र भगवद्रूपतारोपमन्तरेणानुपपद्यमानस्तद्रूपतामुपकल्पयंस्तयो रूप्यरूपकभावमनुमापयतीति रूपकानुमितिर्व्यपदिश्यते।

चाँदनी की फैली बाढ़ से सफेद इस सरयू की रेत में बड़ी देर तक किन्हीं दो सिद्ध जाति के युवकों का वादद्यूत हुआ। उनमें से एकने केशी नामक राक्षस को पहले मरा बतलाया—और दूसरे ने कंस को ! अब आप ठीक बतलाइए कि आपने किसे पहले मारा ? (यह बात किसी राजा से कही गई है) यहां जो यह प्रश्न किया गया है कि 'केशी और कंस में से आपने किसे पहले मारा'—यह साक्षात् भगवान् से पूछा जा सकता है, राजा आदि से नहीं क्योंकि (ये कार्य भगवान् के ही हैं) उन्हीं दोनों (उन कार्यों और भगवान्) का कारण-कार्य भाव धूम और अग्निके समान प्रसिद्ध है। उसे जब दूसरे आदमी पर लादा जा रहा है तो यह उस आदमी पर भगवान् का आरोप कराता है। क्योंकि बिना आरोप के ये बातें उस राजा में नहीं बन सकतीं। इस प्रकार इस कथन से रूप्यरूपकभाव का अनुमान होता है। अतः इसे रूपक ध्वनि कहा जाता है।

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि !।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जडराशिरयं पयोधिः ॥' इति।

अत्रापि यदेतत् कस्याश्चिद् यथोदितगुणगणोदितसौन्दर्यसम्पदि वदने सति समुद्रसंक्षोभाविर्भावस्योचितस्यापि कुतश्चित् कारणादभावाभिधानं तत्तस्य पूर्णेन्दुरूपतारोपमन्तरेणानुपपद्यमानं मुखस्य ताद्रूप्यमुपकल्पयत् पूर्ववत् तयो रूप्यरूपकभावमनुमापयतीति रूपकानुमितिव्यपदेशो भवति।

केवलमिदमत्र विचार्यते—यदेतद्वदनेन्दुबिम्बसद्भावे सत्यपि पयोधेस्सलिलोल्लासलक्षणक्षोभाविर्भावनिबन्धनधिया सलिलसमूहमात्रपरमार्थः—'यन्नास्य काचन चेतनचमत्कारकणिका समस्तीत्ये'वमर्थतात्पर्येण जलराशित्वमुपात्तं तत् तस्य सदैव सन्निहितमित्यनारोपितरूपयामिनीरमणोदयसमयेऽपि नास्य संक्षोभाविर्भावो भवेत् तदापि जलराशित्वाविशेषात्।

हे चंचल और चौड़ी चितवनवाली! तेरा चेहरा अपनी लुनाई और दमक से दिशाओं को लबालब भर देता है। जब यह मुसकुराता है उस समय भी (यह समुद्र) तनिक भर भी आन्दोलित नहीं होता तो यह समुद्र निश्चित ही जलराशि है।'

यहाँ भी रूपकानुमिति ही कही जाती है' यहाँ किसी सुन्दरी के तथावर्णित गुणगणों से उत्पन्न सौन्दर्य-संपत्ति वाला मुख होने पर भी समुद्र के संक्षोभरूप कार्य का जिसका होना उचित था किसी कारण से जो अभाव कहा गया वह उस (मुख) के ऊपर पूर्णचन्द्र के आरोप के बिना सम्भव नहीं। अतः मुख की तद्रूपता (चन्द्ररूपता) का अनुमान कराता है। यहाँ (हम) केवल इतना विचार करते हैं—कि यहाँ जो मुखरूपी चन्द्रबिम्ब के रहने पर भी समुद्र में ज्वाररूपी क्षोभ के अभाव की बात पैदा कर केवल भौतिक अचेतन तोयाशय के रूप में जो उसकी जलराशिता बतलाई जिससे यह अभिप्राय निकला कि इस समुद्र में चेतन-सुलभ हर्षोद्रेक आदि का लवलेश भी नहीं है, सो वह (जलराशिता) तो समुद्र में सदा रहती ही है। वास्तविक चन्द्रमा के उदित होने पर भी समुद्र में ज्वार नहीं आता, उस समय भी वह समान रूप से जलराशि रहता है।

अथ मदनोन्मादलक्षणक्षोभाविर्भावनिबन्धनबुद्ध्या सदसद्विवेकविकलोऽयं जड इति जाड्यप्रतिपादनपरतया तदुपादानमिति। एवमपि वदनस्य सौन्दर्यातिशयशालिनः सौभाग्यातिरेक एवानुमितो भवति, यथात्रैव पाठविपर्यासे सति—'यत् प्रह्वभावमुपयाति न, तेन मन्ये

सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः।' इति

न पुनः पूर्णेन्दुरूपत्वम्। तद्धि तत्कार्यस्य समुद्रसंक्षोभस्याविकलकारणतया सम्भाव्यमानोत्पादस्य सतः प्रतिबन्धकप्रत्ययबलादनुत्पादे सत्यनुमीयते नान्यथा। यथा—

'होइ ण गुणाणुराओ जडाण णवरं पसिद्धिसरणाण।
किरं पह्नवइ ससिमणी चन्दे ण पियामुहे दिठ्ठे॥'

[भवति न गुणानुरागो जडानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम्।
किल प्रस्नौति शशिमणिश्चन्द्रे, न प्रियामुखे दृष्टे॥]

इत्यत्र प्रियामुखस्य पूर्णेन्दुरूपत्वं तत्कार्यस्य चन्द्रकान्तमणिप्रस्नुतिलक्षणस्य सम्भाव्यमानोत्पादस्य सतो जाड्यजनितप्रसिद्धिशरणत्वरूपप्रतिबन्धकप्रत्ययबलादनुत्पादे सत्यनुमीयते।

न चेह चन्द्रबिम्बकार्यस्य किमपि प्रतिबन्धकारणमुपात्तमिति कथं तस्य पूर्णेन्दुरूपतानुमितिसिद्धिः।

और यदि बुद्धि की जड़ता के अभिप्राय से यह कहा गया हो, जिससे यह प्रतीत हो कि कामिनी का मुख देखकर भी कामोन्माद-रूपी क्षोभ का आविर्भाव न होने से 'यह समुद्र अच्छे-बुरे का भेद करने की कुशलता नहीं रखता', तो इससे भी अतिशय सौन्दर्य से युक्त मुख की निरतिशय-प्रियता (सौभाग्य) अनुमानित होती है। जैसा कि इसी पद्य में पाठ बदलने पर—'यह प्रह्लता = चित्तद्रुति को प्राप्त नहीं होता तो समुद्र सचमुच जल(ड)राशि ही है [संस्कृत में 'ड' और 'ल' अभिन्न माने जाते हैं] किन्तु मुख के पूर्णचन्द्र स्वरूप होने का अनुमान नहीं होगा। वह तो तब अनुमित होता जब समुद्री ज्वार के सभी कारण उपस्थित होते और ज्वार सम्भव होता तब भी किसी प्रतिबन्धक (बाधक) के ज्ञान के कारण वह नहीं पैदा हो रहा होता। उसका अनुमान और किसी स्थिति में हो नहीं सकता। जैसे—

'जो जड़ होते है वे केवल प्रसिद्धि पर चलते हैं, उन्हें गुणों पर अनुराग नहीं होता। देखिये न चन्द्रकान्त का पत्थर पिघलता है केवल चन्द्रमा के उगने पर प्रियामुख के दिखाई पड़ने पर नहीं।

यहाँ प्रियामुख का पूर्ण चन्द्र स्वरूप होना चन्द्रकान्तमणि के पिघलने से अनुमित होता है क्योंकि पिघलना—चन्द्रोदय का कार्य है और यहाँ उसके अभाव में जडता से उत्पन्न प्रसिद्धि-परायणता को प्रतिबन्धक बतलाया गया है। किन्तु यहाँ (लावण्यकान्ति पद्य में) चन्द्रबिम्ब के कार्य (समुद्री ज्वार) का कोई भी बाधक नहीं बतलाया गया, इसीलिए उसके पूर्णेन्दु रूप होने का अनुमान कैसे हो सकता?

यत्र हि यत्कार्यस्य यत् प्रतिबन्धनिबन्धनभावेनोपकल्प्यते तत्र तस्यैव तदुपादाने सत्यवसायो नान्यस्य अतिप्रसङ्गात्।

मुखे च सौभाग्यातिरेककार्यस्य मदनोन्मादलक्षणस्य क्षोभस्याचेतनत्वं परमार्थजलराशित्वं प्रतिबन्धनिबन्धनभावेनोपात्तम्।

अतस्तस्यैव तत्र प्रतीतिरुपपन्ना न चन्द्रत्वादेः। अन्यथा कमलत्वादेरपि सा स्याद् विशेषाभावात्।

तस्मादुभयार्थसाधारणक्षोभपदप्रयोगमात्रविप्रलम्भकृतोऽयं मुखेन्दुबिम्बयो रूप्यरूपकभावभ्रम इति स्थितम्। तस्मादेवमत्र पाठः कर्त्तव्यः—

'क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
रूपान्तरं पतिरपां किमपि प्रपन्नः।' इति।

अत्र हि न केवलं वदनस्येन्दुत्वं प्रतीयते, यावदपां पत्युः शृङ्गारित्वमपि। तेन तव वदनेन्दूदये सत्यनेकसुन्दरीरूपलावण्यसम्पदामन्तरज्ञोऽप्ययमपांपतिर्यन्न मनागपि क्षोभमुपयाति तन्मन्ये रूपान्तरं किमपि प्रपन्न इत्ययम-

र्थोऽवतिष्ठते। एष चानन्तरोक्तपाठार्थाद् विशिष्यते न वेति सहृदया एव प्रमाणमिति। यथास्थितपाठपक्षे तु नेदं रूपकानुमितेरुदाहरणमुपपद्यते।

जहाँ जिसके कार्य (फल) का जो प्रतिबन्धक कहा गया हो, वहां उस प्रतिबन्धक का उल्लेख होने से (जिसका फल हो) उसी वस्तु का अनुमान होता है अन्य किसी का नहीं, ऐसा करने से अव्यवस्था हो सकती है (आग-दियासलाई और मनुष्य-प्रयत्न का फल है आग की उत्पत्ति बाधक है—काड़ी का सीड़ खा जाना, सीड़ खा जाने का उल्लेख हो और आग उत्पन्न न होने का भी तो उससे दियासलाई का अनुमान होगा, लकड़ी चकमक पत्थर आदि का नहीं—) और मुख में सौभाग्यातिरेकरूपी कार्य काममद रूप क्षोभ के प्रतिबन्धक अचेतनता और वास्तविक जल (ड) राशित्व ये (दो) धर्म बतलाये गये हैं। इसलिये उस (सौभाग्य) की प्रतीति हो सकती है, चन्द्रत्व आदि की नहीं। नहीं तो फिर मुख में कमलत्वादि की प्रतीति भी मानी जानी चाहिये कारण कि उपर्युक्त नियम न मानने पर कोई अन्तर नहीं रहता। इसलिये बात यह तय हुई कि दोनों अर्थों में लगने वाले क्षोभ शब्द के प्रयोग से लोगों को मुख और चन्द्र के रूप्यरूपक भाव का भ्रम हो गया था। इसलिये यहां ऐसा पाठ बदल देना चाहिये।

इसमें थोड़ा भी क्षोभ नहीं हो रहा है अतः विदित होता है कि 'यह जलों का भण्डार किसी और ही रूप में आ गया है।' इसमें केवल मुख का चन्द्ररूप होना ही प्रतीत नहीं होता, जलनिधि समुद्र का श्रृङ्गारी होना भी प्रतीत होता है। उससे यह अर्थ निकलता है कि तुम्हारे मुखचन्द्र का उदय होने पर भी यदि यह समुद्र जिसने अनेक सुन्दरियों के रूप और लावण्य की सम्पत्ति का रहस्य अनुभव किया है थोड़ा भी चलायमान नहीं होता तो—मैं सोचता हूँ कि यह किसी और रूप में बदल गया है।' पिछले पाठ के अर्थ से यह अधिक अच्छा सिद्ध होता है या नहीं इसमें सहृदयगण ही प्रमाण हैं। पाठ जैसा का तैसा रखने पर तो यह रूपकानुमिति का उदाहरण नहीं माना जा सकता।

'वीराण रमइ घुसिणारुणम्मि ण तहा पिआथणुच्छङ्गे।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह बहलसिन्दूरे॥' इति।

[वीराणां रमते घुसृणारुणे, न तथा प्रियास्तनोत्संगे।
दृष्टी रिपुगजकुंभस्थले यथा बहलसिन्दूरे॥]

अत्र कान्ताकुचतटकरिकुम्भस्थलयोः प्राकरणिकेतरयोः प्रमाणान्तरप्रतिपन्नसंस्थानविशेषयोः कुङ्कुमसिन्दूराहितलौहित्यलक्षणनिबन्धनसादृश्यावसायमूलोऽयमुपमानोपमेयभावावगम इति तस्यैव तत्र हेतुत्वम् अप्रतिपन्नसंस्थानस्यानिरूपितसाधारणधर्मस्वरूपस्य च सादृश्यावगमासम्भवाद् इत्युपमानानुमितिरितीयमुच्यते। एवम्—

'तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम्।
बिम्बाहरे पिआणं निवेसिअं कुसुमबाणेन॥'

[तत्तदा श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम्।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन॥]

इत्यत्रापि वेदितव्यम्। केवलमत्र साधारणो धर्मो लौहित्यलक्षणो रत्न उपमानेऽनुमेयो न शब्दोपारूढो, विम्बरूपतयाधरस्य विवक्षितत्वात्।

'वीरों की दृष्टि कुङ्कुमलिप्त प्रियास्तनों पर उतनी नहीं रमती जितनी शत्रु हाथी के सिन्दूर-लिप्त मस्तकों पर।'

यह उपमानुमिति है। यहाँ कान्ताकुचमण्डल प्राकरणिक है और करिकुंभ अप्राकरणिक। दोनों का रूप लोकप्रमाण से सिद्ध है। इनका सादृश्य कुंकुम और सिन्दूर के लाल रंग से बनता है। सादृश्य के ज्ञान से इस उपमानोपमेयभाव का ज्ञान होता है। इसलिये वही उसमें हेतु है। क्योंकि जिसे स्तन और हाथी के माथे का वैसा रूप ज्ञात नहीं होता और जिसे साधारण धर्म का स्वरूप नहीं जान पड़ता उसे सादृश्य का ज्ञान नहीं होता।

इसी प्रकार—तं ताण०००, यहाँ भी जानना चाहिए। केवल यहाँ साधारण धर्म ललाई रत्नरूपी उपमान में अनुमान से ज्ञान होता है, शब्द से कथित नहीं। क्योंकि वह (रत्न) अधर के विम्ब-रूप से विवक्षित है।

'स वक्तुमखिलाञ्छक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं शक्तो ज्ञातुं महोदधेः॥' इति॥

अत्र हयग्रीवगुणान् साकल्येनाभिधातुं न कश्चित् समर्थ इति साध्यम्। तत्र तदभिधानशक्तत्वस्य कुम्भकरणकाम्भोधिपरिच्छेदज्ञानशक्तत्वस्य चोभयोः प्राकरणिकेतरयोरेककर्तृनिष्ठयोस्समशीर्षिकयोपात्तयोस्तुल्ययोगितादिवद् गर्भीकृतोपमानोपमेयभावयोः परिकल्पितेन व्याप्यव्यापकभावेनोपनिबन्धो हेतुः।

तयोर्हि व्यापकस्य धर्मस्य वृक्षत्वादेरिवाम्बुधेरम्भसः कुम्भैः परिच्छेद-ज्ञानशक्तत्वस्य प्रमाणान्तरावसितायामभावप्रतीतौ व्याप्यस्यापि शिंशपात्वादेरिव हयग्रीवगुणग्रामाभिधानसामर्थ्यस्याभावावगतिरिति तस्यामनुमेयत्व-मिति।

अतिशयोक्तिगर्भश्चायमुपमानोपमेयभावावसायो हयग्रीवगुणानां साकल्येनावर्णनीयतात्मकासाधारणविशेषप्रतिपादनपरमाक्षेपमाक्षिपपीत्याक्षेपानुमितिरित्युच्यते।

'हयग्रीव के सभी गुणों को वही कह सकता है जो घड़ों में पानी भर भर कर समुद्र का जल नाप सकता हो' यहाँ साध्य है—'हयग्रीव के गुणों को कोई भी समग्र रूप से नहीं कह सकता'। उसमें हेतु है 'गुणों' के कथन की शक्ति और घड़ों में जल भर भर कर समुद्र के जल को नापने की शक्ति, इन दोनों का कल्पित व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध द्वारा एक साथ कथन। दोनों में हयग्रीव-गुणों का गिनना प्राकरणिक है; जलघट से समुद्र का जल नापना अप्राकरणिक। दोनों का उल्लेख एक ही कर्त्ता में बराबरी के साथ किया गया। उनमें तुल्ययोगिता आदि के समान उपमानोपमेय भाव छिपा है। इनमें व्यापकधर्म है समुद्रजल को घड़ों से नापने की शक्ति, जिसका अभाव दूसरे प्रमाणों से साबित होता है। यह अभाव जब ज्ञात हो जाता है तो हयग्रीव-गुण की शक्ति जो यहाँ व्याप्य है; उसका अभाव भी प्रतीत हो जाता है अतः वह अनुमेय कहा जाता है। इस

उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध में अतिशयोक्ति छिपी है। उसका ज्ञान आक्षेप का आक्षेप कराता है। आक्षेप द्वारा हयग्रीव के गुणों का समग्ररूप से कहा न जा सकना रूप असाधारण विशेषता का ज्ञान होता है। अतः यह आक्षेपालंकार अनुमिति कहा जाता है।

'देव्वाअत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं उण भणामि।
कङ्केल्लिपल्लवा पल्लवाण अण्णाण ण सरिच्छा॥'
[दैवायत्तेऽपि फले किं क्रियतामेतत् पुनर्भणामि।
कंकेल्लिपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृक्षाः॥]

इत्यत्रार्थान्तरोपन्यासमामर्थ्यादेव वस्तुनोः समर्थ्यसमर्थकभावावसायो न शब्दशक्तिमूलं इति। तदर्थस्य हिशब्दादेरप्रयोगो गतार्थत्वात्।

फल तो दैवाधीन है। उसके विषय में कहा ही क्या जाय। इतना अवश्य कहना पड़ता है कि—'अशोक के पत्ते अन्य वृक्षों के पत्तों के समान नहीं हैं।' यहाँ दोनों वस्तुओं का समर्थ्य-समर्थकभाव सम्बन्ध अर्थान्तरन्यास की शक्ति से होता है, शब्द की शक्ति से नहीं। अर्थान्तर-न्यासार्थक 'हि' आदि शब्द का प्रयोग नहीं है, क्योंकि उनका अर्थ अपने आप निकल आता है।

'हिअअट्ठाविअमण्णुं अवरुण्णमुहं पि मं पसाअन्त!।
अवरद्धस्स वि ण हु दे बहुजाणअ! रोसिउं सक्कम्॥' इति।
[हृदयस्थापितमन्युमपरुद्धमुखीमपि मां प्रसादयन्।
अपराद्धस्यापि न खलु ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम्॥]

यत्रानाविष्कृतकोपचिह्नायाः कस्याश्चिदन्तर्गतमन्योर्मानिन्याः केनचित् कृतागसा प्रसाद्यमानाया यत् तत्र रोषविषयेऽपि न तव रोषितुं शक्यमि-त्युक्तं तदनुपपद्यमानतया समर्थनीयमेवेति यत्तत्र वल्लभसम्बोधनद्वारेण बहुज्ञत्वमर्थान्तरभूतमुपात्तं तदेव तत्समर्थकहेतुतामुपयाति; तत एव हि पर-हृदयवेदिनि जने कः खलु कोपं कर्त्तुमर्हतीत्यस्यार्थस्य प्रतीतिसिद्धेः।

द्विविधो हि हेतुरुक्तः शाब्दश्चार्थश्चेति। तेनेयमार्थस्य हेतोरुपादानादर्था-न्तरन्यासानुमितिरित्युच्यते।

'रोष को मैंने मन में छिपा लिया है और मुँह से भी कुछ नहीं कह रही हूँ जिससे रोष व्यक्त हो। इतने पर भी तुम मुझे खुश कर रहे हो। इसलिये तुमने अपराध किया है तब भी हे बहुज्ञ? तुम पर रोष नहीं किया जा सकता।' यहाँ मानवती स्त्री, जिसने कोप व्यक्त नहीं किया था, उसे मन ही में छिपा रखा था, उसका किसी कृतापराध व्यक्ति द्वारा खुश करने की कोशिश करने पर यह कहना कि तुम पर रोष नहीं किया जा सकता—ठीक से बैठता नहीं है अतः उसे ठीक-ठीक बैठाने के लिये उसका समर्थन करना होता है। यह समर्थन प्रिय को बहुज्ञ कहने से उसकी जो बहुज्ञता सिद्ध होती है—उससे होता है। क्योंकि इस बहुज्ञता का यहाँ वाक्यार्थ से कोई उपयोग नहीं। क्योंकि उसी से यह अर्थ निकलता है कि दूसरे के चित्त को जाननेवाले पर कौन-सा व्यक्ति कोप कर सकता है।

हेतु दो प्रकार का बतलाया गया है—शाब्द और आर्थ। यह अनुमिति अर्थान्तरन्यास की हुई क्योंकि यहाँ आर्थहेतु का उपादान है।

'जाएज्ज वणुद्देसे खुज्जोच्चिअ पाअवो घडिअवत्तो ।
मा माणुसम्मि लोए ताएक्करसो दलिद्दो अ ॥'

[जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो घटितपत्रः ।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च ॥]

इत्यत्र यथोक्तस्वरूपस्याप्रस्तुतस्यैव वनपादपस्य, पुंसश्च कस्यचिद् दरिद्रस्य प्रस्तुतस्यानुपयोगितया निष्फलयोरुभयोरप्यनभिनन्द्यजन्मताप्रतीतौ तुल्यायां यदेतदेकस्यैव जन्मानभिनन्दनं नेतरस्य तत् तस्य शोच्यतातिरेकलक्षणं व्यतिरेकमनुमापयतीत्यस्य व्यतिरेकानुमितिव्यपदेशसिद्धिः ।

मैं किसी जंगल में ठूँठ ही वन जाऊँ वह अच्छा है, परन्तु इस लोक में मनुष्य न होऊँ, जो त्याग की गहरी रुचि रखने वाला हो और दरिद्र हो ।

यहाँ उक्तस्वरूप का वृक्ष अप्राकरणिक है और कोई दरिद्र पुरुष प्राकरणिक । दोनों का कोई उपयोग नहीं । अतः दोनों ही निष्फल हैं । अतः उनके जन्म की अश्लाघ्यता दोनों में बराबर है । इतने पर भी एक ही के जन्म की अश्लाघ्यता कही गई, दूसरे की नहीं । यह उसके अतिशय शोचनीय होने का अनुमान कराता है । यही व्यतिरेक है । अतः इस पद्य में व्यतिरेकानुमिति का व्यवहार ठीक ही बनता है ।

'चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः ।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥'

इत्यत्र चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलसम्पर्कमात्रेण मूर्च्छाहेतुत्वं मलयमारुतस्य मुख्यमनुपपद्यमानं मूर्च्छाकारित्वलक्षणात् साधर्म्यात् सिंहो माणवक इत्यत्र सिंहत्वमिवोपचरितमाश्रीयत इतीवार्थमनुमापयति ।

मुख्यतानुपपत्तौ च निमित्तं भुजगनिःश्वाससमीरसम्पर्कमात्रेण मलयमारुतस्य न्यग्भावभाजो बहलीभावासम्भवः ।

यद्वा मुख्यमर्थमनादृत्यार्थान्तरे प्रयुज्यमानः शब्दो यथाकञ्चित् सादृश्यमेवावगमयति ।

न चैवंविधे विषये इवादिप्रयोगमन्तरेणासम्बद्धार्थतैवेत्याशङ्कनीयं प्रकरणादितोऽप्यर्थस्य स्वसौन्दर्यादेव वार्थान्तरावगतेः, यथा—

'ईसाकलुसस्स वि तुह मुहस्स णं एस पुण्णिमाचन्दो ।
अज्ज सरिसत्तणं पाविऊण अङ्के व्विअ ण माइ ॥'

[ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः ।
अद्य सदृशत्वं प्राप्याङ्ग इव न माति ॥]

इत्यत्रेवशब्दस्य ।

'वसन्त में यह मलयपवन पथिकों को तो मूर्च्छित करता ही है, यह स्वयं चन्दनों में लिपटे साँपों को फुफकार से मूर्च्छित है ।' इसमें मलयपवन में चन्दन में लिपटे साँपों की फुफकार मात्र से

मूर्च्छा कारित्व का आना अपने इसी रूप में (मूर्च्छा में) तो अनुपपन्न है । इसलिये 'सिंहोमाणवकः' में जैसे सिंहत्व उपचरित है वैसे ही यहाँ भी मूर्च्छाकारित्वरूप साधारण धर्म के सम्बन्ध से—उसे उपचरित ही मानना होता है । अतः यहाँ वह इव शब्द के अर्थ = 'सादृश्य' का अनुमान होता है ।

यहाँ (मलयपवन में मूर्च्छाकारिता) मुख्यता की अनुपपत्ति में कारण है—केवल साँप की फुफकार के सम्पर्क से मलयपवन का गर्हित होना, इसीलिए उसमें बहलीभाव (अधिकता) का न हो सकना या यूँ कहिए कि जो शब्द मुख्य अर्थ में प्रयुक्त न होकर किसी गैर अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह जिस किसी तरह सादृश्य का ही ज्ञान कराता है । यहाँ यह नहीं सोचना चाहिये कि 'इव आदि शब्दों का प्रयोग न होने से दोनों अर्थ असंबद्ध पड़ जाते हैं क्योंकि दूसरे अर्थ का ज्ञान प्रकरण आदि से भी होता है अथवा पदार्थ के अपने खुद के सौन्दर्य से भी । जैसे—

'आज यह पूनम का चाँद तुम्हारे ईर्ष्या से बिगड़े चेहरे की समानता पाकर अपने आप में अँट नहीं रहा है ।' यहाँ 'इव' शब्द का (प्रयोग नहीं है) ।

यथा च—'त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्
पुंभिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि ।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनाभि-
राकर्णपूर्णनयनेषुहतेक्षणश्रीः ॥' इत्यत्र ।

शब्दार्थव्यवहारे च प्रतीतिरेव प्रमाणम् । प्रतीतार्थश्च शब्दः प्रयुज्यमानः पौनरुक्त्यमेवावहतीति अत्रेवार्थस्यावगमादुत्प्रेक्षानुमितिरित्येषा व्यपदिश्यते।

एवम्—'अत्युच्चपदाध्यासः पतनायेत्यर्थशालिनां शंसत् ।
आपाण्डु पतति पत्रं तरोरिदं बन्धनग्रन्थेः ॥' इति
निदर्शनानुमितावप्यवसेयम् ।

और जैसे—'एक हिरन घरों के पास पहुँच गया' उसके पीछे एक भी अहेरी न था । इतने पर भी वह कहीं भी ठहरा नहीं, और डर के मारे उछलता कूदता भाग गया । बालाओं की कान तक लम्बी आँख के बाण से उसकी नेत्र-शोभा हत जो हो गई थी' यहाँ ।

शब्दार्थ के व्यवहार में प्रमाण केवल प्रतीति ही है । शब्द का जो अर्थ प्रतीत हो चुकता है उसके लिए शब्द का प्रयोग पुनरुक्तिदोष पैदा करता है । इसलिये यहाँ 'इव' शब्द का अर्थ मालूम पड़ने से यह अनुमिति उत्प्रेक्षानुमिति कहलाती है ।

इसी प्रकार—

'पेड़ से यह पका हुआ पत्ता बेंट से फिसलकर गिर रहा है—समझदारों को यह समझाते हुए कि अति ऊँचे स्थान पर पहुँचना कभी न कभी पतन का कारण बनता है ।' इस निदर्शनानुमिति में भी समझ लेना चाहिये ।

'रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः ।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः ॥'

इत्यत्र वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरमुपमाप्रतिभोद्भेदनिबन्धनभूतं न किञ्चिद-वधारयामः, यत्सामर्थ्याद् वध्व इव वलभ्य इत्यमुमर्थमवगच्छेम । न चोभ-

यार्थसाधारणस्य वलभीविशेषणकलापस्यैव तत्र निवन्धनभावोऽवगन्तुं युक्तः; तस्य भिन्नविभक्तिकस्य वधूभिरभिसम्बन्धानुपपत्तेरित्युक्तमेव ।

अथ सममित्यस्य तुल्यार्थस्य वधूवलभीसम्बन्धबलात् विभक्तिविपरिणामेन कल्पिततदुचितविभक्त्यन्तानां वधूनां विशेषणकलापाभिसम्बन्धसहत्वाद् वलभीभिरुपमानोपमेयभावावगतिर्भवति, यथा सममिन्दुना सकलकलोऽब्धिरुत्थित इति ।

एवं तर्हि तुल्यतासम्बन्धावधारणनिवन्धनेयं वधूवलभीनामुपमानोपमेयभावावगतिरिति नासावनुमेयतामभिपततीति श्लेषानुमितिरित्युच्यते ।

'रम्या इति'—इस (पूर्वानूदित) पद्य में वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद उपमा का ज्ञान कराने का कोई भी हेतु हमें दिखाई नहीं देता जिससे यह समझा जा सके कि वलभियाँ वधुओं के समान हैं। दोनों अर्थों में लगने वाले वलभी आदि शब्दों को भी कारण माना नहीं जा सकता क्योंकि उनमें विभक्तियाँ भिन्न हैं, अतः वे 'वधूभिः' उस पद के साथ मेल नहीं खा सकता। यह बात हम कह चुके हैं। यदि यह कहा जाय कि जैसे—'इन्दु के समान सकलकल समुद्र बढ़ा' में विभक्ति बदल कर ('सकलकल' को 'इन्दु' का विशेषण मान लिया जाता है और उपमा की प्रतीति होती है।) उपमानोपमेयभाव निकाल लिया जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी सभी विशेषणों में वधू की विभक्ति लगाकर वधू के साथ वलभी का साम्य बना लिया जायगा, और ऐसा करने में सहायक होगा 'सम' इस समानता के प्रतिपादक शब्द का प्रयोग।

उत्तर—यदि इस प्रकार तुल्यता के सम्बन्ध के ज्ञान से वधू और वलभी की समता ज्ञात होती है तो इससे वलभी उपमेय नहीं बनती। इसलिये इसे श्लेष की अनुमिति कहना ठीक होगा।

विमर्श: यहाँ समशब्द साम्य का प्रतिपादक नहीं अपितु सहभाव का प्रतिपादक है। अतः वलभी में उपमेयता नहीं बन पाती।

'अङ्कुरितः कोरकितः पल्लवितः कुसुमितश्च सहकारः ।
अङ्कुरितः कोरकितः पल्लवितः कुसुमितश्च हृदि मदनः ॥'

इत्यत्र मुख्यामुख्याङ्कुरितत्वादिधर्मविशिष्टयोः सहकारमदनयोः प्रमाणान्तरावगतकार्यकारणभावयोरप्यतिशयोक्तिच्छायया यस्तुल्यकालतयोपनिवन्धस्तत्र कार्यकारणधर्माणां यथाश्रुतक्रमं संख्यासाम्यमेव यथासङ्ख्यमनुमापयति, यथाश्रुतक्रमातिक्रमे प्रयोजनाभावात् निवन्धनाभावाच्च ।

को ह्यविप्लुतमतिरसति बाधके श्रुतमर्थमनादृत्याश्रुतं परिकल्पयेदिति यथासङ्ख्यानुमितिरितीयमुच्यते ।

'इधर तो सहकारतरु अंकुरित, मुकुलित, पल्लवित तथा कुसुमित हुआ और उधर हृदय में मदन (काम)।'

यहाँ अंकुरित होना आदि सहकार में (वास्तविक) मुख्य है और मदन में अमुख्य (झूठ), इन धर्मों से युक्त सहकार व मदन का कार्यकारणभाव लोकप्रमाण से सिद्ध है। इतने पर भी अतिशयोक्ति की भूमिका पर इनमें जो एक साथ अंकुरित आदि होने की बात कही गई उसमें

कारण (सहकार) और कार्य (मदन) के (अंकुरित आदि) धर्मों का क्रम एक सा ही बतलाया गया है, अतः यथासंख्यालंकार का अनुमान होता है। जिसमें संख्या की समानता प्रतीत होती है। निर्दिष्टक्रम को तोड़ने में न कोई प्रयोजन सधता है और न उनका कोई कारण ही है। भला ऐसा कौन होगा जिसकी बुद्धि लुप्त न हुई हो और वह कथित अर्थ को छोड़कर अकथित अर्थ की कल्पना करे। अतः यहाँ यथासंख्यालंकार की अनुमिति है। क्योंकि संख्याक्रम कथित है।

यत्र प्रकरणादिप्रतिपत्त्यानुमितविशेषो वाच्योऽर्थः प्रतीयमानस्यार्थस्य लिङ्गभावमुपयोति सोऽप्यनुमानस्यैव मार्गः।

यथा—'उच्चिणु पडिअं कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसोह्न ?।
अह दे विसमविराओ ससुरेण सुओ वलयसद्दो ॥' इति।

[उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनु शेफालिकां हालिकस्नुषे ?।
एष ते विषमविरावः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥]

अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा काचित् बहिश्श्रुतवलयकलकलया सख्या प्रतिबोध्यत इत्येतदपेक्षणीयं वाच्यस्य प्रतिपत्तये प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे तस्याविनयप्रच्छादनतात्पर्येणाभिधीयमानत्वादनुमेयाङ्गत्वमेवेत्यस्यानुमान एवान्तर्भावः।

एवमन्यासामपि वाच्यव्यतिरेकिणीनामलङ्कृतीनां यथायोगमनुमानान्तर्भावः स्वयमेवानुसर्त्तव्यः।

जहाँ प्रकरण आदि का ज्ञान होने पर अनुमित हुआ कोई वाच्य अर्थ प्रतीयमान अर्थ का लिङ्ग (हेतु) बनता हो वहाँ भी अनुमान ही होता है। यथा—

'हे हालिक की पुत्रवधू , शेफालिका (हरसिंगार या पारिजात) को झोड़ क्यों रही है, पड़े हुए पुष्प ही बीन ले। तेरे कँगनों का यह अटपटा शब्द ससुर के कानों तक पहुँच रहा है।' यहाँ अविनीत पति से संभोग कर रही किसी दुश्चरित्र स्त्री को बाहर से चूड़ी (या कँगनों) की आवाज सुन कर सखी सजग कर रही है। यह बात वाच्यार्थ की निष्पत्ति के लिये अपेक्षित है। और जब वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाता है, तब उसे उस पुरुष के अविनय को ढाँकने के लिये कहा गया समझा जाता है; अतः वह अनुमेय का अङ्ग ही सिद्ध होता है। अतः उसका अन्तर्भाव भी अनुमान में ही है। इसी तरह और भी वाच्यातिरिक्त (प्रतीयमान) अलंकारों का जहाँ जैसे अन्तर्भाव हो, अनुमान में अन्तर्भाव कर लेना चाहिये।

एवं वस्तुमात्रादीनां गम्यत्वं प्रतिपाद्येदानीं वर्णपदवाक्यसङ्घटनादीनां गमकत्वं प्रतिपाद्यते।

तत्र वर्णसङ्घटनानां तावद् गमकत्वमर्थद्वारकमेव। तथा हि विशिष्टवर्णसङ्घटनोपकृतशब्दप्रतिपादितेनार्थेन रत्यादयः स्थायिनोऽनुमीयमानाः स्पष्टतरमवभासन्त इति शब्दोपाधिभूतयोर्वर्णसङ्घटनयोरपि गमकत्वमुपपन्नमेव पारम्पर्येण, न साक्षात्।

तथाविधशब्दसन्दर्भाभिहितस्यार्थस्य रत्यादेश्च भावस्य तार्णपार्णयोरिव धूमाग्न्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् ।

तथा हि ये ये रतिशोकाक्रान्तान्तःकरणाः ये च क्रोधोत्साहादिविवशास्ते मधुरतरवर्णविरचितामसमासप्रायां रेफशकारटकारकर्कशां दीर्घसमासभूयिष्ठां च सङ्घटनामाश्रित्य भूम्ना भाषमाणा दृश्यन्त इति स्वभाव एवायम् ।

सङ्घटनावर्णाहितविशेषवाचकसमर्पितादर्थात् ।
क्रोधादिविशेषगतिर्धूमविशेषादिव कृशानोः ॥ २८ ॥ इति सङ्ग्रहार्या ।

इस प्रकार वस्तुमात्र आदि की गम्यता (अनुमेयता) सिद्धकर अब वर्ण, पद, वाक्य, सङ्घटना आदि की अनुमापकता का प्रतिपादन आरम्भ किया जाता है—वर्ण आदि में वर्ण और संघटनाएं अर्थ द्वारा ही गमक होते हैं। विशिष्ट वर्णों की संघटना से युक्त शब्द जो अर्थ उपस्थित करते हैं उससे रति आदि स्थायी भावों का अनुमान होता है। और वे अधिक स्पष्ट होकर अनुभूत होने लगते हैं। अतः शब्दों के उपाधिरूप वर्ण और संघटना दोनों ही गमक सिद्ध होते हैं। किन्तु उसकी गमकता परम्परया होती है, साक्षात् नहीं। उस प्रकार के शब्द सन्दर्भों से कथित अर्थ और रति आदि भावों का कार्यकारणभाव वैसा ही है जैसा तिनके और पत्तों से उत्पन्न धुँआ और अग्नि का होता है। (तिनके से आग पैदा होती है और आग से धुंआ, वैसे वर्णसंघटनायुक्त शब्दों से वाच्यार्थ प्रतीत होता है और उससे रति आदि) यह इस प्रकार का होता है कि रति और शोक आदि से जिसके हृदय युक्त रहते हैं और जो क्रोध और उत्साह आदि से अभिभूत होते हैं वे जब बोलते हैं तो प्रायः मधुर वर्ण से युक्त और समास से रहित संघटना का और रकार, शकार और टकार से युक्त होने के कारण कठोर शब्द तथा लम्बे समास से युक्त संघटना का प्रयोग अधिक करते हैं। यह एक स्वभाव ही है, उन बोलने वालों का। इस प्रकार—

'सङ्घटना और वर्णों से उत्पन्न विशेषता वाले शब्द से ज्ञात अर्थ से क्रोध आदि विशेष धर्मों का ज्ञान होता है, जैसे विशिष्ट धूम से अग्नि की।'

पदवाक्ययोः पुनः साक्षादर्थद्वारकं गमकत्वं न वर्णसङ्घटनयोरिव वाचकोपाधिभावनिबन्धनमिति न तुल्यकक्ष्यतया निर्देशस्तयोरुपपन्नः। पदवाक्ययोर्हि द्वयमर्थान्तरप्रतीतौ निबन्धनमिष्यते, उपचारः प्रकरणादिसामग्री चेति।

यत्र हि तत् समारोपितं तत्र यथाकथञ्चित् तत्सादृश्यं तत्सम्बन्धादवगम्यते, न तत्त्वम्, तदभावे सादृश्यानुपपत्तेरिति तदेतदत्रानुमेयमित्युक्तम्।

एकोऽपि हि शब्दः सामग्रीवैचित्र्यात् तद्धर्मविशिष्टं स्वार्थमेवावगमयतीति तदेव तत्र लिङ्गमवगन्तव्यं न शब्दमात्रम्। तद्धि संज्ञिनमेव प्रत्याययितुमलं न संज्ञिविशेषमित्येतदप्युक्तमेव।

पद और वाक्य भी अर्थ के द्वारा गमक होते हैं, ये साक्षात् गमक होते हैं, वर्ण और सङ्घटना के समान शब्द की उपाधि बनकर नहीं। इसलिए उन (वर्णसंघटना) का पद-वाक्य के साथ समान रूप से निर्देश नहीं बनता। पद और वाक्य द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति में दो ही कारण हैं०—उपचार और प्रकरणादि की सामग्री। जहाँ वह (अर्थान्तर) समारोपित होता है वहाँ उसके

सम्बन्ध से जिस किसी प्रकार उसके सादृश्य का ज्ञान होता है, तद्रूपता का नहीं। क्योंकि उस (समारोप) के अभाव में सादृश्य ही नहीं बनता अतः उसे अनुमेय कहा।

शब्द एक हो पर यदि सामग्री भिन्न हो तो वह बतलाता है अपने वाच्यार्थ को ही, परन्तु किन्हीं विशिष्ट धर्मों के साथ। अतः उसी (सामग्रीवैचित्र्य को) उस जगह लिङ्ग (हेतु) समझा जाना चाहिये। केवल शब्द को नहीं। शब्द तो केवल साधारण संज्ञावान् अर्थ का ज्ञान करा सकता है। विशिष्ट संज्ञावान् का नहीं। यह तो कहा ही जा चुका है।

तत्र पदस्योपचारतो यथा महर्षेर्व्यासस्य 'सप्तैताः समिधश्श्रिय' इति, यथा च वाल्मीकेः 'निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।' इति, यथा च कालिदासस्य 'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्' इति, यथा च—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥'

इत्यत्र समिदन्धसन्नद्धमधुरपदानि गमकत्वाभिप्रायेणैव प्रयुक्तानीति उक्तमेव। तस्यैव सामग्रीवैचित्र्ये यथा 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रियेणोचितम्' इत्यत्र रामेणेत्येतत् पदं प्रकरणादिसामग्रीवशात् साहसैकरसिकत्वादिधर्मविशिष्टस्य रामार्थस्य गमकम्; अन्यथा हि मयेत्येव वक्तव्यं स्यात्।

दोनों में पद का उपचार द्वारा (गमक होना) यथा महर्षि व्यास का वाक्य—'ये सात (पदार्थ) श्री की समिधाएं हैं'—या जैसे महर्षि वाल्मीकि का कथन—'चन्द्रमा निःश्वास से अन्धे दर्पण के समान चमक नहीं रहा है' या जैसे कालिदास का—'तुम्हारे सन्नद्ध होने पर विरहातुर जाया की उपेक्षा कौन कर सकता है···', अथवा—'कमल शेवार से घिरा होने पर भी अच्छा होता है, चन्द्रमा का काला कलंक भी उसकी शोभा बढ़ाता है यह तन्वी वक्कल से भी अधिक सुन्दर लगती है, भला मधुर आकृतियों के लिये कौन सी वस्तु शोभादायिनी नहीं होती है।

यहाँ—समिध्, अन्ध, सन्नद्ध, मधुर आदि शब्द गमकरूप से ही प्रयुक्त किये गये हैं। ऐसा कहा जा चुका है। वही शब्द सामग्री की विचित्रता होने पर जैसे—'किन्तु प्राणों के लिए कातर राम ने अपने प्रेम के अनुरूप नहीं किया' यहाँ 'राम' यह पद प्रकरण आदि की सामग्री की सहायता से साहसैकरसिक होना आदि धर्मों से युक्त रामरूपी अर्थ का गमक है। नहीं तो 'मया' ही कहना चाहिये था।

यत्रापि चैकस्यैवार्थस्यैकाभिधानमुखेनोत्कर्षापकर्षतत्त्वाभिधित्सयोपकल्पितभेदस्य विध्यनुवादभावेनोपनिबन्धः, तत्र प्रकरणादिभ्य एवास्योत्कर्षोऽपकर्षः तत्त्वं वानुमेयम्; न तु तत एव। न हि विधेयाभिधायिनः शब्दस्यैव सा शक्तिस्तयोर्विरोधात्। तत्रोत्कर्षो यथा—

'रइकिरणाणुग्गहिआइ होन्ति कमलाइ कमलाइ।' इति।

अत्र द्वितीयः कमलशब्दः । अपकर्षो यथा—

'एमेअ जणो त्तिस्सा देउ कवोलोपमाइ ससिबिम्बम् ।
परमत्थविआरे उण चन्द चन्दो विअ वराओ ॥' इति ।

अत्र द्वितीयश्चन्द्रशब्दः । अत्र हि विधेयाभिधायिनो द्वितीयाच्चन्द्रशब्दाद् यथापकर्षोऽवगम्यते न तथा पूर्वात्कमलशब्दादित्यर्थप्रकरणादिरेव तत्र हेतुभावेनोपगन्तुं युक्तो न शब्दशक्तिः । तस्या ह्युत्कर्षापकर्षावगमः पूर्वापरपदार्थनियत एव स्यात् , नानियतः । तत्त्वे यथा—

'काचो मणिर्मणिः काचो येषां तेऽन्ये हि देहिनः ।
सन्ति ते सुधियो येषां काचः काचो मणिर्मणिः ॥'

इत्यत्र द्वितीयौ काचमणिशब्दौ ।

'जहाँ कहीं एक ही अर्थ को उत्कर्ष अपकर्ष या ताद्रूप्य के कथन की इच्छा से भिन्न मान विध्यनुवादभाव से एक ही शब्द द्वारा कहना अभीष्ट हो, वहाँ उत्कर्ष, अपकर्ष या तद्रूतता प्रकरण आदि की सहायता से अनुमान द्वारा प्रतीत होते हैं, न कि उसी (शब्द) से (उद्देश्यवाचक शब्द का प्रयोग कर यदि केवल विधेयवाचक शब्द का प्रयोग कर दिया जाय और केवल उससे उक्त बातें निकालना अभीष्ट हो तो वह असंभव है कारण कि केवल) विधेयवाचक शब्द (उद्देश्य और तद्गत उत्कर्षादि की प्रतीति कराने में) असमर्थ होता है । यह इसलिए कि दोनों (विधेय-उद्देश्यभूत अर्थों) का परस्पर विरोध होता है । उत्कर्ष का उदाहरण—

रइकिरणानु०० (पूर्वानूदित छाया)—इस पद्य में दूसरा कमलशब्द ।

अपकर्ष का उदाहरण यथा—'एमेअ जनः०० (पूर्वानूदित छाया) इस पद्य में दूसरा चन्द्रशब्द यहाँ जिस प्रकार विधेयता के वाचक द्वितीय चन्द्रशब्द से अपकर्ष प्रतीत होता है, उस प्रकार पहले उदाहरण में (द्वितीय) कमल शब्द से नहीं । अतः इस उत्कर्ष-अपकर्ष में प्रकरणादि ही हेतु माने जाने चाहिये । शब्दशक्ति नहीं ।

उससे होनेवाला उत्कर्ष तथा अपकर्ष पूर्व और पर पदार्थों में ही रहता है (पूर्व में उत्कर्ष पर में अपकर्ष) वह भी नियत रूप से, अनियत रूप से नहीं ।

तद्रूपता का उदाहरण—'वे शरीरधारी और ही हैं जिनके लिए काँच मणि होता है और मणि काँच । वे लोग सुधी = समझदार होते हैं, जिनके लिए काँच-काँच और मणि-मणि होती है ।'

यहाँ द्वितीय काँच तथा द्वितीय मणि शब्द ।

शब्दशक्तिमूलाया अर्थान्तरप्रतीतेरनिबन्धनायाः पराकृतत्वान्न तन्मूला पदवाक्यप्रकाशता सम्भवति । यथा—

'प्रातुं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छां देवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि ।
पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तटाकः कूपोऽथवा किन्न कृतो जडोऽहम् ॥' इति ।

अत्र हि जड इत्येतत् पदं निर्विण्णेन केनचिद् वक्त्रा कूपसमानाधिकरणतयैव प्रयुक्तं, नात्मसमानाधिकरणतया 'कूपोऽथवा किं न कृतो जडोऽह'-

मित्यात्मनो जडत्वाशंसास्पदत्वेनेष्टत्वाद्, इत्थमेव वाच्यस्य चारुत्वोपपत्तेः, यतोऽयमत्रार्थो विवक्षितः 'किं ममानेन परदुःखभाजा हतचैतन्येन कृत्यं, जडस्तटाक एवास्मि कस्मान्न कृत' इति ।

नचोक्तनयेन निबन्धनान्तरमन्तरेण स्वशक्त्यैवानुरणनरूपतयार्थान्तरसमानाधिकरणतां प्रतिपत्तुमलमित्यनुदाहरणमेतत् ।

बिना किसी हेतु के शब्दशक्तिमूलक अर्थान्तर की प्रतीति का खण्डन किया जा चुका है, अतः शब्दशक्तिमूला पद और वाक्य की गमकता (अनुमापकता) संभव ही नहीं होती ।

जैसे :—

यदि याचकों की इच्छा को धनद्वारा पूर्ण करने के लिए विधाता ने मुझे नहीं बनाया तो किसी रास्ते में स्वच्छ जल वाले तालाब या कुँए के रूप में जड़ ही क्यों नहीं बना दिया गया ।'

यहाँ 'जड़' यह शब्द किसी दुःखी व्यक्ति ने कुँए के साथ ही लगाकर बोला, अपने साथ नहीं । किन्तु चाहता है वह उस (जड़) का अपने साथ भी योग क्योंकि वह इस प्रकार कहना चाहता है 'मुझे जड़ कुआ ही क्यों नहीं बना दिया'—और इसी प्रकार वाच्य में चमत्कार सिद्ध होता है । क्योंकि यहाँ अर्थ यह विवक्षित है कि मेरी चेतना से क्या जिसमें दूसरे के दुःख के निराकरण की शक्ति नहीं । मुझे दूसरे के दुःख की शान्ति करने में सक्षम जड़ तालाब या कुआ ही क्यों नहीं बना दिया गया ।'

ऊपर बतलाए क्रम से बिना किसी और कारण के अपनी ही शक्ति से वह (जड़) घण्टे की गूँज के समान दूसरे अर्थ के साथ लागू होता नहीं समझा जा सकता । अतः यह उदाहरण नहीं माना जा सकता ।

'असमप्पिअं वि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छिमुहम् ।' इति ।

[असमर्पितमपि गृहीतं कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्मीमुखम् ।]

अत्र ह्यसमर्पितमपि कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्म्या मुखं गृहीतमित्यसमर्पितमप्रीत्येतदर्थाभिधायि पदमर्थशक्त्या कुसुमशरबलात्कारमनुमापयति ।

'वाणिअअ ! हत्थिदन्ता कत्तो अह्माण वग्घकित्ती अ ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोण्णा ॥'

इत्यत्र द्विरदरदनव्याघ्राजिनानां प्रतिषेधावगतिरुक्तक्रमेण व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिनिबन्धनेत्यनुमान एवान्तर्भावमर्हति ।

केवलमिदमत्र निरूप्यते यदुत कस्येयमुक्तिः, किं श्वशुरयोरुत तटस्थस्यैव कस्यचिदिति । तत्र श्वशुरस्य तावत् दुहितुरिव स्नुषायाः सौभाग्यातिशयवर्णनमिदमनुचितमेव । श्वश्वा अपि पुत्रस्नेहविक्लवायाः स्वसद्मसमृद्धिं समीहमानाया वा तत्सौभाग्यातिरेकमसूयमानाया वाणिजकं प्रति नास्ति हस्तदन्तादि विक्रेयमिहेत्येतावति वक्तव्ये तद्वर्णनं निष्फलमनुचितं चेति तटस्थस्यैवेयमुक्तिरुचिता तत्रैव लेशतो रसास्वादसम्भवात् । अन्यथा—

'विवरीअसुरअसमए ब्रह्मं दठ्ठूण णाहिकमलम्मि ।
हरिणो दाहिणणअणं चुम्बइ हिलिआउला लच्छी ॥' इति

प्रहेलिकादावपि मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेशः स्यात् । केवलं तत्पक्षे अह्माण इत्यत्र एआण इति पाठः परिणमयितव्यः ।

'वसन्तश्री ने अपना मुँह समर्पित नहीं किया' तब भी कुसुमशर (कामदेव) ने उसे अपना लिया ।' यहाँ उक्त अर्थ का अभिधान करने वाले 'समर्पित नहीं किया तब भी' ये पद अर्थ शक्ति से कुसुमशर के बलात्कार का अनुमान करते हैं ।

'हे व्यापारी जी ? हमारे यहाँ अब कहाँ हाथी-दाँत और कहाँ बाघ की छाल जब से चंचल अलकों से घिरे मुह वाली यह पतोहू घर में जमुहा रही है ।' यहाँ हाथी-दाँत और व्याघ्र-चर्म के निषेध का ज्ञान 'भम धम्मिअ०' में कहे गये क्रम से व्यापकविरुद्ध कार्य के ज्ञान से होता है । अतः यह भी अनुमान में अन्तर्भाव के योग्य है । हमारा यहाँ केवल इतना कहना है कि—'यह उक्ति किसकी है ? सास-ससुर की है या और की ? यदि ससुर की है तो पुत्री के समान पतोहू के अतिशय पतिप्रेम का कहना अनुचित है । और यदि सास की हो तो भी वह व्यर्थ है और अनुचित भी क्योंकि उसे व्यापारी से हाँथी-दाँत के अभाव की बात कहनी है तो उसका उतनी ही बात कहना उचित है, नकि घर की उन्नति की इच्छा से अथवा पुत्र के प्रेम में विह्वल होने से पतोहू के ऊपर पुत्र के स्नेहातिरेक के प्रति ईर्ष्या की भी बात कहना । अतः यह किसी तटस्थ व्यक्ति का ही कथन है । उसी की उक्ति मानने पर कुछ रसास्वाद हो सकता है । नहीं तो—

'विपरीतसुरतसमये०' (पूर्वानूदित) आदि पहेलियों में भी भी काव्य का व्यवहार यथार्थरूप से माना जाने लगेगा । केवल तटस्थ पक्ष में 'अह्माण' की जगह 'एआण' इतना पाठ-भेद कर दिया जाना चाहिए ।

विमर्श : —प्रतीयमान की प्रतीति वक्ता और श्रोता (बोद्धव्य) के ऊपर भी निर्भर है । यहाँ का वक्ता कोई जंगली भील है । वह अपनी पतोहू के शृङ्गार का वर्णन कर सकता है । अशिक्षित की उक्ति में सभ्यता पर आश्रित औचित्य नहीं देखा जाना चाहिये ।

'उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्वितेन दहनेन न वीक्षितासि ॥' इति ॥

अत्र ते इति योऽयमसमसौन्दर्यनिधानभूतयोः पुरःपरिस्फुरतोरिव लोचनयोः परामर्शः, स हि सामग्रीयोगान्नायकस्य शोकदहनोद्दीपनविभावतामेतयोरनुमापयतीति मुख्यवृत्त्या तद्वाच्यस्यार्थस्यैव लिङ्गता, न पदस्य ।यथा च—

'झटिति कनकचित्रे तत्र दृष्टे कुरङ्गे
रभसविकसितास्ते दृष्टिपाताः प्रियायाः ।
पवनविलुलितानामुत्पलानां पलाश-
प्रकरमिव किरन्तः स्मर्यमाणा दहन्ति ॥' इति ।

'हे प्रिये ? निश्चित ही तुम्हारा अंशुक भय से खिसक गया होगा, तुम अपनी वे व्याकुल आँखें चहुँओर घुमा रही होगी, ऐसी स्थिति में (तो तुम्हारा सौन्दर्य और अधिक निखर उठा होगा) किन्तु (तब भी) क्रूर अग्नि ने दारुणतावश तुम्हें एकाएक भस्म कर दिया, निश्चित ही उस समय उसने तुम्हें देखा नहीं।'

यहाँ 'ते' (वे) यह जो अद्वितीय सौन्दर्य के निधि नेत्र जो मानों सामने खड़े से हो जाते हैं, का कथन है, वह सामग्री के सहारे नायक के मन में शोकाग्नि की जलन में -उन (नेत्रों) की विभावता का अनुमान कराते हैं, अतः यहाँ खास तौर से 'ते' का वाच्य अर्थ ही लिङ्ग—हेतु है। शब्द नहीं। और जैसे—

मैं प्रिया के उन दृष्टिपातों का स्मरण करता हूँ तो हृदय में आग सी भड़क उठती है। जो सोने पर खुदे, या सोने के समान पीले और चमकीले हिरन को देखकर एक क्षण में ही खिल उठे और हवा से चंचल नीलकमलों की पखुँड़ियों का समुदाय सा बिखेरने लगे। (यहाँ भी नेत्रों की विपुलता के प्रति विभावता प्रतीति होती है)।

पदावयवेऽपि विशिष्टः पदार्थ एव, न शब्दमात्रं तस्य व्यापारान्तरप्रतिषेधात्। विशिष्टत्वं च 'मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभाग' इत्यत्र चकितहरिणीहारिणा नेत्रेण सम्बन्धितया त्रिभागस्य विशेषितत्वात् तथाविधस्य चास्य गमकत्वात्।

पद के अवयव को जहाँ गमक माना है वहां भी वस्तुतः विशिष्ट पदार्थ ही गमक होता है, एक मात्र शब्द (पद) गमक नहीं होता क्योंकि उसमें दूसरे व्यापार का अभाव सिद्ध किया जा चुका है। विशिष्टता 'उसी हिरनी के मनोहर नेत्रों के तृतीय भाग के समान सुन्दर कटाक्ष मुझ पर गड़ा दिया' में दिखलाई देती है। यहां चकित हरिणी के सुन्दर नेत्र से सम्बन्धित होने के कारण नेत्र के तृतीय भाग में विशिष्टता आती है और फिर वह गमक बनता है।

वाक्यस्य चोपचारतोऽर्थान्तरप्रकाशनं यथा—

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा रात्रिः पश्यतो मुनेः ॥' इति।

अनेन हि वाक्येन न निशार्थो नापि जागरणार्थः कश्चिद् विवक्षितः; किं तर्हि? तत्त्वज्ञानावहितत्वमतत्वपराङ्मुखत्वं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यास्य गमकत्वम्। यथा च—

'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥' इत्युक्तम्।

तस्यैव प्रकरणादितो यथा—

'विसमइओ च्चिअ काण वि काण वि वोलेइ अमअणिम्माओ।
काण वि विसामअमओ काण वि अविसामओ कालो ॥' इति

[विषमय इव केषामपि केषामपि प्रयात्यमृतमयः।
केषामपि विषामृतमयः केषामप्यविषामृतः कालः ॥]

इत्यत्र वाक्ये प्रकरणादिवशाद् विषामृतशब्दाभ्यां सुखदुःखस्वरूपसङ्क्रमितवाच्याभ्यां व्यवहार इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यास्य गमकत्वम् ।

उपचार द्वारा वाक्य की अर्थान्तर के प्रति गमकता—'जो सब भूतों के लिये रात है उस में संयमी लोग जागते हैं, और जिसमें सभी भूत जागते हैं वह उन्मीलित आँखों वाले मुनि के लिये रात हैं—इस वाक्य में न तो कोई निशारूपी पदार्थ विवक्षित है और न जागरणरूपी पदार्थ। जो विवक्षित हैं वह है मुनि का तत्त्वज्ञान पर एकचित्त होना और तत्त्वविरुद्ध पदार्थों से पराङ्मुख होना। इसलिये यह वाक्य अपने अभिधेयार्थ को हटाकर गमक बनता है। और जैसे—'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्॰ इसमें वतलाया जा चुका है। वही वाक्य प्रकरणादि द्वारा भी गमक होता है यथा 'समय किसी के लिये विषमय होता है, किसी के लिये अमृतमय और किसी के लिये विषामृतमय और किसी के लिए न विषमय और न अमृतमय।' इस वाक्य में प्रकरणादि के आधार पर विष और अमृत शब्दों से दुःख और सुखरूपी वाच्यों का ज्ञान होता हैं। अतः यहां अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य वाक्य गमक है।

शब्दस्याभिधातिरेकेण शक्त्यन्तरानुपपत्तेस्तन्मूलं पदस्येव वाक्यस्याप्यर्थान्तरप्रकाशनं न सम्भवत्येव, यथा हर्षचरिते सिंहनादवाक्ये—

'प्रवृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इति।

नह्येतद्वाक्यमनुरणनरूपमर्थान्तरं शब्दशक्त्यैवानिबन्धनं प्रकाशयितुं क्षममित्युक्तमेव।

'सज्जेइ सुरहिमासो ण आ पणावेइ जुवइजणलक्खसहे।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स सरे॥'
[सज्जति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यसहान्।
अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान्॥]

इत्यत्र कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरे सुरभिमाससम्भवानामाविर्भूताभिनवपल्लवानां तरूणामचिरभावियुवतिजनमदनोन्माददायित्वमनुमेयम्।

तत्र च सहकारसुरभिमासमदनानां रूपकोपनिबन्धने शरशरकारधानुष्कतुल्यवृत्तान्तत्वे सति यदसम्पन्नसम्पूर्णरूपतया सम्प्रति सहकाराणां शराणामिवानङ्गायासमर्पणं स हेतुः। तदसमर्पणमात्रान्तरायो हि तस्य तद्व्यापारः। कन्दर्पोद्दीपनसमर्थस्वभावसम्पादनमेव च तेषां सुरभिमासेन कन्दर्पायासमर्पणं नान्यदिति।

शब्द की अभिधातिरिक्त शक्ति नहीं बनती अतः पद के समान वाक्य की भी तन्मूलक अर्थान्तर-प्रकाशकता नहीं बनती। जैसे हर्षचरित में सिंहनाद के समय—'चल रहे इस महाप्रलय में धरणी-धारण करने के लिये तुम शेष हो।

यह वाक्य गूँज के समान पीछे से ध्वनित होते अर्थान्तर को विना किसी कारण के शब्दशक्ति से प्रकाशित नहीं कर सकता।'

'चैत्र का महीना अभी केवल काम के वाण तैयार कर रहा है, जिनके लक्ष्य युवतियाँ हैं जो इन्हें अभी सह लेती हैं। उन (बाणों) के मुँह हैं आम के बौर, और उनके पुंख हैं नई कोंपलें। अभी चैत्र मास ये बाण काम को दे नहीं रहा है।'

यह शुद्ध कविप्रौढोक्ति है। इसमें अनुमेय 'वृक्षों का कुछ ही समय बाद युवतियों को कामोन्माद प्रदान करना' है, क्योंकि वे वृक्ष नई कोपलों से मण्डित हैं, अतः वसन्त के अविलम्ब आगमन की सूचना देते हैं। यहाँ सहकार चैत्र मास आदि का रूपक है। सहकार है शर। चैत्र मास है शरकार = बाण बनाने वाला, और काम है धनुर्धर। इन सबका व्यवहार समान है, अतः शरों के समग्र रूप से न बन सकने के कारण इस समय सहकार (आम्र पुष्पों) का कामदेव को समर्पित न करना हेतु है। काम के बाण चलाने में विघ्न है केवल बाणों का काम को न दिया जाना। यह जो बाणों का काम को न देना है वह और कुछ नहीं, वसन्त का व्यक्तियों के स्वभाव को कामोद्दीपन में सक्षम बनाना ही है।

'सिहिपिञ्छकण्णऊरा जाया वाहस्स गव्विरी भमइ।
मोत्ताफलरइअपसाहणाण मज्झे सवत्तीण ॥'

इत्यत्र नवोढाया व्याधवध्वाः सपत्नीभ्यः सौभाग्यातिरेकोऽनुमेयः। तत्र चास्याः शिखिपिच्छकर्णपूराया अपि सगर्वं भ्रमणं हेतुः, यतोऽयमभिप्रायस्तस्याः—मयि सत्यामयं सम्भोगैकरसिको व्याधो वारितान्यकर्त्तव्यो दिवानिशं मत्परायण एव केवलं मद्विनोदार्थं यदृच्छयान्तिकापतितमयूरमात्रमारणव्यापारो वर्त्तत इति शिखिपिच्छमात्रकर्णपूराहं जाता, भवतीषु सतीषु दूरदेशकालव्यवधानसाध्यमहारम्भमातङ्गमारणादिव्यापारनिरतोऽयमासीदिति मुक्ताफलरचितप्रसाधना भवत्य इति। तेन यदेतत् सगर्वं भ्रमणं तदेव तस्याः सपत्नीभ्यः सौभाग्यातिरेकमनुमापयतीत्यवसेयम्।

सिहिपिच्छ (पूर्वानूदित छाया)

यहाँ नई ब्याही बहेलिये की स्त्री के पति का सौतों की अपेक्षा अधिक प्रेम अनुमेय है। उसमें मोरंगे के करनफूल पहनने पर भी उसका गर्व के साथ घूमना हेतु है। क्योंकि उस स्त्री का अभिप्राय यह है कि—मेरे रहते हुए यह बहेलिया मेरे ही संभोग में लगा रहता है। उसने और सभी काम त्याग दिये हैं। दिन रात मुझीपर आसक्त रहता है। वह केवल मुझे बहलाने के लिये पास में आ पहुँचे मोर को ही मारने का काम करता है। इसीलिये मैं केवल मोर के मोरंगे का भूषण पहने हुए हूँ। आप लोगों के साथ रहने पर वह दूर जाता है। बड़ा यत्न करता था। हाथियों के मारने आदि में लगा रहता था। इसीलिये आप लोग मोतियों के हार पहने हुई हैं,। इसलिये यह जो उसका गर्व के साथ घूमना है वह उसका उसकी सौतों की अपेक्षा अधिक पतिप्रेम का अनुमान कराता है।

वाक्यार्थस्य विभावादिरूपस्य रसादीनां चालक्ष्यक्रमो गम्यगमकभाव इति प्रसाधितमेव। स च वाक्यार्थः शुद्धोऽलङ्कारान्तरसङ्कीर्णश्चेति द्विधा सम्भवति।

तत्र शुद्धो यथा रामाभ्युदये 'कृतककुपितै'—रित्यादिश्लोकः। एतद्धि-वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषप्राप्तं प्रकाशयत् सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति।

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णो यथा—

'स्मररसनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि-
र्यदपि विधृता दुःखं तिष्ठन्त्यपूर्णमनोरथाः ।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः ॥' इति ।

अत्र हि रूपकेण यथोक्तलक्षणगमकानुगतेनावगमितोऽयं रसः सुतरां प्रकाशत इति मुख्यवृत्त्यार्थस्यैव गमकत्वं न शब्दस्येति स्थितम् ।

विभावादिरूप वाक्यार्थ और रसादि के गम्यगमकभाव में क्रम लक्षित नहीं होता (अर्थात् वाक्यार्थ गमक है और रस गम्य, पर इनका गम्यगमकभाव समझ में नहीं आता ।) यह कहा ही जा चुका है । वह वाक्यार्थ दो प्रकार का होता है, शुद्ध और अन्य अलंकार से युक्त । दोनों में से शुद्ध—रामाभ्युदय में—'कृतककुपितैः'—[वाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितैर्वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाम्बया । नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः ॥' माँ (कौसल्या) के रोकने पर भी जो ऊपरी कोप, आँसू तथा दीनदृष्टि से मेरे साथ वन आई उसी तुम्हारे बिना नए मेघों से श्याम दिशाएँ देखता हुआ तुम्हारा कठिन हृदय वाला प्रिय (राम) अभी जीवित है हो] पद्य । यह वाक्य एक दूसरे के पुष्ट अनुराग को प्रकाशित करता है । और सर्वोपरि रस को प्रकाशित करता है । अन्य अलंकार से युक्त यथा—

'प्रियजन कामरस की नदी की बाढ में वह जाते हैं' किन्तु गुरुजनों के बाँध उन्हें रोके रहते हैं ।, अतः वे, उनकी अभिलाषाएँ पूर्ण नहीं होती, इसलिये दुःख में डूबे रहते हैं' इतने पर भी अपने चित्रलिखित से अंगों से एक दूसरे के प्रति उन्मुख होकर आँखरूपी कमलिनी की नाल से आया कुछ रस पाते रहते हैं ।'

यहाँ पहले (लावण्यकान्ति पद्य में) बतलाए लक्षण से युक्त रूपक द्वारा प्रतीत हुआ यह रस स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है, अतः प्रमुखरूप से अर्थ ही यहाँ गमक है, शब्द नहीं ।

वाक्यर्थस्येव प्रबन्धस्यापि रसादीनां च योऽयमलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभावो महाभारतरामायणादौ प्रसिद्धः तस्य विभावानुभावव्यभिचार्यौचित्यचारुणो वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा कथाशरीरस्य रसाभिव्यक्त्यानुगुण्येनोपनिबन्ध एव निबन्धनम् तस्य रसादीनां च कार्यकारणभावस्य प्रतिपादितत्वात् । यदाह ध्वनिकारः—

'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोऽन्वयः ॥
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥

उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा।
अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्॥' इति।

वाक्यार्थ के समान प्रबन्धादि और रस का भी जो अलक्ष्यक्रम, गम्यकभाव, रामायण और महाभारत आदि में प्रसिद्ध है वहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के औचित्य से सुन्दर इतिहास-प्रसिद्ध या कल्पित कथावस्तु की रसाभिव्यक्ति के अनुरूप योजना ही कारण है, क्योंकि उस (योजना) का और रसादि का कार्यकारणभाव बतलाया जा चुका है। जैसा कि ध्वनिकारने कहा है—

'प्रबन्ध द्वारा रसादि की अभिव्यक्ति में कारण है—ऐतिहासिक या कल्पित ऐसे कथा-शरीर का विधान जो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के औचित्य से सुन्दर हो, जो कथा इतिहास से भी चली आ रही हो उसमें रस के प्रतिकूल घटना का छोड़ देना, और बीच में रसनिष्पत्ति के लिये और भी कुछ कल्पना कर लेना, रस को अभिव्यक्त करने के लिये सन्धि और सन्धि के अङ्गों की योजना करना केवल इसलिये नहीं कि शास्त्र की मर्यादा का पालन करना है, बीच बीच में (रसादि का) उद्दीपन और तिरोभाव भी यथावत् करना, अलंकार योजना की शक्ति होने पर भी रसानुरूप (अलंकार) ही उपस्थित करना।

सुबादीनामपोद्धारपक्षे अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवत्तावसाये सति अर्थस्य च विभावादिरूपत्वाद् विभावादीनां रसादीनां च कार्यकारणभावस्योपपादितत्वात् तन्मूलो लक्ष्यक्रमो गम्यगमकभावोऽभ्युपगन्तव्य एव। तेषामुदाहरणानि यथा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव हिनन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन मे
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥' इति।

भूम्ना सर्वेषां स्फुटमेव गमकत्वं दृश्यते। 'तत्र मे यदरय' इति सुप्सम्बन्धवचनानामुक्तनयेन गमकत्वम्, यथायोगमुत्तरत्र च। 'तत्राप्यसौ तापस' इति तद्धितनिपातयोः 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावण' इति तिङ्कारकशक्तीनाम् 'धिग् धिक् शक्रजितमि'त्यादौ श्लोकार्धे कृत्तद्धितसमासोपसर्गाणामिति।

सुप्तिङ्सम्बन्धाद्याः क्रोधोत्साहादिकान् यथा भावान्।
गमयन्ति, तद्विधेयाविमर्श एवोक्तमस्माभिः॥ २९॥ इत्यन्तरार्या।

सुब आदि विभक्तियाँ अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यदि किसी विशेष अर्थ का ज्ञान करा रही हों, अतः उनका विनियोग आवश्यक हो तो उन्हें भी गमक ही मानना चाहिये। कारण कि—अर्थ तो विभावादि रूप ही होता है और विभावादि और रस का कार्यकारण सम्बन्ध निश्चित है, अतः सुप्तिङादिमूलक लक्ष्यक्रम गम्यगमकभाव मानना चाहिये। उदाहरण—न्यक्कारो०० इस (पूर्वानूदित) पद्य में—

प्रायः सभी साफ साफ गमक है 'मे यदरयः' सुप्सम्बन्ध द्वारा उक्त प्रकार से गमक है। और अन्य सब भी अपनी अपनी विशेषता द्वारा 'तत्राप्यसौ तापसः' इसमें तद्धित गमक है। 'सोप्यत्रैव' आदि में तिङ् और कारक की शक्ति। 'धिग् धिक्' इत्यादि आधे श्लोकों में कृदन्त, तद्धित और उपसर्ग गमक है।'

'सुबन्त और तिङन्त आदि (तद्धित) क्रोध, उत्साह आदि भावों को जिस प्रकार अनुमित करते हैं वह हमने विधेयाविमर्श में ही बतला दिया है।

निपातोपसर्गादीनामसत्त्वभूतार्थानामुपाधिरूपत्वादुपाधिमत्समाश्रयेणैवार्थावगतिरिति पदवाक्ययोरर्थावगमकत्वोक्त्यैव तेषामपि गमकता प्रतिपादितैव। केचित् पुनर्निपाताः क्रोधाद्भुतशोकादीन् भावान् प्रदीपवद् वक्तृगतानेवावद्योतयन्ति न वाच्यगतान्। यथा—

'आस्तिष्ठ रक्षः! क मे प्रियतमामादाय गच्छसी'ति क्रोधः।
'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्य' इति विस्मयः।
'हा धिक् कष्टमहो क यामि शरणम्' इति शोकः।

अत एव तेषां द्वित्राणां त्रिचतुराणां वा प्रयोगे पुनरुक्तता नाशङ्कनीया समुदितानां प्रदीपादीनामिव स्वकार्ये प्रकर्षदर्शनात्। तदुक्तम्—

'नामवदुपसर्गास्ते किन्त्वन्योपहितमाहुरर्थं स्वम्।
दीपकवत्तु निपाताः शोकादीन् द्योतयन्ति वक्तृगतान्॥
गमयन्ति कार्यभूतान् गद्गदिकादिवद्वाचका एव।
सङ्घटनावर्णाद्याः क्रोधोत्साहादिकान् भावान्॥' इति।

तदेवं ध्वनेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमः श्रेयानिति।

निपात और उपसर्ग जो द्रव्येतर वस्तु के वाचक होते हैं वे उपाधिरूप हैं, वे उपाधियुक्त अर्थ के द्वारा ही दूसरे अर्थ का ज्ञान कराते हैं। अतः उनकी गमकता पद और वाक्य की गमकता से ही चरितार्थ है। कुछ निपात क्रोध अद्भुत और शोक आदि भावों को दीपक के समान वक्ता के भीतर ही सिद्ध करते हैं, वाच्य के भीतर नहीं। जैसे—'आ' ठहर रे राक्षस' मेरी प्रिया को लेकर कहाँ जा रहा है—इसमें क्रोध, 'अहो बत'—तुम्हारी शक्ति स्पृहणीय है इसमें आश्चर्य, 'हा धिक्, बड़ा खेद है, भला किसकी शरण में जाऊँ—इसमें शोक। अतः उनमें से दो-तीन या तीन-चार का एक साथ प्रयोग हो जाने पर भी पुनरुक्ति नहीं माननी चाहिये। इकट्ठे होने से प्रदीप आदि के समान उनके कार्य में कुछ उत्कर्ष दिखाई देता है। जैसा कि कहा है—'उपसर्ग नाम शब्द के समान हैं, वे अपने अर्थ को बतलाते हैं किन्तु तब जब वह अर्थ किसी अन्य अर्थरूपी उपाधि से युक्त हो।' निपात जो है सो दीपक के समान शोक आदि का वक्ता में ज्ञान कराते हैं। शोकादि के निपातादि कार्य हैं। वे वाचक होते हुये भी स्वर की गद्गदता के समान शोकादि को व्यक्त करते ही हैं।

इस प्रकार ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव मानना ही अच्छा है।

तदिदं विस्तरस्यास्य तात्पर्यमवधार्यताम्।
यार्थान्तराभिव्यक्तौ वस्सामग्रीष्टा निबन्धनम्॥ ३०॥

सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता।
अन्यतोऽन्यस्य हि ज्ञानमनुमैकसमाश्रयम् ॥ ३१ ॥
वाच्यवाचकयोः स्वार्थप्राधान्यप्रतिषेधतः।
ध्वनेः शक्त्यन्तराभावाद् व्यक्तेश्चानुपपत्तितः ॥ ३२ ॥
प्राणभूता ध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता।
यत्त्वन्यत् तत्र विमतिः प्रायो नास्तीत्युपेक्षितम् ॥ ३३ ॥
प्रायः प्रतीतिवैचित्र्यरसास्वादविदः प्रति।
सूपकारक्रियेयं मे साफल्यमुपयास्यति ॥ ३४ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

इस प्रकार यह जो विस्तारपूर्वक विवेचन किया है उसका तात्पर्य यह समझिये कि आप (ध्वनिवादी) को दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति में जो सामग्री मान्य है वही हमें गमक रूप से हमारे अनुमिति पक्ष में मान्य है। दूसरे से दूसरे का ज्ञान एकमात्र अनुमान पर आश्रित है। वाच्य स्वयं प्रधान नहीं होता और वाचक का अर्थ प्रधान नहीं होता। शब्द की दूसरी शक्ति नहीं होती। अतः व्यक्ति बनती नहीं। और ध्वनि का प्राण यही व्यक्ति (व्यञ्जना व्यापार) है। हमने उसी का विवेचन किया। और जो कुछ है उसमें हमारा मतभेद नहीं अतः हमने उसकी विवेचना नहीं की। मुझे आशा है कि प्रतीति की विचित्रतारूप रसास्वाद के जानकारों के प्रति मेरा यह सूपकार जैसा कार्य सफल ही होगा।

आधातुं व्युत्पत्तिं नप्तॄणां क्षेमयोगभोजानाम्।
सत्सु प्रथितनयानां भीमस्यामितगुणस्य तनयानाम् ॥ ३५ ॥
श्रीधैर्यस्याङ्गभुवा महाकवेः श्यामलस्य शिष्येण।
व्यक्तिविवेको विदधे राजानकमहिमकेनायम् ॥ ३६ ॥
प्रतिपाद्यबुद्ध्यपेक्षौ प्रायः संक्षेपविस्तरौ कर्त्तुः।
तेन न बहुभाषित्वं विद्वद्भिरसूयितव्यं नः ॥ ३७ ॥

अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं ब्रुवाणो
नूनं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम्।
हासैककारणगवेषणया नवार्थ-
तत्त्वावमर्शपरितोषसमीहया वा ॥ ३८ ॥

इति श्रीराजानकमहिमभट्टविरचिते व्यक्तिविवेकाख्ये काव्यालङ्कारे ध्वनेरनुमानेऽन्तर्भावोपदर्शनो नाम तृतीयो विमर्शः।

अति गुणवान् भीम के विद्वानों में प्रसिद्ध (तथा) क्षेम, योग तथा भोज नामक अपने पौत्रों की व्युत्पत्ति के लिये, श्रीधैर्य के पुत्र, महाकवि श्यामल के शिष्य इस विनीत राजानक महिमा (चार्य) ने यह व्यक्तिविवेक बनाया।

ग्रन्थकार प्रायः शिष्यों की बुद्धि को ध्यान में रखकर ही ग्रन्थ में संक्षेप या विस्तार करते हैं, अतः विद्वज्जन मेरे विस्तारपूर्ण विवेचन पर दोष न दें। मुझे विश्वास है कि 'मैं विद्वज्जनों के स्मरण का पात्र अवश्य ही बनूँगा, भले ही वे मेरा स्मरण परिहास के लिए करें या नवीन विषय के तत्त्व-ज्ञान द्वारा आत्मतोष के लिए, क्योंकि मैंने ऐसे तथ्य उपस्थित किए हैं जिनपर दूसरों की दृष्टि नहीं गई थी॥

विमर्श: प्रकाशित प्रतियों में भोज की जगह भाज पाठ है।

इस प्रकार राजानक महिमभट्ट द्वारा रचित व्यक्तिविवेक नामक काव्यालङ्कार (ग्रन्थ) में 'ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव-निरूपण' नामक तृतीय विमर्श पूर्ण हुआ।
इस प्रकार व्यक्तिविवेक तथा उसके संस्कृतव्याख्यान के तृतीय विमर्श का नादनेर [भोपाल म० प्र०] वासी पं० श्री नर्मदाप्रसाद द्विवेदी के आत्मज पं० श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दीभाष्य पूर्ण हुआ।

मल्लिनाथमिव प्राज्ञं श्रीहर्षमिव निर्भयम्।
लोचनस्य विधातारमिव भावितसंविदम्॥
बाणदण्डिजगन्नाथैः समं वाचां विजृम्भणे।
पाण्डेय**श्रीमहादेवशास्त्रीति** जगति श्रुतम्॥
पुरा प्राचार्यता हिन्दूविश्वविद्यालये यथा।
तथा स्वयं वृतवती शंकराचार्यताऽद्य यम्॥

विद्यात्रयीमूर्तिधराऽद्य यावद् यस्योत्तमाङ्गाद् वहति द्युसिन्धुः।
महेश्वरानन्दसरस्वतीति यतो यमार्या ब्रुवते स धीमान्॥

तस्यैव पाण्डित्यकलां श्रयाणः साहित्यविद्याऽध्वनि सार्वभौमः।
साहित्यपीठेऽथ च विश्वविद्यालयद्वयेऽध्यक्षपदं दधानः॥

मल्लः शरीरेण हृदा म्रदीयान् सारस्यसौजन्यनिधिर्महीयान्।
कविर्महान् रामकुबेरनामा स मालवीयश्च बुधो गरीयान्॥

गुरू यदीयौ शिवराजधान्यां काश्यां तदीशाविव शुद्धसत्त्वौ।
रेवाप्रसादः स कृती महिम्नां हिन्दीमयं भाष्यमिदं व्यतानीत्॥

सेतुं यथा दाशरथिर्महाब्धौ मन्थानभूध्रं यदि वा गरुत्मान्।
ध्वनौ विवेकं य इमं ततान तस्मै महिम्ने भृशमादृताः स्मः॥

पूर्णश्चायं ग्रन्थः

श्लोकानुक्रमणी

[**प्रतीक**—आनंद = आनंदवर्धन, उत्तर = उत्तररामचरित, का = कारिका, किरात = किरातार्जुनीय, कुमार = कुमारसम्भव, चण्डी = चण्डीशतक, प्र० वा० = प्रमाण वार्तिक, ध्वन्या = ध्वन्यालोक, माघ = माघकाव्य या शिशुपालवध, मालती = मालतीमाधव, रघु = रघुवंश, वक्रोक्ति = वक्रोक्तिजीवित, विक्रमो = विक्रमोर्वशीय, वेणी = वेणीसंहार, व्या० = व्याख्यान, शाकुन्त० = शाकुन्तल, सूर्यश = सूर्यशतक, हरवि० = हरविजयमहाकाव्य, हर्षच = हर्षचरित ।]

पृष्ठांक

अकुम्भकार इतिवद् (का) १८९
अकृत्वा परसंतापम् ३७
अक्षराणामकारोऽस्मि ४३९
अगाधापारसंसारा ३७५
अङ्कुरितः कोरकितः ४९८
अंगुलीभिरिव केशसंचयं (विक्रमो) ३५२
अज्ञवि अभिण्णमुद्द २५२
अडादीनां व्यवस्थार्थं (का) १५५
अत एव च वैदर्भी (का) २६५
अत एव प्रकृत्यर्थमात्रं (का) ४८४
अत एव बहुस्वन्ये (का) ३९७
अत एव विशेषस्योपा (का) १११
अत एव व्यवहितं (का) १५९
अत एवाशुभावित्वात् (का) १५९
अतस्मिन् तत्समारोपो (का) १२४
अतिगंभीरे कूपे ४१३
अतोऽतदात्मभूतस्य (का) १७०
अत्था एत्थ णिसज्जइ ४६७
अत्यन्तपरिणाहित्वात् ३६१
अत्रान्तरे फुल्लमल्लिका (हर्षच) ४०१
अत्रेर्लोचनशुक्तिमौक्तिक ४५१
अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः (का) १४३
अथ भूतानि वार्त्रघ्न ३४३
अथवार्थपरिज्ञानम् (का) ४८४
अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुः (रघु) ६०
अथेष्यते स तत्रापि (का) १७०
अथोभयपरामर्शाद् (का) ४८८

पृष्ठांक

अथोभौ तर्ह्यति (का) ९३
अनवरतनयनसलिलसिच्यमानः ४०६
अनिराकरणात् कर्तुः (का) ५३
अनिराकृततापसं पदं ३९५
अनुक्त्वैव परामृश्यं (का) २१०
अनुभावविभावानाम् (का) १०२
अनुमानत्वमेवात्र युक्तं (का) ११२
अनुमानेऽन्तर्भावम् १
अनुरागवती सन्ध्या १६२
अनुरागवन्तमपि लोचनयोः ३६४
अनुवाद्यमनुक्त्वैव (का) ४३२
अनेकार्थत्वमप्यस्य (का) ४८८
अनौचित्यादृते नान्यद् (का) १५७, (व्या) १७९, ४६६
अन्त्योऽनुमेयो भक्त्या (का) ११३
अन्यतोऽन्यस्य हि ज्ञानम् (का) ५११
अन्यत्र त्वर्थसम्बन्ध (का) २८५
अन्यथा त्वन्यधर्मैः (का) ४४८
अन्यैरनुल्लिखितपूर्वम् ५११
अन्योन्याक्षेपकत्वे (का) ३८६
अपरागसमीरणेरितः क्रम (किरात) ३६३
अप्रस्तुतोक्तिसामर्थ्यात् ४४५
अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च (व्या) २१५
अप्राधान्यं विधेर्यत्र (का) १८७
अबन्ध्यकोपस्य (किरात) ४१९
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिः (व्या) ६७
अभिधेयेन संबन्धात् (का) ११९

	पृ०
अभिन्न एव यत्रार्थः (का)	३८१
अभिवाञ्छितं प्रसिद्ध्यतु	३००
अभूद्भूमिः प्रतिपक्षजन्मनाम् (व्या०, माघ)	३०२
अभेदे बहुता न स्यादुक्ते (का)	१४४
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने ! (कुमार)	३२१
अयं मन्दद्युतिर्भास्वान	३६७
अयथार्थक्रियारंभैः	३७२
अयाचितानि देयानि	५३
अयाचितारं नहि देवमद्रिः (कुमार)	५३
अर्थः सहृदयश्लाघ्यः (का)	८८
अर्थप्रयोगो युगपन्ना (का)	४२०
अर्थभेदाद् विभिन्नोऽपि (का)	३८९
अर्थस्य तदतद्भावो (का)	३०३
अर्थस्य विशिष्टत्वम् (का)	११०
अर्थस्वभावस्योक्तिर्या (का)	४५३
अलकालिकुलाकीर्ण	३९१
अलंकारस्य कवयो यत्रा (का) (व्या)	३५०
अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ (का)	२२
अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः (रघु ९)	४१२, ४४६
अवगच्छति मूढचेतनः (रघु० ८)	३७३
अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहु (रघु०)	२३२
अवहितचेतसः पथि	३७३
अवैमि तदवज्ञानाद् (रघु०)	४८५
अश्वतुल्यसमाचारः (का)	३८
अश्वीयसंहतिभिरुद्धत	३४१
अश्वेति विद्रुतमनुद्रवता (माघ)	३५६
असमप्पिअं वि गहिअं	५०३
असमानसमानाधिकरण (का)	१५८
असाधुरनुमानेन (का)	४८०
असाधुश्चापशब्दश्च (का)	४८४
असाधूच्चारणाद् यस्तु (का)	४८४
असौ मरुच्चुम्बित	२०६
अस्त्युत्तरस्यां दिशि (कुमार)	४९
अस्त्युन्नते सुरसरिज्जल (हरवि ११४)	४५८
अस्वगोण्यादयः शब्दाः (का)	४८१
अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः (कुमार)	५१०
आः किमर्थमिदं चेतः	३५६
आपूर्णमानमध्या या	३७७
आचार्यो मे स खलु (व्या)	२२३
आच्छादितायतदिगम्बर (माघ)	४०१
आधातुं व्युत्पत्तिं	५११
आभोगिनेत्रपरिवर्त्तन् (हरवि ४।९)	३६२
आरोपविषये यत्र (का)	१२३
आलानं जयकुंजरस्य	३५०
आलिङ्गनादरचित (हरवि ११३३)	४२३
आलोकमार्गं सहसा (रघु० कुमार)	२४८
आशुभावादनालक्ष्यं (का)	१२३
आसमुद्रक्षितीशानाम्	२५०
आस्तिष्ठ रक्षः	५१०
आहूतेषु विहङ्गमेषु	४४४
इतिनार्थो व्यवच्छिन्नः (का)	४५८
इतिनैवेतरेषामप्य (का)	३३१
इति प्रतीत्योर्वैचित्र्य (का)	४३२
इति यतोऽस्तरुषः (माघ)	३५६
इति वृत्तवशायातां (का)	५०८
इत्थमर्थान्तरेबुद्धिम् (का)	४८७
इत्थमर्थान्तरे शब्दवृत्तेः (का)	१२२
इत्थं समासतो ज्ञेयं (का)	४००
इत्थं च गम्यमानार्थं (का)	१७०
इत्थं चास्ति भवत्यादि (का)	४३
इत्यादि प्रतिभातत्त्वं (का)	४५३
इदमद्यतमानां च भाविनां (का)	४६२
इन्दीवरं यदतसीकुसुमस्य (व्या)	२१३
इयं गेहे लक्ष्मीः (उत्तर)	३१७, ४३७
इयता चापशब्दत्वम् (का)	४८४
इह चटुलतया विलोचनौघैः (हरवि ५।२९)	४१६
इह विबुधगजस्य (हरवि ५।११)	४१८
इह संप्रतिपत्तितोऽन्यथा	४
ईसाकलुसस्स वि	४८६
उक्खअदुमं व सेलं	३२९
उक्तं गुणीकृतात्मत्वम् (का)	१४
उक्तं वृथैव शब्दस्योपादानं (का)	१११

पृ०

उक्तिस्वरूपावच्छेद (का) ३३१
उचितकारित्वं प्रति किमुच्यते २६०
उच्चिणु पडिअं ४९९
उच्यते वस्तुनस्तावद् (का) ४५२
उत्कम्पिनी भयपरिस्खल ५०४
उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते २३१
उत्फुल्लकमलकेसर ४५२
उत्सवाय जगतां स (व्या) ३३९
उदन्वच्छिन्ना भूः (व्या) २२३, २९६, ४४६
उदाहरणजातं यत् २१०
उदितवपुषि दिननाथे ३७४
उद्दीपनप्रशमने (का) ५०९
उद्योगः करिकीटमेघ २८२
उन्नतः प्रोल्लसद्धारः ४७८
उपचारसहैकैव (का) ४३८
उपपन्नं ननु शिवं (रघु) २४३
उपयुक्तार्थता ह्यस्य (का) ४२०
उपादायापि ते हेयाः (व्या) ३११
उपाधिभावात् स्वां शक्तिं (का) ३३१
उपालब्धेवोच्चैः गिरिपति ३२९
उपोढरागेण विलोल ११
उभयत्राप्यभिव्यक्त्यै (का) ४००
उभयार्थपदनिबन्धो (का) ३६४
उमावृषांकौ शरजन्मना (रघु) ३५८, ४५५
उवाच दूतस्तमतोदितोऽपि ३५७
उषसि विगलितान्धकार
(हरवि २८।८२) ४०५, ४१४
ऊर्ध्वाचितापगलितेन्दु २६५
ऋजुतां नयतः स्मरामि ते (कुमार ४) ४५४
एकः शंकामहिकुल (रघु १६) ३८९
एकत्रोत्प्रेक्षितत्वेन (का) ४५०
एकैकालंकृतिर्यत्र (का) ३५८
एकोऽनेकार्थकृद् यत्र (का) ४०४
एको हि दोषो गुणसन्निपते (कुमार) ३१६
एमेअ जणो तिस्सा २८८, ४७६, ५०२
एवं चात्मन्यधिक्षेप्ये (का) ४८७
एवं चासाधुशब्दोऽपि (का) ४८४
एवं वादिनि देवर्षौ (कुमार) ५८

पृ०

एवं च विपच्य घटो (का) ४३
एवमुक्तो मंत्रिमुख्यैः २९०
ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण ३६१
ककुभां सहसोज्ज्वलयन् ४५१
कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः ४५२
कथं तर्हि स्वभावो (का) ४५२
कनकनिकषस्निग्धा ३८७
कमलमनम्भसि कमले ३८७
कयासि कामिन् सरसाप (कुमार) ५२
करकलितनिशातोत्खात ३७७
करिकलभ विमुञ्च ४२८
कर्त्तर्यङ्गिनि रूढायां (का) ३८४
कर्त्तुमक्षमया मानं २४८
कर्तृरूपाधितयोक्ता (का) ३७
कर्त्तृभेदविषयां विरुद्धतां (का) (व्या) ४४
कला च सा (द्वयंगतं) (कुमार) ३२८
कल्याणानां त्वमसि (व्या) (मालती) २१८
कविशक्त्यर्पिता भावा (का) ७५
कस्स वण होई ४७२
कह णाम ण होसि ४२४
काचो मणिर्मणिः ५०२
काचित् कीर्णा रजोभिः (माघ) २९९
कातर्यं केवला नीतिः (रघु) १९९
कारणगुणानुवृत्त्या द्वौ २३५
कारणद्वयमेवेष्टं (का) २७५
कार्यत्वं ह्यसतोऽपीष्टं (का) ११२
काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिता २८५
काव्यस्यात्मनि संहिति (का) १११
काव्यस्यात्मा ध्वनि (ध्वन्या) (का)
९४ ४५६
काव्यस्यात्मा स एवार्थः (ध्वन्या
का) ९४, ९८, ४५७
काव्यस्यात्मेत्यमलमतिभिः ४६१
काव्यार्थतत्त्वाधिगमो १८८
किं लोभेन विलंवितः २५३
किं हास्येन न मे १६६
किं क्रमिष्यति किलैष वामनः ३३०
किन्तु तदवधीर्यायैः ६

पृ०
किन्तु प्रवृत्तिरेतस्य (का) २६८
किमञ्जनेनायतलोचनायाः २६२
किमवेच्य फलं (किरात) ४३४
किं पुनरीदृशे दुर्जाते ३७४
कुतः कुवलयं कर्णे करोषि ३६५
कुन्तालीभिर्युधमिव (हरवि ५।३५) ४१९
कुर्यां हरस्यापि (कुमार)
(तव प्रसादात्) (व्या) ३३९, ३८८
कुर्वन्नाभुग्नपृष्ठो (हर्षच) ४५४
कुशं द्विषामंकुशवस्तु (रघु १६) ४५०
कुसुमैः कृतवासनः (हरवि ५।७३) ४२०
कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभिः (रामाभ्युदय)
२४६, ३१३, ५०७
कृतवानसि विप्रियं (कुमार) ३०४
कृताः प्रतीतिविमुखैः ३८४
कृशाङ्ग्याः संतापं वदति ११७, ४६०
कैरवेन्दीवरच्छायौ ३६९
कैश्चिदेव हि केषांचिद् (का) ३३१
क्रियतेतद्वदेवायं (का) ४८८
क्रियाकर्त्रंशभागर्थो (का) १८९
क्रियाप्रतीतिः करण (का) ३८६
क्रियाविशेषो यस्त्वन्यः (का) ४३
क्रौर्यं कृतान्ताधिकात २५०
क्वचित् तरुतलविवरवर्त्तिनः ४११
क्षान्तं न क्षमया (व्या) २१८
क्षामाङ्ग्यः क्षतकोमला (व्या) २९१
क्षिप्तो हस्तावलग्नः १६६
क्षुण्णं यदन्तःकरणेन नाम ४४१
क्षोभं यदेति न मनाग् ४९२
क्ष्माभर्त्तुरस्य विकटः (हरवि ५।७५) ४२३
खं येऽभ्युज्ज्वलयन्ति ४२१
खमिव जलं जलमिव खं २९७
खलतां खलतामिवासतीम् ४०८
गअणं अ मत्तमेहं ४७७
गमयन्ति कार्यभूतान् (का) ५१०
गमयन्त्यर्थमुखेन हि (का) ४६२
गाहन्तां महिषा निपान (शाकुन्त) ३०४
गुणवृत्तौ गिरां यावत् (का) १२३

पृ०
गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा (रघु) २४६
गृहीतं येनासीः परिभव (वेणी) १९१
गोत्वारोपेण वाहीके (का) ११८
गोशब्दस्येव गौरर्थः (का) १५७
ग्रामतरुणं तरुण्या (व्या) ६८
ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय ४८६
ग्रीवाभङ्गाभिरामं (शाकुन्त) ४५४
घटतीति घटो ज्ञेयो ३८
घटनं च तदात्मत्वापत्ति ३८
घृणी कर्णः प्रमादी च ४२१
चकासतं चारुचमूरु (माघ) ३४५
चकोर्य एव चतुराः (व्या) ३६८
चक्राभिघातप्रसभा ३१३
चन्दनासक्तभुजग ३६७, ४९६
चन्दमऊएहि णिसा १६४
चन्द्रं गता पद्मगुणान्न (कुमार) ५२
चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मि (रघु) ४८५
चादीनां तु निपातानामुभयं (का) १५८
चापाचार्यः पशुपतिरसौ ३२२
चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी २३४
चारुता वपुरभूषयदासां ३०५, ३३६
चुम्बने विपरिवर्त्तिताधरं (कुमार) ३७६
छायामपास्य महतीं (माघ) ३४४, ४३४
जक्षुर्बिसान् घृत ३३४
जङ्घाकाण्डोरुनालो (चण्डी) ४४७
जनको जनको यस्या २४३, २५२
जनैरजातस्खलनैर्न जातु ३५७
जयति जगत्त्रयजनको ३३७
जयति निशापतिमौलिः ३३७
जयाशा यत्र चास्माकं (कुमार) २५३
जाएज्जवणुद्देशे ४९६
जातिशब्दोऽन्तरेणापि (का) ११५
जुगोपात्मानमत्रस्तो (व्या) १८५, ३०३
ज्योतीरसाश्मभवनाजिर ४४९
झटिति कनकचित्रे ५०४
तं विलोक्य सुरसुन्दरीजनो ३५७
तं कर्णमूलमागत्य (रघु) १६
तं कृपामृदुरवेक्ष्य (रघु) २३४, ३७३

		पृ०
तच्चेत् तद्वदनेकार्थं	(का)	४८७
तं जिगीषुरिव शात्रवं		३६५
ततो द्रुतं वैरमदाभितप्तः		३९४
ततोऽनया विमर्शः	(का)	४८८
ततो निर्विषयस्यास्य	(का)	१००
ततो यदर्थानुगुणा	(का)	४८७
ततोऽर्थ एव काव्यात्मा	(का)	४५८
तत् तिरस्कृतवाच्यस्य	(का)	१७८
तत्परत्वाद् विवक्षायाः	(का)	४३९
तत्पर्यायेण तेनैवं	(का)	३८९
तत् पातु वः श्रीपतिनाभिपद्मं	(व्या)	३५२
तत्र साध्यो वस्तुमात्र	(का)	११३
तत्र हेत्वादयः सन्ति	(का)	११३
तत्साम्यतत्सम्बन्धौ	(का)	१२२
तथा हि यस्य शब्दस्य	(का)	१५७
तदन्वये शुद्धिमति	(रघु १)	३९३
तदवाच्यमिति ज्ञेयं	(का)	४५१
तदवितथमेव मन्ये		४५९
तदा चातिप्रसंगः स्यात्	(का)	११२
तदिदं विस्तरस्यास्य	(का)	५१०
तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः		३४३
तद्भावहेतुभावौ हि	(का)	६९
तद् वक्त्रं यदि मुद्रिता		१९९, ३१९
तनुत्वरमणीयस्य		४१५
तं ताण सिरिसहोअर		१६३, ४९३
तपस्विभिर्या सुचिरेण		२५१
तपेन वर्षा शरदा	(माघ)	३२०, ४३४
तप्ते महाविरहवह्निशिखा		४३८
तमभ्यनन्दत् प्रथमप्रबोधि	(रघु ३)	२४७
तं पातयां प्रथममास	(रघु०)	१८०
तयोर्निरन्तरोपात्त		२१०
तरङ्गय दृशोऽङ्गने		३१८
तव कण्ठासृजासिक्ता		४३२
तव कुसुमशरत्वं शीत	(शाकुन्त)	३०९
तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि		३४५
तव वदनपदार्थश्चन्द्र		४५०
तस्मान्नामपदेभ्यो	(का)	४३
तस्मात् स्वार्थातिरेकेण	(का)	१२३
तस्मात् स्फुटतया यत्र	(का)	११२
तस्मादजायत मनुः	(व्या)	२२५
तस्मादनेकार्थत्वेऽपि	(का)	४८८
तस्मादर्थान्तरव्यक्तिहेतौ	(का)	४०४
तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां	(का)	१२४
तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां	(रघु)	२८२
तस्याः शलाकाञ्जन	(व्या)	२२२
तस्याच्छिन्नः पदार्थानाम्	(का)	२६८
तस्या धौताञ्जनश्यामा		४३७
तस्यामेव क्रियाद्याश्च	(का)	३८
तां जानीयाः परिमित	(मेघ)	४८५
तात त्वं निजतेजसैव	(व्या)	३०२
ताताजन्म वपुर्विलंघित		२५०
ताला जाअन्ति गुणा		२८८, ४७५
तीर्थे तदीये (रघु १६)	व्या	२१६, ३२३
तुल्यकक्ष्यतया यत्र	(का)	२९७
तुल्यादिषु हि लोकोऽर्थे	(का)	१२२
तृप्तियोगः परेणापि न		३५४
तेनावरोधप्रमदासखानां	(रघु १६)	४३०
तेनैषामप्रधानत्वादा	(का)	३९७
तेनोभयार्थानुगुणा	(का)	४८७
ते प्रत्येकं द्विधा ज्ञेये	(का)	११३
तेषां संक्षेपतोऽस्माभिः	(का)	१६०
ते हिमालयमामन्त्र्य	(कुमार)	२९२
तौ विधेयानुवाद्यत्व	(का)	२६४
त्रासाकुलः परिपतन्		४९७
त्वक् तारवी निवसनं		४३१
त्वगुत्तरासंगवतीमधीति	(कुमार)	३४२
त्वत्कीर्त्तिकेतकीक्लृप्त		३६५
त्वमेवंसौन्दर्या	(व्या)	२१६
त्वष्टुः सदाभ्यास		३७१
दत्तानन्दाः प्रजानाम्	(सूर्यश)	४२५, ४७८
दलत्कन्दलभाग् भूमिः		३४४
दशपूर्वरथं यमाख्यया	(रघु० ८)	४४१
दिने दिने सा परिवर्धमाना	(कुमार)	३४७
दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा	(कुमार)	५६
दिशि दिशि विहगाः	(हरवि २८।४७)	४१६
दुःखाभितप्तस्य जनस्य		४२७

	पृ०
दुर्मन्त्रान्नृपतिर्विनश्यति	५५
दृढतरनिबद्धमुष्टेः	४३९
दृशा दग्धं मनसिजं	३९९
दृष्टा दृष्टिमधो ददाति (व्या)	३०३
दृष्टिर्नामृतवर्षिणी (व्या) २२२ (व्या)	२७५
दृष्ट्या केशव गोपराग (व्या)	२०, २१
दे आ पसिअ	४७१
देव्वाअत्तम्मि फले	४९५
देशः सोऽयमराति (वेणी)	२४४
दोषद्वयमिदं प्रायः (का)	३८४
द्रविणमापदि भूषण (व्या)	३५५, ४४४
द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां (कुमार ५)	१९९, २५२, ३८८
द्वितीयमर्थविषयम् (का)	१५९
द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं (का)	४६
द्विषतामुदयः सुमेधसा (किरात)	५५
द्विषद्बधूलोचनचन्द्रकान्त	३७१
धर्मस्तुल्ययविभक्तीनाम् (का)	३६८
धर्मिसाम्यविवक्षायां (का)	४२९
धात्रा स्वहस्तलिखितानि	२४९
धैर्येण विश्वास्यतया	२९७
ध्वनिवर्त्मन्यतिगहने	६
ध्वनेः शक्त्यन्तराभावाद् (का)	५११
ध्वनेरनेकार्थस्यापि (का)	४८८
न च युक्तिनिराशंसात् (का)	११२
न चानिबन्धना युक्ता (का)	४०४
न चालङ्कारनिष्पत्त्यै (का)	३९७
न चोपसर्जनत्वेन (का)	१११
नञर्थस्य विधेयत्वे (का)	१९३
न तु सापेक्षताद्यन्य (का)	२८५
ननु सर्व एव समवेक्ष्य (माघ)	३७
ननु साधु कृतं प्रजासृजा	१९१
नमोऽस्तु ताभ्यो (व्या)	२१५
नवचन्द्रिकाकुसुमकीर्णं	३४९
नवजलधरः सन्नद्धो (विक्रमो)	१८७, ३२८
नवनीरदसुन्दरः कृपाणः	४२९
न हि काव्यात्मभूतस्य (का)	१७०
न हि तत् समयाभावाद् (का)	१२३
न ह्यस्ति निजे विषये (का)	३९५
नाथे निशाया नियतेः	२९०
नानाभिनयसम्बन्धाद् (का)	७१
नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदते	७५
नाभिवादनप्रसाद्यो रेणुकापुत्रः	३२१
नामवदुपसर्गास्ते (का)	५१०
नाम्नः सत्त्वप्रधानस्य (का)	४३
नार्हतो जातुचिदिमौ (का)	४३९
नालीजङ्घो निजघ्ने	४५२
नाविवक्षितवाच्यस्य (का)	१७८
नासिद्धो भावधर्मोऽस्ति (का)	४६९
निग्रहात् स्वसुराप्तानां (रघु)	२४३
निद्रावशेन भवताप्यन (रघु)	३६०
निम्नमुन्नतमवस्थितं (कुमार ८)	४४४
नियता लघुता निरायतेः (किरात)	३०७
निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यम्	३५
निर्घातोग्रैः कुञ्जलीलान् (रघु ९)	४३३
निर्मोकमुक्तिरिव गगनोरगस्य	३५०
निर्याय विद्याथ (किरात)	३४६
निर्वाणभूयिष्ठमथास्य (व्या)	२२०
निर्विशेषं न सामान्यं	१५१
निर्वृष्टेऽपि बहिर्घने	४२७
निवार्यतामालि किमप्ययं (कुमार)	५६
निशि नान्तिकस्थितामपि	४३५
निश्वासान्ध इवादर्शः	४७६
नीरसस्तु प्रबन्धो यः (का) (व्या)	२६६
नैतावतावगन्तव्या (का)	४०४
नैमित्तिक्याः श्रुतेरर्थम् (व्या)	३३९
न्यक्कारो ह्ययमेव मे	२६६, ५०९
पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्ति (का)	११२
पतिते पतङ्गमृगराजि	४२६
पतितोत्पतितैः शत्रुशिरोभिः	३५७
पत्ता णिअंबफंसं	४४९
पत्युः शिरश्चन्द्रकला (कुमार)	५७, ९२
पदमेकमनेकं वा (का)	२३१
पदवाक्यादिगम्यत्वात् (का)	१४३
पदानामभिसंबन्ध (का)	४३२
परस्परविरुद्धत्वात् (का)	१७८

	पृ०
परामृश्यमनुक्त्वैव (का)	३२६
परिणामो बहुविधो (का)	४८२
परिपाति स केवलं शिशून् (माघ)	४३५
परिहासरतिर्यश्च	३६६
पर्यायमात्रभिन्नस्य (का)	४३६
पशुपतिरपि तान्यहानि (कुमार)	५३
पाठ्यादथ ध्रुवागानाद् (का)	१००
पातु वस्तारकाकान्त	३७४
पादाहतं यदुत्थाय (व्या, माघ)	२२३
पायात् स शीतकिरणाभरणो	३४५
पारम्पर्येण साक्षाच्च (का)	१५९
पुण्ड्रेक्षोः परिपाकपाण्डु (व्या)	२१४
पुनरुक्तिप्रकाराणाम् (का)	३८७
पृथ्वि स्थिरा भव	२९५
पृथ्वि स्थिरी भव	२५३
पृथ्वीपाल प्रतापस्ते	३७२
पौनरुक्त्यमिति (का)	३८१
पौर्वापर्यं क्रियाणां यद्	३७
पौलस्त्यः स्वयमेव याचत	२४९
प्रकटकुलिशकुन्तचक्र (हरवि २८।९०)	४०५
प्रकरणकाकादिसखो (का)	२७६
प्रकारोऽन्यो गुणीभूत (का)	१६८
प्रकृतमपि यत्र हित्वा (का)	३२०
प्रकृतार्थेन वाक्येन (का)	३९२
प्रकृतिप्रत्ययार्थोऽस्य (का)	३८१
प्रजानां विनयाधानाद् (रघु)	५५
प्रजानामेव भूत्यर्थं (व्या, रघु १)	२१५
प्रतिपाद्यबुद्ध्यपेक्षौ	५११
प्रतीक्ष्यं च प्रतीक्ष्यायै (माघ)	३३०
प्रतीयमानः पुनरन्य एव (का)	९७
प्रतीयमाना त्वन्यैव (का)	९४
प्रत्यासन्ने नभसि (व्या०, मेघ)	२२७
प्रदक्षिणक्रियातीतस्तस्याः (रघु १)	२४७
प्रधानत्वं विधेर्यत्र (का)	१८५
प्रधानेतरभावेना (का)	१२३
प्रभवति च समरमूर्धनि	४२८
प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि (किरात)	५८
प्रयुक्तान्तर्गतैरेव (का)	३८४, ४६०
प्रयुक्ते चाप्रयुक्ते च (का)	३८६
प्रवृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये	५०६
प्रसिद्धलक्ष्यसिद्ध्यर्थम् (का) (व्या)	३९
प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य (का)	१४३
प्रस्तुतात्तु तदन्यस्य (का)	४४५
प्रातुं धनैरर्थिजनस्य	५०२
प्रादिप्रयोगानुगम (का)	१५७
प्रादीनां द्योतकत्वं यत् (का)	१५७
प्रादीनां धातुगर्भत्वो (का)	१५९
प्राधान्यादथ सम्बन्ध (का)	३३५
प्राप्तश्रीरेष कस्माद्	४८९
प्राप्तावेकरथारूढौ (वेणी)	२६३
प्रायः प्रतीतिवैचित्र्य (का)	५११
बंहीयांसो गरीयांसः	३९२
बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः (कुमार)	२९८
बहवोऽर्था विभाव्यन्ते (का)	७२
बहिरङ्गान्तरङ्गत्व (का)	१५९
बहिरंगत्वाच्च यथा (का)	४३
बाला केवलमेव रोदिति (व्या)	२२०
बिभ्राणः शक्तिमाशुप्रशमित	२६९
बिसकिसलयच्छेदपाथेवन्तः (मेघ)	३४२
ब्रध्नस्येच्छा रुचिर्वः (सूर्यशतक)	४०८
भक्तिः पदार्थवाक्यार्थ (का)	१७८
भक्तिप्रह्वविलोकन	४२१
भक्त्या बिभर्ति चैकत्वं (का)	१२३
भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं (का)	४६०
भम धम्मिअ वीसद्धो	४६३
भाति सितभूतिलिप्तः	३३६
भावसंयोजनाव्यङ्ग्य (का)	७०६
भुङ्क्ते सदा श्राद्धमयं	१९३
भूमनन्दाप्रशंसासु (का) (व्या)	३४२
भैरवाचार्यस्तु दूरादेव (हर्षच)	३९३
भो लङ्केश्वर दीयतां जनकजा	३२२
मणिप्रदीपप्रभयोः (प्र० वा०)	७
मतेर्भूमादयो येऽर्थाः (का)	३४२
मत्तता दयितसंगमभूषा	३०८
मथ्नामि कौरवशतं (वेणी)	५९

	पृ०
मदिराद्रवपानवशा	३७७
मधुश्च ते मन्मथ साह (कुमार ३)	४३२
मध्येव्योम त्रिशंकोः	२५७
मसृणचरणपातं गम्यतां (व्या)	२२६
महदपि परदुःखं (विक्रमो)	३६६, ४४१
महीभृतः पुत्रवतोऽपि (कुमार)	२९५
माद्यद्दिग्गजगण्डभित्ति	२६८
मा धात्रीन्मा भाङ्क्षीन्मा	३७७
मा भवन्तमनलः पवनो वा	३७७
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं	२८१
मीलितं यदभि (व्या)	२०५, २२१, ३२८
मुख्यवृत्तिपरित्यागो (का)	१२२
मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य (का)	१२४
मुख्या महाकविगिरा (का)	१६७, ३९७
मुग्धः किं किमसभ्य	१८३
मूढोऽनात्ममयः क्वचित्	३७३
यः कश्चिदर्थः शब्दानां	३८
यः कल्याणबहिर्भूतः (व्या)	२१८
यः सतत्त्वसमारोपः (का)	१२२
यः सर्वं कषति खलः	२५८
यः स्थलीकृतविन्ध्याद्रिः	२३९
यं समेत्य च ललाटलेखया (माघ)	३४८
यतः समासो वृत्तं च (का)	२६८
यतः सर्वेष्वलङ्कारेषूपमा (का)	३९७
यतस्ते चादय इव (का)	३३१
यतोध्यत्तायमाणो (का)	२०१
यतो न तावतैवायं (का)	४८८
यत् तदूर्जितमत्युग्रं (वेणी)	२०३
यत् त्वन्नेत्रसमानकान्ति (व्या)	२२६
यत्त्वन्यत् तत्र विमतिः (का)	५११
यत् त्वेतच्छब्दविषयं (का)	१६०
यत्र च मातङ्गगामिन्यः	४२०
यत्रान्यूनातिरिक्तेन (का)	३९९
यत्रार्थः शब्दो वा (का)	७, ९६
यथार्थस्योपमानत्वं (का)	४४८
यत्रैककर्तृकाऽनेका (का)	२७२
यत्रोत्कर्षोऽपकर्षो (का)	२८४
यत् स्वरूपानुवादैकफलं (का)	४५१
यथाकायार्चितार्थिनाम् (रघु १)	२४७
यथाकालप्रबोधिनाम् (रघु)	२४७
यथानन्तर्यनियमः (का)	३३१
यथायोगमयं दोष (का)	४५५
यथा विशेषकालस्य (का)	३०३
यथाह सप्तमो वैकुण्ठावतार	३२१
यथा ह्यश्वति बालेय	३८
यदधरदलमाश्रितं प्रियायाः	३१०
यदन्तरङ्गमुद्दिष्ट (का)	१५९
यदर्थैकाश्रयो धर्मो (का)	३६३
यदलङ्कारव्यक्त्यै ये (का)	३९५
यदा दशा कृशाङ्ग्यास्मि	३५७
यदा यदा हि धर्मस्य (गीता)	३७९
यदि काव्ये गुणीभूत (का)	१७०
यदुवाच न तन्मिथ्या (रघु)	१९६
यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां	२०९
यदेतत् त्यागपाकादौ (का)	३८६
यद्यप्यर्थावुभौ (का)	४३९
यद्यप्यर्थेषु सर्वेषु (का)	४८७
यद्यर्थ इति वाच्यो (का)	९३
यद्वत् तद्वदलङ्कारै (व्या०, वक्रोक्ति)	३१४
यद्वदव्यभिचारस्य (का)	३८३
यद्वा किं बहुनोक्तेन (का)	३७७
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं (माघ)	४४०
यशोऽधिगन्तुं सुखलि० (किरात)	२९४
यश्च यथा प्रक्रान्तो (का)	३२०
यश्चैकवाक्ये कर्तृत्वेन (का)	२०१
यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो	४८३
यस्मिन् यत्तद्धितो (का)	२८३
यस्य प्रकोपशिखिना	२०७
यस्य यद्रूपताव्यक्तिः (का)	३५८
यस्य येनाभिसंबन्धो (व्या)	३३२
या घर्मभासस्तनयापि शीतला	४४२
या घर्मभासस्तनयापि शीतलैः	४४२
या निशा सर्वभूतानां	५०५
यान्त्या मुहुर्वलित (मालती)	२६२
यार्थान्तराभिव्यक्तौ (का)	५११
यावदर्थपदां वाचं (माघ)	४३४

		पृ०
यावद्भिरर्थैः संबन्धः	(का)	४८७
युक्तोऽयमात्मसदृशान्		४
येन ध्वस्तमनोभवेन		४२४
येन यस्याभिसंबन्धः	(का)	४३२
येन स्थलीकृतो विन्ध्यः		२३८
येनाकुंभनिमग्नवन्यकरिणां		३४३
ये नाम केचिदिह नः	(मालती)	२००
येनालङ्कृतमुद्यानं		४३९
येषां तास्त्रिदशेभदान	(व्या)	२१३
ये सन्तोषसुखप्रसन्न	(व्या)	२१७
यो यः शस्त्रं बिभर्ति	(व्या)	२१९
यो यत्कथाप्रसङ्गे		४४३
यो यदात्मा तदुक्त्यैव	(का)	३८५
यो यद्धर्मोपचारेण	(का)	३८३
यो यस्य नियतो धर्मः	(का)	३८५
यो यो यं यमवा०	(व्या)	२२०
योऽविकल्पमिदमर्थं		२०८
रइकिरणानुग्गहिआइ		५०७
रक्तप्रसाधितभुवः	(वेणी)	४२२
रम्या इति प्राप्तवतीः	(माघ)	४५९, ४९७
रसस्याङ्गं विभावाद्याः	(का)	३९७
रसानुगुणशब्दार्थ	(का)	४५२
रहयिष्यति तं लक्ष्मीः		४४३
राज्ञो मानधनस्य	(वेणी)	२३३
रामगिर्याश्रमेषु	(व्या०, मेघ)	२२४
रामस्य पाणिरसि		१४७, १७३
रामेण प्रियजीवितेन		१४७
रामे तटान्तवसतौ		,,
रामोऽस्मि सर्वं सहे		१४७, २६०
राहुस्त्रीस्तनयोरकारि सहसा		३६५
रुदता कुत एव सा	(रघु)	२९३
रुरुचे हिमाचलगुहामुखो		४४२
रूढा ये विषयेऽन्यत्र	(का)	१२४
रूपकादिरलंकारवर्गो	(का)	३९७
रेणुरक्तविलिप्ताङ्गो		२५१
लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य	(रघु ९)	४४३
लच्छी दुहिआ जामादुओ		४३०
लाक्षागृहानलविषान्न	(वेणी)	६०
लावण्यकान्तिपरिपूरित		९२, ३१३
लावण्यसिन्धुरपरैव		१६२
एवं वादिनि लीलाकमल	(कुमार)	६६
लोको वेदस्तथाध्यात्म्यं	(का)	५२
लोहितस्तक्षक इति	(का)	२३७
वचनञ्च कथनकर्तुः	(का)	११०
वच्च मह व्विअ एक्काए		१६१, ४७०
वरं कृतध्वस्तगुणाद्		२९७
वर्णैः कतिपयैरेव		३४९
वस्तुमात्रानुवादस्तु	(का)	४५५
वस्त्रायन्ते नदीनां		३३३
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः	(का)	७२
वागर्थाविव संपृक्तौ	(व्या० रघु)	४०९
वाचकत्वाश्रयेणैव	(का)	१२४
वाचस्पतिसहस्राणाम्	(व्या)	३५२
वाचो गुणीकृतार्थत्वं न संभवति	(का)	७९
वाचो गुणीकृतार्थत्वं व्यङ्ग्य	(व्या)	७९
वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति	(का)	११२
वाच्यवैचित्र्यरचनाचारु		२४४
वाच्यस्तदनुमितो वा	(का)	१११
वाच्यात् प्रतीयमानोऽर्थः	(का)	३५४
वाच्यादर्थान्तरं भिन्नं	(का)	१४३
वाणिअअ हत्थिदन्ता		९०, ५०३
वासो जाम्बवपल्लवानि		३४३
विघटिततिमिरौघदिक्प्रबन्ध (हरवि० २८।९५)		४१५
विदधतः पथिक क्षपणं प्रति		४०३
विद्वान् दारसखः	(वेणी)	२३२
विधेयोद्देश्यभावोयं	(का)	२७५, ४३२
विनोत्कर्षापकर्षाभ्याम्	(का)	२६४
विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं		२९९
विवरीअसुरअ		९१, ५०४
विपरीतमतो यत्	(का)	४८२
विभावभावानुभाव	(का)	५०८
विशिष्टमस्य यद् रूपं	(का)	४५२
विशेषणवशादिच्छेद्	(का)	३८२
विशेषणं तु द्विविधं	(का)	१५८

		पृ०
विशेषणानुगुण्यं चेद्	(का)	४८८
विशेषणानामन्येषाम्	(का)	१५८
विशेषावगमस्याशु	(का)	,,
विषभक्षणमनुमनुते	(का)	१३३
विषभक्षणादपि पराम्	(का)	१३३
विषयत्वमनापन्नैः (व्या)	(का)	८५, ४३९
विसमइओ च्चिअ		५०५
विहितस्य बहुव्रीहेः	(का)	३८२
वीराण रमइ घुसिणा		१६३, ४९३
वृत्तावितरथा चोक्ते	(का)	३८५
व्यञ्जकत्वैकमूलम्	(का)	१२४
व्यापारोऽर्थे ध्वनेः	(का)	१२२
व्रजतः क्व तात		२९०
व्रजन्ति ते मूढधियः	(किरात)	३७३
शब्दप्रयोगः कर्त्तव्यः	(का)	४८२
शब्दप्रयोगः प्रायेण	(का)	११२
शब्दस्यैकाभिधा शक्तिः	(का)	१११
शब्दादपेतोऽपशब्दः	(का)	४८४
शब्दार्थौ सहितौ वक्र	(वक्रोक्ति०)	१४२
शब्दालंकारनिपुणैः	(का)	३८१
शब्दे गुणीकृतात्मत्वं	(का)	७९
शब्दे त्वसिद्धमेकत्वम्	(का)	४०४
शय्या शाद्वलमासनं		४३१
शरीरकस्यापि कृते		३७३
शशांकशेखरः शम्भुः		२३६
शातः श्यामालतायाः		३५०
शाब्दत्वार्थत्वभेदेन	(का)	१५८
शिखरिणि क्व नु		४७४
शिरः श्वा काको वा	(वेणी)	९४
शिशिरकालमपास्य	(माघ)	३५, ३५६
शीधुरसविषयपान		३७७
शुचि भूषयति श्रुतं वपुः	(किरात)	३१०
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्	(रघु)	२५१
शोकानलधूमशिखा		४३७
श्रीधैर्यस्याङ्गभुवा		५११
श्रुतिमात्रेण यत्रास्य	(का)	४७
श्रुत्वापि नाम बधिरो		३५
संरम्भः करिकीट		१८४
संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम्	(रघु)	२४६
स एव सर्वशब्दानां	(का)	४५२
सकलकलाकनकनिकष		३७६
सकृदेव प्रयुक्तेन	(का)	३८३
संकल्पकल्पितां कान्तां		३७५
सङ्ग्रामनाटककुतूहलिनां		४१८
सङ्घटनावर्णाहित	(का)	५००
स चार्धान्तावधिः	(का)	२६८
सजलजलधरं नभो विरेजे		३०४
सज्जेइ सुरहिमासो		५०६
सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि	(रघु)	३५४
सततमनङ्गोऽनङ्गो		३८८
सततमनभिभाषणं		२८८
स तत्रास्तीति सोऽप्यस्य	(का)	११३
सत्तायां व्यापृतिश्चैषा	(का)	४३
स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य		१९६
सद्वृत्ते महति स्वभावसरले		४४५
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं	(का)	५०८
समतया वसुवृष्टिविसर्जनैः	(रघु० ९)	३०६
समन्ततः केसरिणं वसन्तं		४१२
समासे चासमासे	(का)	३६५
समिदिध्मादयः शब्दाः	(का)	१२४
स मेदिनीं विनिर्जित्य	(व्या०)	२११
सम्बन्धमात्रमर्थानां	(का)	२६५
सरसमन्थरतामरसोदर	(हरवि ३ । १५)	४१५
सरसिजमनुविद्धं	(शाकु०)	५०१
सरस्यामेतस्याम्		५५
सरस्वतीस्वादुतमं		९७
सरित्समुद्रान् सरसीश्च	(रघु १४)	४३६
सरोजकर्णिकागौरीम्		४२६
सर्वनामपरामर्शयोग्यस्य	(वा) (का)	४३५
सर्वनामपरामर्शयोग्यस्य	(पु०) (का) (व्या)	३३५ ३८८
सर्वनामपरामर्शयोग्यो	(का)	४५८
सर्वनामपरामर्शविषये	(का)	३८७
सर्वेषामेव सद्भावे	(व्या) (का)	१०८

	पृ०
सर्वैकशरणमक्षयमधीश (आनंद)	४२५
स वः शलिकलामौलिः	२०१
स वक्तुमखिलान्	४९४
स शब्दैः कर्तृकर्मादि (का)	३९९
सस्नुः पयः पपुः	३०१, ३०५
सस्नुः पयांसि पपुः	३०१
सहसा यशोऽभिसर्त्तुम्	५
सहसा विदधीत न क्रियाम् (किरात)	३७९
साकांक्षावयवं भेदे (का)	४६
सा चेत् प्रकरणाद् यो (का)	४८८
सा चेयमखिलस्यैव (का)	४२०
सा दयितस्य समीपे	२५७
सानुस्थितिर्जनकराजसुतेव	४०७
सान्तरत्वे तु तां शक्ति (का)	१५९
सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य (का)	३८१
सामर्थ्यादेव शब्दस्य (का)	४८४
सामान्यस्तु स्वभावो यः (का)	४५५
साहायकार्थमिव फूत्कृत	३७३
सा हि चक्षुर्भगवतः (का)	४५३
सिहिपिच्छकण्णऊरा	९०, ५०७
सुप्तिङ्सम्बन्धाद्याः (का)	५०९
सुरभिसंगमजं वनमालया (रघु)	३६०
सुवर्णपुष्पाम्	२०, ५७, ४७३, ५०५
सुवर्णपुष्पामित्यादौ (का)	१२३
सूर्याचन्द्रमसौ यस्य (विक्रमो)	२४१
सोऽयं वटः (व्या०, रघु १३)	२११
सोऽयुक्तोऽन्यत एवासौ (का)	१७८
सौधादुद्विजते त्यजत्युपवनं	२७२
स्कन्दस्य मातुः पयसां (रघु)	२५२
स्तनयुगमश्रुस्नातं (कादम्बरी)	२६४
स्तम्बेरमः परिणिनंसु (माघ)	३३०
स्निग्धश्यामलकान्ति	४७४
स्नेहं समापिबति	२६९
स्पष्टोच्छ्वसत्किरण (हरवि) १९।१	४३२
स्फटिकस्येव लाक्षादि (का)	१५८
स्फुरदधीरतडिन्नयना (माघ)	३५८
स्मररसनदीपूरेणोढा	५०८
स्मर संस्मृत्य न शान्ति (कुमार)	३५
स्मरहुताशनमुर्मुर (माघ)	३५२
स्मृतिभूः स्मृतिभू	२०८
स्रस्तां नितम्बादवलम्ब (कुमार)	२३५
स्वकृतिस्वयन्त्रितः	१८४
स्वज्ञानेनान्यधीहेतु (का)	८०
स्वभावश्चायमर्थानाम् (का)	११३
स्वरूपमात्रस्योक्तौ (का)	२३७
स्वरूपार्थाविशेषे हि (व्या)	३३४
स्वरूपेऽवस्थितिर्येषां (का)	४३२
स्वा जातिः प्रथमं शब्दः (व्या)	२८
स्वाभाविकं ध्वनेर्युक्तं (का)	१५७
स्वाभाविकं विनीतत्वं	३६८
हंसविसरसमम्	४२९
हसति हसति स्वामि	३३३
हा धिक्कष्टमहो	५१०
हिअअट्ठाविअमण्णुं	४९५
हेम्नां भारशतानि (व्या)	२१३
हे हस्त दक्षिण (उत्तर)	२३३

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१०	जननीमपि	जननीं मयि
२	*नी० ८	संचार	संचार से
१७	१०	गन्थकार	ग्रन्थकार
१७	१२	शब्दों का	शब्दों के
२१	नी० ३	खिन्नमानसाम्	खिन्नमनसाम्
२३	९	वैचित्र्यापरपर्याय	वैचित्र्यापरपर्यायं
२४	१४	व्यङ्ग्येव	व्यङ्ग्यैव
२५	२	के शब्द ज्ञान से	के लिए शब्द ज्ञान से
२८	८	पढ़ती	रहती
३०	२	रहने वाले उसके	रहनेवाला उसका
३०	३	अत्व यह एक धर्म	अत्व
३०	४	रुय्यक	व्याख्यानकार (इसी प्रकार अन्यत्र भी)
४३	२१	न नत्वसा०	न तत्त्वासा०
१२८	४	प्रथम प्रकाश	प्रथम उल्लास
१४६	७	काव्यहेतु	हेतु
१६९	२	उसका फल	उसका
२०८	१५	स्मृतिभूस्मृति०	स्मृतिभूः स्मृति०
२२७	२१	कल्पितर्थाय	कल्पितार्थाय
२७४	१३	प्रधानेतर	प्रधानेतरभाव
२७४	२५	स्वमनोषिकयै०	स्वमनीषिकयै०
३४२	नी० ११	भूमनन्दा	भूमनिन्दा
४०१	नी० ४	सुद्वीच्यको	सुद्वीच्य को
४११	नी० १४	बभ्रव	बभ्रवः
४१५	३	वघटित	विघटित
४३६	नी० १४	सरसींश्च	सरसीश्च
४३९	१५	येनालङ्कृत	येनालङ्कृत
४६३	६	शुकनो	शुनको
५१२	११	व्यक्तिविवेक तथा उसके संस्कृत व्याख्यान के	व्यक्तिविवेक के
५१२	१४	निभर्यम्	निर्भयम्

* 'नी' का अर्थ है नीचे से।

सूचना—अशुद्धियाँ इनके अतिरिक्त भी संभव है। सहृदय पाठक उन्हें स्वयं सुधार लेवेंगे।